संस्थापक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य गीताव्यास लोकसंग्रही श्री १०८ जगद्गुरु
श्री महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दजी महाराज
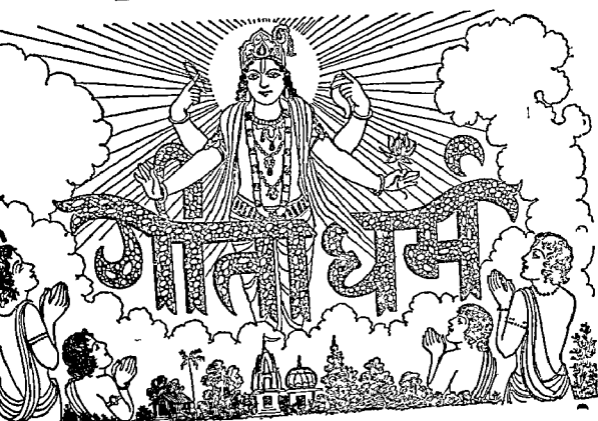
...धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

...र्ष ६ जनवरी, १९४१, काशी अङ्क १

गीताज्ञान

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी॥

गीता की अमर वाणियों का पठन, श्रवण, और मनन करने के लिए ऊँच नीच अथवा पुण्यात्मा पापात्मा आदि वर्गविशेषरूप भेददृष्टिपूर्ण किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। परब्रह्म परमात्मा जिस प्रकार सब के सृष्टिकर्ता, समदर्शी पिता और सब के लिए जानने योग्य हैं उसी प्रकार गीता भी सब के लिए समान दृष्टि रखनेवाली जगज्जननी है और इसी लिए इस का ज्ञान सब के लिए एक समान प्राप्तव्य है।

गीता की महनीयता

"श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रन्थों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिण्डब्रह्माण्ड के ज्ञान के साथ साथ आत्मविद्या के पावन गम्भीर तत्त्वों को संक्षेप में पूर्णतः समझा देनेवाला, उन तत्त्वों के आधार पर मनुष्यमात्र के पुरुषार्थ की पूर्णता का परिचय करा देनेवाला, भक्ति ज्ञान का समन्वय कराते हुए दोनों का शास्त्रीय व्यवहार से योग मिला देनेवाला तथा इस के जरिये संसारतापतप्त मनुष्यों को शान्तिसुख में निमग्न कर निष्काम कर्तव्याचरण में युक्त करा देनेवाला इस के समान का ग्रन्थ संसार के किसी भी साहित्य में नहीं मिल सकता। इस ग्रन्थ में भगवान् कृष्ण ने समस्त धर्मों का सार स्वमुख से अर्जुन के प्रति प्रकट किया है; फिर इस की उत्तमता के संबन्ध में कोई मनुष्य कहाँ तक वर्णन कर सकता है ?..."

—लोकमान्य तिलक

"'गीता' को 'धर्म' का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानने का यही कारण है कि उस में ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों योगों की न्याययुक्त व्याख्या है, अन्य किसी भी ग्रन्थ से इस का सामञ्जस्य नहीं है।

ऐसा अपूर्व धर्म, ऐसा अपूर्व ऐक्य केवल गीता में ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अद्भुत धर्मव्याख्या किसी भी देश में और किसी भी काल में किसी ने भी की हो, ऐसा जान नहीं पड़ता।

ऐसा उदार और उत्तम भक्तिवाद जगत् में और कहीं भी नहीं है।"

—श्री बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय

"गीता का तत्त्व समझना तो बहुत ही कठिन है, करोड़ों में कोई एक विरला माई का लाल ही समझता होगा। मैं ने तो गीता का आशय इतना ही समझा है

कि मन की दुर्बलता त्यागने से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। इस लिए श्रेय की आकाङ्क्षा रखनेवाले पुरुष को हृदय की क्षुद्रता त्याग देनी चाहिए। गीता में भगवान् की आरम्भिक वाणी यही है कि—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

—गी० २।३

—श्री भोले बाबाजी

"·········गीता वस्तुतः एक विश्वधर्म की पुस्तक है। विश्व भर में इस का प्रचार होना ही चाहिए। पर हठ से यह नहीं होगा। यह तो तभी विश्वव्यापिनी होगी जब इस की प्रशंसा करनेवाले बल से दूसरों को समझाने की चेष्टा न करके स्वयं अपने जीवन में इस को ओतप्रोत कर लेंगे और इस की शिक्षाओं को अपने आचरण द्वारा मूर्तिमती बना देंगे।··········यह श्रद्धा से ही हो सकता है। श्रद्धा हृदय का बल है और संसार के समस्त बलों में हृदयबल ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी लिए भगवान् ने कहा भी है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जो जैसी श्रद्धावाला है वह वैसा ही बनता है। इस श्रद्धा को पाने का उपाय गीता में है,··········।"

—महात्मा गांधीजी

"दो बातों में मेरा दृढ विश्वास है। एक यह कि मानव इतिहास में सर्वोच्च ज्ञानी और अलौकिक शक्तिशाली पुरुष भगवान् कृष्ण हुए हैं और दूसरा यह कि भूमण्डल पर प्रचलित भाषाओं में ऐसी कोई पुस्तक नहीं जिस में भगवान् कृष्ण की कही गीता के समान इतने छोटे वपु में इतना विपुल ज्ञान भरा हुआ हो।·········।"

—महामना मालवीयजी

"·········अध्यात्मशास्त्र ही गुह्यतम श्रेष्ठ शास्त्र है। उसी के आदेश और उपदेश के अनुसार कर्तव्य का निर्णय करना और कार्य करना चाहिए, जिस का

प्रत्यक्ष तात्कालिक उदाहरण भी स्वयं गीतारूपी अध्यात्मशास्त्र का सार और तदनुसार अर्जुन के युद्धरूपी कृत्य का निर्णय और युद्ध है। 'मामनुस्मर युध्य च'—'माम्'= आत्मानम्, अनुस्मर=बुद्धौ धारय, युध्य=युध्यस्व, सर्वपापैः सह युद्धं कुरु। यही गीता का निष्कर्ष है।"

—डाक्टर भगवान्‌दासजी एम० ए०, डी० लिट्०

"श्रीमद्भगवद्गीता भारत के उच्चतम और विश्व के गभीरतम धर्मग्रन्थों का सिरताज ग्रन्थ है।.......इस के दोनों (श्री कृष्ण और अर्जुन) पात्रों के व्यक्तित्व कितने सुस्पष्ट, सजीव और विश्व के सनातन सत्य के अमर प्रतीक हैं।......गीता ईश्वरीय प्रेरणा, भावपूर्ण भक्ति और मनुष्य के अन्तःकरण को परखनेवाली सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से सब ओर से परिपूर्ण है।......गीता द्वारा निर्दिष्ट मार्ग और संकेत हमारे लिए आज भी उतना ही उपयोगी और काम का है जितना दो हजार वर्ष पहले था।"

—श्रीयुत चार्ल्स जांस्टन

प्रभुप्रार्थना

(ले०—श्री १०८ स्वामी रवीन्द्रानन्दजी)

यह प्रेम सदा भरपूर रहे, भगवान् तुम्हारे चरणों में।
यह अरज मेरी मंजूर रहे, भगवान् तुम्हारे चरणों में॥
निज जीवन की यह डोर प्रभो, तुम्हें सौंपी, दया कर इस को धरो।
उद्धार करो है दास पड़ो, भगवान् तुम्हारे चरणों में॥
संसार में देखा सार नहीं, तब श्रीचरणों की शरण गही।
भवबन्ध कटे यह है विनती, भगवान् तुम्हारे चरणों में॥
आँखों में तुम्हारा रूप रमे, मन ध्यान तुम्हारे मग्न रहे।
तन अर्पित सब निज कर्म करे, भगवान् तुम्हारे चरणों में॥
यों शब्द मेरे मुख से निकलें, मेरे नाथ जिन्हें सुनके पिघलें।
सब भाव 'रवीन्द्रानन्द' ढलें, भगवान् तुम्हारे चरणों में॥
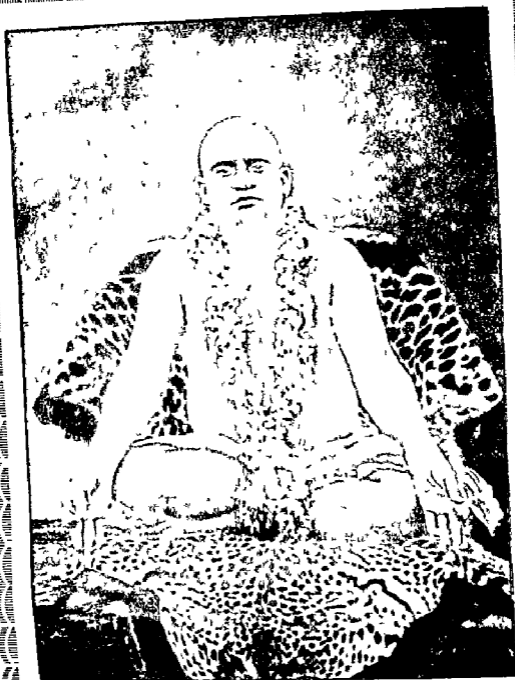
गीतागौरवप्रवक्ता
श्रीमत्परमहंस, परिव्राजकाचार्य, ब्रह्मनिष्ठ, लोकसंग्रही, गीताव्यास, श्री १०८
जगद्गुरु, महामण्डलेश्वर, स्वामी श्री विद्यानंदजी महाराज

प्रकाशकीय वक्तव्य

गीताप्रेमी पाठकवृन्द,

परम पूज्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ गीताव्यास लोकसंग्रही जगद्गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा प्रवचित श्री गीतागौरवभाष्य के इस तृतीय भाग को हिंदी और गुजराती दोनों भाषाओं में लिपिबद्ध कराके पुस्तक के रूप में आप को भेंट करने में हम भगवान् की कृपा से ही समर्थ हुए हैं और इस के लिए हमें अत्यन्त संतोष तथा महान् आनन्द हो रहा है। यह तृतीय भाग गीताधर्म के छठें वर्ष का प्रथम—प्रवेश—अङ्क है।

नागपुर (सी० पी०) में जब स्वामीश्री का गीताप्रवचन चल रहा था उसी समय प्रवचनों की अलौकिक उपयोगिता से आकृष्ट हुए, वहाँ के गीताप्रेमी सज्जन श्री हजारीलालजी के मन में यह प्रबल अभिलाषा उत्पन्न हुई कि इन प्रवचनों का अधिक से अधिक परिमाण में सब जनता को लाभ मिले, ऐसा उद्योग करना चाहिए। बस, उसी समय से आप ने स्वामीश्री के गीताप्रवचनों को सुन सुनकर संकलित करने का साहसपूर्ण कार्य प्रारम्भ कर दिया और संकलन पूर्ण हो जाने पर उस को गीताधर्म कार्यालय बनारस में भेज दिया।

वह संकलन चलते हुए प्रवचनों—व्याख्यानों—की एक प्रकार से रिपोर्ट के रूप में होने से शब्दशः व्याख्यानरूप ही था; और व्याख्यान तथा पुस्तक—अर्थात् बोलने और लिखने—की शैली पृथक् पृथक् होती है, यह बात सब लोगों को विदित ही है। इस लिए हम ने उस संग्रह को सुव्यवस्थित, सुसंपादित हिंदीपुस्तक जैसी शैली में लिखकर तैयार करने का भार गीताधर्म के सहसंपादक श्रीयुत पण्डित मार्कण्डेयजी शुक्ल को सौंपा और तदनुसार ही उन्होंने हार्दिक लगन और पूर्ण उत्साह के साथ निरन्तर परिश्रम करके इस कार्य को संपन्न किया है, यह बात प्रत्येक हिंदी-पाठक भाई बहिन को ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगी।

इस के बाद उस हिंदीग्रन्थ का अविकल गुजराती अनुवाद तैयार करने का भार पेटलाद के वडनगरनिवासी नागर गृहस्थ श्री मणीभाई यशभाई देसाईजी ने स्वामीजी की प्रेरणा से अपने सिर पर लिया। स्वामीजी के निकटसंपर्क में रहने के कारण आप ने स्वामीजी की प्रवचनशैली के अनुसार ही अपने अनुवाद की भाषा रखने का सफल प्रयत्न किया और इस प्रकार पहले दो भागों के अनुसार यह तीसरा भाग लिखने में भी आप निमित्त बने हैं। वृद्धावस्था के कारण अनेक प्रकार की प्राकृतिक दुर्बलताओं के रहते हुए भी आप ने उत्साहपूर्वक परिश्रम और तल्लीनता से इस

भाग को भी अपने ही हाथों लिखकर पूरा किया। इस लिए वह अवश्यमेव आदर-पात्र होगा ही, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

इस ग्रन्थ का प्रथम भाग अध्याय एक से तीन तक तथा द्वितीय भाग अध्याय चार से सात तक था। वे दोनों भाग जनता में कितने आदृत हुए, यह हमारे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। गीताधर्म के चतुर्थ वर्ष (सन् १९३९) के प्रथमाङ्क के रूप में गीतागौरव का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। इस की इतनी अधिक माँग हुई कि उस की तीन आवृत्तियाँ प्रकाशित करनी पड़ीं। फिर सन् १९४० में पञ्चम वर्ष के प्रवेशाङ्क के रूप में गीतागौरव का द्वितीय भाग प्रकाशित हुआ। पहले भाग की माँग देखकर हम ने इस की पहली आवृत्ति में ही काफी प्रतियाँ छपवाकर तैयार कराईं, किंतु फिर भी वे पूरी नहीं पड़ीं और हमें उस की भी दूसरी आवृत्ति छपवानी ही पड़ी तथा तीसरी आवृत्ति भी कदाचित् छपवाने की तैयारी करनी पड़ेगी ही, यह इस की लोकप्रियता का ज्वलन्त और प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'गीताधर्म कार्यालय' कोई व्यापारी संस्था नहीं है। इस का ध्येय केवल निःस्वार्थरूप से 'जनताजनार्दन की सेवा' करना है। यह सेवा करने में जिन गीताप्रेमी भाई बहनों ने, विशेषतः गुजरात के गीताप्रेमी भाई बहनों ने, हर एक रीति से गीताप्रचार में, गीताधर्म के ग्राहकों की संख्या बढ़ाने में निःस्वार्थ भाव से उत्साह-पूर्वक परिश्रम करके जो भाग लिया है उस के लिए कार्यालय उन्हें धन्यवाद अर्पित करता है। यह सब होते हुए भी, प्रभु की लीला ही कुछ ऐसी है कि प्रभु के हाथ बाँधने के लिए चाहे जितनी रस्सियाँ जुटाई गईं, पर वे पूरी नहीं पड़ीं, दो अङ्गुल घटी ही रहीं। एक ओर ग्राहकों की संख्या बढ़ती है, तो दूसरी ओर से गीताधर्म के मासिक अङ्कों की दूसरी तीसरी आवृत्तियाँ छपवानी पड़ती हैं, और उन मासिकों के निर्वाह-साधन—कागज, स्याही, रंग, मसाला आदि के भाव कहाँ से कहाँ पहुँच जाने के कारण कार्यालय को खर्च का भारी बोझा उठाना पड़ता है। गीताधर्म के संचालकों, लेखकों, कार्यकर्ताओं और गीताप्रेमी भाई बहनों ने यदि निःस्वार्थभाव से 'गीताधर्म' की सेवा न की होती, तो इतना साहसपूर्ण कार्य करने में हमें बहुत विचार करना पड़ता—आगा पीछा सोचना पड़ा होता। तथापि हमें संपूर्ण श्रद्धा और विश्वास है कि पाठकगण, विशेषतः गीताधर्म के ग्राहक प्रत्येक भाई बहन भगवान् की प्रेरणा से कम से कम एक एक, दो दो नवीन ग्राहक बनाकर जनताजनार्दन की सेवा में भाग लेंगे ही।

इस अङ्क को देखकर जनता को संतोष होगा कि इस का आकार प्रकार, इस में दिये हुए चित्र और इस की जिल्द अन्य वर्षों की अपेक्षा अत्यन्त सुन्दर और

कीमती है, और फिर भी इस महँगी के जमाने में पहले के बराबर मूल्य में ही इसे ग्राहकों की भेंट करने का हम ने साहस किया है। हमारा यह साहस केवल प्रभु की कृपा और ग्राहकों की सहायता के ऊपर दृढ विश्वास रखकर ही है।

इस अङ्क के प्रकाशन में ज्ञानतपस्वी श्री गीतानन्दजी तथा भीखाभाई देशाई ने जो सहयोग प्रदान किया है उस के लिए हम हृदय से उन लोगों के आभारी हैं। इसी प्रकार इस अङ्क का आमुख लिखने में गुजरात के अग्रगण्य विद्वान् श्री राजरत्न रमणलाल वसन्तलाल देशाई एम० ए० ने गुजरात के समाचारपत्रों तथा मासिक-पत्रों के संपादकों द्वारा दीपावली अङ्क के लेखों के लिए होनेवाले तगादों के रहते हुए भी अपना अमूल्य समय देकर जो हमारी प्रार्थना स्वीकार की और इस अङ्क का निरीक्षण करके इस के प्रति अपना विचार प्रकट किया उस के लिए कार्यालय आप का चिरऋणी है। वह आमुख पढ़ने से पाठकों को सहज ही ज्ञात हो जायगा कि—श्री रमणलालजी गीता के प्रेमी और विचारक विद्वान् हैं तथा आप प्रत्येक दृष्टिकोण से गीता के श्लोकों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण कर सकते हैं।

इस अङ्क का गुजराती रूपान्तर करनेवाले श्री मणीभाई यशभाई देशाई ने अपनी कमजोर प्रकृति के होते हुए भी भक्तिपूर्वक समय पर इस ग्रन्थ को पूरा करके कार्यालय की निष्काम सहायता और जनता की जो सेवा की है उस के लिए कार्यालय आप का अत्यन्त कृतज्ञ है। साथ ही यह कह देना भी अत्यन्त आवश्यक है कि गीताधर्म कार्यालय और प्रेस के कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ की रचना को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने और अङ्क को ठीक समय पर प्रकाशित करने में जो यथाशक्ति प्रयत्न किया है उस के लिए उन का भी हम हृदय से आभार मानते हैं। इस के अतिरिक्त जिन सद्-गृहस्थों ने हमारे इस कार्य को तन, मन और धन से सहायता पहुँचाई है उन सब को प्रभु सुख, आयुष्य, बल और सद्बुद्धि प्रदान करे, यही हमारी उस के प्रति प्रार्थना है।

अन्त में, इस ग्रन्थ में जो दोष रह गये हों उन पर ध्यान न देकर नीरक्षीर-विवेकी हंसतुल्य पाठकगण जो गुण हों उन को ही ग्रहण करें और दोषों के लिए क्षमा दे देकर अब तक जिस प्रकार आप भाई बहनों ने सहानुभूति प्रकट की है उस को उसी प्रकार चालू रखते हुए नये ग्राहक बनाकर कार्यालय के गीताधर्मप्रचारकार्य में सहायता करते रहें; फिर से एक बार यही प्रार्थना करके हम विराम लेते हैं।

गीताजयन्ती,
मार्गशीर्ष शुक्ला ११, १९९७
ता० १०—१२—४०

गोवर्द्धनभाई मंगलभाई पटेल,
व्यवस्थापक, गीताधर्म कार्यालय,
काशी।

प्रवचनामृत

(ले०—राजरत्न श्री रमणलाल वसन्तलाल देशाई एम० ए०)

पाँच हजार वर्ष पहले का दिया हुआ एक बोध आज भी वैसा ही जीवित है। इस बोध की सहायता से आर्यसंस्कृति फूली फली अथवा यों कहिए कि इसी बोध के कारण आर्यसंस्कृति जीवित रह सकी! कुरान के आधार पर जिस संस्कृति की रचना हुई उसे सिर्फ तेरह या चौदह सौ वर्ष हुए। बाइबल की प्रेरणा ने जिस मानवशिष्टता को जन्म दिया उसे दो हजार वर्ष हुए। परंतु आर्यसंस्कृति में जीवन देनेवाले इस महाबोध को पाँच हजार वर्ष हो गये। इन पाँच पाँच हजार वर्षों से आर्यसंस्कृति को सजीवन रखनेवाली इस प्रेरणा में कितने अमीनिर्झर भरे होंगे? संस्कृतियों का सर्जन करनेवाले बाइबल और कुरान संसार के—मानवसमाज के—महाबोध हैं। गीता उन से भी अधिक प्राचीन महाबोध हैं। पाँच हजार वर्ष पूर्व उच्चारित!

नवीनता खोजनेवाला वर्तमान युग पूछता है—"क्या महत्ता प्राचीनता में ही है?" विचारने से उत्तर मिलता है—"नहीं।" पाण्डव और कौरव गये; चन्द्रगुप्त और अशोक अदृश्य हुए; कनिष्क, हर्ष और विक्रमादित्य भूतकाल की कहानियाँ बन गये; पृथ्वीराज और शाहबुद्दीन केवल पूर्वकाल के संस्मरणरूप में रह गये; अकबर और जहाँगीर इस जहान में न रहे; औरंगजेब और शिवाजी अस्तोदय इतिहास बनकर हमारी नजरों से ओझल हो गये; आज तो हम सर्वत्र परदेशियों के मुंह देख रहे हैं। इन परदेशियों की गिनती भी अब पुरानों में होने लगी है, और नये स्वातन्त्र्यसूर्य का अरुण हमारे आकाश में नये रंग भर रहा है। सब प्राचीनताओं को पार करनेवाले गीता के अमर बोधवचनों में पाँच हजार वर्ष पूर्व उच्चारित सचेतन-सनातन-सत्य की झाँकी होती है। गीता में पुरानापन नहीं। वर्तमान का भी सर्जन करनेवाले भगवान् श्री कृष्ण के मुख सरीखा यह महाबोध नवीनता से भरा—जीता जागता—शाश्वत् मालूम पड़ता है। प्राचीनता यदि सर्वदा नये नये रूप धारण करती जाय, तो उसे प्राचीनता कौन कहेगा?

"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥"

—गी० ७।२६

भूत, वर्तमान और भविष्य का इस प्रकार एक साथ संकलन करनेवाला बोध आर्यों के लिए तो अमर है। नवीनता बिना अमरत्व शक्य ही नहीं। प्राचीनता तो नष्ट हो जाती है। पाँच हजार वर्षों को जीवन्त बनाता हुआ गीता का महाबोध आज भी आर्यता को जिला रहा है। आर्यता को इस प्रकार जीवित रखनेवाला बोध सदा नया ही बना रहेगा।

प्राचीनता की ओर निर्देश करने से मेरा यह तात्पर्य नहीं कि मैं यहाँ गीता को बाइबल और कुरान से अधिक श्रेष्ठ साबित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।"

—गी० १०।८

इस वाक्य का उच्चार करनेवाली गीता को किसी पर श्रेष्ठता स्थापित करने की जरूरत नहीं।

"अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।"

—गी० १०।२०

भूत, भविष्य और वर्तमान को एक ही शृङ्खला में बाँधनेवाली भावना को पाँच हजार वर्षों का मोह नहीं हो सकता।

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥"

—गी० १०।४१

इस प्रकार सारे संसार की विभूतियों का अपने में समावेश करनेवाली आर्य-भावना कुरान और बाइबल के महाबोध को भी अपना ही समझे, तो इस में आश्चर्य नहीं। सभी महत्ता को वह अपना समझती है। अतः श्रेष्ठता का प्रश्न ही नहीं उठता। सच्ची आर्यता की दृष्टि में महम्मद की महत्ता और ईशु का ऐश्वर्य कोई पराई चीजें नहीं—न होनी चाहिएँ।

वर्तमान शिक्षाप्रणाली में पले हुए हमारे विद्वान् गीता को पाँच हजार वर्ष पूर्व की ठहराते हैं। उन की मान्यता है कि महाभारत के युद्ध को करीब ५००० वर्ष हुए। शोकसंविग्न मानसवाला अर्जुन जब धनुष बाण रखकर बैठ गया तब—

"क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।"

—गी० २।३

कहकर उसे युद्ध के लिए उद्यत करनेवाली गीता आज पाँच हजार वर्षों के बाद भी हिम्मत हारनेवालों के हृदय में आशा और जोश पैदा कर देती है। अर्वाचीन समय का अभ्यासी इस बात से चकित हो जाता है। उस की परिमित दृष्टि पाँच हजार वर्षों पर पड़ती है और वह थक जाती है। आजकल की हमारी ऐतिहासिक अभ्यासवृत्ति हमें इस से अधिक दूर ले नहीं जाती; अतः हम पाँच हजार वर्ष के समयनिर्धारण पर अधिक ज़ोर देते हैं। गीताकार तो समय की सीमा मानता नहीं। "कालोऽस्मि" (११।३२) कहकर अपना परिचय देनेवाले को पाँच हजार वर्षों का हिसाब ही क्या?

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।"

—गी० ४।५

कहनेवाले को प्राचीनता की परवाह नहीं। गीता के सुननेवाले तथा कल्प विकल्प और सर्ग विसर्ग को जाननेवाले आर्यों को वर्षों के ढेर मोहित नहीं कर सकते।

सच्चे बोधवचन, समर्थ बोधवचन, जीवन को जागृत करनेवाले—जीवन को उन्नत बनानेवाले—बोधवचन, चाहे वे आज के हों या पाँच हजार वर्ष पहले के, वे सब अपने ही हैं, पूजनीय हैं, स्मरणीय हैं। आर्यों के ऐसे बोधवचनों में सब से उत्कृष्ट बोध 'गीता!' पाँच हजार वर्ष पहले का—और उस से भी प्राचीन है।—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

—गी० ४।१, २, ३

इस प्रकार स्वयं प्रभु के मुख से कहे हुए बोध का सत्कार सूर्य, मनु और इक्ष्वाकु की परंपरा ने किया और उस के मर्म को राजर्षियों ने समझा। इसी पुरातन बोध के असर को कम होते देख आर्यता के महाप्रतिनिधिरूप श्री कृष्ण ने अपने मित्र और भक्त अर्जुन को इस का महत्त्व पुनः समझाया।

इस बोध ने आर्यधर्म को, आर्यप्रजा को और आर्यसंस्कार को आज तक जीवित रखा। नये नये संयोगों में उस ने नई नई प्रेरणा दी। आर्यसंस्कार को जब जब जरूरत पड़ी, तब तब गीता ने उस की सहायता की। आज भी गीता के कारण हम आर्यसंस्कार को जीता देख रहे हैं।

लेकिन गीता है क्या? आर्यता को जीवित रखनेवाला यह बोध हमें क्या कहता है? गीता सिर्फ एक बोध ही नहीं। यह गीत भी है—गाया हुआ बोध है—संगीतमय बोध है। शब्दों को जब अच्छी से अच्छी ध्वनि प्राप्त हो, तब वह संगीत बन जाता है। गीता आर्यावर्त का एक महासंगीत है। केवल कान को प्रिय लगनेवाली इस में मधुर सुरावली नहीं। हलके हाव भाव या नृत्य के घुँघरूरव में मस्त बनकर झूमने झुमानेवाला यह गीत नहीं। इस महासंगीत में तो भरा है सुरों का भव्य और उदात्त संयोजन।

"शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्" —गी० १।१८

पृथक् पृथक् शङ्खों के नाद में से गीत रचनेवाला यह महाघोष है। "अविभक्तं विभक्तेषु" (१८।२०) विविधता को ऐक्य देकर हृदय की महत्ता को स्पर्श करनेवाला एक महान् राग है। संगीत के महान् आचार्य श्री कृष्ण ने महाभारत के महाप्रसंग के अनुरूप इसे एक नई तज दी। इस में झरझर झरनेवाले निर्झरों का अथवा मर्मर मञ्जुल नदी का रव नहीं। इस में तो है सागर का संगीत। "वेदानां सामवेदोऽस्मि" (१०।२२) कहकर अपना परिचय देनेवाले के बोल में छोटा छिछोरा संगीत हो नहीं सकता। ठुमरी, गरबा और गजल के शौक में पड़े हुए आर्यसंगीत में कदाचित् लालित्य हो—है भी। परंतु लालित्य को अधिक ओजस्वी, स्पष्ट और शक्तिपूर्ण बनाकर मर्दों के लिए—मर्दों के समूहों के लिए—गाने लायक गीत बनाया गीताकार ने। इस संगीत के सुर शृङ्गारप्रेरक नहीं। यद्यपि जीवन का सच्चा तत्त्व इस संगीत में देख पड़ता है "प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः" (१०।२८); तथापि साथ ही साथ कन्दर्प के विपरीत स्वरूपों का भी निर्देश इस में किया गया है–

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
—गी० ३।३७

गीता में रोने रुलानेवाला कारुण्य नहीं। हिंदुस्तान और उस के बाहर से आई हुई अठारह अक्षौहिणी सेना मृत्यु का आवाहन कर रही थी। इतना ही नहीं,

चचेरे भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र और हितैषी एक दूसरे का हनन करने के लिए तैयार खड़े थे। गान्धारी, कुन्ती द्रौपदी और उत्तरा जैसी सती स्त्रियों की छाया इस महायुद्ध पर फैली हुई थी। प्रिय से प्रिय स्वजनों के प्राणहरण का यह भयानक प्रसंग सर्वलक्षणसंपन्नों के बलिदान माँगता महायज्ञ था। डरकर नहीं, किंतु युयुत्सु स्वजनों को देखकर आर्यसंस्कार बोल उठा—

"सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।"

—गी० १।२९

इस भावावेश, इस स्नेहजन्य मार्दव से ऊपर उठानेवाला बोध गीता है। इस बोध के संगीत में रुदन को, आँसू को, विलाप को स्थान नहीं; इस में तो है मृत्यु को भी पी जानेवाले विराट् स्वरूप का अग्नितांडव—

"लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥"

—गी० ११।३०

लेकिन एक विशेषता यह है कि स्नेहजन्य निष्क्रियता में से अग्नितांडव में खींच ले जानेवाला यह गीत आर्यमानस को अग्निमय रखता नहीं। इस अग्नि के नीचे संसार को नवपल्लवित करने के लिए तत्पर बने हुए घनघोर आर्द्र बादल चढ़ते हैं। विराट् स्वरूप की अग्निरेखाओं में से झलकनेवाले "सौम्यं मानुषं रूपं" (११।५१) के मुख से विश्वरूपदर्शनयोग का अन्तिम वाक्य निकलता है "निर्वैरः सर्वभूतेषु" (११।५५)। यह निर्वैर कायरों का 'निर्वैर' नहीं; हिम्मत हारनेवालों का निर्वैर' नहीं; मीठे स्नेह का अनुभव करनेवालों का 'निर्वैर' नहीं। प्रलय के घोर झञ्झावात को पार कर सुदृढ बने हुए—"मृत्युः सर्वहरश्चाहम्" (१०।३४) को प्रमाणित कर संसिद्ध बने हुए—मानस में से प्रकट होनेवाला यह 'निर्वैर' है। कायर, डरपोक, पराजित, पराधीन हिंदू सच्चा आर्य नहीं। सच्चा आर्य गीता के बोध को मानता है। जिसे मरने का भय हो, वह हिंदू नहीं, आर्य नहीं, गीता को माननेवाला नहीं। निर्वैर होने के बहाने पीछे हटनेवाले कापुरुष और गीता से कोई संबन्ध नहीं। भीरु हिंदू गीता का शत्रु है।

गीता में क्षुद्र स्नेह, स्वार्थी कारुण्य, भीरु मनुष्यत्व और कायर साधुत्व को स्थान नहीं। इस महागीत में स्वार्थत्याग, सच्ची स्वतन्त्रता, मृत्युजित् अहिंसा और मोहजित् स्नेह की प्रलम्ब, उत्तेजक और वीरशोभित गम्भीर सुरावलि गूँजती है। इस के सुर को हम भूले, इसी लिए हमारा पतन हुआ। यदि पुनः उत्थान की

आकाङ्क्षा हो, तो हमें गीता को फिर से सुनना होगा—गीता के सुर ताल पर अपने पाँव उठाने होंगे। ये सुर, ये ताल हम को अग्नि के ऊपर—अग्नि के भीतर भी—ले जायँगे। इस अग्निभरे मार्ग में से होकर गीता हमें वहाँ ले जायगी जहाँ "मुक्तः शुभाँल्लोकान्" (१८।७१) की सच्ची स्थापना हो।

हिंदुओं को, आर्यों को अपने लिए, मानवजाति के लिए, भूतमात्र के हितार्थ गीता के बोध को अपनाना होगा। जीवन गीतामय बनाना होगा आर्यों ने अपने धर्म का कोई विशेष नाम नहीं रखा। 'हिंदू' शब्द भी परदेशियों का दिया हुआ है। मुसलमानों के यहाँ आने के बाद हम ने उस को स्वीकार भी कर लिया, आर्यता नाम का कोई धर्म सुनने में नहीं आया। तिलक, कंठी, माला आदि चिह्न तो भिन्न भिन्न संप्रदायों के चिह्न हैं। ये आर्यता-सारी आर्यता-के चिह्न नहीं। सर्वप्रगति, सर्वसंस्कार और सर्वशुभभावनाओं का अपने में समावेश करनेवाला आर्यधर्म तो मानवधर्म है। यह मानवधम संगीतमय है, हृदय के स्पन्दनों को तालबद्ध करनेवाला धर्म है, समग्र देह के हलन चलन को प्रगति देकर जीवित रखनेवाला धर्म है। श्री कृष्ण द्वारा उच्चारित गीता इस आर्यधर्म का बीज है। इस के आस पास अनेक ताने बाने बटे जायँ, लेकिन मूल तार तो गीता का ही है। यही हम लोगों का आर्यतत्त्व है और यही है हम लोगों का सच्चा आर्यध्रुव पद।

केवल हिंदू ही गीता को संमान की दृष्टि से नहीं देखते। सच्चे बौद्ध, खिस्ती और मुसलमानों की दृष्टि में भी गीता का स्थान बहुत ऊँचा है।

मेक्समूलर, मोनीयर, विलियम्स, गेटे और शिलर जैसे महाकवि और प्राच्यविद्याविशारदों को गीता में ही पूर्व के संस्कारों का केन्द्र देख पड़ा। जर्मनी के एक प्रख्यात विद्वान् हंबोल्ट का कथन है कि जर्मनी में गीता बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती है।

हिंदुस्तान से गीता का अनुवाद चीन में ले जानेवाले बौद्ध साधु का सही नाम लोग भूल गये हैं और उसे कृष्ण के नाम पर 'किसनजी' कहकर पुकारते हैं।

बाली देश में गीता की संस्कृतभाषा में लिखी हुई एक प्रति मिली है।

उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करनेवाले उदारचित्त शाहजादा दाराशिकोह ने गीता के विषय में कहा है कि "गीता की प्रशंसा करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

हिंदू आगाखानी संप्रदायवालों को मुसलमान समझते हैं। इन आगाखानी मन्दिरों में लिखे हुए गीता के श्लोक और उन के अनुवाद मैंने स्वयं पढ़े हैं।

सत्याग्रह के सिद्धान्तों को कार्यान्वित कर ख्याति प्राप्त करनेवाले प्रख्यात अमेरिकन तत्त्वज्ञ थोरो ने एक जगह कहा है कि प्राचीन युग की सब स्मरणीय वस्तुओं में गीता सर्वोपरि है। एकान्तवास, तपश्चर्या, ध्यान आदि प्रयोगों में मग्न रहनेवाला महात्मा थोरो एक समय किसी जंगल में निवास कर रहा था। एक दिन पर्णकुटी के अंदर तख्ते पर लेटे हुए थोरो के आस पास सर्प और बिच्छुओं को देखकर उस का मित्र बड़ा भयभीत हो गया। उस ने थोरो से स्थान त्याग देने को कहा। थोरो ने शान्त चित्त से उत्तर दिया कि जब तक गीता मेरे पास है, तब तक मुझे किसी का भय नहीं। गीता पर इतनी अटल श्रद्धा रखनेवाले इस विचारक का असर गांधीजी पर भी पड़ा है।

थोरो के समान ही प्रख्यात एमर्सन नाम का अमेरिकन तत्त्वज्ञानी गीता को मानवजाति की एक बहुमूल्य संपत्ति मानता था और उसे हमेशा साथ रखता। "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (६।२९) इस श्लोक को जब जब वह पढ़ता, तब तब उस का शरीर रोमाञ्चित हो जाता।

दूसरे देश और अन्य धर्मवालों को छोड़कर अब हम अपने देश और जीवन का विचार करते हैं। इस ओर तो नजर सब से पहले महात्मा गांधी पर पड़ती है। गीता गांधीजी का परमप्रिय ग्रन्थ है। उन की प्रार्थना में सांख्ययोग अध्याय में कहे हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण प्रति दिन गाये जाते हैं। इस प्रार्थना में होनेवाले गीतागुञ्जन का उन्नत बनानेवाला अपार्थिव असर पं० जवाहिरलाल जैसे नास्तिक के मन पर भी पड़ा। इस बात को पण्डितजी ने अपनी आत्मकथा में स्वीकार किया है। महा आस्तिक गांधीजी का कथन है कि जब जब मुसीबतें मुझे घेरती हैं, तब तब मैं गीतामाता की शरण में दौड़ जाता हूँ।

कवि न्हानालाल (गुजरात के प्रख्यात कवि) ने "गुजरात" नाम के अपने काव्य में कहा है कि गुजरात का मानस गांधी के निष्काम गीताजीवन से ओतप्रोत है। अरविन्द घोष के पूर्णयोग की भूमिका भी गीता की ही है। लोकमान्य तिलक ने अपने कारावास के समय गीता के कर्मयोग का जो महत्त्व समझाया था उस का स्मरण हिंदुस्तानियों को अभी तक है। अंग्रेजीशिक्षण में पले हुए हमारे ये तीनों राजनीतिज्ञ गीता के भक्त थे और सच्ची प्रेरणा के लिए उसी की ओर देखते थे।

थिऑसफिस्टों ने—विशेष कर एनी बिसेंट ने भी हमारे आर्यधर्म को समझाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। इसी एनी बिसेंट के किये हुए गीता

के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़कर बहुत से अंग्रेजी पढ़े लिखे आर्यसंस्कृति के उपासक बने।

स्वतन्त्रताप्राप्ति के लिए जो महान् प्रयत्न देश में हो रहा है उस के मुख्य कर्णधार गीता के उपासक हैं, यह बात हमें भूलनी न चाहिए।

गुजरात तथा अन्य सर्व प्रान्तों में गीता के अनुवाद की माँग दिन पर दिन बढ़ती जाती है। प्रायः प्रत्येक प्रान्त के विद्वानों ने गीता का समश्लोकी अनुवाद अपनी अपनी भाषा में किया है। गीता के अनुवाद की माँग आज की नहीं; सभी युग में इस की माँग थी और अनेक अनुवाद भी हुए। आज बीसवीं शताब्दि में भी यह माँग है और बढ़ती जाती है।

गीता की कितनी टीकाएँ और अनुवाद आज तक हुए हैं, इस का ठीक ठीक किसी को पता नहीं। कहा जाता है कि संसार में शेक्सपियर के नाटक सब से अधिक पढ़े जाते हैं, और इन नाटकों पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उतनी और किसी साहित्यकार की कृतियों पर नहीं, परंतु यदि कोई परिश्रमी अन्वेषक गीता के अनुवाद, टीकाएँ, दीपिकाएँ और स्वाध्यायग्रन्थों का ठीक ठीक पता लगाये, तो यह सिद्ध हो जायगा कि गीता के आधार पर लिखी हुई पुस्तकों की संख्या कम नहीं है।

"नान्तोऽस्मि मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।"

—गी० १०।४०

शेक्सपियर तो गीता की विभूती का एक अंश, एक साहित्यकारमात्र था और गीताकार तो साहित्यदेवता ही था। साहित्यदेवता के बोध में नाटकों से अधिक आकर्षण हो, तो इस में आश्चर्य ही क्या?

गीता पढ़ने की इच्छा सभी को होती है, और पढ़ने के बाद उस पर विवेचन करने में भी रस मिलता है। बोलने और लिखने में भी गीता के उद्धरण दिये जाते हैं। न जाने कितने आदमी गीता में बताये हुए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते होंगे। वे पूर्णतया सफल होते हैं या नहीं, इस प्रश्न पर अधिक चर्चा करना यहाँ आवश्यक नहीं। हम तो यह देखते हैं कि गीता के बताये बोध को माननेवाला आदमी निष्फल होने पर भी उच्चतर भूमिका को प्राप्त करता है—

"न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।"

—गी० ६।४०

आवश्यक वस्तु है प्रयत्न। सफलता तो परिणाम है। अनेक निष्फल प्रयत्नों में सफलता छिपी रहती है। इन निष्फल प्रयत्नों में प्रेरणा भरनेवाली गीता चिरजीवी है। गीताजीवन निष्फल हो नहीं सकता।

आर्यसंप्रदायों ने गीता का महत्त्व पूर्ण रूप से मान लिया है। जब तक गीता पर भाष्य न लिखे, तब तक कोई संप्रदायप्रवर्तक आचार्यपद को नहीं पा सकता और न कोई मत चला सकता है। आर्य फिलासफी का आधार हमारी प्रस्थान-त्रयी है! इन प्रस्थानों में गीता का भी स्थान है।

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, शंकराचार्य और वल्लभाचार्य ने द्वैत, शुद्धाद्वैत, केवलाद्वैत और विशिष्टाद्वैत नाम के चार आर्यसंप्रदायों को जन्म दिया। इन चारों संप्रदायों की स्थापना गीता पर भाष्य लिखकर हुई। आत्मा और परमात्मा का संबन्ध बनानेवाले इन संप्रदायों की भावनाएँ, फिलासफी और विचारश्रेणी भिन्न हैं, परंतु गीता सब का आधार है और सब अपनी अपनी फिलासफी का निचोड़ गीता में पाते हैं। श्री शंकराचार्य ने गीता के आधार पर केवलाद्वैत की रचना की और मायावाद को जन्म दिया। इसी गीता ने और भी कई संप्रदायों को चलाया। आजकल की राजकीय फिलासफी पर भी गीता का असर पड़ रहा है। अर्वाचीन समय के किसी साम्यवादी को जब हम गीता का मनन करते देखते हैं तब आश्चर्य होता है और गीता की सर्वानुकूल महाशक्ति के लिए संमान उत्पन्न होता है।

गीता में कहे हुए बोध को समझाने का सभी प्रान्तों में प्रयत्न होता आया है। महाराष्ट्री भाषा की "ज्ञानेश्वरीगीता" और गुजराती की "अखेगीता" तत्त्वज्ञान के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, गुजरातीभाषा में तो गीता को ग्राम्य-स्वरूप देकर हँसने हँसानेवाले सुन्दर पदों में तत्त्वार्थ समझाने का प्रयत्न किया गया है। "ग्रामगीता" गुजरात के अशिक्षित देहातियों को भी गीता का संदेश सुनाती है और इस बात को प्रमाणित करती है कि गीताप्रेम का इजारा सिर्फ विद्वान् और संस्कारियों के पास ही नहीं। भोजा, अखा, धीरा और नरभा—गुजरात के इन चार ग्राम्य कवियों के पद गुजरात के देहातों में घर घर गाये जाते हैं। ये केवल कवि ही न थे। ये महातत्त्वज्ञानी भी थे। अपने तत्त्वज्ञान को उन्होंने ग्राम्य जनता में अपने काव्यों द्वारा पहुँचाया, और इस प्रकार गीता में कहा हुआ तत्त्वज्ञान गुजरात के कोने कोने में फैला।

हमारे धर्माचार्यों से लेकर ग्राम्यजनता तक, अर्जुन से लेकर गांधी तक, महापण्डितों से लेकर सामान्य आदमी तक, तपस्वी ऋषियों से लेकर आजकल के

तेजस्वी क्रान्तिकारियों तक—सब तक गीता पहुँची हुई है। आर्यसंस्कृति के रोम रोम में गीता का संचार है। आर्यसंस्कार को पालनेवाली माता गीता है।

मगर गीता में ऐसा क्या कहा गया है जिस के कारण वह आर्यसंस्कृति की धात्री मानी जाती है ? क्या कारण है कि आज पाँच पाँच हजार वर्षों के बीतने पर भी उस का महत्त्व ज्यों का त्यों है ? उस में कौन सा ऐसा तत्त्व है जिस के कारण संस्कार की सभी भूमिकाओं को प्रगति मिलती है—संतोष मिलता है ?

नास्तिकता कभी कभी फैशन बन जाती है। ऐसे फैशनवाले आदमियों के मुख से मैं ने गीताबोध के विरुद्ध बहुत सी दलीलें सुनी हैं। उन के लेख भी पढ़े हैं। एक दलील यह है कि गीतामूल महाभारत का अङ्ग नहीं; किसी चतुर विद्वान् ने बाद में उसे महाभारत के भीतर दाखिल कर दिया है। जब दोनों सैन्य लड़ने के लिए एक दूसरे के सामने आकर खड़े हो गये तब इतने लंबे सवाल जवाब का मौका कहाँ ? ऐसी तत्त्वचर्चा के लिए समय कहाँ ?

इस दलील पर जरा विचार कीजिए। शेक्सपीयर के नाटकों में जब हेनरी, सीजर, ब्रूटस या एंटनी के लंबे लंबे भाषण हम पढ़ते हैं तब तो उन की लंबाई हमें अप्राकृतिक और अप्रासंगिक नहीं मालूम होती; बल्कि उन की हम प्रशंसा करते हैं और यह मान लेते हैं कि ये शब्द—या उन्हीं भावों को व्यक्त करनेवाले दूसरे शब्द—उन के मुख से निकले जरूर। इस प्रकार इन प्रसंगों की ऐतिहासिकता हम सहज ही में स्वीकृत कर लेते हैं। गीता के विषय में कथा यह है कि सारा महाभारत व्यास ने लिखाया और गजानन ने लिखा। श्री कृष्ण ने अर्जुन के प्रति जो बोध-वचन कहे वे अनुष्टुप् छन्द में थे या उपजाति में, यह प्रश्न उपस्थित ही कैसे होता है, यह समझ में नहीं आता। गीता का पाठ करनेवाला तो जानता है कि—

"पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटम्"

गीता के अर्थ के उत्कट सुवास को फैलानेवाला महाभारतरूपी कमल महर्षि व्यास के वाणीसरोवर का एक पुष्प है। इस बात को निश्चित रूप से मानने के बाद गीता के बोध को अप्राकृतिक और अप्रासंगिक कहना इतिहास को अस्वीकार करना है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आजकल के महायुद्ध के समय जो मन्त्रणापत्र white papers प्रकाशित किये जाते हैं उन की लंबाई, शब्दजाल और अपना दोष छिपाकर औरों पर दोष डालने के लेखनचातुर्य के आगे गीता बहुत छोटी मालूम होगी। ये सरकारी पत्र इतने लंबे होते हैं कि इन में अनेक गीताओं

की लंबाई छिप सकती है। लेकिन जगत् का सद्भाग्य है कि इन पत्रों में गीता विराजती नहीं।

गीता का अर्थ समझने के लिए पात्रता चाहिए। गीता की विचारमाला श्री कृष्ण की वैजयन्तीमाला की तरह विशाल, विविधता भरी और सौरभ फैलानेवाली है। इस में जीवन, मरण और मरणोत्तरस्थिति के विषय में चिन्तन किया गया है। मनुष्य का मनुष्य से और मनुष्य का प्रकृति से क्या संबन्ध है, इस पर विचार किया गया है। समाज का घटनाचक्र और उस के परिणामरूप होनेवाले सुख और दुःख इस में दिखाये गये हैं। इतना ही नहीं, सुख दुःख को पार कर इन दोनों अवस्थाओं को एक ढाल के दो ओर का दृष्टान्त देकर (जिस के भीतर के भाग और बाहर के भाग में भिन्नता होती है) समझाया गया है। व्यवहार और अध्यात्म एक दूसरे की कैसे सहायता कर सकते हैं, इस की भी सूचना गीता में है। कर्म की अनिवार्यता और साथ ही साथ इन कर्मों के फल से अलिप्त रहने के साधन भी इस में बताये गये हैं। मनुष्य बाह्य और आन्तरिक उपाधियों से पूर्णतया मुक्त नहीं रह सकता, इस बात की अंशतः स्वीकृति गीता में है; लेकिन उसी के साथ गीता में वह प्रेरणा भी है जिस को पाकर मनुष्य बाह्य और आन्तरिक झंझटों पर प्रभुत्व पा सकता है, परिस्थिति को बदल सकता है और नये प्रकार की मानवता का सर्जन कर सकता है। परिस्थिति के वश तो सभी प्राणी होते हैं, पर मनुष्य की विशेषता इस बात में है कि वह अपनी परिस्थिति को बदलना चाहता है—और बदलने का सामर्थ्य रखता है। इसी परिस्थिति के सामने जूझने में मानवउत्क्रान्ति का साफल्य है। इस क्रान्ति में जीवन देनेवाली है गीता! परिणाम को ईश्वर के हाथ में सौंप, कर्तव्य करते रहने का बोध गीता करती है। मनुष्य तो उस ईश्वरीय शक्ति का एक विधेय—वाहक—मात्र है। यह ईश्वरीय शक्ति क्या है, इस का भी उत्तर गीता में मिलता है। इस शक्ति के रूप को "द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः" (११।२०) में हम देखते हैं। कठोर बनकर जब यह रूप खड़ा होता है तब उस में मृत्यु की उग्रता और प्रचण्ड संहार की भयंकरता देख पड़ती है—

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।"

—गी० ११।३२

गीता में बताया है कि मृत्यु और संहार ये ईश्वर के ही रूप हैं। समग्र जगत् की अनन्त विभूति भी उसी का अंश है। इतना ही नहीं,—

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।"

—गी० १०।४२

लेकिन साथ ही साथ गीता यह भी कहती है कि—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।"

—गी० १८।६१

और इस महाबोध द्वारा वह प्रत्येक मनुष्य के मन में आशा का संचार कर, ईश्वर के साथ का उस का निकट संबन्ध दिखा, उसे उत्क्रान्ति के मार्ग पर ले जाती है। और हमारा लक्ष्य ?—

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥"

—गी० २।२९

पाँव पाँव पर ईश्वर को देखते हुए भी उसे न पहिचाननेवालों, क्षण क्षण पर उस की आवाज सुनकर भी उसे न समझनेवालों के लिए वह स्पष्ट मार्ग बताती है—

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।"

—गी० १८।६२

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।"

—गी० १८।६५

अथवा—

"तस्माद्योगी भवार्जुन ।" —गी० ६।४६

यह मार्ग हमें कठिन मालूम होता है। क्यों ? इस में कठिनाई क्या है ? यों तो जितने अच्छे विचार या सत्कार्य हैं वे सब सरल और सहजगम्य होने पर भी हमें कठिन मालूम पड़ते हैं। ध्यानपूर्वक देखने पर यह विदित हो जायगा कि इस कठिनाई का कारण हमारी अशक्यता है, हमारी मन्द गति है, हमारा प्रमाद है। गीता ने इस कठिनाई को भी पार करने का रास्ता बताया है—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं ।"

—गी० ९।२६

इन सब बातों का मनन करने से यह ज्ञात होगा कि मानसशास्त्रों के महाग्रन्थों में गीता का स्थान बहुत ऊँचा है। गीता एक वीरोचित बोध है—कायर के मन में भी शौर्य प्रकटानेवाला बोध है। गीता की दृष्टि से यदि देखा जाय, तो

मानवता व्यक्तिगत प्रयत्न और विकास के क्रम पर स्थापित एक सामाजिक धर्म, जीने के लिए बनाया हुआ धर्म है। गीता ने व्यक्ति को, राष्ट्रों को, समस्त संसार को मुक्ति का मार्ग दिखलाया है। उस का सब से पहला बोध है—

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिः.................. ।"

—गी० १६।१

हिन्दुस्तानियों में अभय है ?

गीता का पठन और मनन अनेक प्रकार के विचारप्रवाहों को प्रकट करता है। कुछ विद्वानों को इस में आध्यात्मिक घर्षण देख पड़ता है। महाभारत तो प्रति दिन का महायुद्ध है—दैवी और आसुरी संपत्तियों का सनातन संघर्षण ! कुछ अभ्यासी इस में कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों का समन्वय पाते हैं। कर्मकाण्ड की जड़ता गीता को प्रिय नहीं। यज्ञ के विषय में उस ने बड़ी ही सूक्ष्म आलोचना की है—

"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।"

—गी० ३।१३

यज्ञ से जो बच जाय उसी को ग्रहण करने का हमें अधिकार है, इस बोध के पीछे स्वार्थत्याग की महान् भावना छिपी हुई है। "क्रिया विशेष बहुलां........." (२।४३) की ओर उस की अरुचि स्पष्ट है। जड़ उपासना, छीछोरी भक्ति और भक्ति के नाम से हठ और संकोच का सेवन गीता को ग्राह्य नहीं। ज्ञान कभी कभी कोरा शब्दज्ञान या शठज्ञान बन जाता है, इस लिए गीता हमें सावधान करती हुई याद दिलाती है—

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥"

—गी० २।४२

इस उक्ति में कहे हुए ज्ञानियों के लिए एकाग्रता नहीं है।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि वेदान्त, योग, वैशेषिक, न्याय और सांख्य आदि हमारे दर्शनों में पुरुष और प्रकृति के कार्य अकार्य की जो खींच तान है उस के समन्वय का प्रयत्न गीता में किया गया है। तीव्रबुद्धिग्राह्य हमारे दर्शन कभी कभी ईश्वर और प्रकृति संबन्धी निष्फल वाद विवाद खड़ाकर हम को निष्क्रिय या विक्रिय बना देते हैं। इस प्रकार की निष्क्रियता को—भ्रम को—सब का समन्वय समझाकर गीता दूर करती है।

शैव, भागवत, बौद्ध, जैन और तान्त्र ये आर्यावर्त की पाँच प्रधान धर्मशाखाए हैं। यह संभवित है कि इन सब मार्गों को सर्वानुकूल बनाने के प्रयत्न में गीता का जन्म हुआ हो। उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और योग से गीता अपरिचित नहीं। ऐसी हालत में शैवसंप्रदाय और योग को समझनेवाले बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का भी इस में विचार किया गया हो, तो यह असंभावित नहीं। तन्त्र का सूचन पढ़नेवाले को राजविद्या राजगुह्ययोग में देख पड़ेगा।

वर्तमान युग के नेताओं ने भी गीता को अपनाया है। या यों कहिए कि गीता ने उन को भी अपने असर से मुक्त नहीं रखा। गीता में हम सब मानवता-खोई हुई मानवता-खोजते हैं, और हमें विश्वास है कि मानवता की इस खलखान में—अक्षय ज्ञानभाण्डार में—वह मिलेगी जरूर।

इस गीतागङ्गा को संसार पर सर्वदा प्रवाहित रखने के प्रयत्नों में स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज का प्रयत्न अनुपम है। उत्तर हिंदुस्तान के इस साधुचरित्र महापुरुष ने अन्य प्रान्तों के साथ गुजरात को भी अपना बनाया है और उसे पुनः गीतामग्न बनाने का निश्चय किया है। भगवान् श्री कृष्ण ने भी गुजरात को अपना बनाया था। गीता का जिस समय बोध किया उस समय श्री कृष्ण गुजराती बन चुके थे। उस बोध का गुजरात में—हिंदुस्तान के कोने कोने में प्रचार करने का प्रयत्न स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज वर्षों से कर रहे हैं। करनाली, बड़ोदा और अमदाबाद के विशाल गीतामन्दिर इस बात के प्रमाण हैं कि स्वामीजी का असर प्रजा पर कितना व्यापक बन गया है, उन के काम की छोटी सी शुरूआत ने कितना विशाल रूप धारण किया है! स्वामीजी के हजारों शिष्य, भक्त और श्रोताओं का जब मुझे खयाल आता है तब प्राचीन आर्यावर्त की गौरवमयी गुरुभावना और गुरु-संस्था मेरे सामने खड़ी हो जाती है। स्वामी श्री विद्यानन्दजी का मुझे बहुत थोड़ा परिचय है। लेकिन इस थोड़े से परिचय में भी मैं ने स्वामीजी के संन्यस्तजीवन को आकर्षक पाया। उन के साधुत्व में पाखण्ड नहीं। गेरुआ वस्त्र की महिमा बढ़ाने के लिए उन्हें छत्र, चँवर या मखमल के मसनद तकिये की जरूरत नहीं। स्वामीजी को अपनी विद्वत्ता का लेशमात्र भी घमंड नहीं। इतनी सरलता होने पर भी उन के व्याख्यान सुनने के लिए हजारों आदमियों की भीड़ एकत्रित हो जाती है। पचास आदमियों की सभा में बोलकर प्रसन्न होनेवाले साहित्यकार मैं ने देखे हैं, पाँच सौ श्रोताओं की सभा में गर्जना कर संतोष माननेवाले राजकीय नेता भी मेरी आँख के सामने हैं। लेकिन बिना विज्ञापनों के एकत्रित होनेवाली विराट भीड़ में

खड़े होकर जब स्वामी विद्यानन्दजी को मैं बोलते हुए देख
होता है कि हमारे साहित्यकार और नेताओं ने साधु संन्यासि
नाडी नहीं पहिचानी। उसी समय मुझे गीता का यह कथन

"आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्वि
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वक

स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज की कथा का मुख्य अंश ग
है। अर्वाचीन समय के वक्ताओं को इस प्राचीन कथापद्धति
सीखने को मिलेगी। वक्ता और श्रोता के बीच जब तक ऐक्य स्थ
तक वक्तृत्व निरर्थक होता है। स्वामीजी की अभिमानरहित ओजस्वि
पंक, प्रभावोत्पादक और हृदयंगत मालूम होती है। विद्वान्, अविद्व
पुरुष सब को यह अच्छी लगती है। स्वामीजी को गीता छोड़ औ
विवाद में पड़ते मैं ने नहीं देखा। गुरुपद के गौरव को कायम रखने
गम्भीरता है। कथा कहने की उन की संपुटशैली है। गीता का एक
लेकर उस का मर्म समझाना और उसे श्रोता के मन में दृढीभूत करने के
मार्गों का रसपूर्ण विस्तार करना इस शैली की विशेषता है। स्वामीजी को
के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। उन के लिए तो यह सहज और सुलभ है
शैली में कथा कहना या लिखना, यही स्वामीजी का गीताभाष्य है।

स्वामीजी के इस गीताभाष्य को प्रति वर्ष 'गीतागौरवअङ्क' निका
प्रसिद्ध करने का प्रकाशकों का प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय और आदरणीय है। स्वाम
के व्याख्यानों का मध्यबिन्दु गीता है। जिन्होंने ये व्याख्यान नहीं सुने उन
लिए स्वामीजी का भाष्य इन अङ्कों में क्रमबद्ध मिलेगा और जिन्होंने सुने हैं
इस ग्रन्थ में आवर्तन का आनन्द प्राप्त होगा।

इस प्रकार गीता का समृद्ध भाण्डार संसार के साम्ने ... वर्तमान
के भाष्यकार स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज के भाष्य ...ने का प्र
शित करा कर प्रकाशकों ने जनता की अच्छी सेवा की

इस भाष्य को चित्रित करने के सुन्दर प्रयोग
प्रभावों के रंग बिरंगी चित्र गीता के प्रचार में
पाठों के गीतागौरव के अङ्क देखे और उन्हें सब प्रकार
के भी चित्र उत्तम कोटि के हैं, इस बात के लिए

कलाकार भी धन्यवाद के पात्र हैं। वाणी और चित्र दोनों से गीता की भावना को दृढीभूत करनेवाला यह अङ्क लोगों को पसंद आयेगा और हजारों पढ़नेवालों को गीताभिमुख बनायेगा, इस में संदेह नहीं।

मुरब्बी मणीभाई यशभाई देशाई का गीताप्रेम आज का नहीं है। जिस सफलता के साथ 'गीतागौरव' के प्रथम दो खण्डों का भव्य अनुवाद उन्होंने गुजराती में किया है, वैसा ही सुन्दर भावमय भाषान्तर उन्होंने इस खण्ड का भी किया है। पूज्य स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज के साथ मेरा परिचय भी उन्होंने कराया। उन्हीं की वात्सल्यभरी प्रेरणा से मैं ने "गीतागौरव" की प्रस्तावना लिखी है। गीता के विषय में कुछ लिखना मेरे जैसे आदमी के लिए एक प्रकार का साहस ही है। गीता मेरा सब से प्रिय ग्रन्थ है। श्री विद्यानन्दजी महाराज गीताप्रचार के महाकार्य को करके सारे हिंदुस्तान का उपकार कर रहे हैं। मुरब्बी श्री मणीभाई के सद्भाव और प्रोत्साहन के कारण गीताधर्म की ओर मेरा अनुराग बढ़े, यह स्वाभाविक है। लेकिन श्री विद्यानन्दजी महाराज जैसे समर्थ भाष्यकार के भाष्यखण्ड पर दो शब्द प्रस्तावनारूप में लिखने का मौका मिले, यह मेरे लिए अलभ्य लाभ है, और इस के वास्ते मैं स्वामीजी को, प्रकाशकों को और श्री मणीभाई को धन्यवाद देता हूँ।

प्रस्तावना के अन्त में मुझे सिर्फ एक ही बात कहनी है। गीता केवल पढ़ने के लिए नहीं है। उसे तो जीवन में उतारना होगा। यह काम कैसे हो, इस का उत्तर मुझे देने की जरूरत नहीं। स्वामीजी का भाष्य स्पष्ट रूप से अपनी अनुपम शैली में यह सब समझा देगा।

भगवती गीता आर्यसंस्कार का रक्षण करें! इतना ही नहीं, आर्यसंस्कार की विशिष्टता को संसार भर में फैलाकर मानवजाति की उन्नति करें! जब तक अहिंसा, कर्मफल का त्याग, अपरिग्रह और अनपेक्षा की वृत्ति दक्षता और "कर्मसु कौशलम्" में प्रवेश नहीं कर पाती, तब तक जीवन संग्राम और संहारमय बना रहता है। पूर्व ने कर्मकौशल छोड़ा जिस के परिणामरूप उसे पराधीनता मिली। पश्चिम ने कर्मफल की असाधारण लोलुपता को अपनाया जिस के फलस्वरूप शस्त्रविज्ञान के भयंकर साधनों ने जन्म लिया। गीता दक्षता पर, कर्मकौशल पर, खूब जोर देती है। आर्यसंस्कृति इस दक्षता को भूलकर म्लान बन गई है। दक्षता के बिना कर्म का फल भी क्या मिले और उस का त्याग करने की भी ताकत कहाँ से आये?

इस लिए जब तक संसार में मोह, पराधीनता और स्वार्थ के युद्ध हैं तब तक गीता हमारे आचरण में उतारी गई, यह नहीं कहा जा सकता। गीता के बोध को आचरण में उतारना ही हमारा प्रथम धर्म है। श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज भी अपने भाष्य में यही सत्य समझाते हैं। आर्यसंस्कृति दिङ्मर्यादित नहीं। हमारा ईश्वर तो कहता है कि—

"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो"। —गी० १५।१५

घट घट में रहनेवाले ईश्वर को हम देखें और पहिचानें, इसी में गीता का गौरव है।

खड़े होकर जब स्वामी विद्यानन्दजी को मैं बोलते हुए देखता हूँ, तो मुझे विश्वास होता है कि हमारे साहित्यकार और नेताओं ने साधु संन्यासियों की तरह प्रजा की नाडी नहीं पहिचानी। उसी समय मुझे गीता का यह कथन याद आता है—

"आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥"
—गी० १६।१७

स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज की कथा का मुख्य अंश गीता का स्पष्टीकरण है। अर्वाचीन समय के वक्ताओं को इस प्राचीन कथापद्धति में बहुत सी बातें सीखने को मिलेंगी। वक्ता और श्रोता के बीच जब तक ऐक्य स्थापित न हो तब तक वक्तृत्व निरर्थक होता है। स्वामीजी की अभिमानरहित ओजस्विनी वाणी आकर्षक, प्रभावोत्पादक और हृदयंगत मालूम होती है। विद्वान्, अविद्वान्, स्त्री और पुरुष सब को वह अच्छी लगती है। स्वामीजी को गीता छोड़ और किसी वाद-विवाद में पड़ते मैं ने नहीं देखा। गुरुपद के गौरव को कायम रखने की उन में गम्भीरता है। कथा कहने की उन की संपुटशैली है। गीता का एक एक श्लोक लेकर उस का मर्म समझाना और उसे श्रोता के मन में दृढीभूत करने के लिए कथानकों का रसपूर्ण विस्तार करना इस शैली की विशेषता है। स्वामीजी को इस शैली के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। उन के लिए तो वह सहज और सुलभ है। इसी शैली में कथा कहना या लिखना, यही स्वामीजी का गीताभाष्य है।

स्वामीजी के इस गीताभाष्य को प्रति वर्ष 'गीतागौरवअङ्क' निकालकर प्रसिद्ध करने का प्रकाशकों का प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय और आदरणीय है। स्वामीजी के व्याख्यानों का मध्यबिन्दु गीता है। जिन्होंने ये व्याख्यान नहीं सुने उन के लिए स्वामीजी का भाष्य इन अङ्कों में क्रमबद्ध मिलेगा और जिन्होंने सुने हैं उन्हें इस ग्रन्थ में आवर्तन का आनन्द प्राप्त होगा।

इस प्रकार गीता का समृद्ध भाण्डार संसार के सामने रखनेवाले वर्तमान युग के भाष्यकार स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज के भाष्य को मुद्रित कराने का प्रशंसनीय काम कर प्रकाशकों ने जनता की अच्छी सेवा की है।

इस भाष्य को चित्रित करने के सुन्दर प्रयोग भी इस ग्रन्थ में किये गये हैं। कथानकों के रंग बिरंगी चित्र गीता के प्रचार में अत्यन्त उपयोगी होते हैं। मैं ने पहले के गीतागौरव के अङ्क देखे और उन्हें सब प्रकार से अच्छा पाया। इस अङ्क के भी चित्र उच्च कोटि के हैं, इस बात के लिए प्रकाशकों के साथ ही साथ

कलाकार भी धन्यवाद के पात्र हैं। वाणी और चित्र दोनों से गीता की भावना को दृढीभूत करनेवाला यह अङ्क लोगों को पसंद आयेगा और हजारों पढ़नेवालों को गीताभिमुख बनायेगा, इस में संदेह नहीं।

मुरब्बी मणीभाई यशभाई देशाई का गीताप्रेम आज का नहीं है। जिस सफलता के साथ 'गीतागौरव' के प्रथम दो खण्डों का भव्य अनुवाद उन्होंने गुजराती में किया है, वैसा ही सुन्दर भावमय भाषान्तर उन्होंने इस खण्ड का भी किया है। पूज्य स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज के साथ मेरा परिचय भी उन्होंने कराया। उन्हीं की वात्सल्यभरी प्रेरणा से मैं ने "गीतागौरव" की प्रस्तावना लिखी है। गीता के विषय में कुछ लिखना मेरे जैसे आदमी के लिए एक प्रकार का साहस ही है। गीता मेरा सब से प्रिय ग्रन्थ है। श्री विद्यानन्दजी महाराज गीताप्रचार के महाकार्य को करके सारे हिंदुस्तान का उपकार कर रहे हैं। मुरब्बी श्री मणीभाई के सद्भाव और प्रोत्साहन के कारण गीताधर्म की ओर मेरा अनुराग बढ़े, यह स्वाभाविक है। लेकिन श्री विद्यानन्दजी महाराज जैसे समर्थ भाष्यकार के भाष्यखण्ड पर दो शब्द प्रस्तावनारूप में लिखने का मौका मिले, यह मेरे लिए अलभ्य लाभ है, और इस के वास्ते मैं स्वामीजी को, प्रकाशकों को और श्री मणीभाई को धन्यवाद देता हूँ।

प्रस्तावना के अन्त में मुझे सिर्फ एक ही बात कहनी है। गीता केवल पढ़ने के लिए नहीं है। उसे तो जीवन में उतारना होगा। यह काम कैसे हो, इस का उत्तर मुझे देने की जरूरत नहीं। स्वामीजी का भाष्य स्पष्ट रूप से अपनी अनुपम शैली में यह सब समझा देगा।

भगवती गीता आर्यसंस्कार का रक्षण करें! इतना ही नहीं, आर्यसंस्कार की विशिष्टता को संसार भर में फैलाकर मानवजाति की उन्नति करें! जब तक अहिंसा, कर्मफल का त्याग, अपरिग्रह और अनपेक्षा की वृत्ति दक्षता और "कर्मसु कौशलम्" में प्रवेश नहीं कर पाती, तब तक जीवन संग्राम और संहारमय बना रहता है। पूर्व ने कर्मकौशल छोड़ा जिस के परिणामरूप उसे पराधीनता मिली। पश्चिम ने कर्मफल की अशास्त्रीय लोलुपता को अपनाया जिस के फलस्वरूप शस्त्रविज्ञान के भयंकर साधनों ने जन्म लिया। गीता दक्षता पर, कर्मकौशल पर, खूब जोर देती है। आर्यसंस्कृति इस दक्षता को भूलकर म्लान बन गई है। दक्षता के बिना कर्म का फल भी क्या मिले और उस का त्याग करने की भी ताकत कहाँ से आये?

इस लिए जब तक संसार में मोह, पराधीनता और स्वार्थ के युद्ध हैं तब तक गीता हमारे आचरण में उतारी गई, यह नहीं कहा जा सकता। गीता के बोध को आचरण में उतारना ही हमारा प्रथम धर्म है। श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज भी अपने भाष्य में यही सत्य समझाते हैं। आर्यसंस्कृति हिंदमर्यादित नहीं। हमारा ईश्वर तो कहता है कि—

"सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो"। —गी० १५।१५

घट घट में रहनेवाले ईश्वर को हम देखें और पहिचानें, इसी में गीता का गौरव है।

चित्रपरिचय

१. टाइटिल चित्र—(चित्रकार-बी० के० मित्रा) अर्जुन की प्रार्थना पर विराट् विश्वरूप दिखलाने के बाद भगवान् ने अर्जुन की व्यग्रता दूर करने के लिए जिस सौम्य चतुर्भुज रूप का दर्शन दिया उसी सुदुर्दशरूप को अङ्कित करने का सफल प्रयास प्रस्तुत चित्र में चित्रकार ने किया है ।

२. महाभारतप्रवक्ता और लेखक (व्यासजी और गणेशजी)—(चित्रकार-रणजीत राय, पृष्ठ ३) व्यासजी की प्रार्थना स्वीकार कर गणेशजी महाभारत लिख रहे हैं । गणेशजी ने शर्त रखी थी कि मेरी कलम रुकने न पाये और व्यासजी ने शर्त रखी थी कि समझ समझकर लिखना । इन्हीं भावों को इस चित्र में व्यक्त किया गया है ।

३. गीतागौरवप्रवक्ता जगद्गुरु गीताव्यास स्वामी श्री विद्यानन्दजी—(चित्रकार-एक भक्त, पृ० ७) गीताधर्म और गीतागौरव के प्रेमी पाठकों का चिर परिचित चित्र है, विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं ।

४. दशरथदर्बार में वसिष्ठ द्वारा विपश्चित् का वर्णन—(चित्रकार-रमाकान्त कंठाले, पृ० १२, अ० ८, श्लो० ६) महाराज दशरथ के दाहने बायें श्री राम और लक्ष्मण बैठे हैं, सामने एक उच्च आसन पर बैठकर कुलगुरु वसिष्ठ ऋषि मरणकालीन भावनानुसार पुनर्जन्म का दृष्टान्तरूप विपश्चित् की कथा कह रहे हैं ।

५. मृगरूप विपश्चित् को दर्बार में लाना—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० १२, अ० ८, श्लो० ६) वसिष्ठजी से यह सुनकर कि मेरी ही पशुशाला में इस समय वह विपश्चित् अपने भावानुसार मृगयोनि में पड़ा हुआ है, श्री राम ने उस को देखने की इच्छा की और तदनुसार उस मृग को दो आदमी दर्बार में ला रहे हैं ।

६. अग्निदेव की कृपा से मृगयोनि से मुक्ति—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० १२, अ० ८, श्लो० ६) मृग को देखकर भगवान् राम ने वसिष्ठजी से कहा कि आप अपने तपोबल से इस को मनुष्ययोनि प्रदान कीजिए, किंतु वसिष्ठजी ने अपनी असमर्थता बतलाकर विपश्चित् के इष्ट देवता अग्निदेव का आवाहन किया और उन से कहकर मृग को विपश्चित् का रूप दिलवाया ।

७. भास का पूर्ववृत्तान्तवर्णन—(चित्रकार- र० कंठाले, पृ० १२, अ० ८ श्लो० ६) अग्निदेव की कृपा से मृग पहले एक प्रकाशसमूह के रूप में बदलकर बाद में विपश्चित् के रूप में प्रकट हुआ जिस से दशरथजी ने उस का नाम भास रखा, फिर दशरथजी के कहने पर भास अपने पहले जन्मों की कथा कहने लगा ।

८. हिरन के प्रेम में ज्ञानी जडभरत—(चित्रकार-रणजीत राय, पृ० ३६, अ० ८, श्लो० ६) सिंह के आक्रमण से भागे हुए हिरनों के झुंड में से पीछे छूटे हुए एक मृग-शावक को जडभरतजी गोद में उठा रहे हैं और फिर उस पर इतने आसक्त हो जाते हैं कि मरणकाल में भी उस का मोह नहीं छूट पाता है ।

९. कालनेमि का संहार—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० ७९, अ० ८, श्लो० १४) संजीवनी लेने जाने में विघ्न डालनेवाले कालनेमि राक्षस का हनुमान्‌जी गदा से वध कर रहे हैं।

१०. संजीवनी ले जाते हुए हनुमान् पर भरत द्वारा प्रहार—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० ८०, अ० ८, श्लो० १४) हनुमान् संजीवनी न पहचानकर धवलागिरि पर्वत ही उठाये हुए लङ्का लौट रहे हैं। भरतजी को धोखा होता है कि कोई राक्षस वनवासी राम को कष्ट देने जा रहा है । बस, वे धनुष तानकर बाण से हनुमान्‌जी को घायल कर देते हैं ।

११. घायल हनुमान् को शक्तिप्रदान—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० ८०, अ० ८, श्लो० १४) भरत के बाण से विद्ध हनुमान् राम राम कहते हुए पृथिवी पर गिर पड़ते हैं। भरतजी दौड़कर उन के समीप जाते हैं और सब बातें मालूम होने पर दुःख प्रकट करते हुए हनुमान् को गोद में उठाकर अपनी ओर से शक्ति दे रहे हैं ।

१२. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः······—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० ८८, अ० ८, श्लो० १६) भगवान् ने अर्जुन को बतलाया है कि ब्रह्मादिक के लोक में जानेवालों को पुनः जन्म लेना पड़ता है और मेरे लोक में जानेवाला मोक्ष पा जाता है । चित्र में रुद्रलोक दिखलाकर वहाँ जाना आना दोनो और भगवान् का लोक दिखलाकर वहाँ केवल जाना ही जाना दिखलाया गया है ।

१३. ब्रह्मा के दिवस में प्राणियों की उत्पत्ति—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० ९५, अ० ८, श्लो० १८) चित्र में चतुर्मुख ब्रह्मा के तीन ही मुख व्यक्त हुए हैं जिन से सृष्टिकाल में प्राणिसमूह जन्म ले रहे हैं। चौथा मुख पीछे पड़ने से व्यक्त नहीं हुआ है। विशेष परिचय श्लोक से ही प्रकट है ।

१४. ब्रह्मा की रात्रि में प्राणियों का विनाश—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० ९६, अ० ८, श्लो० १८) इस में भी तीन ही मुख दिखलाये गये हैं, चौथा पीछे है। ब्रह्मा की रात अर्थात् प्रलयकाल आने पर सभी जीव उन्हीं मुखों में लौटे चले जा रहे हैं ।

१५. जन्माष्टमी का उत्सव—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० १००, अ० ८, श्लो० १८) राजा साहब के यहाँ श्री कृष्णजन्माष्टमी का उत्सव मनाया जा रहा है, एक पण्डितजी व्यासगद्दी पर बैठे हुए कृष्णावतार का कथा कह रहे हैं ।

१६. दान लेने आकर गिरे हुए पण्डितजी—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० १००, अ० ८, श्लो० १८) राजा के मोटे पुरोहित आधी रात को दान लेने आते हैं। वर्षा के कारण पैर फिसल जाने से वे लड़खड़ाकर सीढ़ियों के नीचे गिर जाते हैं, इस पर बड़ी हँसी होती है।

१७. पानी में पत्थर का उदाहरण—(चित्रकार—र० कंठाले, पृ० १००, अ० ८, श्लो० १८) पण्डितजी के गिरने पर राजा साहब ने भी हँस दिया और अपने हँसने का कारण बतलाया कि पहले के ब्राह्मण तो जल पर पूर्णाधिकार रखनेवाले होते थे और आप जरा सी कीचड़ पर भी अधिकार न कर सके। इसी का उत्तर देने के लिए पण्डितजी ने राजा के हाथों से पानी में पत्थर डलवाया और उस के डूब जाने पर यह कहते हुए हँसने लगे कि पहले के क्षत्रिय पानी पर बड़ी बड़ी चट्टानें तैरा देते थे, पर आप से एक ढेला भी न तैराया गया।

१८. परम पुरुष—(चित्रकार—बी० के० मित्रा, पृ० ११३, अ० ८, श्लो० २२) सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, ब्रह्मा, वरुण, कुबेर आदि देवों और सकल चराचर जीवों को अपने में धारण करनेवाले परमात्मा की अलौकिक झाँकी करने में एक अनन्य भक्त तल्लीन है।

१९. अकबर के प्रश्नों के फेर में बीरबल—(चित्रकार—र० कंठाले, पृ० १३२, अ० ८, श्लो० २५) भगवान् के संबन्ध में किये गये ऊटपटाँग प्रश्नों के उत्तर दिलाने के लिए बीरबल किसी चतुर दिहाती की खोज में परेशान होकर उदासचित्त एक वृक्ष के नीचे सोये हैं, इसी समय उन के प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देनेवाला एक किसान अनायास उन के पास आकर उपस्थित हो जाता है।

२०. अकबरी दर्बार में किसान और बीरबल—(चित्रकार—र० कंठाले, पृ० १३२, अ० ८, श्लो० २५) बीरबल उक्त किसान को अकबर के सामने उपस्थित कर रहे हैं जिसे देखकर अकबर को आश्चर्य होता है।

२१. किसान सिंहासन पर—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० १३२, अ० ८, श्लो० २५) बादशाह को वचनबद्ध करके उन का संतोष हो जाने पर किसान उन के राजसिंहासन पर बैठा है।

२२. भागवत लेकर पण्डितजी का प्रस्थान करना—(चित्रकार—सीताराम, पृ० १५३, अ० ८, श्लो० २८) एक गरीब पण्डितजी अपनी स्त्री के उलाहने से तंग आकर जीविका उपार्जन के लिए भागवत लेकर घर से किसी यजमान की खोज में निकल रहे हैं।

२३. हनुमानजी को कथा सुनाना—(चित्रकार—सीताराम, पृ० १५३, अ० ८, श्लो० २८) कोई मनुष्य कथा सुनने को तैयार नहीं होता, इस लिए पण्डितजी मनुष्यों से क्षुब्ध होकर निष्काम भाव से हनुमानजी की प्रतिमा को ही कथा सुनाने लगते हैं।

२४. हनुमान की मूर्ति में सेठ का पैर चिपकना—(चित्रकार–सीताराम, पृ० १५३, अ० ८, श्लो० २८) पण्डितजी की निष्कामता से प्रसन्न होकर भगवान् राम हनुमानजी को आज्ञा देते हैं कि इस की कथा पर एक हजार रुपया अवश्य चढ़वाना। कृपण सेठ राम और हनुमान् की बात सुन लेता है और पण्डितजी को धोखा देने के लिए कथा की चढ़ोतरी का ठीका कर लेता है, पर निराश होने पर हनुमान्जी पर क्रोध करके लात मारता है, फलस्वरूप पैर उसी प्रतिमा में चिपका रह जाता है।

२५. दक्षिणाद्रव्य की पूर्ति करने पर पैर छूटना—(चित्रकार– सीताराम, पृ० १५३, अ० ८, श्लो० २८) पण्डितजी सेठ को ढूँढते हुए उस के पास पहुँचते हैं, उस की दशा पर आश्चर्य और दुःख प्रकट करते हैं, सब हाल मालूम होने पर सेठजी को हनुमान् से क्षमा माँगने की राय देते हैं और तदनुसार क्षमाप्रार्थना करने पर उस सेठ से एक हजार पूरा करवाकर हनुमान्जी क्षमा कर देते हैं।

२६. भोज की रानी ने राजा को मूर्ख कहा—(चित्रकार– रणजीत राय, पृ० १६०, अ० ९, श्लो० १) राजा भोज का महल में जाना, वहाँ रानी को एक सहेली से बात करते देखकर भी अलग न रहने पर रानी का राजा को मूर्ख कहना।

२७. कालिदास ने मूर्ख बनाये जाने पर उत्तर दिया—(चित्रकार–रणजीत राय पृ० १६०, अ० ९, श्लो० १) रानी के मूर्ख कहने पर राजा का कारण जानने की इच्छा से अपने दर्बारियों को मूर्ख कहना और महाकवि कालिदास द्वारा समाधान होने पर संतुष्ट होना।

२८. श्रद्धारहित का पुनरागमन—(चित्रकार–बी० के० मित्रा, पृ० १७३, अ० ९, श्लो० ३) भगवान् अर्जुन को अश्रद्धालु तपस्वी की गति बतला रहे हैं। तपस्वी तपस्या में बाह्यतः लीन होने पर भी ठीक श्रद्धा न होने के कारण मृत्यु के बाद मुक्त न होकर पुनः एक स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट हो रहा है।

२९. कथाश्रवण से किसान को जिज्ञासा—(चित्रकार–रामकृष्ण, पृ० १८०, अ० ९, श्लो० ३) एक महात्मा भक्तों के बीच बैठकर भगवच्चर्चा कर रहे हैं, वहाँ एक अपढ़ किसान आता है और कथा सुनकर भगवान् का जिज्ञासु बन जाता है।

३०. जिज्ञासु को महात्मा का उपदेश—(चित्रकार– रामकृष्ण, पृ० १८०, अ० ९, श्लो० ३) महात्माजी सब तरह से जाँचकर किसान की दृढ भक्ति को परख लेते हैं और योग्य अधिकारी जानकर उसे भगवद्दर्शन पाने की युक्ति बतलाकर अपना शिष्य बना लेते हैं।

३१. श्री लक्ष्मी द्वारा किसान की परीक्षा—(चित्रकार–रामकृष्ण, पृ० १८०, अ० ९, श्लो० ३) महात्मा के उपदेशानुसार किसान तपस्या में प्रवृत्त होता है, तपस्या पूरी

होने पर भगवान् उसे वरदान देने आते हैं, किंतु लक्ष्मीजी को अभी उस की भक्ति पर पूरा विश्वास नहीं होता, इस लिए वे भगवान् को एक गड्ढे में छिपने के लिए कहकर उस की परीक्षा लेने पहले स्वयं उस के पास आती हैं। वह भक्त तो था ही, लक्ष्मीजी को पहचान लेता है जिस से वे भी प्रसन्न हो जाती हैं और भगवान् के पास जाकर उन्हें भी भक्त किसान के पास बुला लाती हैं।

३२. **गुरु के कहने से भगवान् में विश्वास**—(चित्रकार—रामकृष्ण, पृ० १८०, अ० ९, श्लो० ३) लक्ष्मीजी और भगवान् साथ साथ किसान के पास आकर उस को वर देने की इच्छा प्रकट करते हैं, पर वह सोचता है कि जिन गुरु की कृपा से मैं इस योग्य हुआ उन को पहले इन का दर्शन कराना चाहिए, इस लिए भगवान् के कहने पर भी वह उन्हें भगवान् नहीं मानता, तब भगवान् उसे अपने गुरु को बुला लाने का अवसर देते हैं और वह गुरु को ले आकर उन के कहने से भगवान् को भगवान् स्वीकार करता है।

३३. **कल्पान्त में जीवों का प्रलय**—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० १८८, अ० ९, श्लो० ७) ऊपर दिव्य प्रचण्ड आलोक के बीच भगवान् खड़े हैं, उन की इच्छा से प्रलयकारिणी ज्वाला प्रकट होकर सारी सृष्टि को भस्मसात् कर रही है।

३४. **भगवान् को मनुष्य माननेवाले कंस, जरासंध, कौरवादि मूर्ख जन**—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० १९६, अ० ९, श्लो० ११) भगवान् अर्जुन को बतला रहे हैं कि जिन की बुद्धि पर मूढ़ता का घोर काला पर्दा पड़ा रहता है वे मेरे उत्तम भावों को धारण करने में असमर्थ ही रह जाते हैं और मेरे अवतारी शरीरों को साधारण मनुष्य के ही रूप में देखते हैं।

३५. **रामजी सेतु से लङ्का जा रहे हैं**—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० २००, अ० ९, श्लो० ११) हनुमान्‌जी रावण को समझाकर और लङ्का में आग लगाकर लौट आये तब नल नील की सहायता से समुद्र में पुल बँधवाकर राम लक्ष्मण ने साथ में सब सेना लेकर लङ्का पर चढ़ाई कर दी।

३६. **मन्दोदरी का रावण को समझाना**—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० २००, अ० ९, श्लो० ११) स्वप्न में राम, लक्ष्मण और उन की सेना का आगमन देखकर मन्दोदरी को लङ्कानाश की सूचना मिल गई, इस लिए वह रावण को समझा रही है कि राम मनुष्य नहीं, भगवान् हैं, उन से वैर त्याग दो।

३७. **रामरावणयुद्ध**—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० २००, अ० ९, श्लो० ११) रावण ने मन्दोदरी को डाँटकर अलग कर दिया और राम के साथ युद्ध करने में जी जान से जुट गया।

३८. दैवी प्रकृति का आश्रय लेनेवाले महात्मा लोग भगवान् और उन की प्रकृति का भाव सहित दर्शन कर रहे हैं—(चित्रकार–बी० के० मित्रा, पृ० २०६, अ० ९, श्लो० १३) श्लोक से ही सब भाव स्पष्ट है।

३९. चतुर ब्राह्मण को वरदान—(चित्रकार–सीतारामशरण, पृ० २५७, अ० ९, श्लो० २०–२१) कूटनीतिविद्याविशारद एक भक्त ब्राह्मण एक ही वाक्य में भगवान् से संसारी सुखों से लेकर मोक्ष तक का वरदान प्राप्त कर लेता है।

४०. वरदान की भौतिक पूर्ति—(चित्रकार–सीतारामशरण, पृ० २५७, अ० ९, श्लो० २०–२१) वरदान के प्रभाव से ब्राह्मण की फूटी हुई आँखें फिर ठीक हो जाती हैं और समयानुसार वह सब सुखों का भोग करता है।

४१. वरदान से मुक्ति—(चित्रकार–सीतारामशरण, पृ० २५७, अ० ९, श्लो० २०—२१) अन्त में मरकर वह ब्राह्मण पुनरावर्ती लोकों में न जाकर सीधे परम धाम को प्राप्त करता है।

४२. योगक्षेमवहन—(चित्रकार–बी० के० मित्रा, पृ० २५९, अ० ९, श्लो० २२) भगवान् अपने अनन्य भक्त के भोजन छाजन और कुशल मङ्गल की कहाँ तक चिन्ता रखते हैं, यही भाव इस चित्र में सफलतापूर्वक अङ्कित किया गया है।

४३. पत्रं पुष्पं फलं तोयम्''—(चित्रकार–सीताराम, पृ० २६८, अ० ९, श्लो० २६) भक्त अपने भगवान् के संमुख पूर्ण भक्ति के साथ जो कुछ भी निवेदित करता है उसे वे प्रसन्न होकर अवश्य ग्रहण करते हैं, यही भाव इस चित्र में दिखलाया गया है।

४४. शबरी के बेर—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० २७२, अ० ९, श्लो० २६) भीलनी शबरी भगवान् के प्रेम में मग्न होकर अपने हाथों बेर खिला रही है और भगवान् प्रसन्न होकर भोजन कर रहे हैं।

४५. विदुरपत्नी के केले के छिलके—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० २७२, अ० ९, श्लो० २६) विदुर की स्त्री भगवान् के प्रेम में ऐसी बेसुध हो रही है कि केले की गुद्दी तो फेंक देती है और छिलके भगवान् को खिला रही है, और भक्तप्रिय भगवान् उन छिलकों में ही अपूर्व रस का अनुभव करते हुए उन्हें भक्षण कर रहे हैं।

४६. भगवान् में भक्त और भक्त में भगवान्—(चित्रकार–बी० के० मित्रा, पृ०-२८१, अ० ९, श्लो० २९) भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं कि मैं सब के लिए बराबर हूँ, पर अपने भक्तों को तो मैं अपने हृदय में ही धारण करता हूँ तथा स्वयं उन भक्तों के हृदय में वास करता रहता हूँ।

४७. घर से निकाला हुआ समाधि वैश्य—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० २९३ अ० ९, श्लो० ३२) धन के लोभ में पड़कर समाधि वैश्य की स्त्री और लड़का उस को घर से बाहर कर देते हैं और वह जंगल में चला जाता है।

४८. कोलाविध्वंसियों से हारा राजा सुरथ—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० २९३, अ० ९, श्लो० ३२) सुरथ नामक राजा अपने शत्रुओं से हारकर शिकार खेलने के बहाने जगल में भाग जाता है।

४९. समाधि और सुरथ मुनि के आश्रम मे—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० २९३, अ० ९, श्लो० ३२) जंगल में एक ऋषि का आश्रम है। वहीं ये दोनों दुखिया एकट्ठे होते हैं और अपना अपना शोक सुनाकर ऋषि से चित्तशान्ति का उपाय पूछते हैं।

५०. दोनों को वरदान—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० २९३, अ० ९, श्लो० ३२) ऋषि से उपदेश पाकर दोनों एकाग्रचित्त से आराधना में तत्पर होते हैं और तीन वर्ष तक कठिन तपस्या में लगे रहते हैं, अन्त में भगवती प्रकट होकर दोनों को अभिलषित वरदान देती हैं।

५१. भगवान् का ज्ञान प्राप्त कर संसार में उस का प्रचार करनेवाले ऋषि—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० ३०५, अ० १०, श्लो० २) श्लोक में भगवान् की उत्पत्ति की अगम्यता का वर्णन है। उसी के आधार पर प्रस्तुत चित्र में यह भाव दर्शाया गया है कि जब देवता और ऋषि लोग भी भगवान् को बातों को पूरा पूरा नहीं जानते तो मनुष्य तो कैसे जान सकते हैं, पर देवताओं और ऋषियों को भगवान् का जब तब साक्षात्कार हो जाया करता है, सो उन में से ही कोई कृपा करके जब मनुष्यों को कुछ बतला देते हैं तभी मनुष्यों को कुछ मालूम हो पाता है।

५२. सर्प को मनुष्य के रक्त का चस्का—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३१७, अ० १०, श्लो० ४–५) जगली पगडंडी दो गावों को एक में मिलाती थी। उसी पर एक दिन एक अंधे को साँप ने काट लिया और उसे खून का स्वाद मिल गया।

५३. पथिकों का संहार—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३१७, अ० १०, श्लो० ४–५) खून का स्वाद मिल जाने पर साँप की जबान बिगड़ गई, वह उस रास्ते जानेवाले सभी मनुष्यों को काट काटकर मौत के मुहँ में भेजने लगा।

५४. साधु के उपदेश से सर्प का अहिंसक होना—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३१७, अ० १०, श्लो० ४–५) साँप के भय से रास्ता बंद कर दिया गया और एक पहरेदार नियुक्त कर दिया गया कि कोई जंगल में न जाने पाये, पर एक साधु ने हठ करके वही मार्ग पकड़ा और अपने उपदेश से साँप को ऐसा प्रभावित किया कि उस ने काटने की आदत छोड़ दी।

५५. जगत् और प्रजा के उत्पादक—(चित्रकार–वी० के० मित्रा, पृ० ३२४, अ० १०, श्लो० ६) ॐकार के रूप में भगवान् के मानस का अङ्कन करके उस के द्वारा चार मनुओं और सात ऋषियों की उत्पत्ति दिखलाई गई है और तब यह प्रदर्शित किया गया है कि इन्हीं ग्यारहों ने सारे संसार और संसारी प्राणियों को उत्पन्न किया है।

५६. कल्पादि में सर्वभूतसर्जन—(चित्रकार–वी० के० मित्रा, पृ० ३२८, अ० १०, श्लो० ८) भगवान् ही सब को उत्पन्न करनेवाले हैं और उन्हीं से सकल ज्ञानविज्ञानमय सृष्टि का प्रवर्तन होता है, यही भाव प्रस्तुत चित्र में अङ्कित करके यह दिखलाया गया है कि ज्ञानी मनुष्य इस भाव को प्रत्यक्ष की तरह देखता हुआ भगवान् को भजने में लीन रहता है।

५७. संत हंसों में असंत कौआ—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३३३, अ० १०, श्लो० ९) हंस तीर्थभ्रमण करके मानसरोवर लौट रहे थे कि एक दुष्ट कौआ उन के साथ मिल गया और आगे चलकर अपनी दुष्टता से हंसों पर आफत बुला दी।

५८. हंस की सज्जनता और कौए की दुर्जनता—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३३३, अ० १०, श्लो० ९) हंस ने देखा कि पेड़ के नीचे सोनेवाले यात्री के मुँह पर धूप पड़ रही है, तो अपने पंख फैलाकर छाया कर दी। दुष्ट कौए से दूसरे की भलाई न देखी गई, इस लिए उस ने उस यात्री के मुँह पर पाखाना कर दिया।

५९. असंत की संगति का फल—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३३३, अ० १०, श्लो० ९) यात्री चौंककर उठ बैठा और अपने ऊपर हंस को पर फैलाये देखकर उसे ही दोषी समझ बाण से घायल कर दिया जिस से हंस बिचारा तो नीचे गिर पड़ा और कौआ क्रूर हँसी हँसता हुआ उड़ गया।

६०. ज्ञानदीप से अज्ञान का नाश—(चित्रकार–सीतारामशरण, पृ० ३३७, अ० १०, श्लो० ११) बुद्धिमान् भक्त के हृदयकमल में भगवान् स्वयं बैठकर उस के अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश करते हैं।

६१. ऋषि और नारदोक्त भगवान्—(चित्रकार–वी० के० मित्रा, पृ० ३४०, अ० १०, श्लो० १२-१३) देवर्षि नारद, महर्षि व्यास, देवल और असित दिव्य देहधारी परमात्मा की प्रार्थना करने में तल्लीन हैं। विशेष परिचय श्लोक से ही स्पष्ट है।

६२. नारद का महात्माओं से ईश्वर को पूछना—(चित्रकार–रणजीतराय, पृ० ३४४, अ० १०, श्लो० १४) महात्माओं की जमात के सामने बालक नारद हाथ जोड़कर खड़े हैं और ईश्वर के संबन्ध में प्रश्न कर रहे हैं।

६३. नारद की माता का उन्हें ढूँढ़ना—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० ३४४, अ० १०, श्लो० १४) महात्माओं के उपदेश से नारद तपस्या करने चले गये। इस लिए

उन की माता उन के लिए भोजन लेकर उपस्थित होने पर उन्हें न पाकर महात्माओं से उन का पता पूछ रही है ।

६४. समाधिस्थ नारद—(चित्रकार–रणजीत राय, पृ० ३४४, अ० १०, श्लो० १४) नारद की माता उन्हें खोजती हुई उस झोपड़ी में पहुँच गई जहाँ वे भगवान् के ध्यान में लीन थे, किंतु उस के जगाने पर जब उन की समाधि न टूटी, तो वह महात्माओं को बुला लाकर उन का ध्यान भङ्ग कराना चाहती है । महात्मा लोग बालक नारद को देख आश्चर्य कर रहे हैं ।

६५. अंधे हाथी को टटोल रहे हैं—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३६५, अ० १०, श्लो० २३) अंधों के गाँव में शिकारी राजा का हाथी आया । आँखें न होने के कारण अंधे टो टाकर उस का ज्ञान करना चाहते हैं ।

६६. हाथी के वितर्क में अंधों में लड़ाई और राजा का वचन—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ३६५, अ० १०, श्लो० २३) हाथी टटोलने के बाद अंधे विचार करने लगे कि वह किस प्रकार का था । इस पर जिस ने जो अङ्ग टोया था वह उसी के अनुसार हाथी की रूप रेखा बतलाने लगा और मतभेद के कारण झगड़ा खड़ा हो गया । तब तक शिकारी राजा आ गया और वह सबों को समझाकर शान्त करना चाहता है ।

६७. बृहस्पति, स्कन्द, सागररूप भगवान्—(चित्रकार–बी०के० मित्रा, पृ० ३७०, अ० १०, श्लो० २४) भगवान् अपनी विभूतियों का परिचय दे रहे हैं और पुरोहितों में देवगुरु बृहस्पति, सेनापतियों में स्वामी कार्तिकेय तथा सरों में सागर को अपनी प्रधान विभूति बतलाते हैं ।

६८. भगवद्विभूतियाँ—(चित्रकार–बी० के० मित्रा, पृ० ३८४, अ० १०, श्लो० ३१) पवित्र करनेवाले पदार्थों में पवन होकर वृक्ष लतादिकों को झकझोरते हुए, शस्त्र-धारियों में राम होकर दुष्टों के दमन में उद्युक्त, मछलियों में मगरमच्छ होकर जलजन्तुओं में श्रेष्ठता प्रकट करते हुए और नदियों में गङ्गा होकर दिव्यता दिखलाते हुए भगवान् के विभिन्न स्वरूपों का इस चित्र में अङ्कन किया गया है ।

६९. माता का पुत्र को दही खिलाना—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ४२०, अ० ११, श्लो० ४) घर में दूध की मलाई न होने पर पुत्र को दही की मलाई खिलाकर माता उसे सतुष्ट कर रही है ।

७०. अधिक दही खाने का दुष्परिणाम—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ४२०, अ० ११, श्लो० ४) पुत्र को दही की मलाई बड़ी स्वादिष्ट जँची, उस ने दही खाने की लत पकड़ ली और दमा का शिकार हो गया ।

७१. महात्मा की युक्ति से आरोग्यलाभ—(चित्रकार–र० कंठाले, पृ० ४२०, अ० ११ श्लो० ४) पुत्र दही खाना छोड़ता नहीं था और दवाओं का असर पड़ता नहीं था ।

अन्त में एक महात्मा ने हठपूर्वक दही खाने का अभ्यास छुड़वाने को भ्रमपूर्ण सिद्ध करके 'मूर्खछन्दानुरोधेन' के न्यायानुसार दही के गुण दोष समझाकर लड़के का बालहठ छुड़ा दिया।

७२. **महर्षि दुर्वासा का यशोदा के घर भ्रममोचन**—(चित्रकार- रणजीत राय, पृ० ४५२, अ० ११, श्लो० १८) दुर्वासा ऋषि का यशोदाजी स्वागत करती हैं, ऋषिजी भोजन बनाकर भगवान् को नैवेद्य अर्पण करते हैं और घुटुरुओं चलते हुए श्री कृष्ण आकर नैवेद्य ग्रहण कर लेते हैं। श्री कृष्ण की वास्तविकता न जानने के कारण पहले तो दुर्वासाजी बहुत नाक भौं सिकोड़ते हैं, पर बाद में भगवान् की कृपा से उन का भ्रम दूर हो जाता है और वे यशोदा के भाग्य की सराहना करने लगते हैं।

७३. **चक्रव्यूह में अभिमन्यु**—(चित्रकार-बी० के० मित्रा, पृ० ४८५, अ० ११, श्लो० ३४) अर्जुन की अनुपस्थिति में रचे गये चक्रव्यूह का भेदन करने के लिए सोलह वर्ष का बालक अभिमन्यु वीरतापूर्वक भीतर घुस जाता है और वहाँ अकेले ही सात महारथियों के छक्के छुड़ा देता है, पर अन्त में दुष्ट कौरव धोखा देकर उस को शस्त्ररहित कर देते और अकेले पर सात मिलकर प्रहार करते हैं।

७४. **वत्सासुरवध**—(चित्रकार—जगन्नाथप्रसाद गुप्ता, पृ० ५०४, अ० ११, श्लो० ४१-४२) कंस का भेजा हुआ राक्षस बैल का रूप धारण कर वृन्दावन में भगवान् कृष्ण को धोखा देने आता है, पर भगवान् उस को पहचानकर अपने हाथों परलोक भेज देते हैं।

७५. **दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन**—(चित्रकार-सीतारामशरण, पृ० ५४७, अ० ११, श्लो० ५१) भगवान् का विराट् रूप देखकर घबड़ाये हुए अर्जुन ने भगवान् से प्रार्थना करके उन्हें फिर पहले के रूप में उपस्थित कराया और उस रूप में देखकर प्रसन्न होकर हाथ जोड़ रहा है।

७६. **बच्ची पत्थर का शेर देखकर डर गई**—(चित्रकार-सीतारामशरण, पृ० ५५१, अ० ११, श्लो० ५१) माता के साथ देवमन्दिर में दर्शन करने गई हुई बालिका मन्दिर के तोरणद्वार पर सिंह की मूर्ति देखकर भय के मारे दूर भाग रही है।

७७. **पत्थर के भगवान् से खुश हुई**—(चित्रकार-सीतारामशरण, पृ० ५५१, अ० ११, श्लो० ५१) माता ने बालिका को समझाकर शान्त किया और मन्दिर के भीतर ले जाकर भगवान् का दर्शन कराया जिस से वह बड़ी खुश होती है और पत्थर के सिंहों को याद करके आश्चर्य प्रकट करती है।

७८. **सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम**—(चित्रकार-सीतारामशरण, पृ० ५५२, अ० ११, श्लो० ५२) भगवान् देवताओं की ओर संकेत करके अर्जुन को बतला रहे हैं कि तूँ ने मुझ को जैसा देखा है वैसा देखने के लिए ये देवता लोग हमेशा ललचते रहते हैं।

७९. **राजा के यहाँ महात्माजी की सेवा**—(चित्रकार-रणजीत राय, पृ० ५८०, अ० ११, श्लो० ५४) विलासी राजा बीमार पड़कर एक महात्मा के गुणों का कायल होता है और उन का शिष्य बनकर तन, मन, धन से उन की सेवा करता है।

८०. **राजमित्र के यहाँ सेवा का उलटा फल**—(चित्रकार-रणजीतराय, पृ० ५८०, अ० ११, श्लो० ५४) राजा को सेवा करते देख उस का एक मित्र इतना प्रभावित होता है कि महात्मा की सेवा करके सुफल पाने के लिए उन्हें अपने यहाँ भी निमन्त्रित करता है, पर मन्दबुद्धि होने के कारण ऐसी सेवा कर बैठता है कि महात्मा की मृत्यु हो जाती है।

८१. **भगवत्प्राप्ति के अनेक प्रकार**—(चित्रकार-सीतारामशरण, पृ० ५८७, अ० ११, श्लो० ५५) इस चित्र में नौ चित्र अलग अलग चित्रित हैं जिन में भगवान् की भक्ति करने की नौ विधियाँ दिखलाई गई हैं। इन सब का पूर्ण परिचय पृष्ठ ५९० में कथाप्रसंग के अंदर लिख दिया गया है।

८२. **पुष्पाञ्जलि**—(चित्रकार-र० कंठाले, पृ० ५९१, अ० ११, श्लो० ५५) एक भक्त महिला विधिपूर्वक भगवत्पूजन करती हुई भगवान् को माला पहनाने के लिए उद्यत है।

८३. **अन्तिम टाइटिल चित्र**—(चित्रकार-एक भक्त) भावनगर में वहाँ के महाराज, महारानी, दीवान, नगरसेठ और प्रमुख नागरिकों की उपस्थिति में जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचन।

श्री गीताजी की स्तुति

(रचयिता—स्वामी श्री ब्रह्मानन्दजी)

जय जय जगदंबे कर न विलंबे श्री गीता महरानी।
हम मूढ़ अपावन तुम जगपावनि वासुदेव की बानी॥
जय जय सुपुनीते भगवत् गीते ज्ञानगम्य गोतीता।
महिमा अनन्त, वे पायें अन्त जो भजते भगवत् गीता॥
करो कृपा हे गीता, देवी हों हम भक्त तुम्हारे।
सत्य, धर्म, निष्काम कर्म का हो विज्ञान हमारे॥
श्री गीतास्तुति जो कोई 'ब्रह्मानन्द' प्रेम से गावे।
अर्थ धर्म और सभी कामना पूर्ण परमपद पावे॥

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

गीतागौरव भाष्य सहित

अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहा गया है और अधिदैव क्या कहलाता है ? हे मधुसूदन, यहाँ अधियज्ञ कौन है (और वह) इस शरीर में कैसे (रहता) है ? एवं संयत चित्तवालों से मरने के समय में आप कैसे जाने जा सकते हैं ?

गीतागौरव—सप्तम अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ आदि के साथ साथ परमात्मा को जाननेवाले युक्तचेता लोगों की भगवान् के मुख से प्रशंसा सुनकर इस अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि हे भगवन्, हे पुरुषश्रेष्ठ, मैं आप के बतलाये हुए इन ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म आदि को स्वतः पूर्णतः जानने में बिल्कुल असमर्थ हूँ, अतः हे मधुसूदन, आप कृपा करके बतलाइए कि वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म का क्या तात्पर्य है ? कर्म का क्या अभिप्राय है ? अधिभूत किस का नाम है ? अधिदैव किस को कहा जाता है ? संसार में अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीर में किस तरह रहता है ? साथ ही मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि युक्तचेता लोग मरने के

समय में आप को किस प्रकार जान सकते हैं ? इस लिए कृपापूर्वक आप इन सब बातों को मुझे ठीक ठीक बतला दें।

कथाप्रसंग—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् ने सातवें अध्याय को समाप्त करते हुए अर्जुन से जिन सात बातों की चर्चा की थी उन्हीं का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्जुन ने इस अध्याय को अपने सात प्रश्नों के साथ प्रारम्भ किया है। इन सात प्रश्नों में छः प्रश्न उन्हीं ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म आदि जटिल विषयों के प्रति हैं और सातवाँ प्रश्न इस आश्चर्य का द्योतक है कि जिन लोगों ने अपनी आत्मा को संयमित कर लिया है वे लोग मरने के समय में मृत्युयन्त्रणा से व्याकुल न होकर स्थिरतापूर्वक भगवान् को किस प्रकार ध्यान में रखे रहते हैं। मरने का कष्ट इतना असाधारण कष्ट होता है कि बड़े बड़े ऋषि महर्षि भी उस समय स्थिरता नहीं धारण कर पाते हैं और जीवन भर के किये हुए अभ्यास से विचलित होकर सांसारिक लोगों की तरह इन्द्रियों के विषयों के चित्र देखने लगते हैं। उस समय नाना प्रकार के जगत् के भले बुरे कर्म मरनेवाले की आँखों के सामने सिनेमा के चित्रों की भाँति दौड़ लगाने लगते हैं, बचपन, जवानी और बुढ़ापे की यादगारियाँ सामने आ आकर जीवात्मा को मोह में डालने लगती हैं। ऐसी हालत में नियतात्मा पुरुष क्यों नहीं विचलित होते और किस तरह भगवान् को जानने में समर्थ रह जाते हैं ? संसार में तो यहाँ तक देखा जाता है कि यदि कोई विपद्ग्रस्त व्यक्ति अपनी विपत्तियों से ऊबकर हृदय से चाहता भी है कि मेरी मौत हो जाय और उस के चाहने पर यदि संयोगवश मृत्यु की विभीषिका सामने उपस्थित भी हो जाती है, तो वह तुरंत अपनी चाहना (मृत्युकामना) से विमुख हो जाता है और कहता है कि नहीं नहीं, मैं अभी नहीं मरना चाहता, मुझे अपनी विपत्तियों में रहना स्वीकार है, पर मौत के मुँह की खुराक होना किसी तरह कबूल नहीं है। इस विषय की एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है।

किसी गाँव में एक बुढ़िया रहती थी। उस की अवस्था लगभग असी वर्ष की थी। उस के परिवार में पहले बहुत से लोग थे, पर अब वह अकेली थी। दुर्दैव ने उस के पति, अनेक जवान बेटे, बेटियाँ और नाती पोतों को एक एक करके क्रमशः हर लिया; केवल वही ऐसी अभागिनी पैदा हुई थी जिसे मृत्यु भी नहीं पूछती थी। जब उस के घर में प्राणियों की कमी नहीं थी तब धन संपत्ति भी काफी मौजूद थी, पर जैसे जैसे प्राणियों का संहार होता गया वैसे वैसे उस के धन का भी सर्वनाश हो गया। उसे निःसहाय जानकर गाँव के अर्थ-लोलुप जमींदार ने उस का घर तक अपने कब्जे में कर लिया और वह बिचारी राह की भिखारिन होकर दाने दाने के लिए मुँहताज बन गई। जमींदार इतना बड़ा अत्याचारी था कि उस ने गाँववालों को उलटा सीधा समझाकर उसे भीख तक देना बंद करवा दिया। इस लिए वह बुढ़िया दिन भर जंगल में लकड़ी बीनती और उसी को बेंच कर जैसे तैसे अपना पेट चलाती।

यह कौन नहीं जानता कि जिस का एक भी प्रिय संबन्धी मर जाता है वह कितना भी स्वस्थ मनुष्य क्यों न हो, अपने प्रियवियोग के दुःख से अधमरा सा हो उठता है; फिर जिस का प्राण से भी प्रिय पति और अनेक पुत्र मर चुके होंगे वह बुढ्ढी औरत कितनी कमजोर और अल्पप्राण हो गई होगी, यह कहने की बात नहीं है। इस से स्पष्ट है कि उस बुढ़िया में दस पाँच सेर से अधिक लकड़ी उठाने की शक्ति नहीं रही होगी और इसी लिए उस को दिन भर की मेहनत के बाद भी उसे इतना पैसा नहीं मिलता होगा जिस से वह दोनों शाम भरपेट भोजन का खर्च चला सके। निदान, वह एक ही जून खाकर अपने जीवन की घड़ियाँ पूरी करती हुई महा महा दुःखपूर्ण जिंदगी बिता रही थी।

एक दिन की बात है कि जब वह जंगल से लकड़ी लेकर लौटने लगी, तो और दिनों से कुछ अधिक देर हो गई थी और चारों ओर काफी अँधेरा छा गया था। इस लिए उसे साफ साफ दिखलाई नहीं पड़ता था। वह अचानक एक बड़े गड्ढे में गिर पड़ी जिस से कमर में इतनी गहरी चोट लगी कि वह वहाँ से हिल भी नहीं सकी और जोर जोर से कराहती हुई कहने लगी कि हे भगवान्, अभी कब तक इस तरह के दुःख सहाओगे? क्या मैं इतनी बड़ी अपराधिन हूँ कि मेरे लिए मौत को भेजना भी तुम्हें नागवार मालूम हो रहा है? अगर यही बात हो, तो भी मैं तुम से प्रार्थना करती हूँ कि अब मेरे अपराधों को क्षमा कर दो और मृत्यु-दान देकर अपना दयालु नाम सार्थक कर दिखाओ, अब इस शरीर में इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि इतने बड़े बड़े दुःख सहे जा सकें, कृपा करके जल्द मौत को भेजो और मेरे दुःखों का अन्त करो।

जिस समय बुढ़िया यह सब विलाप कर रही थी ठीक उसी समय भगवान् काल सैर करने निकले हुए थे और धीरे धीरे टहलते हुए उस गड्ढे के पास से चले जा रहे थे। उन के कानों में उस बुड्ढी की आवाज पड़ गई। वे तुरंत समझ गये कि कोई दुःखिनी अपने जीवन से ऊबकर मृत्यु का आवाहन कर रही है। इस लिए चलकर उस का दुःख दूर कर देना चाहिए। वे बुढ़िया के सामने उपस्थित होकर पूछने लगे कि क्यों रे बुड्ढी, तुझे क्या दुःख है कि इस प्रकार एकान्त गड्ढे में बैठकर मौत को बुला रही है?

बुढ़िया ने दृष्टि उठाकर देखा कि सामने एक महाभयंकर, भीमकाय, कालाकलूटा, पुरुषाकृति कोई जीव खड़ा है। उसे देखकर डर के मारे उस की विचित्र दशा हो गई। अब तक वह मृत्यु का आवाहन कर रही थी, पर इस दैत्यस्वरूप भयावने पुरुष (काल) को देखकर उस के पहले के सब विचार रफूचक्कर हो गये। वह अब मन ही मन परमात्मा से प्राण-भिक्षा माँगने लगी कि हे प्रभो, इस विकट पुरुष से मेरी रक्षा करो, इसे देखकर मेरे प्राण सूखे जा रहे हैं, इत्यादि।

कालदेव ने बुढ़िया की मानसिक चिन्ता का विषय जान लिया। इन्होंने विकट हँसी हँसकर फिर प्रश्न किया—

बुड्ढी, तूँ अब बतलाती क्यों नहीं कि मुझे किस लिए पुकार रही थी?

बुढ़िया ने कहा—तुम्हें तो मैं जानती भी नहीं कि तुम कौन हो; फिर मैं तुम्हें क्यों पुकारूँगी? तुम ने सुनने में भूल की होगी, मैं ने तुम्हें नहीं पुकारा है।

कालदेव ने कहा—तूँ मुझे पहचानती नहीं, यह बात सही है, परंतु यह भी झूठी बात नहीं है कि तूँ मुझे ही पुकार रही थी और इसी वजह से मुझे तेरे सामने आना पड़ा है। क्या तूँ अभी क्षण भर पहले ही भगवान् से मौत भेजने की प्रार्थना नहीं कर रही थी?

बुढ़िया ने कहा—हाँ, यह प्रार्थना तो मैं सचमुच कर रही थी, पर इस से तुम्हारा क्या संबन्ध है?

कालदेव ने कहा—वाह, यह खूब रही! तूँ भगवान् से कहकर मुझे ही बुला रही थी और जब मैं सामने आ गया, तो कहती है कि इस से मेरा सबन्ध क्या है? क्या तुझे अब तक यह नहीं मालूम हुआ कि मैं ही मृत्यु का देवता साक्षात् काल भगवान् हूँ? यदि नहीं, तो अब से जान ले कि मैं ही इस समस्त चराचर जगत् का संहार करनेवाला और सब के शरीरों से प्राणों को अलग करनेवाला मृत्युदेव अर्थात् मौत हूँ। तूँ भगवान् से मुझे ही माँग रही थी। सो मैं तेरे सामने प्रत्यक्ष रूप से खड़ा हूँ। अब साफ साफ बतला कि तूँ ने मुझे क्यों बुलाया है? नहीं, तो मैं अभी तेरा प्राण हरकर अपने साथ ले जाता हूँ।

बुढ़िया और अधिक सहम गई। जब उस ने जाना कि अब इस शरीर से नाता तोड़नेवाली मौत सामने तैयार खड़ी है, तो उस की ममता ने उसे विह्वल बना दिया। वह गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगी कि हे बेटा, मैं ने तुम्हें पहले पहचाना नहीं, इसी लिए इस ढंग की बातें कीं। इस अनजानी भूल के लिए मुझे माफ करो। मैं अभी इस शरीर को नहीं छोड़ना चाहती हूँ। इस लिए कृपा करके मेरे प्राणों को अभी मत हरो।

कालदेव ने पूछा—तब तूँ ने मुझे बुलाया क्यों?

बुढ़िया ने कहा—बेटा, मैं सच कहती हूँ; मैं ने तुम्हें इसी लिए बुलाया है कि तुम यह लकड़ी का बोझ उठाकर मेरे सिर पर रख दो। मैं एक तो यों ही बहुत कमजोर हो गई हूँ, उस पर इस गड्ढे में लड़खड़ाकर गिर पड़ी जिस से कमर में बड़ी चोट भी लग गई है। इसी वजह से यह बोझा अपने आप नहीं उठा पाई और तुम्हें बुलाकर तकलीफ दी।

कालदेव ने हँसकर कहा—तूँ बड़ी धूर्त है। खैर, आज मैं माफ कर देता हूँ, पर अब कभी इस तरह व्यर्थ ही मुझे परेशान मत करना। अब मैं आऊँगा, तो बिना प्राण लिये नहीं छोड़ूँगा।

इतना कह कालदेव ने बुढ़िया को बाहें पकड़कर उसे खड़ी कर दिया और उस के सिर पर लकड़ी का गट्ठर रखकर वहाँ से चल दिया। बुढ़िया भी राम राम कहती, अपनी जिंदगी की खैर मनाती हुई अपने रोज के धंधे में लगी।

इस कथा से यही अभिप्राय निकला कि मनुष्य सब तरह के दुःख सहने के लिए तैयार रहता है, पर दुःखों का अन्त करनेवाले मृत्युदुःख को सहने का साहस कभी नहीं करता। मरने का दुःख ही जीव को सब से बड़ा दुःख प्रतीत होता है। तो विचार करने की बात है कि जिस मृत्यु का जीवमात्र को इतना भय रहता है उसी को सामने समुपस्थित देखकर कोई मन में स्थिरता कैसे धारण कर सकेगा और कैसे भगवान् को उस दशा में जानेगा? क्योंकि भगवान् तो तभी ध्यान में आते हैं जब कि चित्त में किसी तरह की अधीरता न रहे, सब तरह की शान्ति बनी रहे और किसी का डर भय न हो। इसी लिए तो अर्जुन को भी सब प्रश्नों के अन्त में भगवान् से स्पष्ट शब्दों में पूछना पड़ा कि हे भगवन्, मैं जानना चाहता हूँ कि मरने के समय में नियतात्मा लोगों के द्वारा आप कैसे जाने जा सकते हैं? अस्तु;

जिस क्रम से अर्जुन ने प्रश्न किये थे कि, हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत किसे कहा गया है, और अधिदैव क्या कहलाता है तथा हे मधुसूदन, यहाँ अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीर में रहता कैसे है, साथ ही नियतात्मा लोगों से मरने के समय में आप किस प्रकार जाने जा सकते हैं, इत्यादि उसी क्रम से उत्तर देने के लिए—

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

श्री भगवान् ने कहा—ब्रह्म परम अक्षर है, स्वभाव अध्यात्म कहलाता है, भूतभाव को उत्पन्न करनेवाले विसर्ग का कर्म नाम है। हे देहधारियों में श्रेष्ठ, नाशवान् भाव अधिभूत है, पुरुष अधिदैव है (और) इस शरीर में मैं ही अधियज्ञ हूँ।

गी० गौ०—श्री भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, उस अक्षर परमात्मा को तूँ वह ब्रह्म जान, क्योंकि उस का कभी नाश नहीं होता और वही इस समस्त संसार

को धारण किये रहता है। उस परमात्मा अथवा परब्रह्म का प्रत्येक शरीर में रहनेवाला अन्तरात्मभाव ही स्वभाव कहलाता है और उसी का नाम अध्यात्म है। जीवभाव को उत्पन्न करनेवाला जो विसर्ग अर्थात् त्याग है उसी को कर्म कहा जाता है यानी देवताओं को निमित्त मानकर जो त्यागरूप यज्ञ किया जाता है वह त्यागयज्ञ ही कर्मसंज्ञक है। इस विसर्गरूप कर्म से ही समस्त जीवों की उत्पत्ति होती है। हे सब शरीरियों में श्रेष्ठ अर्जुन, प्राणिमात्र में जो विनाशी भाव है अर्थात् जिस भाव के कारण जीव का उत्पन्न होना और क्रमशः मृत्यु को प्राप्त हो जाना आदि व्यापार लगा रहता है उसी को अधिभूत कहते हैं। सब जीवों के शरीररूपी नगर में रहनेवाला जो पुरुष अर्थात् जीवात्मा है वही अधिदैव कहलाता है एवं 'यज्ञ ही विष्णु हैं' इत्यादि श्रुतिवचनों के अनुसार मैं ही इस शरीर में अधियज्ञ हूँ। तात्पर्य यह कि सभी प्रकार के यज्ञ शरीर के ही द्वारा संपन्न होते हैं, अतएव यज्ञ का शरीर के साथ नित्य संबन्ध माना गया है और इसी लिए मैं वासुदेव परमात्मा ही यहाँ अधियज्ञ हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, सकल वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, उपनिषद्, स्मृति आदि धर्मशास्त्र जिस को निर्गुण, निराकार, निरवयव, अविनाशी आदि महत्त्वपूर्ण शब्दों में वर्णित करते हैं उसी ब्रह्म को जानने के लिए अर्जुन ने श्री भगवान् से प्रश्न किया कि हे प्रभो, वह ब्रह्म क्या है? और उस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने सिर्फ एक शब्द में दिया कि हे अर्जुन, वह परम ब्रह्म अक्षर है अर्थात् सर्वदा एकरस रहनेवाला है, उस ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, वह ब्रह्म न कभी बढ़ता है, न कभी घटता है; वह सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि तीनों काल में एक समान रहता है। यही 'अक्षर' शब्द का भावार्थ है। उस ब्रह्म की प्रकृति को ही स्वभाव कहा जाता है और वह स्वभाव ही अध्यात्म कहलाता है। ब्रह्म के उसी स्वभाव अथवा अध्यात्म से यह सृष्टि रची गई है। उस अध्यात्म द्वारा रची गई सृष्टि की उत्पत्ति, उस में की कार्यक्षिपता अर्थात् क्रमशः उस का विकसित होना और इस प्रकार (एक तरह की) पूर्णता को पहुँचकर अन्त में लय हो जाना आदि जो जीव संबन्धी भाव हैं उन्हीं को कर्म कहा जाता है। अब इसी तरह यह भी समझ लो कि जो परिवर्तनशील वस्तु है, जिस का स्वभाव ही 'सर्वदा बदलना' है, वही अधिभूत कहलाता है। भगवान् ने इसी बदलनेवाले स्वभाव की ओर लक्ष्य करके अर्जुन से कहा कि सृष्टि का जो चरभाव अर्थात् विनाश को प्राप्त होनेवाली प्रकृति है उसी का नाम अधिभूत है और इस विनाशशील सृष्टि को धारण करने का जिस में सामर्थ्य है वह पुरुष या जीवात्मा 'अधिदैव' शब्द से अभिहित किया जाता है, एवं इसी गीता में जिस के बारे में भगवान् ने बतलाया है कि—

'। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'
(१८।६१)

वह ईश्वर ही अधियज्ञ है। वही सब शरीरियों के शरीर का धारण, पालन, पोषण करता हुआ सर्वत्र एक रूप से व्यापक रहता है, और वह दूसरा कोई नहीं, प्रत्युत वह स्वयं मैं अर्थात् भगवान् कृष्ण ही हूँ। अस्तु;

अब अर्जुन के सातवें प्रश्न 'मरने के समय में नियतात्मा लोग आप को कैसे जान सकते हैं' का उत्तर देने के लिए भगवान् आगे के श्लोक में कह रहे हैं कि—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

अन्त समय में मुझ को ही याद करता हुआ जो (पुरुष) शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे भाव को जाता है, इस में संशय नहीं है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो प्राणी संकटों से परिपूर्ण मृत्यु के समय में भी मुझ को भूलता नहीं, किंतु सब तरह से मुझे ही अपने हृदय से स्मरण करता हुआ इस नश्वर शरीर का त्याग करके इस क्षणिक संसार से विदा होता है वह स्थिर आत्मावाला प्राणी अवश्य ही मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है। इस कथन में संदेह की जरा भी गुंजाइश नहीं है, इस लिए तू इस में बिल्कुल संशय मत रख।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, यह एक बड़ी विचित्र बात है कि जो काम साक्षात् भगवान् अपने निज हाथों से कर सकते हैं उस के हजारों गुना अधिक काम उन का नाम कर डालता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण में कहा है कि—

'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥'

'इस अर्धाली (आधी चौपाई) का यही अर्थ है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम ने अपने लीलाविग्रह स्वरूप के द्वारा केवल गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या का उद्धार किया और उसे पापाणयोनि से मुक्त कर दिव्य योनि प्रदान की, किंतु उन के नाम ने तो अहिल्या जैसे करोड़ों पापियों की पापबुद्धि शुद्ध करके उन्हें सुधार दिया। इस से स्पष्ट ही प्रमाणित है कि भगवान् के नाम की कितनी बड़ी महिमा है। वस्तुतः राम से उन का नाम अधिक बड़ा है। ऐसी हालत में भगवान् का यह कहना ठीक ही है कि 'मेरा स्मरण करनेवाला मुझ को प्राप्त होता है, इस में संदेह नहीं।' इसी बात को गोसाईंजी ने अपनी आलंकारिक भाषा में इस प्रकार कहा है कि—

'राम नाम सुन्दर करतारी। संसय विहँग उड़ावन हारी॥'

अर्थात् संशयरूपी पत्ती को उड़ाकर हृदयरूपी क्षेत्र (खेत) की रक्षा करने के लिए राम का नाम बड़ी ही उत्तम 'करतारी' (हाथ की ताली) है। जिस प्रकार हाथ की ताली की आवाज सुनकर खेती को नष्ट करनेवाली चिड़ियों का समूह फुर से उड़ जाता है और किसान की हरी भरी खेती नष्ट होने से बच जाती है इसी प्रकार राम का नामरूपी जो सुन्दर करतारी है उस की ध्वनि सुनकर जीवमात्र की जीवनरूपी खेती को नष्ट करनेवाला संदेहरूपी पत्ती उड़ जाता है और जीव का जन्म सफल हो जाता है। यहाँ पर सभी सहृदय व्यक्ति को हृदय से तुलसीदासजी की उपमाकथनप्रणाली का कायल होना पड़ता है। देखो, हाथ की ताली तभी ठीक ठीक आवाज करती है जब दोनों हाथ खाली हों और पूर्ण रूप से एक हाथ दूसरे पर बैठ जाय। इसी तरह 'रा' और 'म' में रहनेवाली संशयविच्छेदिका (संदेह का नाश करनेवाली) शक्ति तभी अपना पूरा काम करती है जब ये दोनों अक्षर पूरी हार्दिक लगन से एक साथ उच्चारण किये जायँ। कौन नहीं जानता कि एक हाथ को चाहे कितना भी पटको, उछालो, नचाओ, कुदाओ, परतु उस से किसी पत्ती को जरा भी भय न होगा और न वह खेत छोड़कर उड़ेगा ही। ऐसे ही राम में से किसी एक अक्षर को चाहे कितना भी चिल्लाते और रटते रहो, पर उस से कोई संदेह दूर नहीं हो सकता। संदेह तो तभी दूर होगा जब दोनों अक्षरों के सहयोग से एक अनाहत ध्वनि (अनहद नाद) उत्पन्न की जायगी। इस तरह जब रामनाम से हृदय का सदेह दूर हो जाता है तब उस हृदय के अन्दर स्वतः परमात्मा के चरणों में प्रेम करने की भावना जाग पड़ती है और उसी प्रेम के बल पर जीव मरने के बाद उस परमात्मा के स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है।

यहाँ कोई सोच सकता है कि भगवान् कृष्ण की गीता का व्याख्यान देते देते रामनाम की महिमा क्यों गाई जाने लगी? कृष्ण की महिमा में ही कुछ प्रवचन क्यों नहीं किया गया? इस तरह का सोचना भ्रमपूर्ण है। भगवान् राम या भगवान् कृष्ण में वस्तुतः कोई अन्तर, कोई भेद, कोई असामञ्जस्य नाममात्र भी नहीं है। यह बात केवल शास्त्र पुराण के वर्णनानुसार ही मैं नहीं कह रहा हूँ, बल्कि एक प्रबल और प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही कह रहा हूँ। यह कथा तो तुम सभी लोग जानते हो कि भगवान् कृष्ण कंस को मारने के लिए 'मथुरा' गये। उस मथुरायात्रा को ही दृष्टान्त रखकर देखो कि कृष्णजी को मथुरा से जाने में व्यास भगवान् का क्या अभिप्राय था और क्यों उन्होंने कंस को मथुरा का ही राजा कहा, अन्यत्र का—किसी दूसरे नगर का राजा क्यों नहीं कहा? समाधान यह है कि व्यासजी 'मथुरा' शब्द के द्वारा यही सिद्ध कर रहे हैं कि जिस के मुँह में राम नहीं है उस के मुँह में 'थू' कर देना चाहिए और उसे कंस की तरह मरा हुआ ही समझना चाहिए। 'मथुरा'

शब्द में 'राम', 'थू' और 'मरा' ये तीनों शब्द मौजूद हैं और वे रूपक द्वारा यही बतलाते हैं कि राम के अभाव में मुख थूक का खजानामात्र है। बस 'थू' को निकालकर देखो, 'मरा' रह जाता है और यही उलट देने पर राम हो जाता है। कंस राम का विरोधी था, अतएव वह मरा हुआ और थूकने के योग्य था, यही कारण है कि कृष्ण भगवान् ने मथुरा के राजा को उसी के राज्य में जाकर मार डाला तथा राम न कहने का प्रत्यक्ष फल दिखला दिया। अगर कोई यह पूछे कि पहले उस महामहिम रामनाम में विश्वास ही किस प्रकार उत्पन्न किया जाय, तो इस का उत्तर यही है कि सत्पुरुष और सन्महात्मा के सत्संग और सत्कथा आदि के श्रवण द्वारा राम के नाम में विश्वास जमाया जा सकता है। किंतु इस पर भी यदि तुम कहो कि यहाँ (गीताप्रवचन) में तो यह सिद्ध ही है कि पूरी तरह से सत्कथा हो रही है और यहाँ पर बैठे हुए सब लोग उस सत्कथा को सुन रहे हैं; तो क्या ये सब लोग अपने अपने हृदय में रामनाम के प्रति विश्वास और श्रद्धा एकत्रित कर रहे हैं ? एवं क्या इन सभी लोगों की परमात्मा के चरणों में यथार्थ प्रीति हो जायगी ? इस का सीधा उत्तर यही है कि नहीं, सब लोग एक साथ एक तरह का फल नहीं प्राप्त कर सकते। कारण, श्रोता (कथा, प्रवचन या व्याख्यान सुननेवाले) तीन प्रकार के होते हैं—

१. सूप की तरह, २. चलनी की तरह और ३. सरौता की तरह।

१—सूप का स्वभाव है कि उस में अनुपयोगी कूड़ा कचरा और उपयोगी चावल गेहूँ आदि वस्तु एक साथ मिली हुई डालने पर भी वह कूड़े कचरे को छाँटकर बाहर फेंक देता है और उपयोगी चीज–सद्वस्तु–को अपने अंदर रख लेता है।

२—चलनी की यह प्रकृति है कि उस में यदि उपयोगी मैदा आदि और अनुपयोगी चोकर आदि वस्तुएँ एक में मिलाकर डाली जायें, तो वह उपयोगी मैदे को तो बाहर निकाल देती है और अनुपयोगी चोकर को अपने अंदर रख छोड़ती है।

३—सरौते की ऐसी आदत होती है कि वह उपयोगी अनुपयोगी, भला बुरा कुछ भी अपने अंदर नहीं रखता, जो कोई भी चीज उस के मुँह में डाली जाती है, उस को वह कतर कतर के बाहर कर देता है, उसे यह ज्ञान ही नहीं रहता कि क्या रखने लायक है और क्या दूर कर देने लायक है।

इसी प्रकार कथा वार्ता आदि सुननेवालों में कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो सब तरह की मिली जुली बातों में से भी अच्छी अच्छी लाभकारी बातों को अपने हृदय में धारण कर लेते हैं और गंदी, निष्प्रयोजन, अश्लील आदि बातों की ओर ध्यान भी नहीं देते। इसी प्रकार के श्रोता उत्तम कहलाते हैं और ऐसे ही श्रोता सत्संग आदि के द्वारा अपने में परमात्मप्रीति स्थापित कर सकते हैं। इस लिए उत्तम बनने की अभिलाषा रखनेवाले सुकृती पुरुष को यह

नहीं देखना चाहिए कि कथा कहनेवाला कैसा आदमी है। उस का तो इतना ही कर्तव्य होना चाहिए कि कथा में से अपने उपकार के योग्य बातों को चुन चुनकर हृदयंगम कर ले। यह सूप की भाँति स्वभाव रखनेवालों की बात हुई जो सर्वोत्तम है।

अब चलनी के स्वभाववालों की ओर ध्यान दो। इस का मध्यम स्थान इसी लिए रखा गया है कि स्वभावतः यह अच्छी वस्तु को बाहर कर देनेवाला होने पर भी कुछ न कुछ रख लेने का अभ्यास रखने के कारण संयोग से मौका पाकर कभी कभी अच्छी चीज ही अपने अंदर रख लेता है और गंदी को ही बाहर फेंक देता है। जैसे— मान लो कि चावल, दाल, गेहूँ आदि किसी मोटे उपयोगी पदार्थ में किसी तरह राख धूल आदि अनुपयोगी पदार्थ मिल गया जिस का अलग कर देना अत्यावश्यक है और संयोग से तुम्हारे पास सूप मौजूद नहीं है। ऐसी स्थिति में सूप का काम प्रायः चलनी को मिल जाया करता है। उस दशा में चलनी भी सूप का ही काम करती है अर्थात् राख धूल आदि कूड़े कचरे को छानकर बाहर कर देती है और चावल आदि अच्छी और काम लायक चीजों को अपने अंदर रख लेती है। इसी लिए जो लोग ऐसा ही स्वभाव रखते हैं वे सब तरह से प्रशंसनीय न होने पर भी निन्दनीय भी नहीं कहे जा सकते। कथा में जाने और कथा सुनकर उस में छिद्र निकालने की आदत बनी रहेगी, तो होते होते एक दिन ऐसा भी आ ही जायगा जब अच्छी ही बात वे ग्रहण कर लेंगे और बुरी त्याग देंगे।

इस लिए निन्दनीय और निकृष्ट दर्जा सरौतास्वभाववालों का ही है। ये स्वभाव से ही सत्संग, सत्कथा, सद्वार्ता आदि से दूर रहते हैं। इन के मन में कभी यह प्रवृत्ति ही नहीं होती कि कथा वार्ता जहाँ होती हो वहाँ जायें आयें। तो जब कि उन स्थानों में ये आवागमन ही नहीं रखेंगे, तो वहाँ होने वाली अच्छी या बुरी कोई भी बात उन्हें किस तरह मालूम हो सकती है? निश्चित है कि ऐसे लोग कभी स्वप्न में भी अपनी कोई उन्नति नहीं कर सकते। जैसे अज्ञान, मोह, जड़ता आदि कुसंसर्ग में जन्म लेते हैं उसी में जीवन भर पड़े रह जाते हैं और अन्त में यहाँ से खाली हाथ चल बसते हैं। ऐसे लोगों के जीवन या मरण का कोई फल नहीं है। ऐसी प्रकृति के लोग जीते जी ही मृतक तुल्य हैं और मरने पर तो मृतक हैं ही। इसी लिए कहा जाता है कि जीवन में एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो, सदा सत्संग करते रहो और सर्वत्र से अच्छे अच्छे गुणों का संग्रह करके अपने हृदय को उन्नत बनाते हुए उसे इस योग्य कर लो कि मरने के समय तुम्हारे हृदय में भगवान् के स्मरण के अतिरिक्त कोई दूसरी बात आने न पाये। अस्तु;

इसी से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो मनुष्य मरने के समय मुझे ही अपने ध्यान में रखकर शरीर छोड़ता है वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इस में बिल्कुल संदेह नहीं है।

इस पर अर्जुन ने यह प्रश्न किया कि अच्छा महाराज, यह तो ठीक है कि मरने के समय आप को स्मरण करनेवाले आप के स्वरूप को प्राप्त होते हैं; पर यह तो बतलाइए कि मरने के समय जो आप का स्मरण न करके किसी दूसरे ही विषय का स्मरण करते हैं उन की क्या गति होती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, तेरा यह प्रश्न समयोचित ही है। सुन, इस का उत्तर यह है कि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अन्त (समय) में जिस जिस भी भाव का स्मरण करता हुआ (जीव अपना) शरीर छोड़ता है, हे कौन्तेय, सर्वदा उस भाव से भावित (यह जीव) उस उस भाव को ही प्राप्त करता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यह संसारी प्राणी अपने जीवनकाल में जिस किसी भी देवविशेष या भावविशेष के प्रति अपनी प्रेमभावना को दृढ किये रहता है उसी देवता अथवा भावना में मरने के समय भी उस का ध्यान लगा रहता है। इस लिए अपनी उसी चिर अभ्यस्त भावना से विवश हुआ यह जीव मरने के बाद दूसरे जन्म में उसी उसी रूप को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि अपने अपने भावानुसार ही हर एक को गति मिला करती है, अतः जो प्राणी जिस विषय में ध्यान लगाकर यह पाञ्चभौतिक देह त्यागता है उस का वह ध्यानस्थित विषय ही उसे दूसरे जन्म मे शरीर के रूप में प्राप्त होता है—जो देवी देवता में ध्यान लगाये हुए मरण को प्राप्त होता है वह देवी देवता के स्वरूप को प्राप्त करता है, जो मित्र, पुत्र, कलत्र में ध्यान लगाये लगाये कालकवलित होता है वह मित्र, पुत्र, कलत्र का रूप प्राप्त करता है, जो पशु, पक्षी, मृगादिक में मन रखकर प्राणरहित होता है वह पशु, पक्षी, मृगादिक का रूप धारण करता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस श्लोक से तुम ने यह तो जान लिया कि मरने के समय जीव को वही बात याद आती है जिस बात में जीवन भर प्रेम केन्द्रित हुआ रहता है और फिर मरने के बाद वह याद में टिकी हुई बात ही जीव को शरीर के रूप में मिला करती है। इस लिए तुम अगर सब बातों की ओर से अपना मन हटा हटाकर केवल परमात्मा के ध्यान में ही लगाते रहोगे, तो यह निश्चित है कि तुम्हारी इस कोशिश के फलस्वरूप तुम्हारा ऐसा अभ्यास ही हो जायगा कि सदा तुम्हें परमात्मा की याद आती रहेगी और इसी के

नहीं देखना चाहिए कि कथा कहनेवाला कैसा आदमी है। उस का तो इतना ही कर्तव्य होना चाहिए कि कथा में से अपने उपकार के योग्य बातों को चुन चुनकर हृदयंगम कर ले। यह सूप की भाँति स्वभाव रखनेवालों की बात हुई जो सर्वोत्तम है।

अब चलनी के स्वभाववालों की ओर ध्यान दो। इस का मध्यम स्थान इसी लिए रखा गया है कि स्वभावतः वह अच्छी वस्तु को बाहर कर देनेवाला होने पर भी कुछ न कुछ रख लेने का अभ्यास रखने के कारण संयोग से मौका पाकर कभी कभी अच्छी चीज ही अपने अंदर रख लेता है और गंदी को ही बाहर फेंक देता है। जैसे— मान लो कि चावल, दाल, गेहूँ आदि किसी मोटे उपयोगी पदार्थ में किसी तरह राख धूल आदि अनुपयोगी पदार्थ मिल गया जिस का अलग कर देना अत्यावश्यक है और संयोग से तुम्हारे पास सूप मौजूद नहीं है। ऐसी स्थिति में सूप का काम प्राय. चलनी को मिल जाया करता है। उस दशा में चलनी भी सूप का ही काम करती है अर्थात् राख धूल आदि कूड़े कचरे को छानकर बाहर कर देती है और चावल आदि अच्छी और काम लायक चीजों को अपने अंदर रख लेती है। इसी लिए जो लोग ऐसा ही स्वभाव रखते हैं वे सब तरह से प्रशंसनीय न होने पर भी निन्दनीय भी नहीं कहे जा सकते। कथा में जाने और कथा सुनकर उस में छिद्र निकालने की आदत बनी रहेगी, तो होते होते एक दिन ऐसा भी आ ही जायगा जब अच्छी ही बात वे ग्रहण कर लेंगे और बुरी त्याग देंगे।

इस लिए निन्दनीय और निकृष्ट दर्जा सरौतास्वभाववालों का ही है। ये स्वभाव से ही सत्संग, सत्कथा, सद्वार्ता आदि से दूर रहते हैं। इन के मन में कभी यह प्रवृत्ति ही नहीं होती कि कथा वार्ता जहाँ होती हो वहाँ जायें आयें। तो जब कि उन स्थानों में ये आवागमन ही नहीं रखेंगे, तो वहाँ होने वाली अच्छी या बुरी कोई भी बात इन्हें किस तरह मालूम हो सकती है? निश्चित है कि ऐसे लोग कभी स्वप्न में भी अपनी कोई उन्नति नहीं कर सकते। जैसे अज्ञान, मोह, जड़ता आदि कुसंस्कारों में जन्म लेते हैं उसी में जीवन भर पड़े रह जाते हैं और अन्त में यहाँ से खाली हाथ चल बसते हैं। ऐसे लोगों के जीवन या मरण का कोई फल नहीं है। ऐसी प्रकृति के लोग जीते जी ही मृतक तुल्य हैं और मरने पर तो मृतक हैं ही। इसी लिए कहा जाता है कि जीवन में एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो, सदा सत्संग करते रहो और सर्वत्र से अच्छे अच्छे गुणों का संग्रह करके अपने हृदय को उन्नत बनाते हुए उसे इस योग्य कर लो कि मरने के समय तुम्हारे हृदय में भगवान् के स्मरण के अतिरिक्त कोई दूसरी बात आने न पाये। अस्तु;

इसी से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो मनुष्य मरने के समय मुझे ही अपने ध्यान में रखकर शरीर छोड़ता है वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इस में बिल्कुल संदेह नहीं है।

इस पर अर्जुन ने यह प्रश्न किया कि अच्छा महाराज, यह तो ठीक है कि मरने के समय आप को स्मरण करनेवाले आप के स्वरूप को प्राप्त होते हैं; पर यह तो बतलाइए कि मरने के समय जो आप का स्मरण न करके किसी दूसरे ही विषय का स्मरण करते हैं उन की क्या गति होती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, तेरा यह प्रश्न समयोचित ही है। सुन, इस का उत्तर यह है कि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अन्त (समय) में जिस जिस भी भाव का स्मरण करता हुआ (जीव अपना) शरीर छोड़ता है, हे कौन्तेय, सर्वदा उस भाव से भावित (यह जीव) उस उस भाव को ही प्राप्त करता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यह संसारी प्राणी अपने जीवनकाल में जिस किसी भी देवविशेष या भावविशेष के प्रति अपनी प्रेमभावना को दृढ किये रहता है उसी देवता अथवा भावना में मरने के समय भी उस का ध्यान लगा रहता है। इस लिए अपनी उसी चिर अभ्यस्त भावना से विवश हुआ यह जीव मरने के बाद दूसरे जन्म में उसी उसी रूप को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि अपने अपने भावानुसार ही हर एक को गति मिला करती है, अतः जो प्राणी जिस विषय में ध्यान लगाकर यह पाञ्चभौतिक देह त्यागता है उस का वह ध्यानस्थित विषय ही उसे दूसरे जन्म में शरीर के रूप में प्राप्त होता है—जो देवी देवता में ध्यान लगाये हुए मरण को प्राप्त होता है वह देवी देवता के स्वरूप को प्राप्त करता है, जो मित्र, पुत्र, कलत्र में ध्यान लगाये लगाये कालकवलित होता है वह मित्र, पुत्र, कलत्र का रूप प्राप्त करता है, जो पशु, पक्षी, मृगादिक में मन रखकर प्राणरहित होता है वह पशु, पक्षी, मृगादिक का रूप धारण करता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस श्लोक से तुम ने यह तो जान लिया कि मरने के समय जीव को वही बात याद आती है जिस बात में जीवन भर प्रेम केन्द्रित हुआ रहता है और फिर मरने के बाद वह याद में टिकी हुई बात ही जीव को शरीर के रूप में मिला करती है। इस लिए तुम अगर सब बातों की ओर से अपना मन हटा हटाकर केवल परमात्मा के ध्यान में ही लगाते रहोगे, तो यह निश्चित है कि तुम्हारी इस कोशिश के फलस्वरूप तुम्हारा ऐसा अभ्यास ही हो जायगा कि सदा तुम्हें परमात्मा की याद आती रहेगी और इसी के

अनुसार मरने के समय में भी तुम और कोई बात न सोचकर परमात्मा को ही सोचो विचारोगे तथा इस शरीर को छोड़कर भगवान् के कथनानुसार दूसरा जन्म न पाकर उन परमात्मा के ही रूप को प्राप्त हो जाओगे। और यदि ऐसा नहीं करोगे, सारा जीवन विषयवासना की पूर्ति और उसी के सोच विचार में व्यतीत कर डालोगे, तो उस का यही फल पाओगे कि मरते वक्त तुम्हारे सामने जो विषय उपस्थित हो जायगा उसी को तुम्हारा हृदय धारण करेगा और तुम उसी योनि को प्राप्त हो जाओगे। इस बात का यदि कोई दृष्टान्त चाहते हो, तो सुनो; तुम्हें योगवासिष्ठ की एक कथा सुना रहा हूँ।

महाराज दशरथ का दरबार लगा हुआ था। मन्त्री सभासद, राजकर्मचारी आदि सभी अपने अपने स्थान पर उचित रीति से बैठे हुए थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि लोग भी उस सभा में विराजमान थे और गुरु वसिष्ठजी भगवान् रामचन्द्र को आत्मतत्त्व के संबन्ध में पूर्ण ज्ञान कराने के लिए अपने श्रीमुख से योग का उपदेश दे रहे थे। उसी उपदेश के सिलसिले में उन्होंने एक विपश्चित् राजा की कथा सुनाई जो संसार की व्यापकता देखने की प्रबल वासना के कारण लाखों योनियों में भटकता और अनेक ब्रह्माण्डों को देखता हुआ अब हिरन की योनि प्राप्त करके एक सामन्त द्वारा महाराज दशरथ को भेंट में मिला हुआ था और उन्हीं के बगीचे में विचर रहा था। यह हिरन अन्यान्य हिरनों की अपेक्षा बहुत सुन्दर, हृष्ट, पुष्ट और ऊँचे शरीरवाला था। उस हिरन की कथा सुनकर भगवान् राम ने वसिष्ठजी से कहा कि हे भगवन्, आप कृपा कर मुझे उस हिरन को दिखला दीजिए और उसे अपना दर्शन देकर उस के अज्ञानजन्य बन्धन को दूर कीजिए।

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम, उस हिरन को तुम प्रति दिन देखते हो और वह तुम्हारे खेल कूद का एक खास विषय है, अतः तुम उसे अच्छी तरह पहचानते भी हो। इस समय वह तुम्हारे उसी खेल कूदवाले मैदान में बँधा हुआ है। सब हिरनों में अधिक सुन्दर होने के कारण उस के ऊपर तुम्हारा बहुत अधिक प्रेम रहता है। यदि इसी समय तुम उसे देखना चाहते हो, तो किसी को भेजकर उसे यहीं मँगवा लो। वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर रामजी ने अपने निकटवर्ती सखाओं को बुलाकर कहा कि हे सखाओ, तुम मेरे लीलास्थान में जाओ, वहाँ पर तिर्यग् देश के राजा का दिया हुआ जो हिरन बँधा हुआ है उसे खोलकर मेरे पास ले आओ।

सखा लोग तुरंत उसे सभाभवन में पकड़ लाये। वह हिरन स्वभाव से ही सर्वदा प्रसन्न रहनेवाला और खेल कूद में अधिक मन लगानेवाला था। उस की गर्दन बड़ी ऊँची और अत्यन्त सुन्दर रची हुई थी। उस की आँखें कमल से भी अधिक बड़ी और सहसा मन को आकर्षित कर लेनेवाली थीं। उसे देखकर सभी सभासद मुग्ध हो गये और अनेक

१ दशरथदर्बार में वसिष्ठ द्वारा विपश्चित् का वर्णन २ मृगरूप विपश्चित् को दर्बार में लाना ३ अग्निदेव की कृपा से मृगयोनि से मुक्ति ४ भास का पूर्व वृत्तान्त वर्णन

૧ દશરથના દરબારમાં વસિષ્ઠદ્વારા વિપશ્ચિતનું વર્ણન

૨ મૃગરૂપ વિપશ્ચિતને દરબારમાં આણવો.

૩ અગ્નિદેવની કૃપાથી મૃગયોનિથી મુક્તિ.

૪ ભાસનું પૂર્વ વૃતાંત વર્ણન.

प्रकार से आश्चर्य प्रकट करने लगे। वह सभाभवन में आकर कभी तो घास की ओर जाना चाहता और कभी वहाँ सब के सामने उछलने कूदने लगता तथा कभी कभी स्थिर होकर खड़ा हो जाता। कुछ देर उस का कौतुक देखकर रामजी ने वसिष्ठजी से कहा—हे प्रभो, आप कृपा करके इस को मनुष्य का शरीर प्रदान कर दें, ताकि यह हमारे साथ बात चीत कर सके।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी, इस के ऊपर अभी हमारे तन्त्र, मन्त्र या उपदेश का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि यह एक साधारण नियम है कि जिसे जिस देवता का इष्ट रहता है वह उसी के प्रभाव से प्रभावित होता है। इस मृग को उसी समय से अग्निदेव का इष्ट है जब यह अपने आदि शरीर में वर्तमान था अर्थात् जब यह विपश्चित् राजा के रूप में रहता था तभी से इसे अग्निदेव का इष्ट सिद्ध है। इस लिए मैं ध्यानयोग से अग्निदेव का आवाहन करता हूँ। वे ही आकर इसे मनुष्यरूप प्रदान करेंगे। इतना कहकर वसिष्ठजी ने कमण्डलु के जल से आचमन पवित्रीकरण आदि सब आवाहन उपचार किया और पद्मासन लगा कर ध्यान जमा दिया। उन्होंने ध्यान में अग्निदेव से यही प्रार्थना की कि हे अग्निदेव, यह वर्तमान हिरन वही विपश्चित् है जो अनेक जन्म से तुम्हारा अत्यन्त प्रेमी भक्त होता चला आया है। इस लिए इस के ऊपर कृपा करो और तुरत दर्शन देकर इस को मृगयोनि से मुक्त करो।

इस प्रकार वसिष्ठजी के प्रार्थना करने पर सब के देखते देखते उस सभा के अंदर बड़ा ही उग्र प्रकाश प्रज्वलित हो उठा। अग्नि की शिखा की तरह ज्वालामय उस प्रकाश को देखकर सब लोग विस्मित हो गये, पर वह हिरन उस अग्निज्वाला को देखने से बड़ा ही प्रसन्न हुआ और अनेक प्रकार के हाव भाव से अग्नि के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने लगा। वसिष्ठजी ने जब जान लिया कि इस समय मृगयोनि में रहने के कारण यह हिरन अपनी वह पूर्व भक्ति पूर्ण रूप से अपने इष्टदेव के प्रति समर्पित करने में असमर्थ है, तो उन्होंने उस के ऊपर एक कृपापूर्ण दृष्टि डाली जिस से उस के सब पूर्व पाप धुल गये और उस के मन में अत्यन्त तीव्र भक्ति जाग उठी। इस के बाद वसिष्ठजी ने अग्निदेव से कहा—हे अग्न, इस हिरन की पूर्व भक्ति को याद करके इस के ऊपर दया करो और मृगयोनि से मुक्त करके इसे वही विपश्चित् शरीर देने की कृपा करो। वसिष्ठजी ने जब पुनः हिरन की ओर देखा, तो उस समय वह स्थिर दृष्टि से अग्निदेव की ओर देखता हुआ इस प्रकार पीछे की तरफ हट रहा था, मानों अब उस प्रज्वलित अग्नि के अंदर कूदना ही चाहता हो। बात थी भी ऐसी ही। वास्तव में तीन चार कदम पीछे हटकर वह हिरन एकाएक आगे की ओर उछल पड़ा और सीधे उस लपलपाती ज्वाला में जाकर गिर पड़ा। उस आग में गिरने से हिरन को घबड़ाहट नहीं हुई, बल्कि आनन्द की ही प्रतीति हुई। बाद में सब कोई देख ही रहे थे कि उस अग्नि के

भीतर से एक बड़ा ही तेजवान् पुरुष, अपने दिव्य महाप्रकाश से चारों ओर उजाला फैलाता हुआ बाहर निकल आया। अग्नि में से निकलनेवाला वह महाप्रकाशवान् पुरुष आकार प्रकार, रूप रेखा में बिल्कुल मनुष्य की तरह का था। यदि कुछ अन्तर था, तो इतना ही कि साधारण मनुष्य में किसी प्रकार की प्रभा दिखलाई नहीं पड़ती और वह साक्षात् अग्नि की भाँति अपने शरीर से चारों ओर प्रकाश फैला रहा था। उस दिव्यदेहधारी मनुष्य के शरीर पर तरह तरह के बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, सिर पर चमकता हुआ मुकुट, गले में रुद्राक्ष की माला और सुन्दर यज्ञोपवीत सुशोभित हो रहा था। उस का अधिक वर्णन क्या किया जाय, थोड़े में यही समझ लो कि सूर्योदय होने पर जिस प्रकार चारों ओर प्रकाश फैल जाता है और चन्द्रमा की रोशनी फीकी पड़ जाती है उसी प्रकार उस अग्नि में से प्रकट होनेवाले मनुष्य के शरीर की कान्ति से चारों ओर उजाला फैल गया और सभा में बैठे हुए सब लोग उस के सामने मन्द से हो गये। इस के बाद ही अग्निदेव अन्तर्धान हो गये और उस प्रकाशवान् पुरुष ने वसिष्ठजी के समीप जाकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वसिष्ठजी ने उस के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद दिया और उठकर खड़ा होने की आज्ञा देते हुए कहा कि राजन्, उठो, मैं तुम्हारी सब अविद्या दूर करूँगा जिस से तुम अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होगे और पुनः इस प्रकार के चक्कर में नहीं पड़ने पाओगे। वसिष्ठजी का हुकम मानकर वह पुरुष उठकर खड़ा हो गया और महाराज दशरथ तथा विश्वामित्र आदि ऋषि महर्षि सब को यथोचित क्रम से प्रणाम करके अपने निर्दिष्ट स्थान पर बैठ गया।

वह पुरुष प्रकाश के समूह में से उत्पन्न हुआ था और प्रकाशपुञ्ज की ही तरह था भी, इस लिए दशरथ महाराज ने उसे 'भास' (प्रकाश) कहकर संबोधित करते हुए कहा—

हे भास, संसार भर का पता लगाने के लिए तुम बहुत युगों से भ्रमण करते करते थक गये होगे। इस लिए अब यहाँ पर विश्राम करो और आज तक के भ्रमण में जो कुछ तुम ने देखा सुना है तथा जो जो सुख दुःख तुम्हें प्राप्त हुए हैं वह सब कुछ विस्तारपूर्वक मुझ से कह सुनाओ। मुझे यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है कि तुम जन्म से ही विपश्चित् अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्य थे, फिर भी अविपश्चित् होकर आज तक भ्रम में पड़े रह गये और अविद्याजन्य दुःख झेलते रहे। इस लिए मैं जानना चाहता हूँ कि विपश्चित् होकर भी तुम ने अविपश्चितों की तरह ऐसी इच्छा क्यों की जिस से इतने दीर्घ काल तक तुम्हें अनेक महापदों का चक्कर लगाना पड़ा?

दशरथजी की बात के उत्तर में भास कुछ कहना ही चाहते थे कि बीच में (मौका जानकर) विश्वामित्रजी बोल उठे—हे राजन् दशरथ, आप के इस प्रश्न का कि विपश्चित् होकर इस प्रकार की इच्छा इन्होंने क्यों की, यही उत्तर है कि जिस को परम बोध नहीं हुआ रहता वह

बुद्धिमान् होते हुए भी ऐसी इच्छा करता ही है। हाँ, ऐसी इच्छा वही नहीं करता जो या तो परम ज्ञान का संपादन कर चुका है और आत्मा के अनुभव द्वारा जगत् को असत्य जान लिया है या बिल्कुल ही मूर्ख है और किसी वस्तु को देखने सुनने की शक्ति ही नहीं रखता। परंतु ये भास महोदय दोनों में से एक भी नहीं थे अर्थात् न तो इन्हें परम ज्ञान ही हुआ था और न बिना बुद्धि के ही थे; अतएव इस प्रकार की इच्छा करनी ही इन के लिए स्वाभावाविक बात थी और वही इन्होंने की भी। अस्तु; अब आप इन से अपने पहले ही प्रश्न का उत्तर माँगें और आज तक जो कुछ भी इन्होंने देखा सुना है वह जानकर प्रसन्न हों।

दशरथजी ने खुश होकर कहा—अच्छी बात है। आप ने मेरा एक संदेह दूर कर दिया, इस के लिए मैं आप का अनुगृहीत हूँ। हाँ, भास! अब तुम बतलाओ कि तुम ने अपनी इस चिर यात्रा में क्या क्या देखा और तुम्हें कैसे कैसे सुख दुःख भोगने पड़े?

भास ने कहा—हे राजराज, यद्यपि यह ठीक है कि मैं अनन्त काल से जगत् को देखने की इच्छा से चक्कर लगाता लगाता थक गया हूँ, तथापि मैं यह कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि मुझे अपनी इस इच्छा के कारण कभी दुःख हुआ है। आप से मैं बिल्कुल सच सच कह रहा हूँ कि मैं ने जितने भी जन्म धारण किये और उन जन्मों में जितने भी अभिशाप अथवा वरदान पाये उन सब में मेरे इष्टदेव अग्निदेवता का ही प्रधान हाथ रहा है, और यही कारण है कि मुझे किसी तरह के दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ा। मैं ने अपने इष्टदेव की कृपा से अनन्त ब्रह्माण्डों की यात्रा की और बड़ी बड़ी आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखीं। उन सब को मैं विस्तारसहित कह रहा हूँ, आप ध्यान से सुनें।

विपश्चित् का शरीर छोड़ने पर सब से पहले मैं वृक्ष हुआ और हजारों वर्षों तक फूल, फल, डाल, पत्तों से युक्त रहकर जीवन बिताता रहा। उस योनि से मुक्त होने पर मैं सुमेरु पर्वत पर सोने का कमल हुआ और वहाँ का अमृततुल्य जल पीता रहा। वहाँ से मुक्त होने पर एक देश में पक्षी हुआ और सौ वर्ष जीने के बाद सियार की योनि मिली। सियार की योनि में मुझ से किसी हाथी का कुछ अपराध हो गया जिस के कारण उस ने मुझे कुचल-कर मार डाला। तब मैं फिर से सुमेरु पर्वत पर मृग हुआ और वहाँ के देवता तथा विद्याधरों से अपार प्रेम प्राप्त कर आनन्दपूर्ण जीवन बिताता रहा। जब उस शरीर की आयु पूरी हो गई, तो मरने के बाद मैं देवताओं की वाटिका में मञ्जरी हुआ। वहाँ पर विद्याधरियों के स्पर्श का आनन्द लेता रहा और वह जीवन बिताकर देवताओं को जो हुआ और सिद्धों की संगति के कारण उस के बाद के जन्म में सिद्ध हुआ। इस के बाद मैं तरह तरह के चमत्कार दिखलाने लगा और मेरा फिर अधःपतन हो गया जिस के कारण पुनः अनेक शरीर धारण करता हुआ अनेकानेक ब्रह्माण्डों का चक्कर काटता विचरण करता रहा। इस प्रकार

बहुत सी सृष्टियों को देखता हुआ मैं एक बड़ी विचित्र सृष्टि में चला गया। वह सृष्टि भी थी तो इसी की तरह अर्थात् इस सृष्टि की पृथिवी, आकाश, जल, वायु और सूर्य आदि भी इसी सृष्टि के समान हैं, परन्तु वहाँ पर जो मैं ने आश्चर्य देखा वह बड़ा ही अद्भुत था। वहाँ मैं ने आकाश में एक परछाहीं देखी। वह परछाहीं धीरे धीरे बड़ी होने लगी और कुछ देर में ऐसा मालूम हुआ, मानों आकाश से कोई बडा भारी पहाड़ गिरना चाहता हो, यहाँ तक कि उस परछाहीं का आकार आकाश से भी बड़ा प्रतीत होने लगा और उस के कारण सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्रमण्डल सब अन्धकार में लीन हो गये। पृथिवी पर, जहाँ मैं मौजूद था, ऐसा मालूम हुआ कि बडा भयकर भूकम्प आ गया है। मैं उस विपत्ति से त्राण पाने के लिए अपने इष्टदेव का स्मरण करके कहने लगा कि हे देव, तुम ने जन्म जन्म में मेरी रक्षा की है, तुम्हारे ही बचाने से मैं आज तक सब कुछ देखने में समर्थ हो सका हूँ, इस लिए इस बार भी मेरी रक्षा करो। मेरी प्रार्थना सुनकर अग्निदेव ने साक्षात् दर्शन देकर कहा कि तूँ भयभीत मत हो। अग्निदेव की आश्वासनवाणी सुनकर मैं एकचित्त होकर उन की ओर देखने लगा।

उन्होंने कहा—वत्स, मेरे लोक में चल।

मैं ने कहा—प्रभो, वहाँ जाने की शक्ति क्या मुझ में है?

उन्होंने कहा—तूँ भी मेरे साथ मेरी ही सवारी (तोता) पर बैठ जा, तुझे वहाँ चलने की शक्ति मिल जायगी।

उन की आज्ञा से जब मैं उन के तोते पर बैठ गया, तो वह तोता आकाश की ओर उड़ चला। जब हम लोग काफी ऊपर चले गये, तो देखने पर मुझे ज्ञात हुआ कि पृथिवी पर से दिखलाई पड़नेवाली वह पर्वताकार छाया वास्तव में एक बडा भारी मुर्दा है। इस के कुछ ही समय के बाद वह मुर्दा सीधे पृथिवी पर गिर पडा। उस के गिरने से सुमेरु, मन्दराचल, मलयाचल, अस्ताचल आदि सभी बड़े बड़े पहाड नीचे पाताल की ओर चले गये, पृथिवी चूर चूर हो गई, उस में जगह जगह बडे बडे गड्ढे पड़ गये, दरारें फट गईं, चारों ओर प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित हो गया। कहाँ तक कहूँ? उस के नीचे जो कोई भी वृक्ष, पशु, पक्षी, दैत्य, दानव, मनुष्य आदि स्थावर जङ्गम जीव आये वे सब के सब नष्ट भ्रष्ट हो गये। उस मुर्दे के शरीर से सब दिशाएँ पूर्ण हो गईं, सातों द्वीप उस के पेट के अन्दर पड गये, उस की बाहों से सुमेरु और लोकालोक आदि पर्वत ढक गये, उस के कितने ही अङ्ग इस ब्रह्माण्ड को लाँघकर दूसरे ब्रह्माण्डों तक पहुँच गये।

इस प्रकार की भयानक दशा देखकर मैं ने अग्निदेव से कहा—हे भगवन्, यह कैसा उपद्रव है? यह किस का मुर्दा शरीर है? इस के पहले तो मैं ने इतना बडा शरीर न स्वयं देखा था, न किसी से सुना ही था। अत कृपा करके आप मुझे इस महा भयकर मुर्दे का रहस्य समझाइए।

अग्निदेव ने कहा—तूँ अभी चुपचाप देखता रह कि आगे क्या क्या होता है। जब यह सब उपद्रव शान्त हो जायगा तब मैं तुझ से इस का पूरा पूरा भेद बतला दूँगा; तब तक तूँ बिल्कुल शान्त बैठा रह।

इस तरह अग्निदेव मुझे शान्त रहने का उपदेश दे ही रहे थे कि इतने में चारों ओर से देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्धगण आदि समस्त स्वर्गवासी लोग आ आकर एकत्रित होने और आपस में विचार करने लगे कि प्रलयकाल के पहले ही यह प्रलय के समान जो विक्षोभ-कारी उपद्रव उपस्थित हुआ है इस को दूर करने के लिए शक्ति की आराधना करनी चाहिए। भगवती आद्याशक्ति ही इस संकट से हमें त्राण दे सकती हैं। ऐसा निश्चय करके देवता लोग *भगवती कालरात्रि की इस प्रकार स्तुति करने लगे*—

हे देवि, हे मातः, हे शववाहिनि, हे चण्डिके, हम लोग तुम्हारी शरण में आये हैं, आज असमय में ही प्रलयकाल का दृश्य दिखलाई पड़ रहा है, इस उपस्थित महासंकट से हमारी रक्षा करो, रक्षा करो, तुम्हारे सिवा इस उपद्रव से बचानेवाला और कोई नहीं है; इत्यादि।

इस प्रकार देवता लोग जब प्रार्थना कर चुके और पुनः उस मुर्दे की ओर उन लोगों ने दृष्टि घुमाई, तो देखते क्या हैं कि अभी तक वह महाशरीर उसी प्रकार पड़ा हुआ है और सप्तद्वीपा वसुन्धरा समस्त पर्वतों तथा समुद्रों सहित उस के नीचे दबती चली जा रही है। अतः देवता लोगों ने फिर देवी की स्तुति प्रारम्भ की और बहुत देर तक ध्यानमग्न होकर भाँति भाँति से भगवती की आराधना करते रहे। इस बार जब देवता लोगों की स्तुति समाप्त हुई और उन लोगों ने आकाश की ओर दृष्टि डाली, तो देखा कि चण्डिका भगवती अपने भूत, प्रेत, पिशाच, वैताल, भैरव, यक्ष आदि गणों को साथ लेकर अग्नि के समान तेज को धारण किये इस प्रकार नीचे चली आ रही हैं जैसे आग की कोई नदी ही आकाश से उतरती चली आती हो। उन्हें आती देखकर देवता लोग आनन्द से विह्वल हो उठे और पास आने पर फिर देवी की प्रार्थना करके कहने लगे कि हे मातेश्वरि, इस शव (मुर्दा) का नाश करो, अपने गणों को आज्ञा दो कि शीघ्र इस का भक्षण करें। हम लोग इस मुर्दे को देखकर बड़े शोकमग्न हो रहे हैं और सब प्रकार से तुम्हारी शरण में आये हुए हैं। अब शीघ्र इस उपद्रव को दूर करके हमारी रक्षा करो। देवताओं की बार बार की हुई स्तुति से देवीजी प्रसन्न हो गईं और उसी समय उन्होंने प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को वेग के साथ खींचना प्रारम्भ कर दिया। भगवती की इस क्रिया से यह फल हुआ कि उस मुर्दाशरीर में जितना रक्त था वह सब खिंचकर उन के पेट में चला गया जिस से देवी का उदर एक दम परिपूर्ण हो गया, आँखें लाल हो गईं और वे प्रसन्न होकर नृत्य करने लगीं। भगवती को नृत्य में मग्न देखकर उन के गणों ने जान लिया कि अब इस शव के मांसभक्षण का समय आ गया। इस लिए सब गण एकसाथ लिपटकर

उस मुर्दे का भोजन करने लगे। कोई गण उस का मुँह खा रहा था, कोई पेट खा रहा था, कोई छाती चीर रहा था, कोई आँखें निकाल रहा था, कोई बाहें तोड़ रहा था, कोई उस की आँतों को बाहर खींचकर आकाश में उड़ जाता था और वहाँ आनन्द से उछलता कूदता था, कोई टाँग पकड़कर घसीटना चाहता था, कोई उस के शरीर का अन्त पाने के लिए उस के किसी अङ्ग को जबड़े में रखकर दिशा के अन्त तक चला जाता था, पर अन्त न मिलने पर विवश होकर पुनः वहीं लौट आता था। और देवीजी अपनी लाल लाल आँखों से उस मुर्दे को बार बार देख लिया करती थीं जिस से उन की आँखों की तीव्रज्वाला उस के मांस को पका दिया करती थी और गण लोग पकापकाया मांस खाने का आनन्द पा रहे थे।

भगवती की नेत्रज्वाला से जब उस मुर्दे का मांस पकने लगता, तो उस के शरीर के किसी किसी अङ्ग से रक्त की बूँदें टपक पड़तीं जिन से हिमालय और मन्दराचल पर्वत एक दम लाल हो गये, खून की नदियाँ बह चलीं और सृष्टिमात्र को अपनी अपूर्व सुन्दरता से सर्वदा मोहित करती रहनेवाली संपूर्ण दिशाएँ भयंकरता की साक्षात् प्रतिमूर्ति बन गईं। कहीं कोई शरीरधारी दिखलाई नहीं पड़ता था, सब संसारी जीव नष्ट हो गये। हाँ, केवल वे ही बचे रह गये जो पर्वतों की कन्दराओं में दबे पड़े रह गये थे।

भगवान् राम अब तक चुप चाप भास की बातें सुन रहे थे, किंतु उन के मुँह से कुछ लोगों का जीवित रह जाना सुनकर उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए वसिष्ठजी से कहा—गुरुदेव, एक बात मेरी समझ में नहीं आई कि अभी अभी भास ने कहा है कि उस शव के नीचे पड़कर सारा ब्रह्माण्ड नष्ट हो गया, कोई प्राणी जीवित नहीं बचा और अभी वह फिर कह रहे हैं कि पर्वतों की कन्दराओं में दबे हुए बहुत से लोग बच गये। इस का क्या रहस्य है प्रभो?

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम, भास जो कुछ कह रहे हैं, सब सत्य ही कह रहे हैं। यह तो जानते ही हो कि मनुष्य आदि संसारी प्राणियों की अपेक्षा देवता लोग कहीं अधिक शक्तिशाली—महाप्राण—हुआ करते हैं। जितनी चोट, जितना बोझा, जितने संकट समय आ पड़ने पर देवता सहन कर सकते हैं उतना मनुष्य आदि साधारण जीवों से सहन नहीं हो सकता। यही कारण है कि उस महाकाय मुर्दे के शरीर में जो पोलवाले अङ्ग थे—जैसे दाढ़ी और गर्दन के बीच की पोली जगह, दोनों जाँघों के बीच का पोला हिस्सा आदि—उन अङ्गों के मध्य में देवता लोग दबकर पड़े रहे और उन का प्राण दृढ़ होने के कारण थोड़ा बहुत संकट सहकर भी शरीर से अलग नहीं हुआ। इसी प्रकार सुमेरु, उदयाचल, अस्ताचल, मन्दराचल आदि पर्वतों में बहुत सी पोली जगहें (कन्दराएँ) हैं और उन में बैठे हुए देवता नहीं नष्ट होने पाये। साथ ही उस मुर्दे के कान, नाक, आँख, मुँह आदि के जो छिद्र थे और मौका पाकर उन छिद्रों में जो देवता चले गये थे वे भी बच गये। तात्पर्य यह कि देवता लोग नष्ट होने से बचे रह

गये और बाकी सब प्राणी मर गये। इन बचे हुए देवताओं ने जब देखा कि चण्डिका भगवती के गणों ने मुर्दे के सब अङ्गों को खा डाला, केवल उस के मेदों का एक पिण्डमात्र अवशिष्ट रह गया है जिस से बड़ी ही दुर्गन्धि निकल रही है और कुछ दिखलाई पड़ने के नाम पर उस के सिवा और कुछ नहीं रह गया है, तब सब देवता शोक से व्याकुल होकर कहने लगे कि हाय दैव, हमारे कल्पवृक्ष क्या हुए? बर्फों का समूह वह हमारा हिमालय क्या हुआ? हमारा नन्दनवन कहाँ चला गया? हमारे वे भक्त क्या हो गये जो यज्ञों द्वारा हमारी पूजा किया करते थे? वे चन्दन और तमाल के वन कहाँ लुप्त हो गये? हाय, हाय, बड़े कष्ट की बात है कि अब न तो कहीं अप्सराएँ दिखलाई पड़ती हैं, न उन के साथ मिलकर जहाँ हम विलास किया करते थे वे स्थान ही नजर आते हैं। यह सड़ा हुआ, दुर्गन्धियों का खजाना मेदा का पिण्ड तो और भी व्याकुल किये डालता है। हे नारायण, इस कष्ट से कैसे मुक्ति मिलेगी?

इस प्रकार एक तरफ तो देवता लोग रो रोकर दुःख प्रकट कर रहे थे और दूसरी तरफ वह मेदावाला पिण्ड पृथिवी का रूप धारण करता जा रहा था। कुछ देर में वह पिण्ड पूर्ण रूप से पृथिवी के आकार में परिवर्तित हो गया। मेदों के पिण्ड से उत्पन्न होने के कारण ही इस पृथिवी का नाम 'मेदिनी' पड़ गया। इस मेदिनी के ऊपर जो अब सुमेरु आदि पर्वत पाये जा रहे हैं वे उस महामुर्दे की बड़ी बड़ी हड्डियों से बने हैं। अन्त में ब्रह्माजी ने जब देखा कि समस्त विश्व चारों ओर से एकदम सूना हो गया है, कहीं कोई जीव जन्तु, नदी वन आदि नहीं रह गये हैं और देवता लोग शोक से व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं, तो उन्होंने देवताओं का शोक दूर करने के लिए अपने मन में संकल्प किया कि पुनः सृष्टि की रचना करनी चाहिए। आखिर ब्रह्माजी के संकल्प से फिर यह सृष्टि पहले की भाँति रचित होकर हरी भरी हो गई और सारा सांसारिक व्यवहार पूर्ववत चलने लगा।

वसिष्ठजी इतना कहकर चुप हो गये और भास को इशारा देकर कह दिया कि अब तुम आगे का अपना वृत्तान्त कह सुनाओ। आज्ञा पाकर भास ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—हे राजन् दशरथ, वसिष्ठजी ने जो वर्णन सुनाया है वह सब कार्य जब संपादित हो रहा था उस समय भी मैं अग्निदेव के साथ उन के उसी तोते पर बैठा हुआ था और यह सब भयंकर लीला अपनी आँखों से देख रहा था। जब सब ठीक ठाक होकर सृष्टिकार्य चलने लगा, तो मैं ने फिर अग्निदेव से कहा—हे देव, अब अगर मेरे प्रश्न के उत्तर का समय आ गया हो, तो कृपा करके कहिए कि यह मुर्दा कौन था, कहाँ था और क्यों पृथिवी पर गिरा?

अग्निदेव ने कहा—वत्स, अब मैं सब कुछ तुम्हें यथावत् बतला रहा हूँ। यद्यपि उस महाशव का वृत्तान्त पूर्ण रूप से कह सकना साधारण बात नहीं है, फिर भी मैं जो कुछ कह

रहा हूँ वह ध्यान से सुनो। उस परम आकाश में जिसे अनामय, अनन्त, सर्वज्ञ, चिन्मात्र-पुरुष आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, जब सब से प्रथम स्फुरणा हुई अर्थात् एक प्रकार के स्पंदन का आविर्भाव हुआ, तो चित्तकला प्रकट हुई और उस ने अपने आप को तेजस् अणु अर्थात् एक सूक्ष्म तेज समझा। उस का यह समझना उस का अहंकार कहलाया और उस के बाद ही उस में निश्चयात्मिका बुद्धि, चित्त और संकल्प विकल्प उत्पन्न हुए। इन सब की उत्पत्ति से तन्मात्रा को उत्पन्न होने का मौका मिला जिस से इच्छा को प्रवेश करने का अवसर आया। इस इच्छा के द्वारा शरीर और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई और उन से देखने सुनने की इच्छा हुई। ऐसी इच्छा होते ही अनेक दृश्य उपस्थित हो गये और उस अनन्त शक्ति ने अपने में ही प्रमाद द्वैव से द्वैत का भान किया और इसी भान के कारण यह संसार चल पड़ा अर्थात् तभी से सृष्टि में तेरा मेरा, तूँ मैं का प्रवाह चला और यह मेरा पिता, यह मेरी माता, यह मेरा पुत्र, यह मेरा परिवार आदि की परंपरा चिरकाल से चली आ रही है। यही अहंकार है और इसी का नाम आसुरभाव है। सो इसी प्रकार के अहंकारपूर्ण भाव में प्रमत्त एक बड़ा भारी राक्षस एक जंगल में विचरण कर रहा था। कुछ दूर जाने पर उस ने देखा कि सामने एक बड़ी सुन्दर पर्णकुटी (फूस की झोपड़ी) शान्तभाव धारण किये खड़ी है। वह राक्षस उस कुटी के दरवाजे पर चला गया और उस के भीतर झाँककर देखने लगा। कुटी में एक ऋषि बैठे हुए तपस्या कर रहे थे। यह देखकर राक्षस ने मन में विचार किया कि यह मेरे आचरण के विरुद्ध आचरण करनेवाला प्राणी मेरा शत्रु है, अतः इसे अवश्य कष्ट देना चाहिए। उस ने ऋषि की कुटी को अपने पैरों की ठोकरों से चूर चूर कर डाला और वेग से उस ऋषि की ओर दौड़ा कि इन्हें भी ठोकरों से क्षत विक्षत कर दूँ। परंतु ऋषि असाधारण तेजस्वी पुरुष थे। इन्होंने उस राक्षस को शाप दे दिया कि तूँ अभी मच्छड़ हो जा। फिर क्या था? वह उन के कहते ही भस्म हो गया। उस के शरीर के सब तत्त्व अपने अपने अधिष्ठान में मिल गये—पृथिवीतत्त्व पृथिवी में, जलतत्त्व जल में, तेजस्तत्त्व तेज में, वायुतत्त्व वायु में और आकाशतत्त्व आकाश में मिलकर एक साथ ही विलीन हो गये। किंतु उस की चेतनशक्ति को तो अभी ऋषि का शाप भोगने के लिए मच्छड़ का रूप धारण करना था; इस लिए उस राक्षस के शरीर में जो निराकार चेतना थी वह भूताकाश में मिल गई। वहाँ उस का वायु के साथ संयोग हुआ और ऋषि के शाप की महिमा से उस ने मच्छड़ का रूप धारण कर लिया। मच्छड़ की आयु केवल दो तीन दिनों की होती है। इस लिए उस मच्छड़ विचारे ने अपनी एक दिन की आयु तो कमल की पँखुड़ियों में रहकर बड़े आनन्द से बिताई, पर दूसरे दिन वह ज्यों ही किसी घास के नीचे भुनभुनाता हुआ पहुँचा त्यों ही एक हिरन कहीं से दौड़ता हुआ आकर उस के ऊपर चढ़ गया। हिरन का पैर संयोग से उस मच्छड़ के सिर पर ही जा

पड़ा और मच्छड़ को ऐसा मालूम हुआ, मानों कोई बड़ा भारी पहाड़ मेरे सिर पर आ गिरा हो। हाँ, जब उस ने एक क्षण के लिए आँख खोलकर देखा, तो उसे ठीक घटना समझ में आ गई अर्थात् उस ने जान लिया कि मेरे सिर पर पहाड़ नहीं, किंतु हिरन का पैर पड़ा है। लेकिन इस से ज्यादा सोचने समझने का उसे समय नहीं मिल सका, वह तुरंत ही मरकर मच्छड़योनि से मुक्त हो गया। अब उस का कर्मबन्धन उसे अपनी इच्छा के अनुसार खींच ले चला। मरने के समय उस ने हिरन देखा था और उसी में उस समय उस का ध्यान सन्निहित था। इस लिए दूसरे जन्म में उसे हिरन का शरीर प्राप्त हुआ।

हिरन का रूप पाकर वह आनन्द से जंगलों में छलाँगें भरने लगा। इस शरीर में उसे किसी तरह की तकलीफ नहीं थी। वह अपने समूह में सब का सरदार होकर रहता था। उस के शरीर में शक्ति भी बहुत अधिक थी। उस के समान छलाँग भरनेवाला दूसरा कोई हिरन उस जंगल में नहीं था। इस लिए शेर बबर आदि शत्रुओं से वह अनायास ही बच जाया करता था। इस प्रकार बहुत दिन तक वह हिरन की योनि में रहकर स्वच्छन्द सुख भोगता रहा। हिरनों की जाति एक तो स्वभाव से ही बहुत चञ्चल होती है, मुहूर्त भर से अधिक उस के लिए कहीं बैठ सकना मुश्किल रहा करता है; उस में भी यह हिरन अपने बल, बड़े शरीर और समूह की सरदारी के अभिमान में और अधिक चञ्चल बन गया था। आज मैदान की सैर है, कल नदीतट की बहार है, परसों पर्वतशिखर की मौज है, नरसों सघन बन की लहर है—इस प्रकार वह हमेशा यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ दौड़ लगाया करता था। उस की यह अत्यन्त चञ्चलता ही अन्त में उस के लिए प्राणघातिका सिद्ध हुई।

एक दिन की बात है कि वह हिरन अपनी मस्ती में आप ही भूला हुआ अपने झुंड से अलग हो गया और शाम का समय होने पर भी जंगल में न जाकर मैदान की ओर टहलता हुआ निकल पड़ा। मैदान बड़ा लंबा चौड़ा था, कोसों तक बिना रुकावट के आँखें दौड़ जाया करती थीं। इस मैदान के एक छोर पर सुन्दर नदी कलकल करती बहती चली आ रही थी, दूसरे छोर पर बड़ा ऊँचा पर्वत अपनी चोटियों की परंपरा फैलाता हुआ दिगन्त की ओर निकल गया था, तीसरे छोर पर बड़ा ही मनोहर खेतों का सब्ज नजारा अपनी बहार दिखला रहा था और अपनी हरियाली के सामने हरे मखमल की चमक को भी मात कर रहा था और चौथे छोर पर एक रमणीक नगर की अट्टालिकाएँ अपनी गगनचुम्बी ऊँचाई से बादलों के साथ आँखमिचौनी का खेल खेल रही थीं। हिरन इस मैदान में शायद पहले कभी नहीं आया था, क्योंकि आज इस मैदान में आकर जैसे वह कुछ निश्चय ही नहीं कर पाता था कि किस विषय में मन रमाऊँ—कभी वह नदीतट की ओर सतृष्ण चपल नेत्रों को घुमाता और सोचता कि चलकर जलक्रीडा का आनन्द लूटूँ, कभी पर्वतमाला की ओर दृष्टि फेरता और

सोचता कि एक चोटी से उछलकर दूसरी चोटी को आलिङ्गित करने का मजा उड़ाना चाहिए, कभी खेतों की हरियाली पर नजर डालता और सोचता कि सब काम धाम, आनन्द मङ्गल मनाना छोड़कर चलूँ आज पेट भर अनाज पर ही मुहँ मारूँ। परंतु इन सभी विषयों की ओर से न जाने क्यों उस का चित्त उदासीनता प्रकट करने लगा। इस लिए अन्त में उस ने यही स्थिर किया कि ये सब बहारें तो जब से पैदा हुआ तभी से बारी बारी से लूटी और भोगी जा चुकी हैं; नदी, पर्वत, हरी भरी खेती आज नई नई नहीं दिखलाई पड़ रही है। अत आज इस नवीन वस्तु 'नगर की शोभा' का ही किसी प्रकार अवलोकन करना चाहिए। किंतु नगर में तो सुना जाता है कि मनुष्यों की इतनी चहल पहल रहती है कि उस में से मनुष्य के अतिरिक्त और कोई प्राणी पार ही नहीं पा सकता। और दूसरा कोई जीव किसी तरह दब दूबकर पार पाये भी तो मुझ हिरन को देखकर भला कौन सा मनुष्य नहीं चाहेगा कि इसे अपनी पशुशाला का श्रृङ्गार बनाऊँ? और यह यदि उस की शक्ति के बाहर की बात हुई अर्थात् मैं अपनी तेज चाल के कारण उस की पकड़ में न आ सका, तो यह तो निश्चित ही है कि कोई न कोई अपने तीर का निशाना मुझे जरूर बना डालेगा। तब क्या करूँ? क्या शहर देखने की लालसा त्याग दूँ? नहीं। यह तो बड़ी भारी कायरता होगी। जो मैं आज तक बड़े बड़े शेर, बबर, चीते, भेड़िये से कभी भयभीत नहीं हुआ और बराबर अपनी फुर्ती दिखलाकर उन्हें छकाता आया वही मैं अगर मनुष्य के डर से डर गया और अपनी अभिलाषा का हनन कर लिया, तो मुझे धुड़ी है, बल्कि सौ और हजार बार धुड़ी है। इस लिए अपनी शक्ति पर भरोसा रखकर आज शहर देखने का आनन्द भी अवश्य ही लेना चाहिए। हाँ, सुनता हूँ कि ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य सब से ज्यादा बुद्धिमान् प्राणी होते हैं, तो इस के लिए थोड़ी सावधानी से काम लेता रहना पड़ेगा, बस। इस से ज्यादा चिन्ता निरर्थक है।

इस तरह अपनी समझ के मुताबिक पूर्वापर का विचार करके हिरन ने शहर की ओर पैर बढ़ा दिया। वह चौकन्ना होकर चारों ओर देख लिया करता था कि कहीं से कोई शत्रु तो नहीं आ रहा है, और तब पूरी सावधानी के साथ अपने कदम उठाता था। धीरे धीरे शहर करीब आ गया। मनुष्यों का आवागमन क्रमश: अधिक होने लगा जिन्हें देख देखकर हिरन के मन में एक प्रकार का भय उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया। उस ने पहले नहीं समझा था कि शहर में दाखिल होने के पहले ही मनुष्यों से मुठभेड़ होने लगेगी। इसी लिए अब वह अपने निश्चय में कुछ कुछ शिथिल सा होता दिखलाई पड़ने लगा और उस का भय अधिक तीव्रता से उसे व्याकुल करने लगा। किंतु लौटने की इच्छा होते हुए भी वह पीछे नहीं लौटा। ऐसा करने में उसे कायरता मालूम होती थी और सोचता था कि यदि यहाँ तक आकर भी शहर को बिना देखे ही जगल को लौट चलूँगा और साथी सब पूछेंगे कि हमारा

साथ छोड़कर कहाँ गये थे तथा क्या देख सुन आये, तो मुझे लज्जा के कारण मन ही मन मरकर रह जाना पड़ेगा। हालाँ कि कोई यह नहीं जानता है कि मैं शहर की ओर आया हुआ हूँ, फिर भी यह मानी हुई बात है कि सब के एक साथ ही प्रश्न करने पर मैं दृढ़ता के साथ कोई झूठी बात नहीं गढ़ सकूँगा और मेरी पोल खुल जायगी। इस लिए जब यहाँ तक आ गया हूँ, तो थोड़ा और साहस करके आगे बढ़ चलना ही अच्छा होगा।

किंतु उस हिरन बिचारे की अभिलाषा पूरी न हो सकी। उस का सब साहस, सब उत्साह, सब सावधानता, सब पूर्वापरविचार व्यर्थ चला गया। शहर के किनारे खड़ा होकर जब वह आगा पीछा सोच रहा था उसी समय उस के ऊपर एक व्याधा (बहेलिया) की दृष्टि पड़ गई। उस ने अपने किसी मित्र को दौड़कर धनुष बाण लाने के लिए घर भेज दिया और खुद छिपा छिपा हिरन का पीछा करता रहा। जब उस का मित्र धनुष बाण लेकर आया उस समय हिरन बिचारा अपनी ओर से पूर्णतः अनवधान होकर तल्लीनता के साथ शहर की छटा देखने में लगा हुआ था। व्याधा को तो ऐसे ही मौके की तलाश थी। उस ने धनुष की डोरी को कान तक खींचकर हिरन के ऊपर बाण चला दिया। निशाना अचूक था। बाण ठीक अपने लक्ष्य पर बैठा और मार्मिक वेदना से हिरन चीख उठा, साथ ही अपने घातक से कदाचित् अपना अपराध पूछने के लिए उस की तरफ मुड़कर देखने लगा। पर उस तीखे बाण ने उसे अब तक इस योग्य नहीं रहने दिया था कि वह एक दो क्षण से अधिक अपने प्राणों को रोक सके। व्याधा के ऊपर दृष्टिमात्र फेंकता हुआ वह प्राणरहित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा।

जिस समय हिरन के शरीर से उस की आत्मा का वियोग हो रहा था उस समय उस की आँखों के सामने हाथ में धनुष बाण लिये व्याधा खड़ा था। उसी को समस्त भावनाओं सहित हिरन ने देखा और उसी के संबन्ध में उस के मन में विचारतरङ्गें उठीं। इस लिए अगले जन्म में वह व्याधा होकर उत्पन्न हुआ और हाथ में धनुप बाण लेकर जंगलों में घूमने तथा अनेकानेक मृग पक्षियों का शिकार करने लगा। वह बहुत समय तक यही कर्म करता रहा। संयोग से एक दिन शिकार की टोह में इधर उधर घूमता हुआ वह एक ऋषि के आश्रम में जा पहुँचा। आश्रम में मुनिजी मौजूद थे। उन्हें देखकर व्याधा अभी किसी प्रकार का विचार भी नहीं कर पाया था कि इतने में उस की दशा से करुणार्द्रचित्त मुनीश्वर अपने आप दया की वर्षा करते हुए कहने लगे—

हरे, हरे, यह क्या व्यापार है? ऐ भाई, मनुष्यजन्म पाकर तूँ यह कैसी पापचेष्टा कर रहा है? अरे वधिक! तूँ क्या नहीं जानता है कि किसी जीव को दुःख देने से मनुष्य भयंकर नरक में पड़ता है? अरे, कुछ तो विचार कर; जिस वासना के वशीभूत होकर तूँ इस तरह का घृणित कर्म कर रहा है वह वासना बिजली की चमक की भाँति आधा क्षण भी

ठहरनेवाली नहीं है। बिजुली की चमक जिस प्रकार पलक मारने भर में विलीन हो जाती है वसी प्रकार यह शरीर, इस का आयुर्वल और इस को खिला पिलाकर स्वस्थ सुदृढ रखने की वासना आदि भी पलक मूँदते ही कहाँ की कहाँ विलीन हो जाती हैं। जिस प्रकार बचपन की किलकारियाँ स्वप्न हो गईं उसी प्रकार ये जवानी की सैलानियाँ भी देखते ही देखते अदृश्य हो जायेंगी। तूँ जंगली जीवों को मार मारकर अपनी शौक पूरी करना चाहता है और समझता है कि ऐसा करने से ही शान्ति की नींद आयेगी, न करने से शिकार न मिलने की पश्चात्तापपूर्ण अशान्ति बनी रहेगी, तो यह तेरी भूल है, मूढ़ता है। शिकार खेलकर शान्ति नहीं पाई जा सकती। शान्ति तो निर्वाणप्राप्ति से ही हस्तगत हो सकती है। इस लिए यदि तेरी इच्छा हो, शान्ति पाने की कामना हो, तो तूँ निर्वाण के संबन्ध में प्रश्न कर। तभी तूँ इस पापमय व्यापार से अलग होकर जन्ममरण के भयंकर दुःख से मुक्त हो सकेगा। और अगर यही कुकर्म करता रहेगा, हिंसावृत्ति छोड़कर सद्वृत्त नहीं बनेगा, तो शान्ति पाना तो दूर रहे, महा अशान्ति उत्पन्न करनेवाले नरक में गिरेगा।

महर्षि की वाणी केवल वक्तृता देने के लिए नहीं प्रस्फुटित हुई थी, उस का मुख्य उद्देश्य था एक पापी के अन्तःकरण को पवित्र करके उसे पुण्यात्मा बनाना। नाम के भूखे नेताओं की भाँति सुनी सुनाई अथवा समाचार पत्रों से संकलित की हुई बातों में अपनी ओर से नमक मिर्च लगाकर मुनि ने व्याख्यान नहीं दिया था, बल्कि उन्होंने जो कुछ भी कहा था वह सब—प्रत्यक्ष—उन के विशुद्ध अन्तःकरण का पवित्र उद्गार था और इसी लिए तत्काल उस उद्गार ने एक पापी के अशुद्ध अन्तःकरण को पवित्र भावनाओं से परिपूर्ण कर दिया। ऋषि के चुप होते ही व्याधा ने अपना धनुष वाण जमीन पर फेंक दिया और उन का चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करके कहा—भगवन्, शास्त्रों ने महात्माओं का यह सत्य ही लक्षण लिखा है कि 'महात्मा लोग स्वभावतः सर्वदा पसीजे रहते हैं और उपकार करने का एक मुहूर्त भी अनुपयोगी नहीं जाने देते।' मुझ से बढ़कर पापी क्या संसार में कोई और भी होगा या हो सकता है? फिर भी अनायास ही आप ने मुझ पर अपनी वाणी से अमृतवर्षा करके मेरा हृदय पवित्र कर दिया, इस से बढ़कर और क्या प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है? यही बल पाकर मैं अपने अंदर ऐसा साहस संचित कर सका हूँ जिस के द्वारा आप से यह प्रार्थना कर रहा हूँ कि जिस प्रकार आप ने मुझे इतना ज्ञान दिया उसी प्रकार वह ज्ञान भी देने की कृपा करें जिस से मैं भवसागर के पार चला जाऊँ। हाँ, एक प्रार्थना यह भी है कि संसारसमुद्र पार करने का जो उपाय आप बतलायें वह न तो बहुत कोमल हो और न बहुत कठोर ही हो। कारण, यदि उपाय अत्यन्त सरल हुआ, तो कदाचित् उस की सरलता के ख्याल से मन में उस के प्रति असावधानी की भावना आ जाय और 'जब चाहूँगा तब कर लूँगा'

यही सोचता रह जाऊँ; और यदि निर्वाणप्राप्ति का उपाय अधिक प्रयत्नसाध्य तथा ज्यादा कड़ा हुआ, तो संभवतः उस की श्रमसाध्यता का ख्याल करके उस के साधन में मन की प्रवृत्ति ही न हो। इसी लिए मेरी यह प्रार्थना है कि कृपया आप साधारण उपाय बतलाने का कष्ट करें।

मुनि ने कहा—हे वधिक, मैं तुम्हें वैसा ही उपदेश दूँगा जो तुम्हारे लिए सब प्रकार से अनुकूल होगा। सुनो—मन की एकाग्रता को शम और इन्द्रियों के निग्रह को दम कहा जाता है। इन दोनों का यथार्थ आचरण करनेवाला पुरुष ही मुनि कहलाता है। शम दम के ठीक ठीक पालन से ही मौनव्रत की पूर्णता समझी जाती है और यही कारण है कि उन का पालन करनेवाला 'मुनि' की उपाधि से विभूषित होता है।

वधिक ने कहा—हे गुरो, मैं यदि यह जानने का अधिकारी होऊँ कि शम दम रखने से क्या लाभ होता है, तो दया करके यह भी बतला दीजिए।

मुनीश्वर ने कहा—वधिक, शम दम अर्थात् मन को एकाग्र और इन्द्रियों का निग्रह करने से अन्तःकरण निर्मल होता है, अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है, आत्मज्ञान से सांसारिक भ्रम—मोह माया—निवृत्त होते हैं और संसारभ्रम की निवृत्ति द्वारा परम शान्तिरूप अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति होती है। इस लिए तूँ भी यदि वास्तविक शान्ति प्राप्त करना चाहता है, तो शम दम का आचरण करके पहले मन को एकाग्र और अन्तःकरण को पवित्र बना। इस के लिए तुझे किसी एकान्त स्थान में बैठकर दृढ निश्चयपूर्वक तब तक तपस्या करनी होगी जब तक इस विषय की पूरी सिद्धि न मिल जाय।

मुनि का उपदेश हृदय में धारण करके वधिक उठ खड़ा हुआ और मुनि को प्रणाम करके घोर जंगल में तप करने चला गया। ऋषि के उपदेशानुसार उस ने मन को स्थिर रखकर इन्द्रियों का निग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। जब जो कुछ भी—अनिच्छितरूप से—भोजन मिल जाय वही खाकर वह तपस्या में संलग्न रहता, हृदय से सब तरह की क्रियाओं का उस ने परित्याग कर दिया। इस प्रकार बहुत समय बीत जाने पर उस का अन्तःकरण निर्मल हो गया, मन ने एकाग्रता धारण करने का पूरा अभ्यास कर लिया और वधिक को विश्वास हो गया कि मुनि ने जितनी तपस्या करने के लिए आज्ञा दी थी उतनी पूरी हो गई। ऐसा विश्वास हो जाने पर वह पुनः मुनिजी के समीप चला गया और विधिपूर्वक उन्हें प्रणाम करके एक तरफ बैठ गया।

मुनि ने कहा—कहो वत्स, क्या अनुभव हुआ? क्या कुछ शान्ति की प्राप्ति हुई?

व्याध ने कहा—भगवन्, कुछ अधिक अनुभव तो नहीं हुआ मालूम होता, क्योंकि जिस शान्ति की आशा से मैं ने तप आरम्भ किया था वह बिल्कुल नहीं मिली, उलटे अब मन में और विचित्र विचित्र प्रश्न उठ रहे हैं।

मुनि ने कहा—वे कौन से प्रश्न हैं मुझ से तो कहो।

व्याध ने कहा—प्रभो, अब मेरे मन में यह प्रश्न उठ रहा है कि आँखों के सामने ये सब जो दृश्य दिखलाई पडते हैं वे हृदय में किस प्रकार प्रविष्ट हो जाते हैं और भीतर की स्वप्न-वाली सृष्टि बाहर किस प्रकार प्रत्यक्ष हो जाया करती है ?

मुनि ने कहा—वधिक, तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही गूढ़ है। मेरे मन में भी शुरू शुरू में यही प्रश्न उठा था और उस का समाधान करने के लिए मैं ने श्री गणेशजी से प्रार्थना की थी। उन्होंने कृपा करके जो उत्तर दिया और उस में से जो कुछ मैं ने ग्रहण किया वह यह है कि पहले यथाशक्ति मैं योग की साधना में लगकर अनेक प्रकार के आसनों और प्राणायाम की क्रियाओं द्वारा इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को आकाश में निराधार स्थित करने का अभ्यास करता रहा। जब यह सिद्धि मिल गई और अपने में यह शक्ति आ गई कि जब चाहूँ तब शरीर के बाहर हो जाऊँ और जब चाहूँ तब शरीर में आ जाऊँ तब मुझे यह निश्चय हो गया कि मेरी योगधारणा पूरी हो गई। उसी अवसर पर मेरी कुटी के पास एक पुरुष सोता हुआ दिखलाई पड़ा। उस की साँस कभी बाहर निकल रही थी और कभी भीतर घुस रही थी। श्वास की गति देखकर मेरे मन में आया कि इस पुरुष के श्वासमार्ग से इस के भीतर प्रवेश करके देखना चाहिए कि मनुष्य की वहाँ क्या अवस्था रहती है। बस, तत्क्षण मैं ने पद्मासन बाँध योग की धारणा की और श्वास की राह उस के भीतर प्रविष्ट हो गया। वहाँ जाने पर मुझे बड़ा ही बीभत्स दृश्य दिखलाई पड़ा—अनेकानेक नाड़ियाँ अपने अपने रस को ग्रहण करने में लगी हुई थीं। वीर्य, रक्त, कफ, मांस, मेदा, मल, मूत्र आदि की अलग अलग नाड़ियाँ थीं और सब अपने अपने व्यापार में उथल पुथल मचा रही थीं। यह सब देखकर मैं बहुत असंतुष्ट हुआ और उस बीभत्स स्थान को छोड़कर आगे बढ़ गया। आगे बढ़ने पर जो दृश्य देखने में आया उसे देखकर पहले की असंतुष्टि और मनोमालिन्य दूर हो गया। वहाँ मैं ने एक बड़ा ही तेजवान् कमल और महान् प्रकाश का विस्तार करनेवाला हृदयाकाश देखा। उस हृदयाकाश को ही त्रिलोकी का आदर्श कहा गया है, क्योंकि इस त्रिलोकी भर में जितने पदार्थ हैं, सब को वही प्रकाशित करता है और सब की उसी से स्थिति है। वहीं पर मुझे सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, देव, गन्धर्व आदि समस्त स्थावर जङ्गम विश्व के दृश्य दीख पड़े। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सहित संपूर्ण सृष्टि भी वहाँ ही विराज रही थी जिसे देखकर मेरे हर्ष और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इन सब पदार्थों को देखकर मैं स्वतः समझ गया कि जाग्रत सृष्टि और स्वप्न की सृष्टि में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भेद यदि कुछ है, तो नाममात्र का है और उस का रहस्य यही है कि चिरकालपर्यन्त जिस की प्रतीति हो उस का नाम जाग्रत् है तथा अल्पकालपर्यन्त जिस की प्रतीति हो उस का नाम स्वप्न है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला

कि उस सोनेवाले अज्ञानी पुरुष को अपनी सुषुप्ति में जो अनुभव हो रहा था वह उस के लिए तो स्वप्न था, किंतु मेरे लिए वही जाग्रत् था और मेरे लिए जो जाग्रत् था वही उस के लिए स्वप्न था। इसी से यह कहना पड़ता है कि जाग्रत् और स्वप्न में कोई भेद नहीं है। जाग्रत् और स्वप्न दोनों का अधिष्ठान परब्रह्म ही है। इस तरह जब जाग्रत् स्वप्न का भेद मेरी समझ में आ गया, तो मैं ने यही निश्चय किया कि जगत् कोई वस्तु नहीं, केवल कल्पनामात्र है; वास्तव में चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है। इस के बाद मेरी इच्छा हुई कि जैसे जाग्रत् को देखकर उस का आनन्द ले चुका उसी तरह सुषुप्ति को भी देख लूँ। तदनुसार मैं पुनः विचार में प्रवृत्त हो गया और इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि जहाँ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों प्रकार की स्थिति से उत्पन्न होनेवाले विचारों अथवा मनोविकारों का अभाव हो जाता है वही सुषुप्ति है और वह है महाप्रलय। परंतु फिर प्रश्न उठा कि जहाँ मैं स्वयं ही देखनेवाला मौजूद हूँ वहाँ महाप्रलय होगा ही किस प्रकार? विचार करने पर इस का भी उत्तर निकल आया। वह यही था कि वास्तव में सुषुप्ति उसी का नाम है जहाँ चित्तकी वृत्ति न रह जाय। इस प्रकार सुषुप्ति देखने के लिए मैं ने प्रथम चित्तवृत्ति का अभाव किया और तब देखा कि वस्तुतः जो सुषुप्ति है वहाँ न 'मैं' है, न 'तूँ' है, न 'यह' है, न 'वह' है, न शुभ है, न अशुभ है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है; बल्कि यहाँ तक कि वहाँ सुषुप्ति की कल्पना तक नहीं है। वहाँ पर यदि कुछ है, तो बस, इतना ही कि सब प्रकार की कल्पना आदि से रहित केवल चित् सत्तामात्र वहाँ पर स्थित है। और इस पर भी अगर यह कहो कि सब तरह की कल्पना से रहित होकर सुषुप्ति को मैं ने देखा किस तरह? क्योंकि सुषुप्ति भी तो कल्पना से ही देखी जा सकती है। तो इस का उत्तर यह है कि सब तरह का अनुभव करनेवाली ज्ञानरूपा आत्मसत्ता जो है वह सर्वदा ज्यों की त्यों रहती है और उस में जिस प्रकार के आभास का स्फुरण होता है उसी प्रकार का उस में ज्ञान होता है। सो उसी स्फुरणशक्ति के द्वारा मैं ने भी अनुभव किया और देखा कि जहाँ चित्त में कोई संकल्प विकल्प आदि नहीं रह जाता, प्रत्युत केवल निर्विकल्प स्फुरण होता है और साथ ही सम्यग्बोध का भी अभाव हो जाता है उस अभाववृत्ति का ही सुषुप्ति नाम है।

सुषुप्ति अवस्था का अवलोकन करने के बाद तुरीयावस्था देखने का विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ। लेकिन मैं जानता था कि तुरीयावस्था को देखना साधारण कार्य नहीं है, उस को देखना महान् कठिन ही नहीं, बल्कि कठिन से भी कठिनतम है। तुरीया साक्षीभूत वृत्ति को कहते हैं जो सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होती है। ब्रह्म का पूरा ज्ञान हुए बिना उस अवस्था को कदापि नहीं देखा जा सकता। इस लिए मैं ने कठोर साधना और प्रयत्न द्वारा समस्त जगत् के साक्षीभूत सच्चिदानन्द ब्रह्म की ओर अपनी आत्मा को समाहित किया और अन्तःकरण

मैं निश्चय किया कि इस ब्रह्म के सम्यग्बोध के अतिरिक्त तुरीया पर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। बस, इस निश्चय के होते ही मैं ने उस अवस्था को भी पूर्ण रूप से देख लिया। अब उस सोये हुए पुरुष के भीतर रहना अनावश्यक जान, मैं बाहर के जगत् में चला आया। पर, बाहर आने पर भी मुझे चारों ओर वैसा ही सब कुछ भान हो रहा था इस से मेरे मन में संदेह उठ खड़ा हुआ कि आखिर यह क्या रहस्य है ? जो दृश्य मैं उस पुरुष के भीतर देख रहा था वही इस बाहरी जगत् में क्यों दिखलाई पड़ रहा है ? भीतर का दृश्य बाहर किस प्रकार आ गया ? ऐसा संदेह होने पर मैं फिर उस पुरुष के अंदर प्रविष्ट हुआ। अब की बार वहाँ पर दो भिन्न भिन्न ब्रह्माण्ड दिखाई दिये। तब मैं ने विचार किया कि इस भिन्नता के कारण का पता लगाना चाहिए। अन्त में मुझे ज्ञात हुआ कि पहली बार मैं ने जब प्रवेश किया था तब मेरी और उस पुरुष की संवेदना एक में मिल गई थीं और अब की बार मैं ने यत्न करके अपनी संवेदना को अलग कर रखा है। इसी लिए यहाँ पर मुझे दो ब्रह्माण्ड अर्थात् दो विभिन्न सृष्टियाँ दीख पड़ती हैं। इस प्रकार के ज्ञान से मुझे एक नये रहस्य का पता लग गया। वह यह कि मुझे सृष्टि के कारण का ज्ञान हो गया, मैं ने समझ लिया कि सृष्टि वस्तुतः संकल्परूप है और संसार में जितने जीव हैं उन सब की अपने अपने संकल्प के अनुसार अलग अलग सृष्टि है। जिस व्यक्ति का जैसा अनुभव होता है उसी के अनुरूप उस का संकल्प स्फुरित होता है और वैसी ही उस के सामने सृष्टि रच जाती है। ये दो सृष्टियाँ मुझे केवल आठ निमेष तक दिखलाई देती रहीं, क्योंकि आठ निमेष के बाद ही मैं ने अपने और उस पुरुष के चित्त की वृत्तियों को एक में मिला दिया जिस के परिणामस्वरूप वे दोनों सृष्टियाँ इस प्रकार एक में मिल गईं जैसे जल और दूध। उस एकीभूत सृष्टि में वे सब जागतिक (संसार में दीख पड़नेवाले) दृश्य दिखलाई दे रहे थे जो इस सृष्टि में दिखाई दिया करते हैं— सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, आकाश, वायु, पर्वत आदि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं थी जो उस सृष्टि में न रही हो। सृष्टि की इस क्रिया से मैं ने जान लिया कि जिस प्रकार संकल्प से सृष्टि में भेद हो गया था और संकल्पपूर्वक चित्तवृत्ति को एक में मिलाने से सृष्टि की भिन्नता जाती रही उसी प्रकार चित्त के संकल्प विकल्प से ही वह सर्वशक्तिसंपन्न ब्रह्म भी आत्मा के प्रति तिरोहित रहता अथवा उस के संमुख प्रकट हो जाया करता है। जो ज्ञानी हैं वे इस बात को जानते हैं और उद्योग करके ब्रह्मात्मैकत्व संपादित कर लेते हैं और जो अज्ञानी हैं वे संकल्प विकल्प के भ्रमजाल में ही पड़े रह जाते हैं। अस्तु,

उस पुरुष के शरीर में मैं अब की बार बहुत दिन तक रह गया और नाना प्रकार की आश्चर्यजनक बातों को देखा किया—वहाँ मैं कुटुम्बी बना, वहीं पर मेरे कुटुम्ब के लोग मृत्यु को प्राप्त हुए, वहीं पर मैं ने सृष्टि की उत्पत्ति और उस का

प्रलय भी देखा। उस प्रलयकाल में ही मेरे कुटुम्बियों का नाश, मेरे घर बार का विध्वंस, मेरी अनेकानेक दुर्दशाओं का विकास और अपना अन्त भी मुझे देखना पड़ा। परंतु बाद में मुझे मालूम हुआ कि यह सब जो कुछ भी मैं ने देखा सुना वह वास्तव में कुछ था नहीं, केवल मेरा स्वप्न था। नहीं, तो सत्य तो यही है कि मैं मुनीश्वर ही हूँ और इस तुम पुरुष के शरीर में प्रवेश करने के कारण मुझे यह सब दृश्य देखना पड़ा है। इस लिए अपने विचारों को स्थिर करके मैं ने उस पुरुष के शरीर से बाहर होने की चेष्टा की और पुनः अपने शरीर में प्रवेश किया। इस तरह कई बार मैं बाहर आकर अपने शरीर में घुसता और अनेक प्रकार की विभिन्न दृश्यावली देखकर उस के भीतर भी उसे ढूँढ़ने का विचार करता और पुनः उस में घुस आया करता। इस बाह्याभ्यान्तर के आवागमन में मैं ने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया आदि चारों अवस्थाओं और जगत् के कार्य कारण के संबन्ध में सभी कुछ ज्ञातव्य विषयों को जान लिया। यद्यपि इन सब दृश्यों को देखने से अनन्त ब्रह्माण्डों के संबन्ध में ज्ञान तो बहुत कुछ हुआ, पर अन्त में अशान्ति भी बनी ही रही। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि वहाँ नाना प्रकार के जगत् को देखने के बाद जब मैं अपने कुटुम्ब के साथ साधारण रूप से रहने लगा और इस तरह मुझे वहाँ लग भग सोलह वर्ष तक उसी को सत्य मानकर सब क्रिया कलाप करता रहा, तब उसी बीच में एक दिन मेरे घर पर एक व्रततपा नाम के ऋषि का आगमन हुआ। मैं ने उन की आदरपूर्वक अभ्यर्थना की, उन का चरण धोकर आचमन लिया और अनेक स्वादिष्ट पदार्थ खिलाकर उन्हें तृप्त किया। भोजन के पश्चात् ऋषि विश्राम करके जब उठे तब मैं ने उन से प्रार्थना की कि हे ऋषिवर, आप के आचरणों को देखकर मैं ने जान लिया है कि आप एक परम बोधवान् महर्षि हैं। अत. कृपा करके आप मुझे ऐसा उपदेश दें जिस से मेरे मन के सब संदेह दूर हो जायँ और मैं परम शान्ति को प्राप्त करूँ।

मेरी प्रार्थना उन्होंने कबूल कर ली और जगत् को मिथ्या तथा ब्रह्म को सत्य सिद्ध करनेवाले अनेक प्रकार के उपदेश देकर मुझे पहले मेरे स्वभाव में स्थित किया। उन के उपदेश से मैं ने अकृत्रिम पद को प्राप्त कर लिया और मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानों उन ऋषि के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने मुझे उपदेश दिया हो और उसी से मेरा ज्ञानोदय हुआ हो। यह ज्ञानोदय वास्तव में स्वप्नावस्था से उठकर एक प्रकार के जागरण को प्राप्त करना था—ऐसा जागरण, जो कभी नष्ट होनेवाला न हो। उन ऋषि के उपदेश से ही मैं ने संसार के मिथ्यात्व को माना। तब मैं ने निश्चय किया कि बन्धन के कारणभूत अपने कुटुम्ब का मुझे त्याग कर देना चाहिए, किंतु फिर मुझे मालूम हुआ कि बन्धन कुटुम्ब से नहीं, बल्कि अविद्या से होता है, अतः उसी को त्यागना जरूरी है। ऐसा निश्चय करके मैं उन ऋषि के समीप बैठ गया और उन से कहा कि हे भगवन्, मैं उस शरीर को एक बार

फिर से देखना चाहता हूँ जिस में मैं ने कई बार प्रवेश किया था। उस के बाद इस शरीर की स्थिति को भी देखूँगा कि इस की वास्तविक स्थिति अर्थात् इस का विराट्-पुरुष कहाँ है।

ऋषि ने हँसकर कहा—हे ब्राह्मण, वह शरीर तो अब बहुत दूर चला गया है, उसे भला अब तुम यहाँ से देख सकते हो? और विराट् पुरुष को तो तुम आप ही जान सकते हो।

मैं ने कहा—ऋषिश्रेष्ठ, फिर भी मैं एक बार चेष्टा करके उस का पता लगाना हो चाहता हूँ। इस लिए मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि आप मुझे जाने की अनुमति दें और जब तक मैं लौटकर आ न जाऊँ तब तक आप यहीं रहें।

ऋषि ने मुझे जाने की आज्ञा दे दी। तब मैं अपने आधिभौतिक शरीर का अभिमान छोड़कर अन्त शरीर से आकाशमार्ग द्वारा उस शरीर का पता लगाने उड़ चला। पता नहीं कि मैं कब तक आकाश में उड़ता रहा। अन्त में जब उड़ता उड़ता थक गया और फिर भी उस शरीर का पता न चला, तो मैं हारकर उग्रतपा ऋषि के पास लौट आया और विनयसहित हाथ जोड़कर उन से कहा कि हे पूर्वापर और भूत भविष्य के जाननेवाले महर्षे! मैं ने आकाश को यथाशक्ति छान मारा, फिर भी न तो उस शरीर का पता लगा, न इस शरीर अथवा सृष्टि के विराट् का ही दर्शन मिला। इस लिए अब आप ही बतलाइए कि वे दोनों कहाँ हैं?

उग्रतपा ने कहा—हे मुनीश्वर, तुम तो स्वयं सब कुछ जानते हो, फिर क्यों नहीं ध्यान करके अपने में ही उन सब का अवलोकन कर लेते? क्यों व्यर्थ ही इधर उधर मारे मारे फिर रहे हो? मैं सत्य कहता हूँ कि यदि तुम ध्यानस्थ होकर देखोगे, तो तुम्हें तुरंत ही सब दिखाई पड़ जायगा। किंतु तुम स्वयं नहीं देखना चाहते और मुझ से ही पूछ रहे हो, तो सुनो; मैं सब ठीक ठीक बतला रहा हूँ।

जिस वन में तुम रहते थे और जहाँ तुम्हारा वह शरीर था उस वन में एक समय बड़ी प्रबल आग लग गई जिस से वहाँ के सब वृक्ष, लता, गुल्म आदि जलकर भस्म हो गये, उस आग की प्रचण्डता से तालाब और नदियाँ तक सूख गईं; फिर वहाँ के पशु, पक्षी, मृग आदि और उस शरीर की तो बात ही क्या पूछनी है? तात्पर्य यह कि उसी अग्निकाण्ड में वह शरीर भी जलकर राख हो गया, और यह तो सिद्ध ही है कि वहाँ पर जो तुम्हारी कुटिया थी वह भी उसी आग में विलीन हो गई।

मैं ने कहा—ऋषिवर, उस अग्निकाण्ड का कारण क्या था? किस की प्रेरणा से उस वन में आग लगी?

ऋषि ने कहा—जिस वन में तुम रहते थे उस जगत् के विराट् के कारण। उस विराट् के शरीर में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण अग्नि पैदा हुई और वहाँ के सब पदार्थ जल

गये। इस सृष्टि के विराट् का नाम ब्रह्मा है, उस ब्रह्मा का विराट् अन्य है और उस का विराट् आत्मा है जो अपने आप में सर्वदा स्थित रहता है। वधिक, मैं तुम से कहाँ तक कहूँ ! उन दयालु महर्षि ने मुझे बहुत कुछ उपदेश देकर मेरे मन में इस बात को भली भाँति बैठा दिया कि यह जगत् स्वप्नमात्र है। बाद में उन्होंने भविष्य में होनेवाली बहुत सी बातें बतलाईं। जिस में एक बात यह थी कि मैं आगे चलकर व्याध का गुरु बनूँगा। मैं ने इस के बारे में कुछ अधिक जानने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने बतलाया कि तुम्हारे देश के लोग भविष्य में अपना धर्म छोड़ देंगे जिस के प्रतिफल में संपूर्ण देश का देश दुर्भिक्ष से पीडित हो उठेगा और अन्त में उस का दुःख यहाँ तक बढ़ जायगा कि कोई भी जीवित नहीं बचेगा; केवल मैं (उग्रतपा) और तुम (मुनि) दो जन बचे रह जायेंगे। इस का कारण यह है कि मुझ में या तुम में सुख दुःख की वासना नहीं है और हम दोनों विदितवेद अर्थात् वेद को जाननेवाले हैं। फिर कुछ समय के बाद सारा संसार फिर से हरा भरा हो जायगा। हम दोनों घोर तप करते रहेंगे। उसी समय एक मृग के पीछे एक व्याध दौड़ता हुआ तुम्हारी कुटी पर आयेगा। तुम उस को उपदेश देकर उस की पापवृत्ति को दूर करोगे। हे वधिक, उन उग्रतपाने ये सब बातें उसी समय कह डालीं थीं जो जो आज मेरे और तुम्हारे बीच में हुई हैं। उन्होंने यह भी कहा था कि मेरी बातों को सुनने के बाद तुम बड़ा उग्र तप करोगे और विशुद्धान्तःकरण होकर सत्य पद को प्राप्त करोगे। सो आज उन की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। तुम मेरे पास आये और मैं ने तुम्हें परमपावन उपदेश दिया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम्हारे मन में विश्रान्ति आई या नहीं ? जहाँ तक अनुमान से तो मैं यही समझ रहा हूँ कि अभी तुम्हें शान्ति नहीं मिली है, क्योंकि अभी तुम्हारे मन में उस सत्य पद की प्राप्ति के प्रति दृढ भावना नहीं हुई है। इस लिए मैं तुम्हें उस पद को प्राप्त करा सकनेवाला सर्वोत्तम उपाय बतला रहा हूँ। उसे पाने का मार्ग यही है कि तुम संतों की संगति करो, सत् शास्त्रों का विचार करो और शास्त्रोक्त उपायों द्वारा उस के लिए स्थिर रूप से अभ्यास करो। बिना इस उपाय के शान्ति नहीं मिल सकती। अतः तुम चित्त को शान्त रखकर अभ्यासबल से अपनी अविद्या को नष्ट करने का अवश्य प्रयत्न करो। इस चित्तशान्ति का नाम चित्त-निर्वाण भी है। यह निर्वाण प्राप्त होने पर अविद्या का अवश्य नाश हो जायगा।

इतनी कथा कहकर भास ने राजा दशरथ से कहा कि हे राजन्, इस के बाद अग्निदेव ने उस व्याध का आगे का वृत्तान्त जो कहा वह संक्षेप में इस प्रकार है—

मुनि के अनेक प्रकार से उपदेश देने पर भी वधिक के मन में वह शान्ति नहीं आई जो उस सदुपदेश से आनी चाहिए थी। शान्ति की जगह उसे और अधिक अशान्ति तंग करने लगी। मुनि ने तो उस का अज्ञान नष्ट करने के लिए आत्मतत्त्व के संबन्ध की बातें कहीं

और तमाम प्रपञ्चों से भरी भगवान् की अनन्त सृष्टि में कर्मानुसार फल पानेवाले जीवों की विपत्ति का वर्णन किया जो वास्तव में अविद्या से अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न होती है; किंतु पूर्व-संचित प्रारब्ध के अनुसार उस उपदेश को सुनकर वह ज़रा भी ज्ञानवान् न हो सका। बल्कि मुनि के वचनों के प्रति उस के मन में घोर संदेह उठ खड़ा हुआ कि क्या सचमुच ही यह सृष्टि अविद्यामूलक है ? यदि हाँ, तो मैं इस का पता लगाऊँगा कि यह कितनी बड़ी है, मैं इस बात को अवश्य देखूँगा कि कहाँ जाकर इस का अन्त हुआ है। इन्हीं सब बातों की चिन्ता में बधिक का चित्त समुद्र की तरह उथल पुथल होने और कुम्हार के चाक की भाँति चक्कर खाने लगा। यहाँ तक कि चित्त की विकलता से उस का एक स्थान पर स्थिर होकर बैठना असंभव हो गया। वह उठकर खड़ा हो गया और मुनि के चारों तरफ़ टहल टहलकर चक्कर लगाने लगा। कुछ देर में जब ज़रा विचारों में स्थिरता आई, तो उस ने मन ही मन यह स्थिर किया कि हाँ, इस अविद्यामूलक सृष्टि का अन्त लगाने के बाद मैं इस बात का अवश्य उद्योग करूँगा कि मुझे आत्मपद प्राप्त हो जाय और मैं चिर शान्ति का अनुभव करूँ। किंतु मुनि ने इस सृष्टि का जितना विस्तृत वर्णन किया है उतनी बड़ी सृष्टि का क्या मैं इस छोटे से शरीर के द्वारा अन्त पा सकूँगा ? नहीं, ऐसा होना नितान्त असंभव मालूम होता है। तब ? तब यही उपाय है कि पहले तप करके ब्रह्मा को प्रसन्न करूँ और उन से वरदान माँगकर अपने शरीर को बड़े से बड़ा तथा अपरिमित शक्ति से युक्त बनाऊँ। यदि यह बात हो जाय, तो निःसंदेह सृष्टि का अन्त लगाया जा सकता है।

मित्रो, यह उस मुनि के उपदेश का ही प्रभाव था कि उस व्याध ने अपने शरीर और धनुष बाण की शक्ति का अभिमान छोड़कर तप के द्वारा दैवबल प्राप्त करने की बात सोची। इसी लिए कहा जाता है कि अच्छे लोग—ऋषि, मुनि, संत, महात्मा—यदि राह चलते भी किसी को दिखलाई पड़ जाते हैं, तो उस की कुछ न कुछ भलाई अवश्य कर देते हैं। अन्यथा यह कब हो सकता था कि जन्म का जीवहिंसक बहेलिया अपने तीर के अचूक निशाने का भरोसा छोड़कर ब्रह्मा विष्णु का भरोसा करने लगे ? बधिक ने धनुष बाण तो पहले ही फेंक दिया था, अब उस ने मन से भी हिंसावृत्ति अर्थात् बधिक का जातिगत धर्म छोड़ दिया और अपनी समस्त कामनाओं को केवल इस एक बात पर केन्द्रित करके कि 'मेरा शरीर बहुत बड़ा हो—इतना बड़ा कि मैं अनायास ही इस समस्त संसार को देख डालूँ और इस का अन्त लगाकर इस के अन्त में स्थित आत्मा का भी दर्शन कर लूँ' उस ने अटल समाधि लगा दी। समाधि की दशा में साधक को जिन नियमों का पालन करना पड़ता है उन सब का उपदेश मुनि ने पहले दे दिया था। इस लिए बधिक को समाधि लगाने में कोई अड़चन नहीं पड़ी और वह निर्विघ्न रूप से एक हज़ार वर्षों तक समाधिस्थ रहकर तपस्या करता रह गया।

एक हजार वर्ष बीत जाने पर उस की समाधि टूट गई। उस ने अनुभव किया कि इस तपस्या से न तो मुझे शान्ति मिली, न ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर वरदान ही दिया। इस असफलता पर व्याध को बड़ा खेद हुआ। वह दुःखित होकर फिर मुनीश्वर के पास लौट आया और शोकपूर्ण स्वर में उन से अपने तप का पूरा हाल सुनाकर उस ने विफलमनोरथ होने का कारण पूछा।

मुनि ने कहा—बधिक, मैं ने पहले नहीं समझा था कि मेरा दिया हुआ उपदेश राख में डाली हुई आहुति के समान बिलकुल व्यर्थ चला जायगा। मैं ने तेरे हृदय में ज्ञानरूपी अग्नि की उपदेशरूपी चिनगारी तो डाली, पर तू ने उस को अभ्यासरूपी पवन से बढ़ाया नहीं। सो अनुपयुक्त होने के कारण वह जहाँ की तहाँ दबी रह गई, प्रज्वलित होकर तेरे हृदय में ज्ञानप्रकाश नहीं फैला सकी। यह कौन नहीं जानता कि बड़ी से बड़ी काष्ठराशि (लकड़ियों के ढेर) में पहले थोड़ी सी—रंचमात्र ही आग डाली जाती है, बाद में हवा के जोर से उस काष्ठराशि भर में वह फैला दी जाती है। लेकिन लकड़ी अगर कुछ कम भी रहे और आग की चिनगारी अपेक्षाकृत बड़ी हो, तो भी अगर हवा की सहायता न दी जाय, तो चिनगारी अपनी शक्ति खो बैठती है और सब लकड़ी ज्यों की त्यों पड़ी रह जाती है। इसी प्रकार मैं ने जो कुछ भी तुझे उपदेश दिया था उसे यदि तू ने निरन्तर अभ्यास के द्वारा अधिकाधिक मात्रा में हृदयंगम किया होता, तो वह दिन दिन वृद्धि को प्राप्त होकर तेरे हृदय को ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण करता और तूँ अविद्या के बन्धन से मुक्त होकर चिरशान्तिदायी आत्मपद प्राप्त करता। किंतु वह तो तुझ से हुआ नहीं; उलटे तूँ और अविवेक बन गया और संसार भर से बड़ी चढ़ी कामनावाला होकर पहले की भाँति क्या, उस से भी बढ़कर अशान्त बन बैठा।

बधिक ने कहा—अच्छा गुरुवर, अब से ही यह बतलाने की कृपा करें कि क्या करने से मुझे शीघ्र शान्ति मिल सकेगी?

मुनि ने कहा—अब मैं तुझे तेरा बहुत कुछ भविष्य बतला देना चाहता हूँ। तुझे शान्ति मिलेगी अवश्य, पर शीघ्र नहीं। अब तो तूँ ने स्वयं सोच सोचकर जितना कर्म संचय कर लिया है उस सब का प्रारब्धफल तुझे भोगना ही पड़ेगा। तूँ अपने चित्त में निश्चय कर चुका है कि इस संसार को अन्त तक देखकर दम लूँगा। इस लिए उस निश्चय को पूर्ण किये बिना तो अब तेरा छुटकारा हो नहीं सकता। अतएव मैं आगे होनेवाली तेरे संबन्ध की सब बातें तुझ से कह देता हूँ। तूँ एक हजार वर्ष पर्यन्त समाहितचित्त होकर जैसा तप कर चुका है उसी से चाहता था कि ब्रह्मा को प्रसन्न करके इच्छित वर पा जाऊँ, किंतु तेरी तपस्या में अभी उतनी शक्ति नहीं आ सकी थी कि वह ब्रह्मा को तेरे पास खींच

जाये। उस के लिए अभी तुझे बहुत समय तक, पहले की अपेक्षा कहीं अधिक तप करना पड़ेगा। तपस्या करते करते जब सौ युग बीत जायेंगे तब तेरी तपस्या से ब्रह्माजी प्रसन्न होंगे और अपने चर अनुचरों के साथ तेरे घर पर आकर तुझे वरदान देंगे। जब वे तुझ से वरदान माँगने के लिए कहेंगे तब तूँ उन से चतुरता सहित कहेगा कि हे प्रभो, मैं ने सुना है, यह संसार अनित्य है, इस में चारों ओर अविद्या भरी हुई है जिस के कारण सूक्ष्म तत्त्व आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो पाता है। यदि अविद्या नष्ट हो जाय, तो आत्मसाक्षात्कार होने में विलम्ब नहीं लगता। सो इस अविद्या को दूर करने के लिए मैं ने यही उपाय सोचा है कि पहले इस जगत् के अन्त का परिचय प्राप्त कर लूँ। उस का अन्त होने पर आत्मतत्त्व स्वयं प्रत्यक्ष हो जायगा। किंतु यह संसार तो बहुत लंबा चौड़ा है; इस छोटे से शरीर से तो इस का अन्त पाना स्वप्न में भी असंभव है। अतः कृपा करके आप मुझे यही वरदान दीजिए कि मेरा शरीर तब तक बराबर प्रति घंटा के हिसाब से एक योजन बड़ा होता जाय जब तक मैं पूरी सृष्टि का अन्त न लगा लूँ। मेरे उस बड़े शरीर में संसार भर से ज्यादा बल, गरुड से भी ज्यादा वेग और सर्वदा के लिए आरोग्यता वर्तमान रहे। उस शरीर को मैं जब तक चाहूँ तब तक धारण किये रहूँ और जब चाहूँ तब छोड़ दूँ, यह शक्ति भी मुझे अवश्य मिलनी चाहिए; क्योंकि न जाने कब उस की गुरुता से मैं थक जाऊँ और वह अपने आप जल्दी प्राणत्याग ही न करे, तो मेरी भारी दुर्दशा हो जायगी। अथवा यह भी तो हो सकता है कि मेरी इच्छाओं के पूर्ण होने के पहले ही वह नष्ट हो जाय। ऐसी दशा में आप के वरदान देने और मेरे तप करने का फल भी अधूरा ही रह जायगा। सो इस लिए भी अपनी मृत्यु को अपने अधीन रखना ही मुझे अधिक उचित प्रतीत होता है। साथ साथ मुझे ऐसी शक्ति मिलनी चाहिए कि सर्वत्र के लिए मेरी अप्रतिहत गति रहे—जब जहाँ जाने की इच्छा करूँ तभी तहाँ पहुँच जाऊँ। मैं चाहता हूँ कि मेरे उस बड़े शरीर की व्यापकता इस ब्रह्माण्ड खर्पर से भी अधिक बड़ा हो और उसे कहीं जाने आने से कोई रोक न सके। हे देव, अधिक क्या कहूँ? बस यही प्रार्थना है कि आप मुझे सब तरह से इस योग्य बना दें कि मैं इस जगत् का अन्त पाकर अन्त में आत्मा का साक्षात्कार कर लूँ।

ब्रह्माजी तुझे ये सब शक्तियाँ प्रदान करके अन्तर्धान हो जायेंगे। इस के बाद एक घड़ी में एक योजन के अनुपात से तेरा शरीर बढ़ने लगेगा, तप के कारण जो दुर्बलता आई रहेगी वह भी उसी क्षण दूर हो जायगी और सूर्य की तरह प्रभा से अन्त में तेरा शरीर चमकने लगेगा। वर देकर अन्तर्धान होने के बाद ब्रह्माजी को ब्रह्मपुरी पहुँचने में जितना समय लगेगा उतनी ही देर के बीच तूँ पर्याप्त शौर्य बल से संपन्न हो जायगा। फिर तो तुझे ये सब ब्रह्माण्ड इस प्रकार उड़ते हुए जान पड़ेंगे जैसे आँधी के समय सूखे हुए तिनके उड़ते नजर आते

हैं। ब्रह्माण्डों की ऐसी हालत देखकर तूँ प्रसन्न होकर आकाश में उछल पड़ेगा और एक ब्रह्माण्ड के बाद एक को खाँघता हुआ अनेकानेक ब्रह्माण्डों को देखने लगेगा। तेरा शरीर तो क्रमश प्रति घटी योजन भर बढ़ता ही रहेगा, अत कुछ समय के बाद तूँ समस्त ब्रह्माण्डों से बड़ा हो जायगा और इन ब्रह्माण्डों के अन्त में स्थित महदाकाश को भी तूँ अपने शरीर से ढक लेगा। परतु यह सब होने पर भी तुझे इन ब्रह्माण्डों के अधिष्ठान उस चिदात्मा का ज्ञान नहीं हो सकेगा। जिस को जानकर ज्ञानवान् लोगों को ज्ञानी की उपाधि मिलती है। कारण, ज्ञानवानों को यह सब सृष्टि (ब्रह्माण्ड) मिथ्या प्रतीत होती है और वह आत्मतत्त्व ही सत्य, और अज्ञानी को जगत् ही सत्य प्रतीत होता है, आत्मतत्त्व कुछ नहीं। सो अज्ञानी होने के कारण तुझे भी उस अधिष्ठान का ज्ञान नहीं हो सकेगा। उस महदाकाश को देखकर भी तूँ उस की महत्ता को अपने महा शरीर के अभिमान में कुछ नहीं गिनेगा, वहाँ भी तूँ यही देखेगा कि मेरा शरीर बड़ा भारी है और मैं बहुत उत्कृष्ट हो गया हूँ, मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता, इत्यादि। किंतु इसी के साथ तेरे तप से उत्पन्न होनेवाला सुन्दर फल वैराग्य भी तुझ में आ जायगा जिस की वजह से तूँ अपने शरीर से एकाएक ऊब उठेगा और उस का निरादर करने लगेगा। यहीं से ज्ञानमार्ग की ओर तेरा झुकाव होने लगेगा, अपनी मूर्खता पर दुःखित होकर तूँ इस सचाई को जानेगा और पछतायगा कि हाय, मैं ने अविद्या के कारण सृष्टि को सीमित करना चाहा—उस की कहाँ समाप्ति है, यह देखने की इच्छा की; ऐसी इच्छा जैसी सृष्टि भर में कदाचित् किसी ने न की हो। उस इच्छा को पूरी करने के लिए मैं ने क्या क्या नहीं किया? लाखों वर्ष तप किया, असंख्य क्लेश सहे। अन्त में ब्रह्माजी वरदान देने आये, तो मूर्खतावश मैं ने माँगा क्या? बड़ा भारी शरीर और बहुत ज्यादा भोजन पचाने की शक्ति। यह सब सृष्टि का अन्त देखने के लिए ही न? उस समय ब्रह्माजी क्या नहीं दे देते? स्वर्ग, वैकुण्ठ, भुक्ति, मुक्ति—चाहे जो वस्तु मैं माँगता, वे अवश्य वही देते। लेकिन सब पदार्थों का परित्याग कर मैं ने केवल सृष्टि का छोर देखने का उपाय किया। अपनी मूर्खता का भार यह शरीर अनेक ब्रह्माण्डों से बड़ा होकर भी सृष्टि का अन्त न पा सका। और अब तो यह शरीर एक भयकर बोझा मालूम हो रहा है। अब समझ में आ गया कि सत्संग और सत् शास्त्रों का मनन किये बिना ज्ञान नहीं हो सकता, ज्ञान हुए बिना अविद्या दूर नहीं हो सकती और अविद्या नष्ट हुए बिना ब्रह्मत्व (परम शान्ति) नहीं मिल सकता।

इस प्रकार सोच विचार कर तूँ ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से प्राणायाम साधकर उस महा भीम शरीर को प्राणरहित कर देगा। असख्य पर्वतों के समूह की भाँति वह विशाल शरीर नीचे गिर पड़ेगा और ब्रह्मा की सृष्टि को चूर चूर कर देगा।

प्यारे प्रभु के प्रेमियो, यह तो सिद्ध ही है कि मुनि की भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई होगी। तदनुसार यह कथा अभी बहुत बड़ी है। आगे भास ने यह सब वृत्तान्त बतलाकर कि किस प्रकार चण्डिका ने उस मुर्दा शरीर का भक्षण किया और फिर से ब्रह्मा ने सृष्टि रची (जैसा कि ऊपर हम कह ही आये हैं) बाद में उन्होंने व्याघ के अगले जन्म का भी हाल बतलाया है कि वह बडा शक्तिशाली राजा हुआ, अपने बाहुबल से समस्त पृथिवीमण्डल का राज्य किया और उस के बाद परम शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है। किंतु उन कथाओं से हमारा विशेष संबन्ध नहीं है। हमें तो यही दिखलाना था कि मरणकाल में जो जैसी भावना रखता है, बाद के जन्म में वह उसी भाव का शरीर धारण करता है। वह बात यहाँ तक के कथावर्णन से ठीक प्रमाणित हो गई। इस लिए भगवान् की यह उक्ति सच ही है कि—

हे अर्जुन, मनुष्य या कोई भी जिस जिस भाव को अपने ध्यान में रखकर अन्त में शरीर को छोडता है, उस भाव से भावित रहने के कारण वह सर्वदा उस भाव को ही प्राप्त होता है। इस विषय में अन्तर कभी नहीं पड़ सकता। इसी भगवद्वाक्य से पुराणों की वे सब कथाएँ सत्य सिद्ध होती हैं जिन्हें सुनकर अविश्वासी लोग संदेह करने लगते हैं कि जब बडे बडे ज्ञानी को मुक्ति नहीं मिलती, तो किसी पापी को किस प्रकार मिल सकती है। जैसे—जडभरतजी एक परम विरक्त ज्ञानी महापुरुष थे। जीवन भर उन्होंने ब्रह्मचिन्तन के अलावे और कुछ नहीं सोचा विचारा, किंतु एक दिन एक हिरन का बचा विचित्र प्रकार से उन के गले पड़ गया। बात यह हुई कि जडभरतजी नदी तट पर जल भरने गये हुए थे। वहाँ हिरनों का झुंड पहले से ही पानी पीने उतरा हुआ था। इतने में उस झुंड पर शेर ने आक्रमण किया। हिरन भाग चले। उन में एक गर्भिणी हिरनी भी थी। उस का बचा जनने का समय करीब आ गया था। इस लिए वह शेर से भयभीत होकर भगी, तो तेज छलांग मारने के कारण पेट में ज्यादा उथल पुथल मच गया और नदीतट पर ही उसे बचा पैदा हो गया। किंतु पशु की जात, अपने प्राणों के सामने नवजात शिशु के प्राणों का मोह न करके वह भाग ही गई। बचा वहीं पड़ा रह गया। संयोग से शेर की दृष्टि उस पर नहीं पड़ी। वह झुंड के पीछे ही दौड़ा चला गया। जड भरतजी का अब कर्तव्य हो गया कि उस बचे की रक्षा करें। वे उसे उठाकर अपने आश्रम पर ले गये और उस की जान बचाने के लिए सब प्रकार की सेवा टहल करने लगे। समय से दूध पिलाना, सुलाना, टहलाना आदि ही उन के प्रधान कर्म हो गये। ब्रह्मचिन्तन एक प्रकार से शिथिल पड गया। इतना ही नहीं; बल्कि उस के ऊपर उन का इतना घना प्रेम हो गया जितना कोई संसारी माया में चारों ओर से जकड़ा हुआ गृहस्थ अपने पुत्र को भी प्यार नहीं कर सकता। अन्त में जडभरत के मरने का

हिरन के प्रेम में ज्ञानी जडभरत

જ્ઞાની જડભરતનો હરણ ઉપર પ્રેમ.

समय आ गया, फिर भी वे उस का प्रेम छोड़कर भगवच्चिन्तन नहीं कर सके और उसी की चिन्ता में उन का शरीर छूट गया। फलस्वरूप उन की जीवन भर की साधना और ज्ञानो-पार्जन किसी काम नहीं आये और मुक्त होने के बदले इन्हें फिर से संसार में जन्म लेना पड़ा; वह भी हिरन की योनि में। यह तो ज्ञानी की विपरीत गति (मुक्ति के बदले भावानुसार भुक्ति मिलना) सिद्ध करनेवाली कथा हुई। अब अज्ञानी की विपरीत गति (कर्मजन्य भोगदण्ड के बदले अन्त समय में भगवान् का नाम लेने से मुक्ति मिलना) सिद्ध करनेवाली कथा भी आप लोग जान लो।

भगवान् रामचन्द्र के मित्र सुग्रीव के भाई बालि का नाम तो आप सभी लोग जानते होंगे। उस ने अनेक अनर्थों और अत्याचारों में ही अपने जीवन का अधिकांश समय नष्ट किया था। परंतु मरणकाल में उस ने भगवान् के कहने पर भी संसार का—अपने शरीर तक का मोह नहीं किया और बार बार राम का नाम ही लेता रहा। इस लिए उस के सब पाप धुल गये और भगवान् को उसे सायुज्य मुक्ति देनी पड़ी। अधिक कहना व्यर्थ है। थोड़े में यही समझ जाइए कि सभी शास्त्र पुराणों का यही निश्चित सिद्धान्त है कि जो जिस भाव को, वस्तु को, प्राणी को अन्त समय में अपने ध्यान में रखता है उसी भाव, वस्तु अथवा प्राणि-शरीर को वह आगे प्राप्त करता है। इस लिए सभी को चाहिए कि अपने मन को सब प्रकार से सर्वदा भगवान् में ही लगाये रखें, किसी संसारी वस्तु में अनुराग न बढ़ायें। संसार में रहकर अपने प्रारब्धानुसार कर्मों को करते हुए भी यदि ऐसा कर सके, तो निश्चित बात है कि मृत्युकाल में भी आप भगवान् को अवश्य ध्यानस्थित रख सकोगे और आनन्द के साथ संसार-सागर को तार जाओगे। यही करने की प्रेरणा भगवान् आगे के श्लोक में अर्जुन को दे रहे हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयः॥ ७॥

इस लिए (हे अर्जुन, तूँ) हर समय मुझ को स्मरण कर और युद्ध कर। मुझ में मन बुद्धि को समर्पित करके निःसंदेह मुझे ही प्राप्त करेगा।

गी० गौ०—हे अर्जुन, अन्त समय की भावना ही आगे की उन्नति अवनति का कारण है। इस लिए तूँ हर घड़ी मेरा स्मरण, भजन, ध्यान, वन्दन आदि भी करता रह और साथ साथ अपना स्वधर्मभूत क्षत्रियोचित युद्धरूप कर्म भी किये चल। मैं तुझ से निश्चय कहे देता हूँ कि यदि तूँ अपने मन और बुद्धि को मुझ में लगाये रखेगा, तो परिणाम में मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करेगा।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, आठवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने जो सात प्रश्न किये उन में से इस प्रश्न का कि 'प्रयाणकाल में आप को नियतात्मा लोग किस प्रकार जानते हैं ?' उत्तर तो भगवान् ने यहाँ दिया ही है, साथ साथ आप लोगों को यह भी याद रखना चाहिए कि अर्जुन ने पहले अध्याय में जो जो शङ्काएँ की थीं उन का भी उत्तर भगवान् इन सब अध्यायों में दे रहे हैं। तदनुसार इस श्लोक में भगवान् उस शङ्का का भी समाधान कर रहे हैं जो अर्जुन ने पहले अध्याय के चौआलीसवें श्लोक में की थी। यथा—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

अर्थात् हे जनार्दन, मैं ने सुना है कि जिन मनुष्यों के कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं उन का अवश्यमेव नरक में वास होता है। सो भगवान् यहाँ पर अर्जुन को सान्त्वना दे रहे हैं कि तूँ युद्ध करने में किसी तरह के पाप का भय मत कर, क्योंकि युद्ध करता हुआ भी तूँ यदि मन और बुद्धि से मेरा भजन करता रहेगा, और सब चिन्ताओं में न पड़कर मेरा ध्यान बराबर बनाये रखेगा, तो तुझे या तेरे कुल को नरक नहीं होगा; बल्कि इस प्रकार अपने कर्म का पालन करने से तुझे पुण्य ही होगा और मेरा स्मरण तो तुझे मुझ में लीन कर ही देगा।

भगवान् के इस उपदेश से यह संदेह अपने आप दूर हो जाता है कि भगवान् को पाने के लिए घरबार छोड़कर, हाथ में माला लेकर जंगल में वास करना ही जरूरी नहीं है। भगवान् अर्जुन को लक्ष्य करके समस्त संसार को इस श्लोक के द्वारा यही उपदेश दे रहे हैं कि अपने अपने वर्ण, आश्रम, कुल, संप्रदाय और जाति अथवा व्यक्ति के धर्म के अनुसार जिस के लिए जो कर्तव्य कर्म निश्चित हो गया हो उसे दृढ़ता के साथ उसी धर्म कर्म का पालन करना चाहिए। हाँ, यह ध्यान अवश्य बना रहे कि मन और बुद्धि भी उन कर्मों या कर्मों के फलों में न लग जायँ, प्रत्युत ये दोनों सर्वदा भगवान् में मग्न रहें। जिस प्रकार एक हाथ में फोडा हो जाने पर मनुष्य दूसरे हाथ से अपने आवश्यक कर्मों को पूरा करता हुआ भी मन से यह नहीं भूल पाता कि मेरे एक हाथ में फोड़ा है, दर्द कर रहा है, उसे इधर उधर की चोट और ठोकर आदि से बचाते रहना चाहिए, इत्यादि; उसी प्रकार अपने लिए जो कर्म प्राप्त हो गया हो उसे भली भाँति संपादित करते हुए भी मन की गति को सर्वदा भगवान् की ओर ही लगाये रखना चाहिए। वे एक पल के लिए भी विस्मृत न होने पायें।

हम ने ऐसे लोगों को भी देखा है कि खूब लंबा तिलक लगा लेते हैं, लंबी चोटी अथवा दाढ़ी रख लेते हैं, मुँह से उच्च स्वर में 'राम राम' या 'कृष्ण कृष्ण' चिल्लाया करते हैं और काम ऐसे ऐसे घृणित करते तथा मन में इतना कपट रखते हैं कि घृणा भी शायद उन से घृणा ही करती होगी। और उन से यदि कोई कहता है कि ऐसा दिखलौआ, कपटपूर्ण

व्यवहार क्यों करते हो, तो दावे के साथ कह बैठते हैं कि वाह, इस में कपट कैसा ? भगवान् ने तो अपने नाम का यहाँ तक माहात्म्य बतलाया है कि उस की ओट में मनुष्य अपने बाप दादों की हत्या तक यदि कर डाले, तो भी उसे कोई पाप नहीं लगेगा; बल्कि वह भगवान् का नाम लेकर अगर ऐसा करेगा, तो उसे भगवान् अपने समीप बसा लेंगे। परंतु कहना अनावश्यक है कि ऐसा अर्थ लगानेवाले घोर नरक में ही जायेंगे। कारण, भगवान् केवल ऊपरी मन से अर्थात् मुहँ भर से नाम लेनेवाले के लिए यह नहीं कहा है कि तुम जो चाहे करते रहो, किंतु उन का कहना उस के लिए है जो पूरे मनोयोग और बुद्धियोग के साथ भगवान् को अपने अन्तःकरण में स्मरण करता हुआ अपने संसारनिर्वाहार्थ कर्मों का करनेवाला है। संक्षेप में यह कि भगवान् मुँहमात्र से रामभजन करने का नहीं, अपि तु हृदय से परमात्मा का स्मरण करने का उपदेश दे रहे हैं। इस लिए अर्थ का अनर्थ करनेवाले दुराचारियों की बातों पर बुद्धिमान् को कभी नहीं भूलना चाहिए और स्थिर बुद्धि से युक्तिपूर्वक सोचविचारकर किसी भी भगवद्वाक्य का मर्म समझने की चेष्टा करनी चाहिए। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, तूँ युद्ध कर और मेरा स्मरण भी करता रह। यदि मुझ में मन बुद्धि को अर्पित किये रहेगा, तो युद्ध करके भी तूँ मुझ को ही प्राप्त होगा, इस में जरा भी संदेह नहीं है, तो इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन्, आप के रूप तो अनेक प्रकार के हैं, अतः यह मैं कैसे जानूँ कि आप के कौन से रूप का स्मरण करता हुआ मैं युद्ध करता रहूँ ? साथ साथ यह भी एक प्रश्न है कि एक ही समय में युद्ध और आप का स्मरण—ये दो कार्य कैसे किये जा सकते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया कि कोई मुश्किल काम नहीं है, अभ्यास के द्वारा कोई भी कठिन से कठिन कार्य सहल से सहल बनाया जा सकता है। क्योंकि—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ, अभ्यासरूप योग में लगे हुए, अन्यत्र कहीं न जानेवाले चित्त से ध्यान करता हुआ (मनुष्य) परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो मनुष्य निरन्तर के अभ्यास द्वारा चित्त को अपने वश में करके उसे परमात्मा में ही लगाये रखता है, उसे इधर उधर कहीं भटकने नहीं देता, वह मनुष्य अपने ध्यानयोग के प्रभाव से उस परम दिव्य पुरुष को

अन्त में प्राप्त करता ही है। तात्पर्य यह कि अन्य अन्य सांसारिक कर्मों का करनेवाला मनुष्य भी अभ्यास की सहायता से अपने चित्त को ऐसा बना सकता है कि वह एक ही समय में युद्ध आदि के रूप में उपस्थित अपना स्वकर्मपालन भी करता रह सकता है और साथ साथ परमात्मा का ध्यान करता हुआ उस सच्चिदानन्द परमात्मा को भी प्राप्त कर सकता है।

क० म०—प्यारे भाइयो, लोग कहते हैं कि मैं चाहता तो हूँ कि सब तरह के कामों के साथ साथ भगवान् का भजन भी किया करूँ, पर जब काम में मन लग जाता है तब भगवान् की याद ही भूल जाती है। उस समय केवल यही एक विचार और सब प्रकार के विचारों को दबा रखता है कि किस प्रकार हाथ में लिया हुआ काम ठीक ठीक, पूरा और खरा उतरे। किंतु ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि जिस काम को तुम पूरा उतारना चाहते हो और उस के द्वारा मालिक को प्रसन्न करके इष्टफल का लाभ करना चाहते हो वह काम करना क्या तुम्हें जन्म के पहले से ही मालूम था? यदि हाँ, जैसा (जो होना आश्चर्य है) तब तो कोई हुज्जत नहीं है, किंतु यदि 'नहीं' उस का उत्तर है, तो उस काम को जब कभी तुम सीख रहे थे, वह काम करने का अभ्यास कर रहे थे उस समय भी क्या अपने आप तुम्हारा ध्यान बराबर उस काम में लग जाता था? विवश होकर ऐसे लोगों को मानना पड़ेगा कि नहीं, उस समय मेरा मन दौड़ दौड़कर उन पुरानी बातों की ओर ही अधिक जाया करता था जिन का कि लड़कपन में अपने आप ही अभ्यास पड़ गया था अर्थात् संसारनिर्वाहोपयोगी काम करने के पहले बाल्यावस्था में जो खेल कूद सीखे गये थे उन्हीं में मन दौड़ता रहता था, किंतु धीरे धीरे उधर से मन को हटाने का अभ्यास करके सासांरिक कार्यज्ञान मैं ने सीखा है। गर्ज़ यह कि बी० ए०, एम० ए०, इंजिनियरिंग या कोई भी कला कौशल की परीक्षा तभी पास की जा सकती है जब उस का कोर्स तैयार हो, परीक्षाग्रन्थ अच्छी तरह अभ्यस्त हों। और यह प्रत्येक साक्षर जानता है कि बिना मन को स्थिर किये एक शब्द का भी ज्ञान होना असंभव है, बड़े बड़े साहित्यिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, धार्मिक सद्ग्रन्थों और शास्त्रों की तो बात ही निराली है—उन का इत्थंभूत (ठीक ठीक) अर्थ लगाने में अच्छे अच्छे विद्वान् परेशान हो जाते हैं। किंतु अभ्यास करने से—चित्त को स्थिर रखकर बार बार उन ग्रन्थों का चिन्तन मनन करने से कठिनतम ग्रन्थ भी सरल होकर हृदय में धारित हो जाते हैं और तब परीक्षा देनेवाले को कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। आसानी से अभ्यासी विद्यार्थी परीक्षा के प्रश्नों को हल कर देते हैं और उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाते हैं। सो इसी प्रकार चित्त को एकाग्र करके परमात्मा को ध्यानस्थित करने का अभ्यास करनेवाला योगी भी बार बार प्रयत्न करता हुआ अपने उद्योग में सफल हो ही जाता है। फिर जिस प्रकार खाना पीना, सोना जागना, मित्रों से भेंट मुलाकात

करना, फुटबाल और क्रिकेट आदि के मैच में शामिल होना तथा वहाँ भी बाजी मार लेना वगैरह व्यवहारिक सभी काम किसी भी परिश्रमी विद्यार्थी को विक्षेपकारी नहीं होते—इन सब व्यवहारों में पूरा पूरा बर्तता हुआ भी वह परीक्षा में भी पास हो ही जाता है—ऐसा नहीं होता कि इन खेल तमाशों में शामिल होने के कारण उस का अभ्यस्त कोर्स विस्मृत हो जाय, इसी प्रकार परमात्मा को ध्यान में रखे रहने का अभ्यास करनेवाला भी अपने लोकनिर्वाहकारी समस्त कार्यों को करता हुआ भी बराबर परमात्मा को हृदय में धारण रखने में समर्थ हो जाता है, कोई भी कार्य करता हुआ वह मन और बुद्धि को भगवान् में ही अर्पित किये रहता है। इस का परिणाम भी जैसा चाहिए वैसा ही मिलता है—अभ्यासयोगी एकाग्रचेता पुरुष जब तक संसार में रहता है तब तक सब प्रकार से सुखी, संपन्न, स्वयं आनन्दी बना रहता है और अपने आनन्द से पार्श्ववर्तियों को भी आनन्दित करता हुआ अन्त में परमधाम को प्राप्त हो जाता है। अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, इधर उधर भटकने से निवृत्त हुए और अभ्यासयोग से युक्त चित्त से परमात्मा का चिन्तन करनेवाला मनुष्य परम दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे प्रभो, उन परम दिव्य पुरुष की पहचान क्या है और किस रूप में उन का चिन्तन करने से उन की प्राप्ति होती है?

इस का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०

जो (पुरुष) सर्वज्ञ, पुरातन, शासक, छोटे से भी छोटे, सब को धारण करनेवाले, चिन्ता से भी परे, सूर्य के समान तेज वर्णवाले, अन्धकार से अतीत दिव्य पुरुष) का मरने के समय में भक्ति और योगबल से युक्त होकर, दोनों भौंहों के बीच में अच्छी तरह से प्राण को प्रविष्ट करके अचल मन से ठीक ठीक स्मरण करता है वह उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिस पुरुष की यह इच्छा हो कि मैं सानन्द संसार-सागर को पार करके परमात्मा के धाम को चला जाऊँ और उन्हें प्राप्त कर लूँ उस के लिए कर्तव्य कर्म यही है कि वह भूत, भविष्य, वर्तमान आदि सब कालों के ज्ञाता—सर्वज्ञ, अतिशय पुरातन अर्थात् प्राचीनतर, सब के नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप में स्थिति रखनेवाले, समस्त विश्व को धारण करनेवाले, किसी की भी चिन्ता के विषय न होनेवाले, सूर्यनारायण की तरह अत्युत्कृष्ट तेज को धारण करनेवाले और अज्ञानरूपी अन्धकार से परे रहनेवाले, दिव्यरूपधर, परम पुरुष का निरन्तर ध्यान करे। उन का ध्यान करने की विधि यह है कि सर्वदा उन की भक्ति में लीन रहे, मरण काल की घोर संकटापन्न दशा उपस्थित हो, तो भी उन्हें न भूले, अपने अन्तःकरण और बुद्धि को योग के बल से सुदृढ बनाये रहे, प्राणवायु को दोनों भौंहों के बीच में टिका दे और स्थिर मन से उस परमात्मा का स्मरण करता रहे। ऐसा करनेवाला निःसंदेह उस परम दिव्यस्वरूपधारी पुरुषोत्तम को प्राप्त कर लेता है।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, यहाँ पर 'कवि' 'पुराण' आदि शब्द भगवान् के विशेषण में प्रयुक्त हुए हैं। इस लिए यहाँ कवि का अर्थ सर्वज्ञ ही करना उचित है, सीधे टेढ़े छन्दों की रचना करनेवाले आजकल के या पुराने कविगण का बोध इस शब्द से कदापि नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार पुराण शब्द से भी व्यासजी के रचे हुए अठारह पुराण और उपपुराण न लेकर अनन्त सृष्टि से भी पुराने परमात्मा का ही अर्थ लगाना चाहिए। सब के धाता और अनुशासक से भी वे ही लक्षित होते हैं, आजकल के, प्रजा की धन संपत्ति के शोषक, सम्राट् के लिए गीता में ये शब्द नहीं आये हैं। ये शासक लोग तो स्वयं सब के सिर पर सब दिन सवार रहते हैं, और इन के सामने पड़ने से तो सब लोग बचने की ही कोशिश करते हैं। फिर भला इन के ध्यान से कोई किस उत्तम फलप्राप्ति की आशा कर सकता है? ये शासक लोग न सर्वज्ञ होते हैं, न एक साथ सब की कोई प्रार्थना सुन सकते हैं। सब की भी जाने दो, दो चार की भी एक साथ अगर इन के दर्बार में अर्जी किसी क़िस्म की पहुँच जाय तो ये घबड़ा उठते हैं और बिगड़कर—खीजकर—न्याय के बदले अन्याय करने पर उतारू हो जाते हैं। किंतु वह सब का शासक परमेश्वर सर्वदा, सब की, सब समय सुनने के लिए तैयार रहता है, सुनता है और प्रसन्न होकर सुन्दर न्याय कर देता है। इसी परमेश्वर जगन्नियन्ता के लिए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि उस परमेश्वर को मरने के समय में भी हर्गिज मत विस्मृत करो। उस परमेश्वर के समीप तो इस लोक के राजा या रंक सभी बराबर हैं। तभी तो यहाँ प्रत्यक्ष देखने में भी आता है कि जिस रोग से कोई दरिद्र दुःख पा रहा है उसी रोग से बड़े से बड़ा राजा भी दुखित होकर रो रहा है। वह परमेश्वर जैसा सब कुछ

करने में समर्थ है वैसा ही कठिन उपाय से जानने योग्य भी है। उसे जानने के लिए मन को चञ्चलतारहित, हृदय को योगबल के द्वारा दृढ और भक्ति से युक्त बनाना पड़ता है तथा प्राणवायु की गति को नियमित रूप से दोनों भौंहों के बीच में रखकर ठीक ठीक विधि से ध्यान करना पड़ता है। तभी वह परम दिव्य पुरुष ध्यान में टिकता है और ध्याता को अपना सामीप्य प्रदान करता है, अन्यथा कोई कुछ नहीं कर सकता, न पा सकता है। वह परमात्मा आदित्य अर्थात् सूर्य के समान चमकीले वर्णवाला है, इस कथन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार सूर्य को ध्यान में टिकाने के पहले यह आवश्यक है धीरे धीरे इन्हें देखने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए, बिना अभ्यास किये उन को ध्यान में रखना तो क्या, उन की ओर एक बार देखने से भी आँखें चौंधिया उठती हैं, उसी प्रकार परमात्मा को भी यदि अपने ध्यान का विषय बनाना चाहते हो, तो पहले अपने ज्ञानचक्षु को इस योग्य बनाओ कि उस में उस दिव्य पुरुष की सूर्य के समान चमकीली आकृति प्रतिबिम्बित हो सके। ज्ञाननेत्र उस के रूप को धारण करने के लायक बनें। अस्तु;

इन्हीं भावों को अर्जुन के हृदय में बैठाने के लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो पुरुष उस सर्वज्ञ पुरातन, सब का नियन्त्रण करनेवाले, छोटे से छोटे, सृष्टिमात्र को धारण करने वाले, चिन्ता के विषय से रहित, सूर्य के समान चमकीले, अन्धकार से परे रहनेवाले दिव्य पुरुष को मरने के समय में भी अचल मन से भक्तियुक्त और योगबल से युक्त होकर तथा दोनों भौंहों के बीच में भली भाँति प्राण को रोककर याद करता है वही उस को प्राप्त कर पाता है।

यह कठिन उपाय सुनकर अर्जुन बड़े चक्कर में पड़ गया और फिर भगवान् से उसे पूछना पड़ा कि हे महाराज, यह उपाय तो ऐसा नहीं है जो सर्वसाधारण के करने योग्य हो। इस लिए मेरी प्रार्थना है कि आप कोई ऐसा उपाय बतलायें जो सब से सध सके।

भगवान् ने कहा—अच्छी बात है अर्जुन, अब मैं तेरी इच्छा के अनुकूल ही तुझे उपाय बतलाऊँगा और—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

वेदवेत्ता लोग जिस को अक्षर कहते हैं, विगतराग योगी लोग जिस में प्रविष्ट होते हैं, जिस को चाहते हुए (साधक लोग) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस पद को (मैं) तुझ से संक्षेप में कहूँगा।

गी० गौ०—हे अर्जुन, वेद को जाननेवाले विद्वान् लोग जिस ब्रह्म को अक्षर अर्थात् अविनाशी—कभी नष्ट न होनेवाला—कहकर वर्णन किया करते हैं, जिन का राग वस्तुतः नष्ट हो गया है, ऐसे विरागी लोग जिस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं और जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा रखकर साधना करनेवाले भक्त लोग कठिन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं उस परम पद का ज्ञान मैं थोडे में, अत्यन्त सहज रीति से समझाकर तुझे कराऊँगा।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, यह स्वाभाविक बात है कि कोई भी अधिकार रखनेवाला व्यक्ति अपने अधिकार में रहनेवालों को पहले समझ लेता है कि किसे किस प्रकार का खाना कपडा, रहन सहन उपयुक्त पडेगा, कैसा उपदेश गुणकारी सिद्ध होगा और कैसा आचरण प्रकृति के अनुकूल पड़ेगा। बाद में उसी के अनुसार वह जिस जिस योग्य समझता है उसे उसी प्रकार का भोजन वस्त्र, घर बार, शिक्षा दीक्षा देकर सुयोग्य बनाता है। यदि ऐसा न किया जाय और बिना जाने समझे भिन्न भिन्न गुण, प्रकृति, जाति, स्वभाव आदि के लोगों को मनमाने ढंग से एक ही प्रकार का भोजन वस्त्र, शिक्षा दीक्षा देने की चेष्टा की जाय तो स्पष्ट सिद्ध है कि वैसा करनेवाला स्वप्न में भी कोई सुफल नहीं उपार्जित कर सकता, बल्कि उसे अधिक परिमाण में दुष्फल ही मिलेंगे—पहले तो ऐसा करने से यही बहुत संभव है कि प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थसेवन और बुद्धि के विरुद्ध शिक्षाग्रहण की चेष्टा से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जायँगी तथा अधिकार रखनेवाले और अधिकार में रहनेवाले दोनों समुदायों में विकलता फैल जायगी, और कुछ देर के लिए मान लें कि ऐसी कोई बात न भी हो, तो भी यह तो निश्चित ही है कि ऐसी दशा में अधिकार में रहनेवाले लोग अपनी उचित पर्वाह न रखने के कारण अधिकार रखनेवाले को अयोग्य कहकर उस के सहवास से अलग हो जायँगे। परन्तु यह सब वहीं संभव हो सकता है कि जहाँ केवल स्वार्थियों का गरोह एकत्रित हो। भगवान् और अर्जुन के मध्य तो इस तरह के बर्ताव की कल्पना तक नहीं हो सकती। अतएव भगवान् अर्जुन को जो ज्ञान देना चाहते हैं उस के विषय में पहले ही उत्साहित कर देना चाहते हैं कि यदि आगे कही जानेवाली बात पहले से न जानने के कारण अर्जुन को कुछ क्लिष्ट भी मालूम पड़नेवाली हो, तो वह पहले से उस की उपादेयता और महत्ता को जानकर उस में कुछ विशेष प्रेम पैदा कर ले और ध्यानपूर्वक पूरी पूरी बात सुन ले।

इस के अतिरिक्त एक बात और है। वह यह कि भगवान् अर्जुन को यह बतला देना चाहते हैं कि हे अर्जुन, अब तूँ काफी बड़ा हो चुका है, तेरी अवस्था अब न तो इस लायक है कि तूँ शुरू से आखिर तक सब वेदों का अभ्यास करके अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर ले, न इसी योग्य है कि सब व्यापारों को समेटकर वैरागी बने और ब्रह्म में प्रवेश करे। और ब्रह्मचर्य

की तो अब चर्चा ही क्या हो सकती है जब कि तेरे अनेकों विवाह और पुत्र आदि हो गये हैं। अतः ब्रह्मचर्य के जरिये तो उस ब्रह्म को जानना तेरे लिए नितान्त असम्भव है ही। फिर भी तूँ निराश मत हो। यह चिन्ता तूँ छोड़ दे कि मैं इन सभी मार्गों के अयोग्य हूँ, अतः मुझे उस विषय का ज्ञान नहीं हो सकेगा। कारण, मैं ऐसा उपाय जानता हूँ कि यह सब क्षमता न रखने पर भी तूँ उस परम पद के विषय में पूरी जानकारी पा जायगा, और वह भी बहुत थोड़े में पा जायगा। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, वेद के जानकार जिस को अक्षर कहते हैं, राग रहित यतिगण जिस में प्रवेश करते और साधक जिस को जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं वह पद संक्षेपतः मैं तुझ से कहूँगा, तब अर्जुन ने हाथ जोड़कर प्रसन्नता पूर्वक कहा—बड़े हर्ष की बात है प्रभो, आप ने मेरी प्रार्थना सुन ली, यह मेरा परम सौभाग्य है। इस लिए अब अविलम्ब आप वह सरल और संक्षिप्त उपाय बतलाने की कृपा करें कि उसे सुनकर मैं कृतार्थ होऊँ।

भगवान् ने भी थोड़ा हँसते हुए यों कहना शुरू किया कि—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

(इन्द्रियों के) दरवाजों को संयमित करके, मन को हृदय में रोककर, अपने प्राण को मस्तक में टिकाकर, योग की धारणा में अच्छी तरह स्थित होकर, ॐ इस एक अक्षररूपी ब्रह्म का उच्चारण और मुझ को स्मरण करता हुआ जो (पुरुष) शरीर को छोड़कर जाता है वह परम गति को जाता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, कान नाक आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय अर्थात् विषयों को ग्रहण करनेवाली जो दसों इन्द्रियाँ हैं उन के रास्तों को बंद कर देना चाहिए, मन को इधर उधर भटकने से रोककर हृदयकमल में निश्चित रूप से स्थिर कर देना चाहिए, अपने प्राणों को गतिहीन सा करके उसे वशीकृत मन की सहायता से हृदय के ऊपर की ओर जानेवाली नाड़ी से होकर

ऊपर चढावे और इस प्रकार उसे मस्तक के मध्य में स्थिर कर देना चाहिए। इस के बाद योगधारणा को धारण करने की प्रवृत्ति रखनेवाले साधक को चाहिए कि 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्म का बार बार उच्चारण करता हुआ उस ॐ के अर्थस्वरूप मुझ परमेश्वर का चिन्तन करे। कारण, ऐसी सर्वाङ्गपूर्ण विधि से स्मरण करके जो कोई भी देह को छोड़ता अर्थात् कलेवर बदलता है वह शरीर छूटने के बाद परम गतिरूप मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, पीछे के अध्यायों में अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है, कि जिस प्रकार किसी घर को साफ सुथरा रखने के लिए रोशनी और हवा आने जाने के लिए इंजीनियर लोग उस में चारों ओर खिड़के और दरवाजे बना दिया करते हैं उसी प्रकार इस शरीर रूपी घर को बनानेवाले इंजीनियर (भगवान्) ने इसे स्वस्थ, प्रगतिशील और चलता पुर्जा रखने के लिए इस में इन्द्रियरूपी दस दरवाजे लगा दिये हैं। किंतु यह कितने अफसोस की बात है कि एक संसारी इंजीनियर के बनाये घर का मालिक तो जब घर संबन्धी सब काम काज कर चुकता है—घर से बाहर जाने आने का प्रयोजन नहीं रह जाता—सोने या किसी अवधि तक विश्राम करने का समय आ जाता है, तो अपने घर के सब दरवाजों को सावधानी के साथ बंद कर देता है, ताकि मुझे असावधान पाकर कोई चोर चमार मेरे घर में न घुस आये और सब सामानों को न चुरा ले जाये, लेकिन भगवान् के बनाये घर (शरीर) के मालिक (हम = आत्मा) इस प्रकार की सावधानी को बिल्कुल अनावश्यक मान बैठते हैं, उस के दरवाजों (इन्द्रियों) को दिन रात खुला रख छोड़ते हैं। भाइयो, विचारो तो सही कि आखिर ऐसी असावधानी का कारण क्या है? इस का कारण यही है कि इस शरीररूपी घर को कोई यह नहीं समझता कि इस में कुछ चुराने की वस्तु रखी होगी, और ईंट पत्थर के घरों पर इस लिए सतर्क दृष्टि रखता है कि उस की समझ में उस घर में उस के ही जीवननिर्वाह की नहीं, बल्कि उस के पुत्र पौत्र तक के जीवननिर्वाह की सामग्री–रुपया पैसा, सोना अशर्फी, हीरा मोती, मणि माणिक्य आदि भरे पडे होते हैं। परन्तु यह समझ बड़ी ही मूर्खतापूर्ण है। अरे, जब कि एक अल्पबुद्धि मनुष्य के बनाये घर में चोरी करने के योग्य सामान भरे पड़े हो सकते हैं, तो भला यह कब संभव हो सकता है कि उस महा बुद्धिमान् ईश्वर के निर्माण किये घर (शरीर) में चुराने लायक कोई वस्तु न हो? इस में भी ऐसी ऐसी चीजें भरी रखी हैं जिन का मूल्य रुपये पैसे और चाँदी सोने से कई लाख गुना अधिक है। वे चीजें हैं ज्ञान, वैराग्य, सत्य, शील, दया आदि आदि। कोई कह सकता है कि धन संपत्ति तो चल पदार्थ हैं, इस लिए उन को दूसरा कोई (जो वस्तुतः उन वस्तुओं का मालिक न होकर भी अनुचित रीति से मालिक बनने की इच्छा रखता है) चुराकर अपने कब्जे में कर सकता है, पर ज्ञान

वैराग्य आदि तो वैसी वस्तु नहीं हैं, फिर इन्हें कोई चुरा ही कैसे सकता है ? इस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार मनुष्यों द्वारा संग्रहीत चल वस्तुओं के चुरानेवाले चोर चल प्रकृति के मनुष्य होते हैं उसी प्रकार इन अचल या अज्ञेय वस्तुओं के चुरानेवाले चोर भी अचल अथ च अज्ञेय ही होते हैं। इन चोरों के नाम भी आप लोगों को कई बार बताये जा चुके हैं। उन के नाम हैं—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि आदि। तो इन अज्ञेय और दुर्निवार चोरों से उन अमूल्य रत्न ज्ञान वैराग्य आदि को सुरक्षित रखने के लिए यह परम आवश्यक है कि ईंट पत्थल के घरों के दरवाजों की भाँति इस घर के भी दरवाजों को सावधानी के साथ, सतर्कतापूर्वक बंद करके रखो, अन्यथा काम, क्रोध आदि जबरदस्त चोर इस घर में जब घुस जायेंगे, तो तुम्हारा किया कुछ नहीं हो सकेगा। इस प्रकार बाहरी रास्तों को सुरक्षित रखने का उपदेश देकर आगे बतलाया है कि मन को रोको। इस का तात्पर्य यही है कि कोई गृहस्थ यदि एक तरफ अपने घर के दरवाजों को बंद करके भी दूसरी तरफ अपने ढीठ लडके को घर में नहीं बैठा पाता, तो उस की सब कार्रवाई भी व्यर्थ ही है; क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि जब मकानमालिक का लड़का ही उस के बंद किये दरवाजों को खोल देगा, तो उसका बंद करना या न करना दोनों बराबर ही है। सो उसी तरह इस शरीररूपी घर के दरवाजों को बंद करना भी उस हालत में व्यर्थ ही सिद्ध होगा यदि मन महाराज स्वतन्त्र रूप से उन रास्तों का उपयोग करते रहेंगे। इसी लिए इन्द्रियों के दरवाजों को बंद करने के बाद मन को हृदय के भीतर रोक रखने के लिए कहा गया। किसी का ढीठ लड़का तभी कहने में आता है जब उसे लालच देकर, फुसलाकर, हार्दिक प्रेम दिखलाकर मुलायमियत से वश में करने की चेष्टा की जाती है। अगर ऐसा न करे और हठ से उसे वश में करना चाहे, तो फल उलटा ही होता है, लड़का और ज्यादा ढिठाई करने पर उतारू हो जाता है। ऐसे ही मन को भी प्रेमसहित समझाने की जरूरत है और इसी लिए उसे शरीर के सब से बड़े कोमल उत्तम और प्रिय स्थान हृदय में स्थिर करने की बात भगवान् ने कही है। इस के बाद प्राणों का दर्जा आया अर्थात् यह सब कुछ करने पर भी प्राणवायु अगर अपने इच्छानुसार आती जाती रहेगी, तो उस के संसर्ग से हृदयस्थित मन भी चञ्चल हो उठेगा, क्योंकि मन और हृदय के समीप से होकर ही उस के आने जाने का मार्ग बना हुआ है। अतएव भगवान् ने कहा कि अपने प्राणों को नीचे हृदयप्रदेश में न जाने देकर ऊपर ब्रह्माण्ड (मस्तक) में चढ़ा दो। अब यह प्रश्न न उठे कि इतना सब प्रपञ्च किया किस लिए जाय, इसी से कहा कि योगधारणा में स्थित होने अर्थात् योगधारणा को धारण करने के लिए यह सब प्रयत्न करो। योगधारणा में स्थित होने के बाद भी बेकार बैठे रहने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि बेकारी से ऊबकर कदाचित् भीतर की सब शृङ्खलाएँ अस्त व्यस्त न हो जायें, ऐसा भय है। इसी लिए कहा गया कि यह सब साधन

कर चुकने पर मुख से 'ॐ' इस एक अक्षर में विराजमान् ब्रह्म की अनाहत ध्वनि करते रहो, मुँह से सर्वदा ॐ का उच्चारण करो। ॐ यह एक ही अक्षर सब प्रकार के सामर्थ्य से परिपूर्ण है। संसार में या संसार के बाहर अन्य सभी लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इस ॐ की सर्वव्यापक शक्ति के अन्तर्गत न हो। ॐ का उच्चारण करते रहने से मोक्षार्थी जीव को सुगति होती है, कामनाओं के दास को कामनाएँ पूरी होती हैं। कोई ऐसा सम्प्रदाय नहीं जो ॐ के महत्त्व को स्वीकार न करता हो। वेद की ऋचाओं में सब से पहला अक्षर ॐकार ही होता है। ॐकार के महत्त्व को यदि यों न समझ सको, तो पूजा पाठ आदि करने के समय जब कभी तुम्हारा मन चञ्चल होकर इधर उधर दौड़ने लगे उस समय तुम सब ओर से ध्यान हटाकर कुछ देर केवल इसी एक अक्षर का उच्चारण करके देख लो कि तुम्हारे मन की चञ्चलता कितनी शीघ्रता से दूर होकर स्थिरता आ जाती है। योगदर्शनकार ने इस ॐ के महत्त्ववर्णन में अध्याय के अध्याय लिख दिये हैं। वह सब यहाँ बतलाने का न तो अवसर है, न कोई आवश्यकता ही। यहाँ तो इतना ही समझ लो कि ॐकार परमपिता परमेश्वर का एक नाम है। जिस का अनवरत उच्चारण करने से ध्यानभङ्ग होने का भय नहीं रहता और साधना में शीघ्र सफलता प्राप्त होती है। इस ॐ का अनहद नाद नाम है और योगियों को इस का चौबीसों घंटे अनुभव होता रहता है। परन्तु जो योगी नहीं हैं वे अगर चाहें कि हमें भी इस अनहद का कुछ अनुभव प्राप्त हो, तो उन्हें चार बजे प्रातःकाल उठकर इस की ध्वनि सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करने में कोई ज्यादा टीम टाम नहीं करना पड़ता है। उस का केवल यही उपाय है कि उस समय उठकर अपने सिर के सब छिद्रों-कान, नाक, मुँह, आँख—को अपने हाथों से बन्दकर लेना चाहिए और भीतर से इस इच्छा को मोड़ देना चाहिए कि ॐकार की ध्वनि मुझे सुनाई पड़े। हाँ, यह ध्यान रहे कि जहाँ बैठकर यह प्रयोग किया जाय वहाँ किसी प्रकार का हो हल्ला या बात चीत करनेवाला कोई न रहे अर्थात् खूब एकान्त स्थान में इस ध्वनि को सुनने की कोशिश करनी चाहिए। उस समय ध्यान देने पर पहले जो सन्नाटे का शब्द सुन पड़ेगा, उसे अनहद नाद नहीं समझना चाहिए। वह तो बाहर सुन हुए पहले के जो शब्द भीतर के भागों को उद्वेलित कर चुके हैं उन की झनकार है। अनहद नाद तो अभी कई सीढ़ियों के बाद सुनाई देगा। पहले के सन्नाटे के बाद खिचड़ी पकने जैसी 'खद बद, गुदगुद' कुछ आवाज जान पड़ेगी। यह भीतर के कल पुर्जों की—अन्न और जल को अलग करने, भोजन पचाने, उस का रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेदा, हड्डी आदि बनाने, मल और मूत्र को उन के उन के रास्ते से बाहर निकालनेवाली मशीनों की आवाज होती है। इस पर से ध्यान हटाने पर एक तीसरे प्रकार की ध्वनि झङ्कृत होती हुई मालूम होगी। यह मस्तिष्क के अंदर काम करनेवाली इंजिन की आवाज है। इसी प्रकार अलग

अलग ध्वनि में छः तरह के शब्द पहले (ध्यान के कानों से) गुजर जायेंगे तब अन्त में सातवें दर्जे पर ॐकार की ध्वनि हृदय के भीतर गुञ्जार करती हुई प्रकट हो जायगी। यह पहले कहा जा चुका है कि ॐकार सूर्यमण्डल से उत्पन्न होता हुआ मालूम होता है। पर वास्तव में वह कहीं से उत्पन्न होनेवाला नहीं, सर्वदा से वर्तमान है। बहुत विशेष चेष्टा रखकर निरन्तर कुछ दिनों तक इस शब्द को स्पष्टरूप में सुनने का उद्योग करने पर ही यह सुनाई दे सकता है। कोई चाहे कि दो चार दिन के कुछ ही घंटों की कोशिश से वह भुक्तिमुक्ति दोनों तरह के पदार्थों में सफलता प्रदान करानेवाला शब्द सुनाई पड़ जाय, तो यह वैसा ही है जैसे कोई चाहे कि भारत से पैदल चलकर दस बीस दिनों में पेरिस की छटा, लंदन की चहल पहल या न्यूयार्क—नई दुनिया—की विस्मय भरी विचित्रता इन अपनी आँखों से देख और वहाँ वहाँ के नागरिकों की, अपने ही ढंग की, चुहलबाजियाँ अपने ही कानों सुन ली जायँ। तो सोचो तो सही कि जिस नगर के आवागमन के विषय में लोग पूर्ण जानकार हैं कि कहाँ जाने में कितना समय लगता है और किस उपाय से जाना पड़ता है, वहाँ के दृश्यों को देखने या शब्दों को सुनने की अभिलाषा तो अपने मन के मुताबिक उपाय लगाने और प्रयत्न करने से पूरी ही नहीं होती, फिर जिस जगह से वह ॐकार की ध्वनि आती है वहाँ के किसी भी विषय का ज्ञान न रखकर भी उस ॐकार की ध्वनि कोई कैसे सुन सकता है? इस लिए निश्चित है कि जिस वस्तु को देखने, सुनने, पाने और उपभोग में लाने के लिए स्वभावतः—अर्थात् उस वस्तु और उस के साथ चाहे जिस प्रकार का संबन्ध रखनेवाले व्यक्ति के बीच में उस के कार्य के अनुसार काम करनेवाली प्रकृति के द्वारा—जितना समय पहले से निश्चित हो चुका होता है उतना समय लगे बिना उस वस्तु को देखना, उस का शब्द सुनना, उस को पाना तथा उसे उपभोग में लाना कभी संभव नहीं हो सकता। और यह तो कहना ही नहीं है कि समय भी उसी हिसाब से कम और ज्यादा लगता है जिस हिसाब का बड़ा छोटा—गुरु लघु कार्य होता है। और ॐ की महत्ता तो सर्वविदित ही है। अतः उस की ध्वनि को अनुभव की वस्तु बनाने में निश्चय ही कम समय नहीं लगेगा।

इस प्रकार इन्द्रियद्वारों का अवरोध करने से लेकर ॐ इस एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण करने तक भगवान् ने परमपद प्राप्ति के पाँच उपाय बतलाये। इन में इन्द्रिय, मन, हृदय, मस्तक, प्राण और कण्ठ तक का काम खतम हो जाता है। इस के बाद बुद्धि का नंबर आता है। बुद्धि सर्वदा कुछ न कुछ सोचती रहती है—बैठी बैठी भूत, भविष्य, वर्तमान को स्मरणपथ का विषय बनाती रहती है। इस लिए ॐकार का उच्चारण करनेवाले की बुद्धि भी अवश्य कुछ सोचने, स्मरण करने, याद में लाने की ओर दौड़ेगी। उस समय कोई यह विचार न कर बैठे कि अब तो मैं ॐकार का उच्चारण कर ही रहा हूँ, इसी से मुझे मोक्ष तक

मिल जायेगा ही, फिर बुद्धि के ऊपर किसी तरह की रुकावट डालने की क्या जरूरत है ? वह चाहे जो कुछ भी किया करे उस से मेरा क्या बिगड़ना बनना है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए। बुद्धि को अलग स्वतन्त्र रखकर सब साधनाओं के विधिवत् पालन सहित ॐकार का मुख से उच्चारण करना व्यर्थ चला जायगा, क्योंकि यदि बुद्धि को अलग छोड़ दिया जाय और समस्त अङ्ग उपाङ्ग से कोई सम्मुख उपस्थित कार्य किया जाय, तो कुछ देर के लिए भले ही वह कार्य सुधरा हुआ सा प्रतीत होता रहे अथवा वास्तव में बनता ही चला जाय, किंतु उस का अन्त तक सुधरा रह जाना असम्भव है। बुद्धि अपनी राह पर अकेली चलती चलती कुछ देर में और और साथियों को भी अपने साथ कर ही लेती है। इसी लिए अन्त में भगवान् ने खुलासा कर दिया कि इन्द्रियद्वारसंयम, हृदय में मनोनिरोध, मस्तष्क में प्राणनयन, योगधारणा में प्रवृत्त और ॐ रूप अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करने में लीन होने के बाद स्मृति के अंदर मुझे रखो। यह नहीं चल सकता कि सोचो कुछ और फल चाहो कुछ। यदि मुझ में गति चाहते हो, परमपद के इच्छुक हो, तो सब नियमों का पालन करने के साथ साथ याद भी मेरी ही करते रहो। ऐसा करने से अवश्य ही तुम सब से उत्तम गति पाओगे, क्योंकि तुम्हारा यह सर्वदा का अभ्यास मरने के समय भी तुम से यही सब कार्य करा लेगा यानी अभ्यासवश अपने आप तुम उस संकटकाल में भी सर्वत्र सुख ही सुख का अनुभव करते हुए सब तरह से मेरा ही स्मरण करते रहोगे और उत्तम गति को पहुँच जाओगे। अस्तु;

अर्जुन को इसी भूमिका से पूर्णतः परिचित बनाने के लिए भगवान् ने उस से कहा कि हे अर्जुन, सब द्वारों को संयम में रखकर, मन को हृदयकमल में सपुटित (मूँद) कर, अपने प्राणों को मस्तक में ले जाकर, योगधारणा में सब प्रकार से स्थित होकर, ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिन्तन करता हुआ जो भक्त इस पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़कर प्रयाण करता है वह परम उत्तम गति को प्राप्त होता है।

परम दिव्य पुरुष की प्राप्ति का यह सरल उपाय सुनकर अर्जुन आश्चर्य में नहीं पडा। उस ने सोचा, भगवान् इस के पहले जो उपायोपदेश कर चुके हैं उस से तो वास्तव में यह उपाय कुछ सुगम मालूम होता है, तथापि उतना सहज बोधगम्य तो नहीं ही है जितना कि मैं चाहता था। मैं भगवान् का अधिक सहवास रखनेवाला हूँ। ऐसी हालत में भी जब यह परम गतिप्राप्ति का साधनभूत उपाय मेरे लिए ही कम कठिन नहीं प्रतीत होता, तब सर्वसाधारण के लिए मैं कैसे समझूँ कि उन को यह सहज प्रतीत हो सकेगा। इस लिए इस से भी यदि कोई सरलतर उपाय हो, तो उसे भी बतला देने के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा निश्चयकर उस ने भगवान् से कहा—हे कृपालो, मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर आपने सुगम रीति बतलाई, यह आप की दया अवश्य है, पर आप के लिए सहज और सरल प्रतीत होने-

वाली बात क्या और सब के लिए भी वैसी ही हो सकती है ? कभी भी नहीं हो सकती। आप को साधारण प्रतीत होनेवाली बात औरों को असाधारण जँचे, यह स्वाभाविक ही है। इस लिए मेरी प्रार्थना है कि यदि कोई इस से भी सरल मार्ग आप को प्राप्त करानेवाला हो, तो उस का उपदेश देकर मेरा कल्याण कीजिए।

अर्जुन को इस प्रकार नम्रता सहित प्रार्थना करते देख सर्वदा के स्मितवदन भगवान् किंचित् मुस्कराते हुए बोले—अर्जुन, तूँ बड़ा चतुर है। तेरा विचार है कि 'दाम लगे न फिटकरी, रंग भी चोखा हो'। तो कोई हर्ज नहीं ; मैं तो सब तरह से तेरे वश में होकर तेरा सब प्रकार से कल्याण करने के लिए प्रस्तुत हूँ ही। और अधिक सुगम उपाय भी अवश्य है। वह यही है कि—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

हे पार्थ, अनन्य चित्तवाला होकर जो नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करता है उस सर्वदा युक्त रहनेवाले योगी को मैं (अत्यन्त) सुलभ हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मुझ में अपनी सर्वतोमुखी भक्ति रखकर, और किसी भी देवी देवता को अपने चित्त में स्थान न देकर जो भक्त पुरुष प्रति दिन अहर्निशि मुझ को स्मरण करता है, मुझे भजता रहता है उस अनन्यभावापन्न, सर्वदा अपने में (मुझ, परमात्मा में) युक्त रहनेवाले यानी जुटे हुए योगी भक्त को मैं बड़ी ही सरलता से प्राप्त हो जाता हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन को प्रार्थना से समस्त विश्व की भलाई के लिए प्रेरित होकर भगवान् श्री कृष्ण ने इस श्लोक के द्वारा सचमुच ही अपनी प्राप्ति का अत्यन्त सरल रास्ता बतला दिया है—ठीक वैसा ही सरल जैसा चाहिए था अर्थात् 'दाम लगे न फिटकिरी रंग भी चोखा हो' वाली कहावत के हूबहू मुताबिक। इन्द्रियों को बन्धन में रखने को अलग चिन्ता करने की जरूरत नहीं, मन और हृदय की ओर समय लगाकर कोई बखेड़ा उठाने की आवश्यकता नहीं, ब्रह्माण्ड में प्राणों को लीन करना व्यर्थ है, नाक कान, आँख मुँह बंद करने और प्राणायाम साधने की मेहनत से कोई मतलब नहीं, अक्षर ब्रह्म को ठीक ठीक जानने के लिए शास्त्रों के पन्ने उलटना अथवा बार बार अनेक प्रकार से मस्तिष्क पर दबाव डालना किसी काम का नहीं ; मतलब है सिर्फ आखिरी उपाय—भगवान् का स्मरण करने से। यदि थोड़ा बहुत कोई अन्य प्रयास करना है, तो इतना ही कि अन्य (दूसरे) में न फँसकर अनन्यचेता (केवल भगवान् में चित्त लगानेवाला) बनना है। क्या यह भी तुम से नहीं हो सकेगा ? इतनी सरल]

रीति के आचरण से इतने बड़े फल की प्राप्ति का लालच भी क्या तुम्हें उत्साहित नहीं बना रहा है ? देखो, खूब सोच समझकर उत्तर दो। किसी तरह के सकोच या दबाव में पड़, मुँह से 'हाँ' कहकर कार्यकाल में ढोंग दिखलाने से कोई लाभ नहीं हो सकता। वैसा करना हो, तब तो यही कहीं ज्यादा अच्छा है कि 'ना' कह दो और निर्द्वन्द्व होकर अपना काम करो। परंतु हाँ करके दूसरों को, भगवान् को और खुद अपने आप को धोखा देने की कोशिश तो मत ही करो। आप तो जानते ही होंगे कि ढोंग किसी को अच्छा नहीं लगता—छोटे छोटे बच्चे भी इस पर बेहद नाराज हो जाते हैं और उसे अपने समूह बाहर से कर देते हैं यदि खेल कूद में शामिल होकर कोई उन का साथी किसी किस्म का ढोंग करने लगता है और सच्चे मन से खेल में शरीक नहीं होता। फिर ऐसा तुम किस तरह समझ लेते हो कि सृष्टिमात्र के रग रग का हाल जाननेवाले परमात्मा तुम्हारे दिखावटी भजन से खुश होंगे और संसार में तुम्हारी ख्याति फैलने देंगे ? यदि दर असल में तुम्हें अपने ढोंग पर ही घमंड है और समाज में तुम इस ढोंग के बल पर ही अपनी प्रतिष्ठा बढ़वाते जाते हो, तो भी तुम निश्चय जान लो कि अन्त तक तुम्हारा यह ख्याल सही सलामत सच्चा नहीं उतर सकता। कोई घड़ी ऐसी अपने आप आ खड़ी होगी कि तुम्हारे लाख प्रयत्न करने पर भी ढोंग का पर्दा अपने आप फास हो जायगा और इस के भीतर जो तुम्हारा विकृत, बीभत्स, घृणास्पद रूप दिखाई देगा उसे देखकर समाज तुम्हारी ओर से इस कदर आँखें फेर लेगा जैसा शायद गंदी से भी गदी कोई दूसरी वस्तु देखकर भी न फेरता हो। इस लिए भगवान् के कथनानुसार 'अनन्यचेता' बनकर सच्चे मन से भगवान् की याद करो, ढोंग करके भगवान् का नाम लोगे, तो उन का वही संसारसागर से पार लगानेवाला नाम तुम्हें नरकसागर में डालनेवाला हो जायगा और वहाँ पर जल जलकर जो अपना दोष भगवान् पर लादोगे कि मैं जिंदगी भर व्यर्थ ही उस कपटी का नाम जपता रहा इत्यादि; इस के फलस्वरूप तुम्हारे नरकवास की अवधि अनन्तता को प्राप्त करती जायगी। यही कारण है कि सभी शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि में कपट रखकर कोई कार्य करनेवालों की बार बार निन्दा की गई है। और भगवान् का नाम लेने में कपट रखनेवाले, भगवान् के नामभजन का जाल बिछाकर अपने को साधु महात्मा सिद्ध करने और किसी को अपनी साधुता के विश्वास में डालकर ठगनेवाले को राक्षसी मनोवृत्ति का मनुष्य कहा गया है। पुराणों में ऐसे अनेक कपटी साधुवेषी राक्षसों की कथा आई है। जिन में कालनेमि की कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह संक्षेप में नीचे दी जाती है।

संसारप्रसिद्ध रामरावण युद्ध जारी हो चुका था और नित्य प्रति जोर पकड़ता जा रहा था। बड़े बड़े वीर राक्षस जिन ने दसों दिक्पालों को भी अपने बाहुबल से जीत बड़ी कैद में रख छोड़ा था, भगवान् राम और लक्ष्मण के तीखे बाणों के शिकार हो होकर परलोक के

मार्ग को कोलाहल पूर्ण बनाते हुए इस लोक की लीला समाप्त करते चले जा रहे थे। रावण अपने जिन वीरों को देखकर सोचा करता कि काल के साथ युद्ध छिड़ने पर भी ये विजयी ही रहेंगे उन्हीं को अपनी आँखों के सामने शेषावतार श्री लक्ष्मणजी के शराघातों से व्याकुल हो धराशायी होते देख क्रोध के मारे आग जैसा जलने लगा। उसे शान्त करने के लिए उस के जेठे लड़के मेघनाद ने अपनी बाहों को आकाश में उठाकर प्रतिज्ञा करने के ढंग पर कहा— पिताजी, आज तो अब संध्या हो गई, रात भर के लिए रणविराम का समय आ गया, किंतु सवेरा होते ही मेरी बाहों की करामात देख लीजिएगा—

'कौतुक प्रात देखि प्रभु मोरा * करि हउँ बहुत कहौं का थोरा॥'

मैं जो कुछ कर डालूँगा वह कहने मात्र का नहीं है। उस का परिचय आप को देखने पर ही मालूम हो सकेगा। इत्यादि।

मेघनाद वास्तव में संसारप्रसिद्ध बलवान् था। उस की बात में झुठाई की कल्पना कोई उस का दुश्मन भी नहीं कर सकता था; फिर रावण तो उस का पिता ही था। रावण को उस की बातों से अपनी जीत का काफी भरोसा हो गया। उस ने मेघनाद को प्यार सहित अपनी गोद में खींचकर बैठा लिया और युद्ध संबन्धी अनेक विषयों पर उस के साथ परामर्श करने लगा। विचार करते करते ही रात बीत गई। सवेरा होते ही भगवान् राम का दलबादल युद्ध के लिए तैयार होकर अपने अपने शिविर से निकल पड़ा और रावण के किले को चारों ओर से घेरकर हो हल्ला मचाने लगा। शोर गुल सुनकर राक्षस तैयार हो गये। अपना अपना अस्त्र शस्त्र ले लेकर चारों ओर दौड़ धूप मचाने लगे। बहुत से राक्षस किले के ऊपर चढ़ गये और वहाँ से पर्वतों के शिखर उठा उठाकर नीचे वानरों के ऊपर गिराने लगे। पहले धीरे धीरे, फिर मजे में दोनों ओर की सेनाएँ आपस में जूझ गईं। भयंकर भयंकर आग के गोले बरसने लगे। योद्धागण उत्साहित होकर ऐसा घोर गर्जन करते, मानों प्रलयकाल के बादल गरज रहे हों। मेघनाद ने जब बाहर का सब समाचार सुना, तो वह डंके की चोट करता हुआ बड़े वीर गम्भीर भाव से किले के बाहर निकला और बंदरों के सामने आकर पूछने लगा कि वे दोनों भाई कहाँ हैं जिन की वीरता, सुनता हूँ, समस्त लोकों में प्रसिद्ध हो रही है? साथ ही मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि उन दोनों भाइयों के प्रमुख सहायक नल, नील, द्विविद, सुग्रीव, अङ्गद और हनुमान् कहाँ हैं? मैं आज एक एक करके सब की खबर तो लूँगा ही, किंतु उस दुष्ट विभीषण को तो मैं खास तौर पर कुछ सबक सिखाना चाहता हूँ कि जिस भाई के मेरे जैसा पुत्र मौजूद है उस के साथ विरोध करने से क्या मजा मिलता है।

मेघनाद की बातों का किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। इस से वह क्रोधित हो उठा और एक एक बार में ढेर के ढेर बाण अपने धनुष पर रख रखकर राम की सेना पर

चलाने लगा। बंदरों और भालुओं में भला ऐसा कौन था जो इन्द्र को भी परास्त करनेवाले वीर मेघनाद के सामने दो चार मुहूर्त भी टिक सकता। इस लिए वानर भालू मौख लेकर जहाँ तहाँ भाग चले, एक भी सामने ठहरने का साहस नहीं कर सका। किंतु क्या मेघनाद धर्मयुद्ध करनेवाला धार्मिक वीर थोड़े ही था कि पीठ दिखाकर भागनेवालों के ऊपर बाण न चलाता? वह तो धर्मद्रोही राक्षस प्रसिद्ध ही था। तभी तो उस ने इन भागनेवाले बंदर भालुओं को भी नहीं छोड़ा और प्रत्येक को गिन गिनकर दस दस बाण मारे। बिचारे चोट से अधीर होकर पृथिवी पर गिर पड़े, जिन्हें देखकर मेघनाद प्रसन्नता के मारे जोरों से अट्टहास करता हुआ घोर गर्जन करने लगा।

हनुमान् आदि वीर वानर अभी तक मेघनाद के उपद्रव से बेखबर थे। भागनेवाले बंदरों में से किसी ने खबर पहुँचाई। समाचार पाते ही हनुमान्‌जी का क्रोध भड़क उठा। क्रोध से उन की मुखाकृति साक्षात् काल की तरह प्रतीत होने लगी। उन्होंने दौड़कर एक भयंकर पर्वतशिखर उखाड़ लिया और उसे ले जाकर मेघनाद के ऊपर पटक दिया। परंतु वह ऐसा मूर्ख नहीं था कि चुपचाप खड़ा रहकर हनुमान्‌जी का आघात अपने ऊपर ले लेता। उस ने हनुमान्‌जी को वेगसहित अपनी ओर पहाड़ लिये आते देखकर पहले ही अपनी आसुरी माया का आश्रय ले लिया और आकाश में जाकर छिप गया। हाँ, उस पर्वत की चोट से, जिसे हनुमान्‌जी ने मेघनाद को लक्ष्य करके फेंका था, उस का रथ, सारथी और घोड़े आदि चूर चूर होकर धूल में मिल गये। हनुमान्‌जी ने जब देखा कि मेरा प्रयास व्यर्थ करके वह दुष्ट आकाश में चला गया है, तो क्रोधभड़कानेवाली कड़ी कड़ी बातें कहकर वे उसे ललकारने लगे, पर वह हनुमान्‌जी के बल से पूर्णतः परिचित होने के कारण नीचे नहीं आया और हनुमान्‌जी की कटूक्तियों को अनसुनी करके ऊपर ही ऊपर उस तरफ चला गया जहाँ भगवान् रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सुग्रीव आदि बैठे हुए थे। वहाँ जाकर उस ने रामजी को तरह तरह के दुर्वचन कहकर उन के ऊपर बहुत प्रकार के अस्त्र शस्त्र फेंके, किंतु उन्होंने खेलवाड़ में ही उस के सब प्रयत्नों को छिन्न भिन्न कर दिया। भगवान् का कौतुक पूर्ण बल सामर्थ्य देखकर वह कुछ लज्जित तो अवश्य हुआ, फिर भी अपनी जड़तापूर्ण कार्रवाइयों से बाज नहीं आया। अस्त्र शस्त्र के मुकाबले में अपने को कमजोर पाकर उस ने उन्हें आसुरी माया से तंग करना चाहा और जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति हाथ में साँप का बच्चा लेकर गरुड़जी को भयभीत करना चाहे वैसे ही वह अपनी माया के द्वारा रामजी पर अपना प्रभाव जमाने की भद्दी चेष्टा करने लगा। किंतु तुलसीदासजी ने सच ही कहा है कि—

'जासु प्रबल माया बस, शिव बिरंचि बड़ छोट।
ताहि दिखावइ निसिचर, निज माया मति खोट॥'

जिस की प्रबल माया के वश में शिव ब्रह्मा आदि सभी बड़े छोटे देव, ऋषि, मुनि तक रहा करते हैं उन्हीं राम भगवान् को दुर्बुद्धि राक्षस मेघनाद अपनी माया दिखलाकर वश में करना चाहता था।

वास्तव में जो नीच और दुर्बुद्धि होता है वह बार बार लज्जा गवाँकर भी अपनी बेहयाई नहीं छोड़ता। मेघनाद कभी आकाश में जाकर भगवान् के ऊपर आग की वर्षा करता, कभी खून, पीब, मल, मूत्र की धारा बरसाता, कभी हड्डी, पत्थर, पेड़ आदि फेंक फेंककर चोट पहुँचाना चाहता; लेकिन भगवान् अपने मन में किसी प्रकार का विकार न लाकर अनायास ही, अपनी इच्छामात्र से उस की माया को विनष्ट कर देते। हाँ, बार बार आसुरी माया को अपने ऊपर फैलते और भगवान् की शक्ति से उस को नष्ट होते देखकर बंदर भालू वगैरह साधारण सैनिक कुछ ऊबने से लगे। भगवान् को अपने सैनिकों के मन की उद्विग्नता मालूम हो गई। उन्होंने समझ लिया कि वानर भालू अब अधिक समय तक ऐसी दशा में रहना सहन नहीं कर सकेंगे, क्योंकि वे राक्षसी माया के भय से वस्तुतः भयभीत हो रहे हैं। ऐसा जानकर उन्होंने थोड़े रोष के साथ एक बाण चलाया। उस बाण ने एक ही चोट से मेघनाद की सारी माया को समूल नष्ट कर दिया। इस के बाद भगवान् ने अपने त्रस्त सैनिकों पर एक कृपादृष्टि डाली जिस से उन का सब भय उसी क्षण दूर हो गया, वे नये बल पौरुष से युक्त हो गये और राक्षसों के साथ लड़ने के लिए उतावली प्रकट करने लगे। तब भगवान् से आज्ञा माँगकर लक्ष्मणजी युद्ध करने के लिए उठ खड़े हुए और अङ्गद आदि वीरों को अपने साथ लेकर मैदान की ओर चल पड़े।

रावण को अपने गुप्तचरों द्वारा जब लक्ष्मणजी के मैदान में उतरने का समाचार मालूम हुआ, तो उस ने भी मेघनाद की सहायता के लिए बहुत बड़े बड़े योद्धाओं को मैदान की ओर भेज दिया। मैदान में आकर दोनों ओर के वीर आमने सामने डट गये और जहाँ तक जिस में बल था उस में जरा भी कंजूसी न करके आपस में, एक दूसरे से, गुथकर लड़ने लगे। जिस के साथ तुल्य बल (बराबर का जोर) हो वही उस के साथ भिड़े, सो बात यद्यपि इस युद्ध में नहीं थी (क्योंकि हम पहले ही कह आये हैं कि राक्षस धार्मिक युद्ध नहीं करते), फिर भी एक दूसरे के बलाबल की परीक्षा लेने की बात ही कदाचित् मन में ठानकर मेघनाद और शेषावतार लक्ष्मणजी का आपस में युद्ध होने लगा। दोनों ही असाधारण वीर थे। न तो मेघनाद लक्ष्मणजी को पीछे हटा पाता था, न लक्ष्मणजी के प्रहार से मेघनाद ही पीछे हटता था। अनेक बार जब लक्ष्मणजी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो पाये तब उन के मन में क्रोध उमड़ आया और उन्होंने एक साथ ही अनेक महा भयंकर बाणों की वर्षा कर मेघनाद के रथ, सारथी, घोड़ों को नष्ट करते हुए अन्त में उस राक्षस के शरीर को भी जगह जगह से

क्षतविक्षत करके उसे एकदम जर्जर बना दिया। मेघनाद को अपना सम्पूर्ण शरीर शिथिल होता मालूम पड़ने लगा और उस ने अनुमान किया कि इस प्रकार तो यह राजकुमार मेरे प्राणों का ही हरण कर लेगा और मैं मुँह ही ताकता रह जाऊँगा। नहीं, नहीं, अब ऐसा हर्गिज नहीं होने देना चाहिए। मैं बड़ी गलती पर था कि अब तक इस को सुकुमार राजकुमार जैसा ही समझता रहा। लेकिन अब इसे जनाये देता हूँ कि इन्द्रजित–मेघनाद–के साथ सम्मुख युद्ध में शरीक होना कैसी बात है। इधर मेघनाद मन में यह सब विचार कर रहा था उधर लक्ष्मणजी लगातार उसे बाणों से घायल करते जा रहे थे। इस से उस का क्रोध और अधिक भड़क उठा और उस ने अपने तरकश में से बहुत दिनों से सुरक्षित रखी हुई वीरघातिनी नाम की एक मन्त्र से अभिषिक्त शक्ति निकालकर लक्ष्मणजी के ऊपर छोड़ दी। सूर्य के समान तेज से पूर्ण यह शक्ति सीधे लक्ष्मणजी की छाती में जाकर घुस गई। वे उस के लगते ही मूर्छित हो गये और पृथिवी पर गिर पड़े। उन्हें गिरा देखकर मेघनाद खुशी से उछल पड़ा और अपने ही समान सैकड़ों योद्धाओं को साथ लेकर निर्भयता के साथ लक्ष्मणजी के समीप जा पहुँचा। वहाँ सब योद्धा एक साथ मिलकर उन्हें उठा ले जाने का प्रयास करने लगे। बहुत देर तक अनेक प्रकार से वे सब लक्ष्मणजी को उठाने की कोशिश करते रहे, पर लक्ष्मणजी शेष के अवतार थे। समस्त ब्रह्माण्ड का भार अपने सिर पर रखनेवाले। उन्हें उठाने का सामर्थ्य भला करोड़ दो करोड़ राक्षसों में कैसे हो सकता है? लक्ष्मणजी किसी प्रकार उन के उठाये नहीं उठ सके। अन्त में वे सब लज्जित होकर किले की ओर चले गये।

लक्ष्मणजी और मेघनाद का युद्ध साधारण युद्ध नहीं था, उन का युद्ध देखकर आकाश में देवता लोग भी दाँतों अँगुली काटने लगे थे। इस लिए उस दिन केवल उन्हीं दोनों वीरों के युद्ध में सन्ध्या हो गई और लक्ष्मणजी के मूर्छित होकर गिरने के बाद ही दोनों तरफ की सेनाएँ अपने शिविर में लौट गईं। सब सेना वापस चली आई, पर लक्ष्मणजी अभी तक नहीं लौटे, यह देखकर अखण्ड ब्रह्माण्ड के अधीश्वर, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ अजेय श्री रामचन्द्रजी ने अपने किसी पार्श्ववर्ती (बगल में बैठे) पुरुष से जैसे ही पूछा कि लक्ष्मण अब तक क्यों नहीं आये? वे कहाँ हैं? कि इतने में हनुमान्जी लक्ष्मणजी को अपनी बाहों पर उठाये सामने से आते दिखाई दिये। उन्होंने लक्ष्मणजी को लाकर धीरे से भगवान् के सामने रख दिया और एक किनारे चुपचाप खड़े हो गये। लक्ष्मणजी को ऐसी सोचनीय दशा में देख रामचन्द्रजी को जैसा दुःख हुआ उस का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे शोक की अधिकता से कुछ बोल नहीं सके, एक टक लक्ष्मणजी का मुहँ देखते रह गये।

जाम्बवान् भी वहीं मौजूद थे। उन्होंने समझ लिया कि प्रभु इस समय भाई के शोक से अत्यन्त चिन्तित हो रहे हैं। इन से किसी विषय में परामर्श माँगना उचित नहीं होगा।

इस लिए सुग्रीव से उन्होंने कहा—लङ्का में सुषेण वैद्य रहते हैं। उन्हें बुलाने के लिए शीघ्र किसी को भेजना चाहिए।

हनुमान्‌जी तुरंत सामने आकर खड़े हो गये और नम्रता सहित बोले—मुझे आज्ञा हो, तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

सुग्रीव ने जाने की अनुमति दे दी। हनुमान्‌जी ने बहुत छोटा रूप धारण किया और वेग सहित प्रस्थान कर दिया। सुषेण के घर पहुँचकर उन्होंने देखा कि वह घर में मौजूद है, बस चटपट उस के मकान को उठा लिया और भगवान् लक्ष्मणजी को लेकर चिन्ता में मग्न जहाँ पड़े थे वहीं लाकर रख दिया। 'घर जमीन पर रख दिया गया' यह अनुभव होने के साथ ही सुषेण घर से बाहर आ गया। उस ने सामने देखा कि समस्त जगत् को जीवनदान देनेवाले परमात्मा जगत् में मर्यादा स्थापित करने के लिए अवतार लेकर लीलावश लक्ष्मण को गोद में लेकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उस ने प्रेमावेश में दौड़कर भगवान् के चरणों को पकड़ लिया और बार बार उस पर अपना मस्तक रखकर प्रणाम करने के बाद लक्ष्मणजी के घायल शरीर की परीक्षा करके कहा—धवलागिरि पर्वत पर संजीवनी बूटी है। वह यदि सुबह होने के पहले किसी तरह लाई जा सके, तो लक्ष्मणजी के प्राण बच सकते हैं, नहीं, तो मेरा कोई वश नहीं चल सकता। किंतु मैं जानता हूँ कि यह कुछ कम अवधि नहीं है। क्योंकि हनुमान्‌जी चाहें, तो रात भर में अनेक बार उस पर्वत तक जा आ सकते हैं। उन की गति मन के बराबर है। सुषेण की बात सुनते ही उन्होंने जाने के लिए तत्पर होकर कहा—मैं अभी वह दवा लिये आता हूँ, और हृदय में प्रभु के चरणों का ध्यान रख आकाशमार्ग पकड़ लिया।

रावण के गुप्तचर दिन रात शत्रुपक्ष की सेना में घूम घूमकर हर एक बात की टोह लेते रहते थे। मायारूप होने के कारण उन्हें कोई देख नहीं पाता था। एक गुप्तचर ने सुषेण के आने से लेकर हनुमान्‌जी के बूटी लाने जाने तक कुल खबर कह सुनाई। रावण उस के ऊपर बड़ा खुश हुआ। इस लिए उसे खूब शाबाशी देकर बिदा किया और स्वयं कालनेमि नाम के एक प्रसिद्ध राक्षस के पास जा पहुँचा। कालनेमि ने उठकर प्रणाम किया और आदर पूर्वक रावण को बैठाना चाहा, किंतु रावण को बैठने की सुध नहीं थी। वह अपने शत्रु के भाई के जीने में सफल विघ्न डालना चाहता था और कालनेमि को उसमें विघ्न बनाने के लिए ही उस के पास आया था। पर वह भी जानता था कि हनुमान् के मार्ग में विघ्न खड़ा करने के लिए कालनेमि का सहसा साहस नहीं हो सकता। और कदाचित् कड़ाई से काम लेना पड़े। इस लिए उस के आदर को अगर इस समय ग्रहण करूँगा, तो पीछे कड़ाई करने में संकोच हो सकता है। अतः क्रोध सहित कालनेमि की भर्त्सना करते हुए उस ने कहा—

तुम्हारे जैसा मूर्ख ही इस संग्राम के समय आराम से आसन पर बैठने और दूसरों को बैठाने का समय और साहस रख सकता है। जिसे शत्रु का सब प्रकार से विनाश करने की चिन्ता होगी वह ऐसी बात इस समय व्यवहार में तो क्या, मन में भी नहीं ला सकता। खैर, बात करने का अवसर नहीं है। मैं तुम से यही कहने आया हूँ कि चटपट माया करने के लिए तैयार हो जाओ। हनुमान् संजीवनी लाने गया है। अगर कल प्रात काल तक वह उस के शिविर में लौटकर न आने पाये, तो लक्ष्मण नहीं जी सकता। इस लिए तुम इसी वक्त चले जाओ और अपनी माया में उसे तब तक के लिए फँसा रखो।

कालनेमि का सिर घूम गया। उसे आधे क्षण के लिए अपनी मृत्यु साक्षात् सामने दिखलाई पड़ गई। उस ने सोच लिया कि रावण की आज्ञा न माननेवाला और रामदूत हनुमान् के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाला बना बनाया काल की खुराक है। फिर भी अपनी बुद्धिमानी पर थोड़ा बहुत भरोसा रखकर बड़ी ही विनती के साथ उस ने रावण से कहा—प्रभो, आप की आज्ञा हो, और उसे मानने से मैं इनकार कर दूँ, यह स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। इस लिए इस कार्य के महत्त्व को देखते हुए मेरा निवेदन है कि श्रीमान् मुझे हनुमान् का रास्ता रोकने के लिए न भेजें, तो अधिक अच्छा हो।

रावण ने कहा—क्यों? तुम्हें क्यों न भेजूँ? क्या बात बात में अब तुम से राय लेनी पड़ेगी? यह अधिकार तुम ने कब से और कैसे प्राप्त कर लिया?

कालनेमि ने कहा—नहीं, नहीं, श्रीमन्! ऐसी बात होती तब तो उसे मैं जबान पर भी नहीं ला सकता था। मेरी क्या हैसियत है कि मैं लङ्केश को कोई परामर्श दे सकूँ। इस लिए श्रीमान् सच मानें, मैं ने सिर्फ इसी लिए अपनी कमजोरी दिखलाई—आज्ञानुसार तुरंत यात्रा कर सकने में असमर्थता प्रकट की कि मुझे अपने प्रति ऐसा विश्वास नहीं हो रहा है कि जिस बंदर ने साक्षात् दशानन के सामने ही उन की सोने की लङ्का को राख कर दिया उस के मार्ग में विघ्न डालना, उस की राह रोकना, उसे अपनी माया में फँसा सकना क्या मेरे लिए स्वप्न में भी सम्भव हो सकता है? मेरी बुद्धि तो जहाँ तक काम दे रही है वहाँ तक मैं यही समझ रहा हूँ कि मेरी तो बात ही क्या है, लङ्का भर में कोई ऐसा वीर असुर नहीं है जो पवन-पुत्र के साथ छेड़खानी करके अपने प्राणों को सकुशल रख सके। कारण, वे राम के दूत, राम के सेवक, राम के दास हैं; और राम तो साक्षात् काल के भी काल अर्थात् विश्वपति परमेश्वर हैं ही, उन के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं चाहिए, न कहा ही जा सकता है। उन्हें तो कोई स्वप्न में भी संग्राम में नहीं जीत सकता। इस लिए नाथ, आप से मैं बहुत दीन होकर प्रार्थना करता हूँ कि उन के साथ वैर विरोध का भाव और मतांतर अब से भी श्रीमान् छोड़ दें तभी सब का कुशल है। उन के साथ विरोध करने का मुझे तो प्रत्यक्ष यही फल दिखलाई

पड़ रहा है कि दो ही चार दिनों में एक भी लङ्कावासी जीवित नहीं रहने पायेगा। राम के विकराल बाण समस्त लङ्का के निशाचरों को भूनकर रख देंगे और आप को पछताने का भी समय नहीं मिल सकेगा।

रावण का संपूर्ण शरीर क्रोधाग्नि से तपकर तमतमा उठा। उस ने बड़ी तेज डपटकर कालनेमि से कहा—क्यों रे नीच, जिस के टुकड़ों पर जिंदगी बसर कर रहा है उस के सामने ही उस का सर्वनाश मना रहा है? और नहीं, तो ऊपर से चिकनी चुपड़ी बातें बनाकर मधुरभाषी बनने और मेरी भलाई करने का ढोंग रचता है। यदि इस समय इतने बड़े जरूरी काम पर तुझे भेजने नहीं आया होता, तो इस खड्ग से अभी तेरा सिर धड़ से अलग कर देता। बोल, जाता है हनुमान् की राह में विघ्न उपस्थित करके जैसे भी बन सके वैसे उसे उधर ही रोक रखने या अभी कुछ देर है?

कालनेमि विचारवान् राक्षस था। किसी शाप के कारण राक्षसयोनि में जन्म लेना पड़ गया था, नहीं तो सच तो यह है कि हृदय से वह सच्चा रामभक्त था। इस लिए रावण को समझाने बुझाने का जब उस ने उलटा ही असर होते देखा, तो अपने मन में विचार करने लगा कि मैं ने तो पहले ही यह बात जान ली थी और यही जानकर अपना मत भी निःसंकोच होकर प्रकट कर दिया कि अब अधिक समय तक जीने की आशा नहीं है—हनुमान् या रावण—दो में से एक के हाथ मरना निश्चित है, तो क्यों न आखिरी कोशिश करके देख लूँ। सो यह भी देख लिया और अब निश्चय हो गया कि—

'रामदूत कर मरौं बरु यह खल रत मल भार।'

भगवान् राम के दूत, शङ्कर के अवतार श्री हनुमान्जी के हाथों मृत्यु प्राप्त करना ही भला है। यह दुष्ट अब पूरी तरह से पापकुण्ड में डूबा ही नहीं, बल्कि भयंकर पातकसमुद्र में विलीन हो रहा है। इस लिए इस के हाथों मिली हुई मृत्यु से मुझे भी उसी में विलीन होना पड़ेगा।

इस प्रकार अपना भविष्य ठीक ठीक सोच विचारकर कालनेमि ने कहा—जब आप की ऐसी ही इच्छा है, तो मैं आप के आज्ञानुसार जाने के लिए तैयार हूँ। कहिए, और कुछ आज्ञा है या बस इतनी ही? अब मैं सब प्रकार आप की सेवा में अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए तैयार हूँ।

रावण ने उपेक्षापूर्वक अट्टहास करते हुए कहा—ह. हः हः ह., ठीक है; तुम्हारे जैसों के मन में इतनी बातों के बाद यदि प्रीति उत्पन्न हुई, तो इसे मैं अस्वाभाविक नहीं समझ रहा हूँ। खैर, और कोई दूसरी बात मुझे नहीं कहनी है। इस समय तुम इतना ही काम कर सको, तो वही बहुत है। जाओ फौरन; अब मैं भी जा रहा हूँ।

कालनेमि ने सिर नवाकर रावण के सामने ही धवलागिरि के लिए यात्रा कर दी। रावण भी वहाँ से चलकर अपने महलों में आ गया।

हनुमान्‌जी ने यद्यपि रास्ते में कहीं विलम्ब नहीं किया, फिर भी न मालूम किस माया के बल से कालनेमि उन के धवलपर्वत पर पहुँचने के पहले ही उस पर्वत के निकट पहुँच गया। राक्षसों की माया बड़ी विचित्र है। मालूम होता है, वे मन से भी तेज गतिवाले होते हैं; तभी तो मनोजव (मन की गति के समान गति रखनेवाले) हनुमान्‌जी कई क्षण पहले चल-कर भी पीछे रह गये और कालनेमि उन से बाद में (रावण से काफी वाद विवाद करके) चलने पर भी उन के पहले ही अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया और उन के मार्ग में रुका-वट डालने का इंतजाम करने लगा। इसी लिए सब को तुलसीदासजी की यह उक्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है कि—

'जानि न जाय निसाचर माया।'

कालनेमि उस पर्वत के ठीक रास्ते पर कुछ दूर इधर ही आकाश से पृथिवी पर उतर गया और विचार करने लगा कि किस उपाय से हनुमान्‌जी को फँसाने में सफलता प्राप्त हो सकती है। उस के मन में कई किस्म के छल कपट आते और विलीन होते चले गये, पर उन में से उसे एक भी सुन्दर नहीं जान पड़ा। उस ने सोचा कि ये सब क्षुद्र राक्षसी करतूतें परम रामभक्त हनुमान्‌जी पर कारगर नहीं हो सकतीं। उन की देह के वायुस्पर्श से ही ये छोटी मोटी माया की रचनाएँ हवा में मिल जायँगी, क्योंकि ऐसी ऐसी बातों को, जैसी कि अब तक मेरे मन में आईं गईं, हनुमान्‌जी देखते ही समझ जायँगे कि यह आसुरी माया का तमाशा है, और तब भला उन मायाओं का प्रभाव धूल में मिलाते उन्हें क्या देर लग सकती है? निश्चय ही कुछ नहीं, बिलकुल नहीं। इस लिए उन को काबू में लाने के लिए तो कोई ऐसी माया होनी चाहिए जो एकाएक उन्हें भी वास्तविकता के भ्रम में डाल दे। इस प्रकार बहुत सोच विचार के बाद उस ने निश्चय किया कि सिवा साधुवेष धारण करने के और कोई उपाय नहीं हो सकता जो क्षण भर भी हनुमान्‌जी को भ्रमित कर सके। केवल राम-भक्ति का ढोंग रचकर ही उस रामभक्त के ऊपर कोई माया डाली जा सकती है। बस, फिर क्या देर थी? यह सब सोचने, विचारने और स्थिर करने में चाहे जितनी देर लगी हो; निश्चय पक्का हो जाने पर उसे कार्यरूप में परिणत करना उस मायावी के लिए कोई कठिन कार्य थोड़े ही था? उस ने उसी क्षण अपनी प्रबल आसुरी माया का आश्रयण किया और उस के द्वारा उस भयंकर बीहड़ जंगल में (जहाँ कालनेमि उतरा था और बैठा हुआ हनुमान्‌जी को फँसाने की युक्ति सोच रहा था उस स्थान पर सचमुच ही ऐसा घना जंगल लगा हुआ था कि दिन में भी हाथ को हाथ दिखाई देना असंभव हो रहा था।) एक बड़ा ही मनोरम

बाग तैयार करवाया। जब बाग लग गया और उसे देख भालकर कालनेमि को यह विश्वास हो गया कि यहाँ अब जंगल का कोई भी चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गया है, तो उस ने अपनी माया को हुक्म दिया कि बहुत ही शीघ्र इस बाग के बीचो बीच में स्वच्छ सुगन्धित जल से परिपूर्ण एक रमणीक तालाब, उस के पश्चिम किनारे पर एक विशाल देवमन्दिर और उस के पीछे छोटा सा, किंतु अतिशय मनोहर, ऋषि मुनि के रहने के योग्य आश्रम तैयार हो जाना चाहिए। साथ साथ ध्यान रहे कि तालाब के चारों ओर के घाट कीमती संगमर्मर से बँधे हों, मन्दिर में पत्थरों की जगह हीरा, पन्ना, लाल, मानिक, नीलम आदि अलभ्य जवाहिरात व्यवहार में लाये जायँ और उस के मध्य में भगवान् राम की ऐसी दिव्य मूर्ति स्थापित हो जिसे देखने पर कोई कट्टर अनार्य (धर्मद्वेषी) भी एक बार आकृष्ट हुए बिना न रहे, इतना ही नहीं; बल्कि उस मूर्ति में ऐसी विचित्र और अलौकिक छटा दिखलाई पड़ती रहनी चाहिए कि घोर निरीश्वरवादी भी उसे ईश्वर मानकर उस की भक्ति करने के लिए अपने हृदय में विवशता का अनुभव करने लगे। और यह तो तुझे समझाना ही नहीं होगा कि उस मन्दिर के पीछे जो आश्रम बने वह सुन्दर और आकर्षक होते हुए भी एकदम सादा होना चाहिए; ताकि उसे ही देखकर उस में रहनेवाले की सात्त्विकता झलक जाय। हाँ, मन्दिर और आश्रम दोनों की दीवालों पर अच्छे अच्छे धार्मिक मन्त्र, चुनी हुई स्तुतियों में से चुने चुने कुछ श्लोक और भगवान् के सर्वप्रसिद्ध अनेक नाम अवश्य अङ्कित रहें।

माया का कार्य ही दिखलाई पड़ता है, कारण का पता नहीं लगाया जा सकता। तदनुसार एक तरफ कालनेमि अपनी माया को ऊपर कहने के मुताबिक सब बातें समझाता जाता था और दूसरी तरफ माया उस की बातों का पूर्णतः पालन करती जा रही थी, अर्थात् केवल कालनेमि के कहने और उस की माया के सुनने में ही जो कुछ समय लगता था, सो लगता था; बाद में उस की कही हुई वस्तुओं (तालाब और मन्दिर आदि की इमारतों) के बनने में निमेष भर भी विलम्ब नहीं होता था। यहाँ तक कि स्वयं कालनेमि भी नहीं जान पाता था कि कब मैं आज्ञाएँ दे रहा हूँ और कब तथा किस रीति से उस का पालन होता जा रहा है। तात्पर्य यह कि मेरी आज्ञाओं के मुताबिक माया कैसे कैसे क्या क्या कर रही है, इत्यादि बातों को कालनेमि भी नहीं जानता था और मुख से निकलकर उस की आज्ञाओं के शब्द वायुमण्डल में ठीक ठीक लुप्त भी न हुए होंगे कि इतने ही समय में सब कुछ ठीक ठाक करके माया ने उत्तर दिया कि आप के कथनानुसार सब तैयारी हो गई। अब आगे बतलाइए कि मैं क्या करूँ ?

कालनेमि ने कहा—अब तो कुछ करना धरना शेष नहीं रह गया है, केवल हनुमान् के आ फँसने की कसर बाकी रह गई है। बड़े आश्चर्य की बात है कि अब तक वह आया

मालूम होता है, हम लोगों ने बड़ी अस्वाभाविक फुर्तीबाजी से काम लिया है, क्योंकि यह बंदर भी कुछ साधारण वेग से चलनेवाला प्राणी नहीं है, मन के माफिक इस की चाल है। किंतु हाँ; एक बात तो भूली ही जा रही थी। ओफ, ओह; बड़े मौके से याद आ गई, नहीं तो सब किया कराया व्यर्थ हो जाना चाहता था।

माया ने चकित दृष्टि से कालनेमि की ओर ताकते हुए कहा—क्या है देव ? ऐसी कौन सी महत्वपूर्ण एक ही बात बाकी रह गई है जिस के बिना सब गुड़ गोबर हुआ जा रहा था।

कालनेमि ने कहा—अरे, कुछ मत पूछो। सचमुच ही वह सब से पहली और जरूरी बात है। ईश्वर को धन्यवाद है कि उन्होंने मेरी लाज रख ली। नहीं, तो मेरी सब अभिलाषा मन की मन में रह जाती और निश्चय ही आज रावण के हाथों यमपुर का पासपोर्ट मिल जाता। सुनो—बात यह है कि आज मेघनाद ने संमुख युद्ध में भगवान् राम के प्राणों से भी अधिक प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण को शक्ति से घायल कर दिया है। वे अभी तक अर्ध मृतक अवस्था में राम की गोद में पड़े हुए हैं। उन्हीं को स्वस्थ करने के लिए हनुमान् धवलागिरि पर से संजीवनी बूटी लेने चले हुए हैं और रावण की आज्ञा से मैं उन्हें इधर ही फँसा रखने के लिए यहाँ आया हुआ हूँ। सो तुम से मैं ने सब तरह की सुविधाएँ तो करवा लीं, और इस पर ध्यान ही नहीं दिया कि हनुमान् अपना वैसा जरूरी काम बीच में छोड़कर इस जगह उतरेंगे ही किस लिए और क्या सोचकर। अब तो सब कुछ तुम्हारी समझ में आ गया न ?

माया ने कहा—हाँ, हाँ, मजे में। यदि अब भी न समझती, तो क्या रावण जब आप को इस लोक से विदा कर देता और मुझ से दूसरों से सुनकर सब हाल मालूम होता तब समझती ? हाँ, तो अब यह बतलाइए कि उन्हें यहाँ उतरने पर बाध्य करने के लिए कोई युक्ति आप ने स्थिर कर ली ?

कालनेमि ने कहा—हाँ, स्थिर कर चुका हूँ। वह युक्ति यही है कि तुम अभी आकाशमार्ग से उड़ती हुई यहाँ से दक्षिण दिशा की ओर चली जाओ। मेरा ख्याल है कि शायद तुम्हें ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी, कुछ ही दूर जाने पर इधर आते हुए हनुमान् से तुम्हारी मुलाकात हो जायगी, क्योंकि वे अब यहाँ पहुँच ही रहे होंगे। यह तो तुम जानती ही होगी कि हनुमान् कभी थकनेवाले जीव नहीं हैं। इस लिए यह निश्चित है कि अपने लक्ष्य पर पहुँचने के पहले वे कहीं रुक नहीं सकते। परन्तु तुम्हें उन को रोककर इस बाग में उतारना ही होगा।

माया ने कहा—क्या उन्हें नीचे उतरने पर विवश करने के लिए कोई उपाय मुझे ही सोचना पड़ेगा ? क्योंकि आप ने केवल इतना ही कहा है कि दक्षिण ओर जाने पर शीघ्र ही

उन से भेंट होगी और उन्हें अवश्य पृथिवी पर उतारना पड़ेगा। आप ने यह नहीं बतलाया कि उन के ऊपर सवार होकर पृथिवी पर बलपूर्वक ठेल दूँगी या कोई पत्थल पहाड़ उन के ऊपर पटककर नीचे गिराऊँगी।

कालनेमि ने कहा—अरे, नहीं नहीं; इन उपायों से उन का बाल भी बाँका नहीं कर सकोगी, आकाश से उतारकर पृथिवी पर पहुँचाना तो बहुत दूर की बात है। इस लिए उन्हें उतारने का उपाय यही है कि आकाश में जब उन्हें तुम देखना, तो किसी किस्म की बाहरी—शरीर संबन्धी—छेड़खानी न करके उन के अन्तःकरण में प्रवेश कर जाना और बाद में उन के विवेक पर अपना पर्दा डालकर उसे इस तरह बेकार बना देना कि इस बाग, तालाब, मन्दिर वगैरह को देखकर वे मेरी माया का भेद न जान सकें। मैं समझता हूँ कि यह सब करने में तुम्हें जितना समय लगेगा उतनी देर में तुम दोनों ठीक इस बाग के ऊपर आकाश में आ जाओगे। बस, वहाँ पहुँचते ही तुम अग्नि का रूप धारण करके हनुमान् को प्यास से विकल और इतनी दूर तक चलकर आनेवाले किसी साधारण पथिक की भाँति भ्रान्त (थका हुआ) बना देना। फिर तो यह हो नहीं सकता कि वे यहाँ न उतर पड़ें और हमारे कब्जे में न आ जायँ।

कालनेमि के इतना कहकर चुप होने के साथ ही माया आकाश में उड़ गई और दक्षिणाभिमुख होकर हवा में मिल गई। कालनेमि ने उस से जैसा कहा था वैसा ही हुआ भी। हनुमान्‌जी से माया का कुछ ही क्षणों में साक्षात्कार हो गया। उन्हें देखते ही वह चुपके से उन के श्वासों में मिलकर भीतर घुस गई और कालनेमि की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने लगी। गर्ज यह कि माया के प्रपञ्च में पड़कर हनुमानजी प्यास से व्याकुल हो गये और पृथिवी की ओर देखने लगे कि कहीं कोई जलाशय और स्वच्छ स्थान दिखलाई दे, तो नीचे उतरकर प्यास बुझालूँ और थोड़ी देर विश्राम लेकर तब आगे बढ़ूँ; क्योंकि अब वह पर्वत भी कुछ दूर नहीं है जिस से विलम्ब होने अथवा कार्य में आलस्य करने का कोई भय हो।

वहाँ तो सब कुछ माया की प्रेरणा से हो ही रहा था। बाग और तालाब के ऊपर पहुँचकर ही तो हनुमान्‌जी ने नीचे दृष्टि डाली थी, इस लिए तुरंत उन्हें निर्मल जलाशय और स्वच्छ स्थान ही नहीं, अपितु एक ऋषि का आश्रम भी दिखलाई पड़ गया। आश्रम देखते ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि प्यास बुझानी और विश्रान्ति करनी ही है, तो इस से सुन्दर जल अथवा रमणीक स्थान आगे चलकर कदापि नहीं मिल सकता। अतः यहाँ उतरने के विषय में अधिक विचारना और विलम्ब करना व्यर्थ है। इस तरह माया के फेर में पड़कर हनुमान्‌जी नीचे पृथिवी पर उतर आये और आश्रम के दरवाजे की ओर चले कि इस में रहनेवाले मुनि से पूछकर सरोवर का जल पीऊँ।

माया को हनुमान्‌जी का पता लगाने और उन्हें मायित करने के लिए भेजकर कालनेमि ने अपना राक्षसरूप झट पट ऐसा बना लिया जैसे साक्षात् कोई सिद्ध महर्षि हो और हाथ में माला लेकर मुहँ से वारंवार 'राम राम' उच्चारण करता हुआ आश्रम के भीतर आसन लगा दिया। हनुमान्‌जी प्यास से व्याकुल तो थे ही, जल्दी जल्दी आकर दरवाजे पर से झाँककर उन्होंने देखा कि आश्रम के स्वामी मुनिजी बड़े प्रेमभाव से प्रभु का नाम जप रहे हैं। हनुमान्‌जी उस के बाहरी आडम्बर पर मुग्ध हो गये, मायावश यह नहीं जान सके कि यह धूर्त राक्षस है और मुझे फाँसने के लिए ऐसा बाना बना रहा है। वे सीधे जाकर उस के पैरों पर गिर पड़े और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम भी किया। हनुमान्‌जी को निःशङ्क देखकर मुनिवेषधारी कालनेमि अपने मन में बडा प्रसन्न हुआ कि मेरी माया इन के ऊपर खूब मजे में कारगर हो गई और शायद अब मैं अवश्य अपने कार्य में पूर्णतः सफल होकर यहाँ से लौटूँगा। उस मूर्ख ने यह एक बार भी नहीं सोचा कि अपने भक्त की रक्षा करने में भगवान् पल भर भी गाफिल नहीं पड़ते। वह खुश होकर अपनी भगवद्भक्ति सिद्ध करने की चेष्टा करता हुआ भगवान् के अलौकिक गुणों की अनेक कथाएँ सुमधुर भाषा में हनुमान्‌जी को सुनाने लगा। कथा के सिलसिले में उस ने हनुमान्‌जी से कहा कि इस समय त्रिभुवनपति रामचन्द्रजी राक्षसराज रावण के साथ युद्ध करने में लगे हुए हैं। यद्यपि रावण आज तक सर्वत्र विजयी होता चला आया है और इस बार भी उस के मन में ऐसा ही निश्चय है कि मैं जरूर जीतूँगा, किंतु अब की उस की जीत नहीं, मृत्यु होगी। रामचन्द्रजी के बाण रावण के प्राणों का अवश्य हरण करेंगे, इस में रत्ती भर भी संदेह नहीं है। मेरी बातें सुनकर तुम्हें विस्मय हो रहा होगा कि कहाँ लङ्का का रामरावणयुद्ध और कहाँ यह धवलागिरि की तराई; और यहाँ बैठा बैठा ही मैं वहाँ की बातों का किस तरह तुम से वर्णन कर रहा हूँ! किंतु भाई, मैं पहचान रहा हूँ कि तुम भी एक सच्चे रामभक्त हो, और इस नाते तुम सचमुच ही मेरे अभिन्नहृदय मित्र हो। इस लिए मैं तुम से कुछ पर्दा नहीं रखना चाहता, सब सत्य सत्य बतला देना चाहता हूँ। बात ऐसी है कि मैं ने हजारों वर्ष कठिन तपस्या करके, बड़ी बडी साधनाओं का साधन करके ज्ञानदृष्टि प्राप्त कर ली है। हालाँ कि संसार में और भी बहुत से तपस्वी हैं और उन में से बहुतों को थोडी बहुत ज्ञानदृष्टि मिल भी गई है, पर मुझे जैसी प्रबल और अधिक मात्रा में वह दृष्टि मिली हुई है वैसी कदाचित् किसी को नहीं मिली है। यही कारण है कि मैं यहाँ से संपूर्ण लङ्का और वहाँ होनेवाली सब बातें स्पष्ट रूप से बिलकुल प्रत्यक्ष की तरह देखने में समर्थ हो रहा हूँ। अस्तु; विशेष बातें फिर होंगी। तुम शायद कहीं की लंबी यात्रा से आ रहे हो और इस समय मेरे अतिथि के रूप में उपस्थित हो। इस लिए कहो कि मैं तुम्हारा क्या सत्कार करूँ?

हनुमान्‌जी ने कहा—भगवन्, मुझे बहुत तेज प्यास लगी हुई है, मैं जल पीना चाहता हूँ।

मुनि (कालनेमि) ने कहा—लो, यह कमण्डलु भरा रखा है। इस में का निर्मल स्वादिष्ट जल पीकर अपनी पिपासा शान्त करो।

हनुमान्‌जी ने कहा—इतने जल से मेरी तृप्ति नहीं हो सकेगी। मैं जरा दीर्घ आहार विहार करनेवाला हूँ, अतः थोड़े में मुझे संतोष नहीं होता। आज्ञा हो, तो तालाब में जाकर जल पी लूँ और थकावट दूर करके पुनः अपना रास्ता पकड़ूँ।

मुनि ने कहा—आश्चर्य है कि भक्त होते हुए भी तुम्हारे अंदर संतोष की अभी तक बड़ी भारी कमी बनी ही हुई है। यों तो यह असंतोष प्राणिमात्र के लिए हानिकारक—कल्याण-विरोधी—है, किंतु भक्त के लिए तो यह भयंकर जहर ही है। मालूम होता है, आज तक किसी योग्य गुरु से तुम्हारी भेंट नहीं हुई है और यह निश्चित बात है कि गुरु के मुख से ज्ञानोपदेश सुने बिना सच्चा संतोष और शान्ति नहीं होती। सो मैं चाहता हूँ कि आज दैवयोग से तुम्हारा भाग्योदय हो गया है और मेरे जैसा गुरु मिल गया है, तो इस अवसर का तुम्हें उचित लाभ उठा लेने दूँ अर्थात् दीक्षा देकर तुम्हारे अज्ञान को दूर कर दूँ जिस से तुम्हें शान्ति और संतोष की प्राप्ति हो जाये और थोड़े में न अघा सकने की शिकायत न रहने पाये। इस लिए जाओ, तालाब में स्नान कर आओ और मुझ से दीक्षा ले लो।

कहना नहीं होगा कि हनुमान्‌जी पूर्ण रूप से कालनेमि के मायाजाल में पड़ चुके थे और अगर कुछ कसर रह गई थी, तो उस की पूर्ति के लिए कालनेमि दीक्षा देने का दूसरा जाल बिछा चुका था। उस कपटी मुनि की आज्ञा मानकर दीक्षा लेने के विचार से हनुमान्‌जी तालाब में स्नान करने चले ही नहीं गये, बल्कि उस तालाब के जल में उतर भी गये। और यह तो भगवान् ही जानते हैं कि तालाब में स्नान करके कालनेमि से दीक्षा लेने का उन्हें क्या फल मिलता? वहाँ से बचकर वे संजीवनी लेने और लङ्का जाकर लक्ष्मणजी की जान बचाने में सफल होते या नहीं, यह कौन कह सकता है। किंतु यह तो होना नहीं था; फिर कालनेमि की माया किस तरह सफल हो? हनुमान्‌जी जब तालाब में उतरकर थाह लेते हुए धीरे धीरे स्नान करने भर पानी की ओर बढ़ते चले जा रहे थे उसी बीच में एकाएक उन का पैर किसी जलजन्तु के ऊपर पड़ गया। हनुमान्‌जी की गम्भीरता तो सर्वविदित ही है, फिर एक क्षुद्र जलजन्तु बिचारा कैसे उन का भार सँभाल सकता था? हनुमान्‌जी के पैरों से दबने के कारण उस के प्राण व्याकुल हो उठे। इस लिए बड़े क्रोध के साथ उस ने हनुमान्‌जी के दोनों पैरों को जकड़ लिया। दो चार बार हनुमान्‌जी ने कोशिश की कि वह उन का पैर छोड़ दे, पर जब वह अपने शरीर को और अधिक कड़ा करने लगा, तो हनुमान्‌जी को भी क्रोध आ गया और उन्होंने अपने पैरों से कुचलकर भीतर ही भीतर उसे मार डाला। इस के बाद वे स्नान करने के लिए अपने सिर को पानी के अंदर डालने जा ही रहे थे कि उस जन्तु का मरा

माया को हनुमान्जी का पता लगाने और उन्हें मोहित करने के लिए भेजकर कालनेमि ने अपना राक्षसरूप झट पट ऐसा बना लिया जैसे साक्षात् कोई सिद्ध महर्षि हो और हाथ में माला लेकर मुहँ से वारंवार 'राम राम' उच्चारण करता हुआ आश्रम के भीतर आसन लगा दिया। हनुमान्जी प्यास से व्याकुल तो थे ही, जल्दी जल्दी आकर दरवाजे पर से झाँककर उन्होंने देखा कि आश्रम के स्वामी मुनिजी बड़े प्रेमभाव से प्रभु का नाम जप रहे हैं। हनुमान्जी उस के बाहरी आडम्बर पर मुग्ध हो गये, मायावश यह नहीं जान सके कि यह धूर्त राक्षस है और मुझे फाँसने के लिए ऐसा बाना बना रखा है। वे सीधे जाकर उस के पैरों पर गिर पड़े और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम भी किया। हनुमान्जी को निःशङ्क देखकर मुनिवेषधारी कालनेमि अपने मन में बड़ा प्रसन्न हुआ कि मेरी माया इन के ऊपर खूब मजे में कारगर हो गई और शायद अब मैं अवश्य अपने कार्य में पूर्णतः सफल होकर यहाँ से लौटूँगा। उस मूर्ख ने यह एक बार भी नहीं सोचा कि अपने भक्त की रक्षा करने में भगवान् पल भर भी गाफिल नहीं पड़ते। वह खुश होकर अपनी भगवद्भक्ति सिद्ध करने की चेष्टा करता हुआ भगवान् के अलौकिक गुणों की अनेक कथाएँ सुमधुर भाषा में हनुमान्जी को सुनाने लगा। कथा के सिलसिले में उस ने हनुमान्जी से कहा कि इस समय त्रिभुवनपति रामचन्द्रजी राक्षसराज रावण के साथ युद्ध करने में लगे हुए हैं। यद्यपि रावण आज तक सर्वत्र विजयी होता चला आया है और इस बार भी उस के मन में ऐसा ही निश्चय है कि मैं जरूर जीतूँगा, किंतु अब की उस की जीत नहीं, मृत्यु होगी। रामचन्द्रजी के बाण रावण के प्राणों का अवश्य हरण करेंगे, इस में रत्ती भर भी संदेह नहीं है। मेरी बातें सुनकर तुम्हें विस्मय हो रहा होगा कि कहाँ लङ्का का रामरावणयुद्ध और कहाँ यह धवलागिरि की तराई; और यहाँ बैठा बैठा ही मैं वहाँ की बातों का किस तरह तुम से वर्णन कर रहा हूँ! किंतु भाई, मैं पहचान रहा हूँ कि तुम भी एक सच्चे रामभक्त हो, और इस नाते तुम सचमुच ही मेरे अभिन्नहृदय मित्र हो। इस लिए मैं तुम से कुछ पर्दा नहीं रखना चाहता, सब सत्य सत्य बतला देना चाहता हूँ। बात ऐसी है कि मैं ने हजारों वर्ष कठिन तपस्या करके, बड़ी बड़ी साधनाओं का साधन करके ज्ञानदृष्टि प्राप्त कर ली है। हालाँ कि संसार में और भी बहुत से तपस्वी हैं और उन में से बहुतों को थोड़ी बहुत ज्ञानदृष्टि मिल भी गई है, पर मुझे जैसी प्रबल और अधिक मात्रा में वह दृष्टि मिली हुई है वैसी कदाचित् किसी को नहीं मिली है। यही कारण है कि मैं यहीं से संपूर्ण लङ्का और वहाँ होनेवाली सब बातें स्पष्ट रूप से बिलकुल प्रत्यक्ष की तरह देखने में समर्थ हो रहा हूँ। अस्तु; विशेष बातें फिर होंगी। तुम शायद कहीं की लंबी यात्रा से आ रहे हो और इस समय मेरे अतिथि के रूप में उपस्थित हो। इस लिए कहो कि मैं तुम्हारा क्या सत्कार करूँ?

हनुमान्जी ने कहा—भगवन्, मुझे बहुत तेज प्यास लगी हुई है, मैं जल पीना चाहता हूँ।

खींचने का प्रयत्न करूँ। यदि सब की तरह मैं ने भी ऐसा ही किया, तो मेरी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरता ही क्या और किस काम की रही ? इस लिए उसे भी कम से कम मेरे लिए तो ऐसा प्रयत्न करना ही चाहिए जिस से मैं अपने प्रति उस के प्रेम का कुछ थोड़ा बहुत अनुमान कर सकूँ। मैं ने अपना यह विचार अपनी सखियों पर भी प्रकट कर दिया और उन सबों ने इस का समर्थन भी किया, परंतु एक चतुर सखी ने कहा कि आखिर जब तक वह तुझे देखेगा ही नहीं तब तक बिचारा अपना प्रेम क्या तेरी बला से करेगा ? इस पर जब मैं ने कहा कि मैं ही कब उसे देख चुकी हूँ जो इस प्रकार तुम लोग उस के साथ मेरे गठबन्धन तक की तैयारी कर चुकी हो, तो उस ने कहा कि तूँ अभी तक अपने को छिपाकर रखने के कारण अमरावती में प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सकी है, और वह दिन रात सब को आँखों के सामने आ जाकर काफी मशहूर हो चुका है। इस लिए तूँ खुद सोच सकती है कि जब उस ने तेरे बारे में कुछ जाना सुना भी नहीं है, तो भला तुझे क्या हक है कि उसे किसी किस्म का दोष दे सके ? और तूँ ने अपनी सखियों से उस के रूप, गुण, शील, स्वभाव आदि सभी बातों की चर्चा सुन ली है और मन ही मन जान रही है कि उसी तरह के पुरुष से मैं प्रेम कर सकती हूँ। इस हालत में जिस से पूछेगी वही तुझे यही राय देगा कि तेरा ही कर्तव्य है कि पहले उस के सामने अपने को प्रत्यक्ष करके उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर। हाँ, इतने पर भी अगर वह तेरी उपेक्षा करे, तुझ से प्रेम के हाव भाव न दिखलावे, तब दूसरी बात है और तभी दूसरा उपाय करने की भी जरूरत पड़ सकती है। किंतु अभी तो हर हालत में यही उचित और जायज मालूम हो रहा है कि तूँ एक बार किसी तरह उसे अपना यह रूप दिखला दे।

बात सच तो थी ही, दूसरे मैं अब अपने दिल में एक प्रकार की कमजोरी भी महसूस करने लगी थी कि उस के साथ चार आँखें हुए बिना शायद मुझे चैन नहीं मिल सकता। इस लिए अपनी सखी की बातों से मिला हुआ अवसर अब किसी तरह मैं व्यर्थ नहीं जाने देना चाहती थी। मैं ने कहा—अगर तुम लोगों को यही ठीक मालूम होता है कि मैं ही पहले उस के सामने जाने और उसे रिझाने का ठीका उठाऊँ, तो मैं अपनी ओर से इनकार ही कैसे कर सकती हूँ; क्योंकि तुम्हीं लोग तो मेरी पथप्रदर्शिका, शुभचिन्तिका और न जाने क्या क्या हो, फिर तुम लोगों की राय के खिलाफ मैं कुछ कर भी कैसे सकती हूँ ? तुम लोग जैसा उचित समझो, करो, कराओ; मैं सब तरह से तैयार हूँ।

सखी ने कहा—जब तूँ तैयार है, तो अब और क्या करना कराना है ? सिर्फ महाराज इन्द्र के दर्बार में ऐसे समय से पहुँच चलने की जरूरत है, जब कि वह युवक भी वहाँ मौजूद रहे।

मैं ने कहा—लेकिन महाराज ने तो अपने दर्बार का इन दिनों नियम ही न मालूम कैसा उलटा सीधा बना रखा है कि वहाँ जब अप्सराएँ रहती हैं तब गन्धर्व नहीं आने पाते और

हुआ शरीर छोड़कर उस की आत्मा ने एक स्वर्गीय अप्सरा का रूप धारण कर लिया और विमान पर चढ़कर आकाश में क्रमशः ऊपर जाना प्रारम्भ कर दिया। हनुमान्‌जी को इस घटना से बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चकित दृष्टि से ऊपर देखने लगे। उन्हें अपनी ओर ध्यान सहित देखते देखकर कुछ देर के लिए उस अप्सरा ने अपना विमान आकाश में स्थिर कर दिया और हनुमान्‌जी को संबोधित करके कहा——

हे कपीश, मुझे देखकर आश्चर्यान्वित होना तुम्हारे लिए स्वाभाविक ही है। परंतु तुम ने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है। इस लिए तुम्हें आश्चर्यसागर में पड़े पड़े डूबते उतराते रहने के लिए छोड़कर मैं चली जाना नहीं चाहती। तुम्हें अपना पूरा हाल बतलाकर यहाँ जाऊँगी, तो कृतघ्नतादोष की भागी बनूँगी, क्योंकि तुम्हारी ही कृपा से आज मैं मकरयोनि से मुक्त होकर अपना पूर्व शरीर प्राप्त कर सकी हूँ।

अमरावती नगरी में एक गन्धर्व रहता था। वह वहाँ के राजा इन्द्र का बड़ा कृपापात्र समझा जाता था। उस की युवावस्था, सुगठित शरीर, सुन्दर मुखाकृति और आकर्षक आँखों पर इन्द्रपुरी की सभी अप्सराएँ मुग्ध थीं, सब इस प्रयत्न में लगी रहतीं कि वह गन्धर्व मेरे प्रति स्निग्धता प्रदर्शित करे——मुझ से प्रेम दिखलाये।

वह गन्धर्व देवराज इन्द्र की सभा का प्रमुख गायक था। उस का वीणाविनिन्दक स्वर जब सितार के स्वर के साथ एकाकार होकर वायु के द्वारा अमरावती के कोने कोने में फैल जाता तब वहाँ ऐसा कोई ऋषि, महर्षि, सिद्ध, गन्धर्व, नाग, किन्नर नहीं रहता जो अपने हृदय को अपनी मुट्ठी में सँभालकर रख सकता——जो जहाँ जिस कार्य में रहता वह उस कार्य को भूल जाता और मन्त्रमुग्ध होकर उस की स्वरलहरी में बह जाता। वन के पशु, पक्षी और मृग आदि भी अपना अपना आहार विहार छोड़कर उस के गाने को तल्लीनता के साथ सुनते रहते।

मेरा घर भी उसी नगरी में था और मैं भी इन्द्र की सभा में गाने के ही काम पर नियुक्त थी। जिस प्रकार पुरुषों में वह गन्धर्व सब से ऊँचा गायक प्रसिद्ध हो गया था उसी प्रकार महिलाओं में मेरी बराबरी करनेवाली कोई नहीं थी। मेरी अवस्था भी उस के बराबर ही थी और शारीरिक गठन में तो मैं अप्सराओं की सिरमौर थी ही। मैं ने भी अपनी सखियों से उस युवक की तारीफें सुनीं; और किसी किसी ने तो मुझे यहाँ तक बतलाया कि मैं ही इस लोक में एक सुन्दरी हूँ जिस की ओर उस गन्धर्व के झुकाव की कुछ संभावना मालूम होती है। मेरी सखियाँ मुझे इस बात के लिए उसकाती रहतीं कि मैं अपने हाव भाव से उसे अपनी तरफ आकर्षित करूँ, किंतु मैं सोचती थी कि जब पुरुषों में वह और स्त्रियों में मैं सब से बढ़ चढ़कर हूँ, तो कोई कारण नहीं कि सब स्त्रियों की भाँति मैं भी उसे अपनी ओर

कुछ करने लायक नहीं रहा जा सकता है। कारण, जो उपाय मैं ने सोचा है उस में तेरे पिताजी को भी पार्ट लेना पड़ेगा। पुरुषों की महफिल में अगर कोई स्त्री जाना चाहती है, तो उसे पुरुष की मदद पहले लेनी ही पड़ती है। इस लिए यह तो पूछना ही व्यर्थ है कि पिताजी को इस कार्य में मैं क्यों शामिल कर रही हूँ। रही बात यह पूछने की कि इस कार्य में भाग लेकर उन्हें ऐसा कौन सा कार्य करना पड़ेगा जिस के लिए इतने इंतजाम बात और छिपाव दुराव की जरूरत पड़ रही है? तो इस का जवाब ही दर असल में सब बातों का जवाब और वही उस नियम का अपवाद है। मैं ने बहुत सोच समझकर जब देख लिया कि इस के अलावे और कोई रास्ता नहीं है तब अन्त में इस उपाय को अपने मन में स्थिर किया है।

मैं ने कहा—सखी, जब पिताजी की ही बात है, तो उसे मुझ से क्यों छिपाना चाहती थी? क्या तुझे मालूम नहीं कि पिताजी की कोई बात मुझ से छिपी नहीं रहती है? दूसरी कोई संतान न रहने के कारण या किसी भी वजह से सही, वे मुझ से राय लिये बिना कोई छोटी से छोटी बात भी नहीं करते?

सखी ने कहा—सो सब तो मैं भली भाँति जानती हूँ, और इसी लिए मुझे अपने सोचे उपाय के सफल होने की आशा भी है। लेकिन थोड़ी सी अड़चन उस में यही है कि वह काम उन के स्वभाव के विरुद्ध है। तूँ तो जानती ही है कि अपने मुँह से वे अपनी या अपने सगे संबन्धी की किसी के आगे तारीफ करके कोई काम नहीं निकाला करते; इसे वे अपनी इज्जत बेचने के बराबर समझते हैं। और मैं ने उस स्वभाव के वजह ही यह उपाय स्थिर किया है कि कल वे जब दर्बार में जायँ और वहाँ उस युवक गन्धर्व को गाने में मशगूल पायें, तो उसी समय महाराज इन्द्र के सामने मुझे यह कहकर पेश करें कि 'देवेन्द्र, आज इन महाशय का गाना समाप्त होने पर एक मिनट के लिए दर्बार को और कायम रखें—सभाविसर्जन न करें—एवं कृपा करके मेरी इस कन्या का भी एक गाना सुन लें। इसे (कन्या को) वह गाना मैं ने कल ही सिखाकर तैयार कराया है, और इसी समय इस लिए सुनवा देना चाहता हूँ, ताकि उसे सुनकर श्रीमान् अपने श्रीमुख से विवेचन करके ठीक ठीक कह सकें कि दोनों के गानों में कितना अन्तर अथवा समानता है।' तेरे पिता को देवराज मानते तो हैं ही; दूसरी बात यह भी है कि उस समय गाने के प्रसंग में संभवतः उन्हें यह ध्यान भी न रहे कि तेरे पिता कोई नियमविरुद्ध कार्य कर रहे हैं। बस, फिर क्या पूछना है? अवश्य ही वे नियमभङ्ग से होनेवाले क्रोध को भूलकर प्रसंगानुरूप तुझे गाना सुनाने की आज्ञा दे बैठेंगे और इस प्रकार उस युवक से तेरी चार आँखें अनायास ही हो जायँगी।

यह तो कहना ही नहीं है कि अपनी सखी की बातों से मुझे कितनी प्रसन्नता हुई और उस युवक से मिलने की कितनी प्रबल आशा मेरे मन में लहराने लगी; फिर

जब गन्धर्व रहते हैं तब हम लोग नहीं जाने पातीं। ऐसी हालत में उस के रहते हम दर्बार में क्योंकर उपस्थित हो सकती हैं ?

सखी ने कहा—नियम होता है, तो उस का अपवाद भी होता ही है। यह दूसरी बात है कि उस अपवाद का स्वरूप खड़ा करने में कुछ थोड़ी बहुत कठिनाई का सामना करना पड़े या कुछ विलम्ब लग जाय। पर इस के लिए चिन्ता करना अनावश्यक है। कठिनाई और देर का विचार करके किसी अपूर्व वस्तु के पाने की लालसा इतिहास में आज तक न तो किसी ने छोड़ी है, न भविष्य में ही कोई इस तरह के कामों में अनुत्साहित होनेवाला उत्पन्न होगा। बल्कि मेरा तो यही अनुभव है कि कठिनाई, परिश्रम और समय की अधिकता, ये तीनों ही जिस काम में जितनी अधिक मात्रा में सामने आते हैं, उस कार्य की सिद्धि के बाद उन का उतना ही अधिक महत्त्व और मूल्य आँका जाता है, और उसी के अनुसार फलप्राप्ति के आनन्द में विशेषता तो रहती ही है। इस लिए इस बात की तूँ बिलकुल चिन्ता न कर कि इन्द्र सभा में पुरुषों की उपस्थिति में हम स्त्रियाँ कैसे जा सकती हैं ? इस का उपाय मैं बतलाऊँगी, तुझे केवल चलने के लिए तैयार रहने की जरूरत है।

मैं ने कहा—सखी, यह मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि जैसा तुम लोग कहोगी वैसा करने में मुझे अब कभी कोई आपत्ति नहीं होगी, मैं सदा तुम्हारी राय पर चलने के लिए अपने को सब तरह से कायम कर चुकी हूँ। किंतु मैं पूछती हूँ कि यदि वह नियम की अपवादवाली बात मुझ से कहने में कोई हर्ज न हो, तो व्यर्थ उसे छिपाकर मुझे क्यों चिन्तित कर रखना चाहती हो ? क्या मेरे सुन लेने से तुम्हारा वह उपाय कारगर नहीं होगा ? या इस के अलावे कोई दूसरी ही बात है जिस के कारण तुम मुझ से भी उस विषय में पर्दा रखना चाहती हो ?

सखी ने कहा—तूँ मेरे कहने के मुताबिक चलने के लिए तैयार है, इस के लिए मैं अपने को भाग्यशालिनी समझती हूँ और तुझे पूरी तरह से विश्वास दिला देना चहती हूँ कि तेरा मनोरथ अवश्य सफल होगा। पर तूँ ऐसा क्यों समझ रही है कि मैं या हम में से कोई भी तुझ से कुछ छिपाकर करता धरता है ? तूँ निश्चय समझ ले कि भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों काल में स्वप्न में भी हम लोग तुझ से कुछ छिपाकर न रखी हैं, न रखती हैं, न रख सकती हैं। उस नियम का अपवाद क्या होगा, यह अभी विचारकर स्थिर करना था, इसी से अब तक उसे तूँ नहीं सुन सकी थी, नहीं, तो मैं पहले ही नहीं कह दिये होती ? हाँ, अब मैं ने मन में सोचकर उपाय स्थिर कर लिया है। सो अब अगर तूँ उसे जानना चाहती है, तो खुशी से जान सकती है। परन्तु यह बात अवश्य है कि उस बात का पर्दा सुनकर यहीं तुझे भूल जाना पड़ेगा अर्थात् वह बात और किसी के सामने भूलकर भी तेरे मुँह से न निकलने पावे, क्योंकि ऐसा होने से हम लोगों की चाल झूठी पड़ जा सकती है और उस दशा में फिर

कुछ करने लायक नहीं रहा जा सकता है। कारण, जो उपाय मैं ने सोचा है उस में तेरे पिताजी को भी पार्ट लेना पड़ेगा। पुरुषों की महफिल में अगर कोई स्त्री जाना चाहती है, तो उसे पुरुष की मदद पहले लेनी ही पड़ती है। इस लिए यह तो पूछना ही व्यर्थ है कि पिताजी को इस कार्य में मैं क्यों शामिल कर रही हूँ। रही बात यह पूछने की कि इस कार्य में भाग लेकर उन्हें ऐसा कौन सा कार्य करना पड़ेगा जिस के लिए इतने इंतजाम बात और छिपाव दुराव की जरूरत पड़ रही है? तो इस का जवाब ही दर असल में सब बातों का जवाब और वही उस नियम का अपवाद है। मैं ने बहुत सोच समझकर जब देख लिया कि इस के अलावे और कोई रास्ता नहीं है तब अन्त में इस उपाय को अपने मन में स्थिर किया है।

मैं ने कहा—सखी, जब पिताजी की ही बात है, तो उसे मुझ से क्यों छिपाना चाहती थी? क्या तुझे मालूम नहीं कि पिताजी की कोई बात मुझ से छिपी नहीं रहती है? दूसरी कोई संतान न रहने के कारण या किसी भी तरह से सही, वे मुझ से राय लिये बिना कोई छोटी से छोटी बात भी नहीं करते?

सखी ने कहा—सो सब तो मैं भली भाँति जानती हूँ, और इसी लिए मुझे अपने सोचे उपाय के सफल होने की आशा भी है। लेकिन थोड़ी सी अड़चन उस में यही है कि यह काम उन के स्वभाव के विरुद्ध है। तूँ तो जानती ही है कि अपने मुँह से वे अपनी या अपने सगे संबन्धी की किसी के आगे तारीफ करके कोई काम नहीं निकाला करते; इसे वे अपनी इज्जत बेचने के बराबर समझते हैं। और मैं ने उस स्वभाव के उलटा ही यह उपाय स्थिर किया है कि कल वे जब दर्बार में जायँ और वहाँ उस युवक गन्धर्व को गाने में मशगूल पायें, तो उसी समय महाराज इन्द्र के सामने तुझे यह कहकर पेश करें कि 'देवेन्द्र, आज इन महाशय का गाना समाप्त होने पर एक मिनट के लिए दर्बार को और कायम रखें—सभाविसर्जन न करें—एवं कृपा करके मेरी इस कन्या का भी एक गाना सुन लें। इसे (कन्या को) वह गाना मैं ने कल ही सिखाकर तैयार कराया है, और इसी समय इस लिए सुनवा देना चाहता हूँ, ताकि उसे सुनकर श्रीमान् अपने श्रीमुख से विवेचन करके ठीक ठीक कह सकें कि दोनों के गानों में कितना अन्तर अथवा समानता है।' तेरे पिता को देवराज मानते तो हैं ही; दूसरी बात यह भी है कि उस समय गाने के प्रसंग में संभवतः उन्हें यह ध्यान भी न रहे कि तेरे पिता कोई नियमविरुद्ध कार्य कर रहे हैं। बस, फिर क्या पूछना है? अवश्य ही वे नियमभङ्ग से होनेवाले क्रोध को भूलकर प्रसंगानुरूप तुझे गाना सुनाने की आज्ञा दे बैठेंगे और इस प्रकार उस युवक से तेरी चार आँखें अनायास ही हो जायेंगी।

यह तो कहना ही नहीं है कि अपनी सखी की बातों से मुझे कितनी प्रसन्नता हुई और उस युवक से मिलने की कितनी प्रबल आशा मेरे मन में लहराने लगी; फिर

भी मैं ने अपनी सखी से पूछा—आली, जब तुम मेरे पिता की प्रकृति को जान रही हो कि वे अपने मुँह से अपनी तारीफ नहीं करते—और 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुसार अपनी संतान अपना ही रूपान्तर है—ऐसी परिस्थिति में तुम्हें यह भरोसा कैसे हो रहा है कि तुम्हारे कहने के मुताबिक वे मुझे अपने साथ दर्बार में ले जायेंगे और मेरे गाने की तारीफ ही नहीं, बल्कि अपने सिखलाने की भी बहादुरी जतायेंगे ?

सखी ने कहा—इन बातों से तुझे कोई सरोकार नहीं। मैं ने किस तरह उन्हें राजी कर लिया, यह तूँ पीछे खुद जान जायगी। हाँ, अगर इस विषय में वे तुझ से कुछ पूछें जाँचें, तो तूँ यही कहना कि मैं कुछ नहीं जानती, न मैं ने इस संबन्ध में किसी से कोई बात चीत ही की है।

मैं ने अपनी सखी का कहना मान लिया। वह सचमुच बड़ी चतुर सखी थी। न जाने उस ने मेरे पिताजी को क्या उलटा सीधा पाठ पढ़ाया कि वे वस्तुतः दूसरे दिन दर्बार में जाने के समय से कुछ पहले ही मेरे पास आकर कह गये कि उन के साथ मुझे भी आज देवेन्द्र की सभा सुशोभित करनी पड़ेगी। मैं तो उन के हुक्म की बाट पहले से ही जोह रही थी। और तैयारी मुझे क्या उन के कहने पर करनी थी ? अरे, वह तो तभी से हुई रखी थी जब से अपनी सखियों से मैं ने उस युवक के रूप गुण की प्रशंसा सुनी थी। सखियाँ अपनी विफलता का—अपने हाव भाव दिखलाने की व्यर्थता का—जितना ही वर्णन कर कर मुझ से उस युवक की गम्भीरता का परिचय देतीं उतना ही मैं दृढ़ होकर अपना शृङ्गार बढ़ाती जाती और मन में निश्चय रखती कि इन सबों की तरह यदि एक बार भी मुझे अपने उद्योग में कामयाबी न मिली, तो मैं दुबारा उस के सामने अपना चेहरा नहीं दिखलाऊँगी, इतना ही नहीं; बल्कि संभव हुआ और जरूरत मालूम पड़ी, तो मैं अपनी जान तक दे डालूँगी। परंतु भगवान् की कृपा से मेरे लिए वैसा अवसर ही नहीं आया।

ठीक समय पर पिताजी के साथ मैं उस सभा में हाजिर हो गई। मैं ने यह सब बिल्कुल नहीं जाना कि वहाँ जाकर इन्द्र महाराज के साथ पिताजी ने क्या क्या बातें की अथवा मेरे बारे में क्या कहा सुना। मेरी तो वहाँ पहुँचते ही जो उस युवक के ऊपर दृष्टि पड़ी वह उस समय तक वहीं टिकी रह गई जब तक मुझ से यह नहीं कहा गया कि 'अब अपना गाना सुनाकर तुम शचीपति का मनोरञ्जन करो।' हनुमान्‌जी, आप से मैं एक अक्षर भी झूठ नहीं कह रही हूँ; वस्तुतः उसे देखकर मैं अपने आप को भूल गई और मुझे वहाँ के नियम कायदों की भी याद नहीं रह गई कि मैं एक बार प्रथा और सभ्यता के अनुसार महाराज इन्द्र और महारानी शची का अभिवादन कर लेती। किंतु देवताओं के राजा इन्द्र वास्तव में देवताओं के राजा हैं, असुरों के राजा नहीं हैं; क्योंकि उन्होंने मेरी धृष्टता या उच्छृङ्खलता पर रत्ती भर भी

ध्यान नहीं दिया और बाद में गाने का हुक्म पाने पर जब मैं ने चौंककर उन्हें नतमस्तक हो प्रणाम किया, तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक हँसकर और मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया कि 'तेरी मनोवाञ्छा पूरी हो।'

आप ही कहो कपोता, कि क्या कोई दूसरा राजा महाराजा या धनी मानी अपने सामने हो किसी छोकरी की ऐसी हर्कत और ढिठाई देखकर उसे क्षमा कर सकता था ? किंतु देवेन्द्र ने क्षमा दी, इतना ही नहीं, प्रत्युत साथ साथ मेरे उस आचरण का अप्रत्यक्ष रूप से अनुमोदन भी किया। हाँ, मैं उन के आशीर्वचन को उन का हार्दिक अनुमोदन ही आज तक मानती चली आ रही हूँ और आग भी वही मानती रहूँगी। और कोई चाहे जो कुछ कहे, पर में तो इसे भी उन के आशीर्वाद का ही प्रभाव मानती हूँ कि जो युवक अमरावती की तमाम सुन्दरियों के हाव, भाव, कटाक्ष की अवहेलना कर चुका था, जिस ने किसी की ओर एक बार देखकर उस की उतनी भी इच्छा नहीं पूरी की, जिस का स्वभाव ही शायद युवतियों की ओर न देखना हो गया था वही युवक दर्बार में मेरे उपस्थित होते ही मेरी रूपसुधा का पान करने में एकदम मेरी ही भाँति तल्लीन हो गया। अस्तु, पिता और इन्द्र की आज्ञा मानकर मैं ने गाना प्रारम्भ किया। पहले तो मैं मन ही मन बहुत घबड़ाई कि मन की ऐसी डावाँडोल स्थिति में भला मुझ से गाना किस प्रकार बन सकेगा, किंतु बड़ों की आज्ञा भी कदाचित् आशीर्वाद का ही काम करती है; क्योंकि गाना शुरू करने पर मुझे अपने हृदय में ऐसा बल मालूम होने लगा, मानों गीत की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती स्वयं मेरी वाणी में आ घुसी हों और अपने आप मेरे कण्ठ से ध्वनि निकलती चली जा रही हो। वस्तुतः उस दिन मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि इस तरह का गाना मैं ने आज तक कभी नहीं गाया है, और इस अनुभव की सत्यता का मुझे उस समय प्रमाण भी मिल गया जब वह सर्वदा का सकोची युवक सब के सामने एकाएक अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर बैठा और वाह वाह करता हुआ मेरे स्वर में स्वयं स्वर मिलाने लगा।

मेरे गाने से प्रसन्न होकर मेरे पिता ने मेरा मस्तक चूम लिया और महाराज इन्द्र ने अपने कण्ठ का कीमती मुक्ताहार निकालकर मेरे गले में डाल दिया। इस के बाद भी जब उन्हें सतोष नहीं मालूम हुआ, तो उन्होंने कहा—पुत्रि, यह हार तो मैं ने तात्कालिक उत्तेजना वश दे डाला है। वास्तव में तो तेरा गाना इतना सुन्दर हुआ है कि द्रव्य द्वारा उस का पूर्ण पुरस्कार हो ही नहीं सकता। फिर भी मैं अपनी उत्सुकता शान्त करने के लिए कुछ न कुछ तुझे और देना चाहता हूँ। इस लिए तेरी जो इच्छा हो वह वरदान तूँ मुझ से माँग ले।

मैं संकोचवश ज्यों की त्यों खड़ी रही, कुछ कहते नहीं बना। इस पर महाराज ने पुनः अपनी बात दोहराई और जोर देकर मुझे वरदान माँगने के लिए उत्साहित किया। आखिर बड़े प्रयत्न से मैं ने अपने मन को स्थिर किया और किसी प्रकार सकोच को दूर करके बहुत मन्द

स्वर में कहा—देवेश की यदि यही आज्ञा है, तो उस का पालन न करने में भला मेरा कब कुशल है, किंतु अपनी समझ में तो मैं अपने गाने का जितना पुरस्कार पा चुकी हूँ वही मुझे बहुत मालूम हो रहा है।

देवाधिपति (इन्द्र) ने कहा—परंतु तुझे अपनी समझ से काम लेने के लिए तो मैं ने कहा नहीं है; फिर तूँ क्यों व्यर्थ विलम्ब करके मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं होने देती? शीघ्र मनोऽभिलषित वर क्यों नहीं माँग लेती है?

अन्त में मुझे लज्जा छोड़नी ही होगी, यह मैं पहले से ही समझ रही थी और इसी लिए इतनी देर की हीला हवाली में मैं ने उसे बहुत कुछ दूर भी कर लिया था। सो उन की बात समाप्त होते ही मैं ने भी कह डाला कि यदि प्रभु की यही आज्ञा है, तो मैं चाहती हूँ कि यह युवक मुझे पति के रूप में प्राप्त हो। इतना कहकर मैं चुप हो गई और संकुचित नेत्रों से उस युवक की ओर देखकर इस बात का पता लगाने की चेष्टा करने लगी कि मेरी बातों का उस पर कैसा असर पड़ा है। भगवान् की कृपा से मुझे उस की आकृति में वे ही भाव स्पष्टतः लक्षित हुए जिन की मुझे आशा और आवश्यकता थी अर्थात् मेरी विचित्र वर माँगने की प्रणाली से परम प्रसन्न और इन्द्र के समर्थन के लिए पूर्णतः उत्सुक वह युवक कभी मेरी ओर और कभी इन्द्र की ओर देख देखकर मूक शब्दों में साफ साफ अपनी अनुकूलता प्रकट कर रहा था। उस के इन भावों ने मुझे और ज्यादा बेचैन कर दिया और मैं भगवान् से बार बार मनाने लगी कि हे प्रभो, महाराज इन्द्र के मन को मेरे अनुकूल बनाइए कि ये अपने वचन का शीघ्र पालन करें और मेरी अभिलाषा पूरी हो। भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली।

देवेन्द्र ने खुश होकर कहा—बेटी, तेरी मनोवृत्ति की मैं हृदय से सराहना करता हूँ। तूँ ने अपने योग्य ही अपना सहचर चुना यह तेरी बुद्धिमानी का सजीव और प्रबल प्रमाण है। मैं अपनी ओर से उस युवक को मुक्त करता हूँ। वह चाहे, तो सहर्ष तेरा पाणिग्रहण कर सकता है। हाँ, अगर उसे स्वयं इस विषय में कोई आपत्ति हो, तो उसे प्रकट करके उस का परिमार्जन भी उसे इसी समय कर लेना चाहिए।

इस पर मैं ने फिर उस युवक की ओर देखा। वह पूर्णतः सहमत दिखलाई दे रहा था, किंतु मालूम होता था कि अपने स्वाभाविक संकोची मिजाज के कारण कुछ कह नहीं पाता है। इस लिए मैं ने उस की ओर इशारा किया कि अब क्यों देर कर रहे हो? जो कुछ कहना हो, शीघ्र कहते क्यों नहीं? उधर मेरे पिता ने स्पष्ट शब्दों में ही उस से कह डाला कि प्रभु की आज्ञा तुम ने सुन ली। मेरी पुत्री तुम्हें अपना पति वर रही है। क्या तुम्हें इस विषय में कुछ कहना है?

आखिर विवश होकर उसे भी अपना संकोच छोड़ना पड़ा। उस ने मस्तक झुकाकर देवराज से कहा—देव, यह मेरे अनेक जन्मों के उत्तम कर्मों का सजीव और प्रत्यक्ष फल है कि

ऐसी सर्वगुणसंपन्न युवती सहचरी के रूप में मुझे प्राप्त हो रही है। इस प्रकार की सुन्दरी इस लोक में और कोई हो नहीं सकती, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इस लिए मेरी तो गणना ही क्या है ? अमरावती भर में जो सब से बड़े बड़े सौभाग्यशाली युवक हैं वे भी ऐसी रूपवती और गुणवती स्त्री को पाकर अपने भाग्य की कोटि कोटि सराहना कर उठेंगे। इस पर भी सब से बड़े सौभाग्य की बात तो यह है कि इस कन्या का पति बनना स्वीकार करके मैं प्रभु (आप) की आज्ञा का पालन करने से प्राप्त होनेवाला यश और पुण्य अनायास ही प्राप्त कर लूँगा। इस परिस्थिति में कौन ऐसा मूढमति होगा जो किसी प्रकार की आपत्ति कर सके। श्रीमान् की आज्ञा का मैं सिर आँखों से पालन करने के लिए सर्वदा तैयार हूँ।

इस के बाद बड़े धूम धाम से हम लोगों का विवाह हो गया। जीवनयात्रा का निमित्त-भूत (अथवा कर्तव्यपालनरूप) कार्य तो हम लोगों का पहले से ही निश्चित था—पुरुषसमाज में वे—मेरे पति—और स्त्रीसमाज में मैं प्रधान होने का सुख सौभाग्य भोग ही रही थी, अब हम दोनों के एक हो जाने से वह नियमित कार्य (अपने अपने समय पर सभा में गाना बजाना) भी एक साथ मिलकर होने लगा और इस तरह हम लोग अद्वितीय गायक प्रसिद्ध हो गये। सोने में सुगन्धि, सागर में पूर्ण चन्द्रोदय और हृदय में हृदयेश्वर की प्राप्ति से संसार जिस स्वर्गीय सुख की कल्पना करता है वह सुख हम लोग नित्य चौबीस घंटे छक छक-कर लूटने लगे। अमरावती के अंदर प्रेमियों का शायद ही कोई ऐसा जोड़ा रहा हो जो हमारे भाग्य की स्पर्धा न करता हो। हम लोग उस नगरी के चलते फिरते संगीत कहे जाते थे। जिस उत्सव अथवा समारोह पर हम लोग उपस्थित न हों वह सर्वसंमति से अपूर्ण सिद्ध हो जाता था। और कोई कोई अन्तरङ्ग तो यहाँ तक कह डालते थे कि अमरावती के अधीश्वर अधीश्वरी—स्वयं इन्द्र इन्द्राणी भी हमारे सुखपूर्ण जीवन को देखकर ललच उठते थे। परंतु *ईश्वरीय सृष्टिमात्र के लिए एक परिमाण में लागू होनेवाला नियम 'सब दिन जात न एक समान'* हमारे लिए भी खुला पैगाम लेकर एक दिन उपस्थित हो ही गया—हमारे भाग्य ने भी एक दिन हमें बतला दिया कि अब मेरे विपक्षी (दुर्भाग्य) का राज्य स्थापित होने जा रहा है, अतः मैं नियत अवधि तक के लिए प्रस्थान करता हूँ।

किसी बड़े प्रबल दैत्य पर विजय पाने के उपलक्ष्य में एक दिन देवेन्द्र ने अमरावती-निवासियों को आज्ञा दी कि 'आज सब लोग यथाशक्ति उत्सव मनाने में ही संलग्न रहें, दैनिक कर्मों को जहाँ तक बन पड़े, आज बिलकुल बंद रखा जाय।' उस नगरी में रहनेवाले एक तो यों ही सर्वदा उत्सव में निमग्न रहते हैं—व्यसन का तो कोई नाम भी नहीं जानता; उस पर भी जब राजा की ओर से मुनादी हो गई कि अपनी शक्ति भर केवल उत्सव ही उत्सव आज मनाया जाय, तो उस समय के उत्सव मनाने की प्रक्रिया का भला कौन वर्णन कर

है। सारी नगरी सम्पों का पागलखाना बन रही थी। बुड्ढा, जवान, बच्चा, स्त्री, पुरुष किसी को किसी की सुनने की फुर्सत नहीं थी, सब अपनी अपनी बुद्धि और रुचि के अनुसार सब को कहना भर जानते थे। कहीं हँसी के फौवारे छड़ रहे थे, कहीं गाने की धूम मची हुई थी, कहीं नाना प्रकार के खेल कूद की चहल पहल थी और कहीं नाच तमाशों का बाजार गर्म था। जिस की जिस अड्डे में पहुँच थी वह वहीं अपनी मस्ती में मस्त हो रहा था। हम लोग सर्वदा से महाराज के अन्त पुर के खिलाड़ी और अन्तरङ्गों में अगाड़ी गिने जाते थे। उस दिन भला कब संभव था कि दर्बार को छोड़कर कहीं अन्यत्र उत्सव में शरीक हो सकते। सुबह से ही दर्बार लग गया था और अपनी अपनी पारी पर क्रम से सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध गवैये नचनिये गाते नाचते गुजरते चले आ रहे थे। हम (पति पत्नी) भी अपनी ड्यूटी बजा चुके थे, पर सब लोगों की भाँति हम लोगों को दर्बार से जाने की छुट्टी नहीं मिली। हमारे लिए सरकारी आज्ञा थी कि आज चौबीस घंटे दर्बार में हाजिर रहना पड़ेगा और अपने हास्य विनोद से आगन्तुक समुपस्थित सब का यथेष्ट मनोरञ्जन करना पड़ेगा। इस में नवीनता इतनी ही थी कि 'सरकारी आज्ञा' शब्द जुड़ा हुआ था। नहीं, तो दिन रात मनोरञ्जन करना तो हम लोगों का उसी दिन से एकान्त कार्य हो चुका था जिस दिन हम दोनों दो तन एक प्राण हुए थे। इस लिए आज्ञा को आज्ञा नहीं, बल्कि निमन्त्रण मानकर हम आनन्द मनाने में दीन दुनिया से बेखबर हो रहे थे।

सुबह नहीं हुआ था तभी से आनन्दबाजार गर्म हो चला था और जैसे जैसे दोपहर होता आया वैसे वैसे उस आनन्द की गर्मी बढ़ती ही चली गई थी। कब, कहाँ से, कौन आता है और कब, कहाँ, कौन चला जाता है, यह न तो कोई जानता था, न जानना चाहता था और न जानने की कोई जरूरत ही थी। जरूरत अगर कुछ थी, तो इतनी ही कि जब कोई नवागन्तुक दिखलाई पड़ जाय उसी दम उसे किसी प्रकार प्रसन्न बना देना। परंतु यह तो जीव-मात्र का स्वभाव है कि जब जो कोई अपने कर्तव्यपालन में अभ्यस्त हो जाता है तभी से वह उस कर्तव्य की ओर से कुछ न कुछ उपेक्षित भाववाला बन जाता है। हम लोग भी अब इस बात को भूल चले थे कि जो मनोरञ्जन हम कर रहे हैं वह जिस के लिए किया जाता है उस के अनुकूल ही पड़ रहा है या प्रतिकूल भी; अथवा जिस के साथ जैसा मनोरञ्जन हमारी ओर से किया गया वह उस के योग्य था कि नहीं? यद्यपि यह एक भारी असावधानी थी, पर इस ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा था। सो इस अनवधानता का फल भी भगवान् ने हाथों हाथ दे दिया।

ठीक दोपहर के समय न जाने किस ओर से घूमते फिरते ऋ हास्यपूर्ण दर्बार में आ पहुँचे। वैसे तो देवेन्द्र को जब कोई ऋ

और ऋषि मुनि बुलाये जाते थे, पर यह अब की बारवाला जलसा उन्होंने प्राइवेट तौरपर केवल घरेलू लोगों के लिए मनाना शुरू किया था। इसी लिए इस दफे उस श्रेणी के लोगों को न तो निमन्त्रण दिया गया था, न किसी के आने की संभावना ही की गई थी। किंतु हमारे भाग्य में तो कुछ और ही बदा था, फिर निमन्त्रित या अनिमन्त्रित होने से क्या हुआ; महर्षि दुर्वासा वैसे ही अपने आप आकर उपस्थित हो गये। हम सब के सब अपने अपने ढंग से हँसने हँसाने में मस्त तो थे ही, इस लिए दुर्वासा ऋषि के स्वभाव का ख्याल न करके उन के आने पर भी हम लोग हँसने में मशगूल रह गये, इतना ही नहीं; बल्कि हम दोनों प्राणी साक्षात् रूप से उन की ही हँसी उड़ाने लगे। आप तो जानते ही हो कि ऋषियों मुनियों का वेष, उन का रहन सहन, बात व्यवहार आदि सभी कुछ सादगी की भी पराकाष्ठा को पार कर चुका होता है—वे लोग कभी हजामत नहीं बनवाते, अतः सिर और दाढ़ी के बाल स्वतन्त्र रूप से बढ़कर एक खासा जंगल का रूप धारण किये रहते हैं, नाखून शेर भालू के नाखून को मात करते रहते हैं, पेड़ की छालें कपड़ों की जगह इस्तेमाल की जाती हैं, और उन का रंग एक तो यों ही चमड़ों की बराबरी करनेवाला होता है; फिर उस पर भी यदि वे वल्कल (छालें) काफी दिनों से व्यवहृत हो रहे हों तब तो पूछना ही क्या है? वैसा ही उन का भी परिधान था जिस से बाहरी रूप रेखामात्र से हमारी दृष्टि में वे साक्षात् भीलराज प्रतीत हो रहे थे। सो उन के इसी रूप रंग, चाल चलन की एक एक करके हम दोनों प्राणी टीका करने और जोर जोर से ठहाका मारकर विकट रूप से हँसने हँसाने लगे। दो एक क्षण तो दुर्वासाजी को विश्वास नहीं हुआ कि ये सब मेरी हँसी उड़ा रहे हैं, किंतु बार बार अपनी ओर देखते और मुँह में कपड़ा ठूँस ठूँसकर हँसते देखकर उन्हें सच्ची स्थिति के समझने में देर नहीं लगी। उन्हें स्पष्ट मालूम हो गया कि इन्द्रपुरी के ये छोकड़े अपनी जवानी के मद और सुन्दरता के गर्व में चूर हो रहे हैं और मेरी प्रभुता की अवहेलना करते हुए मेरी दिल्लगी उड़ा रहे हैं तथा मेरे तपस्वीवेष को घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं।

कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, जिसे मालूम हो जायगा कि जहाँ मैं संमानित होने की आशा से आया था वहीं मेरे एक एक हाव भाव को लेकर मुझे अपमानित करने की लीला हो रही है, वही गुस्से से जलने लगेगा। फिर दुर्वासा ऋषि तो इतिहासप्रसिद्ध क्रोधी हैं, वे तो जितने क्षण क्रोधरहित रह गये यही आश्चर्य की बात थी। अस्तु, जब उन्हें मालूम हो गया कि ये नवदम्पति मेरी खिल्ली उड़ा रहे हैं उस समय क्रोध के आविर्भाव से जैसा उन का आकार। प्रकार हो गया वह वर्णन करने के बाहर की बात है। वे क्रोध से रक्तवर्ण हुए अपने युगल नेत्रों को हमारी ओर प्रक्षिप्त करके भयंकर गर्जन तर्जन करते हुए हम लोगों को नाना प्रकार के कर्णकटु वाक्य सुनाने लगे। उन का यह रूप देखते ही सारी सभा स्तब्ध हो गई, देवराज

इन्द्र और इन्द्राणी तक की सिट्टी बद हो गई, वे लोग सिंहासन पर से उठकर खड़े हो गये और दोनों हाथ जोड़कर अनेक विधि से उन की स्तुति करके उन्हें शान्त करने की चेष्टा करने लगे। जब हमारे राजा रानी की ही उन के भय से बुरी हालत हो रही थी, तो और लोगों के हृदय की दशा का भला कौन वर्णन कर सकता है। और उन के क्रोध के जो खास पात्र थे उन की दशा की तो चर्चा ही क्या की जा सकती है। हम दोनों को एक प्रकार से उस समय बेहोशी ने आ घेरा था और इतना भी ध्यान नहीं रह गया था कि इस परिस्थिति में हमारा कर्तव्य क्या है। हाँ, कुछ समय बीतने पर अलबत्ता हम यह समझने लायक हो सके कि हमारे ही आचरण से ऋषि को दुःख हुआ है और वे क्रुद्ध हुए हैं, अतः हमारे लिए इस समय यही उचित है कि उन के चरणों पर गिरकर—लोट पोट होकर—उन से क्षमा की भीख माँगें। किंतु यह कर्तव्यज्ञान भी हम लोगों को स्वयं थोड़े ही हुआ था? नहीं, वह तो तब हुआ जब अपने प्रभुओं—इन्द्र और शची—को हम ने हाथ जोड़े उग्र तपस्वी दुर्वासा ऋषि की स्तुति करते देखा। बस, उसी दम हम दोनों भी जाकर उन के पैरों पर सीधे गिर पड़े और बार बार प्रार्थना करने लगे कि हे दयालो, हे महर्षे, हे सर्वान्तर्यामिन्, हे सर्वकार्यकारणसमर्थ प्रभो, हमें क्षमा कर, क्षमा करें, क्षमा करें! हम लोग आज स्वगाय सुरा पान के कारण ज्ञानशून्य होकर केवल आमोद प्रमोद को ही आज के जीवन का एकान्त ध्येय बना रहे थे। उसी बीच में श्रीमान् का अचानक आगमन हो गया और हम लोग बिना जाने सुने श्रीमान् को भी अपने राग रंग में शामिल करने की धुन में लग गये। हमें यह ख्याल नहीं आया कि आप के समान तपस्वी मुनि परमात्मा सबन्धी आमोद प्रमोद छोड़कर अन्य प्रकार के आनन्दोत्सव में भाग नहीं लिया करते। बस, इतनी ही नासमझी के कारण हम से आज श्रीमान् का अपराध हो गया है। किंतु श्रीमान् क्रोध करना जानते हैं, तो उसे प्रेम के रूप में बदल डालने में भी पूर्ण समर्थ हैं। इस लिए हम बार बार प्रार्थना करते हैं और विश्वास रखते हैं कि आप दया करके हमारी भूल की अवश्य माफी देंगे। हम लोग श्रीमान् की दया के भिखारी हैं, अतः श्रीमान् अपना बालक जानकर हमारे ऊपर दया करें।

इस प्रकार बहुत देर तक हम लोग दीन बनकर उन के चरणों में पड़े रहे और दया की भिक्षा माँगते रहे। आखिर भगवान् की कृपा से उन का क्रोध तो कुछ कुछ अवश्य कम हुआ, पर उन के हृदय से उस की गन्ध नहीं मिट सकी। उन्होंने पहले की अपेक्षा कुछ शान्त स्वर में कहा—मूर्ख, मत्त, मन्दभाग्य गन्धर्वो, तुम समझते हो कि तुम्हारी सूखी प्रार्थना से मेरा क्रोध शान्त हो जायगा? किंतु ऐसा होना त्रिकाल में असम्भव है। दुर्वासा क्रोध करे और वह यों ही खाली चला जाय, ऐसा न तो कभी हुआ है, न कभी आगे होनेवाला है। इस लिए तुम दोनों को अपने किये का फल तो भोगना ही पड़ेगा। मैं जानता हूँ कि इन्द्र व

सहवास में रहने का अभ्यासी होने के कारण तुम दोनों को भी इतना तो अवश्य ही मालूम होगा कि संत, महात्मा, ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि के वेष भूषा, आचार व्यवहार और रहन सहन की निन्दा करना, उन की हँसी उड़ाना, उन को अपमानित करना देवों का नहीं, किंतु असुरों का काम है। इस प्रकार तुम दोनों ने आज मेरे साथ वही आचरण किया है जो एक मदान्ध राक्षस करता। सो अपने क्रोध को अव्यर्थ बनाने के लिए (क्रोध करना व्यर्थ न हो जाय, इस के लिए) मैं तुम दोनों को शाप देता हूँ कि तुम ने जैसा आचरण किया है वैसी ही *योनि को तुम दोनों प्राप्त हो अर्थात् राक्षसों की वृत्ति का आश्रयण करके एक संत की* अवहेलना करने के कारण तुम दोनों का भी राक्षसों की *योनि में जन्म हो*। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि ऐसा आचरण करने में तुम्हारी हार्दिक इच्छा शायद न रही हो और जैसा कि तुम ने अभी कहा है कि विनोद में तल्लीन रहने के कारण हम से वैसी भूल हो गई है, वही सत्य हो; साथ ही तुम ने बहुत तरह से स्तुति आदि भी की है, इस लिए मैं अपने शाप का परिहार भी अभी से किये और बताये देता हूँ। तुम्हें मालूम हो या न मालूम हो, पर तुम्हारे राजा (इन्द्र) को मालूम है कि मर्त्यलोक की लङ्का नामक नगरी में, मेरे ही जैसे एक तपस्वी (नारद) के *शाप के कारण भगवान् शंकर के द्वारपाल जय विजय राक्षसयोनि में अवतरित होंगे* और रावण कुम्भकरण के नाम से प्रसिद्ध होकर समस्त ब्रह्माण्ड में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करेंगे। उन के त्रास से त्रस्त देवर्षियों की प्रार्थनावश भगवान् विष्णु अयोध्या *में अवतार ग्रहण करेंगे और मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भगवान् के नाम से विश्व में विख्यात* होकर रावणादि के वधार्थ लङ्का पर चढ़ाई करेंगे। तेरी स्त्री राक्षसी और तूँ राक्षस होकर रावण की नौकरी करते हुए दोनों लङ्कावासी बने रहोगे। जब रामरावणयुद्ध जोर पकड़ना प्रारम्भ करेगा उसी समय रावणपुत्र मेघनाद के बाण से भगवान् राम के भाई लक्ष्मण घायल होकर बेहोश हो जायेंगे। उन्हें होश में लाने की दवा लाने के लिए हनुमान् नाम का वीर वानर धवलागिरि की यात्रा करेगा। यह समाचार पाकर रावण ऐसा उद्योग करेगा कि हनुमान् उधर ही रोक लिया जाय, और उस कार्य का भार वह तुझे सौंपकर धवलागिरि के मार्ग में भेजेगा। तूँ अपने साथ साथ अपनी स्त्री को भी मदद पहुँचाने के लिए ले जायगा ही। परंतु असाधारण बली हनुमान् का तुम दोनों कुछ नहीं बिगाड़ सकोगे, वही तुम दोनों को बलपूर्वक मार डालेगा और वहीं से मुक्त होकर तुम दोनों फिर अपनी गन्धर्वयोनि को प्राप्त कर लोगे।

हे हनुमान्, यही मेरी कथा है। आज तुम्हारी कृपा से मेरे ऊपर से दुर्वासा ऋषि का शाप उतर गया और मैं ने अपनी अप्सरायोनि को प्राप्त कर लिया। अब बाकी रह गया है मेरा पति। सो कृपा करके उस का भी तुम शीघ्र उद्धार करो कि स्वर्ग में जाकर हम दोनों प्राणी तुम्हारा *यशोवर्णन* करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करें।

हनुमान्‌जी ने कहा—अप्सरे, मैं ने जान बूझकर तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है; फिर भी तुम अपने को उपकृत मानती हो, तो यह तुम्हारी दिव्य लोकवासी प्रकृति का ही प्रताप है। परंतु यह तो बतलाओ कि तुम्हारा पति है कहाँ कि मैं उस का उद्धार करके तुम्हारी जोड़ी जोड़ूँ ?

अप्सरा ने कहा—मन्दिर के पास कुटी में जो मुनि बैठा है वही मेरा पति है। उसे तुम साधारण मुनि समझ रहे हो, पर वास्तव में वह बड़ा भयंकर राक्षस है। उस की ही माया से यह मन्दिर, तालाब, बाग, बगीचा और कुटी आदि निर्मित हुई हैं तथा इसी की आज्ञा से मैं भी मगर की स्त्री बनकर तालाब में छिपी हुई थी कि बन पड़े, तो पहले मैं ही तुम्हारी पूरी खबर ले लूँ। किंतु तुम जब साक्षात् परमात्मा की सेवा में लगे हुए हो, तो तुम्हारा भला कोई क्या कर सकता है ? अच्छा, अब मुझे आज्ञा दो, मैं अपने धाम को जाऊँ और तुम भी व्यर्थ विलम्ब न करके शीघ्र इस मुनिरूपधारी निशाचर का नाश करो एवं लङ्का पहुँचकर लक्ष्मण को होश में लाने का उद्योग करो जिस से भगवान् की चिन्ता दूर हो।

इतना कहकर अप्सरा अन्तरिक्ष में विलीन हो गई तब हनुमान्‌जी मुनि के रूप में ध्यानमग्न बैठे हुए कालनेमि के पास जा पहुँचे। हनुमान्‌जी के आने से जो पदध्वनि हुई उस से मानों उस का ध्यानभङ्ग हुआ है, ऐसा भाव दिखलाते हुए कालनेमि ने कहा—

अहा, तुम स्नान करके आ गये ? मैं तो तुम्हारे जाते ही प्रभुभजन में ऐसा लीन हुआ कि मुझे यह भी नहीं होश रह गया था कि तुम अभी आओगे और मुझ से दीक्षा ग्रहण करोगे। अच्छा, अच्छा ही हुआ कि तुम जरा जोरों से पैर पटकते हुए यहाँ आये और उस के शब्दों से ही मेरा ध्यान टूट गया। नहीं, तो क्या जाने तुम को कब तक बैठकर प्रतीक्षा करनी पड़ती। अथवा यह भी हो सकता था कि अधिक प्रतीक्षा करना असह्य जानकर तुम मेरा ध्यान तोड़ने का कोई उपाय करते और प्रभुचिन्तन में विघ्न पड़ने से क्रुद्ध होकर मैं तुम्हें कोई शाप ही दे डालता।

कालनेमि के मुँह से शाप देने की बात सुनकर हनुमान्‌जी को पहले तो बड़ी हँसी मालूम हुई, पर उस का मौका न देखकर हँसी का स्थान क्रोध ने ले लिया और हनुमान्‌जी ने कड़ककर कहा—

अरे नीच निशाचर, पहले गुरुदक्षिणा तो तय कर ले, फिर दीक्षा देने की तैयारी पीछे करना। दुष्ट कहीं का, एक बार के पाप का प्रायश्चित्त तो राक्षस का शरीर पाकर कर ही रहा था, उस पर भी तुझे संतोष नहीं हुआ था कि अब मुझे भी धोखा देना चाहता था ? किंतु अब तेरी पोल खुल गई, अतः अब से भी अच्छा है कि मेरे मार्ग से अपने को दूर कर ले।

कालनेमिवध (कथा प्रसंग अ० ८ श्लो० १)

कालनेमि ने कहा—मालूम होता है, उस दुष्टा ने प्राणों के मोह में पड़कर सब भेद खोल दिया है। खैर, उस को भी देख लूँगा। और तूँ ने भी जब मुझे पहचान ही लिया; तो अब व्यर्थ नया जाल क्यों फैलाऊँ, सीधे सीधे ही क्यों न स्वीकार कर लूँ कि मैं तुझे तब तक यहाँ से नहीं जाने दूँगा जब तक लक्ष्मण के मरने की खबर या राक्षसेन्द्र रावण की कोई नई आज्ञा नहीं मिल जायगी।

हनुमान्‌जी ने कहा—अपनी बुद्धि के अनुसार तूँ ठीक ही सोच रहा है, पर हनुमान् का मार्ग रोकनेवाले की क्या गति होती है, यह तुझे मालूम है कि नहीं?

कालनेमि ने कहा—मुझे क्या मालूम है और क्या नहीं मालूम है, यह जानकर तूँ कोई फायदा नहीं उठा सकता, लेकिन तूँ इतना मालूम कर ले कि कालनेमि अपने कर्तव्य का साक्षात् काल की तरह पालन करता है—अर्थात् जिस के पीछे पड़ जाता है उस की मुक्ति कठिन ही नहीं, एकदम असंभव हो जाती है। और आज तेरे ही पीछे मैं पड़ा हुआ हूँ, इस लिए अपने इष्ट का स्मरण करके मेरा आहार बनने के लिए तैयार हो जा!

कालनेमि को इस प्रकार अंट संट बातों में समय बिताते, शरीर से कोई विरोध प्रदर्शन न करते देखकर हनुमान्‌जी ने समझ लिया कि यह मुझ से युद्ध करने में डर रहा है और व्यर्थ की बातों में समय लगाकर मुझे अधिक से अधिक समय तक इधर ही रोके रहने की चतुराई कर रहा है। इस लिए इस की स्त्री की प्रार्थना को ही प्रधानता देकर इसे यथाशीघ्र मार ही डालना उत्तम है। ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपनी पूँछ को विस्तृत करना शुरू कर दिया और जब वह इतनी लंबी हो गई कि हनुमान्‌जी जहाँ खड़े थे वहाँ खड़े खड़े ही कालनेमि के समीप तक उस को पहुँचा सकें, तो उन्होंने फुर्ती के साथ अपनी पूँछ को कालनेमि के गले में डालकर बलपूर्वक उसे जकड़ दिया। बस, उसी क्षण कालनेमि ने विवश होकर अपने हाथ पैर ढीले कर दिये और फाँसी की रस्सी गले में पड़ने पर जिस प्रकार मनुष्य दम घुटकर मर जाया करता है उसी प्रकार उस के भी प्राणपखेरू शरीर छोड़कर आकाश में उड़ गये।

मरने के समय कालनेमि का असली रूप प्रकट हो गया और वह एक विकराल राक्षस के रूप में दिखलाई पड़ने लगा। हनुमान्‌जी को उस का यह रूप देखकर बड़ा संतोष हुआ कि मैं ने वास्तविक राक्षस का ही वध किया है, धोके में किसी ऋषि मुनि की हत्या मुझ से नहीं हुई। कालनेमि के प्राण जब शरीर से प्रयाण करने लगे, तो उस समय उस ने स्पष्ट शब्दों में राम का नाम उच्चारण किया, इस से हनुमान्‌जी को हर्ष भी हुआ। बाद में कालनेमि भी विमान में बैठकर अपने असली गन्धर्वरूप में स्वर्ग चला गया।

प्रभु की कृपा से इस प्रकार राक्षसी माया से निस्तार पाकर हनुमान्‌जी प्रसन्नतापूर्वक अपने इष्टधाम धवलागिर पर पहुँच गये। वहाँ जाकर वे कुछ समय तक अनेक जड़ी बूटियों

को पहचानने की कोशिश करते रहे कि कौन सी जड़ी सुषेण की बताई हुई जड़ी से मेल खाती है। किंतु उन्हें जिस जड़ी की खोज थी वह किसी प्रकार पहचान में नहीं आई। तब हनुमान्जी ने सोचा कि इस प्रकार एक एक जडी की पत्ती और लक्षण आदि का मिलान करने में बहुत समय लग जायगा और लङ्का पहुँचने में अब काफी शीघ्रता करने की जरूरत है, क्योंकि बहुत सा समय कालनेमि के प्रपञ्चों में पड जाने से यों ही समाप्त हो गया है। इस लिए मेरे लिए सब से सुन्दर उपाय यही है कि इस पर्वत को ही लङ्का में उठा ले चलूँ और सुषेण के सामने रख दूँ कि वह अपनी जरूरत की जडी पहचानकर स्वय उखाड ले और लक्ष्मणजी को आरोग्य करे। निदान, हनुमानजी ने वैसा ही किया। उन्होंने एक बार ही समूचे पर्वत को पृथिवी से उखाड़ लिया और उसे सिर पर रखकर लङ्का के लिए प्रस्थान कर दिया।

हनुमान्जी उस पर्वत को लिये हुए आकाश के रास्ते बडी तेज चाल से रातो रात लङ्का की ओर चले जा रहे थे। नीचे अनेक गाँव, नगर, नदी, नाला, जगल, मैदान पीछे की ओर दोड़ते से बीतते जाते थे। कुछ देर चलने के बाद हनुमान्जी अयोध्या नगरी के ऊपर पहुँच गये और उसे भी अपनी तीव्र गति से शीघ्रातिशीघ्र पार करके आगे बढ़ना ही चाहते थे कि रामजी के वियोग में तारों को गिन गिनकर रात बिताने के अभ्यासी भक्त भरतजी की निगाह उन के ऊपर पड़ गई। भरतजी चुपचाप बैठे हुए आकाश को ओर देख रहे थे और मन मे भगवान् के आगमन का हिसाब लगा रहे थे कि उन्हें अयोध्या छोडे इतने दिन हो चुके और उन के लौटने में इतने दिन बाकी रह गये हैं। इसी समय एकाएक उन की दृष्टि हनुमान्जी पर आ पड़ी जो पर्वत लिये होने के कारण रात के अन्धकार में एक विकटाकार दैत्य के समान प्रतीत हो रहे थे। उन्हें देखकर भरतजी ने अनुमान किया कि अवश्य ही यह कोई निशाचर है और संभवत लङ्का का ही रहनेवाला भी है, क्योंकि सीधे दक्षिण दिशा की तरफ आ रहा है जिधर लङ्का का होना प्रसिद्ध ही है। और रामचन्द्रजी भी तो उधर ही गये हुए हैं। क्या ठिकाना यदि यह राक्षस रात मे सोते समय उन्हें कहीं देख ले और किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने का उद्योग करने लगे। इस लिए उत्तम यही होगा इसे यहीं मार गिराऊँ। 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बंसी' न यह जीता हुआ उधर जायगा और न मेरे मन में कोई सदेह रहने का कारण रह जायगा। एसा स्थिर करके भरतजी ने धनुष और एक सादा (बिना फर का) बाण उठा लिया। बाण को धनुष की डोरी पर रखकर डोरी को कानों तक खींचा और निशाना साधकर हनुमान्जी के ऊपर बाण छोड़ दिया। भरतजी का निशाना अचूक था। हनुमान्जी बाण लगते ही विकल हो गये, पर भगवान् को उस समय भी वे नहीं भूले और जोर से 'हा राम, हा राम' कहते हुए मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पडे।

१ संजीवनी ले जाते हुए हनुमान् पर भरत द्वारा प्रहार।

१ સંજીવની લઈને જતા હનુમાન ઉપર ભરત દ્વારા પ્રહાર

२ घायल हनुमान् को शक्तिप्रदान।

૨ ઘાયલ હનુમાનને શક્તિપ્રદાન
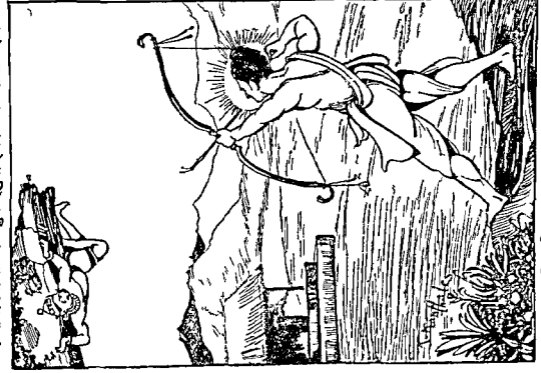
'अरे यह क्या ? यह तो राक्षस नहीं मालूम होता ! इस ने तो बड़े ही मधुर और दया उत्पन्न करनेवाले स्वर में मेरे परम प्रेमी का—रघुवंशियों में महान् दयानिधान भगवान् राम का नाम उच्चारण किया। ओफ; अवश्य ही आज मुझ से बड़ा भारी पातक होता दिखाई दे रहा है। देखूँ, प्रभु क्या करते हैं ? इत्यादि अनेक तरह के तर्क करते हुए भरतजी उस तरफ दौड़ चले जिधर बेहोश होकर हनुमान्जी गिरे थे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक बंदर बेसुध बुध का होकर ऊर्ध्व श्वास ले रहा है और उस के निकट ही एक पर्वत भी पड़ा हुआ है। आश्चर्य है इस वानर की वीरता को कि यह इतना बड़ा विशाल पर्वत लेकर आकाश में उड़ा जा रहा था। लेकिन मैं भी कैसा मूर्ख हूँ कि इसे चैतन्य करने का—होश में लाने का प्रयत्न करना छोड़कर इस के बल की प्रशंसा करने बैठ गया।

भरतजी ने हनुमान्जी का बेहोशी में छटपटाता शरीर उठाकर छाती से लगा लिया और बार बार अनेक भाँति से उन्हें जगाने का उद्योग करने लगे, पर हनुमान्जी की बेहोशी किसी तरह दूर नहीं हुई। यह हालत देखकर भरतजी बड़े चिन्तित हो उठे, उदासी से उन का मुख मलिन हो गया, आँखों से आँसू टपकने लगे और हृदय घबड़ाने लगा। बड़ी मुश्किल से उन्होंने अपने को सुलकर रोने नहीं दिया और स्थिरचित्तता धारण करके विचार किया कि इन को होश में लाना अब मेरे वश में नहीं है। मालूम होता है कि जिस विधाता ने मुझ से रामजी को पृथक् कर रखा है उसी ने मेरे हाथों ऐसा कुकर्म कराके मुझे इस घोर विपत्ति के समय में भी और अधिक दुःख देने की इच्छा से यह सब अनर्थ उपस्थित किया है। हे प्रभो, हे रामजी, हे रघुवंशमणि, यदि आप के चरणों में मेरा निष्कपट और अटूट प्रेम हो और आप मेरी कुटिलता पर ध्यान न देकर मुझ पर प्रसन्न हों, तो इस वानर को होश हो जाय, इस की सारी पीड़ा दूर हो जाय और इस के शरीर में थकावट न रह जाय। भरतजी को भगवान् प्राण से बढ़कर प्यार करते थे। यह बात उन्होंने अनेक बार लोगों से स्पष्टतः कही भी है। फिर भरतजी की प्रार्थना भला क्यों विफल होती। हनुमान्जी 'श्री रामचन्द्रजी की जय' 'श्री कोशलेश्वर की जय' आदि प्रिय शब्दों का उच्चारण करते हुए उठ बैठे। उन के शरीर में ऐसा एक भी चिह्न या पीड़ा व्यथा नहीं रह गई जिस से यह कहा जा सके कि वे ऊँचे आकाश से पहाड़ लिये हुए गिरे हैं। उन्हें स्वस्थ होकर बैठते देख भरतजी का रोम रोम पुलकित हो गया। उन्होंने हनुमान्जी को गले से लगा लिया प्रेम की अधिकता से उन के नेत्रों में सुख के आँसू भर आये। उन्होंने हनुमान्जी के शरीर को प्रेम सहित सुहलाते हुए उन का हाल पूछा।

हनुमान्जी ने कहा—अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्ररूप में अवतार लेकर तीनों लोक के स्वामी भगवान् रामचन्द्रजी लङ्का के राक्षसों के राजा रावण का वध करने के निमित्त इस समय बंदरों और भालुओं की सेना लेकर लङ्का में पधार रहे हैं। साथ में उन के लघु

भ्राता लक्ष्मण भी हैं। आज दिन में रावणपुत्र मेघनाद के साथ उन्होंने बड़ा विकट संग्राम करके उसे अस्त व्यस्त कर दिया था। अन्त में उस ने शक्ति बाण चलाकर उन्हें घायल कर दिया जिस से वे मूर्च्छित हो गये हैं। उन्हीं के उपचार के लिए सुषेण वैद्य ने मुझे धवलागिरि पर से औषधि लाने के लिए भेजा था और बतलाया था कि सूर्योदय होते ही उस बाण का भयंकर विष इन के सारे शरीर में फैल जायगा और तब कोई भी उपचार करना कारगर न होगा। उसी के अनुसार मैं शीघ्रता करता हुआ चला जा रहा था। औषधि की ठीक ठीक पहचान न होने के कारण मैं ने पर्वत ही उखाड़ लिया था।

सब वृत्तान्त सुनकर भरतजी बड़े व्याकुल हुए और रो रोकर कहने लगे कि आह, मैं ने ऐसा कलङ्कित जन्म ही क्यों धारण किया। प्रभु के किसी काम में आना तो दूर रहा, उल्टे मुझ से उन का अपकार ही होता चला जा रहा है। मेरे ही कारण उन्हें वन जाना पड़ा और अब देखता हूँ कि आज भी मेरे ही कारण उन्हें लक्ष्मण से भी हाथ धोना पड़ता है। किंतु नहीं, प्रभु की कृपा से उन्हीं की दी हुई जब तक मेरे शरीर में शक्ति है तब तक मैं ऐसा कदापि नहीं होने दे सकता। जैसे भी हो सकेगा, तुम्हें अवधि के पहले लङ्का में पहुँचना ही होगा। इस समय का एक क्षण भी हम लोगों के सारे जीवन से बढ़कर है। इसे रोने और विलाप करने में नहीं बिताना होगा। भाई, सुनो—तुम यद्यपि अब पूर्ण स्वस्थ हो गये हो, फिर भी लङ्का अभी बहुत दूर है और रात भी थोड़ी ही रह गई है। तुम्हारे जाने में अगर किसी तरह देर हो गई और उधर सवेरा हो गया, तो सब काम बिगड़ जायगा। इस लिए तुम पर्वत सहित मेरे बाण पर बैठ जाओ, मैं तुम्हें बात की बात में दयासागर श्री रामजी के पास पहुँचाये देता हूँ।

भरतजी की बात से पहले तो हनुमान्‌जी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये कह क्या रहे हैं? क्या ऐसा भी किसी तरह संभव हो सकता है? क्योंकि एक तो मैं ही इतना काफी वजनी हूँ जिस का बोझ सँभालना एक दुबले पतले बाण के लिए असम्भव प्रतीत होता है और दूसरे यह पर्वत भी कुछ साधारण नहीं है—संसार के बड़े बड़े, पर्वतों में इस की गिनती की जाती है। लेकिन बाद में हनुमान्‌जी ने यह भी सोचा कि प्रभु के प्रताप के आगे कुछ भी आश्चर्य अथवा असम्भव नहीं है। प्रभु की कृपा से सब असम्भव संभव हो जाता है। और भरतजी तो फिर प्रभु के प्रधान अङ्ग ही हैं। इस लिए उचित यही है कि अपने बल और मनोवेग का अभिमान छोड़कर इन की बात मान लूँ। उन्होंने हाथ जोड़कर भरतजी के चरण छूये और प्रार्थना सहित कहा—नाथ, प्रभो, आप परम प्रभु के अभिन्न रूप हैं। आप यथार्थ ही कह रहे हैं कि इस पहाड़ को लेकर लङ्का तक पहुँचने के पहले ही प्रात काल हो जा सकता है। इस लिए मैं आप की आज्ञा के अनुसार बाण द्वारा लङ्का जाने में ही सब

को भलाई देख रहा हूँ और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि आप के प्रताप को हृदय में रखकर निश्चय ही मैं बहुत शीघ्र लङ्का पहुँच सकता हूँ।

भरतजी ने कहा—हे तात, तुम सचमुच बड़े भाग्यवान् हो कि श्री रामजी को सर्वदा हृदय में रखते हो और निरन्तर उन की सेवा का सुख प्राप्त कर रहे हो। अच्छा, अब बाण की नोक पर सावधानी से बैठ जाओ।

हनुमान्जी पुनः प्रणाम करके आज्ञानुसार बैठ गये तब भरतजी ने कानों तक प्रत्यञ्चा खींचकर बाण को लङ्का के अभिमुख करके आकाश में छोड़ दिया और हनुमान्जी हर्षित होकर आकाश में उड़ चले।

वहाँ रामजी बड़ी विकलता से हनुमान्जी के लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें हनुमान्जी की गति पर पूरा भरोसा था और वे समझ रहे थे कि हनुमान् अपनी स्वाभाविक साधारण चाल से भी अगर चलेंगे, तो भी आधी रात तक तो लङ्का में लौट ही आयेंगे, पर जब रात आधी से अधिक ढल गई और हनुमान्जी नहीं लौटे तब भगवान् की चिन्ता बढ़ने लगी। वे व्याकुल होकर बार बार दरवाजे की ओर देखने लगते कि हनुमान् आते हैं या नहीं। जब हनुमान्जी नहीं दिखलाई पड़ते, तो बेचैन होकर साधारण मनुष्यों की भाँति अपने आप कहने लगते कि हा, आधी रात बीत गई, हनुमान् अभी तक नहीं लौटे, विधाता के मन में क्या है? हनुमान् के सामने तो कोई बड़े से बड़ा विघ्न भी क्षण भर से अधिक अपना प्रभाव नहीं रखता था; फिर आज उन्हें क्या हो गया कि अब तक नहीं आये! हा लक्ष्मण, तुम्हारी क्या दशा होगी यदि हनुमान् निश्चित समय तक न आ गये? इस तरह प्रलाप करके रामजी ने लक्ष्मणजी को उठाकर गले से सटा लिया और कुछ समय तक चुप-चाप उन का मुँह देखते रहे। पर हृदय का शोकोच्छ्वास फिर उबल पड़ा और भगवान् लक्ष्मणजी को देख देखकर पुनः विलाप करने लगे कि भाई, तुम्हें आज क्या हो गया है कि मेरे दुःख की ओर ध्यान नहीं दे रहे हो और बार बार पुकारने पर भी जैसे के तैसे पड़े हो, उठते नहीं? तुम तो ऐसे नहीं थे। तुम्हारा तो यह खास स्वभाव था कि स्वयं चाहे कितना भी दुःख सह लेते थे, पर मुझे कभी दुःखी नहीं देख सकते थे। मुझे ही सुखी रखने के लिए तो तुम ने माता पिता, घर परिवार, सुख सौभाग्य सब को छोड़कर वनवास स्वीकार किया और यहाँ (वन में) आकर सर्दी, गर्मी, हवा, पानी आदि सब विषम विपत्तियों को कुछ न गिनते हुए मेरे आराम की सदा चिन्ता रखते रहे। फिर आज क्या हो गया है उस प्रेम को भूल गये और मुझे दुखी देखकर भी कुछ पर्वाह नहीं कर रहे हो। भाई, तुम क्या नहीं जानते हो कि संसार में स्त्री, पुत्र, घर, परिवार, धन, संपत्ति सर्वदा मिलते और विलीन होते रहते हैं, किंतु सगा भाई बार बार नहीं मिलता? नहीं; तुम इस बात को जरूर मानते हो और औरों से

इस लिए भगवान् का यह कहना बिलकुल सच है कि हे अर्जुन, अनन्य भाव से नित्यप्रति निरन्तर जो मेरा स्मरण करता है, अपने में सर्वदा युक्त रहनेवाले उस योगी को मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

अब अर्जुन प्रश्न उठाता है कि हे भगवन्, आप ने इस अध्याय के आरम्भ से अब तक अनेक प्रकार से अदल बदल कर यह जो कहा कि मेरा भक्त मेरा भजन, मेरा कीर्तन, मेरा चिन्तन, मेरा मनन और मेरा स्मरण करने पर उत्तम गति, परम पद, दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है, एवं अपने स्मर्ता के लिए मैं बहुत ही सुलभ हूँ, यह सब तो मैं ने सुना और यथाशक्ति समझा भी, पर यह तो बतलाइए कि आप को पाने से होता क्या है अर्थात् आप को प्राप्त करनेवाले को कौन सी ऐसी लोकोत्तर वस्तु मिल जाती है जिस के लिए आप को पाना जरूरी समझा जाय ?

इस के उत्तर में भगवान् ने कहा कि—हे अर्जुन, मुझे प्राप्त करना इस लिए आवश्यक है कि—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धि को पहुँचे हुए महात्मा लोग मुझे पाकर विनाशी (तथा) दुःखों के घर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिन्होंने सतत ध्यान भजन करके साधना को उस की आखिरी सीमा पर पहुँचा दिया है और उस के फलस्वरूप परमात्मदर्शनरूप अत्यन्त सुख दिलानेवाली परम सिद्धि को पा लिया है, ऐसे उत्तम भक्त महात्मा लोग मुझे प्राप्त करके दुःखों का खजाना कहलानेवाले और 'कब नष्ट हो जायगा ?' इस संशय से भरे हुए दुबारा जन्म को नहीं ग्रहण करते।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, एक बार भी कोई सुखी व्यक्ति यह नहीं सोचना चाहता कि प्रकृति के निश्चित नियम के अनुसार जब ये सुख के दिन बीत जायेंगे, कर्मानुसार चारों ओर से विपत्ति के बादल धूम मचाते हुए सिर पर आ पहुँचेंगे तब क्या होगा ? तब कैसे दिन बीतेंगे ? वह देखता है कि दुनिया में नित्य नये नये और पुराने पुराने भी नाना प्रकार के दुःखों में कितने ही मेरे साथी पड़े पड़े कराह रहे हैं, उन की आँखें एक क्षण के लिए भी खुशी में मस्त नहीं हो उठतीं, न अपने आँसू सुखा पाती हैं, फिर भी वह अपनी मस्ती में खलल नहीं पड़ने देना चाहता; यदि स्वाभाविक चञ्चलतावश मन और आँखें उधर जाकर उस के सुख में सेकेंड भर भी व्याघात डालना चाहती हैं, तो वह यत्न लगाकर उधर से उन्हें खींच लेता है;

कहीं अधिक जानते हो। तब उठते क्यों नहीं ? उठो, उठो, मुझे बहुत रुला चुके, अब तो खुश हो जाओ और उठ खड़े हो। क्या तुम्हें मेरे कलङ्कित होने का भी ख्याल नहीं है ? अरे भाई, इतना तो सोचो कि जब मैं तुम्हें खोकर केवल अपनी स्त्री के साथ अयोध्या में लौट कर जाऊँगा, तो वहाँ के लोग मुझे क्या समझेंगे और क्या कहेंगे ? अवश्य ही अयोध्यावासी नर नारी सभी मुझे महा नीच और घोर स्वार्थी समझेंगे, वे स्पष्ट कहेंगे कि इस (राम) ने अपनी स्त्री के लिए रावण से लड़ाई मोल ली और भाई की चिन्ता न करके केवल स्त्री को वहाँ से बचा लिया; इत्यादि।

सज्जनो, सारे ब्रह्माण्डों को चिन्तामुक्त करनेवाले परमात्मा ने लीलावश होकर अज्ञानी मनुष्यों की तरह इतना अधिक विलाप किया कि वहाँ जितने वानर भालू उपस्थित थे वे सब के सब उन की दशा देखकर बेहाल हो उठे, सबों की घिग्घी बँध गई और तड़फड़ा तड़फड़ाकर सोचने लगे कि ऐसा कौन उपाय किया जाय जिस से लक्ष्मण की मूर्छा दूर हो, वे उठकर बैठ जायँ और भगवान् का मुखकमल प्रसन्नता से खिल उठे। लेकिन किसी का कोई वश हो तब तो ! हनुमान् ही तो एक ऐसे थे जो समयानुसार सब कुछ कर सकते थे। सो वे ही जब अब तक कृतकार्यता नहीं पा सके, तो हम लोग क्या कर सकते हैं ? आह, बड़ी बेकसी की हालत है, कुछ कहते सुनते नहीं बन रहा है।

ठीक उसी समय हनुमान्‌जी सिर पर पहाड़ लिये आकर उपस्थित हो गये। उन्हें देखते ही वहाँ का शोकसाम्राज्य आँधी में तिनके के समान उड़कर अदृश्य हो गया। सब लोग प्रसन्न होकर उछल पड़े—मानों करुणरस में वीररस आ घुसा हो। और भगवान् राम तो मारे खुशी के दौड़कर हनुमान्‌जी को हजार हजार तरह से गले लगाने और हृदय से वाहवाही देने लगे।

अस्तु, सुषेण वैद्य वहाँ बैठे ही हुए थे। उन्होंने पर्वत में से ढूँढकर संजीवनी बूटी लाई और उस के प्रयोग से लक्ष्मणजी को चैतन्य कर दिया। लक्ष्मणजी हँसते हुए उठकर बैठ गये। सारी सेना नये उमंग और जोश से भर गई। बाद में सुषेण को उन के घर सहित हनुमान्‌जी ने जहाँ का तहाँ पहुँचा दिया।

इस प्रकार इस कथा द्वारा सिद्ध हो गया कि भगवान् को अनन्य भाव से सर्वदा स्मरण करनेवाला भक्त अनायास ही उन के निकट पहुँचा रहता है और निमिष भर में अघटित घटना घटाकर बड़े बड़े बीहड़ कार्यों को खेल की तरह कर गुजरता है। भगवान् के सच्चे भक्त को उस के काम से संसार का कोई भी विघ्न विचलित नहीं कर सकता, न अपने काम में उसे कभी विफलता मिल सकती है। और जो कोई केवल दूसरों को भ्रम में डालने अथवा धोखा देकर ठगने के लिए भगवद्भजन का ढोंग करता है वह कालनेमि की तरह अवश्य अपना यश, बल, पुरुषार्थ आदि सब कुछ खोकर बुरी तरह मौत के घाट जा लगता है।

इस लिए भगवान् का यह कहना बिलकुल सच है कि हे अर्जुन, अनन्य भाव से नित्यप्रति निरन्तर जो मेरा स्मरण करता है, अपने में सर्वदा युक्त रहनेवाले उस योगी को मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

अब अर्जुन प्रश्न उठाता है कि हे भगवन्, आप ने इस अध्याय के आरम्भ से अब तक अनेक प्रकार से अदल बदल कर यह जो कहा कि मेरा भक्त मेरा भजन, मेरा कीर्तन, मेरा चिन्तन, मेरा मनन और मेरा स्मरण करने पर उत्तम गति, परम पद, दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है, एवं अपने स्मर्ता के लिए मैं बहुत ही सुलभ हूँ, यह सब तो मैं ने सुना और यथाशक्ति समझा भी, पर यह तो बतलाइए कि आप को पाने से होता क्या है अर्थात् आप को प्राप्त करनेवाले को कौन सी ऐसी लोकोत्तर वस्तु मिल जाती है जिस के लिए आप को पाना जरूरी समझा जाय ?

इस के उत्तर में भगवान् ने कहा कि—हे अर्जुन, मुझे प्राप्त करना इस लिए आवश्यक है कि—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धि को पहुँचे हुए महात्मा लोग मुझे पाकर विनाशी (तथा) दुःखों के घर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिन्होंने सतत ध्यान भजन करके साधना को उस की आखिरी सीमा पर पहुँचा दिया है और उस के फलस्वरूप परमात्मदर्शनरूप अत्यन्त सुख दिलानेवाली परम सिद्धि को पा लिया है, ऐसे उत्तम भक्त महात्मा लोग मुझे प्राप्त करके दुःखों का खजाना कहलानेवाले और 'कब नष्ट हो जायगा ?' इस संशय से भरे हुए दुबारा जन्म को नहीं ग्रहण करते।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, एक बार भी कोई सुखी व्यक्ति यह नहीं सोचना चाहता कि प्रकृति के निश्चित नियम के अनुसार जब ये सुख के दिन बीत जायेंगे, कर्मानुसार चारों ओर से विपत्ति के बादल धूम मचाते हुए सिर पर आ पहुँचेंगे तब क्या होगा ? तब कैसे दिन बीतेंगे ? वह देखता है कि दुनिया में नित्य नये नये और पुराने पुराने भी नाना प्रकार के दुःखों में कितने ही मेरे साथी पड़े पड़े कराह रहे हैं, उन को आँखें एक क्षण के लिए भी सुखी में मस्त नहीं हो उठतीं, न अपने आँसू सुखा पाती हैं, फिर भी वह अपनी मस्ती में खलल नहीं पड़ने देना चाहता; यदि स्वाभाविक चञ्चलतावश मन और आँखें उधर जाकर उस के सुख में सेकेंड भर भी व्याघात डालना चाहती हैं, तो वह बल लगाकर उधर से उन्हें खींच लेता है;

दुखियों की आहों की ओर से कानों में उँगली डाल लेता है और अपने लिए निजी समझी हुई कृत्रिम मादकता में भूलकर दूसरे ही घर, किसी उर्दू कवि के शब्दों में गा उठता है कि—

'जो लोग कहते हैं, जहन्नुम है दुनिया।
वे आयें और सैर करें इस बिहिश्त की॥'

मैं यू० पी० के किसी शहर में सड़क के किनारे किनारे चला जा रहा था और एक अत्यन्त दरिद्र परिवार को जिस में लड़के बच्चे मिलाकर पाँच छः प्राणी रहे होंगे, एक साथ भीख माँगते देखकर उस की करुण दशा पर मन ही मन कुछ सोच रहा था। उस परिवार में सभी अस्थिमात्रावशिष्ट प्राणी थे, किसी के शरीर पर न तो छटाँक भर मांस था, न अपनी चमड़ी हुई हड्डियों को ढकने के लिए बित्ता भर वस्त्र। और समय का यह हाल था कि पूस महीने की सर्दी संसार के गिरे हुए तापमान का रेकार्ड तोड डालना चाहती थी। बारह बजे की दोपहरी में भी हवा की सीध पर चलनेवालों के दाँत कड़कड़ाने लगते थे और कम्बल से शरीर ढका रहने पर भी पसलियाँ जैसे चिपटी हुई जा रहीं थीं। जाड़े की हालत देखकर मैं उस भिक्षुक परिवार की रात के संबन्ध में जब विचार करने लगा, तो उस दुःख की कल्पना से मुझे रोमाञ्च हो आया। इतने में सामने से एक जैंटिलमैन बाबू साहब मेरी बगल से निकले और पटरी के किनारे दबते हुए तेजी के साथ एक पार्क के फाटक में घुस गये। उन के साथ एक सभ्य महिला भी थी और उसी से वे ऊपरवाला उर्दू पद्य कह रहे थे। एक ही समय में भगवान् की इस सृष्टि में भगवान् के ही दो परिवारों को दो विरोधी परिस्थितियों में संसारलीला में चक्कर खाते देख मेरे विचारों में उथल पुथल मच गया, मन में कुछ सोचने समझने की स्थिरता नहीं रह गई। कभी मुझे भिखारी की दीनता का ख्याल हो आता और कभी उस बड़े आदमी तथा उस के लिए संसार को स्वर्गतुल्य समर्थित करनेवाली कविता का। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि क्या वह पुरुष अपने आज तक के जीवन में कभी भी दुखी नहीं हुआ है कि इस प्रकार सरे आम संसार को स्वर्ग बतलाता चला जा रहा है? और अगर प्रभु की कृपा से दुःख का स्वयं अनुभव न भी हुआ हो, तो क्या आज तक उसे दूसरों के दुःख से भी दुखी होने अथवा कम से कम दूसरों के दुःख देखकर उस पर कुछ सोचने विचारने का भी मौका नहीं मिला है? लेकिन इन प्रश्नों का उत्तर पाने की आशा छोड़कर मैं ने भगवान् का नाम लिया और कहा कि हे प्रभो, तुम दया कर जिसे यह दृष्टि दे देते हो कि वह दूसरों को दुखी देखकर या स्वयं दुःख में पड़कर या किसी और ही प्रकार से संसार को दुःखों का आलय (घर) समझे, देखे, अनुभव करे वही संसार की असारता को जान सकता है, दीन दुखियों की सहायता कर सकता है और सर्वत्र से निष्कामता रखकर केवल तुम्हें पाने और आवागमन से मुक्त

होने का प्रयत्न कर सकता है। अन्यथा यही स्वाभाविक है (और हो ही रहा है) कि सब के सब केवल अपनी अपनी चिन्ता में जीवन की इति श्री करें।

'कोई मरे या जीये, यदि भगवान् ने हमें सुख भोगने के लिए जन्म दिया है, तो कोई कारण नहीं कि दूसरों की विपत्ति जान बूझकर मैं अपने मन में लाऊँ और स्वयं दुखी बनूँ ?' यह सिद्धान्त रखनेवाले भला कब समझ सकते हैं कि संसार अनित्य है, क्षणभङ्गुर है, हजार हजार तरह के दुःखों से भरा है, अपने में लिपटनेवाले को बार बार जन्म लेने और मरने पर विवश करता है। और बात भी यथार्थ ही है। जिसे गर्भवास के दुःख की कोई स्मृति नहीं, कभी न कभी मरना ही होगा, इस की कल्पना नहीं, बाप दादों की कमाई अथाह संपत्ति इच्छित सुख भोगने के लिए तैयार है, विलायत, अमेरिका, पेरिस की विलाससामग्री घर बैठे मिल जाती है, ऐसा मनुष्य संसार को दुःखमय क्यों माने ? वह किसी शास्त्र या आप्तवचन पर कैसे विश्वास करे कि यहाँ की कोई चीज टिकाऊ नहीं होती, शीघ्र नष्ट होकर दुखी बना देती है, इस लिए यहाँ सुख अगर एक पल के लिए मालूम भी पड़े, तो सुख नहीं, सुखाभास समझो। क्योंकि वह तो अनुभव कर चुका है कि अब तक मैं ने जिन जिन सुखों की प्राप्ति के लिए इच्छा की वे ही सुख नहीं, बल्कि अपने मित्रों के सहवास से ऐसे सुख भी भोग लिये हैं जिन की मैं कल्पना तक नहीं कर सकता था। उस के लिए यह एक व्यर्थ की बात है कि संसार क्षणभङ्गुर है। वह सब कुछ नित्य समझता है। संसार में वस्तुओं का अन्त नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी क्रमिक अनन्तता रखती है— एक से बढ़कर दूसरी, दूसरी से तीसरी इस क्रम से सभी वस्तुएँ, वे सुख के संबन्ध की हों चाहे दुःख के, अनन्त हैं। इस लिए संसार को सुखमय और उस सुख को भी नित्य स्थायी माननेवाले आत्मा के शरीर-परिवर्तन की तरह सुख की एक सामग्री नष्ट होने पर उसी विषय की उस से भी बढ़कर दूसरी सामग्री का संग्रह कर लेते हैं और संसार को नरक के बदले स्वर्ग साबित करने का दावा करते हैं।

परंतु गवर्नमेंट सरकार के न्यायालय में न्यायशील न्यायाधीश के सामने जिस प्रकार किसी का झूठा, निराधार और बे प्रमाण का दावा दायर होते ही खारिज हो जाता है उसी प्रकार दुनिया के विवेकी महापुरुषों के सामने जब सुखियों का उपर्युक्त दावा पहुँचता है, तो उस की एक भी धज्जी बाकी नहीं रहने पाती, विद्वान् लोग चारों ओर से एक से एक सच्चे और अकाट्य प्रमाण दे देकर सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध कर देते हैं कि संसार एकदम असार है, इस में कोई तत्त्व नहीं है, यहाँ की कोई वस्तु ठहरनेवाली नहीं होती, यहाँ के सुख और दुःख दोनों नाशवान् हैं और इन दोनों की अगर तुलना की जाय, तो सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक दिन ठहरनेवाला प्रमाणित होता है। इस लिए मानो

हुई बात है कि कोई मूर्ख यदि व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि में ही भूला हुआ है और उतने से संतुष्ट होकर संसार की स्वर्ग से एकता करने लगता है, तो उस की बात केवल उसके लिए भले ही मान्य बनी रहे, दूसरा कोई उस की बात को तृण बराबर भी मान्यता नहीं दे सकता, न संसार को नरक के समान कष्ट देनेवाला समझना छोड़कर स्वर्गतुल्य समझने की भूल ही कर सकता है। और यह तो कहने की जरूरत नहीं कि जो विचारवान् पुरुष ऐसी भद्दी भूल नहीं करता वही भगवान् में अपना चित्त समर्पित करता एवं उस के द्वारा परम निष्ठा- वान् बनकर भगवान् का भजन स्मरण करता हुआ परम सिद्धि को प्राप्त करता है तथा भगवान् के धाम में पहुँचकर पुनर्जन्म जैसे प्रबल कष्ट से मुक्ति पाता है। जो लोग संसार में ही सब सुख, सब तत्त्व, सब लौकिक अलौकिक पदार्थ ढूँढते और उन्हें पा पाकर अपने को कृतार्थ मानते रह जाते हैं वे न तो भगवान् का स्मरण चिन्तन कर पाते हैं, न आवागमन के कष्ट से छुटकारा पाते हैं। इस लिए मुझे यह बतलाने की या इस पर जोर देने की कोई आवश्यकता नहीं कि सब लोग मेरा कहना मानें और भगवान् का भजन करें। मुझे तो इतना ही कहना है कि जिस के अंदर विवेक की—उचित अनुचित, हानि लाभ, सार असार समझ सकने की—कुछ भी मात्रा मौजूद हो वह भगवान् की वाणी पर ध्यान दे और उस की सत्यता का कायल बनकर अपने सामर्थ्य से अपना जन्म सार्थक करे; क्योंकि भगवान् जोर देकर अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन, परम सिद्धि को पहुँचे हुए महात्मा लोग मुझे पाकर दुःखों के घर और क्षणभङ्गुर संसार में बार बार जन्म ग्रहण करने के कष्ट में नहीं पड़ते, किंतु आवागमन से मुक्त होकर परमधाम को चले जाते हैं। अस्तु;

भगवान् का यह कथन सुनकर कि मुझे पाकर (अर्थात् मेरे धाम में आकर) महात्मागण जीवन मरण से मुक्त हो जाते हैं, अर्जुन के मन में मनुष्य के स्वभावानुसार एक नई शङ्का उत्पन्न हो गई और उस ने पूछा—आप के धाम में जानेवाले का पुनर्जन्म नहीं होता, इस का अगर यही अभिप्राय है कि अन्य देवताओं के लोकों में जानेवालों को पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है, तो हे प्रभो, मैं जानना चाहता हूँ किन किन लोकों में जाकर जीव को फिर लौटना पड़ता है और कहाँ कहाँ जाकर नहीं लौटना पड़ता ?

अर्जुन की उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा कि जिन लोकों में जाकर पुनः संसार में लौटना पड़ता है उन का अलग अलग परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं, किंतु हे कौन्तेय, मुझ को प्राप्त करने पर पुनर्जन्म नहीं है।

गी० गी०—हे अर्जुन, इस मर्त्यलोक अर्थात् पृथिवीमण्डल से लेकर ऊपर ब्रह्माजी के लोक तक जितने लोक बीच में हैं उन सब का यह प्रधान गुण है कि वे सब अपने यहाँ आनेवालों के कर्मानुसार प्राप्त निश्चित अवधि तक उन्हें अपने यहाँ रहने देते हैं और अवधि पूरी हो जाने पर फिर से पृथिवीमण्डल पर उतरने और जन्मने के लिए जीव को विवश कर देते हैं। परंतु हे भाई, मेरा और मेरे धाम का तो यह गुण है कि जो कोई भी मेरा नामस्मरण करता हुआ मेरे लोक में आ जाता है वह सब प्रकार के काल और अवधि का अतिक्रमण करके अनन्त काल तक के लिए मेरे ही यहाँ रह जाता है। तात्पर्य यह कि और लोकों में जाने से मुक्ति जैसी अमूल्य संपत्ति नहीं मिलती, अतः बार बार मर्त्यलोक में लौटकर जननी के उदर में वास करने और संसार के झमेलों में पड़कर प्राण त्यागने के अनन्त कष्टों में पड़ना नहीं पड़ता और मेरी शरण में आ जाने पर इन सब दुःखों से सर्वदा के लिए छुटकारा मिल जाता है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, आज के संसार में अगर कोई बड़ा दानी, बड़ा परोपकारी, बड़ा धर्मात्मा, बड़ा पुजारी, बड़ा यज्ञानुष्ठानकर्ता प्रसिद्ध हो जाता है, तो सचमुच ही वह अपने बराबर किसी को नहीं समझता। वह निश्चित रूप से मान बैठता है कि मेरे जैसा भाग्यवान् कोई नहीं है, क्योंकि अपने अच्छे अच्छे प्रशंसनीय कर्मों के प्रताप से यहाँ पर तो मैं ने पर्याप्त प्रतिष्ठा और प्रख्याति की प्राप्ति कर ही ली है, यहाँ से प्रयाण करने के पश्चात् भी मैं इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं के उत्तम लोकों में से किसी न किसी लोक में अवश्य स्थान प्राप्त करूँगा जहाँ एक से एक बढ़कर सुख की सामग्री मेरे लिए अभी से तैयार करके रखी जा रही होंगी और वहाँ पहुँचते ही सब की सब मुझे प्राप्त हो जायेंगी। फिर तो न जाने कितनी लंबी अवधि तक मैं सुखपूर्वक उस लोक में वास करूँगा और देवताओं की बराबरी का दर्जा पाकर धन्य धन्य बना रहूँगा। यह बात नहीं है कि ऊपर कहे गये प्रतिष्ठित कर्मों का संपादन करनेवाला ही अपने आप इस तरह की बातें सोचता रहता है, दूसरा कोई कुछ नहीं कहता सुनता, प्रत्युत दूसरे लोग तो उस की कल्पना से भी कहीं अधिक उस के सौभाग्य की प्रशंसा करने लगते हैं। कारण, संसार में तो आज जहाँ देखो वहीं सब के सब इस चेष्टा में लगे दिखलाई पड़ते हैं कि जैसे बने वैसे ही धनिकों को खुश रखें और उन से यथाशक्ति अपना स्वार्थ साधते रहें। ऐसी हालत में कोई उस पुण्यकर्मानुरागी को यह उपदेश क्यों देने जायगा कि तुम अपने कर्मों को निष्काम रूप से, केवल ईश्वरप्रीत्यर्थ संपादित करो—सकाम कर्म के द्वारा

उत्तमोत्तम लोकों को पाकर भी तुम्हें यह अपूर्व लाभ तो कदापि नहीं मिलेगा जिस के ऊपर कोई लाभ है ही नहीं। यद्यपि यह माना जा सकता है और मानने लायक बात है कि निष्काम रूप से भी यज्ञ, दान, तप आदि करनेवाला भी दान की हुई वस्तु अपने घर में नहीं रखेगा, जब जो कुछ देना चाहेगा, वह कामना से हो या बिना कामना के, किसी न किसी को देगा अवश्य; इस लिए कामना सहित दानादि कर्म करनेवाले को निष्काम कर्मकर्ता बनने का उपदेश देने में भी किसी प्रकार की हानि की संभावना नहीं है; तथापि आजकल कोई अपने यजमान को ऐसा उपदेश नहीं देता, इस का कारण यही मालूम होता है कि यज्ञ करनेवाले के मन में जब यह धारणा पुष्ट हो जायगी कि मैं जो कुछ करता हूँ उस से मुझे किसी फल की चाहना नहीं है, तो कदाचित् उस को अपने परंपरागत पुरोहित या आचार्य को ही दान देने में कोई दिलचस्पी न रह जाय और वह ऐरे गैरे नत्थू खैरे किसी भी गरीब को दान दे डाले। इस लिए गुरु पुरोहित लोग नैष्कर्म्य की महिमा से पूर्णतः अवगत होते हुए भी यथाशक्ति अपने यजमानों को निष्कर्मता का ज्ञान नहीं होने देते और नाना प्रकार के व्याख्यान, कथा, दृष्टान्त आदि के द्वारा उन्हें स्वर्गादि अशाश्वत एवं पुनरावर्ती लोकों की प्राप्ति के लिए ही उद्यम करते रहने का प्रोत्साहन देते रहते हैं। और यजमान लोग भी अधिकांश में आजकल ऐसी ही प्रवृत्तिवाले हो गये हैं जिन्हें फलाशा त्यागकर कोई कार्य करने में श्रद्धा ही नहीं होती। इसी लिए यदि कोई तत्त्वज्ञानी आज के संसार को कामनाओं के पीछे परेशानी उठाते देखता भी है, तो कुछ कहना सुनना व्यर्थ जानकर अपनी राह चला जाता है, किसी से छेड़छाड़ नहीं करता और चुपचाप यह लोकोक्ति चरितार्थ होने देता है कि 'जैसे उदयो वैसे भानु, न उन के आँख न उन के कानु।' और इस के लिए कोई उस तत्त्ववेत्ता को दोष भी तो नहीं दे सकता, क्योंकि जब भगवान् ने ही कह दिया है कि—

> प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
> तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

प्रकृति के गुणों से मोहित होकर गुणों के कर्मों में लिपटे रहनेवाले, अतएव कुछ न जाननेवाले अज्ञानी मूर्खों को सब कुछ जाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष उन के कर्मों से विचलित न करे, तो ऐसी दशा में उस को कोई क्यों दोष दे? जब कि शास्त्र, पुराण, वेद, वेदान्त, उपदेश, ज्ञान आदि किसी की निजी संपत्ति नहीं हैं, जीवमात्र का उन पर समान अधिकार है, तो जैसे किसी तत्त्वज्ञानी ने अपने उद्योग अध्यवसाय से अपने आप को तत्त्वों का जाननेवाला बना लिया है वैसे ही तुम भी क्यों नहीं तत्त्वज्ञ बन जाते? किसी का कहना मानना तुम्हारी प्रकृति के प्रतिकूल पड़ता है, अपने आप भी तुम सच्चे ज्ञान के करीब नहीं जाना चाहते और इच्छा रखते हो स्वर्गादि उत्तम लोकों के भोग प्राप्त करने की,

तो इस के सिवाय और क्या हो सकता है कि बार बार संसार में आते जाते रहो और नाना योनियों में जन्म धारण करके संसार के लिए भारस्वरूप होते रहो। हाँ, अगर तुम्हें स्वयं इच्छा हो कि मैं आने जाने से रिहाई पा जाऊँ, मुझे इस लोक के बाद ऐसा लोक मिले जहाँ जाने का मार्ग तो खुला रहे, पर तिलस्मी रास्तों की तरह लौटने का मार्ग सदा के लिए बंद रह जाय, तो इस के लिए प्रयत्न करो। यह सोचकर घबड़ाने की भी तो कोई जरूरत नहीं है कि वैसे लोक का रास्ता मेरे लिए खुलेगा या नहीं ? अरे, जब कि भगवान् ने अपना नाम लेने में कोई विशिष्ट प्रकार का बन्धन रखा नहीं है, सब जीवों को बराबर हक दे दिया है कि कोई भी मेरा भजन करके पुनर्जन्म के रोग से दूर हटानेवाले मेरे धाम की और साथ ही मेरी भी प्राप्ति कर सकता है, तो क्या कारण है कि मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणी होकर भी तुम साक्षात् भगवान् का ही नामस्मरण नहीं करते और छोटे मोटे क्षणध्यायी लाभों के पीछे पड़कर ऐसा उत्तम जन्म व्यर्थ खो देते हो ?

और यह तो शङ्का ही नहीं करनी चाहिए कि और लोकों में जानेवाले को क्यों लौटना पड़ता है तथा भगवान् के लोक (परम धाम) में जाकर क्यों नहीं लौटना पड़ता ? क्योंकि यह सब लोग जानते हैं, सब शास्त्र पुराण और संत महात्मा कहते हैं और सर्वशास्त्रमयी गीता का भी यही कथन है कि संसार में जितने जीव हैं वे सब परमात्मा के ही अंश हैं—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूत. सनातनः।"

"ईस्वर अंस जीव अबिनासी।" इत्यादि।

सो जिस प्रकार मेघ द्वारा सोखा जाकर समुद्र का पानी पृथिवी पर जहाँ तहाँ वर्षा के रूप में गिरने के बाद अनेक तालाब, कुआँ, पोखरा, नद, नदी आदि का नाम धारण करके सारी पृथिवी का चक्कर काटता रहता है और कहीं पाइप से संबद्ध होकर पाइप का पानी, फुहारे से निकल कर फुहारे का पानी, बोतल में भरकर बोतल का पानी इत्यादि और भी अनेकानेक नाम रूप को तब तक प्राप्त करता रहता है जब तक किसी नदी के सहारे फिर उसी समुद्र में नहीं मिल जाता, उसी प्रकार यह जीव भी परमात्मा के अंश से उत्पन्न होकर तब तक निरन्तर नाना नाम रूप धारण करता रहता है जब तक भगवन्नाम का सहारा लेकर फिर उसी परमात्मा में जाकर मिल नहीं जाता। गर्ज यह कि पानी है एक ही पदार्थ और सर्वदा रहनेवाला भी है, पर जब जिस ढंग का नाम रूप रखता है तब तैसा कम ज्यादा टिकाउपन प्राप्त करता है। एक गाँव की गड़ही का पानी कहलाकर दो चार महीने की आयुवाला बनता है और सूर्यकिरणों में प्रविष्ट होकर शीघ्र ही दूसरा जन्म ग्रहण करता है, तो उस से बड़े किसी दूसरे पोखरे का पानी उस से लंबी आयुवाला होकर सैकड़ों वर्ष संसार का उपकार करता रहता है। इसी क्रम से जो जितने बड़े आकार और स्थान का पानी होगा वह उसी हिसाब से

संसार में अपना अस्तित्व रख सकेगा, बाद में सूखकर दूसरा नाम और रूप पायेगा। परंतु जो पानी समुद्र में चला जाता है वह अनन्त काल तक के लिए एक निश्चित नाम और रूप धारण कर लेता है जो कि वास्तव में वह है। बस, इसी तरह इस जीव का हाल है। जो जीव अपने सच्चे स्थान का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उस स्थान को किसी न किसी तरह अपना लेने का प्रण कर लेता है वह तो अपने अभ्यास और उद्योग की सहायता से एक न एक दिन अवश्य उस निश्चित और कभी न छूटनेवाले स्थान को पहुँच जाता है और जो जीव उस स्थान को भूलकर अन्य छोटे मोटे स्थानों की महिमा का कायल हो जाता है वह उन्हीं छोटे मोटे स्थानों में जाता और अवधि बिताकर पुनः लौट आया करता है। ये सब स्थान ऐसे प्रलोभन देनेवाले होते हैं कि जीवमात्र उन की प्राप्ति के लिए लालायित हो उठते हैं और वहाँ वहाँ जाकर एक के बाद दूसरी कामना करते हुए अनन्त योनि और अनेक लोक में जाते आते रहते हैं, किंतु वह परम स्थान, परमात्मा का धाम एक ऐसा लोक है जहाँ जाने की इच्छामात्र से जीव की कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। बस, यही एक तत्त्व है जिस के कारण उस परम-धाम में जानेवाला सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है और अन्य लोकों में जाकर फिर से जन्म लेने के लिए बाध्य होता है। अस्तु,

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक जितने लोक हैं वे सब बार बार लौटानेवाले हैं, पर हे कुन्तीपुत्र, मुझे पाकर फिर से जन्म नहीं धारण करना पड़ता।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन्, आप का लोक फिर नहीं लौटने देता और अन्य देवों के लोक फिर से लौटा देनेवाले हैं, इस विभेद का कारण क्या है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, यह एक सिद्धान्त बात है कि जो वस्तु समय के अनुसार विभाजित की जा सके अर्थात् समय जिस वस्तु का अनेक अंशों में बटवारा कर दे वह वस्तु अनित्य और इसी लिए पुनरावर्ती (पुनः लौटानेवाली) होती है और इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मलोक तक के सभी लोकों का समयविभाजन हो जाता है, अतएव वे पुनरा-वर्ती कहे गये हैं।

अर्जुन ने पूछा—इस का प्रमाण क्या है कि आप के लोक को छोड़कर अन्य सब लोक समय द्वारा विभाजित हो जाते हैं?

भगवान् ने कहा—इस का प्रमाण यही है कि—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

वे दिन रात के जाननेवाले (योगी) लोग कहते हैं कि ब्रह्मा का

दिन एक हजार युग तक का होता है, रात (भी) एक हजार युग में समाप्त होनेवाली होती है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिन ज्ञानी पुरुषों को दिन रात का अर्थात् समय की संख्या का तत्त्व मालूम हो चुका है उन समय के जानकारों का कहना है कि ब्रह्माजी के दिन की अवधि एक हजार युगों तक की है और इसी प्रकार ब्रह्माजी की रात भी एक हजार युगों तक की होती है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियों, सृष्टि के आदि काल से ही परमात्मा ने चार युगों की व्यवस्था बना दी है जिस के द्वारा इस सृष्टि के आयुर्बल का जानना बहुत सरल हो जाता है। उन चारों युगों के नाम हैं कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग। इन चारों युगों को मिलाने पर एक चतुर्युगी अथवा एक महायुग नाम पडता है और उस महायुग को ही एक दिव्ययुग कहा जाता है। इस श्लोक में जिन हजार युगों की चर्चा है वे दिव्ययुग हैं। दिव्ययुग का अर्थ है देवताओं का युग अर्थात् जब हमारे लिए चारों युगों की एक एक बार समाप्ति हो जाती है तब देवताओं का एक युग समाप्त होता है। सो इस श्लोक में भगवान् कह रहे हैं कि यह दिव्य-युग (चारों युग) जब एक हजार मर्तबा व्यतीत हो जाता है तब प्रजापति ब्रह्मा का एक दिन (अर्थात् बारह घंटा) पूरा होता है। फिर उस के बाद उसी के बराबर विस्तारवाली रात आती है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि हमारे चारों युगों की आयु कितने समय की होती है, क्योंकि यह जान लेने पर अपने वर्षों के हिसाब से ब्रह्मा के एक दिन (एक हजार चतुर्युगी) में कितने वर्ष समाप्त हो जाते हैं, यह जानना आसान हो जायगा। नीचे क्रम से चारों युगों की वर्षसंख्या दी जा रही है—

कलियुग की आयु ४३२००० चार लाख बत्तीस हजार वर्ष।

द्वापर की आयु ८६४००० आठ लाख चौसठ हजार वर्ष।

त्रेता की आयु १२९६००० बारह लाख छानवे हजार वर्ष।

सत्ययुग की आयु १७२८००० सत्रह लाख अठाइस हजार वर्ष।

इन चारों युगों की कुल आयु को जोड़ देने पर ४३२०००० तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं। यही एक दिव्ययुग या महायुग की हमारे वर्षों के हिसाब से आयु है। इस प्रकार हिसाब लगाने पर ब्रह्माजी के एक दिन में हम मनुष्यों के ४३२००००००० चार अरब बत्तीस करोड वर्ष समाप्त हो जाते हैं। अब यह तो स्पष्ट ही है कि उन की रात भी इतनी ही लंबी होती है। इस समय ब्रह्माजी का दिन चल रहा है और हमारे दिन के दृष्टिकोण से उस दिन के करीब दस बजे हैं जैसा कि संकल्प उच्चारण करने के समय प्रायः कहा भी जाता है—'ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीयप्रहरार्धे' अर्थात् ब्रह्मा के दिन के दूसरे पहर का आधा हिस्सा इस कल्प में अभी बीता

है। इस कल्प में अट्ठाईसवीं बार यह कलियुग चल रहा है जिसे संकल्प में इस प्रकार कहा जाता है—'श्वेतवाराहकल्पे, अष्टाविंशतितमे कलियुगे।' इसी तरह जब चार हजार बार चारों युग आयेंगे और चले जायेंगे तब ब्रह्मा का एक दिन होगा। उस के बाद उसी क्रम से जब रात भी चली जायगी तब उन का चौबीस घंटा होगा। वैसे ही चौबीस घंटों के दिन और रात जब तीस दफे चक्कर लगा लेंगे तब एक महीना और वैसे ही बारह महीनों का एक वर्ष ब्रह्मा का होता है। और जिस प्रकार मनुष्य के लिए 'शतायुर्वै पुरुषः' सौ वर्ष की आयु निश्चित की हुई है उसी प्रकार अपने वर्ष के परिमाण से ब्रह्माजी भी सौ वर्ष तक जीते हैं। इस से सिद्ध हो गया कि ब्रह्माजी का जीवन भी सीमित अर्थात् समय में बँधा हुआ है और इसी लिए उन का लोक भी सीमित तथा अनित्य है। तो जब कि देवलोकों में सर्वोपरि रहनेवाले ब्रह्मलोक की अनित्यता सिद्ध हो गई, तो यह तो स्वयं सिद्ध है कि ब्रह्मलोक के नीचे जितने लोक हैं वे सब भी अनित्य हैं ही। इसी लिए भगवान् ने भी अलग अलग इन्द्रादि लोकों की गणना या अनित्यता के बारे में कोई चर्चा न करके ब्रह्मा का ही अनित्यत्व बतला दिया और अन्य लोकों तथा उन लोकों में रहनेवालों की अस्थिरता स्पष्ट कर दी।

युगों की यह गणना अथवा ब्रह्मा की यह आयु कोरी गप या अशास्त्रीय बात नहीं है, वेदादि सभी शास्त्रों से अनुमोदित है। इस के अतिरिक्त आधुनिक भौतिक विज्ञान को ही सब कुछ माननेवाले संसारप्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने इस सृष्टि के विषय में अब तक जो कुछ छान बीन की है उस से भी यही सिद्ध हुआ है कि यह पृथिवी करोड़ों वर्ष से वर्तमान है। हाँ, समय की गति के साथ इस में परिवर्तन चाहे जहाँ तक हुए हों। और हमारे शास्त्रों में जिस प्रकार जल से इस पृथिवी की उत्पत्ति बतलाई गई है उसी प्रकार यूरोप के साइंसवालों का भी कहना है कि पानी से ही पृथिवी पैदा हुई है। हमारे और उन के सिद्धान्त में अन्तर केवल इतना है कि हम लोग परमात्मा की इच्छा से पानी पर पृथिवी का आविर्भूत होना मानते हैं और वे लोग कहते हैं अनन्त जलराशि में बेहद काई पैदा हुई, वही बढ़ते बढ़ते पानी के ऊपर उठ गई और मिट्टी के रूप में बदल गई। फिर उस पर पेड़ पत्ते, झाड़ झंखाड़, अन्न फल आदि उगे और फूले फले। इस प्रकार आज का विकासपूर्ण संसार अपने प्रारम्भिक काल से करोड़ों वर्ष आगे बढ़ आया है और बढ़ता चला जा रहा है। परंतु हमारे यहाँ का सिद्धान्त यह है कि युग के अनुसार ही इस सृष्टि में विकास और उस का पर्यवसान होता रहता है। जैसे—सत्ययुग धर्मप्रधान युग है। उस समय सारा संसार धार्मिक वातावरण से ओत प्रोत रहता है, अतः सत्ययुग में सृष्टि का पूर्ण विकास समझना चाहिए। त्रेता में धर्म का एक चरण (हिस्सा) पाप के रूप में बदल जाता है अथवा यों कहें कि धर्म के एक हिस्से पर पाप का कब्जा हो जाता है। इस लिए उस समय सृष्टि में तीन अंश धर्म और एक अंश अधर्म का राज्य रहता है।
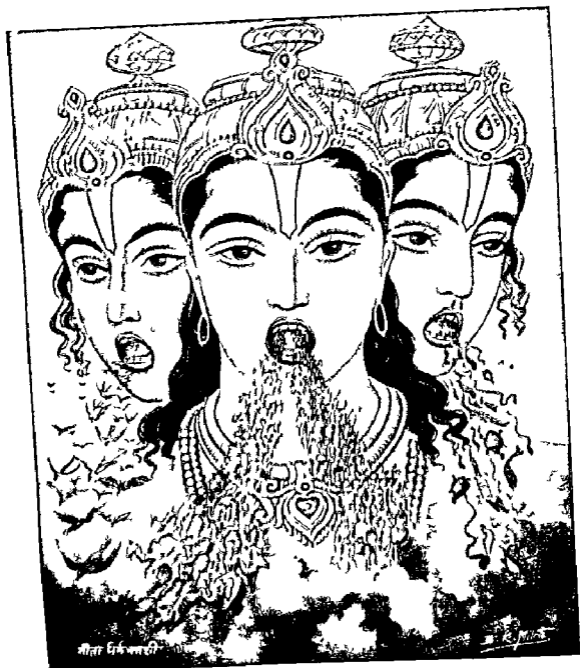
ब्रह्मा के दिन में प्राणियों की उत्पत्ति (अ० ८ श्लो० १८)

इस प्रकार सृष्टि के पूर्ण विकास में एक ओर से न्यूनता आने लगती है। फिर द्वापर में धर्म का एक चरण और क्षीण हो जाता है अर्थात् दो अंश धर्म और दो अंश अधर्म का साम्राज्य होता है, अतः सृष्टि का आधा विकास रह जाता है। अन्त में कलियुग में आकर तो अधर्म का राज्य और फैल जाता है यानी तीन हिस्सा अधर्म और एक ही हिस्सा धर्म रह जाता है। इस तरह कलियुग में नाममात्र का ही विकास शेष रहता है। वास्तव में तो यह विकास के अन्त का ही समय है। हाँ, इस युग की प्रशंसा इतनी ही की जा सकती है कि और युगों में जितने परिश्रम से परमात्मा की प्राप्ति होती है उस से बहुत ही कम परिश्रम द्वारा इस युग में परमात्मा मिल सकते हैं। लेकिन इस युग का प्रभाव ऐसा है कि उतना अल्प परिश्रम भी कोई नहीं करना चाहता; और उन युगों में चाहे कितना भी परिश्रम करना पड़ता, पर कोई साहस नहीं छोड़ता था और अपने प्रयत्न से परमात्मा को पाने की आशा लगाये ही रहता था। इसी लिए उन युगों में भगवान् के कथनानुसार 'अहोरात्रविद्' दिन रात का तत्त्व जाननेवाले भी अधिक लोग होते थे। उन युगों के लोग जानते थे कि परमात्मा के सच्चिदानन्दमय धाम और ब्रह्मादि अन्य देवों के लोकों में कितना बड़ा अन्तर है। और यह जानने के कारण ही उन लोगों को स्वर्गादि में बिल्कुल प्रीति नहीं रहती थी, केवल परमात्मचिन्तन ही उन के जीवन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय होता था। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, अहोरात्र के जाननेवाले योगीजन कहते हैं कि ब्रह्माजी का दिन एक हजार (दिव्य) युगों का होता है और उसी प्रकार रात भी एक हजार युगों की होती है, तो अर्जुन ने पूछा कि हे भगवन्, ब्रह्माजी के इतने बड़े व्यापक दिन और उतनी ही बड़ी रात में काम क्या क्या होते हैं? क्या जिस तरह हम लोग दिन को नाना प्रकार के प्रपञ्चों में और रात को निद्रा आदि में बिता डाला करते हैं उसी तरह ब्रह्माजी के दिन रात की भी समाप्ति होती है अथवा उन के दिन रात में कोई विशेष ढंग का कार्य होता है?

भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं अर्जुन, ब्रह्माजी के दिन रात में हम लोगों के दिन रात के समान ही कार्य नहीं होते, वहाँ बहुत बड़े बड़े और अपने ढंग के निराले कार्य होते हैं। हाँ, इतनी समानता अवश्य हो सकती है कि यहाँ के लोगों की तरह दिन में होनेवाले कार्यों को प्रारम्भिक कार्य और रात में होनेवाले कार्यों को विश्रान्ति कालीन कार्य कहा जा सकता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो, 'कहा जा सकता है' इस का क्या अर्थ है?

भगवान् ने कहा—इस का यही अर्थ है कि—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

(उस) दिन के प्रारम्भकाल में अव्यक्त से सब व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, रात्रि के प्रारम्भकाल में उसी अव्यक्त नामवाले में विलीन हो जाते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, प्रजापति ब्रह्मा की निद्रावस्था का नाम अव्यक्त है। सो ब्रह्मा के दिवस का जब आगमन होने लगता है तब उन की उस निद्रावस्था से ये प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाली सब वस्तुएँ—स्थावर, जङ्गम के रूप में परिलक्षित विश्व की सब प्रजाएँ—पैदा हो जाती हैं और ब्रह्मा के दिन का जब अवसान हो जाता है तब रात के आते ही ये सब प्रजाएँ ब्रह्मा की उसी अव्यक्त नामक निद्रावस्था में प्रलय को प्राप्त हो जाती हैं।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, दिन के बाद रात, रात के बाद दिन; उजाले के बाद अँधेरा, अँधेरे के बाद उजाला; जन्म के बाद मृत्यु, मृत्यु के बाद जन्म; सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि; उन्नति के बाद अवनति, अवनति के बाद उन्नति; सुख के बाद दुःख, दुःख के बाद सुख—अनन्त काल से यही चक्कर लगा हुआ है। आगे कब तक लगा रहेगा? इस का उत्तर भी अनन्त शब्द से ही दिया जा सकता है। जैसे किसी प्राणी के विषय में नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान कल्प में वह कितनी बार जन्म धारण कर चुका है तथा आगे कितनी बार जन्मेगा मरेगा वैसे ही इस सृष्टि के विषय में आदि अन्त की संख्या बतलाना नितान्त असंभव है। प्रकृति से उत्पन्न वस्तुओं के परिवर्तन की तरह प्रकृति में भी परिवर्तन का सिलसिला लगा हुआ है। कल की बात आज नहीं है और आज की बात कल नहीं रहेगी। इसी तरह सत्ययुग की बात त्रेता में नहीं, त्रेता की द्वापर में नहीं, द्वापर की कलियुग में नहीं और कलियुग की सत्ययुग में नहीं रह सकती है। सभी युगों के आचार विचार, धर्म कर्म, रीति नीति, ज्ञान विज्ञान आदि सब कुछ अलग अलग होते हैं। मनुस्मृति में कहा भी है कि—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥

युगों की क्षीणता के अनुसार मनुष्यों के धर्म सत्ययुग में कुछ और होते हैं, त्रेता में दूसरे हैं, द्वापर में तीसरे होते हैं और कलियुग में अन्य ही होते हैं। और यह तो कहना ही नहीं है कि जैसे जैसे धर्म बदलते जाते हैं वैसे वैसे कर्म अर्थात् स्वभाव, व्यवहार और रहन सहन भी दूसरे ढंग के हो जाते हैं। इन बातों का प्रमाण देने के लिए इतिहास मौजूद ही हैं। पहले के ब्राह्मण लोग किसी के अधीन नहीं रहते थे, सर्वदा स्वतन्त्र रहना उन का स्वभाव था। कोई राजा हो या राजों का राजा सम्राट्, पर ब्राह्मण लोग अपने तेज के सामने किसी के प्रभाव को निरंकुश महत्त्व नहीं देते थे। सब की रक्षा के लिए यदि राजा लोग अपना प्रभुत्व स्थापन आवश्यक समझते थे, तो उन राजाओं की रक्षा के लिए ब्राह्मण को अपना तेज बनाये रखना
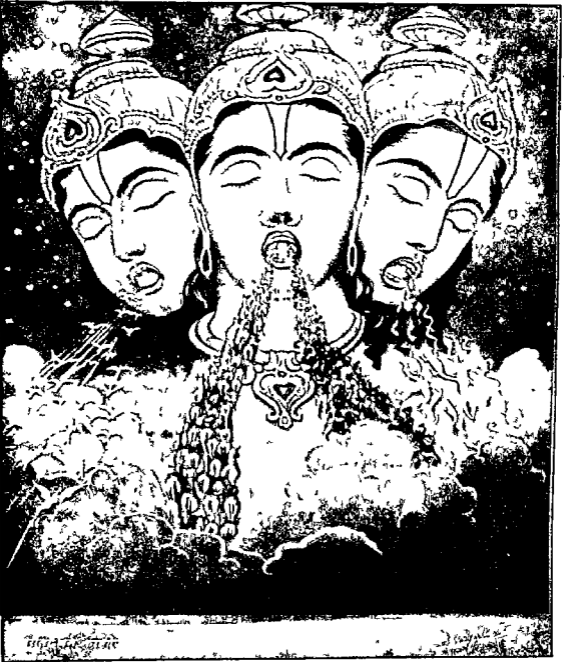
ब्रह्मा की रात्रि में प्राणियों का लय (अ० ८ श्लो० १८)

पड़ता था। इसी लिए तो लोक में कहावत भी प्रसिद्ध हो गई थी कि 'इन (ब्राह्मणों) की धोती आकाश में सूखती है।' किंतु वे बातें अब कहाँ हैं ? अब आकाश में धोती सुखाने के बदले स्टेशनों पर चाय बेचना, क्षेत्रों में भोजन बनाना, पौसरों पर पानी भरना मात्र ब्राह्मणों के प्रधान कर्म हो गये हैं। पहले जहाँ यह हालत थी कि तीनों लोकों की विजय पानेवाले बड़े बड़े शूर वीर राजा लोग सिंहासन से उतरकर ब्राह्मणों के पैरों पर मस्तक रखा करते थे, वहीं अब यह हालत है कि दर्बारों और रियासतों के विद्वान् पण्डितजी से कहा जाता है—'पण्डित-जी, ज़रा मेरे जूतों को सीधा करके तो रख दीजिए।' गर्ज़ यह कि पहले पूजनेवाले श्रद्धावान् थे, तो पुजानेवाले श्रद्धेय और अब पूजनेवालों में श्रद्धा नहीं है तथा पुजानेवाले हो गये हैं हेय। आज न तो राजा में वह पहले की बातें हैं, न ब्राह्मणों में ही। संसार को उन्नति के शिखर पर पहुँचानेवाली गाड़ी के ये दोनों पहिये समय का चक्कर खाते खाते अपना रास्ता भूल गये हैं और इसी लिए विचारवानों के परिहास के पात्र बन गये हैं। इन्हीं दोनों जातियों के परिहास की एक छोटी सी, किंतु रोचक कथा याद आ गई है, इस लिए उसे सुना देना चाहता हूँ।

एक राजा साहब थे। बड़े दानी, बड़े धर्मात्मा, बड़े सज्जन, बड़े दयालु और बड़े हँस-मुख। प्रति दिन कुछ न कुछ दान करना तो उन का स्वभाव ही था, फिर भी खास खास पर्वों पर तो वे दिल खोलकर ब्राह्मणों को दान दिया करते थे। एक बार जन्माष्टमी के अवसर पर उन्होंने एक विद्वान् ब्राह्मण को दान देने के लिए अपने महलों में बुलवाया। ब्राह्मण देवता में पण्डिताई चाहे कुछ कम भी रही हो, पर शरीर की मोटाई बहुत ज्यादा थी। प्रान्त के इने गिने मोटे आदमियों में उन का नाम सर्वप्रथम आया करता था। यह तो सभी सनातनधर्मी जानते हैं कि जन्माष्टमी का पर्व भादों के महीने में, अँधियारे पक्ष में, ठीक आधी रात में पड़ा करता है। और भादों है बरसात का महीना। साथ साथ यह भी प्रसिद्धि है ही कि बर-सात भर में और कभी पानी बरसे या न बरसे, पर जन्माष्टमी के दिन आधी रात को, जब भगवान् का जन्मोत्सव मनाने का मुहूर्त उपस्थित होता है, अवश्य पानी बरसने लगता है। हो सकता है कि यह प्रसिद्धि कभी कभी झूठी भी पड़ जाती हो, पर उस दिन पूर्णतः चरितार्थ हो रही थी—जिस समय राजाज्ञानुसार पण्डितजी महाराज राजमहल में पधारे उस समय इन्द्र महाराज संसार पर, खासकर उस रियासत पर अत्यन्त प्रसन्न हो उठे थे। कदाचित् उन की प्रसन्नता का कारण एक ब्राह्मण का आहत होना ही रहा हो। अथवा जो कुछ भी हो, मतलब इतना ही है कि उस समय घनघोर वर्षा हो रही थी जब कि पण्डितजी आहाते का हिस्सा समाप्त करके राजमहल के प्रथम भाग में ही पड़नेवाले ठाकुरद्वारे की सीढ़ियाँ तय कर रहे थे। पण्डितजी अपनी शक्ति भर खूब बचा बचाकर पैर उठाते और ऊपर के जीने पर रखते थे। चूँकि उन्हें शरीर की गरुआई का पूरा ध्यान था और इसी लिए जहाँ तक चाहिए,

वे पूरे सावधान थे कि कहीं पैर फिसलकर मैं गिर न जाऊँ, परंतु एक तो स्थूल शरीर, दूसरे गम्भीरता बेहद, तीसरे भादों की घनघोर वर्षा और चौथे ठाकुरद्वारे की संगमर्मर जड़ी हुई चिकनी चमकती सीढ़ियाँ; विचारे की सावधानी काम नहीं आई। मन्दिर के फाटक पर लगी बिजली की बत्ती का प्रकाश सीढ़ियों पर चढ़ते समय ठीक पण्डितजी की आँखों पर पड़ रहा था जिस से वे यों ही चौंधिया रही थीं, उस पर पानी से भींगे सफेद जीनों की जगमगाहट और बला ढा रही थी। एकाएक पण्डितजी के पैर के नीचे कोई अत्यन्त चिकनी चीज पड़ गई और वे लड़खड़ाकर धम से गिर ही तो पड़े।

राजा साहब मन्दिर के मण्डप में बैठे हुए श्री कृष्णजन्म की कथा सुन रहे थे। जन्म-लग्न आने में अब कुछ ही मिनटों का विलम्ब था। इस लिए व्यासजी कथा को अर्थ सहित समझा समझाकर कहना छोड़कर केवल पारायणमात्र करते चले जा रहे थे। अब श्रोताओं का ध्यान कथाश्रवण में इतना नहीं था जितना समय पूरा होने की प्रतीक्षा में। इस लिए कुछ अन्यमनस्क से होकर लोग इधर उधर का दृश्य देखते हुए समय बिता रहे थे। स्वयं राजा साहब भी मन्दिर के सामनेवाले मैदान की ओर दृष्टि लगाये वर्षा का आनन्द ले रहे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि पण्डित उदरम्भरजी महाराज नीचे की सब सीढ़ियाँ समाप्त करके फर्श पर आखिरी कदम रखना ही चाहते थे कि वह फिसल गया और भारी शरीर सँभाल में न आ सकने के कारण पण्डितजी जीनों के नीचे दूब की गद्दी (घास के मैदान) पर जा रहे। विनोदशील राजा साहब से हँसी नहीं रोकी जा सकी, वे खिलखिलाकर हँस पड़े, साथ ही सब दर्बारी, नौकर चाकर और व्यासजी भी ठहाके के साथ हँसने लगे। पण्डितजी विचारे एक तो यों ही काफी परेशान हो चुके थे, अनेकों मुसीबतों का सामना करते हुए किसी तरह अपना स्थूल शरीर इस भयकर वर्षा के समय आधी रात को राजद्वार तक पहुँचा सके थे, उस पर भी खास मौके पर पहुँचकर सब के सामने गिरने की फजीहत उठा चुके थे, अब तीसरे जब सब लोग उन का गिरना देखकर हँस पड़े तब तो उन का जी जल भुनकर खाक हो गया। मन में तो उन्होंने यही सोचा कि अगर मुझ में अपने पूर्व पुरुषों की भाँति कुछ भी तपोबल रहा होता, तो एक ही चुल्लू जल से इन सभों को एक साथ ही भस्म कर देता। परन्तु वह शक्ति तो है नहीं, इस लिए लाचारी है। रही कुछ बक झककर जी की जलन मिटाने की बात; सो खुद राजा साहब ने ही जब सब से पहल मुझे गिरते देखकर हँसना शुरू कर दिया, तो भला अब गाली गलौज भी मैं किसे और कैसे दूँ ? पण्डितजी मन ही मन बड़े दुखी हुए, किंतु कोई वश न देखकर चुपचाप रह जाना ही उचित जाना और धीरे धीरे उठने की कोशिश करने लगे। हाँ, मन में यह निश्चय उन्होंने अवश्य कर लिया कि जिस प्रकार मेरी असमर्थता पर राजा ने मेरी हँसी उड़ाई है उसी प्रकार किसी उपाय से इन्हें भी असमर्थ सिद्ध

करके मैं भी इन की हँसी उड़ाये बिना कदापि नहीं मानूँगा। इतने में राजा का इशारा पाकर दो चार नौकर दौड़कर आये और पण्डितजी को उठाकर खड़ा कर दिया। पण्डितजी ने अपना कपड़ा सँभाला और राजा के समीप पहुँचकर उन्हें आशीर्वाद देने के बाद कहा—राजन्, थोड़ा पानी और पत्थल का टुकड़ा लाने की किसी को आज्ञा हो जाती, तो मैं अपने पैर का कीचड़ धो पोंछ डालता।

राजा ने एक नौकर को हुक्म देकर एक बाल्टी पानी और छोटा सा पत्थर का कतरा मँगवा दिया तथा पण्डितजी से कहा कि लीजिए महाराज, कीचड़ साफ करके आराम से आसन पर बैठ जाइए। आज मेरे कारण आप को बड़ा कष्ट हुआ, इस का मुझे बहुत ही खेद है, इत्यादि। लेकिन राजा की इन चिकनी चुपड़ी बातों से भी पण्डितजी ने राजा की हँसी उड़ाने का विचार नहीं छोड़ा जैसा कि अपने मन में निश्चय कर लिया था और राजा की बातों के उत्तर में धन्यवाद आदि न देकर उन्होंने अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए कहा—राजन्, यह सब तो होता ही जाता रहता है, क्या रखा है इन बातों में ? हाँ, मेरी एक प्रार्थना है कि यह पत्थल का ढेला कृपा करके आप अपने हाथ से इस बाल्टी के पानी में डाल दीजिए।

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—क्यों ? इसे तो आप ने पैर की मिट्टी छुड़ाने के लिए मँगवाया था न ? फिर अब उसे पानी में डालने को क्यों कहते हैं ? और उस पर भी इस का क्या अभिप्राय है कि उसे मैं अपने हाथ से बाल्टी में डालूँ ?

पण्डितजी ने कहा—हाँ, हाँ, मैं ने उसे मँगवाया है कीचड़ ही पोंछने के लिए, पर आप उसे पानी में डालें तो सही; और तब देखें कि मेरी इस प्रकार की प्रार्थना में क्या रहस्य छिपा हुआ है ?

राजा का आश्चर्य कम नहीं हुआ, और बढ़ा ही; फिर भी उन्होंने पण्डितजी की बात मान ली और इस आशा से पत्थल के टुकड़े को पानी में डाल दिया कि देखूँ आगे क्या गुल खिलता है ?

पण्डितजी की बात का—पानी में ढेला डालने की राजा के प्रति की हुई प्रार्थना का—मर्म जानने के लिए वहाँ के उपस्थित सभी मनुष्य उत्सुक थे। इस लिए राजा ने जब पानी में ढेला छोड़ दिया तो सब लोग पण्डित का मुँह देखने लगे कि वे अब क्या कहते हैं ? किंतु पण्डितजी ने कहा सुना तो कुछ नहीं, अलबत्ता पानी में पड़कर ढेले का डूबना देखते ही वे हा''हा''हा'''हा करके जोरों से हँसने और बार बार राजा की ओर देखने लगे। पण्डितजी की इस हँसी का भला किसी को क्या अर्थ लग सकता था ? सब लोग अकचका-कर और अधिक उत्कण्ठा सहित उन का मुँह देखते रहे। परंतु पण्डितजी ने किसी के

देखने सुनने पर जरा भी ध्यान न देकर उसी प्रकार अपनी हँसी जारी रखी। आखिर जब कई मिनट हो गये और तब भी पण्डितजी की हँसी नहीं रुकी, तो विवश होकर राजा को पूछना पड़ा कि कहिए महाराज, पत्थल का पानी में डूबना देखकर ही आप हँस रहे हैं या कोई दूसरी बात आप ने देखी है जिस पर आप को ऐसी जबरदस्त हँसी आ रही है?

पण्डितजी ने कहा—नहीं राजन्, दूसरी कोई बात मैं ने नहीं देखी सुनी है; सचमुच ही मुझे उस पत्थल के डूबने पर ही हँसी आ रही है।

राजा ने कहा—पत्थल कोई लकड़ी तो है नहीं कि पानी पर तैरने लगे, उस का तो डूब जाना ही स्वाभाविक है; फिर आप इस बात पर व्यर्थ ही क्यों हँस रहे हैं?

पण्डितजी ने कहा—जी हाँ, मनुष्य भी कुछ हवा या पक्षी तो है नहीं कि ऊपर चढ़ता हुआ, गलती हो जाने पर, नीचे न गिर पड़े, पैर फिसल जाने पर मनुष्य का गिर पड़ना भी तो स्वाभाविक ही है; फिर आप मुझे गिरते देखकर क्यों हँसने लगे थे?

राजा की समझ में पण्डितजी की चातुरी आ गई; फिर भी जिरह करने और अपनी नैसर्गिक विनोदप्रियता का परिचय देने के लिए कहा—भगवन्, सब मनुष्यों का पानी या कीचड़ में फिसलकर गिर जाना भले ही स्वाभाविक कहा जाय, पर ब्राह्मण के लिए तो ऐसा किसी तरह उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शास्त्रों में कथा आई है कि ब्राह्मणों के पूर्व पुरुष अगस्त्य ऋषि ने समस्त समुद्र का शोषण कर डाला था। और यह तो स्पष्ट ही है कि समुद्र में जितना पानी और कीचड़ रहा होगा उतना सैकड़ों वर्ष यदि दिनरात पानी बरसता रह जाय, तो भी नहीं हो सकता। सो यही सोचकर आप के गिरने पर मुझे हँसी आ गई कि जिन अगस्त्य मुनि ने पानी और कीचड़ को उतने अधिक परिमाण में पराभूत ही नहीं, बल्कि उस का समूल उन्मूलन ही कर डाला था उन्हीं का वंशज आज जरा सी वर्षा और कीचड़ से घबड़ा उठा और अपने को सँभालने में असमर्थ होकर नीचे गिर पड़ा। अब आप ही कहिए, मेरा हँसना स्वाभाविक है या नहीं?

पण्डितजी ने कहा—जी हाँ, श्रीमान् का कहना यथार्थ ही है, पर मैं ने भी शास्त्रों में एक कथा पढ़ी है कि पुराने जमाने के एक क्षत्रिय राजा के समय में, जिन का नाम श्री रामचन्द्र था, बड़े बड़े पहाड़ों की चट्टानें समुद्र में तैरा दी गई थीं, इतना ही नहीं; बल्कि उन चट्टानों पर होकर उन राजा साहब (रामजी) की असंख्य फौज समुद्र के पार चली गई थी। और उन्हीं के वंशज क्षत्रिय एक आप हैं कि जिस के खुद अपने हाथों से रखने पर पत्थल का एक छोटा सा टुकड़ा भी पानी पर नहीं उतरा सका। बस, इसी लिए मुझे इतनी हँसी आई है अस्तु; यह तो हुई बहस और विनोद की बात। किंतु वास्तविक बात तो यह है श्रीमन्, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या किसी भी जाति संप्रदाय के पूर्वपुरुषों ने जैसा शक्ति सामर्थ्य

१. जन्माष्टमी का उत्सव। २. दान लेने आकर गिरे हुए पण्डितजी। ३. पानी में पत्थर का उदाहरण।

१ જન્માષ્ટમિનો ઉત્સવ. ૨ દાન લેવા આવેલા ગબડી પડેલા પંડિતજી. ૩ પથ્થરના ટુકડાના ઉદાહરણથી રાજાને ઉત્તર.
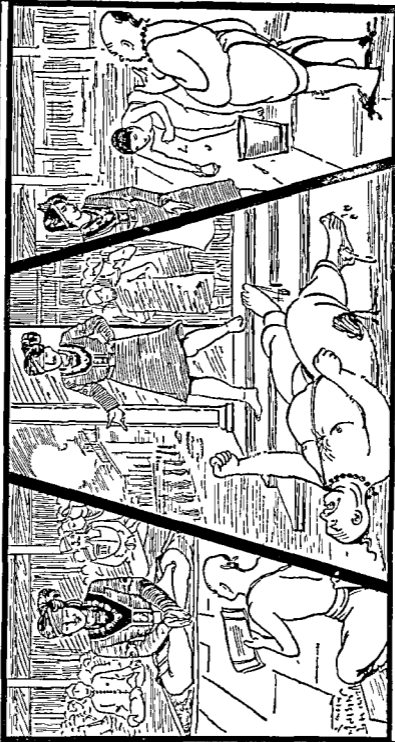
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ, वही यह प्राणियों का समूह उत्पन्न हो होकर रात आने पर विवश हुआ प्रलय को प्राप्त होता है, दिन आने पर पुनः उत्पन्न होता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, पूर्व पूर्व कल्पों के जीवगण ही ब्रह्मा के दिन का आगमन होने पर प्रकृति के गुणों से परवश हुए बार बार जन्म धारण किया करते हैं और फिर ब्रह्मा की रात के आगमनकाल में उसी प्रकार प्रकृतिद्वारा अवश हुए उसी रात्रि में विलीन हो जाया करते तथा दिन मे पुनः उत्पन्न हैं।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, बहुत से लोग यह कहते देखे जाते हैं कि जब तक जीवन है तभी तक सब प्रपञ्च है, जीवन की इति हो जाने पर मृत्यु द्वारा सब प्रपञ्चों की इति हो जाती है। परन्तु ऐसा कहना या ऐसा कहनेवालों की बात पर ध्यान देना एक ऐसी मूर्खता है जिस की कहीं उपमा नहीं मिल सकती। कारण, प्रपञ्चों की समाप्ति तभी हो सकती है जब कोई स्वयं प्रपञ्चों से छूटने के लिए यथोचित उद्योग करे। केवल मरने से यदि संसारी प्रपञ्च छूट जाते तब तो फिर क्या कहना था? एक दिन मरना निश्चित है ही, और उस के द्वारा सब रोग शोक दूर हो ही जायेंगे, इस लिए जब तक जियो तब तक जहाँ तक हो सके वहाँ तक मौज की वंशी बजाते रहो, यही सिद्धान्त संसार भर में व्याप्त रहता; न कोई कामना छोड़ने की जरूरत पड़ती, न एक बिना देखे जाने परमेश्वर की कल्पना करके उन्हीं के स्मरण भजन में जन्म की इति श्री करने की आवश्यकता रहती, न भगवान् को पुन अवतार धारण करके निष्काम कर्म के प्रतिपादन के लिए संसार की असारता साबित करनी पड़ती। लेकिन ऐसा सिद्धान्त कोई भी धर्म, पंथ, मत, संप्रदाय स्वीकार नहीं करता है; सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि जितने दर्शनशास्त्रप्रतिपादित सिद्धान्त हैं वे बिल्कुल सच हैं। और प्रतिपादन की शैली में उन शास्त्रों का आपस में भले ही मतभेद हो, प्रतिपाद्य विषय सब का एक है और वह है चिर सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए परमेश्वर को प्राप्त करना जो निष्काम कर्मयोग का बिना ठीक ठीक आचरण किये दूसरे उपाय से सुगमता से कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। लेकिन यह भी बिल्कुल सच है कि जीव के ऊपर पड़ा हुआ माया का प्रभाव उस को आसानी से निष्कामता में प्रवृत्त नहीं होने देता, वह माया के वश में होकर सर्वदा सकाम कर्मों में प्रवृत्त रहा करता है और सकामता का फलभोग पाना तो प्रकृति का अकाट्य नियम ही है। यही कारण है कि यह प्राणिसमुदाय अनादिकाल से जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के जबरदस्त पंजो में जकड़ा हुआ बार बार आता जाता रहता है—अनन्त कल्पों का आरम्भ

और उन का पर्यवसान होता चला जाता है, किंतु जीवों को मुक्ति नहीं मिल रही है, जीवों के आवागमन के चक्कर का अन्त नहीं हो रहा है। अस्तु,

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, वही यह भूतों का समूह विवश हुआ बार बार उत्पन्न होकर ब्रह्मा की रात्रि आने पर लीन होता है और दिन आने पर पुन उत्पन्न होता है।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे प्रभो, यदि उस अव्यक्त से ही यह ससार उत्पन्न होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है, तब तो मैं समझता हूँ कि वह अव्यक्त ही सब से बड़ा और इसी लिए सब का उपास्य भी होगा? आप ने अपने लिए जो महत्त्व की बातें कही हैं और परम दिव्य पुरुष की प्राप्ति को आवश्यक बतलाया है वे सब बातें कदाचित् उस अव्यक्त के बराबर नहीं हैं?

भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं अर्जुन, तूँ फिर भूल कर रहा है। अभी कुछ ही क्षण पहले तुझ से कह चुका हूँ कि ब्रह्मा कालपरिच्छिन्न हैं, नियत आयु पूर्ण होने पर उन का भी परिवर्तन हो जाता है और उन के लोक में जानेवालों को इसी कारण पुन ससार में लौटना पड़ता है। फिर यहाँ भी तुझे मैं ने बतलाया है कि अव्यक्त उन्हीं का (अथवा उन के सूक्ष्म शरीर का) नाम है। ऐसी दशा में तूँ यह प्रश्न क्यों कर रहा है कि यह अव्यक्त ही सब से बड़ा है क्या?

अर्जुन ने कहा—भगवन्, आप की सब बातें मुझे अच्छी तरह याद हैं और इसी लिए मुझे यह प्रश्न भी करना पड़ा है। क्योंकि आप पहले अपने संबन्ध में भी तो अव्यक्त शब्द का प्रयोग कर चुके हैं?

भगवान् ने कहा—हाँ; यह ठीक है,—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

किंतु उस अव्यक्त (ब्रह्मा) से परे दूसरा जो सनातन अव्यक्त भाव है वह सब भूतों के नष्ट होने पर भी विनष्ट नहीं होता।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यद्यपि ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर अथ च उन के सोने की दशा का नाम भी अव्यक्त है और उसी से जगत् की सृष्टि होने के कारण ब्रह्मा को भी अव्यक्त नाम से अभिहित किया जाता है, तथापि उन का अव्यक्त्व सर्वश्रेष्ठ नहीं है। ब्रह्मा भी अपने दिन के परिमाण के अनुसार सौ वर्ष जीने के बाद—महाप्रलय के समय—एक दूसरे अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। अतएव दूसरा जो

अव्यक्त भाव है वह उस ब्रह्मा के अव्यक्त भाव से अत्यन्त परे तथा सनातन होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। उस सर्वश्रेष्ठ अव्यक्त भाव का कभी नाश नहीं होता, सकल चराचर स्थावर जङ्गममय विश्व के विलीन हो जाने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् का कथन है कि संपूर्ण जीवों का नाश हो जाता है, पर इन जीवों में एक समान व्यापक रहनेवाले परमात्मा का नाश नहीं होता। जैसे अनेक आकार में बने हुए सुवर्ण के हजारों, लाखों या करोड़ों आभूषण आग में गला देने पर अपने नाम, रूप, गुण, स्थान आदि सब कुछ से रहित हो जाते हैं, किंतु इन सब में एक रूप से वर्तमान रहनेवाला सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता, प्रत्युत एकत्र जमा हो जाता है वैसे ही जीवमात्र का विनाश हो जाने पर भी इन में एकभाव से विराजमान आत्मत्व नष्ट नहीं होता, बल्कि परम आत्मा के रूप में आकर स्थित हो जाता है। यदि परमात्मा का ही क्षय हो जाय, तब तो इन का परमात्मा नाम ही व्यर्थ चला जाय। फिर इन्हें अव्यय, अविनाशी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, दिव्य, परम पुरुष आदि कोई क्यों कहेगा ? तब तो परमात्मा और जीवात्मा में कुछ भेद ही नहीं रह जायगा। जिस प्रकार जीव उत्पन्न हो होकर नष्ट हो जाया करते हैं उसी प्रकार यदि आत्मा भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होती, तो सृष्टि, सृष्टिकर्ता और सब का नियन्ता परमेश्वर—ये अलग अलग नाम आज दिन संसार के विश्वकोष में नहीं रह सकते, न जाने कभी का इन का लोप हो चुका होता और संसार में निरीश्वरवाद का ही बोलबाला सुनाई पड़ता। परंतु ऐसा कभी होनेवाला नहीं है। जिस का कोई नाम रूप नहीं; सृष्टि के पहले से ही वह निर्विकार, निराकार, परमाधार आदि नामों को धारण किये हुए है, यही उस परमात्मा की विलक्षणता है। यह विलक्षणता भी उसी की भाँति अनाद्यन्त है—उस का वैलक्षण्य कभी उत्पन्न नहीं होता, न कभी नष्ट ही होता है, वह सर्वदा 'है' यही उस का परिचय है। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, उस अव्यक्त से भी परे एक दूसरा जो सनातन अव्यक्त भाव है वह सब भूतों के नष्ट होते हुए भी नष्ट नहीं होता, तो अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभो, उस अव्यक्त को और भी किसी नाम से पुकारा जाता है जैसा कि आप ने अपने लिए अनेक नामों का वर्णन किया है, अथवा केवल अव्यक्त शब्द से ही उस का परिचय प्राप्त करना पड़ता है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, एक होते हुए भी उस के अनेक नाम धाम हैं। यथा—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं म[illegible] ॥

(वह) अव्यक्त 'अक्षर' इस नाम से कहा जा चुका है, उस को परम गति (भी) कहते हैं, जिस को प्राप्त करके लौटते नहीं वह मेरा परम धाम है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, ऊपर जिस अक्षर का परिचय तुझे दे चुका हूँ वह भी अव्यक्त का ही एक नाम है। विद्वान् लोग उस अव्यक्त और अक्षर को परम गति भी कहते हैं और जिस अव्यक्त अक्षर को पा लेने पर जीव का पुनरागमन छूट जाता है तथा उस के बाद जीव जहाँ अनन्तकाल के लिए स्थिर स्थित हो जाता है वही मेरा परम धाम है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, ऊपर के श्लोकों में भगवान् अव्यक्त, अक्षर, परम गति, परम धाम, परम दिव्य पुरुष आदि अनेक विशेषताबोधक शब्दों द्वारा पृथक् पृथक् अपना परिचय दे आये हैं, इस लिए यहाँ पर फिर उन्हीं शब्दों में उन का अपना स्वरूपज्ञान कराना पुनरुक्ति कहा जा सकता है, परंतु बात वैसी नहीं है; क्योंकि ऊपर ये सब शब्द भगवान् की अलग अलग महिमा का वर्णन करने में प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ वहाँ पर भगवान् ने किसी शब्द से अपनी निराकारता, किसी से साकारता, किसी से अपनी गति और किसी से अपने लोक का परिचय कराया है, किंतु अर्जुन के मन में उन सब का अलग अलग वर्णन सुनकर किसी प्रकार का भेदभाव न उपजे, इसी के वास्ते भगवान् ने यहाँ पर उन सब शब्दों का समन्वय कर दिया है। इस श्लोक द्वारा भगवान् यही बात कह रहे हैं कि हे अर्जुन, मैं ही अव्यक्त हूँ, मैं ही अक्षर हूँ, मैं ही परम ब्रह्म हूँ, मैं ही परम गति हूँ और मैं ही परम धाम हूँ। सब लोक, सब भुवन, सब धाम पुनरावर्ती हैं, किसी में यह सामर्थ्य नहीं है कि उन के यहाँ जो आये उसे सदा के लिए वे अपने यहाँ रहने का प्रमाणपत्र दे सकें, क्योंकि वे सब लोक, भुवन, धाम स्वयं ही समय पर अवलम्बित हैं—समय की गति एक दिन उन सब को अस्तित्वहीन बना देती है। फिर वे धाम आदि दूसरों को किस आधार पर पुनः लौटने के लिए बाध्य न करें? पर मेरा धाम वैसा नहीं है। उस में सब तरह की शक्ति और सामर्थ्य पूर्णमात्रा में भरा हुआ है। मेरा धाम समय के बन्धन से मुक्त तथा अक्षय सुख से युक्त है। अतएव वह अपने यहाँ आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा अपने यहाँ रहने का सुनिश्चित प्रमाणपत्र—रजिस्टर्ड सार्टिफिकेट—दे देता है। यही कारण है कि और सब धाम या लोक मेरे धाम के पासँगे की भी बराबरी नहीं कर सकते, मेरा धाम सब से बड़ा है।

यह सब तो है। भगवान् के धाम में जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता, यह बिलकुल सही है। लेकिन कठिनाई यही है कि उस परम धाम में जानेवाले बहुत कम लोग होते हैं—

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्' हजारों में कोई एक आध ही वहाँ जाने का प्रयत्न करते हैं और उन में भी मुश्किल से कोई अन्त तक अपने प्रयत्न पर दृढ़ रहता है तथा वहाँ तक जाने की सफलता प्राप्त करता है। इस का कारण क्या है? इतनी उत्तम वस्तु की प्राप्ति के लिए लोगों के मन में अभिलाषा नहीं होती क्यों? नहीं, अभिलाषा तो अवश्य होती है, पर उस पर अन्त तक लोग दृढ़ नहीं रहते, बीच में ही छोटे मोटे सुख को पाकर लालच में पड़ जाते हैं और अक्षय सुख की प्राप्ति का साधन छोड़ बैठते हैं। संसारी प्रलोभन अस्थिर बना देते हैं, स्वाभाविक चञ्चल मन भक्त को भगवान् के समीप तक पहुँचने के पहले ही उस के सामने कोई न कोई संसारी मधुर रस उपस्थित कर देता है जिस का क्षणिक स्वाद लेने के फेर में पड़कर भक्त उस नित्य स्वाद को भूल जाता है, उस की आँखों पर संसारी आनन्द का मद छा जाता है और उसी से अंधा हुआ वह दुःखों के पहाड़ को भी देखने में असमर्थ बन जाता है। इसी बात को श्री वेदव्यासजी ने महाभारत में एक दृष्टान्त के द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से विवृत (खुलासा) किया है। वह दृष्टान्त यों है—

किसी स्थान पर एक ब्राह्मण रहता था। पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार उसे इस जन्म में सब तरह के सुख मिले हुए थे—स्त्री, पुत्र, घर, जमीन, धन, दौलत किसी चीज की उस के पास कमी नहीं थी। वह ब्राह्मण एक अमीर की तरह जीवन का आनन्द लेता हुआ अपने परिवार में सब तरह से सन्तुष्ट रहा करता था। एक सद्गृहस्थ के लिए जो जो काम जरूरी हैं उन सभी का यथासमय वह पालन किया करता था। प्रातःकाल नदीतट, बाग, बगीचों की सैर, मध्याह्न में शान्तिपूर्वक आराम, सायंकाल जंगल मैदान में भ्रमण; विशेष विशेष पर्वों पर उत्तमोत्तम तीर्थों की यात्रा—ये सब अमीरी ठाट उस ब्राह्मण को हमेशा प्राप्त थे। एक दिन वह ब्राह्मण शाम को जब सैर करने निकला, तो उसे इच्छा हुई कि आज जंगल के अन्त प्रदेश में घुसकर सैर करना चाहिए। इस से शुद्ध वायुसेवन भी हो जायगा और यह भी मालूम हो जायगा कि जिस जंगल के भीतरी भाग के सम्बन्ध में आज तक तरह तरह की मनोरञ्जक और भयावनी किंवदन्तियाँ मैं सुनता आ रहा हूँ उस में वस्तुतः कोई विचित्रता भी है या यों ही लोग गपें हाँका करते हैं। ब्राह्मण धीरे धीरे टहलता हुआ जंगल के मध्य भाग में पहुँच गया। वहाँ जाकर उस ने देखा कि किंवदन्तियों की और सब बातें झूठ या सच चाहे जैसी हों, पर इस में सन्देह नहीं कि यहाँ आकर जंगल की सघनता बेहद बढ़ गई है, इतना घना जंगल कि दिन में भी चिराग जलाकर मार्ग ढूँढ़ना पड़े, यही है। ऐसा जंगल किसी दूसरे देश में शायद ही देखने को मिल सके। अवश्य ऐसे ही एकान्त स्थानों को पाकर प्राचीन समय के सन्त, महात्मा, ऋषि, मुनियों ने अपने पुरुषार्थ से परमेश्वर को प्राप्त करने का यथोद्यम कर लिया। इस स्थान पर आकर भगवान् में भक्ति रखने की इच्छा

अपने आप होने लगी है, यह इस की एकान्तता का ही प्रभाव मालूम होता है। यहाँ पर जैसे सुगन्धित फूल फूले हैं वैसे बड़े बड़े महाराजों के उपवनों में भी नसीब नहीं हो सकते, यहाँ की प्राकृतिक झील में जैसा निर्मल जल दिखलाई पड़ रहा है वैसा क्या किसी राजधानी के जनसमूह और धूल धक्कड़ के बीच में बने तालाब अथवा सरोवर में मिल सकता है? सब आनन्द ही आनन्द तो यहाँ दृष्टिगोचर हो रहे हैं; फिर क्यों बहुत से लोग इन स्थानों में भय मानते हैं?

ब्राह्मण यही सब विचार करता हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा था। इसी समय अचानक उस के कानों में कहीं से शेर के गुर्राने की आवाज आ पड़ी। ब्राह्मण चौंक पड़ा और गौर से इधर उधर देखने लगा। एक दो मिनट भी नहीं बीत पाये थे कि बगल के वृक्षों की सघनता को चीरता हुआ सचमुच ही एक बड़ा भारी शेर उसी की ओर आता दिखलाई पड़ा। ब्राह्मण के होश पैतरे हो गये; वह शेर को देखते ही भयाकुल हो, सिर पर पैर रखकर तेजी के साथ एक तरफ भाग निकला। परंतु जंगल के देवता शायद ब्राह्मण को अपनी भयंकरता पूर्ण मात्रा में दिखला देना चाहते थे। ब्राह्मण शेर के भय से भागकर दस कदम भी आगे नहीं जा सका था कि सामने से महाभीमाकार विचित्र प्रकार का, जैसा कभी देखा सुना नहीं गया हो, एक हाथी झपटता हुआ उस की तरफ चला आ रहा था। उस हाथी के बारह सूँड़ और छः पैर थे, उस की छोटी छोटी, अङ्गार के समान जलती हुई, लाल लाल आँखें देखने से ऐसा मालूम होता था, मानों एक ही झपट्टे में वह सारे संसार को निगल जाना चाहता है। उस हाथी को देखकर ब्राह्मण के पैर थर्राने लगे, उस की चाल बंद हो गई और वह जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। फिर पल भर में कुछ सोचकर उस ने पीछे की तरफ दृष्टि घुमाई, तो शेर को उसी तरह आक्रमण करने की चेष्टा में लगा हुआ अपनी ओर आते देखा। अब तो ब्राह्मण के पैर के नीचे से जमीन खिसकने लगी, वह बड़ी परेशानी और पशोपेश में पड़ा कि अब क्या करूँ? सामने हाथी, पीछे शेर, अगल बगल जंगल की सघन, दुर्भेद्य, कँटीली झाड़ियाँ, किसी तरफ पैर उठाने का मार्ग नहीं; किस उपाय से जान बचाऊँ? ब्राह्मण कुछ उपाय भी स्थिर नहीं कर सका था कि उसी बीच में हाथी ने सफल प्रहार करने के विचार से उस पर आक्रमण कर दिया, साथ ही शेर के भी गरजने तथा उछलने की आवाज सुनाई पड़ी। ब्राह्मण भय के मारे चिल्ला उठा और बचने का दूसरा कोई उपाय न देखकर काँटेदार झाड़ियों में ही घुस पड़ा। शेर और हाथी भी उसी तरफ लपके और करीब ही था कि दो के दोनों एक साथ ही उस को पकड़ लें कि अंधाधुंध भागता हुआ ब्राह्मण बिचारा सामने के चौड़े और गहरे कुएँ में धम से जा पड़ा। किंतु उसे अभी बहुत कुछ देखना बाकी था। वह कुएँ की अन्तिम सतह तक पहुँचकर अपनी जान गवाने के पहले ही एक आधार पा गया। कुएँ के ऊपर जमे हुए

वटवृक्ष की बरोहें लटक लटककर कुएँ में चारों ओर फैली हुई थीं। उन में से एक बरोह ब्राह्मण के हाथ में आ गई जिसे उस ने मजबूती से पकड़ लिया और उसी के सहारे बीच में लटकता रह गया। पर वह बरोह भी जैसी चाहिए वैसी मजबूत नहीं थी। इस लिए ब्राह्मण के शरीर का बोझा पाकर वह चरमर करने लगी। ब्राह्मण समझ गया कि यह आधार भी अब हाथ से निकलना ही चाहता है, और वह निराश होकर चिन्ता के मारे नीचे की ओर देखने लगा। किंतु नीचे जो कुछ उस ने देखा उस से उस का रहा सहा होश भी गायब हो गया। ब्राह्मण ने देखा कि कुएँ में पानी एक बूँद भी नहीं है, कुएँ की जमीन बिल्कुल सूखी हुई है और वहाँ पर एक बड़ा भारी विशालकाय अजगर साँप ऊपर की तरफ मुँह फैलाये बैठा हुआ है। ब्राह्मण ने उसे देखते ही अनुमान से जान लिया कि यदि मैं यहाँ से निरवलम्ब हुआ, तो अविलम्ब सीधे उस साँप के मुँह में ही जाकर मुझे आश्रय मिलेगा। और उस के बाद क्या होगा? ओफ; उस की तो कल्पनामात्र से घबड़ाहट के मारे ब्राह्मण के शरीर से पसीना छूटने लगा। अब ब्राह्मण को अपने बचने की रत्ती भर भी आशा नहीं रह गई। उस की व्याकुलता असीम हो गई, वह अन्तिम निराशाभरी आँखों को उठाकर अब आकाश की ओर देखने चला कि कदाचित् ऊपर देखने से कोई दूसरा आधार मिल जाय, अथवा निष्कलङ्क नभ की नीलिमा देखने से ही मन में कुछ शान्ति का सचार हो आये, पर ऊपर जब उस की दृष्टि गई तब तो वह भय की अधिकता से बेहोश होकर गिरते गिरते बच गया। उस ने देखा कि कुएँ के ऊपर शेर और हाथी दोनों ताक लगाये खड़े हैं और क्रोध सहित मेरी ओर देख रहे हैं। साथ ही उसे इस से भी अधिक भयभीत करनेवाली जो बात दीख पड़ी वह यह थी कि जिस बरोह को पकड़कर वह लटका हुआ था उसे डाल के पास से ही दो चूहे काटने की कोशिश कर रहे थे। यद्यपि वह बरोह काफी मोटी थी और बहुत जोर लगाने पर उस में चूहों के दाँत धँसते थे; तथापि वे दोनों चूहे अपने प्रयास में शिथिल नहीं हो रहे थे, बराबर उसे कुतरने में लगे हुए थे और इस तरह करीब आधी मोटाई काट चुके थे। उन चूहों में एक का रंग काला था और एक का सफेद। ब्राह्मण ने अनुमान किया कि अब इस डाल के बिल्कुल कट जाने में अधिक से अधिक आधा घंटा समय लगेगा। उस के बाद.....? उस के बाद की बात सोचने से भी हृदय की धड़कन बढ़ हुई जा रही है। डाल कटी, और मैं सीधे इस अजगर के मुँह में होऊँगा जो शायद मुझे निगलने के लिए ही आशा लगाये अभी से मुँह फैलाकर बैठा है। हे ईश्वर, अब क्या करूँ? अब तो कोई उपाय नहीं दिखाई देता जिस के द्वारा मैं अपनी जान बचाने की आशा और कोशिश करूँ। जीवन से निराश होकर ब्राह्मण ने आँखें मीच लीं, किंतु चिन्ता ने उसे उस दशा में अधिक देर नहीं रहने दिया। ब्राह्मण का हृदय व्याकुल हो उठा। उस ने यह देखने के लिए फिर आँखें खोल दीं कि अब

इस अन्तिम आधारभूत बरोह के कटकर नीचे गिरने में कितनी कसर रह गई है। इस बार उस ने कुछ विशेष ध्यान देकर बरोह और जिस डाल से वह निकली थी उस डाल को देखना चाहा, तब तक उस की नजर मधुमक्खी के छत्ते पर पड़ गई जो उन चूहों से कुछ ही ऊपर थी और जिसे बड़ी बड़ी मधुमक्खियों ने चारों ओर से घेर रखा था। ब्राह्मण उस छत्ते को देखकर और ज्यादा घबड़ा गया; क्योंकि उस ने सोचा कि अगर किसी तरह वह डाल हिल जायगी और मधुमक्खियों के बैठने में विघ्न पड़ जायगा, तो निश्चय ही उन सबों के मन में मेरे प्रति यह संदेह हो जायगा कि इसी मनुष्य ने मधु के लालच से हम लोगों को यहाँ से उड़ाने के लिए इस डाल को हिलाया है। और तब वे सब की सब अवश्य ही मेरे ऊपर टूट पड़ेंगी। आश्चर्य है कि ब्राह्मण की कल्पना अभी पूरी भी नहीं हो पाई थी कि उस के पहले ही न जाने किस तरह मधुमक्खियों की स्वच्छन्दता में बाधा पड़ गई, कुल की कुल मक्खियाँ भनभनाती हुई अपना छत्ता छोड़कर उड़ने लगीं और चारों ओर घूम घूमकर अपने शत्रु का पता लगाने लगीं। इतने में उन सबों को वह ब्राह्मण दिखलाई पड़ गया। उसे कुएँ में लटकता देखकर मधुमक्खियों ने समझा कि हमारे साथ छेड़खानी करके अब यह पाजी कुएँ में आ छिपा है। इस लिए क्रोध करके वे सब चारों ओर से उस के ऊपर लिपट गईं और जोर जोर से काटने लगीं। ब्राह्मण की विपत्ति का पारावार नहीं रह गया—शेर, हाथी, कूआँ, अजगर, बरोह का चूहों से काटा जाना आदि जितने भय के कारण थे उन से अभी तक वह किसी न किसी तरह बचा हुआ था, पर इन मक्खियों के आक्रमण से बचने का उस के पास कोई उपाय नहीं था। और सब से बड़ा संकट तो यह था कि वह विचारा मधुमक्खियों को हटाने के लिए अपना हाथ तक नहीं हिला पाता था, क्योंकि हाथ से अगर वह मक्खियों को हाँककर दूर करना चाहता, तो बरोह छोड़ देनी पड़ती, और बरोह छोड़ने पर नीचे बैठे हुए अजगर के मुँह का ग्रास बनना अवश्यंभावी था। अब उस की घबड़ाहट इतनी बढ़ गई कि वह कुछ सोचने विचारने लायक भी नहीं रह गया। अब तो जीवमात्र का अन्तिम सहारा 'भगवान् का नाम' लेना मात्र उस के वश की बात रह गई। आखिर वह जोर जोर से चिल्लाकर कहने लगा—हे परमात्मा, हे भगवान, हे ईश्वर, हे नाथ, हे अशरणशरण, अब मैं इस शरीर को बचाने का क्या उपाय करूँ? अब तो तुम्हीं अगर बचाओ, तो बचना संभव हो सकता है, अन्यथा अवश्य ही अब मैं अजगररूपी काल के मुँह में चला जाना चाहता हूँ; क्योंकि मधुमक्खियों ने मेरा अङ्ग अङ्ग बींध डाला है। अब मेरे हाथों में इतनी शक्ति नहीं दिखाई देती कि उन से कुछ देर के लिए भी यह बरोह पकड़कर मैं लटकने और जान बचाने में सफलता पा सकूँ; अब मैं नीचे गिरना ही चाहता हूँ।

आकाश की तरफ देखता और इस प्रकार कहता हुआ वह ब्राह्मण बड़ी ही करुणापूर्ण अवस्था में अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रहा था। इसी समय उस की दृष्टि आकाश में

उड़नेवाले एक विमान पर पड़ गई। वह विमान इतना सुन्दर, इतना आकर्षक, इतना सुभावना और इतना मनोहारी था कि उसे देखकर वह ब्राह्मण उतनी बड़ी विपत्ति के समय भी कुछ देर के लिए प्रसन्न सा हो उठा। उस विमान पर दो दिव्य मूर्तियाँ बैठी हुई थीं जिन में एक स्त्री थी और दूसरा पुरुष। दोनों ब्राह्मण की दीन प्रार्थना सुन रहे थे। इस लिए दया से द्रवित होकर उन्होंने कहा—ब्राह्मण, हमारी ओर देखो, हम लोग तुम्हारी दशा देखकर बहुत दुखी हो रहे हैं और तुम्हें बचाने के लिए सब तरह से तैयार हैं। इस लिए अब तुम शीघ्र हमारी शरण में, हमारी गोद में आकर इन दुःखों से अपना पिण्ड छुड़ा लो। तुम विश्वास रखो कि जिस बरोह को पकड़कर अपनी जान बचाने की चेष्टा में लगे हुए हो वह अधिक समय तक अब तुम्हारा भार सहन नहीं कर सकेगी, उस के टूटने में अब ज्यादा देर नहीं है। और उस के टूटते ही तुम्हारी जो हालत होगी उसे तो तुम जानते ही हो। इस लिए वह जब तक खुद टूटकर तुम्हारा अन्त नहीं कर देती उस के पहले ही उस के सहारे की आशा छोड़ दो और हमारी गोद में आ जाओ। यहाँ आने पर तुम्हें सब प्रकार के भय से मुक्ति मिल जायगी और जब तक चाहते रहोगे तब तक निर्भय होकर सब प्रकार के सुख भोगोगे। इस लिए देर मत करो, हमारी बात मान लो और हाथ उठाकर हम लोगों की गोद में कूद पड़ो।

ब्राह्मण ध्यान देकर उन की बातें सुनता रहा और अन्त में उन की गोद में जाने के लिए तैयार होकर अपनी स्वीकृति देने के लिए उस ने मुँह खोलकर कहना भी चाहा कि अच्छी बात है, मैं तुम्हारी शरण में आ रहा हूँ, किंतु आकाश में देखते हुए ज्यों ही उस ने अपना मुँह खोला कि उन दोनों को अपनी बात सुनाये त्यों ही ऊपर टँगे हुए मधुमक्खियों के छत्ते से टप टप करके शहद की मीठी मीठी बूँदे उस के मुँह में चूने लगीं। इस लिए अनायास ही जब उस के मुँह में मधु जैसी मधुर वस्तु का आस्वाद मिलने लगा, तो वह भूल गया कि मैं कहाँ, कैसी परिस्थिति में पड़ा हूँ तथा उस से बचने के लिए क्या करने जा रहा था; और चटाचट जीभ चला चलाकर शहद चाटने लगा।

विमानस्थ दोनों व्यक्ति कुछ देर चुप रहकर ब्राह्मण की ओर कान लगाये रहे कि हमारी बातों का अब कोई उत्तर देता है, पर कई क्षण बीत जाने पर भी जब ब्राह्मण चुप ही रहा, तो उन दोनों ने उसे पुकारकर फिर कहा कि अब देर क्यों कर रहे हो ब्राह्मण? हम लोग कब तक तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहें?

ब्राह्मण को उन की बातों से क्रोध आ गया कि इतनी तकलीफ भोगने के बाद आज दस बूँद शहद चाटकर थोड़ा जी ठंडा करने का मौका भी मिला, तो न जाने कहाँ से ये मूर्ख आकर सिर पर सवार हो गये और व्यर्थ दिमाग चाटने लगे। उस ने बहुत बिगड़कर उत्तर दिया—कौन हो जो तुम लोग? कहाँ से आकर सिर खाने लग गये? क्या तुम्हें

आँखें नहीं हैं और देख नहीं रहे हो कि कितनी भूख बरदाश्त करने के बाद आज थोड़ा सा आहार पा रहा हूँ ? चले जाओ इस समय यहाँ से। अभी मेरे पास इतना समय नहीं है कि तुम्हारे साथ व्यर्थ की बहस करूँ। जब सब शहद चाट चुकूँगा तब आना। उस समय जो कुछ कहना हो कहना और मेरा उत्तर सुनना। अभी मैं यहाँ से सेकेंड भर के लिए भी हटकर कहीं जाना स्वीकार नहीं कर सकता, चाहे वह गन्तव्य स्थान स्वर्ग या उस से बढ़कर ही क्यों न हो।

ब्राह्मण का उत्तर सुनकर उन दिव्य मूर्तियों ने हँसकर आपस में कहा—कितना मूर्ख प्राणी है यह ? आँख कान रहते हुए भी देखना सुनना नहीं चाहता, तो हमारा क्या वश है ? चलो चला जाय यहाँ से; अब इस के विनाश को कोई नहीं बचा सकता। इस के बाद अपने विमान सहित वे दोनों अन्तरिक्ष में अदृश्य हो गये।

ब्राह्मण शहद चाटने में इतना तल्लीन हो रहा था कि उस ने आँख उठाकर इतना भी नहीं देखा कि ऐसी घोर विपत्ति में जो दयार्द्र होकर मेरी रक्षा करना चाहते थे वे किधर गये। वह अपनी सारी शक्ति, समस्त इच्छा और सकल कामना को केवल मधुरस चखने में केन्द्रित कर चुका था; फिर भला वह और किसी विषय पर कैसे ध्यान दे सकता था ? पर दुःख यही है कि बिचारा अधिक समय तक मधु की मधुरता का स्वाद नहीं ले सका। उधर दिव्य मूर्तियों का विमान अदृश्य हुआ और इधर बरोह का संबन्ध अस्पृश्य हुआ अर्थात् विमान परके व्यक्तियों से जितनी देर ब्राह्मण की बातें होती रहीं उतनी देर में काले और सफेद चूहों ने मिलकर बरोह को पूर्णतः काट डाला, बरोह बरगद की डाल से अलग हो गई और अपने साथ ब्राह्मण को भी लिये दिये नीचे कुएँ की तलहटी पर जा पहुँची। वहाँ अजगर तो मुँह फैलाये बैठा ही था। बस, चटपट उस ने स्वाँस खींचकर ब्राह्मण को अपने उदर में कर लिया और इस प्रकार ब्राह्मण की संसारी लीलाओं की विपत्तियों में ही समाप्ति हो गई।

यह एक ब्राह्मण को नायक बनाकर उस की आप बीती घटनाओं का सिलसिला जमाया गया है और एक रोचक कथा तैयार कर डाली गई है। परंतु सच तो यह है कि संसार में जितने जीव हैं उन सब की वही दशा है जो उपर्युक्त कथा में ब्राह्मण की हुई है। दुनिया में एक मनुष्य भी ऐसा नहीं मिल सकता जिस के ऊपर पूरी की पूरी यह कथा चरितार्थ न होती हो। हाँ; उस में थोड़ा रूप अवश्य बदलना पड़ेगा और वह इस तरह कि ब्राह्मण, जंगल, शेर, हाथी आदि को सीधे सीधे तद्रूप न मानकर उन को निम्नलिखित प्रकार का रूपक देना होगा। यथा—

ब्राह्मण = जीवात्मा, जंगल = संसार,
शेर = अहंकार, हाथी = एक वर्ष,

हाथी की बारह सूँड़ें = वर्ष के बारह मास,	हाथी के छः पैर = वर्ष की छः ऋतुएँ,
जंगली कुआँ = संसारियों का शरीर,	बरगद की बरोह = जीव की आयु,
काला चूहा = कृष्णपक्ष,	सफेद चूहा = शुक्लपक्ष,
अजगर साँप = कालदेव,	मधुमक्खियाँ = कुटुम्ब, परिवार—सगे संबन्धी,
शहद की बूँदें = इन्द्रियों के सुख,	
विमानस्थ स्त्री = भक्तिदेवी,	सन्मार्ग के उपदेशक
विमानस्थ पुरुष = ज्ञानदेव।	गुरु आचार्य आदि।

और एक तरह से कथा का सारांश यह भी निकलता है कि समस्त जीव संसार में भटक रहे हैं। अहंकाररूप शत्रु उन का सर्वनाश करने को सर्वदा तैयार है, पर उस से भागकर कोई बच नहीं पाते। आये दिन की कमी (वर्ष भर की चिन्ता) पूरी करने में फँस जाते हैं। वर्ष के बारह महीनों और छः ऋतुओं का चक्कर किसी को स्थिर होकर कुछ सोचने विचारने का मौका नहीं देता, सभी शरीर के मोह में पड़ जाते हैं कि इस के ऊपर सर्दी गर्मी या भूख प्यास का असर पड़कर कोई बीमारी न उत्पन्न हो जाय। परंतु पखवारे पर पखवारे बीत बीतकर आयु को निरन्तर क्षीण करते जाते हैं, कितने ही कराल काल के गाल का शिकार बन जाते हैं, जो नहीं जाते हैं उन्हें कुटुम्ब परिवार के लोग चूस चूसकर गलाये डालते हैं; फिर भी कोई गुरु के उपदेश को मानकर अपनी सुधारने की फिक्र नहीं करते और इन्द्रियों के सुख के पीछे मरते रहते हैं। ऐसे ही लोगों को आवागमन से फुर्सत नहीं मिलती—हजारों बार सृष्टि की उत्पत्ति और लय होता रहता है, पर ऐसे लोगों को कभी मुक्ति नहीं मिलती। क्यों? क्योंकि मुक्ति दिलानेवाले ज्ञान और भक्ति का कोई आश्रय नहीं ग्रहण करता। बड़े बड़े शास्त्र, बड़े बड़े आचार्य, बड़े बड़े संत महात्मा गला फाड़ फाड़कर जगत् को कल्याण का मार्ग दिखलाने की बेहद कोशिश करते रहते हैं, पर जगत् के मूढ़ और अहंकारी लोग उन की बातों पर कान तक नहीं देते, सुनी अनसुनी कर देते हैं और विषयसुख को संसार की सब से बड़ी सिद्धि मानकर उसी की प्राप्ति के लिए जीवन का समस्त सामर्थ्य, संपूर्ण बुद्धिवैभव व्यय कर डालते हैं। लेकिन जिन में कुछ भी बुद्धि है, जिन्हें अपने हानि लाभ की कुछ भी पहचान है, जो संसार की असारता, क्षणभङ्गुरता और उस की अक्षय दरिद्रता को जानते हैं वे ऐसा नहीं करते। वे तो ढूँढ़ ढूँढ़कर उत्तमोत्तम शास्त्रों का संग्रह करते हैं, प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों का सहवास प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उन्हें अपना गुरु बनाकर शास्त्रज्ञान का उपार्जन करते हैं और उतने पर भी अगर कसर रह जाती है, तो सच्चे संतों और महात्माओं की संसर्ग प्राप्त करते हैं। गर्ज यह कि बुद्धिमान् लोग ज्ञान और भक्ति को अवश्य प्राप्त करने के लिए संभव और असंभव सभी उपायों का आश्रय लेते हैं और जैसे भी हो पाता है

परम पुरुष (अ० ८ श्लो० २२)

वैसे ही बनकर ज्ञान या भक्ति की प्राप्ति के द्वारा परमात्मा को और उन के धाम को अपना-कर ही दम लेते हैं।

बिना भक्ति के भगवान् नहीं मिलते, बिना भगवान् के भवबन्धन नहीं छूटता और बिना भवबन्धन छूटे भरपूर सुख नहीं मिलता। जो सुख दिखलाई पड़कर ही नष्ट हो जाय वह (संसारी) सुख भरपूर तो क्या, अधूरे से अधूरा भी नहीं कहा जा सकता, चाहे देखने में कुछ देर के लिए वह कितना भी बड़ा—पहाड़ों के समूह से भी अधिक क्यों न हो। भरपूर और असली सुख तो वही है जो दिखलाई पड़ जाने के बाद अवश्य हस्तगत हो जाय तथा उस के बाद जिस का कभी अन्त न मिले अर्थात् जो कभी समाप्त न हो। और वह सुख है पर-मात्मा के दर्शन तथा उन के धाम की प्राप्ति में। अन्यत्र कहीं भी वह सुख नहीं है, क्योंकि सब देवों के साक्षात् दर्शन और उन के लोक की प्राप्ति के बाद एक मियाद बन जाती है कि ये दर्शन और निवासरूप आनन्द तुम्हें अमुक समय तक ही भोगने के लिए मिले हैं; बाद में यह सब छोड़कर फिर उसी पुरानी धरती—संसार और गृहस्थी—में अवश्य जाना पड़ेगा। यही कारण है कि सब देवों से बड़े हैं भगवान् और सब लोकों से बड़ा है उन का लोक और उन्हीं की प्राप्ति वस्तुतः कुछ प्राप्ति में गणना करने के योग्य है। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, अव्यक्त को अक्षर कहा जा चुका है, उसी को परम गति भी कहते हैं और जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर लौटना नहीं पड़ता वही मेरा परम धाम है।

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—अच्छा महाराज, वह परम प्रतिष्ठित, अतिशय प्रशंस-नीय, निरुपमेय धाम और परम पुरुष किसी विशेष उद्योग से प्राप्त होता है अथवा केवल इच्छा करने से ही प्राप्त हो जाता है?

भगवान् ने कहा—केवल इच्छा से इतना श्रेष्ठ पद नहीं प्राप्त हो सकता—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

किंतु हे पार्थ, वह परम पुरुष जिस के भीतर सब भूत हैं, जिस से यह सब (जगत्) व्याप्त है, अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त होने योग्य है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, वह अव्यक्त, अक्षर, सनातन, परम, दिव्य, पुरुष केवल यह चाहने से कि मुझे उस की प्राप्ति हो जाय, कदापि नहीं मिल सकता। जिस के अंदर सब प्राणिसमुदाय समाया हुआ है तथा जिस ने इस सारे संसार को विस्तार देकर उस के एक एक अणु में अपनी सत्ता कायम कर दी है वह सब से

महान्, अनादि और अनन्त देव तो तभी प्राप्त हो सकता है जब एकमात्र उसी को अपना आराध्य मानकर अपनी संपूर्ण भक्ति केवल उसी एक की अराधना में लगा दी जाय, भूल भटककर भी अपनी भक्ति का समर्पण दूसरे देवता को न किया जाय।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, वह परम पुरुष—प्रकृति अथवा माया के उस पार रहनेवाला सनातन देव केवल भक्ति से प्राप्त होता है। बिना भक्ति के परमात्मा का मिलना असंभव है। यद्यपि यह ठीक है कि वह परमात्मा घट घट में विराजमान् है और संसार का कण कण उस में समाया हुआ है, और इस लिए उसे सर्वत्र, सब हालत में, इच्छा करते ही दिखाई पड़ जाना तथा मिल भी जाना चाहिए; फिर भी ऐसा होता नहीं। सर्वत्र निवास रखता हुआ भी वह दिखाई उसे ही देता है जो तन, मन, धन से उसे देखना चाहता है, उसे देखने के लिए जो भूख प्यास, नींद आराम, संसारी सुख संपत्ति आदि को भूल जाता है और दिन रात एकमात्र यही चेष्टा करता रहता है कि मुझे परमात्मा का दर्शन मिले, मैं परमात्मा को प्राप्त कर लूँ उसी को वह दर्शन देता है, उसी के लिए वह सुलभ होता है।

कोई संदेह कर सकता है कि भगवान् जब अवतार धारण करके संसार की मर्यादा बाँधने, धर्म की रक्षा करने, अधर्म का नाश करने और सज्जनों का कष्ट छुड़ाने के लिए पृथिवी पर सशरीर आ विराजते हैं उस समय तो सर्वसाधारण के लिए उन को देखना या उन को पाना सहज ही संभव हो जाता है। उस समय जो चाहता है वह उन से झगड़ा करता है, जो चाहता है, गाली देता है, जो चाहता है, प्रेम करता है और फूल माला लेकर पूजता है। यह कोई जरूरी नहीं रहता कि प्रेम करनेवाले की ही आँखें उन्हें देखें और प्रेम से चाहनेवाले ही उन्हें पायें। उस समय तो शत्रु मित्र सब के लिए वह दृश्य और प्राप्य हुए रहते हैं, फिर यह कैसे माना जाय कि बिना भक्ति के भगवान् नहीं दिखाई देते, न मिलते हैं?

ठीक है, ऐसा संदेह करने में युक्ति का पर्याप्त योग लगाया जा सकता है और लगाया ही गया है, पर वस्तुतः यह संदेह बिलकुल निर्मूल है। उस समय भी सब को परमात्मा का दर्शन अथवा साक्षात् लाभ नहीं हो पाता; केवल सच्चे भक्त ही उस समय भी उन को देखते और पाते हैं। कारण, अवतार धारण करने पर परमात्मा जिस पाञ्चभौतिक शरीर को अपना लीलास्थान बनाते हैं—जिस शरीर, नाम, रूप से धर्मसंस्थापन आदि का महान् कार्य करते हैं, वास्तव में वह शरीर परमात्मा नहीं होता, परमात्मा तो उस शरीर के भीतर रहनेवाली सर्वशक्तिसंपन्न आत्मा है जिसे कोई सच्चा भक्त ही पहचान और देखकर प्राप्त कर सकता है। अवतारों से झगड़ा करनेवाले और उन्हें गाली देनेवाले तो केवल उन के शरीरों को ही जानने-वाले होते हैं, अतएव वैसा करनेवालों को उस परम पुरुष परमात्मा का उस शरीर में भान भी नहीं हो पाता, दर्शन और साक्षात् प्राप्ति तो बड़ी दूर की बात है। और इस में अगर कोई

प्रमाण चाहे कि भगवान् का लीलाविग्रह शरीर परमात्मा नहीं, अपि तु उस में विराजमान् महती आत्मा ही परमात्मा किस प्रकार है, तो इस के लिए शास्त्रों के पन्ने उलटने पड़ेंगे। जिस जिस शास्त्र में भगवान् के अवतार की कथा लिखी रहती है उस उस में उन के शरीर, उन के आहार विहार और उन के आचार व्यवहार का भी पूरा पूरा वर्णन दिया रहता है। उन शास्त्रों में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि के नाम सर्वप्रथम लिये जा सकते हैं। यहाँ मैं रामायण से ही एक प्रसंग सुना रहा हूँ जिस से यह सिद्ध हो जायगा कि भगवान् राम का शरीर राम नहीं था, न उस को देखना अथवा पाना भगवान् को देखना पाना माना जा सकता था जब तक कि हृदय में ठीक ठीक वैसी धारणा न रहे; बल्कि भगवान् राम का अन्तःशरीर (आत्मा) परमात्मा था और उसी को देखना पाना वास्तव में देखना पाना माना जाता था। प्रसंग यों है कि—

भगवान् राम अयोध्या से बिदा होकर चौदह वर्ष के लिए जंगल जाते समय जब गङ्गाजी को पार करके श्री भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचे और चरण छूकर मुनि को दण्डवत् किया, तो भरद्वाजजी ने झपटकर उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और भगवद्दर्शनानन्द में मग्न होकर अपने मन में ऐसा माना, मानों ब्रह्मा ने मेरे करोड़ों जन्मों के समस्त पुण्यों का फल साक्षात् सशरीर सामने लाकर खड़ा कर दिया हो। इसी का नाम अनन्य भक्ति है। वहाँ आश्रम में केवल भरद्वाजजी ही नहीं थे, उन के साथ और भी बहुत से शिष्य प्रशिष्य हरदम वहाँ रहा करते थे और जिस समय रामजी वहाँ पहुँचे उस समय भी वे सब लोग मौजूद थे, किंतु भगवान् को देखकर उतना आनन्द और किसी को नहीं हुआ जितना भरद्वाजजी को हुआ। क्यों? इसी लिए कि और लोगों को भगवान् का केवल पाञ्चभौतिक शरीर दिखाई देता था, भीतर विराजती हुई परमात्मसत्ता नहीं। और लोग भगवान् राम को भगवान् नहीं, अयोध्या के चक्रवर्ती राजा दशरथ का बेटा 'राम' समझते थे। परंतु भरद्वाजजी ज्ञानी थे, मुनि थे, योगी थे, सर्वदर्शी थे— उन्हें दशरथपुत्र के रूप में साक्षात् परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा था और उन्हें उन्होंने सर्वदा तो अपने भक्तिबल से पाया ही था, इस समय और अधिक स्थूल रूप में अपने भीतर के और बाहर के दोनों आश्रमों में पा लिया था। ऐसी दशा में वे ऐसा क्यों न समझते कि मेरे करोड़ों जन्मों के पुण्यों का प्रत्यक्ष फल विधाता ने सामने उपस्थित कर दिया है।

भगवान् को हृदय से लगाने के बाद मुनि ने उन से कुशल प्रश्न पूछा—शरीरधारी होने के कारण लोकव्यवहार का पालन किया, बैठने के लिए कोमल कोमल लता गुल्मादिकों का बना हुआ सुन्दर सुखद आसन दिया, अत्यन्त भक्ति सहित भगवान् का सविधि पूजन किया और अन्त में मधुर मधुर स्वादिष्ट कन्द, मूल, फलों का नैवेद्य लगाया। भगवान् भरद्वाजजी

कृपा करें कि हम लोग किस रास्ते से आगे की यात्रा पूरी करें ? कौन सा मार्ग सुगम है जिस से हम लोग आगे बढ़ें ?

भरद्वाजजी ने हँसकर कहा—रामजी, आप के लिए कौन सा मार्ग कठिन है कि आप मुझ से सुगम मार्ग पूछ रहे हैं ? संसार भर के कण्टकाकीर्ण मार्गों को तो आप फूलों से भर देते हैं और अपने लिए मुझ से सुगम मार्ग पूछते हैं ?

भगवान् ने भी हँसकर कहा—मुनिनाथ, आप इस समय मेरे परम रूप की बात को जाने दीजिए। इस समय तो हमें वही काम करना है जो इस लौकिक शरीर के प्रतिकूल न मालूम हो। इस लिए कोई सुगम रास्ता बतलाकर मेरे मार्ग की कठिनाई दूर करने की अवश्य कृपा करें।

भरद्वाजजी ने कहा—भगवन्, आप की इस लीला को हम माया के प्रपञ्चों में पड़े रहनेवाले लोग भला कैसे जान सकते हैं ? इस लिए आप की आज्ञापालितामात्र अपना कर्तव्य जानकर मैं अपने कुछ शिष्यों को आप के साथ किये देता हूँ। वे जंगल के बीहड़ और सुगम दोनों प्रकार के रास्तों को भली भाँति जाननेवाले हैं। वे आप को ऐसे रास्तों से ले जायँगे कि मार्ग में किसी कष्ट का सामना नहीं करना पड़ेगा।

मुनि ने अपने चार चतुर शिष्यों को भगवान् के साथ कर दिया। भगवान् उन के साथ प्रसन्नतापूर्वक यात्रा पर चल पड़े।

इस प्रसंग से अब यह समझना बाकी नहीं रह गया कि बिना अनन्य भक्ति के भगवान् को देखना और पाना एकदम असंभव है। अवतारी भगवान् को भी वही भगवान् जान सकता है जो भगवान् का अनन्य भक्त हो, यह बात भी इस कथा से सर्वथा सत्य प्रमाणित हो जाती है। इस लिए यह कभी भी ख्याल मत रखो कि खाली इच्छा करने से कोई परमात्मा को पा सकता है। परमात्मा को पाने के लिए अनन्य भाव से उन की भक्ति करनी ही होगी। अब प्रश्न उठ सकता है कि वह भक्ति है क्या चीज और की कैसे जाती है ? इस का भी निर्णय शास्त्रकारों ने पहले ही कर दिया है। यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

१ श्रवण—भगवान् के साकार निराकार आदि सभी प्रकार के चरित्रों की कथा सुनना;

२ कीर्तन—भगवान् की लोकोपकारी लीलाओं और उन के महनीय गुणों को गाना, उन का कीर्तन करना, मननानन्दी बनना;

की भक्ति देखकर मन ही मन गद्गद हो रहे थे। उन्होंने बड़े, प्रेम से नैवेद्य ग्रहण किया और सीताजी, लछमणजी तथा निषादराज को भी अपने साथ साथ भोजन कराया। जब सब लोग भोजन कर चुके, तो मुनि ने उन्हें आराम करने के लिए मुलायम मुलायम पत्तों और सुगन्धित पुष्पों का आसन दिया। इस प्रकार कुछ समय आराम करने के उपरान्त जब राह चलने की थकावट दूर हो गई, तो भरद्वाजजी फिर भगवान् के समीप आ पहुँचे और उन का गुणगान करते हुए कहने लगे कि हे भगवन्, हे राम, आप का दर्शन पाते ही आज मेरा जप, तप, तीर्थ-सेवन, ज्ञानोपार्जन, वैराग्यधारण आदि सब कुछ सफल हो गया। अब मेरे लिए कुछ भी पाना बाकी नहीं रह गया; क्योंकि—

'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥
अब करि कृपा देहु बर येहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥'

आप के दर्शन के अतिरिक्त न तो लाभ की कोई दूसरी सीमा है और न सुख की ही कोई दूसरी सीमा है। आप का दर्शन पाकर मेरी सब आशाएँ पूर्ण हो गईं। इस लिए मेरी यही प्रार्थना है कि अब आप कृपा करके मुझे अपने चरणकमलों में स्वाभाविक प्रेम पैदा करानेवाली भक्ति का वरदान दीजिए।

भरद्वाजजी की भक्ति देखकर, उन का हृदय पहचानकर, उन की प्रार्थनागर्भित वाणी सुनकर भगवान् राम संकोच में पड गये कि जिन्हें मेरा कई पुश्त पूजता आया है, जो ज्ञान, कर्म, भक्ति की अविच्छिन्न त्रिवेणी बहाकर हजारों वर्षों से निखलसृष्टि का उपकार करते चले आ रहे हैं, जिन्हें देखकर बड़े बड़े तपस्वी महात्मा अपना मस्तक झुकाते हैं वे ऋषिश्रेष्ठ भरद्वाजजी मुझे (दशरथ के बेटे को) इतना संमान दे रहे हैं? किंतु इस के सिवा और प्रति वचन ही क्या हो सकता है कि मैं भी यथाशक्ति उन के गुणों का बखान करूँ?

भगवान् ने कहा—प्रभो, मुनीश्वर, महर्षे, आप जिस को संमान दें वही संमान्य, आप जिस का आदर करें वही आदरणीय, आप जिस को गुणी कहें वही गुणों की खान और आप जिस की प्रशंसा करें वही प्रशंसापात्र हो सकता है। मैं तो आप का सेवक ही हूँ। मेरी इतनी प्रतिष्ठा करके आप मुझे वह पद दे रहे हैं जो बड़े बड़े लोगों को नहीं मिलनेवाला है, इत्यादि।

इस के बाद बहुत देर तक वहाँ नाना प्रकार की ज्ञानचर्चा होती रही। संध्या होने पर सब लोग अपने दैनिक कृत्य के लिए गोष्ठी विसर्जित करके उठ गये। रात्रि में भगवान् ने वहीं विश्राम किया। प्रातःकाल सीताजी और लछमणजी तथा निषादराज को साथ लेकर भगवान् मुनि के समीप गये और अपनी यात्रा पर जाने के लिए आज्ञा माँगते हुए उन्होंने भरद्वाजजी से कहा—मुनिवर, अब प्रस्थान करने की आज्ञा दें और यह बतलाने की

कृपा करें कि हम लोग किस रास्ते से आगे की यात्रा पूरी करें ? कौन सा मार्ग सुगम है जिस से हम लोग आगे बढ़ें ?

भरद्वाजजी ने हँसकर कहा—रामजी, आप के लिए कौन सा मार्ग कठिन है कि आप मुझ से सुगम मार्ग पूछ रहे हैं ? संसार भर के कण्टकाकीर्ण मार्गों को तो आप फूलों से भर देते हैं और अपने लिए मुझ से सुगम मार्ग पूछते हैं ?

भगवान् ने भी हँसकर कहा—मुनिनाथ, आप इस समय मेरे परम रूप की बात को जाने दीजिए। इस समय तो हमें वही काम करना है जो इस लौकिक शरीर के प्रतिकूल न मालूम हो। इस लिए कोई सुगम रास्ता बतलाकर मेरे मार्ग की कठिनाई दूर करने की अवश्य कृपा करें।

भरद्वाजजी ने कहा—भगवन्, आप की इस लीला को हम माया के प्रपञ्चों में पड़े रहनेवाले लोग भला कैसे जान सकते हैं ? इस लिए आप की आज्ञापालितामात्र अपना कर्तव्य जानकर मैं अपने कुछ शिष्यों को आप के साथ किये देता हूँ। वे जंगल के बीहड़ और सुगम दोनों प्रकार के रास्तों को भली भाँति जाननेवाले हैं। वे आप को ऐसे रास्तों से ले जायँगे कि मार्ग में किसी कष्ट का सामना नहीं करना पड़ेगा।

मुनि ने अपने चार चतुर शिष्यों को भगवान् के साथ कर दिया। भगवान् उन के साथ प्रसन्नतापूर्वक यात्रा पर चल पड़े।

इस प्रसंग से अब यह समझना बाकी नहीं रह गया कि बिना अनन्य भक्ति के भगवान् को देखना और पाना एकदम असंभव है। अवतारी भगवान् को भी वही भगवान् जान सकता है जो भगवान् का अनन्य भक्त हो, यह बात भी इस कथा से सर्वथा सत्य प्रमाणित हो जाती है। इस लिए यह कभी भी ख्याल मत रखो कि खाली इच्छा करने से कोई परमात्मा को पा सकता है। परमात्मा को पाने के लिए अनन्य भाव से उन की भक्ति करनी ही होगी। अब प्रश्न उठ सकता है कि वह भक्ति है क्या चीज और की कैसे जाती है ? इस का भी निर्णय शास्त्रकारों ने पहले ही कर दिया है। यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

१ श्रवण—भगवान् के साकार निराकार आदि सभी प्रकार के चरित्रों की कथा सुनना;

२ कीर्तन—भगवान् की लोकोपकारी लीलाओं और उन के महनीय गुणों को गाना, उन का कीर्तन करना, भजनानन्दी बनना;

३ स्मरण—हृदय में भगवान् की दिव्य मूर्ति को निरन्तर धारण किये रहना, हमेशा भगवान् को याद करना;

४ पादसेवन—भगवान् के निराकार रूप के भक्त हों, तो मानसिक कल्पना करके और यदि साकार रूप के भक्त हों, तो उन की प्रतिमा बनाकर उन के चरणों की सेवा करना;

५ अर्चन—भगवान् के दिव्य रूप का शरीर से, मन से, वाणी से विधिपूर्वक पूजन करना;

६ वन्दन—भगवान् की काल्पनिक अथवा द्रव्यविशेष (सोना चाँदी, तांबा, पीतल आदि धातु या मिट्टी पत्थर आदि पार्थिव पदार्थ) से बनी मूर्ति में समस्त ध्यान लगाकर उन की वन्दना करना;

७—दास्य—भगवान् के हम नौकर हैं और भगवान् हमारे स्वामी, मालिक, प्रभु, राजा हैं, यह भाव रखकर सब प्रकार से उन की गुलामी करना;

८—सख्य—भगवान् को अपना सखा अर्थात् सर्वदा साथ रहनेवाला सच्चा सहायक मित्र मानकर—जैसा कि अर्जुन ने माना था—उन से किसी प्रकार का दुराव न रखना और सब तरह से उन को प्रसन्न रखने की चेष्टा में लगे रहना;

९—आत्मनिवेदन—भगवान् को अखिल विश्व में व्यापक मानना। सागर, सरिता, सरोवर, पर्वत, जंगल, पृथिवी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल आदि तथा यहाँ वहाँ के समस्त जीव जन्तु भगवान् से हैं, और ये सब के सब भगवान् में हैं, अतः मैं भी भगवान् का ही हूँ और उन्हीं में हूँ, वे चाहे जहाँ जिस रूप में रखें, मुझे कभी, कहीं, किसी तरह की आपत्ति नहीं है, ऐसा समझकर अपना सब कुछ और स्वयं अपने आप को भी भगवान् में अर्पण कर देना।

यह नौ प्रकार की भक्ति शास्त्रों में नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इन में से हर एक अकेले ही प्रभु को प्राप्त कराने में पूरी तरह से समर्थ है, नवों में से किसी भी एक का ठीक ठीक सुचारु रूप से पालन करनेवाला अपनी भक्ति से परमात्मा को प्रसन्न कर सकता और उन्हें अपना बना सकता है। यदि सब प्रकार की अथवा अधिक से अधिक भक्तियों का एकचित्तता के साथ पालन हो सके तब तो कहना ही क्या है? पर यहाँ तो एक का भी होना मुश्किल हो रहा है, दो चार तरह की भक्तियों की तो चर्चा ही कौन कर सकता है? सब से पहली का ही हाल देख लो। यहाँ भगवान् की कथा हो रही है, यह तो शहर भर में प्रसिद्ध हो चुका होगा? लेकिन यहाँ कितने मनुष्य आये हैं? यह ठीक है कि चारों ओर इस कथा की भीड़ की भी बड़ी चर्चा हो रही है—गीताप्रवचन नगर का एक प्रधान उत्सव सा हो चला है, प्रति दिन यहाँ श्रोताओं की पन्द्रह पन्द्रह बीस बीस हजार संख्या आँकी जाती है, किंतु जिस नगर में

इस बीस लाख मनुष्य बसते हों वहाँ के लिए यह संख्या क्या महत्त्व रखती है ? और यह भी क्या निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जितने लोग आये हैं, सब का यहाँ आने में कथा-श्रवण ही मुख्य उद्देश्य है और सब का ध्यान कथा सुनने में है भी ? यह सबसे सरल भक्ति है। यही जब नहीं हो पाती है, तो आगेवाली को कठिनाइयों का सामना होने पर भला कौन कब तक टहर सकता है। यह कलियुग है, इस युग में ऐसा होना ही चाहिए, शास्त्रों ने तो पहले ही लिख दिया है कि कलि में क्रमशः नास्तिकवाद फैलते फैलते एक दिन सब के मन से वस परमात्मा के अस्तित्व का समूल नाश होने जैसा समय आ जायगा। इस लिए इतनी भी श्रद्धा लोगों में दिखाई दे रही है, तो कम नहीं समझनी चाहिए, इत्यादि कहकर बहुत लोग संतोष कर लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन का कहना है कि आस्तिक नास्तिक, भक्त दुराचारी, पुण्यात्मा,पापी होना संस्कार के अधीन है—पूर्व जन्म का जिस का जैसा संस्कार रहता है, इस जन्म में वह वैसा ही भला बुरा होता है। लेकिन ये सभी लचर दलीलें हैं, इन युक्तियों में कुछ दम नहीं है। युग किसी को पाप करने के लिए बाध्य नहीं करता, मनुष्य की बुद्धि अपना भला बुरा समझने में पूर्ण समर्थ और स्वतन्त्र है। इस लिए युग की दोहाई देना दिल की कमजोरी है, कायरता है। जिन में साहस है वे अब भी दिन रात संसार के सामने उदाहरण पेश करते चले जा रहे हैं कि एक सच्ची लगन का उपकारी भक्त लाखों करोड़ों मनुष्यों की बुद्धि पर अपनी हुकूमत चला सकता है और संकेतमात्र से जीवन की बाजी खेल जाने के लिए उन्हें प्रतिक्षण तैयार रख सकता है। बड़े बड़े साम्राज्यों के सेनापति पहले स्वयं मरने मारने को तत्परता रखकर ही सारी फौज को इशारे पर नचाने में कृतकार्य होते हैं। इसी प्रकार एक भक्त भी पहले अगर सचमुच का भक्त बन जाय, तो बाद में उस के चाहने पर असंख्य मनुष्यों में भक्ति का निरन्तर प्रवाहित होनेवाला स्रोत बह चलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, सच्चे भक्त के कहने और समझाने से बड़े बड़े नास्तिक भी भक्त होते देखे जा चुके हैं। रही दूसरी युक्ति पूर्व संस्कार का रोना रोना। सो वह भी करीब करीब इसी ढंग से कट जाती है। जिस प्रकार ठोस उद्योग द्वारा अभक्तों को भक्त बनाना और कलियुग का प्रभाव तोड़ना संभव है उसी प्रकार दृढ प्रयत्न से असंस्कृतों में संस्कार डालना और भाग्यवादियों की युक्ति को छिन्न भिन्न करना बिलकुल आसान है। 'पूर्व जन्म का संस्कार' इस का अर्थ क्या है ? 'वर्तमान जीवन के पहले जो जीवन बीत गये हैं उन में किये गये कर्मों से जिस फल की उत्पत्ति और प्राप्ति होनी चाहिए थी वह उस जीवन में नहीं हो सकी, अतः वे कर्मफल जमा हो गये और *अब वे ही संस्कार के रूप में प्राप्त हुए हैं।'* यही कर्मवादियों अथवा भाग्यवादियों का कहना है और इसी का नाम है पूर्व जन्म का संस्कार। तो जब कि पूर्व जन्म के कर्मानुसार इस जन्म का सब कुछ बर्ताव होना, जीना मरना तक उन के मत में स्वीकार है, तो यह भी स्वीकार

करना ही पड़ेगा कि इस जन्म का कर्मफल आगेवाले जन्म में संस्कार होकर मिलेगा। ऐसा होने पर तो और निश्चित हो जाता है कि इस जन्म में अधिक से अधिक कड़ाई के साथ उत्तम उत्तम बातों पर अमल लाने की कोशिश, ज्ञान, कर्म, भक्ति के तत्त्व की प्राप्ति करानेवाले कर्म करने की सफल चेष्टा करनी चाहिए जिस से अब से भी तो अच्छी वस्तु पाने का अधिकार और संस्कार प्राप्त हो जाय। इस लिए सब तरह से निचोड़ यही निकला कि अपना भला बुरा अपने ही करने से होता है। हम चाहें, तो सत्कर्म करके भगवान् में भक्ति रखनेलायक बुद्धि प्राप्त कर सकते हैं और चाहें, तो बुरे कर्म करके राक्षसकुल में जन्म लेकर भगवान् के नाम पर जल मरनेवाले बन सकते हैं। इतना ज्ञान हो जाने के बाद भी क्या यह कहने की जरूरत रह जाती है कि जैसे हो सके उसी तरह भगवद्भक्त बनो और ऐसा प्रयत्न करो कि सदा के लिए इन संस्कार, असंस्कार, सुगति, दुर्गति आदि का बखेड़ा ही मिट जाय अर्थात् एक निश्चित 'परम' गति मिल जाय और फिर फिर कहीं जाना आना न पड़े? क्या कहा जाय? जरूरत तो सचमुच नहीं रह जाती, पर किसी की इस कान से सुनकर उस कान से उड़ा देने की आदत कोई कैसे छुड़ाये? इसी लिए अनादि काल से एक से एक धर्माचार्य, ज्ञानोपदेशक, सन्मार्गदर्शक महात्मा, उन की वाणी से मुक्ति का मार्ग पकड़नेवाले अधिकारी श्रोता और सुनकर अनसुनी तथा देखकर अनदेखी करनेवाले अनधिकारी मूढ़ सभी एक साथ एक ही सृष्टि में बसते चले आ रहे हैं; संभवतः आगे भी ऐसे ही होते चले जायँगे। किंतु बुद्धिमानों को तो यही चाहिए कि आने जाने से मुक्ति दिलानेवाले रास्ते पर ही अपना कदम बढ़ायें। वह रास्ता है भक्तिमार्ग, क्योंकि बिना भक्ति के परमात्मा नहीं मिलते और सिवा परमात्म-प्राप्ति के अन्य किसी उपाय से आवागमन नहीं छूट सकता। इस लिए सब के लिए भगवान् का भक्त बनना परम आवश्यक है। अस्तु।

इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जिस के अंदर सब प्राणी बैठे हैं और जिस से यह सारा संसार विस्तार को प्राप्त तथा व्याप्त हो रहा है वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।

इस पर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुआ। उस ने कहा—हाँ आप की प्राप्ति का यह उपाय अवश्य सरल है, किंतु यदि प्रमाद और आलस्य न किया जाय तब। इस भक्ति में कठिनता या परिश्रम संबन्धी कोई भय बिल्कुल नहीं है, केवल श्रद्धा विश्वास करने और एक निश्चय पर अटल रहने की जरूरत है। आप की कृपा से ये सब बातें भली भाँति समझ में आ गईं और आप की तथा आप के धाम की महत्ता भी मालूम हो गई। इस लिए अब मेरी यह जानने की बड़ी उत्कट इच्छा हो रही है कि जिन के लोकों में जाकर लौटना पड़ता है उन ब्रह्मादिकों के लोकों तथा जिस के लोक में जाने के बाद लौटना नहीं होता उस आप के लोक

में जाने का समय और मार्ग एक ही है अथवा दोनों प्रकार के लोकों की यात्रा के अलग अलग समय और मार्ग निश्चित हैं ?

भगवान् ने कहा—हाँ, दोनों को पृथक् पृथक् ही जाना पड़ता है। इस लिए—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ, जिस काल में गये हुए योगी लोग अपुनर्जन्म और जिस में पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं उस काल को (मैं) कहूँगा।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यह भला कब हो सकता है कि दो प्राणी एक ही मार्ग के पथिक हों और दोनों को वह मार्ग पहुँचाये अलग अलग देशों में ? इस लिए मानना पड़ेगा कि दो देशों में जाने के लिए दो तरह के मार्गों का होना निश्चित है। मेरे धाम और ब्रह्मादि देवों के लोक दोनों के गुण कर्म अलग अलग हैं। एक जगह का (यात्री मरकर जानेवाला) योगी जाकर फिरता नहीं, वहीं का हो जाता है और दूसरी जगह जानेवाला योगी एक सीमित समय तक वहाँ रहकर पुनः वापस आ जाता है। इस लिए मैं तुझ से उन दोनों मार्गों का विभेद आगे बतलाऊँगा कि कौन से पथ का पथिक सर्वदा के लिए चला जाता है, फिर लौटता नहीं और कौन से पथ का अवलम्बन करके जानेवाला फिर लौटा दिया जाता है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, यद्यपि श्लोक में काल शब्द के द्वारा दोनों यात्रियों को पृथक्करण करके उन की लघुता और गुरुता बतलाने की बातें भगवान् ने कही हैं जिन का अर्थ होना चाहिए कि अमुक समय में जानेवाला नहीं लौटता और अमुक समय में जानेवाला लौट आता है, परंतु यहाँ काल का अर्थ समय न लेकर उस की जगह पर मार्ग अर्थ करना चाहिए और तदनुसार श्लोक की यह व्याख्या होनी चाहिए कि अमुक मार्ग से गमन करनेवाला नहीं लौटता और अमुक मार्ग से जानेवाला लौट आता है, और उन दोनों मार्गों का परिचय आगे दिया जायगा। ऐसा अर्थ करने में आगे के श्लोक ही प्रमाण हैं। आगे छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोक में इस काल शब्द की जगह भगवान् ने 'गति' और 'सृति' शब्दों का प्रयोग किया है जिन का मार्ग ही अर्थ होता है, समय नहीं। इस लिए यहाँ भी मार्ग की ही ओर भगवान् का संकेत है, इस में संदेह नहीं। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, जिस काल में मरने से योगियों को अनावृत्ति अर्थात् अपुनर्जन्म की प्राप्ति होती है वह तथा जिस काल में मरने से उन्हें आवृत्ति अर्थात् पुनर्जन्म प्राप्ति होती है वह—दोनों कालों को मैं तुझ से कहूँगा, तो यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—हे प्रभो,

क्या अभी उन मार्गों का परिचय देने में कोई अड़चन है कि आप भविष्य में कहने के लिए प्रतिज्ञा कर रहे हैं ?

भगवान् ने कहा—नहीं, अड़चन क्या है ? यदि तेरी अभी सुनने की इच्छा है तो अभी सुन ले—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छ महीने—इन में प्रयाण करनेवाले ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।

गो० गो०—हे अर्जुन, जिस मार्ग में अग्नि का अभिमानी देवता है, ज्योति का अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छ महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मृत्यु को प्राप्त करके महाप्रयाण (बड़ी यात्रा) करनेवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म के पास पहुँच जाते हैं जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता है ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, प्रकृति की परिवर्तनशीलता में भी बड़े बड़े रहस्य भरे रहते हैं । कभी दिन, कभी रात, कभी सुबह, कभी शाम, कभी उजेला पाख, कभी अँधियारा पाख, कभी उत्तर की ओर सूर्य के चलने का मार्ग, कभी दक्षिण ओर से उन की गति—यह सब देख देख और सुन सुनकर लड़कपन में बड़ा विचित्र मालूम हुआ करता था । इन बातों में छिपे हुए रहस्य की कुछ भी जानकारी न होने के कारण उस समय मन में बड़ी चिढ़ हुआ करती थी कि भगवान् कभी जाड़ा और कभी गर्मी के चक्कर में डालकर संसार को परेशान क्यों किया करते हैं ? अगर सूर्य को हमेशा एक ही रास्ते पर चलने का हुक्म भगवान् ने दे दिया होता, तो यह रोज रोज का उलट फेर काहे को देखना पड़ता और उस से किसी को तकलीफ क्यों भोगनी पड़ती ? सूर्य को यदि उत्तर के अयन (मार्ग) पर न जाने दिया जाता, तो संसार में लू से झुलसकर कोई कैसे मरता ? इस तरह की बातें जब तब मन में उठा करतीं और कभी कभी हमजोलियों में इसी विषय पर बहस भी छिड़ जाती । एक बार यही विषय छिड़ा हुआ था, मैं कहता था कि सदा दक्षिणायन के सूर्य रहें, तो संसार में बड़ा आनन्द रहे, ठंढी हवा, ठंढा पानी, ठंढे घर, बाग, नदी, तालाब का क्या ही मजा मिले ?

मेरी बात काटकर एक साथी ने कहा—हाँ, क्यों नहीं ? आप को खाने पीने, सोने बैठने, ओढ़ने पहनने की कमी होती तब न मालूम होता कि जाड़े में गरीबों की गरीबी कैसा नग्न नृत्य शुरू कर देती है । गर्मी में अमीर खस की टट्टी और बिजली के पंखों का इंतजाम

करके अपना आराम जुटा ले सकते हैं पर जाड़े में गरीब अपने आराम की तरकीब किसी तरह नहीं कर सकते। इस लिए मेरी राय में गर्मी ही अच्छी है, जाड़ा खतरनाक है।

बात को यथार्थ या अयथार्थ सिद्ध करने में तो हम लोगों का कोई तात्पर्य था नहीं, यहाँ तो केवल बहस का शौक लगा हुआ था। दूसरे, यथार्थ अयथार्थ समझने की उस समय उतनी योग्यता भी नहीं थी। मैं ने अपनी बात को मजबूती देने के लिए कहा—जी नहीं, आप अभी तह तक नहीं पहुँच सके। गर्मी में गरीब भी सुख नहीं पा सकते। उन बिचारों को मोटा खाना और मोटा पहनना पड़ता है। और गर्मी में मोटा अनाज पचता नहीं और मोटे कपड़े भी बोझ हो जाते हैं। इस लिए जाड़ा ही ठीक है जो सब हजम कर देता है। रही जाड़ों में ओढ़ने बिछौने की तकलीफ। सो यदि बारहों मास जाड़ा ही जाड़ा रहा करेगा, तो वह सब की प्रकृति में घुलमिल जायगा, किसी को कष्टकर नहीं प्रतीत होगा। आखिर सब साथी मेरी युक्ति के कायल हो गये। इन बातों को हुए पचीसों वर्ष बीत गये। दिमाग, दुनिया और सभी कुछ कहाँ से कहाँ पहुँच गये। लेकिन जब से अध्यात्म के विषय में थोड़ा बहुत प्रवेश करने का मौका मिलने लगा है और नाना पुराण, निगम, आगम की बातों का पता चलने लगा है तब से इस उत्तरायण और दक्षिणायन का भेद खुलना शुरू हुआ है। अब यह बात समझ में आ गई है कि उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों समान आवश्यक हैं, एक के रहने से और दूसरे के न रहने से प्रकृति का कारोबार ही नहीं चल सकता। और उत्तरायण को तो भगवान् के कथनानुसार बहुत विशेषता भी मिली हुई है—उत्तरायण के छः महीनों में मरनेवाला ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

परंतु कोई यह मत सोचे कि जीवन में कर्म चाहे उत्तम अधम जैसे किये जायँ, केवल उत्तरायण में मरने से ही ब्रह्मप्राप्ति हो जायगी। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कर्म की प्रधानता अकाट्य है। बुरे कर्म करके कभी भी मरने पर नरक और सकाम कर्म करके कभी भी मरने पर पुनर्जन्म होना अवश्यंभावी है, ब्रह्मप्राप्ति तो तभी होती है जब निष्काम कर्म किये जायँ, परमात्मा में अनन्य भक्ति रहे। अतएव भगवान् ने अन्त में यह भी श्रीमुख से अर्जुन को सुना दिया कि 'ब्रह्मविदो जनाः' ब्रह्म के वास्तविक जानकार ज्ञानी ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, सकाम कर्म करनेवालों को ब्रह्मज्ञान नहीं होता। वे कर्मफल की आशा में ब्रह्म की ओर ध्यान नहीं दे पाते, तो उन्हें ब्रह्म कैसे ज्ञात हो? उन के लिए तो स्वर्ग और अन्य सुख विलास देनेवाले लोक ही सब से अधिक प्रिय हैं। इस लिए आगे के श्लोक में भगवान् उन पुनरावर्तियों के मार्ग का वर्णन करते हुए अर्जुन से कह रहे हैं कि—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धुआँ, रात, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन के छ महीने—इन में (मरनेवाला) योगी चन्द्रमा की ज्योति (चन्द्रलोक) को प्राप्त होकर फिर (यहाँ) लौट आता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिस मार्ग में अग्नि नहीं, किंतु उस के धुएँ का अभिमानी देवता है, रात का अभिमानी देवता है, कृष्ण पक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छ महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मृत्यु को प्राप्त होनेवाला योगी चन्द्रलोक में सकाम कर्मों के फलभोग को प्राप्त होता है और फलभोग पूरा हो जाने के बाद फिर इसी लोक में लौट आता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् ने चौबीसवें श्लोक में निष्काम कर्मयोगाचारियों की गति बतलाई है। अब पचीसवें श्लोक में सकाम कर्मकर्ताओं की गति बतला रहे हैं। धुआँ, रात का समय, अँधियारा पाख, दक्षिणायन सूर्य के छ महीने, ये सब अज्ञान के चिह्न हैं। इन में मरनेवाला अज्ञानी कर्मफलप्रेप्सु (कर्मों का फल पाने की इच्छा रखनेवाला) अपने कर्मानुसार भोग भोगने के लिए चन्द्रलोक को जाता है। वहाँ जब तक उस का पुण्य रहता है तब तक रहने पाता है, बाद में नीचे लौटा दिया जाता है और फिर वही संसारी 'तूँ तूँ मैं मैं' का झगड़ा शुरू हो जाता है। इस मार्ग में धुँआ भरा रहता है, रात के समय, वह भी अँधेरी रात के समय में उसे यात्रा करनी पड़ती है। जो लोग परम प्रभु को नहीं भजते, शीघ्र फल देनेवाले नाना देवों की उपासना में रत रहते हैं और एक पैसा दान करके एक रुपये का लाभ करना चाहते हैं वे ही लोग इन सब विपत्तियों में पड़ते हैं। यदि सब लोग प्रभु को, एकमात्र प्रभु को, अन्य किसी को नहीं, अपने हृदयकमल में स्थापित करके चौबीस घंटे उन का स्मरण करते रहें, किसी बात का लालच न रखें, जब जो कुछ भोजन छाजन मिल जाय उसी में संतुष्ट रहें, संपूर्ण जगत् को अपनी तरह देखें, किसी को किसी किस्म का कष्ट न पहुँचायें, तो किसी प्रकार उन्हें इन मध्यम मार्गों की यात्रा न करनी पड़े, सभी को वह परमधाम मिल जाय, ब्रह्मप्राप्ति हो उठे जो कभी क्षीण न हो, न जहाँ से आने का कष्ट उठाना पड़े। लेकिन फलों की आशा छोड़कर परमात्मा को याद करनी ही तो मुश्किल है, यही तो सब को कठिन प्रतीत होता है। बड़े बड़े लोग एक पाई का हिसाब गड़बड़ा जाने पर उस का ठीक ठीक पता लगाने के लिए रात की रात जागते रह जाते हैं, अपने मस्तिष्क का मन्थन करके एक पाई की याद के लिए रात भर में दो आने का तेल जला डालते हैं और जहाँ तक उन की शक्ति रहती है, जहाँ तक वश चलता है, उस का पता लगाकर ही दम लेते हैं। लेकिन भगवान् की याद करने में लोगों को संसार भर

का आलस्य आ घेरता है। एक कौड़ी का खर्च नहीं, मस्तिष्क में हड़ हड़ भड़ भड़ मचाने की जरूरत नहीं, किसी तरह का बही खाता उलटने का प्रपञ्च नहीं, केवल चुपचाप बैठकर उन्हें ध्यान में रखे रहना है; फिर भी भगवान् के नाम से लोग इस प्रकार दूर भागते देखे जाते हैं जैसे भूल से साँप के मुँह में अँगुली पड़ी जा रही हो। जीवात्मा की यह कितनी भूल है, इस भूल के लिए उसे कितने मध्यम अधम लोकों में जाना और कष्टों का पर्वत ढोना होगा? लेकिन कौन इस बात पर ध्यान देता है? और नहीं, तो जो कोई भलाई के ख्याल से प्रेरित होकर उन से कहने जाता है कि बाबा, जैसे सब काम करते हो उसी तरह कभी कभी भगवान् को भी स्मरण कर लिया करो, तो उसी को लोग घर दबोचते हैं, उसे चिढ़ाने के लिए, आजिज और तंग करने के लिए भगवान् के संबन्ध में अंड संड प्रश्नों की झड़ियाँ लगा देते हैं—कौन है भगवान्? कहाँ रहता है वह? उसे नींद कब आती है? वह खाना क्या खाता है? काम कौन सा करता है? ऐसे वाहियात प्रश्नों का उत्तर देने के लिए भला कौन बुद्धिमान् तैयार होगा?

लोकप्रसिद्धि है कि अकबर बादशाह का मनसबदार दरबारी राजा बीरबल बड़ा हाजिरजवाब आदमी था। कोई कैसा भी टेढ़ा मेढ़ा प्रश्न करे, वह चट पट उचित उत्तर दे देता था। मजा यह कि कठोर और दिल दुखानेवाले प्रश्नों का भी वह ऐसा सुन्दर चुना हुआ उत्तर देता कि सुननेवाले को हँस देना पड़ता था। लेकिन एक बार अकबर ने जब ईश्वर के संबन्ध में उपर्युक्त प्रकार के कुछ प्रश्न कर दिये, तो उस बिचारे की सारी हाजिर जवाबी हवा हो गई और उसे बिलकुल चुप हो जाना पड़ा।

यह कहानी यों है कि एक समय बादशाह अकबर और बीरबल यमुना नदी के किनारे किनारे टहलते हुए चले जा रहे थे और नदी की *नीलिमा, उस की कल कल ध्वनि, उस में* जहाँ तहाँ उछल पड़नेवाली मछलियों से उठी हुई लहरें देख देख, और सुन सुनकर प्रसन्न हो रहे थे। इतने में एक बड़ी मछली ने झपटकर छोटी मछली को निगल लिया जिसे देखकर बीरबल के मुँह से अचानक 'भगवान्, भगवान्' शब्द निकल गया। बादशाह बीरबल की अनावश्यक दयालुता पर हँस पड़ा और दिल्लगी के ढंग पर पूछा—यहाँ तुम्हारा भगवान् कहाँ बैठा है कि इतना भगवान् भगवान् शोर मचा रहे हो?

बीरबल ने कहा—अभी जनाब आली की आँखों पर वह चश्मा नहीं लगा है जिस से भगवान् दिखलाई पड़े।

बादशाह ने कहा—आखिर तुम भी तो मेरे ही हो। तुम ने वह चश्मा लगाया तो, और मैं ने लगाया तो; दोनों एक ही बात है। बतलाओ तुम ने वह चश्मा अभी लगाया है कि नहीं?

बीरबल ने भी समझ लिया कि पण्डितजी कोरे पण्डित ही हैं। तर्क और युक्ति को
जगह मस्तक पर पूरे थान भर का साफा बाँधने के अलावे और कुछ नहीं जानते। वह उन्हें पुनः
प्रणाम करके वहाँ से उठ खड़ा हुआ, लेकिन क्रोध के मारे पण्डितजी ने इस बार उस के प्रणाम
के बदले में आशीर्वादप्रदान नहीं किया। वहाँ से चलकर बीरबल बहुत दिनों तक बहुत से स्थानों
का चक्कर काटता रहा और अन्त में एक ऐसे नगर में पहुँचा जो भारतीय विद्या और संस्कृति
का केन्द्र समझा जाता था। वहाँ उस ने घूम घूमकर तमाम विद्यालयों, पाठशालाओं और
विद्यापीठों के पण्डितों, अध्यापकों और आचार्यों से उपर्युक्त प्रश्न क्रमशः पूछे, पर सब जगह से
उसे निराश ही होना पड़ा, कोई भी उस के प्रश्नों का समुचित उत्तर नहीं दे सका। अब बीरबल
को भी विशेष चिन्ता होने लगी कि बादशाह से माँगी हुई छः महीने की अवधि में केवल पंद्रह
दिन शेष रह गये हैं जिन में पाँच सात दिन तो इस नगर से चलकर राजधानी तक पहुँचने में
ही लग जायेंगे, बाकी रह जाते हैं आठ या अधिक से अधिक से दस दिन। बस, इन्हीं दिनों
में अन्तिम चेष्टा कर देखना बाकी है। परंतु जब साढ़े पाँच महीनों में कार्यसिद्धि नहीं हुई, तो
इन गिने हुए दिनों में भला क्या आशा की जा सकती है? यही सब चिन्ता करता हुआ वह
नगर से बाहर एक वृक्ष के नीचे उदासचित्त बैठा हुआ था। जिस प्रकार प्रश्नों का उत्तर मिलने
की उसे कोई आशा नहीं रह गई थी उसी प्रकार अब अधिक काल तक अपना जीवन कायम रख

बीरबल ने कहा—मैं ते। क्या, हिंदू का बच्चा बच्चा पैदा होते ही वह चश्मा लगा लेता है।

बादशाह ने ठठाकर हँसते हुए कहा—बहुत ठीक, बहुत ठीक। तब मुझे लगाने की कभी जरूरत नहीं पड़ेगी। जब तक तुम हो तब तक तुम्हारी आँखों से काम चल जायगा; तुम्हारे न रहने पर कोई दूसरा पैदाइशी चश्मावाला (हिंदू) मिल जायगा।

बीरबल ने कहा—लेकिन हमेशा आप को वैसे चश्मावालों की जरूरत क्या पड़ेगी ? जो सवाल आप को पूछना था वह तो आप मुझ से अभी अभी पूछ ही चुके हैं ?

बादशाह ने कहा—क्या एक ही सवाल से तुम्हारे भगवान् की सब बातें मालूम हो जायँगी ?

बीरबल ने कहा—उन के बारे में और भी कुछ आप को पूछना है क्या ?

बादशाह ने कहा—हाँ, तुम्हारे भगवान् की रहन सहन जानने के लिए मैं सवाल करना चाहता हूँ। क्या तुम मेरे सब सवालों के जवाब दे सकते हो ?

बीरबल ने कहा—इस का जवाब भी तो सवालों को सुनकर ही दिया जा सकता है। आप इन के बारे में क्या क्या पूछना चाहते हैं ?

बादशाह ने कहा—तुम्हारा भगवान् क्या खाता है, क्या पीता है, कहाँ रहता है, कहाँ सोता है, क्या करता है, कब हँसता है, कब रोता है, कब खुश होता है, कब नाराजी जाहिर करता है, वगैरह सब सवाल ही सवाल तो हैं। बोलो, इन सब का जवाब दे रहे हो ?

बीरबल ने समझ लिया कि ये सवाल नहीं, कर रहे हैं बल्कि सवाल के रूप में बाल की खाल निकाल रहे हैं। इस लिए इन्हें जवाब भी वैसे ही मनुष्य से दिलवाना चाहिए जो इन के भी बाल नोच डाले और ये चुप चाप सह जायँ, कुछ कह न सकें।

बीरबल ने कहा—मैं नहीं समझ रहा था कि हुजूर एक ही साँस में इतने ऊँचे दर्जे के सवालात कर डालेंगे। ऐसा जानता होता, तो यह हर्गिज न कहता कि हिंदू का बच्चा बच्चा भगवान् को देखनेवाला चश्मा लगाकर पैदा है। लेकिन अब जब कह ही चुका हूँ, तो मजबूर होकर सब के जवाब भी देने ही होंगे। हाँ, इतनी बात जरूर है कि जवाब ढूढ़ निकालने के लिए मुझे काफी वक्त लगाना पड़ेगा। इस लिए कम से कम छ महीनों की मुझे मुहलत मिलनी चाहिए। भगवान् चाहेगा, तो इतने दिनों के अंदर आप को आप के सवालों के जवाब जरूर मिल जायँगे।

बादशाह ने कहा—छ महीना क्या, जरूरत पड़ने पर मैं साल दो साल की मुहलत दे सकता हूँ। लेकिन शर्त यह है कि जवाब माकूल हों, ताकि उन से मुझे पूरी तसल्ली और दिलजमई हो जाय।

बीरबल ने भी समझ लिया कि पण्डितजी कोरे पण्डित ही हैं। तर्क और युक्ति की जगह मस्तक पर पूरे थान भर का साफा बाँधने के अलावे और कुछ नहीं जानते। वह उन्हें पुनः प्रणाम करके वहाँ से उठ खड़ा हुआ, लेकिन क्रोध के मारे पण्डितजी ने इस बार उस के प्रणाम के बदले में आशीर्वादप्रदान नहीं किया। यहाँ से चलकर बीरबल बहुत दिनों तक बहुत से स्थानों का चक्कर काटता रहा और अन्त में एक ऐसे नगर में पहुँचा जो भारतीय विद्या और संस्कृति का केन्द्र समझा जाता था। वहाँ उस ने घूम घूमकर तमाम विद्यालयों, पाठशालाओं और विद्यापीठों के पण्डितों, अध्यापकों और आचार्यों से उपर्युक्त प्रश्न क्रमशः पूछे, पर सब जगह से उसे निराश ही होना पड़ा, कोई भी उस के प्रश्नों का समुचित उत्तर नहीं दे सका। अब बीरबल को भी विशेष चिन्ता होने लगी कि बादशाह से माँगी हुई छः महीने की अवधि में केवल पंद्रह दिन शेष रह गये हैं जिन में पाँच सात दिन तो इस नगर से चलकर राजधानी तक पहुँचने में ही लग जायेंगे; बाकी रह जाते हैं आठ या अधिक से अधिक से दस दिन। बस, इन्हीं दिनों में अन्तिम चेष्टा कर देखना बाकी है। परंतु जब साढ़े पाँच महीनों में कार्यसिद्धि नहीं हुई, तो इन गिने गिनाये दिनों में भला क्या आशा की जा सकती है? यही सब चिन्ता करता हुआ वह नगर से बाहर एक वृक्ष के नीचे उदासचित्त बैठा हुआ था। जिस प्रकार प्रश्नों का उत्तर मिलने की उसे कोई आशा नहीं रह गई थी उसी प्रकार अब अधिक काल तक अपना जीवन कायम रख सकने का भी कोई दृढ़ सूत्र उसे नहीं सूझ पड़ता था। कारण, बादशाह की प्रकृति से वह अच्छी तरह परिचित था। वह जानता था कि बादशाह का प्रेम तभी तक मुझे प्राप्त हो सकता है जब तक उन की एक एक इच्छा का मैं ठीक ठीक अनुसरण करता हूँ। यदि उन की एक भी बात अपूर्ण रह गई, तो वह क्षण भर में सारा प्रेम भूल जायेंगे और जल्लाद के हाथों में मेरा सिर समर्पित कर देंगे। और यहाँ यह हालत है कि एक की कौन चलाये, उन की प्रत्येक बात—अपूर्ण रह जाना चाहती है, एक प्रश्न का भी उत्तर देनेवाला कोई नहीं दिखाई देता। यह सब सोच सोचकर उस की व्याकुलता लगातार बढ़ती चली जा रही थी जिस का प्रत्यक्ष और स्थूल चिह्न उस के चेहरे पर साफ साफ प्रतिबिम्बित हो रहा था।

एक किसान अपने कंधों पर हल और जुआ (दो बैलों को एक साथ जुता रखने के लिए काठ का एक यन्त्र) रखकर खेतों की ओर से चला आ रहा था। समय सन्ध्या का था। मालूम होता है, वह दिन भर खेत जोतकर अब अपने घर जा रहा था। कुछ देर में वह उस पेड़ के निकट आ गया जहाँ जीवन से निराश बीरबल एक देहाती के वेष में बैठा हुआ था। वहाँ आते ही किसान की नजर बीरबल के ऊपर जा पहुँची। उस ने देखते ही जान लिया कि यह कोई अत्यन्त दुखी मनुष्य है, क्योंकि बीरबल के बैठने का उस समय ढंग ही ऐसा हो गया था कि कोई भी उस के दिल की घबड़ाहट को देख और जान सकता था। वह

किसान एक ये पढ़ा लिखा, किंतु अत्यन्त चतुर और सज्जन मनुष्य था। वीरबल की उदास-चित्तता पर उसे बड़ी करुणा मालूम हुई। वह उस के निकट चला गया और पुकारकर कहा—अरे भाई, अब रात होने जा रही है और आकाश में घनघोर बादल भी छाये हुए हैं; वर्षा शुरू होने में अधिक देर नहीं मालूम देती और तुम ऐसे बैठे हो, मानों रात भर यहीं रहना हो। तुम्हें देखने से यह स्पष्ट झलक रहा है कि तुम्हारा चित्त बहुत दुखी है। इस लिए मैं जानना चाहता हूँ कि तुम कौन हो, यहाँ क्यों बैठे हो और कहाँ जाओगे ?

वीरबल को उस की बातों में उस के हृदय की विशुद्ध करुणा साफ दिखाई पड़ी। इस लिए उस के साथ मिथ्या व्यवहार करना, कोई झूठी बात गढ़कर उसे बहका देना उस ने उचित नहीं समझा और सब बाते खोलकर कह दीं कि मैं कौन हूँ, कितने दिनों से किस काम के लिए पर्यटन कर रहा हूँ तथा अब निराशा के कारण किस परिस्थिति में पड़ा हुआ हूँ, इत्यादि।

सब बातें सुनकर किसान ने अनेक प्रकार से वीरबल को सान्त्वना देते हुए कहा—वाह, इतनी ही बात के लिए इतने सोच में पड़े हुए हो ? इन प्रश्नों के उत्तर में भला क्या रखा है ? ऐसे ऐसे हजारों प्रश्नों का मैं रोज राह चलते उत्तर देता रहता हूँ। चलो, उठो यहाँ से। आज रात को खा पीकर मेरे घर पर सुख से सोओ, सवेरा होते ही मैं तुम्हारे साथ चलकर बादशाह के सब प्रश्नों का उत्तर कर दूँगा। वीरबल के चित्त की चिन्ता दूर हो गई, किसान के आश्वासन पर उसे पूरा भरोसा हो गया। वह तुरत उठकर खड़ा हो गया और किसान के घर जाकर छ महीनों के बाद सुख की नींद सो सका। प्रातःकाल किसान और वीरबल राजधानी के लिए चल पड़े और ठीक उसी दिन वहाँ जा पहुँचे जिस दिन मियाद खतम होने-वाली थी। वीरबल ने बादशाह के पास खबर भेजवाई कि आप के सवालों का जवाब देनेवाला महल की ड्योढ़ी पर हाजिर है। बादशाह ने खुश होकर आज्ञा दी कि वीरबल और वह किसान, दोनों एक साथ दरबार में हाजिर किये जायँ। हुक्म सुनकर वीरबल ने किसान को साथ लिया और दरबार में जाने के लिए घर से उठ खड़ा हुआ। किंतु कुछ लोगों ने जब देखा कि किसान बिलकुल गवाँरों की सी पोशाक पहनकर दरबार में स्वयं बादशाह से बातचीत करने जा रहा है, तो वीरबल को समझाया कि तुम तो दरबार के कायदे कानून जानते हो; क्या इस वेष में बादशाह के सामने किसी को ले जाना उचित होगा ? वीरबल का ध्यान केवल बादशाह के प्रश्नों पर लगा था कि देखूँ किसान क्या जवाब देता है, इस लिए किसान की वेषभूषा पर उस ने अब तक ख्याल नहीं किया था। अब लोगों के कहने पर उसे भी किसान के दिहाती ढंग के मैले कुचैले कपड़े खटकने लगे। उस ने राय देनेवालों को धन्यवाद दिया और किसान के सामने कीमती कपड़ों का बंडल लाकर रखते हुए कहा—भाई, दरबार के

अदब के लिहाज से इन कपड़ों को पहनकर अपने कपड़े उतार दो; बाद में लौटने पर इच्छा हो, तो फिर उन्हें पहन ले सकते हो।

किसान ने कहा—तुम्हें अपने सवालों के जवाब से मतलब है या मेरे कपड़ों लत्तों से? मैं न जन्म भर से जो कपड़े पहने हूँ उन्हें छोड़कर एक दिन के लिए बहुरुपिया नहीं बनना चाहता। इस लिए हो सके, तो इसी भेष में मुझे बादशाह के सामने ले चलो और नहीं, तो मुझे छुट्टी दो, मैं अपने घर जाऊँ। अपने कपड़ों को मैं कदापि नहीं उतार सकता हूँ, न राजकीय बाना धारण कर सकता हूँ।

उस की जिद् के आगे सब को हार माननी पड़ी। उस की इच्छा का अनुगमन करना ही इस समय जरूरी हो गया था, क्योंकि अपनी गर्ज थी। लाचार होकर उसी पोशाक में उस सग लेकर बीरबल को बादशाह के सामने जाना पड़ा।

बादशाह बड़ी उत्सुकता के साथ बीरबल और उस के साथ आये हुए प्रश्नोत्तरदाता के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। इस लिए बीरबल को अपनी ओर आते देखकर उसे बड़ी खुशी हुई, पर बीरबल पर से दृष्टि हटकर जब गवाँरू भेषधारी किसान के ऊपर उस की नजर गई तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि बीरबल पागल तो नहीं हो गया है जो दरबारी कायदे के खिलाफ एक उजड्ड दिहाती को अपने साथ भरे दरबार लिये चला आ रहा है? बादशाह यह सब सोच ही रहा था कि बीरबल ने आकर सलामी बजाई और एक तरफ खड़ा हो गया।

बादशाह ने पूछा—कहो बीरबल, तुम्हीं ने खबर भेजी है न कि मेरे सवालों का जवाब देनेवाला आ गया है?

बीरबल ने कहा—जी जहाँपनाह, ये ही जनाब आप के सवालों के जवाब देनेवाले हैं।
उस ने आँखों के इशारे से किसान की ओर संकेत किया।

बादशाह ने कहा—अरे, यह अपढ़ गवाँर ही तुम्हें इतने ऊँचे दर्जे के सवालों के जवाब देनेवाला मिला? कोई पण्डित, ज्ञानी, साधु, महात्मा क्या मेरे सवालों के जवाब नहीं दे सकता था?

बीरबल ने कहा—हुजूर का अंदाजा बिलकुल सच है। मैं छ महीनों की सख्त मिहनत के बाद इस किसान को ढूँढ सका हूँ। आप पोशाक पर ख्याल न करें, अपने सवाल पेश करने की इनायत फरमायें।

बादशाह ने कहा—लेकिन तुम ने दरबार में आने के वक्त इस की पोशाक बदलवा क्यों नहीं दी? तुम्हें तो सब कायदे कानून मालूम होंगे?

बीरबल ने कहा—जी, यह अपनी टेक के बड़े पक्के आदमी हैं। कहते हैं, तुम सवालों के जवाब चाहते हो या जवाब देनेवाले का रूप रंग देखना चाहते हो?

बादशाह ने कहा—हाँ, ऐसी बात है? अच्छा, जनाब किसान साहब यह बतलाइए कि परमात्मा हँसता कब है?

किसान ने कहा—जनाब, पहले यह शर्त मंजूर कर लें कि अगर मेरे जवाब से आप की दिलजमई हो जायगी, तो मैं चौबीस घंटों के लिए आप की जगह पर बादशाह बना दिया जाऊँगा और जिस तरह सब लोग आप का हुक्म तहेदिल से बजा लाते हैं उसी तरह मेरी भी हर एक बात सब लोग कबूल करेंगे।

बादशाह ने कुछ देर विचार करने के बाद कहा—अच्छा, ऐसा ही होगा। अब तुम मेरे सवाल का जवाब दो। लेकिन साथ साथ यह शर्त भी याद रहे कि अगर तुम्हारे जवाब से पूरी तसल्ली न हुई, तो तुम्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा।

किसान ने कहा—मंजूर है। अब आप अपने सवाल का जवाब सुनें जो सवाल के मुताबिक एक स्वप्न में यह है कि परमात्मा मनुष्य की मूर्खता पर हँसता है। इस का खुलासा यों है—मनुष्य भली भाँति जानता है कि दुनिया में सब से बड़ी खुदाई ताकत है-ईश्वर की शक्ति सब से बढ़ चढ़कर है। जो काम संसार की किसी भी शक्ति के हाथों होना संभव नहीं है वह ईश्वर के एक जरा से इशारे से लहमे भर में हो जाया करता है। परमात्मा को स्मरण करते रहने से हमेशा उस की मदद मिला करती है और दुनिया के दुःख दारिद्र से छुटकारा मिलकर सुख संपत्ति से भरी जिंदगी हो जाती है। लेकिन मनुष्य को अपनी ताकत का इतना गुमान रहता है कि वह पहले परमात्मा को याद नहीं करता, अपनी शक्ति से सब कुछ कर डालने की धुन में पागल बना रहता है। आखिर जब उस का सामर्थ्य जवाब दे देता है, काम बिगड़ने लगते हैं, चारों ओर से मुसीबतें आ घेरती हैं, किसी तरफ, किसी तरह हाथ पैर चला सकना नामुमकिन हो जाता है तब मनुष्य की आँखें खुलती हैं और वह हाय हाय करता हुआ बार बार भगवान् की दुहाई देने लगता है; कहता है—हे भगवान्, हे ईश्वर, हे खुदा, मेरा सङ्कट दूर करो, मेरी सहायता करो, अपनी लंबी बाहों की मदद पहुँचाओ और तकलीफों की भँवर से मेरी किश्ती पार लगाओ, इत्यादि। यही मनुष्य की मूर्खता है जिसे देख-कर भगवान् को हँसी आती है। मैं समझता हूँ, अब आप के सवाल के जवाब में कोई कसर नहीं रह गई, इस लिए जानना चाहता हूँ कि आप को तसल्ली हो गई न?

बादशाह ने कहा—सिर्फ एक कसर है। वह यह कि आदमी का यह जानना कैसे माना जाय कि उसे पहले से ही भगवान् की ताकत का पता रहता है और जान बूझकर उसे याद नहीं करता?

किसान ने कहा—श्रीमान् ने उचित प्रश्न किया है। इस का उत्तर यह है कि संसार के सभी धर्मग्रन्थों-तमाम इल्हामी किताबों—में लिखा है कि आदमी जो जब अपनी माँ के पेट

में पड़े पड़े तरह तरह की साँसतें सहनी पड़ती हैं, चारों ओर मल मूत्र के खजाने नजर आते हैं, बदबू की ज्यादती और हवा की कमी से साँस लेने की गुंजाइश नहीं रहती, तो वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो, इस नरककुण्ड से बाहर निकालो, यह दोजख की कोठरी मेरे दम घोंटे डालती है, दया करके फौरन इस का खातमा करो और ऐसी हरी भरी जिंदगी दो जिस में अमन चैन से रहकर मैं तुम्हारी याद कर सकूँ, तुम्हारे नाम की माला जप सकूँ; यहाँ के दूषित वातावरण में तुम्हारे भजन के लिए फुर्सत नहीं मिल रही है, क्योंकि यहाँ जब तुम्हें स्मरण करना चाहता हूँ तब तुरंत एक न एक उपद्रव खड़ा हो जाता है—कभी माँ किसी से झगड़ा करने लगती है और भीतर मैं बेचैन हो उठता हूँ, कभी वह घर के काम काज में बार बार उठती बैठती है जिस से मेरा दम घुटने लगता है; इन सब कारणों से यह निश्चय है कि यहाँ ठीक ठीक तुम्हारा भजन या चिन्तन कुछ नहीं हो सकता, इस लिए कृपा करो और यहाँ से निजात (मुक्ति) दो, ताकि खुली हवा में निर्विघ्नरूप से तुम्हारे में मन लगा सकूँ। आखिर उस की प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् उसे वहाँ से बाहर कर देते हैं; पर स्वार्थी मनुष्य बाहर आते ही भीतर की बातों को भूलने की कोशिश में लगा जाता है और 'कहाँ कहाँ' करके शोर मचाने लगता है जिसे देखकर माँ उस के मुँह में दूधभरा स्तन डाल देती है। बस, यहीं से मनुष्य भगवान् को पूरी तरह भूलने और माया को चारों हाथ पैर से अपनाने की भयंकर मूर्खता प्रारम्भ करता है। फिर आगे चलकर—धीरे धीरे सयाना होने पर तो और अधिक माया के फेर में पड़ने लगता है। पहले माता, पिता, भाई, बहिन की माया घेरती है, फिर चाचा, चाची, नाना, नानी, मामा, मामी की और उस के बाद सास, ससुर, साला, साली, सरहज, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, सगे, संबन्धी आदि की माया में वह इस कदर डूब जाता है कि भगवान् की बिलकुल ही स्मृति नहीं रह जाती, यहाँ तक कि गुरु, आचार्य, साधु, महात्मा आदि के याद दिलाने पर भी उसे परमात्मा याद नहीं आते। परमात्मा चुप चाप उस का यह सब तमाशा देखते रहते हैं। लेकिन इस के बाद जब सुख की घड़ियों की समाप्ति होकर दुःख के दिन आने शुरू होते हैं—कभी पुत्र की मृत्यु, कभी स्त्री की बीमारी, कभी रोजगार में घाटा, कभी शारीरिक कष्ट तंग करने लगते हैं तब वह अपनी भूल को समझता है और फिर नये सिरे से भगवान् भगवान् मनाना आरम्भ करता है। बस, यही मूर्खता देखकर भगवान् हँसते और कहते हैं कि अब मेरा क्या दोष है? तूँ ने तो खुद ही अपने पैरों में अपने आप कुल्हाड़ी चलाई है, इस लिए उस का अवश्यंभावी फल भी तुझे भोगना ही पड़ेगा, अब रोता क्यों है? अब तो श्रीमान् को संतोष हुआ न, कि अब भी कुछ कसर रह गई है?

बादशाह ने कहा—नहीं, अब बिलकुल कसर नहीं रह गई। अवश्य ऐसी बात पर भगवान् हँसते होंगे, इस में जरा भी संदेह और शक की गुंजाइश नहीं है। इस लिए अब

૧ અકબરના પ્રશ્નોના ચક્કરમાં બિરબલ ૨ અકબરના દરબારમાં ખેડુત અને બિરબલ ૩ ખેડુત સિંહાસન ઉપર

मैं अपना दूसरा सवाल पेश करता हूँ। उम्मेद है, इसी तरह तुम उस का भी सही सही जवाब दोगे और मुझ से पूरा इनाम वसूल करने का हक हासिल करोगे।

किसान ने कहा—जी नहीं, अब बाकी सवाल पीछे सुनूँगा; पहले आप गद्दी खाली करें और अपनी शर्त के मुताबिक उस पर चौबीस घंटे के लिए मुझे अधिकार जमाने दें।

बादशाह अपने वचन से बँध चुका था, इस लिए उस ने खुशी से गद्दी खाली कर दी और अपने हाथ से अपना ताज (राजमुकुट) उतारकर किसान के सिर पर रखते हुए उसे हाथ पकड़कर गद्दी पर बैठा दिया।

बादशाहत पाकर किसान गर्व से उन्नत नहीं हुआ, बल्कि पहले से भी ज्यादा नम्र होकर उस ने बादशाह से कहा—मैं आप की सचाई से बहुत खुश हूँ। इस लिए चौबीस घंटे के लिए आप को ही मैं अपना मन्त्री बनाना चाहता हूँ। यदि आप को कोई अड़चन न हो, तो मेरे साम्राज्य का प्रधान मन्त्रिपद स्वीकार करें।

बादशाह ने कहा—आप बादशाह होकर भी ऐसा क्यों कह रहे हैं कि 'स्वीकार हो, तो मन्त्रित्व करें?' आप को तो अब चौबीस घंटे के लिए पूरा अख्तियार मिला हुआ है कि जिस से जो काम लेना चाहें, खुशी से हुक्म दे सकते हैं। उतने समय तक आप का हुक्म टालने की भला कौन हिम्मत कर सकता है?

किसान ने कहा—जी नहीं; मेरी समझ में ऐसा करना अन्याय है। मैं बादशाह होने का यह अर्थ कभी नहीं समझ सकता कि दूसरों की इच्छा का दमन किया जाय। दूसरी बात यह भी है कि जो काम खुशी से कोई कर सके उस से वही काम कराना चाहिए। तभी वह काम सुन्दर और न्यायपूर्ण हो सकता है।

बादशाह ने कहा—ऐसा आप क्यों समझते हैं? और कोई बादशाह तो ऐसा नहीं करता?

किसान ने कहा—जो ऐसा नहीं करता वह भूल करता है। मैं जानता हूँ कि मुझे सिर्फ चौबीस घंटे इस गद्दी पर बैठना है। फिर मैं कोई ऐसा काम क्यों करूँ कि बाद में लोग मुझे गाली दें और अन्यायी अत्याचारी कहें। अच्छा, अब आप यह कहें कि मन्त्री बनना कबूल कर रहे हैं या नहीं?

बादशाह ने कहा—अगर मैं कबूल न करूँ, तो मेरे साथ कैसा व्यवहार किया जायगा? क्या उस के लिए मुझे सजा भोगनी पड़ेगी?

किसान ने कहा—सजा क्यों भोगनी पड़ेगी? प्रत्येक मनुष्य अपने इच्छानुसार आचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। यह कदापि उचित नहीं कि जो [illegible] अनुगमन करे उस के साथ सज्जनता का व्यवहार न किया जाय [illegible]

दण्ड दिया जाय। इस लिए अगर आप को मन्त्रित्व स्वीकार न हो, तो अब अपना प्रश्न उपस्थित कीजिए और उस का उत्तर सुनकर संतोष प्राप्त कीजिए।

बादशाह ने कहा—अच्छा, तो मेरा दूसरा सवाल यह है कि परमात्मा खाता क्या है? वह भी मनुष्यों की तरह अनाज और मेवा मिश्री वगैरह ही खाता है या कोई दूसरी चीज ?

किसान न कहा—परमात्मा का आहार अहङ्कार है। वह संसार का गर्व और अभिमान खाकर अपनी प्रजा को शिक्षा देता है कि किसी विशेष उन्नति को प्राप्त होकर अपने को सब से बड़ा मत समझो, सब प्राणी एक समान हैं। आज का राजा कल प्रजा हो सकता है और प्रजा राजा बनने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। यही देख लीजिए न, कि अभी कुछ देर पहले आप बादशाह बने हुए सारे संसार को अपनी हुकूमत का गुलाम समझ रहे थे और जानते थे कि मैं ही सब का भाग्यविधाता हूँ, परन्तु समय और परिस्थितियों के चक्र में पड़कर आप की जगह (चाहे जितने भी समय के लिए सही) मैं बादशाह बन बैठा हूँ और आप एक साधारण प्रजा की भाँति मेरी आज्ञा पालन के लिए विवश से बैठे हुए हैं। अब आप का पहले का अहङ्कार नहीं रह गया। वह कहाँ गया, यह आप भले ही न जानते हों, पर सर्वशास्त्रसिद्धान्त यही है कि उसे परमात्मा ने भक्षण कर लिया।

बादशाह ने कहा—बहुत ठीक। मैं आप का यह जवाब भी तहेदिल से सही मानता हूँ, मुझे पूरा संतोष हो गया। अब मेरा तीसरा सवाल यह है कि परमात्मा करता क्या है? हम लोगों की तरह वह भी तरह तरह के कामों में फँसकर फजीहत उठाता रहता है और काम बनने पर खुश तथा न बनने पर नाखुश हुआ करता है या जब जो कुछ चाहता है वह ठीक ही कर डाला करता है?

किसान ने कहा—उस के कामों की कोई गिनती नहीं है। वह ऐसे ऐसे काम करता रहता है जिन का हम लोग अन्दाजा भी नहीं लगा सकते। उस का कोई काम कभी बिगड़ता नहीं, वह जब जो कुछ चाहता है, सब कुछ उसी दम ठीक हो जाया करता है।

बादशाह ने कहा—क्या उस के दो एक काम की मिसाल देकर आप मुझे ठीक ठीक समझा सकते हैं कि वह कैसे काम ज्यादातर किया करता है?

किसान ने कहा—जरूर, जरूर! थोड़े में आप यही समझ लें कि वह जहाँ जैसी जरूरत देखता है वहाँ उसी तरह के काम कर गुजारता है। मसलन—राई को पर्वत और पर्वत को राई तथा रंक को राजा और राजा को रंक बनाना उसी का काम है। परमात्मा के कामों के बारे में कही गई एक कवि की यह कविता कदाचित् आप सुन भी चुके हों—

'चाहे सुमेरु को राई करे अरु राई को चाहे सुमेरु बनावे,
चाहे तो रंक को राउ करे अरु राउ को द्वारहिं द्वार फिरावे।

चाहे वो चींटी के पाँव गयंदहि चाहे समुद्र के पार लगावे,
रीति यही करुनानिधि की वह सोई करे जो वही मनभावे॥'

बादशाह ने कहा—जी नहीं; मैं ने यह सवैया कभी नहीं सुनी। बादशाहों को ऐसे आदमी नहीं मिला करते जो उस के सामने किसी गैर शख्स की (चाहे वह परमात्मा ही क्यों न हों) तारीफें करने की हिम्मत रखते हों। बादशाहों को ऐसे ही लोगों के बीच में जिंदगी बसर करनी पड़ती है जो अपना मतलब साधने के लिए सब तरह से बादशाह को ही परमात्मा साबित करने की कोशिशें करते रहते हैं। ऐसी हालत में भला कौन मुझे ऐसी लज्जत-दार सवैया सुनाता ?

किसान ने हँसकर कहा—आप तो बड़े होशियार बादशाह मालूम होते हैं। इन सब बातों को जानते हुए भी अपने आदमियों की बातों पर विश्वास रखकर उन के हाथों में साम्राज्य की देखभाल का भार आप ने कैसे छोड़ रखा है ?

बादशाह ने कहा—लाचारी भी तो एक खास वजह ही है। जब बादशाहों को दूसरे किस्म के यानी चापलूसी न करनेवाले लोग मिलते ही नहीं, तो आखिर किया क्या जाय। अकेले एक घर की गृहस्थी का इंतजाम चलाना मुश्किल हो जाया करता है। फिर इतनी बड़ी सलतनत अकेला बादशाह किस कदर सँभाल सकता है ? मजबूरन दूसरों की मदद लेनी ही पड़ती है।

किसान ने कहा—आप इतने बड़े बुद्धिमान् हैं, तो परमात्मा की कृपा से आप को सच्चे सहायक भी अवश्य मिले होंगे, इस में संदेह नहीं। अच्छा, अब आप को परमात्मा के विषय में और कोई बात तो कदाचित् न पूछनी होगी ? क्योंकि जब आप स्वयं इतने बड़े जानकार हैं और बहुत सी बातें मुझ से भी सुन चुके, तो मैं समझता हूँ कि अब कोई बात आप को नहीं खटकती होगी ?

बादशाह ने कहा—जी, सिर्फ एक सवाल और रह गया है और वह यही कि पर-मात्मा के रहने की जगह कौन सी है ? वह बड़े आदमियों की तरह ऊँचे ऊँचे महलों में रहता है या गरीबों के माफिक झोपड़ियों में रहना उसे पसंद है ?

किसान ने बादशाह के मुँह से बादशाही रहन सहन की सच्ची कहानी सुनकर समझा था कि अब व्यर्थ के प्रश्नों से (क्योंकि ऐसे ऐसे प्रश्नोत्तर तो छोटे छोटे बच्चे भी न जाने कितनी बार सुन सुना चुके होते हैं, इस लिए) उसे छुटकारा मिल जायगा। कारण कि उस की समझ में बादशाह अब तक केवल हिंदुओं की जानकारी का पता लगाने अथवा मनोरञ्जनमात्र के लिए ऐसे ऊटपटाँग प्रश्न कर रहा था। नहीं, तो उसे वस्तुतः सब कुछ ज्ञात था। परंतु अब भी बादशाह ने सवाल करना नामंजूर नहीं किया, यह देखकर वह खीज उठा और मन में

निश्चय किया कि इस ज़िद्दी को अब ऐसा उत्तर देना चाहिए कि परमात्मा को लेकर परिहास करने का पूरा मज़ा मिल जाय और तब उस ने कहा—

जनाब, इस सवाल का जवाब ज़रा टेढ़ा है। इस का जवाब सुनने में आप को थोड़ी तकलीफ उठानी पड़ेगी।

बादशाह ने कहा—तकलीफ कैसी ?

किसान ने कहा—वह सब अभी मालूम हुआ जाता है। पहले आप घोड़े की तरह चारों हाथ पैर से खड़े होइए। उस पर (आप पर) मैं सवार होकर बतलाऊँगा कि परमात्मा कहाँ रहता है।

बादशाह बिचारा चौबीस घंटों के लिए बादशाहत छोड़कर किसान के अधीन पहले ही हो चुका था। अब भला घोड़ा बनना अस्वीकृत कैसे कर सकता था ? विवश होकर उसे घोड़ा बनना ही पड़ा। जब वह घोड़ा बनकर सवारी चढ़ाने के लिए तैयार हो गया, तो किसान उछलकर उस के ऊपर जा बैठा और चाबुक से मारता हुआ अपनी एड़ियाँ उस की कोख (कुक्षि) में धमाता तथा मुँह से 'जल्दी चल, जल्दी चल' की आवाज़ लगा लगाकर वस्तुतः उसे घोड़े जैसा हाँकने लगा। चाबुक की मार और एड़ी धसाने से बादशाह के सारे शरीर में भयंकर पीड़ा होने लगी, वह कष्ट के मारे आह उह करने लगा। अन्त में जब कष्ट असह्य सा हो उठा, तब उस ने किसान से पूछा—आप यह क्या कर रहे हैं ? मैंने तो आप से परमात्मा के रहने की जगह पूछी थी ?

किसान ने कहा—जी हाँ, वही दिखलाने के लिए तो मैं भी कह रहा हूँ कि ज़रा अपनी चाल तेज़ कीजिए जिस से शीघ्र उस के निवासस्थान पर पहुँच चला जाय।

बादशाह ने कहा—क्या सचमुच के घोड़े वहाँ तक नहीं जा सकते कि मुझे घोड़ा बनाकर आप वहाँ ले चलना चाहते हैं ?

किसान ने कहा—जा क्यों नहीं सकते ? पर आप में और उन घोड़ों में जब कोई फ़र्क़ ही नहीं है, तो मैं ने सोचा कि व्यर्थ ही अस्तबल से घोड़ा मँगवाने और उस पर ज़ीनपोश वग़ैरह बाँधने बूँधने को देर क्यों की जाय ? बस, इसी लिए चटपट आप को जुतने को कह दिया।

बादशाह ने कहा—ऐसा क्यों कह रहे हैं ? मुझ में और घोड़े में तो एक पागल भी फ़र्क़ होना कबूल कर सकता है, फिर आप ने मुझे घोड़ा क्यों समझ लिया ?

किसान ने कहा—जी हाँ, 'पागल भी' नहीं बल्कि 'पागल ही' फ़र्क़ बतला सकता है। मुझ जैसा ज्ञानी जो घट घट में, सृष्टि के कण कण में—कुदरत के तिनके तिनके में परमात्मा का अस्तित्व देखता है, यह कभी नहीं मान सकता कि आप में और घोड़े में वस्तुतः कोई अन्तर है। कारण, घोड़ा भी यह नहीं जानता कि परमात्मा कौन है और कहाँ रहता है

और आप को भी ये बातें नहीं मालूम हैं। इस लिए अपनी समझ में मैं ने कोई अनुचित काम नहीं किया है, जो कुछ कर रहा हूँ वही उचित है।

किसान का यह उत्तर सुनकर बादशाह को असीम लज्जा मालूम होने लगी। उस ने अपनी भूल और दिल्लगीबाजी के लिए बार बार माफी माँगते हुए कहा—अब मैं ऐसे सवाल कभी भी किसी से नहीं करूँगा। कृपा करके अब मुझे चाबुक न लगाइए और न अपनी एड़ी घुसेड़कर मेरी पसलियाँ तोड़िए। बल्कि आप चाहें, तो हमेशा के लिए मेरा तख्त (सिंहासन) ले लीजिए, पर मुझे तो अब छोड़ ही दीजिए, इत्यादि।

किसान ने कहा—क्यों, अब परमात्मा का घर नहीं देखेंगे ? थोड़ा कष्ट और सह लीजिए, तो वह साक्षात् अपने घर में आप को बुला लेगा।

बादशाह ने कहा—नहीं, नहीं, अब बस करें। मैं वहाँ नहीं जाना चाहता। आप पहले ही कबूल कर चुके हैं कि हर शख्स आजाद है और उस की तबीयत को दबाना किसी के लिए वाजिब नहीं कहा जा सकता; फिर अब मेरी ख्वाहिश के खिलाफ मुझे क्यों जबरन तकलीफ दे रहे हैं।

किसान ने बादशाह की अधिक दुर्दशा नहीं की। उस की प्रार्थना मानकर उसे छोड़ दिया और कहा कि बादशाह साहब, अब कभी हिंदुओं के ईश्वर की हँसी न करें, तो बहुत अच्छा हो; बल्कि मेरी तो यह इच्छा है कि आप ईश्वर, परमात्मा, भगवान्, राम, कृष्ण, खुदा, अल्लाह, इत्यादि शब्दों द्वारा संबोधित की जानेवाली उस अलक्ष्य शक्ति—जगन्नियन्ता—कुद्‌रत के मालिक—को एक नजर से देखें। नाम अलग अलग होने से वस्तु में भेद मानना अनुचित है। आप को ये बातें मालूम नहीं होंगी, ऐसा जानकर मैं व्याख्यान नहीं दे रहा हूँ। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि वचन के अनुसार और भाग्यचक्र से इस समय कुछ देर के लिए मैं बादशाह हो गया हूँ। सब कुछ करने में स्वतन्त्र हूँ। मेरी इच्छा सारे हिंदुस्तान की इच्छा है। इस समय मेरी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता और नीति तथा धर्म के अनुसार इस पद से मैं जो कुछ कर जाऊँ वह सर्वदा के लिए संमान्य (रेकार्ड) होना चाहिए। वह न हो, तो भी इस समय इतनी शक्ति तो मुझ में है हो कि आप को चाहे जिस दशा को पहुँचा दूँ, जीवित रहने दूँ या सब लीला समाप्त करके सब दिन के लिए बादशाह बन जाऊँ। किंतु यह सब कुछ भी न करके मैं इसी समय आप की गद्दी खाली कर रहा हूँ और उस के बदले में केवल इतना चाहता हूँ कि मेरी बातों को आप अमल में लावें, कार्यरूप में कर दिखावें। आप भारतवर्ष में धर्म की एक ऐसी धारा बहा दें जिस में डुबकी लगाकर हिंदू मुसलमान दोनों आपस के वैर विरोध को जड़ मूल से धो बहावें। आप की न्यायपरायणता और प्रजावत्सलता से संपूर्ण भारत आप का हृदय से संमान करता है।

इस लिए आप जिस धर्म की संस्थापना करेंगे उस में अवश्य ही सब लोग पूर्ण विश्वास करेंगे, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

बादशाह को किसान के विचार बड़े सुन्दर लगे। वह खुद भी बहुत दिनों से ऐसा विचार कर रहा था कि हिंदू मुसलमानों को एकतासूत्र में बाँधने के लिए कोई नया मजहब प्रचलित करना चाहिए। अपने विचार को एक साधारण किसान के मुँह से समर्थित होते देख उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई। उस ने कहा—आप का मैं बहुत ही एहसानमंद हूँ। मैं जी जान से आप की राय के मुताबिक काम करने की हमेशा कोशिश करता रहूँगा और खुदा चाहेगा, तो बहुत जल्द ही आप अपने बतलाये हुए दीन (धर्म) को हिंदुस्तान भर में फैला हुआ देखेंगे। लेकिन यह तो बतलाइए कि आप चौबीस घंटों के बदले सिर्फ चार ही घंटे में बादशाहत छोड़कर अलग क्यों हो रहे हैं? कम से कम जितना इकरार हो चुका है उतनी देर तो आप को गद्दीनशीन रहना ही चाहिए?

किसान ने कहा—नहीं, अब मेरे लिए गद्दी पर बैठना एक मिनट भी उचित नहीं है। मैं ने जिस उद्देश्य से यह नाटक रचा था और आप को गद्दी से उतारकर स्वयं सम्राट् बना था वह कार्य पूरा हो गया। इस लिए अब मुझे आज्ञा दो, तो मैं अपने घर जाऊँ।

बादशाह ने कहा—हालाँकि कहने सुनने के लिए मैं बादशाह हूँ, इस में जरा भी शक नहीं, पर आप एक बे पढ़े लिखे किसान होते हुए भी हजारों बादशाहों से बड़ी हैसियत रखते हैं, क्योंकि इतना बड़ा नाम और उस के साथ साथ तमाम दुनिया का माल खजाना रखकर भी मैं आज तक जो ताकत नहीं पा सका वह ताकत आप में यों ही मौजूद है—मुझ से एक छोटे से गाँव की आमदनी का छोड़ना भी शायद गवारा नहीं हो सकता और आप अपने हाथ में मिली हुई इतनी बड़ी हस्ती को कुछ नहीं समझ रहे हैं। इन बातों को देखते हुए मुझे तहेदिल से मानना पड़ता है कि दुनिया में दर असल आप को किसी चीज की या ऐशो आराम की कोई जरूरत नहीं है। आप को ऐसी अजीब चीज (संतुष्टि) मिली हुई है जिस के सामने सब धन दौलत हवा है; फिर भी मेरी ख्वाहिश है कि आप मेरी तसल्ली और खुशी के लिए कुछ जागीर जरूर मंजूर करें। यह मैं जानता हूँ कि इस की आप को जरूरत नहीं, तो भी मैं इसी लिए यह देना चाहता हूँ कि आप के जरिये जैसे गरीब दुखियों को मदद पहुँचेगी वैसी को मैं नहीं पहुँचा सकूँगा। वजह यह कि मेरे यहाँ तक वैसे लोगों की पहुँच ही मुश्किल है—सच्चे गरीब रिश्वत नहीं दे सकते, और दर्बारी मुलाजिम बिना रिश्वत लिये किसी को मेरे पास तक फटकने नहीं देते होंगे।

निदान, किसान ने बादशाह की प्रार्थना स्वीकार कर ली और बहुत सी जागीर और इनाम इकराम के साथ वहाँ से बिदा होकर अपने घर चला गया। तब एकान्त पाकर बादशाह

ने बीरबल से पूछा—कहिए राजा साहब, आज तो आप ने मेरे सवाल का अच्छा जवाब मुझे दिया। अगर मेरी किस्मत से किसान रहमदिल न होता तब तो मेरी जहाँपनाही का आज खात्मा ही हो चुका था न ?

बीरबल ने कहा—नहीं जहाँपनाह, बीरबल ऐसा बेवकूफ नहीं है और भगवान् की दी हुई बुद्धि जब तक उस का साथ नहीं छोड़ देती तब तक आगे भी नहीं हो सकता। मैं ने उस किसान को अच्छी तरह देख भालकर हुजूर के सामने हाजिर किया था। और अगर वह किसी तरह का धोका भी देना चाहता, तो मेरे रहते क्या आप को ऐसा भरोसा है कि उस हालत में उस की जान यहाँ से सही सलामत लौटकर वापस चली जाती ?

बीरबल की बातों से बादशाह के मन की रही सही मैल भी साफ हो गई और तब से वह दृढ निश्चय के साथ हिंदू मुसलमान में मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा जिस का हाल इतिहास के पाठकों से छिपा नहीं है। अस्तु;

मनुष्य को ज्यादा तर्क वितर्क और वाद विवाद में न पड़कर श्रद्धा सहित परमेश्वर का भजन करते रहना चाहिए और उस से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभो, दीनदयालो, मैं ने आप की शरण में हूँ, आप के स्मरण के अतिरिक्त मुझे संसार से और कोई संबन्ध नहीं है, इस लिए कृपा करके ऐसी गति दें कि मुझे फिर फिर यहाँ आना जाना न पड़े। लेकिन साथ साथ यह भी ख्याल रहे कि जो लोग सकाम कर्म करने में लगे रहते हों उन की निन्दा न करे। सकाम और निष्काम दोनों कर्ममार्ग भगवान् की ही प्रेरणा से सनातन से चले आ रहे हैं। उन में जिस की जैसी रुचि हो उस के अनुसार एक को अपनाकर कर्तव्य कर्म पर डट जाना ही बुद्धिमानी है। दूसरों के पीछे पड़नेवाले, दूसरों को राह बताने की अपने में योग्यता समझनेवाले न तो अपना कर्तव्यपालन कर पाते हैं, न दूसरों को कुछ भलाई ही कर सकते हैं। कारण, भगवान् ने आगे के श्लोक में स्वयं कहा है कि ये दोनों मार्ग संसार में सनातन माने गये हैं। (अर्थात् इन में से एक हो रहे, एक न रहे, ऐसा किसी के चाहने पर भी नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि की परंपरा स्थापित रखने के लिए दोनों का रहना अत्यन्त आवश्यक है।) इस लिए तुम्हारा तो इतना ही कर्तव्य है कि अपनी मुक्ति का उपाय सोचो, दूसरों की चिन्ता छोड़कर अपना कर्म करो और यथाशक्ति ऐसी योग्यता प्राप्त कर लो कि पुनः लौटनेवाले मार्ग में न पड़ने पाओ।

अब भगवान् दोनों गतियों की नित्यता बतला रहे हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

जगत् की शुक्ल और कृष्ण ये दो प्रकार की सनातन गतियाँ मानी गई हैं। (इन में) एक से अनावृत्ति (नहीं लौटने) को जाता है; दूसरी से फिर लौट आता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, संसार के लोगों को यहाँ से जाने के लिए अनादि काल से दो प्रकार की सनातन गतियाँ निश्चित कर दी गई हैं जिन में एक का नाम शुक्ल है और दूसरी का कृष्ण। इन गतियों को मार्ग भी कहा जाता है। तदनुसार शुक्ल-मार्ग और कृष्णमार्ग, ये दो रास्ते यहाँ से ले जानेवाले प्रसिद्ध हैं। इन में पहला (शुक्लमार्ग) ऐसा प्रभावशाली मार्ग है कि उस का सहारा लेकर जानेवाला फिर यहाँ लौटता नहीं; किंतु दूसरा (कृष्णमार्ग) उतना महान् नहीं है, क्योंकि उस को पकड़कर जानेवाला अपने पुण्यकर्मों द्वारा प्राप्त भोग भोगकर समय बीत जाने पर फिर यहीं लौट आता है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, संसारलीला का संवरण करके उस से दूर जाने और प्रभु में मिलने के लिए ज्ञानी—निष्काम कर्मकर्ता—जिस मार्ग से जाते हैं वह ज्ञान का मार्ग है, अतएव ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमय है। उसे शुक्ल कहते हैं। और संसारलीला से बढ़कर लीला करने और अलौकिक सुख भोगने की इच्छा से कर्मी—सकाम कर्मकर्ता—जिस मार्ग से जाते हैं उस में ज्ञान का अभाव रहता है, अतएव वहाँ प्रकाश भी नहीं रहता। उसे कृष्ण कहते हैं। ये दोनों मार्ग सनातन अर्थात् नित्य हैं, क्योंकि संसार भी नित्य ही है जैसा कि 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥' इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध है। प्रलयकाल आने पर नष्ट हो जानेवाला संसार ही कल्पादि में जब पुनः सृष्ट होता है, तो उसे सनातन अथवा नित्य कहने में कोई हानि नहीं है। सो उसी नित्य संसार के ये दो नित्य मार्ग हैं जिन में से एक के द्वारा निवृत्ति मार्गाश्रयी ब्रह्मवेत्ता लोग सर्वदा के लिए चले जाते हैं और दूसरे से प्रवृत्ति मार्ग के पथिक कर्मयोगी लोग जाते हैं और फिर लौट आते हैं। यद्यपि इन में श्रेष्ठ तो निवृत्तिमार्ग, शुक्ल गति ही है, तथापि कृष्ण गति भी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि इस मार्ग पर चलनेवाला भी चौरासी लाख योनियों में भटकता भटकता एक बार ऐसा सुअवसर प्राप्त कर ही लेता है जब उसे निवृत्ति मार्ग की महिमा का ज्ञान हो जाता है और उस के द्वारा वह परमपद को प्राप्त कर लेता है। इसी लिए आगे भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि—

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ, इन (दोनों) मार्गों को जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता, इस लिए हे अर्जुन, (तूँ भी) सब काल में योगयुक्त हो ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो योगी इन दोनों मार्गों के भेद को पूरा पूरा जानता है कि अमुक के अनुसार वर्ताव करने से पुनर्जन्म नहीं होगा और अमुक के अनुसार बार बार होगा, इत्यादि; ऐसा तत्त्वज्ञ—वह चाहे ज्ञानयोगी हो चाहे कर्मयोगी—कोई भी मोह में नहीं पड़ सकता। परम पद तक पहुँचने में एक को शीघ्र सफलता मिल जाय और दूसरों को कुछ देर लगे, यह भले ही हो सकता है, किंतु यह कभी नहीं हो सकता कि इन दोनों मार्गों का ठीक ठीक रहस्य जाननेवाला और तदनुसार किसी भी एक का आचरण करनेवाला सर्वसाधारण प्राणिसमुदाय की भांति भयंकर भवबन्धन में पड़ा रह जाय। इस लिए हे अर्जुन, इन में से कोई भी मार्ग न ग्रहण करता हुआ भी यदि तूँ सर्वदा योगयुक्त रह अर्थात् इन मार्गों द्वारा प्राप्त होनेवाली गति का भेद जानकर तूँ भगवद्भक्तिरूप योग में लगा रह; तो भी तूँ बन्धन में नहीं पड़ेगा।

क० म०—*प्यारे मित्रो, इन दोनों मार्गों की इतनी महिमा है कि उन का केवल* ज्ञाता भी मोह में नहीं पड़ता; फिर उन को वास्तविक रूप से व्यवहार में लानेवालों की गति के विषय में तो कहना ही क्या है। हां, यह एक नियम अवश्य है कि जो उन मार्गों पर चलने की योग्यता रखते हों उन्हें भगवान् की भक्तिरूप सर्वसरल साधन का आचरण तो अवश्य ही करना पड़ेगा। यही बात भगवान् ने इस अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों में भी *कही थी और अर्जुन को आदेश दिया था कि तूँ सब समय मेरा स्मरण कर और युद्धरूप स्वकर्म* का पालन भी करता रह; मुझ में मन और बुद्धि का का अर्पण करके मुझे ही प्राप्त करेगा *इस में सन्देह नहीं है। तो उसी अभ्यासयोग से युक्त होने का उपदेश भगवान् यहाँ भी दे रहे* हैं और कहते हैं कि इन मार्गों के तत्त्व का ज्ञान रखता हुआ तूँ हरघडी भक्तियोग में जुटा रह, इस से तूँ न तो मोह में पड़ेगा और न किसी प्रकार का बन्धन ही होगा। भवबन्धन से *मुक्ति पाने का इस से सुगम उपाय मिलना असंभव है।* इस उपाय को अमल में लाने में केवल श्रद्धा, विश्वास, एकाग्रता, ध्यान की अखण्डता और स्वकर्तव्यपालिता की आवश्यकता है, दूसरा कोई विशेष व्यापार करने की जरूरत नहीं। और अपना अपना कर्म तो सब लोगों को करना ही पड़ता है। इस लिए उस से घबड़ाकर कहीं भागने की तो चर्चा ही नहीं हो सकती। 'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' के अनुसार जब काम में लगे रहने से *किसी को मुक्ति मिल ही नहीं सकती, तो बुद्धिमानी यही है कि अपने कर्म का—स्वभावजन्य,*— वर्णाश्रमानुकूल, धर्मविहित कर्म का सावधानी के साथ पालन किया जाय और हृदय में

भगवान् को रखकर उन की भक्ति में दत्तचित्त रहा जाय। बस, इस के बराबर सहज मुक्ति-साधन कोई नहीं है। अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि पार्थ, इन दोनों मार्गों को जाननेवाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता, इस लिए हे अर्जुन, तूँ सब समय योग से युक्त रहा कर।

इस पर अर्जुन ने पूछा कि हे भगवन्, इस प्रकार के योग में लगे रहनेवाले योगी को वे सब शास्त्रीय फल मिलते हैं या नहीं जो वेदादि शास्त्रों के पढ़ने तथा उन के अनुसार यज्ञ, तप आदि करनेवालों को प्राप्त हुआ करते हैं?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, उस योगी को जो महत्फल मिलता है उस के सामने ये सब फल किसी गणना में नहीं हैं; क्योंकि—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति दिव्यम् २८

इस (योगरहस्य) को जान लेने पर योगी उस सब (फल) का अतिक्रमण कर जाता है जो वेदों में, यज्ञों में, तपों में और दानों में पुण्य-फल कहा गया है, और परम दिव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है।

गी० गी०—हे अर्जुन, वेदों का अध्ययन करने से, यज्ञों का आचरण करने से, तपों का अनुष्ठान करने से और दानादिकों का सम्यक् संपादन करने से जो पुण्य होता है और उस के द्वारा जिस फल की प्राप्ति शास्त्रकारों ने बतलाई है उन सब के परे वह योगी पहुँच जाता है जो इस भक्तियोग और शुक्ल कृष्ण गति के रहस्य को जानता है तथा उस के बाद वह अत्युत्तम स्थान, सच्चिदानन्दमय परम दिव्य पुरुष का लाभ भी कर लेता है। तात्पर्य यह कि इस रहस्य को जाननेवाला मेरा भक्त योगी साक्षात् शुद्ध परब्रह्म परमात्मा के पद को पहुँच जाता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस जमाने को क्रान्ति का जमाना कहा जाता है—बीसवीं सदी क्रान्ति का सदेश लेकर दुनिया में आई है। इस ने जब से पदार्पण किया तभी से संसार भर में परिवर्तन के प्रबल चक्र चलने लगे। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि उस के पहले परिवर्त्तन नहीं होता था, बल्कि इस का अभिप्राय यही है कि इस शताब्दी में जिस शीघ्र गति से संसार में उलट फेर का सिलसिला जारी हुआ है वैसा हजारों वर्षों में नहीं हुआ था। इस उलट फेर के जमाने में जहाँ विज्ञान की उन्नति, विश्वमैत्री की ओर मानवमात्र की (मौखिक ही सही) प्रगति और पार्थिव सुखसाधन एकत्रित करनेवाली सामूहिक मति हुई है वहाँ धर्म और शास्त्र की ऐसी दुर्गति भी हुई है कि इतिहास में इधर शायद ही कभी हुई हो। इस जमाने को क्रान्तियुग कहना और वहाँ इतना लागू होता ही

या नहीं, पर इस में संदेह नहीं कि धार्मिकता में इधर भयंकर क्रान्ति हुई है। वेद पढ़ना समय की बर्बादी, यज्ञ करना अन्न वस्त्र आदि का प्रत्यक्ष भस्मीकरण, तप करना शरीर का सर्वनाश और दान करना द्रव्य का साक्षात् दुरुपयोग इसी जमाने में गिना जाने लगा है। तो जब कि इन सब पुण्यकर्मों के प्रति समाज में इस प्रकार दुर्मति फैले हुए हैं, तो किसी को भला यह ज्ञान कहाँ तक रह सकता है कि ये कर्म किन उत्तम फलों की प्राप्ति कराते हैं। और जब यही सब नहीं मालूम रहेगा, तो ब्रह्मत्व तो उस के बहुत बाद का दर्जा है—बिना इन विषयों के परिचय के उस के सबन्ध में तिलभर भी कोई ज्ञान नहीं होनेवाला है—फिर उस का पता क्या चल सकता है। इस लिए आज की सभ्यता के रंग में रँगे हुए लोगों से तो कुछ कहना ही व्यर्थ है कि क्या करने से वेदाध्ययन पूरा होता है, क्या करने से यज्ञ की पूर्णता कहलाती है, क्या करने से तपोवृद्धि मानी जाती है और क्या करने से दान का साङ्गोपाङ्ग परिणामलाभ होता है तथा इन सब का अतिक्रमण क्या कहलाता है और उस अतिक्रमण के बाद जो पद मिलता है उस से फायदा क्या है?

परंतु जो कुछ भी हो जाय, दुनिया में दिन रात आमूल परिवर्तन होते रहें और घोर *तमसाच्छन्न नास्तिकवाद फैल जाय, तो भी यह मानी हुई बात है कि भगवान्* की कोई भी वाणी कदापि अपनी महिमा से नीचे नहीं जा सकती और न तो उन की वाणी का अक्षरशः पालन करनेवाला कभी उस का फल पाने से खाली रह सकता है। जब तक सृष्टि है तब तक कोई न कोई भगवद्भक्त उत्पन्न होता ही रहेगा और अपने सत्य आचरणों से भक्तिमार्ग की महिमा को निष्कलङ्क सिद्ध करता ही रहेगा। ऐसे भगवद्भक्तों में और कोई गुण और चमत्कार रहे या न रहे, किंतु श्रद्धा और विश्वास नाम के दो गुण उन में कूट कूटकर भरे रहते हैं। ये श्रद्धा और विश्वास ही किसी भी भक्त में इस भाव को बद्धमूल बना देते हैं कि मरने के बाद शुक्ल और कृष्ण मार्ग द्वारा जानेवालों की क्या क्या गति होती है, इस बात को वे भली भाँति जान सकें तथा वेद, यज्ञ, तप, दान के कथित फलों का उल्लङ्घन करके परम पद ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकें। यदि श्रद्धा और विश्वास किसी में न रहें, तो वह साधारण कोटि का सकाम भक्त तो हो ही नहीं सकता, फिर निवृत्तिमार्ग तो उस के लिए एक स्वप्न ही है। और अगर श्रद्धा विश्वास में कमी न हो, तो यह शतप्रतिशत सत्य सिद्ध हो सकता है कि मनुष्य अपनी भक्ति द्वारा संसार पर यथेच्छ विजय प्राप्त कर सकता है और उस की विजय से हजारों अश्रद्धालु और अविश्वासी श्रद्धा विश्वास से संपन्न हो जा सकते हैं। इस श्रद्धा विश्वास का सुन्दर परिणाम दिखलानेवाली एक बड़ी सुन्दर कहानी है—

एक पण्डितजी थे—सब शास्त्रों के ज्ञाता, श्रद्धा विश्वास की महिमा के कायल और *भगवान् की भक्ति को सब से बड़ा पुरुषार्थ माननेवाले।* परन्तु जन्मान्तर के किसी जरा से

विघ्न के कारण उन में थोड़ी सी कमी रह गई थी। वे धनिकों को रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि की कथा सुना सुनाकर अपनी जीविका चलाया करते थे। उन में अभी यह निश्चय दृढ नहीं हो सका था कि भगवान् के अतिरिक्त और कोई न तो देनेवाला है, न उन के सिवा कोई जीविका का निस्तार लगा सकता है। इन बातों का महात्म्यमात्र उन्होंने जान लिया था, प्रयोग करके आजमाया नहीं था।

एक दिन, जब घर में एक दाना भी कोई भोजनीय पदार्थ नहीं रह गया था, उन की स्त्री ने आकर कहा कि तुम्हें और मुझे एक जून के बदले दो चार जून भी उपवास करना पड़े, तो कर सकते हैं, पर बच्चों पर तो दया करो और कहीं से कुछ लाकर उन का गला सींचो।

पण्डितजी ने कहा—क्या इस श्रावण में भी तुझे घास नहीं मिलती कि गौ को भर पेट खिलाकर दूध दुह ले और बच्चे का मुँह न सूखने दे?

पण्डिताइन ने कहा—बचा अब पाँच साल के ऊपर हो रहा है। केवल दूध से उस की भूख मिट सकती, तो मैं तुम्हारे सामने अपना सिर खपाने नहीं आती।

पण्डितजी के पास अब संतोषदायक कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने विवशतापूर्वक कहा—अच्छा, जा भागवत उठा ला। तेरे कारण मैं भगवान् के भरोसे भी ठीक ठीक नहीं रह पाऊँगा। किसी सेठ साहूकार का दरवाजा खटखटाना ही पड़ेगा।

पण्डिताइन ने भागवत लाकर दे दिया और पण्डितजी उसे काँख में दबाकर नगर प्रदक्षिणा के लिए निकल पड़े। उन के मुहल्ले से मील भर की दूरी पर ही धनिक सेठों की एक अच्छी बस्ती थी। जब तब ये वहाँ जाया करते और यथालाभसंतोष के भाव से वहाँ के लोगों पर अपना प्रभाव डालने की कोशिश करते रहते। लेकिन जब तक वास्तविकता नहीं आती तब तक केवल भाव दिखलाने से काम नहीं चला करता। इस लिए अधिकतर विचारे को कोरा ही लौट आना पड़ता। किंतु इस बार उन्होंने भागवत की पोथी उठाते हुए एक प्रकार से निश्चय सा कर लिया था कि अब की दफे बिना कुछ विशेष लाभ उठाये घर नहीं लौटूँगा और इसी लिए अपनी पत्नी को उन्होंने समझा भी दिया था कि अड़ोस पड़ोस से उधार बाढ़ी लेकर दो चार दिन काम चलाना, क्योंकि संभवतः इस बार मेरे लौटने में कुछ विलम्ब लग सकता है। और इसी निश्चय के अनुसार योग्य पात्र की खोज करते हुए वे धीरे धीरे सेठों के मुहल्ले में भ्रमण भी कर रहे थे। अन्त में जब मुहल्ले का दूसरा छोर भी समाप्त होने पर आ गया और उन की धारणा के अनुसार कोई ऐसा सत्पात्र नहीं दिखलाई पड़ा जिसे प्रेरित करके कथाश्रवण के लिए तैयार कर सकें, तो उन्हें पात्रापात्र का विचार छोड़ देना पड़ा और तब उन्होंने यही स्थिर किया अब जो कोई भी बनिया सामने पड़ जायगा उसी से कथा सुनने का आग्रह करूँगा। ऐसा सोचने पर वे दस कदम भी न गये होंगे कि एक वृद्ध वणिक्

जो गाँव भर में सब से बड़ा सूम प्रसिद्ध था, लाठी टेकता, मन्द गति से आता दिखलाई पड़ा। पण्डितजी ने अपना माथा ठोंका कि कहाँ से कहाँ मैं ने मन में (उपर्युक्त) निश्चय किया। पर अब क्या निकला हुआ तीर भी वापस आ सकता है? अब तो इसी को कथा सुनने के लिए प्रेरणा करनी ही पड़ेगी, भले ही यह एक धेला भी दक्षिणा न देना चाहे। पण्डितजी ने कहा—आशीर्वाद है सेठजी! कहिए, किधर श्रीमान् की सवारी जा रही है?

सेठ ने कहा—नहीं महाराज, सवारी का नाम मत लीजिए। मैं पैदल चलने का *खासा अभ्यास रखता हूँ और इस बुढ़ाई की हालत में भी बड़े बड़े जवान अमीरजादों को सौ* बार पछाड़ सकता हूँ। सो कृपा करके मेरे सामने अब कभी सवारी सिकारी का नाम *मत लीजिएगा। नहीं, तो कौन जाने, नाम सुनने से ही आदत कहीं न बिगड़ने लगे।*

पण्डितजी ने मन में सोचा—जिस कृपण को नाममात्र से खर्चा हो जाने का भय लगा हुआ है, और वह भी अपने आराम की चीज सवारी के नाम पर, ऐसा व्यक्ति भला भगवान् के नाम पर कहाँ तक खर्च बरदाश्त कर सकता है? फिर भी उन्होंने प्रसंग लाने के विचार से कुछ न कुछ कहना ही निश्चित किया और कहा—अच्छा, अब ऐसी भूल नहीं होने पायेगी। कृपाकर यही बतलाइए कि किधर जाना हो रहा है?

सेठ ने कहा—हाँ, इस ढंग से पूछने में कोई हानि नहीं है, न इस का उत्तर देने में कोई बहाना है। मैं एक असामी के यहाँ तगादा करने जा रहा था। खैर, आप इतने सबेरे यह बोझ भर पोथी लादे कहाँ जा रहे हैं, सो तो कहिए?

पण्डितजी ने कहा—मैं किसी खास लक्ष्य पर नहीं जा रहा था। आज यही विचार करके घर से निकला हूँ कि कोई भक्त मिल जाय, तो कुछ दिन भागवत की कथा सुनाऊँ। सौभाग्य से आप से ही पहले मुलाकात हो गई है।

सेठ ने कहा—यह आप ने अच्छी युक्ति पेश की। भला यह तो बतलाइए कि कथा सुनने से होता क्या है जिस के ख्याल से मैं आप से कथा सुनूँ?

पण्डितजी ने कहा—हरे, हरे, अभी आप को यह भी नहीं मालूम है कि भागवतश्रवण से कितना बड़ा लाभ होता है? यह भगवान् के दिव्य चरित्रों का भाण्डार भागवत वक्ता और श्रोता दोनों को धन, यश, स्त्री, पुत्र, सुख, सौभाग्य सब कुछ प्रदान करनेवाला परम पवित्र पुराण है। इस की कथा सुनने से क्या नहीं होता, यह पूछना एक हद तक उचित भी हो सकता है, 'क्या होता है' यह तो पूछना ही नहीं चाहिए।

सेठ ने कहा—पण्डितजी, यहाँ ऐसा अन्धविश्वासी मत समझ लीजिए कि खाली भूमिका की लंबाई चौड़ाई से ही आप का जादू चल जायगा। मैं पूछता हूँ कि अगर आप की *कथा में इतना सामर्थ्य भरा हुआ है, तो आप इस तरह तगादा कर कर लोगों को कथा सुनाने*

के लिए व्यग्र से क्यों घूमा करते हैं? अपनी कथा के प्रभाव से तो आप को मुझ से भी ज्यादा धनी हो जाना चाहिए था। इस लिए ज्यादा डींग हाँकना और लोगों को उल्लू बना कर अपना उल्लू सीधा करना छोड़कर सीधे यही कहिए कि कथा सुनने से दक्षिणा देनी पड़ती है और सुनानेवाले का पेट गर्म होता है।

सेठ का उत्तर सुनकर पण्डितजी दंग रह गये। उन्हें स्वप्न में भी ऐसा ख्याल नहीं था कि सेठ इतना कटु व्यङ्ग्य करेगा। बिचारे एकदम स्तब्ध और लज्जित हो गये, इतना ही नहीं, बल्कि सेठ की बात उन के हृदय में लग गई। आज तक के जीवन में उन्हें बड़े बड़े नास्तिकों और शास्त्रपुराणनिन्दकों से पाला पड़ चुका था, पर इतना कठोर प्रहार किसी ने नहीं किया था। उन की आँखें भरभरा आईं। गला रुँध गया और दुःखोच्छ्वास से हृदय विकल हो उठा। किंतु इस का प्रतीकार ही क्या था। बिचारे चुपचाप खड़े रह गये। कुछ देर सेठ भी खड़ा खड़ा शायद उत्तर की प्रतीक्षा और प्रत्युत्तर की तैयारी करता रहा, पर जब पण्डितजी बिलकुल ही नहीं बोले, तो वह अपने रास्ते चला गया। बाद में पण्डितजी ने भी किसी प्रकार अपने हृदय को हल्का बनाया और निश्चय किया कि यदि सच्चा ब्राह्मण होऊँगा, तो आज से परमात्मा को छोड़कर और किसी का कभी भरोसा नहीं करने जाऊँगा, कोई संसार भर का एकच्छत्र राज्य भी देना चाहेगा और बदले में कथा सुनाने के लिए कहेगा, तो भी मैं मनुष्य को अपनी कथा कदापि नहीं सुनाऊँगा। आज से मैं भगवान् को ही एकमात्र दाता और श्रोता मानकर उन की किसी भी प्रतिमा के आगे पारायण करता रहूँगा और उन की कृपा से जब जो कुछ मिल जायगा उसी में संतोष धारण करूँगा। इस प्रकार संकल्प करके पण्डितजी पास के एक राममन्दिर में चले गये और कुशासन बिछाकर कथा कहने बैठ गये। दिन भर वे एकान्त भक्ति धारण करके भगवान् की कथा सुनाते रहे। जब संध्या हो गई, तो वहीं एक किनारे पड़ रहे। सारा दिन उन्होंने निर्जल व्यतीत किया था, फिर भी उन को भूख प्यास से किसी तरह की विकलता नहीं मालूम हो रही थी और प्रसन्नचित्त से वे भगवान् को स्मरण करते हुए निद्रा लाने का प्रयत्न करते रहे। प्रभुकृपा से निद्रा आने में विलम्ब नहीं लगा। वे सुखपूर्वक सो गये और स्वप्न में भी भगवान् का दर्शनसुख लूटते रहे। प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत्त हो, फिर वे पारायण में लीन हो गये और दिन भर निराहार रहकर भगवान् को भागवत सुनाते रह गये। आज उन्हें तीसरा दिन था कि अन्न से भेंट नहीं हुई थी, क्योंकि एक दिन पहले से ही उन के घर में अन्न का अभाव हो चुका था, किंतु इतने पर भी पण्डितजी की पण्डिताई (ज्ञान) में बाधा नहीं पड़ने पाई, वे शान्ति के साथ भगवान् को स्मरण करते हुए पड़े रहे। उन के मन में यह दृढ़ निश्चय हो चुका था कि भगवान् जब जिस वस्तु के देने की आवश्यकता समझेंगे तब वह वस्तु अवश्य मेरे पास आ जायगी

और जब तक उन की इच्छा नहीं होगी तब तक मैं कितना भी भूख भूख चिल्लाऊँगा, तो भी एक दाना मिलना असंभव है। अन्त में निद्रा आ गई और दूसरे दिन भी बिना खाये पिये पण्डितजी को रह जाना पड़ा। तीसरे दिन नींद खुलने पर उन्हें शरीर में कुछ कुछ शिथिलता सी प्रतीत हुई, पर उन के उत्साह में जरा भी कमी नहीं आने पाई थी। वे नित्यक्रिया आदि करके आनन्द सहित पाठ करने बैठ गये।

राममन्दिर के पुजारी लोग ही कई पीढ़ियों से उस मन्दिर पर अधिकार रखते थे। गाँव के ठाकुर ने आज से कई सौ वर्ष पहले मन्दिर बनवाकर भोग राग के लिए थोड़ी सी जायदाद मन्दिर के नाम लगा दी थी और अपने पुरोहित को लिखित अधिकार दे दिया था कि जब तक इन का वंश रहे तब तक उसी के हाथ में सब व्यवस्थाभार बना रहे। इस प्रकार पुजारी लोगों को ही इस बात का पूरा अख्तियार मिला हुआ था कि चाहे जिस को मन्दिर में जाने दें, रहने दें अथवा दर्शन पूजा करने दें, चाहे जिस को निकाल बाहर कर दें। वर्तमान पुजारीजी का स्वभाव कुछ अच्छा था, इसी लिए उन्होंने दो दिन कोई आपत्ति नहीं की और पण्डितजी खुशी से वहाँ बसते हुए भागवतकथा भगवान् को सुनाते रहे। परंतु तीसरे दिन जब पुजारीजी को पण्डितजी की आवाज अपेक्षाकृत बहुत धीमी मालूम पड़ी और कारण पूछने पर पण्डितजी ने सत्य सत्य सब हाल बतला दिया, तो उन्हें यह शक पैदा हो गया कि कदाचित् यह ब्राह्मण किसी पर क्रोध करके अनशन द्वारा प्राण तो नहीं त्यागना चाहता है? यदि ऐसा हुआ तब तो बड़ा भारी उपद्रव खड़ा हो जायगा और व्यर्थ के झमेले में मुझे भी घसीटना पड़ जायगा। इस लिए बेहतर यही है कि इसे अभी यहाँ से दूर कर दिया जाय। बस, उस ने उसी समय पण्डितजी को फटकार बतलाई कि यहाँ से अपना आसन डासन लेकर तुरंत रवाना होइए। पण्डितजी ने इधर दो दिनों में तितिक्षा का अच्छा अभ्यास कर लिया था। उस पर आस्था तो उन को पहले से ही थी, सेठ के व्यङ्ग्य से अन्तर्मर्मों में स्पन्दन होकर उस में और अधिक विश्वास जम गया था। गर्ज यह कि पुजारी की फटकार से उन के मन में तिल भर भी राग द्वेषमय विकार नहीं उठा, वे उसी समय शान्तिपूर्वक वहाँ से चले गये और बाहर मैदान में स्थापित एक प्राचीन हनुमान्जी की मूर्ति के सामने बैठकर अपनी कथा चालू कर दी। संयोग की बात कहो या प्रभु की कृपा कहो; उस दिन मङ्गलवार था और बहुत बहुत दूर के लोग अपनी अपनी मनौती मनौती के अनुसार हनुमान्जी को यथाशक्ति गुड़, चना, नारियल, लड्डू, बताशा आदि भेंट चढ़ाने आये हुए थे। उन लोगों ने एक साधुप्रकृति ब्राह्मण को बिना इधर उधर दृष्टिक्षेप किये एकाग्रभाव से हनुमान्जी के सामने भागवत की कथा कहते देखा, तो उन के हृदयों में अपने आप उस ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा उमड़ने लगी और सब लोगों ने प्रेम सहित बैठकर घंटों कथा सुनी। बाद में जब वहाँ से वे जाने

तो कोई एक, कोई दो, कोई चार—इस क्रम से पण्डितजी के सामने लड्डू बतासा रखते गये। यद्यपि पण्डितजी तीन दिन के भूखे थे और बड़े परिश्रम से एक एक शब्द उन के मुँह से बाहर निकलता था, तथापि उन्होंने लड्डू पाकर नियमभङ्ग नहीं किया। उन का नियम था कि जब तक दिन भर का नियत पाठ समाप्त नहीं हो जायगा तब तक अन्न जल नहीं ग्रहण करूँगा। सो भूख और प्यास से व्यथित रहकर भी उन्होंने सामने के लड्डुओं पर तभी हाथ लगाया जब उस दिन का पारायण समाप्त हो गया। लड्डू खाकर एक लोटा जल पीने पर आज उन्हें बड़ा ही आनन्द मालूम हुआ, ऐसी आनन्दानुभूति उन की जिंदगी भर में कभी नहीं हुई थी। उन्होंने हनुमान्जी के पैरों पर बार बार सिर रखा और हृदय से कृतज्ञता प्रकाशित की कि हे प्रभो, तुम्हारी महिमा अपरंपार है। जब तुम्हें मालूम हो गया कि अब भोजन न मिलने से संभवतः इस ब्राह्मण के पाठ में विघ्न पड़ सकता है तब तुरंत भोजन भेज दिया। अच्छा, भगवन्, आज मेरा चित्त अपने पुत्र को बिना लड्डू दिये शान्त नहीं होना चाहता है। इस लिए आप से मैं कुछ देर के वास्ते अपने घर जाने की आज्ञा माँगता हूँ। इस में यदि किसी तरह के अपराध की संभावना हो, तब तो आज्ञा मत दीजिए और नहीं, तो मेरे हृदय में ऐसी भावना जा दीजिए कि मैं निर्भय होकर घर से जा आऊँ।

जिन के मन में देवता की शक्ति का विश्वास जम जाता है उन के लिए यह मानी हुई बात है कि इच्छा करने पर उन्हें अपने प्रत्येक व्यापार में देवता की ओर से अनुमति अथवा अरुचिसूचक संकेत का आभास मिल जाता है। पण्डितजी को भी उसी समय ऐसा जान पड़ा, मानों हनुमान्जी स्पष्ट ही कह रहे हैं कि हे ब्राह्मण, तुम सहर्ष अपने घर जा सकते हो, किंतु वहाँ पर रात मत बिताना; उन को देखकर और मेरा प्रसाद देकर तुरंत यहीं लौट आना। इस आभास के मिलते ही पण्डित अपने घर ले जाकर लड्डू की गठरी रख आये। उन्होंने यह विचार एक बार भी नहीं किया कि मङ्गल तो अब आठ दिन बाद पड़ेगा, और हनुमान्जी को प्रसाद उसी दिन चढ़ाने की भारतीय प्रथा है; फिर इन बीच के दिनों में मैं पुनः उपवास ही करूँगा या क्या होगा। यही विश्वास की-आत्मनिर्भरता की—पराकाष्ठा कहलाती है। पण्डितजी के मन में अब यह भावना और अधिक बद्धमूल हो गई थी कि परमात्मा को मेरा भोजन करना जब आवश्यक मालूम होगा उसी समय वे भोजन भेज देंगे। बात बिलकुल सही थी। दूसरे दिन बुधवार होते हुए भी हनुमान्जी के दर्शनार्थियों का ताँता दिन भर लगा रहा और गत दिन की अपेक्षा भोग राग भी अधिक ही चढ़ा होगा। यह विचित्रता देखकर पण्डितजी का हृदय भक्ति से ओतप्रोत हो गया, तो कोई आश्चर्य नहीं है; बल्कि आश्चर्य यह है कि राममन्दिर का पुजारी जिस ने उन्हें आत्मघाती जानकर मन्दिर से भगा दिया था, वह भी अपने हृदय में भक्ति का अनुभव करने लगा। इस लिए उस ने पण्डितजी से बार बार

क्षमा माँगी और बहुत प्रार्थना की कि आप फिर से राममन्दिर में चलकर रहें और मुझे अपने पाप का प्रायश्चित्त करने का अवसर दें। मैं तब तक नियमित रूप से प्रतिदिन अपने घर से पक्वान्न बनवाकर लाऊँगा और आप को भोजन कराऊँगा जब तक आप स्वयं यहाँ से जाना न चाहेंगे, और भी जो सेवा आप ग्रहण करेंगे उस के लिए मैं प्रतिक्षण तत्पर रहूँगा।

पण्डितजी ने कहा—नहीं, नहीं, पुजारीजी, आप अपने मन में बिलकुल दुःख न मानें। मुझे आप के प्रति किसी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं है। और मुझे तो स्मरण भी नहीं था कि आप ने कभी मेरा अपकार किया था। इस लिए आप अपने को उदासीन न होने दें। क्षमा आदि की तो इस में कोई चर्चा ही नहीं है, क्योंकि अपराध का अस्तित्व ही क्षमा की आवश्यकता उत्पन्न करता है। और मेरी यह प्रार्थना भी आप को अवश्य स्वीकार करनी होगी कि आप अब यहाँ से मुझे कहीं जाने आने की अनुमति न दें। यहाँ आकर मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ, और अब तो बाह्य दृष्टि से भी पर्याप्त सुख मिलने लगा है।

इस प्रकार पुजारीजी को विदा करके पण्डितजी अपने पाठ में जा लगे और नित्य नियम से समाप्ति तक निर्विघ्न पाठ करते रहे। जिस दिन कथा की समाप्ति का दिन था उस दिन एकाएक भगवान् की कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि उस सूम सेठ के मन में पण्डितजी के पास जाकर यह देखने की इच्छा हुई कि पुस्तक पर क्या दक्षिणा चढ़ी है। उसे यह तो पहले से ही मालूम था कि पण्डितजी नवाह (नौ दिनों में समाप्त होनेवाली) कथा कह रहे हैं और वह दिन आज ही है, यही अकस्मात् उसे स्मरण हो आया। वह सीधे वहाँ जा पहुँचा और हनुमान्‌जी की मूर्ति के पीछे छिपकर देखने लगा, क्योंकि अपने उस दिन के अनुचित व्यङ्ग्य पर उसे स्वयं लज्जा मालूम हो रही थी और सामने जाने में वह हिचकता था। किंतु उसे यह देखकर कुछ कुछ संतोष होने लगा कि अब संध्या होने में देर नहीं रह गई है, तो भी अब तक एक पैसा भी किसी ने नहीं चढ़ाया है। इस लिए मैं ने जो व्यङ्ग्य किया था वह कुछ ज्यादा अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसी बीच में उस के कानों में कहीं से दो आदमियों के बातचीत करने की भनक मालूम हुई। वह ध्यान देकर उस आवाज को सुनने की कोशिश करने लगा। पहले तो कुछ स्पष्ट नहीं मालूम हुआ, पर थोड़ी देर में ध्वनि स्पष्ट आने लगी। उस ने सुना कि कोई हनुमान्‌जी को सम्बोधित कर कह रहा है—महावीर, तुम तो देख ही रहे हो कि यह ब्राह्मण मेरा कैसा सच्चा भक्त है? इस ने क्षुधा, पिपासा, मान, अपमान आदि सब कष्टों को भूलकर कथा सुनाई है। इस लिए मैं चाहता हूँ कि इसे तुम कम से कम एक हजार रुपया अवश्य दिलवाओ।

इस पर हनुमान्‌जी ने उत्तर दिया—प्रभो, आप की आज्ञा का मैं कल अवश्य पालन करूँगा, कल सायंकाल तक इसे एक हजार रुपया दिलवा दूँगा। साथ ही नाथ की और भी जो आज्ञा हो वह मैं इस के घर पर पहुँचा देने के लिए तैयार हूँ।

प्रभु ने गद्गद होकर कहा—हनुमान, तुम सचमुच बड़े दयालु हो, मैं अपना ही स्वार्थ देखता रह गया था—इस ने मुझे कथा सुनाई थी, इस लिए इसी तक मेरा ध्यान सीमित रह गया था, जिस भक्त ने इस ब्राह्मण की पत्नी होकर भी (अपने खाने पहनने के लिए) कथा के मध्य में आकर कभी इस की चिन्ता में भगवच्चर्चा के स्थान पर अपना गृहप्रबन्ध डालकर विक्षेप नहीं किया उस की ओर मेरा ध्यान नहीं जा सका था; तुम्हीं ने उस की स्तुति की। मैं तुम्हारी इस परोपकारबुद्धि से बड़ा प्रसन्न हूँ। अस्तु; इस ब्राह्मण को एक सहस्र मुद्रा और इस की स्त्री को उतने ही अदाज का अन्न वस्त्र दे देने से दोनों प्रसन्न हो जायेंगे। आगे तुम्हारी स्वय जैसी इच्छा हो वह करने में पूर्ण स्वतन्त्र हो।

इस के बाद बातचीत की आवाज बद हो गई, तो सेठ सोचने लगा कि अवश्य ही इन दोनों (बात करनेवालों) में एक भगवान् रामचन्द्र थे और दूसरे उन के दूत हनुमान्जी। इस लिए इस में सदेह नहीं कि कल इस कथावाचक को एक हजार नगद मिलेंगे ही। पर उसे ये बातें मालूम नहीं हैं और जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह अब तक एक पैसा भी न पा सकने की वजह से अब बिलकुल निराश भी हो चुका होगा—आगे कुछ मिलेगा, ऐसी आशा उसे अब हर्गिज नहीं होगी। इस लिए कोई ऐसी युक्ति निकालनी चाहिए कि कल मिलनेवाले हजार रुपयों में उसे ज्यादा से ज्यादा पाँच सौ ही मिले और बाकी पाँच सौ मैं पा जाऊँ।

अब सेठ वहाँ से उठकर पण्डितजी के सामने जा पहुँचा और लंबी दण्डवत् करने के बाद एक तरफ बैठता हुआ बोला—कहिए पण्डितजी, आज तो आप की कथा समाप्त हो रही है न? कितना धन और पुण्य आप ने प्राप्त किया?

पण्डितजी ने कहा—सेठजी, धन कोई चीज नहीं है यदि मन में सतोष रहे। यद्यपि आज कथा समाप्त हो रही है और अभी तक एक पाई भी दक्षिणा नहीं मिली है, फिर भी इस के लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं है। कल पूर्णाहुति होगी। यदि परमात्मा को देना होगा तो कल ही वे इतना दे सकते हैं जितने की मैं या आप कल्पना भी नहीं कर सकते। और न भी दें, कोई उलाहना नहीं है। रही पुण्य की बात। सो वह तो जिस ढग की तल्लीनता से मैंने कथा कही होगी उस हिसाब से अवश्य ही मुझे प्राप्त हो चुका होगा। वह कोई स्थूल पदार्थ तो है नहीं कि मैं जोड़ बाकी लगाकर आप को बतला दूँ कि कितना पुण्य मुझे मिला।

सेठ ने कहा—आप बड़े धीर पुरुष मालूम होते हैं। मैं उस दिन की कहासुनी के लिए आप से माफी चाहता हूँ। साथ ही मेरी यह भी इच्छा है कि कल चढ़ोतरी (दक्षिणाद्रव्य) के बारे में मैं आप के साथ ठीका कर लूँ। यदि आप को कोई आपत्ति न हो, तो मैं पाँच सौ रुपये कल सवेरे ही आप को दे जाऊँगा और शाम तक जो कुछ पुस्तक पर चढ़ेगा वह चाहे पाँच कौड़ी हो, चाहे पाँचहजार, सब मैं ले जाऊँगा। कहिए, क्या मर्जी है?

पण्डितजी ने कहा—मैं ने तो अपनी मर्ज़ी पहले ही आप पर प्रकट कर दी। मुझे वस्तुतः प्राप्ति अप्राप्ति की एक दम पर्वाह नहीं है। आप की कृपा से मैं ने प्रारम्भ से ही भगवन्निमित्त भागवतपारायण किया है। इस लिए आप की जो इच्छा हो उसे सफल बनाइए, मुझे किसी बात में आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि आप ने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है।

सेठ ने पण्डितजी की सरलता पर उन्हें मन ही मन महा मूर्ख समझा और प्रसन्न होकर नाना प्रकार से धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया। दूसरे दिन सवेरा होते ही उस ने पाँच सौ रुपयों की एक थैली नौकर के सिर पर रखी और पण्डितजी के सामने लाकर रखते हुए कहा—पण्डितजी, इस थैली में पाँच सौ रुपये हैं, गिनकर सँभाल लीजिए और मुझे यह अधिकार देकर कृतार्थ कीजिए कि आज जो कुछ भी यहाँ चढ़े वह मैं उठा सकूँ। साथ साथ इतनी कृपा और कीजिएगा कि जब तक अँधेरा न हो जाय तब तक यहाँ से व्यास गद्दी न उठाइएगा, क्योंकि मैं अपने भाग्य को आप की सहायता से आजमा लेना चाहता हूँ।

पण्डितजी ने कहा—इस के लिए आप को प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है, संध्या तो यों ही हो जायगी।

निदान, सेठ एक हज़ार पाने की आशा लगाये एक दम मौनभाव से पुस्तक के सामने बैठ रहा। सुबह की कोमल धूप निकल गई और उस के स्थान पर दोपहर की प्रखर और प्रचण्ड किरणों का साम्राज्य संसार को संतप्त करने लगा। महीना था तो श्रावण का, पर धूप इस बात के लिए जीवमात्र को विवश कर रही थी कि सब कोई ज्येष्ठ की दुपहरी के साथ उस की समानता दें और उन्हीं दिनों की तरह एक पहर के लिए सब काम काज बंद करके कहीं तरी (ठंडी जगह) की तलाश करें और नींद की मस्ती लें। बात नाजायज नहीं थी; वास्तव में जिन्हें फुर्सत थी, किसी कार्यविशेष का सिर पर तगादा नहीं था वे वैसा ही कर रहे थे, लेकिन सब लोगों को उतना अवकाश भला कहाँ से मिल सकता था? जब कि खास ज्येष्ठ में भी कामकाजी आदमी आराम की फिक्र नहीं रखते और भयंकर लू के थपेड़ों की चोट को बिलकुल नगण्य समझकर अपने काम में शिथिलता का समावेश नहीं होने देते हैं, तो यह तो सचमुच ही सावन था—भले ही बादल आकाश से असहयोग किये रहें और हवा गैस का मुकाबला करती रहे। सेठजी भी ऐसे ही लोगों में से थे। उन्हें प्रकृति की कठोरता अथवा कोमलता से कोई सरोकार नहीं था, उन्हें तो एकमात्र यह धुन लगी हुई थी कि जल्द से जल्द हनुमान्‌जी अपने उस वादे को पूरा करें जो उन्होंने कल भगवान् रामचन्द्र से मेरे सामने ही किया था। परंतु उन की जल्दीबाजी का ध्यान कदाचित हनुमान्‌जी को नहीं था; क्योंकि अब दोपहरी भी धीरे धीरे ढल चली, चारों ओर फिर चिड़ियों की चहचहाहट और बच्चों का कलरव प्रकृतिपर्यवेक्षकों का आनन्द बढ़ाने लगा और तब भी कोई दक्षिणा

देनेवाला कथामण्डप में नहीं आया। सेठजी के मन में एक बार संदेह हुआ कि हनुमान्‌जी ने यों ही कह दिया था क्या कि कल एक हजार रुपये इस भक्त कथावाचक को जरूर दिलवाऊँगा ? लेकिन नहीं; देवता लोग झूठ नहीं बोल सकते। अभी दिन बहुत बाकी है। हनुमान्‌जी किसी को अवश्य भेजेंगे, मैं व्यर्थ ही घबडा रहा हूँ।

इसी प्रकार सोचते विचारते, विश्वास अविश्वास की दोहरी चपेट में पड़ते पड़ते आखिर में बिल्कुल ही शाम हो गई। हवन समाप्त हो गया, सब भक्तमण्डली क्रमशः उठ उठकर अपने अपने घर जाने लगी, सब तरफ सन्नाटा फैलने और अन्धकार छाने लगा, किंतु हनुमान्‌जी का कोई चर या स्वयं हनुमान्‌जी—कोई भी एक हजार चढ़ोत्तरी का द्रव्य लेकर नहीं आया। और कहाँ तक कहा जाय, सैकड़ों श्रोता जो अब यहाँ से चले भी गये थे, उन में से भी किसी ने कुछ नहीं चढ़ाया। सेठजी का माथा ठनका—अयँ! बात क्या है ? क्या मेरे पाँच सौ रुपये यों ही निकल जायेंगे ? हनुमान्‌जी और रामजी ने सिर्फ मुझे सुनाने के लिए ही यह जाल रचा था क्या ? अथवा मेरे सुनने में ही भूल हुई थी ? नहीं, यह बात नहीं है। अवश्य हनुमान्‌जी ने मेरे साथ दिल्लगी की है। उफ, बडा भारी झूठ बोलनेवाला देवता तब तो यह है। हाय, इस ने बड़ा धोखा दिया। अब रात को भला कौन यहाँ आयेगा ? आह; मेरी कितनी मेहनत के रुपये !!

सेठ की आँखें भर आईं। उस ने हनुमान् की मूर्ति की ओर निराश होकर देखा और उन्हें देखते ही उस के भावों में क्रोध का संचार हो आया। वह अपने स्थान पर से उठकर वेग सहित मूर्ति के पास गया और खींचकर उसे एक लात जमाते हुए उस ने कहा—क्यों रे हनुमान् के पुतले, तूँ ने मुझे ही ठगने के लिए आज तक यहाँ अड्डा जमा रखा था ? अब मैं तेरी मूर्ति के टुकड़े टुकड़े करवाके तब दम लूँगा। लेकिन यह तो बड़ा गड़बड़ हुआ। अब मेरा पैर क्यों नहीं छूटता ? मूर्ति के साथ यह चिपक कैसे गया ? मूर्ति में कोई लासा भी तो नहीं लगा मालूम होता। और लगा भी होता, तो क्या लासा में इतनी चिपकन होती कि यह पैर ही न छोड़ने दे ? नहीं, यह गलत बात है।

सेठ ने बहुत कोशिश, बहुत खींचातानी की कि पैर छूट जाय, पर छूटना तो दूर रहा, वह जरा सा टस से मस भी नहीं हो सका। अब सेठजी की आँखें खुलीं। मालूम हो गया कि इस में कोई दैवी शक्ति—हनुमान्‌जी की महिमा काम कर रही है और बिना उन की मर्जी के पैर छूटना असंभव है। तब उपाय क्या है कि उन की मर्जी के मुताबिक हो ? हाय, उपाय तो मालूम ही नहीं है। जन्म भर भक्तों और भलाई से दूर रहा। किसी भिक्षुक को मुट्ठी भर जौ तक नहीं दिया। साधु संत की सूरत देखकर चिढ़ आती थी। सत्संग का और उस के द्वारा भगवान् को, भगवान् के भक्तों को जानने का मौका मिले तो कैसे मिले ?

१—भागवत लेकर पण्डितजी का प्रस्थान करना,

२—हनुमान्‌जी को कथा सुनाना,

૧-પંડિતજીનું ભાગવત લઈને જવું.

૩—હનુમાનજીની મૂર્તિમાં પંડિતજીનો પગ ચોંટી ૦

૨-હનુમાનજીને કથા સંભળાવવી.

૪-દક્ષિણા આપવાથી પગ છૂટવો.
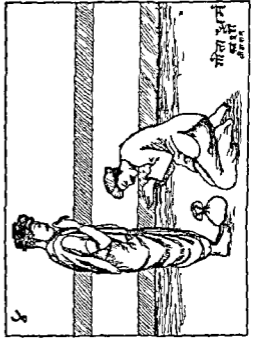
—[illegible] की पूर्ति करने पर पैर छूटना।

इस लिए पण्डितजी की सहायता लेनी पड़ेगी। उन के कहने से हनुमान्जी मुझे जरूर क्षमा कर देंगे। सेठजी ने जोर से आवाज लगाई, पण्डितजी महाराज!

पण्डितजी स्वयं सोच में पड़े हुए थे कि सेठजी कहाँ चले गये। वे कपटी और धूर्त नहीं थे। दूसरा कोई होता, तो अब तक न मालूम कितने योजन पार कर चुका होता। पर वे विचारे सोच रहे थे कि कथा की पूर्णाहुति हो गई। एक पैसा भी नगद नहीं मिला। सामान (वस्त्र, आभूषण, अन्न इत्यादि) सब मिलाकर अवश्य एक हजार से कम का नहीं है, किंतु उस के लिए तो श्रीमतीजी का दावा दाखिल हो चुका है। उन का कहना है—हनुमान्जी ने स्वप्न में मुझ से कहा है कि कथा में जितना गहना कपड़ा चढ़ेगा वह सब तुम्हारे लिए है। इस लिए सेठजी का रुपया अवश्य लौटा देना चाहिए। इतने में सठजी की पुकार सुनाई पड़ी। वे रुपयों की गठरी लिए हुए दौड़कर सेठजी के पास पहुँचे। इन्हें देखते ही सेठजी ने रोकर कहा—महाराज, आप के पैर पड़ता हूँ। कृपाकर मेरा बन्धन छुड़ाइए।

पण्डितजी ने पूछा—ऐसा हुआ क्यों, यह तो कहिए! आप ने हनुमान्जी को पैर से स्पर्श क्यों किया?

सेठजी ने कहा—मैं बड़ा पापी हूँ। मैं ने स्पर्श ही नहीं किया है, अपनी शक्ति भर खींचकर लात मारी है। इन्होंने कहा था कि आज आप की कथा पर हजार रुपया चढ़ेगा और चढ़ा एक पैसा भी नहीं। इसी पर मुझे क्रोध आ गया। सेठजी सब वृतान्त सुना गये।

पण्डितजी ने कहा—आप ने बड़ा भारी अपराध किया है। हनुमान्जी भगवान् के प्रधान भक्तों में हैं। और भगवान् को भक्त ही सब से अधिक प्रिय हैं। वे अपने प्रति किया गया दुर्व्यवहार भले ही सह लें, पर भक्त का अपमान इन्हें कभी नहीं सह्य होता। इस लिए आप हृदय से हनुमान्जी की प्रार्थना कीजिए, तभी वे प्रसन्न हो सकते हैं। आप ने अपराध किया है, आप को ही क्षमायाचना करनी पड़ेगी। मेरा कहना उचित नहीं होगा।

सेठजी को बड़ा कष्ट हो रहा था। मन एकाग्र करना साधारण काम नहीं है, लेकिन दुःख पड़ने पर देखा जाता है कि पापियों का भी मन स्थिर होकर भगवान् भगवान् (या हनुमान्जी हनुमान्जी) करने लगता है। तदनुसार सेठजी भी आँखें मूंदकर प्रार्थना में लीन हो गये। अन्त में हनुमान्जी ने प्रकट होकर कहा—सेठजी, भगवान् का दर्बार बाजार नहीं है। तुम्हारी यह धारणा बड़ी भ्रमपूर्ण है कि पण्डित पुजारी, पण्डे मुण्डे देवता के बहाने अपना पेट पालने का व्यापार करते हैं। इसे भूल जाना होगा। हृदय में साधु ब्राह्मण, देवता ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखना होगा। यदि सचाई के साथ, शुद्ध चित्त से इस की प्रतिज्ञा करो और मेरे वचन की पूर्ति में चढ़ोत्तरमध्ये जो पाँच सौ की कमी रह गई है उसे अपने घर से मँगवाकर शीघ्र पूरी करो तब तुम जीवित स्वतन्त्र हो सकते हो और नहीं, तो आज रात भर में

इसी पेड़ के द्वारा तुम्हारे शरीर का सब रुधिर मेरी प्रतिमा में आ जायगा और सवेरा होते होते तुम्हारे प्राणपखेरू वायु में विलीन हो जायँगे, इस में संशय मत मानो ।

आखिर सेठजी को अकुला घबड़ाकर बाकी पाँच सौ रुपये भी अपने ही घर से मँगाकर पूरे करने पड़े । और भक्ति की प्रतिज्ञा तो करनी ही पड़ी थी, पर इस में कुछ खर्च न लगने के कारण इन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं मालूम हुई । इन्होंने उस समय शुद्ध चित्त से ही इस के लिए प्रतिज्ञा की, बाद में भले ही भूल गये हों और दूसरा फिर ढोंग रचने की तैयारी कर डाली हो, तो कौन जाने । दाया पाकर जब पण्डितजी ने पञ्चोक्ति दे दी तब सेठजी के पैर छूट गये और खुशी खुशी अपने घर भगे ।

यह भगवान् के भक्त की महिमा है जिस से थोड़ी सी बात, सिर्फ एक हजार रुपयों के लिए इतना ऊधम मचाया और नमकहराम मालिक को मशहूर आस्तिक बनाकर छोड़ा और वह भी केवल नौ दिन श्रद्धा भक्ति सहित भगवान् की भागवत सुनाने मात्र से । फिर कौन मूर्ख नहीं स्वीकार करना चाहेगा कि जीवनपर्यन्त जो अगाध श्रद्धा और अटल विश्वास सहित यदि परमात्मा का भजन किया जाय, अनन्यभाव से भगवान् की भक्तिभावना को हृदय में धारण किया जाय और तदनुसार ही जीवन के सारे व्यापार हों, तो भगवान् के कथनानुसार ऐसा करनेवाले योगी भक्त के लिए उस दिव्य और परम धाम की प्राप्ति कोई बड़ी बात नहीं है । निश्चय ही सच्चे ईश्वरप्रेमी भक्त को भगवान् के धाम में जाने और तन्मय हो जाने का जन्मसिद्ध अधिकार हो जाता है । एक भेदी का भक्त अपनी एकमात्र अनन्य भगवद्भक्ति के द्वारा ही भगवान् को इस प्रकार से वश में कर लेता है और ऐसी उत्तम गति तथा इतना ऊँचा स्थान प्राप्त करता है जो जीवन भर वेद पढ़ने, बड़े बड़े अग्नि होत्रादि तथा रुद्र और विष्णु यज्ञादि करने, कठोर से कठोर तप का साधन कर शरीर सुखा डालने और सारे विश्व की विभूति दान में लुटा देने से भी नहीं मिल सकता ।

नवम अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्री भगवान् बोले—तुझ मत्सरहीन दृष्टिवाले के लिए (मैं) यह अतिशय गुप्त विज्ञान सहित ज्ञान कहूँगा जिसे जानकर (तूँ) अशुभ से छूट जायगा।

गी० गौ०—भगवान् ने सातवें अध्याय का प्रारम्भ करते हुए अर्जुन से कहा था कि मैं तुझ से संपूर्ण विज्ञान सहित ज्ञान का विषय कहूँगा, किंतु सातवें अध्याय की समाप्ति करने के समय ब्रह्म, समग्र कर्म, अध्यात्म आदि का ज्ञान रखनेवाले की जो उन्होंने उत्तम गति बतलाई उस पर अर्जुन ने उन विषयों को जानने के लिए सप्त महा प्रश्न (सात बड़ी बड़ी शङ्काएँ) उपस्थित कर दिया। उन्हीं सात प्रश्नों का उत्तर देने में भगवान् को पूरा आठवाँ अध्याय लगा देना पड़ा, फिर भी विज्ञान सहित ज्ञान बतलाने की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी। इस लिए अब इस नवें अध्याय में उसी ज्ञान विज्ञान का विषय समझाने के लिए भगवान् उपक्रम कर रहे हैं और अर्जुन से कहते हैं कि अर्जुन, अब मैं एक अत्यन्त गोपनीय विषय तुझे बतलाऊँगा। यह वही पूर्व प्रतिज्ञात विज्ञान सहित ज्ञान है जिस का ज्ञान कर लेना तेरे लिए परम आवश्यक है, क्योंकि इस गुह्यतम ज्ञान का बड़ा भारी माहात्म्य है, इतना कि इसे केवल जान जाने से ही तूँ अशुभ से अर्थात् दुःखमय संसार के आवागमनरूप भयंकर बन्धन से एकदम छुटकारा पा जायगा। यह गुप्त से भी गुप्त विज्ञान सहित ज्ञान सब से नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट ही है, फिर भी तुझे मैं इस का उपदेश इसी लिए दे देना चाहता हूँ कि तूँ असूयारहित है अर्थात् दूसरों के गुण में भी दोष देखने की बुरी आदत तुझ में नहीं है, न किसी के दोषमात्र पर तेरी दृष्टि रहती है। तात्पर्य यह कि तूँ अति सरल प्रकृति का मेरा भक्त और विज्ञान सहित ज्ञान को जानने का पूर्ण अधिकारी है, अतएव तुझ से मैं वह अत्यन्त छिपाकर रखने योग्य ज्ञान विज्ञान बतलाऊँगा जिस के द्वारा दुःखों से तूँ मुक्त हो जायगा।

इसी पैर के द्वारा तुम्हारे शरीर का सब रुधिर मेरी प्रतिमा में आ जायगा और सबेरा होते होते तुम्हारे प्राणपखेरू वायु में विलीन हो जायेंगे, इस में संशय मत मानो ।

आखिर सेठजी को पछता पछताकर बाकी पाँच सौ रुपये भी अपने ही घर से मँगाकर पूरे करने पड़े । और भक्ति की प्रतिज्ञा तो करनी ही पड़ी थी, पर उस में कुछ खर्च न लगने के कारण उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं मालूम हुई । उन्होंने उस समय शुद्ध चित्त से ही उस के लिए प्रतिज्ञा की, बाद में भले ही भूल गये हों और दुबारा फिर ठोकर खाने की तैयारी कर डाली हो, तो कौन जाने । रुपया पाकर जब पण्डितजी ने धन्योक्ति दे दी तब सेठजी के पैर छूट गये और खुशी खुशी अपने घर भगे ।

यह भगवान् के भक्त की महिमा है जिस ने थोड़ी सी बात, सिर्फ एक हजार रुपयों के लिए इतना ऊधम मचाया और जन्मगत नास्तिक को मजबूरन आस्तिक बनाकर छोड़ा और वह भी केवल नौ दिन श्रद्धा भक्ति सहित भगवान् की भागवत सुनाने मात्र से । फिर कौन मूर्ख नहीं स्वीकार करना चाहेगा कि जीवनपर्यन्त को अगाध श्रद्धा और अटल विश्वास सहित यदि परमात्मा का भजन किया जाय, अनन्यभाव से भगवान् की भक्तिभावना को हृदय में धारण किया जाय और तदनुसार ही जीवन के सारे व्यापार हों , तो भगवान् के कथनानुसार वैसा करनेवाले योगी भक्त के लिए उस दिव्य और परम धाम की प्राप्ति कोई बड़ी बात नहीं है । निश्चय ही सच्चे दृढनिश्चयी भक्त को भगवान् के धाम में जाने और तन्मय हो जाने का जन्मसिद्ध अधिकार हो जाता है । उस श्रेणी का भक्त अपनी एकमात्र अनन्य भगवद्भक्ति के द्वारा ही भगवान् को सब प्रकार से वश में कर लेता है और ऐसी उत्तम गति तथा इतना ऊँचा स्थान प्राप्त करता है जो जीवन भर वेद पढ़ने, बड़े बड़े अग्नि होत्रादि तथा रुद्र और विष्णु यज्ञादि करने, कठोर से कठोर तप का साधन कर शरीर सुखा डालने और सारे विश्व की विभूति दान में लुटा देने से भी नहीं मिल सकता ।

इस लिए भगवान् की यह आशीर्वादमय वाणी पूर्ण सत्य है कि हे अर्जुन, इस अध्याय में कहे गये योगोपदेश को ठीक ठीक जान लेने पर योगी पुरुष वेदों में, यज्ञों में, तपों में, दानों में जो पुण्यफल बतलाये गये हैं उन के पार पहुँच जाता है और उस परम दिव्य स्थान को प्राप्त करता है जहाँ से फिर लौटकर आना नहीं पड़ता ।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास जगद्गुरु महात्मा
श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराजकथित श्री मद्भगवद्गीतागौरव
का अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, जो मनुष्य औरों की बात बात में दोष निकाला करते हैं और अपने दोष की तरफ भूलकर भी नहीं देखना चाहते वे निन्दक, पापी, छिद्रान्वेषी, खल, कपटी आदि आदि अनेक बुरे नामों से संबोधित किये जाते हैं और अच्छे लोग वैसे मनुष्यों से कोई भी भलाई की बात नहीं कहा करते। कारण, वे जानते हैं कि ऐसों से भली बात कहना व्यर्थ है। ऐसे मनुष्य भली बात सुनकर उस में भलाई के बदले बुराई ढूढ़ने के सिवा कोई लाभ नहीं उठा सकते। यह साधारण सी बात के लिए नियम है, फिर कोई महान् विषय तो वैसे निन्दक लोगों से किस तरह कहने का कोई बुद्धिमान् साहस कर सकता है। और यह प्रस्तुत विषय (विज्ञान सहित ज्ञान) तो महान् से भी महान् है, क्योंकि भगवान् इस के बारे में ज़ोर देकर कह रहे हैं कि यह गुह्यतम विषय है। गुह्य का अर्थ है गोपनीय—छिपाने योग्य और तम का अर्थ है अत्यन्त, बहुत, खूब। किसी विषय के विशेषण को तीन भागों में विभक्त किये जाने की अनादि काल से परिपाटी चली आ रही है—१ साधारणतः, २ विशेषतः, ३ विशेषतमतः अर्थात् १ मामूली तौर से, २ अच्छी तरह से और ३ खूब अच्छी तरह से। ये तीनों विशेषण संसार के भले या बुरे सभी प्रकार के व्यवहारों में लागू होते हैं। जैसे—मामूली बुराई, अच्छी तरह की बुराई और अत्यन्त या खूब अच्छी तरह की बुराई, साधारण कार्य, विशेष कार्य, अत्यन्त विशेष कार्य। इसी तरह यहाँ भी कहा जा सकता है कि साधारण रूप से छिपाने योग्य ज्ञान विज्ञान, अच्छी तरह छिपाने योग्य ज्ञान विज्ञान तथा बहुत अच्छी तरह छिपाने योग्य ज्ञान विज्ञान। इन में से आखिरी विशेषण (तम = अत्यन्त) देकर भगवान् जिस विषय की गोपनीयता की चर्चा कर रहे हैं वह कितनी महान् बात होगी यह कहने की जरूरत नहीं है। इस लिए ऐसी बात किस से कहनी चाहिए, यह भी स्पष्ट ही है अर्थात् ऐसी, बात उसी से कही जा सकती है जो हर तरह की बात सुनकर उसे अपने हृदय में ही रखे रहने की प्रकृति रखता हो; यह नहीं कि अभी कोई नई बात मालूम हुई और तुरंत दौड़कर अपने किसी मित्र के यहाँ जा पहुँचे और बिना लाभ का विचार किये सब कचा चिट्ठा खोल बैठे। ऐसा करने से बात का महत्त्व बिलकुल कम हो जाता है, क्योंकि एक के द्वारा दूसरे को और दूसरे के द्वारा तीसरे को उस का पता लग जाता है, फिर अन्त में समाज भर के लोग उसे जान जाते हैं जिस से हानि यह होती है कि समय आने पर जब गम्भीरता सहित कोई उस बात का महत्त्व बतलाना चाहता है, तो सुननेवाला उपेक्षाभाव से कह बैठता है कि इसे तो मैं बहुत दिनों से जानता हूँ, इस में क्या रखा है? यह ज्ञान आप अपने पास रखिए। नतीजा यह होता है कि कार्यकाल में भी उपेक्षाबुद्धि ही बनी रह जाती है और काम बनने के बदले बिगड़कर चौपट हो जाता है जिस से कहनेवाला बदनाम होता है और करनेवाला असंतुष्ट रह जाता है। परंतु अर्जुन में यह दुर्गुण नहीं था।

वह योग्य अधिकारी था। उसे यह भली भाँति मालूम था कि दोष अपने में देखना चाहिए, दूसरों में नहीं। दूसरो का गुण ही देखना चाहिए और वह भी समय पर प्रकट करना चाहिए, न कि अनावश्यक ही जहाँ तहाँ किसी के गुण का ढिंढोरा पीटता फिरे।

इसी लिए भगवान् ने अर्जुन से कहा भी कि हे अर्जुन, तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त से मैं यह अतिशय गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान भली भाँति कहूँगा जिसे जानकर तू अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से मुक्त हो जायगा। अगर अर्जुन में परदोष देखने का अवगुण होता, तो भली भाँति तो क्या, बुरी तरह से भी उस से कोई ज्ञान विज्ञान की चर्चा न करता, और भगवान् तो वैसे अर्जुन से संभाषण भी न करते। दुनिया में दूसरों का दोष देखने के समान दूसरी कोई बुराई नहीं है। यह ऐसी बुरी आदत होती है कि जिस में यह पड जाती है उस की सब तरह की उन्नति का रास्ता बंद कर देती है। ऐसे आदमी को संसार में कहीं भली बात दिखाई ही नहीं पड़ती, सर्वत्र दोष ही दोष दृष्टिगत होते हैं। और बिना उत्तम ज्ञान के उन्नति हो नहीं सकती। फिर वैसों की उन्नति हो तो कैसे हो? इसी लिए यह भी निश्चित मत है कि जिस में असूया दोष रहेगा वह गीता के एक अक्षर का भी वास्तविक ज्ञान हृदय में धारण नहीं कर सकता—तोतारटंत की तरह अठारहों अध्याय कण्ठाग्र भले ही कर ले, पर उस में यदि दोष ही देखना उस का ध्येय बना रहेगा, तो उस में का असली ज्ञान भला कब प्राप्त हो सकता है। यह अलाभ की बात हुई। किंतु इतने से ही बस नहीं हो जाता, साथ साथ हानि भी बड़ी भारी उठानी पड़ती है। दोषमात्र देखनेवाला समाज में निन्दित होता है, व्यवहार में अविश्वसनीय समझा जाता है और परलोक में दुर्गति को प्राप्त होता है, क्योंकि सब शास्त्रों में परदोषदर्शकदृष्टि रखनेवाला महापापी माना गया है। नाना पुराण, निगम, आगम संमत श्री रामचरितमानस में गोसाईं तुलसीदासजी ने कहा ही है—

'पर निंदा सम अघ न गरीसा।'

ये पापी (परनिन्दक) इतने नीच होते हैं कि अकारण ही सब जगह खलता दिखलाया करते हैं। कोई लाभ हो या न हो, पर ये जहाँ बैठेंगे वहीं किसी न किसी को डंक मारना-बुराई की बातें करके चित्त दुखी करना प्रारम्भ कर देंगे, यही उन का स्वभाव होता है। अत-एव उन से सज्जनसमाज सर्वदा संत्रस्त एवं भयभीत रहा करता है तथा दूर से ही इन्हें सर्व-प्रथम प्रणाम करता है जैसा कि गोसाईंजी ने भी किया है—

'बंदौं खल जस सेष सरोषा ॥ सहस बदन बरनैं परदोषा ॥'

दूसरों की बुराई देखनेवाले बुरे खल एक नहीं, शेषनाग की भाँति हजार हजार मुँह से विष (निन्दा=बुराई) उगलना जानते हैं। तभी तो तुलसीदासजी फिर फिर उन्हें प्रणाम करते हैं और कहते हैं—

'बंदौ प्रथम असज्जन चरना।'

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, जो मनुष्य औरों की बात बात में दोष निकाला करते हैं और अपने दोष की तरफ भूलकर भी नहीं देखना चाहते वे निन्दक, पापी, छिद्रान्वेषी, खल, कपटी आदि आदि अनेक बुरे नामों से संबोधित किये जाते हैं और अच्छे लोग वैसे मनुष्यों से कोई भी भलाई की बात नहीं कहा करते। कारण, वे जानते हैं कि ऐसों से भली बात कहना व्यर्थ है। ऐसे मनुष्य भली बात सुनकर उस में भलाई के बदले बुराई ढूढ़ने के सिवा कोई लाभ नहीं उठा सकते। यह साधारण सी बात के लिए नियम है, फिर कोई महान् विषय तो वैसे निन्दक लोगों से किस तरह कहने का कोई बुद्धिमान् साहस कर सकता है। और यह प्रस्तुत विषय (विज्ञान सहित ज्ञान) तो महान् से भी महान् है, क्योंकि भगवान् इस के बारे में जोर देकर कह रहे हैं कि यह गुह्यतम विषय है। गुह्य का अर्थ है गोपनीय–छिपाने योग्य और तम का अर्थ है अत्यन्त, बहुत, खूब। किसी विषय के विशेषण को तीन भागों में विभक्त किये जाने की अनादि काल से परिपाटी चली आ रही है—१ साधारणतः, २ विशेषतः, ३ विशेषतमतः अर्थात् १ मामूली तौर से, २ अच्छी तरह से और ३ खूब अच्छी तरह से। ये तीनों विशेषण संसार के भले या बुरे सभी प्रकार के व्यवहारों में लागू होते हैं। जैसे—मामूली बुराई, अच्छी तरह की बुराई और अत्यन्त या खूब अच्छी तरह की बुराई, साधारण कार्य, विशेष कार्य, अत्यन्त विशेष कार्य। इसी तरह यहाँ भी कहा जा सकता है कि साधारण रूप से छिपाने योग्य ज्ञान विज्ञान, अच्छी तरह छिपाने योग्य ज्ञान विज्ञान तथा बहुत अच्छी तरह छिपाने योग्य ज्ञान विज्ञान। इन में से आखिरी विशेषण (तम = अत्यन्त) देकर भगवान् जिस विषय की गोपनीयता की चर्चा कर रहे हैं वह कितनी महान् बात होगी यह कहने की जरूरत नहीं है। इस लिए ऐसी बात किस से कहनी चाहिए, यह भी स्पष्ट ही है अर्थात् ऐसी, बात उसी से कही जा सकती है जो हर तरह की बात सुनकर उसे अपने हृदय में ही रखे रहने की प्रकृति रखता हो, यह नहीं कि अभी कोई नई बात

वहीं जाकर खड़े हो गये और उन दोनों की बातें ध्यान से सुनने लगे। रानी को उन की यह ढिठाई अच्छी नहीं लगी, किंतु वे यह कैसे कह सकती थीं कि आप यहाँ से चले जाइए, अथवा हम लोगों की बातें न सुनिए; क्योंकि राजा की तो अपने राज्य में सर्वत्र अप्रतिहत गति मानी जाती है। और रानी यह भी नहीं चाहती थीं कि उन्हें (राजा को) बिना कुछ कहे छोड़ दिया जाय। कारण, इस तरह छोड़ देने से राजा की आदत खराब हो जायगी और वह सब की बातों में दखल देने के दुरभ्यासी हो जायेंगे। इस लिए बहुत सोच विचारकर रानी ने उठकर स्वागत करते हुए कहा—आइए, आइए, बैठिए मूर्खेश्वर! आसन सुशोभित कीजिए!!

राजा की समझ में नहीं आया कि एक साथ ही होनेवाली इस सदसद् क्रिया (मान अपमान) का क्या अभिप्राय है और इस पर मुझे प्रसन्न होना चाहिए या रुष्टता दिखलानी चाहिए। फिर भी उन्हें क्रोध तो कुछ न कुछ हुआ ही कि जिस को मैं इतना प्यार करता हूँ और उत्तमोत्तम संबोधनों से संबोधित करता हूँ वही अकारण मुझे मूर्ख क्यों कह रही है? परंतु उन्होंने मुँह से नाराजी नहीं जाहिर होने दी और यथास्थान वहाँ कुछ देर बैठकर पुनः राजसभा (दर्बारे आम) में लौट आये। लेकिन वे राजा थे और भले बुरे की उन में पहचान थी। इस लिए उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि रानी से बिना पूछे ही इस बात का पता अवश्यमेव लगाना होगा कि उस ने मुझे मूर्ख क्यों कहा और तदनुसार एक युक्ति अपने मन में स्थिर करके वे गम्भीर भाव से सिंहासन पर बैठे बैठे दर्बारियों के आने की प्रतीक्षा करने लगे। धीरे धीरे दर्बार का समय होने लगा और सभासद् लोगों का आना शुरू हो गया। राजा साहब तो आज पहले से ही गम्भीरता धारण कर चुके थे और मन में कुछ निश्चय किये बैठे थे। इस लिए जब कोई सभासद आकर महाराज की सलामी बजाने के बाद अपना आसन ग्रहण करने लगता, तो वे उसी प्रकार गम्भीर भाव से कह दिया करते—'विराजिए मूर्खेश्वर', अथवा 'बैठिए मूर्खराज।' दर्बारियों में मूर्ख विद्वान्—साधारण असाधारण सभी तरह के लोग थे, किंतु यह किसी की समझ में नहीं आता था कि आज अकारण हम मूर्ख क्यों बनाये जा रहे हैं। इस लिए भय और उदासी के साथ चुपचाप सब अपने स्थान पर बैठकर राजा की भाव-भङ्गी से मूर्ख बनने का कारण ढूँढ़ते रहते, किसी से कुछ कहते सुनते नहीं बन पड़ता था। केवल हैरानी में सब का मस्तिष्क चक्कर काट रहा था। इतने में जगत्प्रसिद्ध विद्वान् कालिदास भी आ पहुँचे और राजप्रथा के अनुसार राजा को आशीर्वाद देने को उद्यत हुए। किंतु आशीर्वाद को अनसुना करके भोज ने उन्हें भी वही उपाधि दी और बैठने के लिए कहा।

परंतु यही तो कालिदास की विलक्षणता थी जिस के कारण वे अद्वितीय विचक्षण (पण्डित) गिने जाते थे। उन का यह स्वभाव नहीं था कि कोई बात सुनें और उस का कार्य कारण संबन्ध जाने बिना तरह दे जायँ तथा शान्ति धारण कर लें। उन्होंने राजाज्ञा का

एक बात यहाँ और कह देना चाहता हूँ। वह यह कि बुराई करने और कहने की तरह बुराई सुनना भी साधारण दोष नहीं है। बुराई सुननेवाले की भी शास्त्रों में उतनी ही निन्दा की गई है जितनी बुराई करनेवालों की। यह आदत भी बड़ी खराब है जिस मनुष्य में यह बुरी लत पड़ जाती है वह भी अपना लोक परलोक दोनों बिगाड़ डालता है, क्योंकि अपनी इस प्रकृति के वश होकर वह ऐसी जगहों में नहीं जाता आता जहाँ कोई अच्छी बात—कथा वार्ता, भजन कीर्तन, सत्संग उपदेश आदि होते हों; किंतु उस का स्वभाव उसे वहाँ खींच ले जाता है जहाँ दूसरों की निन्दा होती हो, दूसरों की बुराई करने के संबन्ध में परामर्श करनेवाले इकट्ठे हों। इन निन्दा सुननेवालों का दर्जा उन से भी बड़ा हुआ है जो निन्दा करनेवाले होते हैं। निन्दा करनेवाले अगर एक हजार मुँह से अपनी बात सत्य सिद्ध करते हैं, तो सुननेवाले एक हजार मुँह के बदले दस हजार कानवाले होकर ध्यानसहित सुनने में तल्लीन रहते हैं और सुन सुनकर प्रसन्न होते हैं। इसी लिए इन की भी सज्जनों से पहले ही वंदना की गई है और कहा गया है—

'पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना * पर अघ सुनैं सहस दस काना।'

यही कारण है कि नीतिकारों ने उस जगह जाने को बार बार मना किया है जहाँ दो आदमी बैठे आपस में बात चीत कर रहे हों। यद्यपि इस नीति में और तरह के भी कार्य-कारण हो सकते हैं, पर यह तो स्पष्ट ही है कि दो आदमियों की बातचीत में शामिल होने से कदाचित् दूसरों की निन्दा करनेवाले अपनी बात को इस प्रकार नमक मिर्च लगाकर रोचक बना देते हैं कि अच्छी प्रकृति का मनुष्य भी उन की बातों को ध्यान से सुनने और उसी में रस लेने लगता है। इसी लिए जहाँ दो आदमी बात कर रहे हों वहाँ जानेवाले तीसरे व्यक्ति को नीति के अनुसार मूर्ख की उपाधि दी जाती है। इस विषय की एक छोटी सी आख्यायिका है।

भोजराज की कथा और उन का नाम बहुतों ने सुना होगा। किसी किसी का मत है कि भोजराज ही इतिहासप्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य हैं। इन के दर्बार में संस्कृत के विद्वानों का बड़ा आदर सत्कार हुआ करता था। भारत के प्रसिद्ध नौ विद्वान् जिन्हें 'नवरत्न' के उत्तम पद पर स्थित माना जाता है और जिन में महाकवि कालिदास का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है, इन भोजराज की ही सभा के सभासद थे।

एक समय की बात है कि महाराज भोज की पटरानी अन्तःपुर में अपनी किसी प्रिय सहेली के साथ बैठी हुई किसी बात पर विचार कर रही थीं। उसी बीच में भोज को अपनी रानी से मिलने की कोई आवश्यकता आ पड़ी और वे बिना सूचना दिये ही वहाँ जा पहुँचे। वहाँ जाकर भी यदि वे अलग बैठे रहते और रानी की बात समाप्त हो लेने देते, तो कुछ नहीं बिगड़ता, पर एक राजा से भला ऐसी अनावश्यक प्रतीक्षा कब सही जा सकती थी? वे सीधे

वहीं जाकर खड़े हो गये और उन दोनों की बातें ध्यान से सुनने लगे। रानी को उन की यह ढिठाई अच्छी नहीं लगी, किंतु वे यह कैसे कह सकती थीं कि आप यहाँ से चले जाइए, अथवा हम लोगों की बातें न सुनिए; क्योंकि राजा की तो अपने राज्य में सर्वत्र अप्रतिहत गति मानी जाती है। और रानी यह भी नहीं चाहती थीं कि उन्हें (राजा को) बिना कुछ कहे छोड़ दिया जाय। कारण, इस तरह छोड़ देने से राजा की आदत खराब हो जायगी और वह सब की बातों में दखल देने के दुरभ्यासी हो जायेंगे। इस लिए बहुत सोच विचारकर रानी ने उठकर स्वागत करते हुए कहा—आइए, आइए, बैठिए मूर्खेश्वर! आसन सुशोभित कीजिए!!

राजा की समझ में नहीं आया कि एक साथ ही होनेवाली इस सदसद् क्रिया (मान अपमान) का क्या अभिप्राय है और इस पर मुझे प्रसन्न होना चाहिए या रुष्टता दिखलानी चाहिए। फिर भी उन्हें क्रोध तो कुछ न कुछ हुआ ही कि जिस को मैं इतना प्यार करता हूँ और उत्तमोत्तम संबोधनों से संबोधित करता हूँ वही अकारण मुझे मूर्ख क्यों कह रही है? परंतु उन्होंने मुँह से नाराजी नहीं जाहिर होने दी और यथास्थान वहाँ कुछ देर बैठकर पुनः राजसभा (दर्बारे आम) में लौट आये। लेकिन वे राजा थे और भले बुरे की उन में पहचान थी। इस लिए उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि रानी से बिना पूछे ही इस बात का पता अवश्यमेव लगाना होगा कि उस ने मुझे मूर्ख क्यों कहा और तदनुसार एक युक्ति अपने मन में स्थिर करके वे गम्भीर भाव से सिंहासन पर बैठे बैठे दर्बारियों के आने की प्रतीक्षा करने लगे। धीरे धीरे दर्बार का समय होने लगा और सभासद लोगों का आना शुरू हो गया। राजा साहब तो आज पहले से ही गम्भीरता धारण कर चुके थे और मन में कुछ निश्चय किये बैठे थे। इस लिए जब कोई सभासद आकर महाराज की सलामी बजाने के बाद अपना आसन ग्रहण करने लगता, तो वे उसी प्रकार गम्भीर भाव से कह दिया करते—'विराजिए मूर्खेश्वर', अथवा 'बैठिए मूर्खराज।' दर्बारियों में मूर्ख विद्वान्—साधारण असाधारण सभी तरह के लोग थे, किंतु यह किसी की समझ में नहीं आता था कि आज अकारण हम मूर्ख क्यों बनाये जा रहे हैं। इस लिए भय और उदासी के साथ चुपचाप सब अपने स्थान पर बैठकर राजा की भाव-भङ्गी से मूर्ख बनने का कारण ढूँढ़ते रहते, किसी से कुछ कहते सुनते नहीं बन पड़ता था। केवल हैरानी में सब का मस्तिष्क चक्कर काट रहा था। इतने में जगत्प्रसिद्ध विद्वान् कालिदास भी आ पहुँचे और राजप्रथा के अनुसार राजा को आशीर्वाद देने को उद्यत हुए। किंतु आशीर्वाद को अनसुना करके भोज ने उन्हें भी वही उपाधि दी और बैठने के लिए कहा।

परंतु यही तो कालिदास की विलक्षणता थी जिस के कारण वे अद्वितीय विचक्षण (पण्डित) गिने जाते थे। उन का यह स्वभाव नहीं था कि कोई बात सुनें और उस का कार्य कारण संबन्ध जाने बिना तरह दे जायँ तथा शान्ति धारण कर लें। उन्होंने राजाज्ञा का

पालन नहीं किया। आसन पर बैठना तो दूर रहा, उन्होंने उस की ओर देखा भी नहीं और खड़े खड़े राजा से प्रश्न किया कि राजन्, भोज, किस कारण से आज आते ही आप ने मुझे मूर्ख कहने का साहस किया? मूर्ख के जितने लक्षण शास्त्रों में कहे गये हैं उन में से, विचार करने पर, कोई भी तो मैं अपने में नहीं पा रहा हूँ।

भोज ने सोचा अवश्य यही एक विद्वान् ऐसा है जिस ने नवरत्नों के साथ साथ मेरी गुणग्राहकता की भी आज तक लाज रखी है और आगे भी रखेगा, इस की पूर्ण आशा ही नहीं, बल्कि दृढ़ विश्वास भी है। अतः इस के द्वारा अवश्य रानी के कथन का कारण मालूम हो जायगा। अब प्रकट में उन्होंने कहा—कालिदासजी, मूर्ख के कौन कौन से लक्षण हैं जो आप में नहीं हैं? अर्थात् क्या करनेवाले मनुष्य को मूर्ख कहा जा सकता है और आप ने क्या नहीं किया कि आप को मूर्ख न कहा जाय?

कालिदास ने कहा—महाराज, मूर्ख के पाँच लक्षण हैं—१ बीती हुई बातों के लिए चिन्ता करना, २ कोई अच्छा काम करके अपने में अहंकार की भावना लाना कि मैं ने बड़ा भारी पुण्यकर्म किया है, ३ राह चलते चलते खाते चलना, ४ साथ साथ हँसना भी और बात भी करना तथा ५ दो आदमियों की बात चीत में बिना बुलाये प्रविष्ट होकर तीसरा बनने का अधिकार जताना। और—

'गतं न शोचामि कृतं न मन्ये खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् किंकारणं भोज भवामि मूर्खः॥'

राजन्, मैं न तो गत (बीती हुई) बातों के लिए सोच करता हूँ, न किसी सत्कर्म का अभिमान रखता हूँ। खाता हुआ रास्ता चलना भी मेरे स्वभाव में नहीं है, न आज तक कभी मैं ने ऐसा किया ही है। हँसते हँसते बातें करना भी मैं नहीं जानता और न यही करता हूँ कि जहाँ दो आदमी बातें कर रहे हों वहाँ जाकर तीसरा बन जाऊँ; इस लिए हे भोज, फिर क्या कारण है कि आज सभा में आकर मैं मूर्ख बन रहा हूँ?

कालिदास के मुँह से मूर्ख का पाँचवाँ लक्षण सुनते ही राजा को अपनी मूर्खता का कारण मालूम हो गया। उन्होंने समझ लिया कि अकारण रानी ने मुझे मूर्ख नहीं कहा था। फिर कालिदास से कहा—अच्छा, विद्वन्, यदि आप में ये सब दोष नहीं हैं, तो मैं अपनी बात वापस लेता हूँ और सच्चे दिल से स्वीकार करता हूँ कि आप नहीं, मैं स्वयं मूर्ख हूँ।

इस के बाद राजा ने आद्योपान्त सब हाल कालिदास को सुना दिया जिस से उन के मन का क्लेश दूर हो गया। कहने का भाव यह कि दूसरों की निन्दा करना या दूसरों की निन्दा सुनने की प्रवृत्ति रखना दोनों ही बातें नीति के सिद्धान्त से मूर्खता तथा धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से पाप हैं। संसार में कोई निर्दोष होकर जन्म नहीं लेता।

ऊपर—भोज की रानी ने राजा को मूर्ख कहा। नीचे—कालिदास ने मूर्ख बनाये जाने पर उत्तर दिया।
ઉપર—ભોજની રાણીએ રાજાને મૂર્ખ કહ્યો. નીચે—કાલિદાસે પોતાને મૂર્ખ બનાવ્યાથી ઉત્તર આપ્યો.

मनुष्यमात्र में कम अधिक मात्रा में कुछ न कुछ दोष रहते ही हैं। निर्दोष कोई अगर है, तो केवल एक परमात्मा। दूसरा कोई भी बिना दोष के नहीं है, न हो सकता है। जिस प्रकार राजा रंक सब को रोग होता है, दुखी होना पड़ता है, आफत में गिरफ्तार होना पड़ता है, शोक, क्लेश, परिताप आदि सहन करने पड़ते हैं उसी प्रकार बड़े छोटे, पठित अपठित, देवता मनुष्य सब में एक न एक दोष रहता ही है। इस लिए दोष ही अगर देखना हो, तो अपना दोष देखो, दूसरों का नहीं। दूसरों का तो गुण ही देखना चाहिए, क्योंकि दूसरों में दोष देखने का अभ्यास रखने पर अपनी बुद्धि सर्वदा के लिए दोषमय हो जाती है और तब गुण में भी दोष ही दिखलाई पड़ने लगते हैं जिस से बड़ा बुरा परिणाम भोगना पड़ता है। और अगर गुण ही देखने का अभ्यास रहेगा, तो कभी कुछ देर के लिए धोखे में पड़कर अपवादरूप कोई छोटी मोटी हानि भले ही उठानी पड़ जाय, किंतु अधिकतर लाभ की ही संभावना रहती है। इस लिए निश्चय यही मानना चाहिए कि जो दूसरों का दोष देखेगा उस का पतन अवश्य होगा। कोई पूछ सकता है कि मनुष्य में जब गुण दोष दोनों ही रहते हैं, तो यह कैसे हो कि गुण ही देखा जाय और दोष को अछूता छोड़ दिया जाय? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि पंसारी की दूकान में आटा, दाल, चावल, गुड़, चीनी, घी, तेल, नमक, मसाला, केसर, कस्तूरी, कपूर, इलायची, लहसुन, मिर्चा आदि सभी चीजें रहती हैं और दूकान पर जाकर देखनेवाले को सब दृष्टिगत भी हो सकती हैं अथवा होती ही हैं, किंतु क्या देखने भर से ही यह भी जरूरी हो जाता है कि उस दूकान पर की प्रत्येक वस्तु को देखनेवाला अमल में ही लाये? नहीं; ऐसा नियम नहीं चल सकता। वहाँ तो ग्राहक की सुविधा के अनुसार हर एक चीज सजाकर रखी हुई है, इस लिए जिसे जिस चीज की जरूरत होगी वह वही वहाँ से लेगा। केसर के खरीदार को लहसुन से क्या मतलब? इस लिए उसे न तो लहसुन के लिए द्रव्य ही खर्च करना चाहिए, न उस से घृणा ही करनी चाहिए। चाहिए सिर्फ यह कि वह अपने प्रयोजनमात्र की वस्तु ग्रहण करे जिस से उस का लाभ सिद्ध हो। अन्य वस्तुओं से न तो प्रयोजन रखे, न उस की निष्प्रयोजनता सिद्ध करने के फेर में पड़े; उन से तो केवल तटस्थता भर रखने की आवश्यकता है। जिसे प्रयोजन होगा वह उन वस्तुओं को ग्रहण करने स्वयं पहुँच जायगा। हमें तो बस अपना काम देखना चाहिए और हानिकारक, निषिद्ध, सदोष वस्तु का परित्याग कर लाभदायक, शास्त्रविहित, गुणयुक्त वस्तु अपनाने की कोशिश रखनी चाहिए। ऐसा न करके (केसर कस्तूरी खरीदने जाकर उन्हें देखने के पहले ही लहसुन की निन्दा करने की तरह) यदि दोष की ही कल्पना में लगे रह जाओगे, तो ब्रह्माण्डपुराण की काल्पनिक सदेह में पड़कर शापभ्रष्टा स्त्री की तरह सात कौन कहे, सत्तर जन्म में भी उद्धार नहीं पा सकोगे। ब्रह्माण्ड पुराण की कथा यों है—

एक गाँव में बड़ा सुन्दर तालाब था। उस के चारों ओर बड़े बड़े सघन छायावाले वृक्ष लगे हुए थे। एक किनारे पर एक रमणीक शिवालय था। आस पास के गावों के श्रद्धालु भक्त लोग नियमित रूप से वहाँ एकत्रित होते और यथावसर नाना शास्त्र पुराण की कथा वार्ता किया करते। एक बार कोई रमता योगी—महात्मा—उधर से आ रहा था कि सत्संग-मण्डल देखकर उसे वहाँ कुछ देर रहने की इच्छा हो गई और वह वहीं एक किनारे आसन बिछाकर बैठ गया। महात्मा को शास्त्रों के ज्ञान के साथ साथ देश काल का अनुभव भी काफी था। लोगों को जैसे जैसे उन की विद्वत्ता का, ज्ञान का और सब से अधिक सरल प्रकृति का पता लगता गया वैसे वैसे उन के भक्तसमाज की वृद्धि होने लगी। आखिर वे वहाँ लंबी अवधि तक के लिए टिक गये और लोगों को अधिकार और योग्यता के अनुसार शिक्षोपदेश देने लगे। उन के उपदेश और प्रवचनों का वहाँ वालों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि धीरे धीरे बहुत पुरुषों और स्त्रियों ने उन से दीक्षा ले ली और सर्वदा के लिए उन का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

महात्माजी को वहाँ रहते करीब छः महीने हो चुके थे, इस लिए उन्होंने अपने भक्तों से एक दिन कहा कि साधु संन्यासी को एक जगह टिककर नहीं रहना चाहिए। यदि स्थान-विशेष के साथ उस को मोह जाय, तो सब साधना नष्ट हो जाती है। अतः अब मैं यहाँ से प्रस्थान करना चाहता हूँ।

स्वामीजी की बात सुनकर भक्तों का मन इस तरह उदास हो गया, मानों पानी का जोर पाकर जेठ के महीने में खिली हुई जुही की कली अचानक दोपहर की तीखी धूप में पड़कर बिल्कुल मुरझा गई हो। सब के सब भीतर ही भीतर कठिन दुःख का अनुभव कर रहे थे, पर इस भय से बोलते नहीं थे कि महात्माजी के उपदेशानुसार उन्हें वह अपना मोह मालूम हो रहा था जैसा कि वास्तव में था ही। महात्माजी से किसी के हृदय का हाल छिपा नहीं था, परंतु त्यागी आदमी होने के कारण उन्हें ऐसी परिस्थितियों का अनेक बार अनुभव हो चुका था और इसी लिए वे अधिक पर्वाह नहीं कर रहे थे। उन के विचार में इतना ही आ रहा था कि जब तक मैं इन लोगों की दृष्टि के सामने हूँ तभी तक इन का हृदय उद्वेलित सा मालूम हो रहा है, आखों से दूर होते ही सर्वत्र पूर्ववत् शान्ति विराजने लगेगी, बस। लेकिन यह प्रसिद्ध बात है और जहाँ तक सच भी है कि स्त्रियों का मोह पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक तीव्र होता है। सो वहाँ बैठे हुए लोगों में से जब कोई कुछ नहीं कह सका और महात्माजी अब एक प्रकार से उठने की तैयारी करने लगे, तो एक बालिका से, जिसे युवती भी कहा जा सकता है, चुप नहीं रहा गया। उस ने कातर होकर कहा—

गुरुजी, यद्यपि यहाँ वय और विद्या बुद्धि सब में बहुत बड़े बड़े लोग बैठे हुए हैं और आप की यात्राचर्चा सुनकर अपने हृदय में दुःख का अनुभव करते हुए भी बिल्कुल चुप हैं,

ऐसी दशा में मेरा बोलना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता; फिर भी मुझ से चुप नहीं रहा जाता और मैं प्रार्थना करना चाहती हूँ कि आप कुछ दिन और रह जायें। कारण कि अब दो ही चार दिनों में शिवरात्रि का महापुण्य पर्व आ रहा है। आप गत दिनों के उपदेश में एक दिन शिवरात्रि की महिमा के संबन्ध में बहुत कुछ बतला चुके हैं। सो उसी दिन मेरे मन में यह अभिलाषा न जाने किस तरह जाग पड़ी कि महाशिवरात्रि के दिन एक एक पहर पर होनेवाली भगवान् शंकर की महापूजा यदि आप के समक्ष हम लोग कर सकते, तो आप के कहने के मुताबिक कदाचित् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि चारों पदार्थों को अपनी रुचि के अनुसार अवश्य प्राप्त कर लेते। इसी लिए मेरी प्रार्थना है कि जैसे इतने दिन कष्ट सहकर आप यहाँ रह गये वैसे ही कुछ दिन और कष्ट सह लें और अपने सामने विधिवत् पूजा करा दें।

महात्माजी त्यागी थे, किंतु ऐसे नहीं कि उन के त्यागभाव से किसी की आत्मा दुखित हो। विवश होकर उन्हें उस भक्ता युवती की प्रार्थना माननी पड़ी। उन्होंने कहा—पुत्रि, तेरा आग्रह टालकर मैं जाने में असमर्थ हूँ। अतः शिवरात्रिव्रत करके ही यहाँ से जाऊँगा। यह सुनकर वह बालिका कितनी प्रसन्न हुई, यह तो कहना ही नहीं है; साथ साथ वहाँ जितने लोग उपस्थित थे वे सब भी आनन्द का अनुभव करने लगे और बहुत देर तक उस लड़की को धन्यवाद देते रहे। परंतु वहाँ एक व्यक्ति ऐसा भी था जो सब के विपरीत अनुभव कर रहा था अर्थात् प्रसन्न होने के बदले महाकष्ट में पड़ा जा रहा था। वह व्यक्ति एक अधेड़ स्त्री थी जो उस संतसमाज अथवा सत्संगमण्डल में बैठी रहकर भी अपने स्वभाव के अनुसार असत् विषय की ही चिन्ता में जल भुनकर खाक हो रही थी। उस के मन में उस समय ये विचार दौड़ धूप मचा रहे थे कि 'यह लड़की जवान होकर भी इतने मर्दों के बीच बोलने का साहस कैसे कर सकी? हो, न हो, इस में जरूर कुछ दूसरा ही माजरा है। और माजरा क्या; सीधी सी बात है कि यह बाबाजी (महात्माजी) पर रीझ गई है। लेकिन मालूम होता है कि अभी तक कोई विशेष फायदा नहीं उठा सकी है, इस लिए शिवरात्रि की चार पहरवाली पूजा का इशारा बतला रही है। अच्छा, देखूँगी मैं कि यह कितने पानी में है तथा कितना गहरा गोता लगाना जानती है।'

इसी का नाम है असूयाबुद्धि अथवा दोषदृष्टि। सब लोग तो शिवरात्रिपूजा की साङ्ग सविधि पूर्णता का ख्याल करते हुए आनन्द में मग्न होकर अपने घर जा रहे थे और वह दुष्टा स्त्री एक निष्कपट बालिका की भक्ति में पाप की कल्पना करके अपने में आप ही ज्वाला पैदा करती हुई भस्म हो रही थी। खैर, जैसे तैसे शिवरात्रि भी आ गई। सब लोग तीन बजे सवेरे (या रात) से ही नहाने धोने की तैयारी में लग गये और सूर्योदय के पहले शुद्ध पवित्र होकर, स्वच्छ वस्त्र धारण कर मन्दिर में पहुँचने लगे। महात्माजी बहुत पहले से पूजा

पर बैठ चुके थे। इस लिए किसी को किसी बात की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी, आने के साथ ही शंकरजी को स्नान कराना, चंदन लगाना, बिल्वपत्र चढ़ाना आदि कृत्य प्रारम्भ हो गया और इस प्रकार घंटे में प्रथम प्रहर की पूजा समाप्त हुई। बाद में सब लोग मन्दिर के बाहर आकर सभामण्डप में जप करने बैठने लगे कि इसी जगह आज चौबीस घंटे रहा जायगा और जप में खाली समय बिता बिताकर प्रहर प्रहर पर पूजा की जायगी, उसी समय महात्माजी ने कहा–भक्तो, आप लोगों को पूजा की विधि मालूम हो गई। मैं आशा करता हूँ कि अब शेष तीन प्रहर की तीन पूजाएँ आप स्वतः कर लोगे। उसके बाद रात्रि की पूजा प्रारम्भ होगी। वह भी इसी विधि से एक एक पहर पर रात भर में चार बार करनी होगी। परंतु अब मैं बार बार आप का साथ न देकर कुछ देर समाधि द्वारा भगवान् (शंकर या विष्णु; क्योंकि सभी अभिन्न हैं) का ध्यान करना चाहता हूँ। इस लिए मुझ से अब सब से अन्तिम पूजा के बाद साक्षात्कार होगा।

महात्माजी की बात समाप्त होने के साथ ही उस दिनवाली बालिका ने भीतर मन्दिर में से दौड़ी हुई आकर उन के चरणों में प्रणाम किया और कहा—गुरुवर, मैं बेलपत्र चढ़ाने में लगी रह गई। यह नहीं सुन सकी कि बाहर आकर आप ने क्या क्या उपदेश किया है।

महात्माजी ने उस के सरल स्वभाव पर जरा सा हँसकर कहा—कोई विशेष बात नहीं है। मैं अब समाधि लगाने जा रहा हूँ, इस लिए अन्तिम पूजा के बाद मुझ से भेंट हो सकेगी, तब तक इसी विधि से तुम लोग पूजन करना, यही तो कहा है मैं ने।

बालिका ने कहा—अच्छा भगवन्, मैं भी अन्तिम पूजा के बाद आप से भेंट करना चाहती हूँ। उस समय आप कहाँ रहेंगे ?

महात्माजी ने कहा—बेटी, तूँ साक्षात् भवानी है। तेरे लिए समय का कोई बन्धन नहीं है। तूँ जब चाहे तब मुझ से मिल सकती है, मैं मन्दिर के पीछेवाली कोठरी में रहूँगा। इतना कहकर महात्माजी समाधि लगाने चले गये, भक्त लोग वहीं बैठकर जप करने लगे और वह युवती बालिका मन्दिर में शिवलिङ्ग पर बिल्वपत्र चढ़ाने चली गई, क्योंकि उस ने पहले नियम कर लिया था कि शिवरात्रि के दिन चौबीसों घंटे मेरे लिए दो काम रहेंगे—भगवान् शंकर को बिल्वपत्र चढ़ाना और गुरुजी की बतलाई हुई विधि से पूजन करना। इस प्रकार सब लोग तो शिवरात्रि के शुभ अवसर पर ध्यान, भजन, पूजन, यजन आदि में लगे हुए थे, परंतु वह दुष्ट स्वभाववाली स्त्री जिस ने उस बालिका पर काल्पनिक संदेह कर लिया था, बैठी बैठी तरह तरह के पाप सोचती हुई दाँतों से अँगुली काट रही थी कि 'बाप रे, बड़ी ढीठ लड़की है, जरा भी शर्म करना नहीं जानती। उफ, बहुत सी लड़कियों के जवानी आते मैं देख चुकी हूँ, मगर इस की जैसी वेश्या आज तक एक भी नहीं देखी। इस ने इतने मर्दों के सामने बाबा

व्यभिचार से कैसे कह दिया कि मैं कुछ रात बाकी रहेगी, तो तुम से मिलने आऊँगी ? (उस ने अन्तिम पूजा के बाद आने का यही अर्थ लगा रखा था ।) हे भगवान्, जब तुम्हारे मन्दिर में ही ऐसी ऐसी लीलाएँ हो रही हैं, तो लोग बाहर ताकने झाँकनेवालों को नाहक क्यों बद-नाम करते फिरते हैं ? और तुम भी कैसे देवता हो कि ऐसा ऐसा अनर्थ अपने सिर पर ही होते देखते हो, तो भी कुछ नहीं करते, सब चुपचाप देखते और सहते रहते हो ? अरे, तुम्हें तो ऐसे पापियों पर इसी दम वज्र गिरा देना चाहिए था । लेकिन तुम भले यह सब सह लो; मैं तो हर्गिज नहीं सह सकती । यही देखने तो मैं आई ही हुई थी । अब सब मालूम हो गया है । इस लिए सब की पूजा हो लेने दो, तो देखो कि मैं यहीं कैसा तमाशा खड़ा कर देती हूँ । बड़े बाबा बने पुजाने आये हैं ! सबेरा होने के पहले ही दोनों को एक साथ न पकड़वा दिया, तो मेरा नाम नहीं ।' बस, इसी प्रकार की दुष्कल्पनाओं में उस ने सारा दिन और सारी रात समाप्त कर दी । सब लोगों ने शिवरात्रि का व्रत निर्जल रखकर, पहर पहर भर पर विधिवत् पूजा, पाठ, जप इत्यादि करते हुए महान् पुण्यकार्य में अपना समय सार्थक किया और उस पापबुद्धिवाली स्त्री ने केवल पापों के तारतम्य की शक्ति भर कल्पना में अपना समय नष्ट किया ।

प्रातःकाल होने का समय आ गया । पूर्व दिशा में धीरे धीरे सफेदी दौड़ने लगी । रात्रि की अन्तिम (चौथे पहर की) पूजा सब लोगों ने समाप्त करके जोर की हर्ष ध्वनि में भगवान् शंकर का जय जयकार किया और क्रमशः एक एक करके मन्दिर के बाहर आना शुरू किया । यह देखकर उस स्त्री ने समझ लिया कि अब उस छोकड़ी के अभिसार का समय आ गया । वह अपने स्थान से उठ पड़ी और पूजन समाप्त करके बाहर आनेवाली औरतों में जाकर मिल गई । उसे देखकर किसी स्त्री ने पूछा—बहिन, तुम भी तो हम लोगों के साथ ही पूजा करने घर से चली थीं, लेकिन मन्दिर में एक बार भी दिखलाई नहीं पड़ीं । क्या किसी दूसरे मन्दिर में तुम पूजा करने चली गई थीं ?

उस ने बड़े विचित्र भाव से बहुत धीमे स्वर में कहा—मैं तुम लोगों से बढ़कर जरूरी काम में लगी रह गई । पूजा पाठ करने का तो मुझे समय ही नहीं मिला । इस पर आश्चर्य के साथ उस स्त्री ने आँखों के संकेत में उस के जरूरी काम का खुलासा हाल जानने का आग्रह प्रकट किया, तो उस दुष्टा ने अपनी कल्पना को सत्य की तरह बतलाकर सब हाल कह सुनाया और उस से आग्रह किया कि तुम भी इस काम में मेरा साथ दो कि इस लुच्चे पाखण्डी बाबा की पोल खोलकर मुँह में कालिख पोत दिया जाय और उस डाइन को भी इस तरह बदनाम कर दिया जाय कि आज से भक्ति का ढोंग दिखाकर मुफ्त में गाँव भर से तारीफ लूटने लायक न रह जाय । यह कल की छोकड़िया न जाने कितनी दफे हम लोगों को अपना भक्तिभाव दिखलाकर जलवा चुकी है, तो आज सब लोग जान जायँ कि सोने के घड़े में कैसा तीखा जहर भरा हुआ है ।

हो गईं और भीतर का दृश्य देखने लगीं। महात्माजी पद्मासन लगाये, दोनों नेत्र बंद किये, श्वास रोके समाधि में पड़े हुए थे और बालिका उन के चरणों के पास पृथिवी पर मस्तक झुकाये हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रही थी—गुरुवर, अब समाधि से उतर आइए, मैं आप की शिष्या कब से आप की अमृतमय वाणी सुनकर अपना जीवन सार्थक करने के लिए हाथ जोड़े पड़ी हूँ। भगवन्, सब लोग पूजा समाप्त कर चुके और बाहर आप के आने की बाट जोह रहे हैं। यदि अब अधिक विलम्ब कीजिएगा और समाधि लगाये रखिएगा, तो वे लोग शायद ऊपर यहाँ चले आयेंगे; तब मेरी मनोकामना सिद्ध होने में विघ्न पड़ सकता है। इस लिए कृपा कीजिए और शीघ्र ध्यान भङ्ग करके मेरा उद्धार कीजिए, मेरे अशान्त हृदय की ज्वाला बुझाइए इत्यादि।

बुढ़िया स्त्री को इस प्रकार की बातों से अब अपनी बात सच्ची होने में बिलकुल संदेह नहीं रह गया। इस लिए उस ने साथवाली स्त्री से कहा—अब तो तुम्हें विश्वास हो गया न, कि अब भी कुछ संदेह है?

स्त्री ने कहा—क्यों, इन बातों में ऐसी कौन सी बात आ गई जिस से तुम्हारी बात सच मान लूँ? ऐसा तो सभी शिष्य अपने गुरु से कह सकते हैं और कहते ही हैं।

बुढ़िया ने कहा—तब मालूम होता है, तुम भी इसी की जोड़ीदार हो। मैं पूछती हूँ कि अब बाकी ही क्या रह गया? इतना ही तो कि बाबाजी आँखें खोल दें और उसे खींचकर गले लगा लें, बस न? खैर, ईश्वर चाहेंगे, तो तुम्हारी यह मंशा भी अभी पूरी हो जायगी। यह देखो, बाबाजी की पलकें हिलने लगीं, अब आँखें भी खुलनी ही चाहती हैं और तब तुम्हें पूरा प्रमाण मिले बिना नहीं रहेगा।

महात्माजी की समाधि टूट गई। उन्होंने आँख खोलते ही देखा कि वह बालिका जमीन पर सिर रखे प्रणाम करने में तल्लीन है। बस, तुरंत उस का मस्तक दोनों हाथों से उठाते हुए महात्माजी ने कहा—प्यारी बच्ची, तुझे बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं तेरी भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। बोल, तेरी क्या अभिलाषा है, क्या कहने के लिए तू पहले से भेंट करने का वादा कर चुकी थी? तेरे मन में जो कुछ हो, सब साफ साफ कह, संकोच में मत पड़।

बालिका ने कहा—प्रभो, आप ने कहा था कि शिवजी बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जानेवाले देवता हैं। उन की आराधना यदि हृदय से एकनिष्ठ होकर की जाय, तो चारों पदार्थों में कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है। इस लिए मैं चाहती हूँ कि आप शंकरजी से मुझे मुक्ति का साधन सिखला दें। मैं इस संसार से ऊब गई हूँ। यहाँ बार बार आने जाने में एक तो बड़े बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है, दूसरे यहाँ के लोगों की मानसिक वृत्ति इतनी

यद्यपि इस की बातों पर उस स्त्री को विश्वास करने का जी नहीं हो रहा था, क्योंकि वह उस सीधी सादी भोली बालिका को खूब अच्छी तरह जानती थी। उस से उस लड़की का स्वभाव, आचरण, रहन सहन कुछ भी छिपा नहीं था। बल्कि उस के बारे में गाँव भर का ख्याल था कि वह पूर्वजन्म की कोई बड़ी भारी तपस्विनी है, तपस्या में विघ्न पड़ने और कुछ कमी रह जाने के कारण उसे पुन जन्मधारण करना पड़ा है, अन्यथा वह अब तक मुक्त हो गई होती, और बहुत उम्मेद है कि इस जन्म में अवश्य ही उसे मुक्ति मिल जायगी। और उसी के विषय में यह दुष्टा ऐसा पाप बतला रही है कि सुनकर कुछ कहते नहीं बनता। इस के कहने के ढंग से ऐसा भी नहीं साहस हो रहा है कि इस की बात को सोलहो आने झूठ मान लिया जाय। आखिर उस ने कुछ देखकर तब अपनी राय जाहिर करना ही उत्तम समझा और कहा—बहिन, तुम्हारी चतुराई के तो सभी लोग कायल हैं। सचमुच ही तुम ने कई मर्तबा ऐसी ऐसी छिपी बातों का पता लगाया है कि लोगों को दंग रह जाना पड़ा है। और इस बार भी अगर तुम्हारी बात झूठी न हुई, तो वैसा ही होनेवाला है। लेकिन क्या कहूँ?

हो गईं और भीतर का दृश्य देखने लगीं। महात्माजी पद्मासन लगाये, दोनों नेत्र बंद किये, श्वास रोके समाधि में पड़े हुए थे और बालिका उन के चरणों के पास पृथिवी पर मस्तक झुकाये हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रही थी—गुरुवर, अब समाधि से उतर आइए, मैं आप की शिष्या कब से आप की अमृतमय वाणी सुनकर अपना जीवन सार्थक करने के लिए हाथ जोड़े पड़ी हूँ। भगवन्, सब लोग पूजा समाप्त कर चुके और बाहर आप के आने की बाट जोह रहे हैं। यदि अब अधिक विलम्ब कीजिएगा और समाधि लगाये रखिएगा, तो वे लोग शायद ऊबकर यहीं चले आयेंगे; तब मेरी मनोकामना सिद्ध होने में विघ्न पड़ सकता है। इस लिए कृपा कीजिए और शीघ्र ध्यान भङ्ग करके मेरा उद्धार कीजिए, मेरे अशान्त हृदय की ज्वाला बुझाइए इत्यादि।

वृद्धा स्त्री को इस प्रकार की बातों से अब अपनी बात सच्ची होने में बिलकुल संदेह नहीं रह गया। इस लिए उस ने साथवाली स्त्री से कहा—अब तो तुम्हें विश्वास हो गया न, कि अब भी कुछ संदेह है?

स्त्री ने कहा—क्यों, इन बातों में ऐसी कौन सी बात आ गई जिस से तुम्हारी बात सच मान लूँ? ऐसा तो सभी शिष्य अपने गुरु से कह सकते हैं और कहते ही हैं।

वृद्धा ने कहा—तब मालूम होता है, तुम भी उसी की जोड़ीदार हो। मैं पूछती हूँ कि अब बाकी ही क्या रह गया? इतना ही तो कि बाबाजी आखें खोल दें, और उसे खींचकर गले लगा लें, बस न? खैर, ईश्वर चाहेंगे, तो तुम्हारी यह मंशा भी अभी पूरी हो जायगी। वह देखो, बाबाजी की पलकें हिलने लगीं, अब आखें भी खुलनी ही चाहती हैं और तब तुम्हें पूरा प्रमाण मिले बिना नहीं रहेगा।

महात्माजी की समाधि टूट गई। उन्होंने आँख खोलते ही देखा कि भक्त बालिका जमीन पर सिर रखे प्रणाम करने में तल्लीन है। बस, तुरंत उस का मस्तक दोनों हाथों से उठाते हुए महात्माजी ने कहा—प्यारी बच्ची, तुझे बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं तेरी भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। बोल, तेरी क्या अभिलाषा है, क्या कहने के लिए तूँ पहले से भेंट करने का वादा कर चुकी थी? तेरे मन में जो कुछ हो, सब साफ साफ कह, संकोच में मत पड़।

बालिका ने कहा—प्रभो, आप ने कहा था कि शिवजी बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जानेवाले देवता हैं। उन की आराधना यदि हृदय से एकनिष्ठ होकर की जाय, तो चारों पदार्थों में कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है। इस लिए मैं चाहती हूँ कि आप शंकरजी से मुझे मुक्ति का वरदान दिलवा दें। मैं इस संसार से ऊब गई हूँ। यहाँ बार बार आने जाने में एक तो बड़े बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है, दूसरे यहाँ के लोगों की मानसिक वृत्ति इतनी

सुना। शंकरजी महात्माजी से कह रहे थे कि यह बालिका तो अपने तेजः शरीर से महान् आत्मा (मेरे स्वरूप) में मिल गई। परंतु वह पापपिनी स्त्री इस के साथ बड़ा दुर्भाव रखती थी, बल्कि अभी भी उस के मन से पापपूर्ण विचार लुप्त नहीं हुए हैं। वह इस की दिव्य यात्रा में भी जादू टोना ही समझ रही है। उस ने अपनी साथिन से बार बार इस के चरित्र को कलङ्कित स्वीकार करवाना चाहा है, जिस के कारण उस बिचारी का मन भी कुछ इतस्ततः सा हो चला था, पर जन्मगत धर्मभावनापूर्ण बुद्धि के प्रभाव से वह पूर्णतः उस के चंगुल में नहीं आई, न इस बालिका के चरित्र पर हृदय से अविश्वास किया। इस लिए उस को मैं भक्ति का वर दे रहा हूँ जिस के द्वारा वह कुछ काल के उपरान्त मुक्ति पाने के योग्य हो जायगी। किंतु उस दुष्टा को मैं शाप दे रहा हूँ कि सात जन्म तक बराबर कुतिया होती रहे। उस ने कुत्तों की भाँति स्वयं तो कामुकता में ही जीवन बिताया ही है, दुर्बुद्धिवश दूसरों को भी अपनी ही तरह पापिनी समझने और बनाने का निरन्तर उद्योग किया है, अतएव उस के लिए कुत्ते की योनि प्राप्त करना ही अधिक उचित है।

महात्माजी सचमुच बड़े दयालु स्वभाव के थे। उन्हें यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि एक जीवात्मा अपने कर्मों के कारण आशुतोष भगवान् के क्रोध का शिकार होकर अनेक जन्मों के लिए निकृष्ट योनि में जा रहा है और पता नहीं कि उस के बाद भी इस की क्या गति होगी। महात्मा का हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने उस के उद्धार के हेतु दीन होकर शंकरजी से कहा—प्रभो, दीनानाथ, यद्यपि इस स्त्री के कर्म तो इसी योग्य हैं, परंतु यह अज्ञान स्त्री है। इसे भले बुरे—सत् असत् का ज्ञान होता, तो ऐसी नीच भावना न करती। दूसरी बात यह है कि मेरे ही कारण इस ने उस बालिका में कलुषभाव धारण किया है। यदि वह बालिका मुझे और मैं उस बालिका को विशेष प्रेम से न देखते, तो यह इतनी भद्दी बात कदापि नहीं सोचती। इस लिए मेरी प्रार्थना है कि जैसे उस बालिका का उद्धार कर आप ने उस की आत्मा को शान्ति दी है उसी तरह इस की आत्मा को भी शान्ति दें और अपना जानकर इस के अपराधों को क्षमा कर दें।

शंकरजी का आशुतोष नाम व्यर्थ ही नहीं पड़ा है। वे जितना शीघ्र क्रुद्ध होते हैं उस से भी शीघ्र प्रसन्न होना जानते हैं। महात्माजी की प्रार्थना से तुरंत वे खुश हो गये और महात्माजी को खुश करने के लिए बोले—आप की प्रार्थना का ध्यान रखना ही पड़ेगा। परंतु शाप भी झूठा नहीं हो सकता। इस लिए मैं इसे यह वर देता हूँ कि शाप भोगकर यह शीघ्र ही उत्तम योनि प्राप्त करेगी और सद्बुद्धि की प्रेरणा से ज्ञानसंपादन कर उसी जन्म में मुक्त हो जायगी। इस के बाद शंकरजी अन्तर्धान हो गये। महात्माजी ने भी उसी क्षण वहाँ से प्रस्थान कर दिया और वे दोनों स्त्रियाँ भी हर्ष, विस्मय तथा शोक के विचित्र मिश्रण में पड़ी हुई अपने अपने घर चली गईं।

कलुषित हो गई है कि कोई भला आदमी—संत, महात्मा, सज्जन, भक्त—अपना निर्वाह इन के बीच में रहकर नहीं कर सकता; यहाँ के लोग भलों से अकारण ही जलते रहते हैं। और कहीं दुर्भाग्य से यदि कोई स्त्री भक्ति, ध्यान, वैराग्य आदि के द्वारा भला बनना चाहती है तब तो यह जलन और भयानक रूप धारण कर लेती है। अतः आप मुझे मुक्ति दिलाकर मेरा उद्धार कीजिए।

महात्माजी ने कहा—बेटी, मेरा क्या सामर्थ्य है कि मैं तुझे मुक्ति दिलाऊँ ? तूँ तो स्वयं अपने कर्मों से मुक्ति की अधिकारिणी बन गई है। तुझे अपनी शक्ति का भले ही ज्ञान न हो, पर मैं ने आज तक के अभ्यास से जो ज्ञानदृष्टि पाई है उस के द्वारा मुझे तो स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है कि तेरे बुलाने भर की देर है, नहीं तो शिवजी तो इस प्रतीक्षा में खड़े हैं कि कब तूँ आह्वान करे और वे आकर वरदान दें। इस लिए तूँ ध्यान लगाकर उन्हें बुला और अभीष्ट वर प्राप्त कर।

महात्माजी ने सच ही कहा था। बालिका ने ज्यों ही आँखें मूँदी त्यों ही ऐसा मालूम हुआ कि वह संपूर्ण कोठरी एक आश्चर्यकारी दिव्य प्रकाश से चमक उठी; साथ ही सूर्य के समान तेजयुक्त एक आकृति उन दोनों (महात्मा और बालिका)के सामने आकर खड़ी हो गई।

महात्माजी ने कहा—पुत्रि, आँखें खोलकर भगवान् शंकर का दर्शन कर; भगवान् तुझे वरदान देने आ गये हैं। और स्वयं उस तेजोमूर्ति के पैरों पर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करने लगे।

शंकरजी ने कहा—महात्मन्, तुम्हारे जैसों का ही इस जगत् में जन्म लेना सार्थक है। तुम ने अपनी तपश्चर्या, योगसाधना और समाहितचित्तता से अपने उद्धार का मार्ग तो साफ किया ही, साथ साथ संसार के अनेक अज्ञानियों को ज्ञानदृष्टिसंपन्न कर दिया। तुम्हारे ही उपदेश से इस नववयस्का बालिका ने वह भक्ति अपने हृदय में धारण की जो बड़े बड़े योगियों के लिए भी महान् दुर्लभ है। उठो और देखो कि उस की दिव्य आत्मा किस प्रकार ब्रह्म में लीन हो गई और उस का पार्थिव शरीर निस्पन्द होकर पड़ा हुआ है।

महात्मा ने आँखें खोलकर देखा, तो वे भी आश्चर्यचकित रह गये और बालिका के सौभाग्य पर धन्य धन्य कहने लगे।

उधर उन दोनों औरतों ने भी यह सब दृश्य देखा और घबड़ाकर आँखें मूँद लीं। दुष्टा की तो भय के मारे काँपने भी लगी थी। उसे लज्जा, ग्लानि, शोक, भय आदि ने एक साथ ही मिलकर झकझोर डाला। पर उस के साथवाली जो पूर्ण नहीं, तो कम से कम कुछ भक्त तो अवश्य ही थी। अतः उस ने दुबारा साहस करके नेत्र खोला और शंकरजी को देखना चाहा, लेकिन चमक की तेजी से उस की आँखें फिर चौंधिया गईं। तब वह मन ही मन शंकरजी की स्तुति करने लगी। इतने में उस ने शंकरजी को क्रोधयुक्त वाणी में कुछ कहते

सुना। शंकरजी महात्माजी से कह रहे थे कि यह बालिका तो अपने तेजः शरीर से महान् आत्मा (मेरे स्वरूप) में मिल गई। परंतु यह पापविहनी स्त्री इस के साथ बड़ा दुर्भाव रखती थी, बल्कि अभी भी उस के मन से पापपूर्ण विचार लुप्त नहीं हुए हैं। वह इस की दिव्य यात्रा में भी जादू टोना ही समझ रही है। उस ने अपनी साथिन से बार बार इस के चरित्र को कलङ्कित स्वीकार करवाना चाहा है, जिस के कारण उस बिचारी का मन भी कुछ इतस्ततः सा हो चला था, पर जन्मगत धर्मभावनापूर्ण बुद्धि के प्रभाव से वह पूर्णतः उस के चंगुल में नहीं आई, न इस बालिका के चरित्र पर हृदय से अविश्वास किया। इस लिए उस को मैं भक्ति का वर दे रहा हूँ जिस के द्वारा वह कुछ काल के उपरान्त मुक्ति पाने के योग्य हो जायगी। किंतु उस दुष्टा को मैं शाप दे रहा हूँ कि सात जन्म तक बराबर कुतिया होती रहे। उस ने कुत्तों की भाँति स्वयं तो कामुकता में ही जीवन बिताया ही है, दुर्बुद्धिवश दूसरों को भी अपनी ही तरह पापिनी समझने और बनाने का निरन्तर उद्योग किया है, अतएव उस के लिए कुत्ते की योनि प्राप्त करना ही अधिक उत्तम है।

महात्माजी सचमुच बड़े दयालु स्वभाव के थे। उन्हें यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि एक जीवात्मा अपने कर्मों के कारण आशुतोष भगवान् के क्रोध का शिकार होकर अनेक जन्मों के लिए निकृष्ट योनि में जा रहा है और पता नहीं कि उस के बाद भी इस की क्या गति होगी। महात्मा का हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने उस के उद्धार के हेतु दीन होकर शंकरजी से कहा—प्रभो, दीनानाथ, यद्यपि इस स्त्री के कर्म तो इसी योग्य हैं, परंतु यह अज्ञान स्त्री है। इसे भले बुरे—सत् असत् का ज्ञान होता, तो ऐसी नीच भावना न करती। दूसरी बात यह है कि मेरे ही कारण इस ने उस बालिका में कलुषभाव धारण किया है। यदि वह बालिका मुझे और मैं उस बालिका को विशेष प्रेम से न देखते, तो यह इतनी भद्दी बात कदापि नहीं सोचती। इस लिए मेरी प्रार्थना है कि जैसे उस बालिका का उद्धार कर आप ने उस की आत्मा को शान्ति दी है उसी तरह इस की आत्मा को भी शान्ति दें और अपना जानकर इस के अपराधों को क्षमा कर दें।

शंकरजी का आशुतोष नाम व्यर्थ ही नहीं पड़ा है। वे जितना शीघ्र क्रुद्ध होते हैं उस से भी शीघ्र प्रसन्न होना जानते हैं। महात्माजी की प्रार्थना से तुरंत वे खुश हो गये और महात्माजी को खुश करने के लिए बोले—आप की प्रार्थना का ध्यान रखना ही पड़ेगा। परंतु शाप भी झूठा नहीं हो सकता। इस लिए मैं इसे यह वर देता हूँ कि शाप भोगकर यह शीघ्र ही उत्तम योनि प्राप्त करेगी और सद्बुद्धि की प्रेरणा से ज्ञानसंपादन कर उसी जन्म में मुक्त हो जायगी। इस के बाद शंकरजी अन्तर्धान हो गये। महात्माजी ने भी उसी क्षण वहाँ से प्रस्थान कर दिया और वे दोनों स्त्रियाँ भी हर्ष, विस्मय तथा शोक के विचित्र मिश्रण में पड़ी हुई अपने अपने घर चली गईं।

इस प्रकार एक सच्चे ज्ञान विज्ञान के जानकार की सहायता से अनेकों का जन्म सार्थक हुआ अर्थात् अशुभ संसार से मुक्ति मिली। सो ज्ञानी की सहायता से अज्ञानी भी जब अशुभ से छुटकारा पा जाते हैं, तो यह भला कब संभव हो सकता है कि ज्ञानी का छुटकारा न हो? उस का छुटकारा तो अवश्यंभावी ही है—अपने मन से वह चाहे जब तक संसार में रहकर लोगों की भलाई करता रहे, नहीं यों तो वह सर्वदा मुक्त ही है; क्योंकि उस में असूया का एक दम अभाव जो है?

इस लिए भगवान् ठीक ही कहते हैं कि हे अर्जुन, तुझ असूयादोषरहित के लिए सो मैं यह अत्यन्त गोप्य विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा जिसे जानकर तूँ अशुभ से मुक्त हो जायगा। भगवान् के इस कथन से यह बड़ी सुन्दर बात प्रकट हो जाती है कि केवल ज्ञान को जानने से ही मुक्ति नहीं मिल सकती, प्रत्युत ज्ञान के साथ साथ अथवा उस के भी पहले विज्ञान की जानकारी जरूरी है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि ज्ञान कहते हैं शास्त्रों के अध्ययन और गुरु के उपदेश आदि के श्रवण से जो जानकारी हो उस को और विज्ञान कहते हैं उस के पूर्ण अनुभव को। जैसे—चीनी या गुड़ बनानेवाला कारखानेदार उन चीजों को तैयार तो कर देता है और यह ज्ञान भी रखता है कि चीनी अमुक उपाय से बनती है और गुड़ अमुक युक्ति से, परंतु उसे यह विज्ञान (अनुभव) नहीं हो सकता कि चीनी का स्वाद कैसा होता है, उस के क्या क्या गुण हैं और कौन से दोष तथा गुड़ खाने से कैसा मजा मिलता है, गुण में किं-चित्पक हानि है और किस प्रकार का दोष, इत्यादि। हाँ, इन बातों को चीनी गुड़ खानेवाला भली भाँति बतला सकता है, पर वह यह नहीं बतला सकता कि ये चीजें बनीं कैसे, यदि उसे कारखाना संबन्धी ज्ञान नहीं है। इस लिए प्रत्येक विषय की पूर्ण जानकारी वही है कि उस के निर्माण, उस के गुण और उस के दोष आदि सभी बाह्यान्तर भेदों का ठीक ठीक पता रहे। अस्तु;

विज्ञानसहित ज्ञान के जान लेने से संसारबन्धन से मुक्ति मिल जायगी, यह बात सुनकर अर्जुन ने श्री कृष्णजी से पूछा—हे प्रभो, यह विज्ञानसहित ज्ञान है क्या वस्तु? इसे जानने से केवल अशुभ से मोक्ष ही मिलता है या और भी कोई लाभ इस से होता है? कृपया इस का माहात्म्य पूरा पूरा बतलाने का अनुग्रह करें और यह भी बतलायें कि इस का ज्ञान हम क्षत्रियों के लिए धर्मविहित तो है न और इस का ज्ञान प्राप्त करने में कोई कठिनाई तो नहीं न पड़ सकती है अर्थात् इसे जानने के लिए बार बार उद्यम तो नहीं करना होगा?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, विज्ञानसहित ज्ञान की असाधारण महिमा है; यह अद्वितीय वस्तु है और बड़ा ही सरल तथा चिरस्थायी है; क्योंकि—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

यह (विज्ञान सहित ज्ञान) राजविद्या है, रहस्यराज है, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभव के योग्य, धर्म से युक्त, सुखपूर्वक आचरणीय (और) अविनाशी है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, संसार में जितने प्रकार की विद्याएँ हैं अथवा हो सकती हैं उन में यह सर्वप्रधान विद्या है अर्थात् सब विद्याओं का राजा है यह विद्या। यह अत्यन्त गोपनीय भी है, क्योंकि इस के बराबर कीमती और छिपाकर रखने-योग्य और कोई वस्तु दुनिया भर में नहीं है। इसी प्रकार यह अत्यन्त शुद्ध और पवित्र तथा सर्वोत्तम है। तूँ चाहे, तो इस का प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकता है, क्योंकि इस के समान शीघ्रतासहित प्रत्यक्ष फल देनेवाला संसार में अन्य विषय है ही नहीं। और सब से बड़ा लाभ तो यह है कि इस का आचरण करने में अपने धर्म का स्वतः पालन हो जाता है, साथ ही यह इतना सुगम है कि इसे तूँ बिना दुःख कष्ट के, सुख के साथ बैठा बैठा अपने आचरण में ला सकता है। यह अविनाशी भी है अर्थात् एक बार जान लेने पर फिर कभी विस्मृत नहीं होता।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, राजा की बहुत बड़ी महिमा है। यों कहने, देखने और सुनने में तो वह सर्वसाधारण मनुष्य सा ही आकृतिवाला होता है, पर सब में और उस में महान् अन्तर रहता है। मामूली मनुष्य का कहना उस के घर के दो चार प्राणियों पर अथवा यों कह सकते हो कि उस के खास पुत्र तक पर, कोई विशेष प्रभाव नहीं रखता, पर एक राजा की आज्ञा, बल्कि उस का जरा सा संकेत भी काफी सामर्थ्यवाला होता है। राजा अपनी अँगूठी का मुहर भी अपने हाथों नहीं लगाता, उस के लिए भी (विश्वसनीय) दास नियुक्त रहते हैं, परंतु उस मुहर का इतना अधिक रोब होता है कि हजारों या लाखों ही नहीं, प्रत्युत करोड़ों और अरबों खरबों मनुष्यों को उस के सामने मस्तक झुका देना पड़ता है। यों पीठपीछे कोई चाहे गाली ही क्यों न देता रहे, पर राजा का एक अदना चपरासी भी परवाना लेकर पहुँचा नहीं कि सब की सिट्टी बंद हो जाती है, गाली बकनेवाला इस प्रकार विनम्रभाव धारण कर लेता है, मानों खास राजा साहब के ही सामने खड़ा हो। इस का कारण क्या है? राजा का इतना गौरव क्यों? यदि वह भी और मनुष्यों के समान दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान और दो ही नाकें रखता है तथा और और भी शारीरिक चिह्नों में वह कोई विभिन्नतावाला नहीं है, तो सब की अपेक्षा वह बड़ा क्यों माना जाता है? इस का कारण यही है कि शारीरिक समानता रखते हुए भी वह अन्य बातों में बहुत विशिष्ट है। उस के शुभ संकेत से कितने गरीब निहाल, अयाची तथा वक्रदृष्टि से बड़े बड़े सेठ, साहूकार,

धनी, महाजन क्षण भर में राह के भिखारी हो जाते हैं। राजा की ही शक्ति उसे उस के पद पर आसीन रखकर उस की प्रतिष्ठावृद्धि कराती है।

मनुष्यों के राजा की भाँति ही भगवान् की कही हुई उपर्युक्त विद्या विद्याओं में राजा है। जैसे नरपति (राजा) की थोड़ी कृपा से दरिद्रों का दुःख दारिद्र जीवन भर के लिए दूर हो जाता है वैसे ही इस राजविद्या के ज्ञान से लोक परलोक दोनों जगह के दुःख दरिद्र दूर हो जाते हैं। संसार में और जितनी विद्याएँ हैं उन से केवल एकाङ्गी ज्ञान होता है—ज्योतिष से ज्योतिष (ग्रह उपग्रह आदि) का व्याकरण से भाषा का, गणित से हिसाब किताब का, साइंस से यन्त्र आदि का, आयुर्वेद से रोग और उस के निवारण का, कानून से सत्य असत्य को उलटने पलटने का ज्ञान होता है। इन में ऐसी कोई विद्या नहीं है जिसे एक के जानने से दूसरी विद्या के सम्बन्ध में जानकारी हो अथवा तद्विषयक किसी फलविशेष प्राप्ति की आशा की जा सके। वकील साहब कचहरी में अपनी पहलवानी दिखला सकते हैं, पर बीमारी को दूर करना उन के वश की बात नहीं। डाक्टर साहब रोगियों को भला चंगा कर सकते हैं, पर कचहरी के फेर में पड़ने पर वकील की मिन्नतें किये बिना काम नहीं चल सकता। भाव यह कि अन्य किसी भी विद्या का ज्ञाता एकमात्र अपनी ज्ञातविद्या से अपने को लाभान्वित बना सकता है, दूसरी में उस के हाथ पैर नहीं चल सकते; क्योंकि वे सब विद्याएँ साधारण, अकेली, एक विषय का ज्ञान करानेवाली हैं। लेकिन यह राजविद्या वैसी नहीं है। यह सर्वाङ्गपूर्ण है। संसार की सब विद्याएँ इस की दासी हैं और यह सब की रानी है। इस के बाहर कोई विषय नहीं। सृष्टि की सभी ज्ञातव्य बातें तो इस के भीतर भरी हुई हैं ही, साथ ही सृष्टि के बाहर की—परमात्मा की भी कोई बात इस के बाहर नहीं रह जाती है अर्थात् इस विद्या को जाननेवाला आत्मा परमात्मा सब का ज्ञाता हो जाता है। उस के लिए संसार में और कुछ जानना जरूरी नहीं रह जाता; और यही इस के राजविद्या होने का सब से प्रबल प्रमाण है।

यह विद्या सब को बतलाने के योग्य नहीं होती, जो इस को जानने का सच्चा अधिकार रखता हो उसी को यह बतलाई जाती है, इसी से इसे राजगुह्य कहा गया है। राजगुह्य का यह अर्थ लगाना भूल है कि यह विद्या किसी से कहनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि यदि राजगुह्य शब्द का यह अर्थ होता तब तो भगवान् भी अर्जुन को उस का ज्ञान नहीं करा सकते थे, वैसा करने पर वे अपने ही कथनानुसार झूठे पड़ जाते। इस विद्या के जानने से धर्म का वास्तविक पालन होता है, धर्म के विषय में संदेह नहीं रह जाता, इसी से इसे धर्म्य कहा गया है। यह बड़ी पवित्र, बड़ी उत्तम और बड़ी सुखसाध्य विद्या है। इस का फल भी प्रत्यक्ष होकर प्राप्त हो जाता है और इस का ज्ञान कभी विनष्ट नहीं होता, बल्कि क्रमशः उन्नत ही होता जाता है। अस्तु;

શ્રદ્ધાશક્તિનું પુનરાગમન (અ ૯ શ્લો. ૩)

श्रद्धारहित का पुनरागमन (अ० ९ श्लो० ३)

विज्ञान सहित ज्ञान की इतनी अधिक प्रशंसा और माहात्म्य सुनकर अर्जुन ने भगवान् से पूछा—हे भगवन्, जिस विद्या का ज्ञान इतना व्यापक प्रभाव रखता है उस का ज्ञान तो मनुष्यमात्र के लिए परम आवश्यक है। परंतु संसार की हालत देखने से तो यही मालूम होता है कि ऐसे ही कोई एक आध भाग्यवान् इस के जाननेवाले हो तो हों। अधिकांश लोग तो इस का नाम भी शायद ही जानते हों ? इस का कारण क्या है कि सब लोग इसे नहीं सीखते, न आप को पाने का प्रयास करते हैं ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, इस प्रधान कारण अश्रद्धा और अविश्वास है। क्षणिक सुखों के पीछे पड़कर संसारी लोग इस की ओर ध्यान नहीं देना चाहते। दुर्भाग्यवश उन से ससारी प्रलोभनों का परित्याग ही नहीं हो पाता है, फिर इस के प्रति उन की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ?

अर्जुन ने पूछा—प्रभो, इस मूढ़ता के लिए उन्हें कोई दण्ड दिया जाता है कि नहीं ?

भगवान् ने कहा—यह भला कब संभव है कि मूढ़ता करके कोई उस का दुष्परिणाम (भोगदण्ड) पाने से बाकी रह जाय ? किंतु एक बात अवश्य है कि उस के लिए उन्हें अन्य कोई दण्ड नहीं देता, बल्कि वे स्वयं अपने आप ही दण्ड पा लिया करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्, इस का क्या अभिप्राय है ? अपने आप कोई दण्ड किस तरह पाता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—अपनी करनी का बुरा फल भोगना ही अपने आप दण्ड भोगना है। इसी के अनुसार इस राजविद्या में श्रद्धा न रखनेवालों की भी गति सम झनी चाहिए, क्योंकि—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप, इस धर्म की श्रद्धा से रहित पुरुष मुझे न पाकर मृत्युयुक्त संसार के मार्ग में (वारंवार) लौट आया करते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो पुरुष इस पवित्र, अत्युत्तम, साक्षात् फल देनेवाले, अतिशय सुगम, अविनाशी विज्ञान सहित ज्ञान और आत्मज्ञान करानेवाले सत्य सनातन धर्म में श्रद्धा नहीं रखते अर्थात् इस को अनादर और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं वे लोग मुझे नहीं प्राप्त कर सकते और इसी कारण से ऐसे लोगों को मृत्युरूप महाकष्ट प्राप्त करानेवाले असार संसार में फिर फिर वापस आकर जन्म धारण करना और नाना दुःख भोगना पड़ता है।

व्या० प्र०— परम प्रभुप्रेमी सज्जनो, ऊपर के श्लोक में भगवान् ने बतलाया है कि यह विद्या, जिस का मैं उपदेश कर रहा हूँ, सब विद्याओं की सिरताज विद्या है। सब विद्याएँ इस की दासी हैं और यह सब की स्वामिनी है। और साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यह विद्या अत्यन्त सरल भी है। यह तो बड़ी विचित्र बात है, क्योंकि स्वाभाविक नियम तो यही है कि जो वस्तु जितने ऊँचे दर्जे की होती है वह उतनी ही कीमती होती है, जिस कार्य से जितने अधिक फल की प्राप्ति होती है उस के करने में उतना ही अधिक परिश्रम खर्च होता है। इसी प्रकार जो सब से अधिक उत्तम फल देनेवाली विद्या है उस का सब की अपेक्षा अधिकतर क्लिष्ट होना ही स्वाभाविक कहा जा सकता था। फिर भगवान् ने ऐसी अस्वाभाविक बात क्यों कही कि यह विद्या सब से बड़ी होती हुई भी सब से ज्यादा सुगम है? इस कथन का अभिप्राय यही है कि और और विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी को अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं। और विद्याएँ रात रात भर जागकर सौ सौ, हजार हजार बार रटनी पड़ती हैं, पुनः पुनः उन की आवृत्ति न करे, तो वे भूल जाती हैं और सब से पहले उन के ज्ञान में बड़ी बड़ी पुस्तकों की जुगाड़ जरूरी होती है। परंतु इस विद्या में यह सब कोई भी व्यापार आवश्यक नहीं है। रात भर जागना, पोथी और लालटेन की रोशनी का संयोग मिलाकर आँखों को व्यायाम कराना और सारा शरीर हिला हिलाकर 'घोखना' आदि कोई भी झंझट इस में नहीं करनी पड़ती। इस विद्या को जानने के लिए जर्मनी और अमेरिका से पुस्तकों के पार्सल नहीं मँगाने पड़ते। इस में तो एकमात्र यही आवश्यक कर्तव्य करना होता है कि इस के प्रति अटूट श्रद्धा अपने हृदय में धारण की जाय। बस, यही इस की सरलता है। भगवान् के संबन्ध में शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने और उन की महिमा का अनुभव करने के लिए भक्त के हृदय में केवल श्रद्धा रहनी चाहिए—भगवान् के अस्तित्व में विश्वास रखनेवाला सच्चा आस्तिक होना ही भगवान् को जानने और जानकर पाने की एकमात्र कुंजी है। इसी लिए लोक में कहा भी जाता है कि परमेश्वर श्रद्धा और विश्वास के प्रतीक हैं, साक्षात् श्रद्धा और विश्वासरूप हैं। तुलसीदासजी ने इसी अभिप्राय से रामायण के प्रारम्भ में वन्दना करते हुए कहा भी है कि—

'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥'

'श्रद्धा और विश्वास की प्रतिमूर्ति श्री भवानी और भवानिपति भोलेनाथ शंकरजी को मैं नमस्कार करता हूँ जिन को हृदय में धारित किये बिना बड़े बड़े सिद्ध भी अपने हृदय में ही रहनेवाले ईश्वर का साक्षात्कार करने में असमर्थ रह जाते हैं।' श्रद्धाविश्वासपूर्णभावना-भावित हृदय ही परमात्मा को जानने और तदनन्तर परम गति प्राप्त करने में समर्थ होता है।

कोई चारों वेद, छहों शास्त्र, अठारहों पुराण, उपपुराण, स्मृति आदि धर्मशास्त्र और अन्य संसार भर की विद्याओं का पारंगत विद्वान् भले ही हो जाय, किंतु यदि हृदय में एक श्रद्धा नहीं है, तो उस का समस्त शास्त्रीय ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि वह महान् विद्वान् होकर भी ईश्वर का ज्ञान पाने के सौभाग्य से सर्वथा वञ्चित है। और यदि एक निरक्षरभट्टाचार्य भगवान् का भक्त ईश्वर के प्रति अपने हृदय में अटूट श्रद्धा रखनेवाला है, तो शास्त्रों के सबन्ध में उस का कोरा रहना भी कोई हानिकर नहीं, क्योंकि केवल श्रद्धा ही उसे वह अक्षय संपत्ति (मुक्ति-निधि) दिला देगी जो प्राप्त होने योग्य समस्त पदार्थों में सर्वोपरि है। देखो, स्वामी रामदास, भक्त ज्ञानेश्वर, गुरु गोविन्दसिंह आदि कितने बड़े ज्ञानी महात्मा प्रसिद्ध हैं। पर इन लोगों ने किन किन शास्त्रों का अध्ययन किया था ? क्या ये लोग वैदिक, वेदान्ती, वैयाकरण, ज्योतिषी, नैयायिक, मीमांसक, पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा धर्मशास्त्री थे ? नहीं। तब इन लोगों को महात्मा और तदुपरि ज्ञानी की उपाधि कैसे मिली ? इन लोगों के नाम अमर क्यों हो गये ? इन की कीर्ति आज दिग्दिगन्त में किस की कृपा से फैली हुई है ? कहना पड़ता है कि केवल श्रद्धा और विश्वास का यह परिणाम है कि इन लोगों ने भगवान् का साक्षात् दर्शन और परम पद मोक्ष भी पा लिया तथा आज तक के लिए ही नहीं, बल्कि कल्प कल्पान्त तक के लिए संसार में अपना शुभ्र यश भी फैला दिया। इस लिए मानना पड़ेगा कि ज्यादा पढ़ना नहीं, वरन् ज्यादा श्रद्धा रखना ही मनुष्य को सब से बड़ा लाभ दिलानेवाला सिद्ध होता है। अधिकतर यही देखने में आता है कि अपढ़ और गँवार कहे जानेवालों में श्रद्धा विश्वास की जितनी दृढ़ मात्रा वर्तमान रहती है उतनी पढ़े लिखे सुशिक्षित सभ्यों में नहीं। भारतीय अभारतीय सभी प्रकार के संत महात्माओं के जीवनचरित्र पढ़नेवालों को यह बात भली भाँति मालूम भी होगी कि उन में प्रायः सत्ते प्रतिशत साक्षर कहलाने की योग्यता नहीं रखते थे, फिर भी पहुँचे हुए महात्मा होकर जीवन्मुक्त और सर्वज्ञमुक्त की उपाधि उन्होंने प्राप्त कर ली। यहाँ मैं श्रद्धा विश्वास की महत्ता प्रमाणित करानेवाला एक छोटा सा चुटकुला सुना देना चाहता हूँ।

एक महात्मा के पास साक्षर निरक्षर तथा दिखौआ और सच्चे सभी प्रकार के दर्शनार्थी भक्त जाया करते थे। उन में कितने ही जिज्ञासु, कितने ही सत्संगी और कितने ही समय की अधिकता से ऊबे हुए मनोरञ्जनार्थीमात्र भी रहा करते थे। एक दिन एक बेपढ़ा लिखा दिहाती किसान भी बाबाजी की तारीफों से खिंचकर उन के दर्शनार्थ वहाँ उपस्थित हुआ। कुछ देर बैठने और नाना प्रकार की भगवच्चर्चा सुनने से ही उस के हृदय में भगवान् को जानने की इतनी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो पड़ी कि कोई पढ़ा लिखा शायद वर्षों के उपदेशश्रवण से भी उतना दृढ़ जिज्ञासु नहीं हो सकता था।

किसान ने महात्माजी के चरणस्पर्श किये और कहा—स्वामीजी, मुझे भगवान् को बता दो। मैं भगवान् को देखना चाहता हूँ। वे कहाँ मिलेंगे? उन के घर का रास्ता मुझे दिखला दो। मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूँगा गुरुजी, उन का दर्शन करा दो।

महात्माजी ने उस का तद्विषयक अधिकार अनधिकार जानने के लिए कहा—भगतजी, भगवान् को देखना जौ चने की खेती नहीं कि खेत में बीज बोकर पानी देते रहने से ही सुफल प्राप्त हो जाय। भगवान् को जानना या देखना जरा टेढ़ी खीर है। उन्हें देखने में बहुत देर लगती है। इस फेर में पड़ोगे, तो तुम्हारी खेती बारी का सिलसिला बिगड़ जायगा।

किसान ने कहा—चाहे जो कुछ भी हो, पर मैं तो भगवान् को जरूर देखना चाहता हूँ। इस लिए जब तक उन्हें देख सकने का रास्ता या उपाय नहीं बताओगे तब तक मैं यहाँ से जाऊँगा ही नहीं। और अभी कुछ देर पहले तो एक भगत से तुम्हीं कह रहे थे गुरुजी, कि भगवान् को देखने के लिए साधु बनकर घर छोड़ने की जरूरत नहीं, सिर्फ सच्ची लगन रखने से ही सब लाभ हो जाता है। फिर मुझे चकमा देकर टरका क्यों रहे हो?

महात्माजी ने कहा—तो क्या तुम्हारे अंदर उन से सच्ची लगन लग गई है कि इस तरह हठ करके उन्हें जानना और देखना चाहते हो?

किसान ने कहा—यह तो मैं नहीं जानता हूँ कि लगन लगी है या नहीं, लेकिन उन्हें देखना जरूर चाहता हूँ, और देखने का उपाय जाने बिना यहाँ से टलने का नाम नहीं ले सकता। इस के पीछे चाहे मेरी जिंदगी ही यहीं खतम क्यों न हो जाय। इस लिए मुझ पर कृपा करो और यही रास्ता बता दो कि घर गृहस्थी भी न छोड़नी पड़े और उन को देखने लायक भी बन जाऊँ।

महात्माजी ने ठोंक ठठाकर देख लिया कि किसान की भगवान् में पक्की लगन लग गई है। इस लिए इसे नामजप का उपदेश देने में किसी तरह का दोष लगने की संभावना नहीं है। यह योग्य अधिकारी मालूम हो रहा है, अतः गोपीकृष्ण अथवा गोपीनाथ का नाम जपने का उपदेश दे डालना चाहिए। उन्होंने किसान से कहा—तुम्हारे जैसे मनुष्य ही भगवान् की कृपा पा सकते हैं, इस में संशय नहीं। तुम आज जितनी दृढ़ता से भगवान् को जानने या देखने के फेर में पड़े दिखलाई पड़ रहे हो वैसे ही अगर अन्त तक रह गये, तो निःसंदेह भगवान् को तुम्हें दर्शन देना पड़ेगा; और मैं आशीर्वाद देता हूँ कि भगवान् में तुम्हारी आजन्म ऐसी ही भक्ति बनी रहे। जाओ, तुम खुशी के साथ अपनी गृहस्थी भी चलाते रहो और भगवान् का नाम भी जपते रहो, तुम्हें एक दिन अवश्य भगवान् के दर्शन मिलेंगे।

किसान ने खुश होकर पूछा—गुरुजी, भगवान् भगवान् ही जपा करूँगा या उन का कोई दूसरा नाम जपूँगा? क्योंकि मैं ने सुना है कि भगवान् के नामों का आदि अन्त

नहीं है, इस लिए जानना चाहता हूँ कि उन के कौन से नाम का जप करना मेरे हक में ज्यादा अच्छा हो सकता है ?

महात्मा ने कहा—तुम गोप (अहीर) जाति के हो, इस लिए भगवान् का 'गोपीनाथ' अथवा 'गोपाल' नाम तुम्हारे लिए अधिक सान्निध्य (नजदीकी) उपस्थित करनेवाला सिद्ध होगा। इस लिए इन दोनों में जो नाम तुम्हें अच्छा और सुगम मालूम पड़े उसी का जप किया करो।

किसान ने कहा—मुझे तो गोपीनाथ ही अच्छा लग रहा है। इस लिए मुझे यही नाम जपने का हुक्म दो गुरुजी !

महात्माजी ने कहा—अच्छी बात है। जाओ इसी नाम में सारी श्रद्धा और विश्वास आरोपित करके आज से ही इस का दिन रात जप करना आरम्भ कर दो।

किसान ने महात्माजी के चरणों पर सिर नवाया और 'गोपीनाथ, गोपीनाथ' कहता हुआ अपने घर का रास्ता लिया। उस ने महात्माजी के समुख जो नामजप शुरू किया वह तब तक लगातार जारी रहा जब तक कि पूरी नींद में बेखबर नहीं हो गया। दूसरे दिन सोकर उठते ही उस ने फिर वही नाम जपना शुरू कर दिया और निद्रावस्था में पहुँचने तक बराबर वही रट लगाये रहा और कभी कभी नींद में भी वैसे ही बकता रहा। तात्पर्य यह कि उस ने सोते जागते, चलते फिरते, खाते पीते, जोतते बोते, काटते दाँते हुए सर्वदा सम्पूर्ण श्रद्धा सहित भगवन्नामस्मरण में अपने को तल्लीन कर दिया।

इस प्रकार जप करते करते छ महीने गुजर गये, पर भगवान् का कहीं न तो पता लगा, न साक्षात् दर्शन ही हुआ। तब किसान सोचने लगा कि बाबाजी के कहने के मुताबिक तो अब तक मुझे भगवान् का दर्शन जरूर मिल जाना चाहिए था। उन्होंने कहा था कि बहुत जल्द भगवान् खुद आकर तुम्हें दर्शन देंगे, अगर श्रद्धा और विश्वास में कमी न होने पायेगी, तो भगवान् के आने में देर भी नहीं लगने पायेगी। लेकिन छ महीने का समय तो कम समय नहीं है। फिर क्या कारण है कि भगवान् अभी तक मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हुए ? मैं ने अपनी समझ भर कभी श्रद्धा कम नहीं की। इस लिए फिर उन्हीं के पास चलकर पूछना चाहिए कि भगवान् कब तक दर्शन देंगे।

किसान छ महीने के बाद फिर महात्माजी के आश्रम पर गया और भक्ति सहित प्रणाम करने के बाद पूछा—महाराज, आप ने जैसा कहा था उसी विधि से मैं आज तक रहा और पल भर के लिए भी भगवान् का 'गोपीनाथ' नाम लेना नहीं भूला; फिर भी आज तक उन का दर्शन नहीं मिला। आप ने कहा था कि सच्ची लगन रहने पर भगवान् को विवश होकर दर्शन देने आना पड़ता है, और वे आये आज तक नहीं। और मैं जहाँ तक जानता हूँ, मेरी

लगन में सचाई की जरा भी कमी नहीं आने पाई है। इस लिए अब बतलाइए कि मेरा भाग्य कैसे खुलेगा, भगवान् मुझे कब तक दर्शन देंगे ?

महात्मा ने हँसकर कहा—भक्तवर, तुम्हारे लिए जो छः महीना है, हो सकता है कि भगवान् और उन की भक्ति के लिए वह छः मुहूर्त के बराबर भी न हो। ऐसी हालत में तो शायद तुम नहीं कह सकते कि बहुत देर से लगन लगाने पर भी भगवान् ने कृपा नहीं की ?

किसान ने कहा—तो क्या भगवान् का समय इतना धीरे धीरे बीतता है कि उन को अभी भी देर होती नहीं मालूम होती होगी ?

महात्मा ने कहा—हाँ, इस से भी अधिक समय की उन के यहाँ कोई गिनती न हो, तो आश्चर्य में नहीं पड़ना चाहिए। तुम तो अभी यों भी बहुत कच्चे हो; जिन लोगों ने बीसों वर्ष से भक्तिपथ में पैर रख दिया है और जिन का दावा है कि मेरी तल्लीनता अटूट है उन्हें भी पता नहीं कि अभी कितने दिन के बाद भगवद्दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो। इस लिए घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं; जाओ और अधिक से अधिक लौ लगाकर भगवान् का भजन करो, तुम्हें अवश्य भगवान् के दर्शन होंगे।

किसान ने कहा—अधिक लौ लगाने का उपाय क्या है ?

महात्मा ने पूछा—अब तक जो नाम तुम जपते आये हो उस के उच्चारण पर तुम्हारा ध्यान रहता था या नहीं ?

किसान ने कहा—वाह महाराज, नाम पर ही ध्यान नहीं रखूँगा, तो लगन क्या पत्थर लगेगी ? मैं खूब ख्याल कर करके गोपीनाथ गोपीनाथ कहा करता हूँ, एक बार भी यह कहने में भूल नहीं होने देता हूँ। अगर कभी संयोग से कोई गलती हो ही जाती है, तो उस के लिए हजार हजार बार पछतावा करता हूँ कि ऐसा अपराध मुझ से क्यों हो गया ?

महात्मा ने मुस्कुराकर कहा—यही तो लगन की कचाई है भगतजी ! इस लिए आज से तुम इस बात को भी भूल जाने की कोशिश करो कि तुम्हारे मुँह से कब किस रूप में भगवान् का नामोच्चारण होता है। तुम सिर्फ यही ध्यान करते रहो कि परमात्मा सब जगह है, एक तिनका भी उन के रहने से खाली नहीं है, बस। तुम अब यह कभी मत सोचो कि भगवान् का नाम लेने में जो जो अक्षर मेरे मुँह से निकल रहे हैं वे सही होते हैं या गलत। तुम तो सिर्फ भगवान् को याद रखो कि वे किस प्रकार संसार भर में व्याप्त होकर अपने भक्तों को दर्शन देते रहते हैं। ऐसा करने से तुम बहुत शीघ्र सफलता पा लोगे।

किसान ने कहा—अच्छा, अब ऐसी ही कोशिश रखूँगा। देखूँ कब तक उन की दया होती है। इस के बाद वह वहाँ से चल पड़ा और रास्ते भर यही सोचता हुआ घर पहुँचा कि भगवान् सब जगह किस तरह रहते हैं और किस ढंग से प्रत्यक्ष होकर दर्शन देते हैं। अब

वह गोपीनाथ कह कहकर भक्ति प्रकट करने में विशेषता नहीं समझ रहा था, फिर भी अभ्यासवश वह नाम तो उस के मुँह से निकला ही करता था। हाँ, इतना अन्तर अवश्य पड़ गया कि अब कभी कभी 'गोपीनाथ' की जगह भूल से 'गप्पीनाथ' या और कोई टेढ़ा शब्द उस के मुँह से निकल जाता, तो उस का उधर ध्यान नहीं जाता; क्योंकि अब वह तन मन से केवल भगवान् के चिन्तन में लीन हो रहा था। इसी का नाम सची लगन या पक्की लौ है। इस दशा में पहुँचने पर भक्त शाब्दिक शुद्धाशुद्धि पर ध्यान नहीं दे पाता, उसे उधर ध्यान कर सकने भर को अवसर ही नहीं मिल पाता है, वह तो केवल भगवान् के रूप गुण की बात सोचने में मस्त रहता है। यही दशा उस किसान की हो गई थी। उस का बाहरी होश हवास विलीन हो चुका था और भीतरी प्रकाश देख देखकर वह खुश होता हुआ कभी गोपीनाथ, कभी गप्पीनाथ, कभी पोगीनाथ की धुन लगाये जाता था। लेकिन उस शब्दगत तोड़ मरोड़ पर जिस प्रकार उस किसान का ध्यान नहीं था उसी प्रकार भगवान् भी अपने नाम की दुर्दशा पर कान नहीं दे रहे थे। किसान के हृदय में भगवान् की दिव्य साकार मूर्ति विराजमान् थी, इस लिए भगवान् भी उस के हृदय को ही ध्यान सहित देख रहे थे। इतने में भगवान् ने सुना कि बन का वही अपढ़ किसान भक्त ज़ोर ज़ोर से पुकारकर उन्हें अपने पास बुला रहा है—कहता है कि हे गप्पीनाथ, अपनी प्यारी गोपी के साथ आकर मुझे दर्शन देने में देर क्यों कर रहे हो? क्या तुम्हें मेरी आवाज़ नहीं सुनाई पड़ती है कि मैं कितने दिनों से तुम्हारे दर्शनों के लिए बेहाल हो रहा हूँ? भगवान् के लिए अब विलम्ब करना असंभव था। उन की यह आदत नहीं कि भक्त की पुकार उन के कानों तक पहुँच जाय और वे अपने आसन को न छोड़ दें। भगवान् तुरंत उठकर खड़े हो गये और गले में लटकता हुआ पीताम्बर सँभालते सँभालते चलने की तैयारी करने लगे। लक्ष्मीजी प्रेमपूर्वक सेवा में लगी हुई थीं। एकाएक उस में विघ्न पड़ते देख उन्होंने पूछा—नाथ, क्या मेरी सेवा में कोई त्रुटि पड़ गई कि आप झमककर उठ गये।

भगवान् ने कहा—नहीं प्रिये, तुम सेवा करो और उस में त्रुटि का समावेश? यह असंभव है। बात मेरी पुरानी आदत की है कि मुझे आराम छोड़कर यात्रा की धुन में पड़ जाना पड़ा।

लक्ष्मीजी ने कहा—समझ गई। कोई दरिद्रनारायण कहीं टेर लगा रहे होंगे। है न यही बात?

भगवान् ने कहा—हाँ; यह नहीं, तो क्या धनीनारायण की बात होगी? धनी लोगों को तुम अवकाश ही कब देती हो कि वे तुम्हें छोड़कर मुझे पुकारें। अच्छा, अब मुझे जाने दो। बात चीत में विलम्ब करने का अवसर नहीं है। भक्त बड़ी व्याकुलता से पुकार लगा रहा है।

लक्ष्मीजी ने कहा—अगर प्रभु की आज्ञा हो, तो मैं चलकर जरा आप के भक्तराज के दर्शन कर नेत्र सफल करूँ ।

भगवान् ने आज्ञा दे दी । लक्ष्मीजी और भगवान् दोनों साथ साथ किसान के घर जा पहुँचे और वहाँ जाकर देखा कि पहले जहाँ कभी कभी गोपीनाथ भी कह लिया करता था वहाँ अब बिल्कुल बेसुध बुध का होकर केवल *गप्पीनाथ गप्पीनाथ* कहकर उच्च स्वर से टेर लगा रहा है । यह सुनकर लक्ष्मीजी को बड़ा संदेह हुआ कि भगवान् किस के पुकारने पर यहाँ आ धमके हैं ? भगवान् का नाम तो यह एक बार भी नहीं ले रहा है ! उन्होंने भगवान् से पूछा—प्रभो, यह किसान आप का नाम कहाँ कह रहा है कि आप दौड़े चले आये ?

भगवान् ने कहा—संसार में ऐसा कोई नाम और रूप नहीं जो मुझ को छोड़कर कोई अर्थ रखता हो। तुम्हारे सुनने में भले ही वह दूसरे का नाम मालूम होता हो, पर मैं भली भाँति जान रहा हूँ कि वह मेरा ही नाम है।

लक्ष्मीजी ने कहा—यदि ऐसी बात है, तो कृपाकर आप कुछ देर कष्ट सहिए और सामनेवाले उस गड्ढे में छिपकर बैठ जाइए। मैं जरा इस की भक्ति की परीक्षा करना चाहती हूँ।

लक्ष्मीजी भी भगवान् की कम भक्त नहीं हैं, न उन की सेवा शुश्रूषा, पूजा अर्चा ही किसी भक्त से कम करती हैं; फिर भगवान् उन के कहने से गड्ढे में तो क्या, बड़े से बड़े कुँए में भी कूद पड़ें, तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। भगवान् लक्ष्मीजी के बताये हुए गड्ढे में छिपकर बैठ गये। तब लक्ष्मीजी भक्त किसान के निकट गईं जहाँ वह बिना सुध बुध का होकर—सांसारिक सब प्रकार के प्रपञ्चों को भूलकर—एकमात्र भगवान् में दत्तचित्त हुआ मनमाना नाम (गप्पीनाथ) रट रहा था। वहाँ जाकर लक्ष्मीजी ने उस से पूछा कि अरे खेतिहर, तूँ अपनी और अपने परिवार की प्रधान जीविका (खेती) की ओर से असावधान होकर पागलों की तरह अनमना सा क्या कर रहा है ?

किसान ने पहले तो सुना ही नहीं कि मुझ से कोई कुछ कह रहा है, पर कई बार जब लक्ष्मीजी ने अपना प्रश्न दुहराया और उस का शरीर स्पर्श करके सचेत किया, तो उस ने ऊपर सिर उठाकर देखा कि सामने लक्ष्मी महारानी खड़ी हैं। उन्हें पहचानते ही उस ने झुककर प्रणाम किया और कहा कि भगवती, मैं तुम्हारे पतिदेव के दर्शनों का भूखा हूँ जो यहाँ तक आकर भी तुम्हारे कहने से मुझ से छिपकर उस गड्ढे में बैठे हुए हैं। इस लिए मैं तुम्हारे पैर पड़ता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि अब मेरा भाग्योदय होने देने में अधिक देर मत होने दो और उन्हें कहो कि शीघ्र दर्शन देकर मेरा जन्म सफल करें।

लक्ष्मीजी को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ा कि इस ने कैसे मुझे पहचान लिया और किस प्रकार जान लिया कि भगवान् को मैं ने गड्ढे में छिपा दिया है, परंतु सच्चे भक्त के ज्ञान-

जिज्ञासु को महात्मा का उपदेश
મહાત્માનો જીજ્ઞાસુને ઉપદેશ.

कथाश्रवण से किसान को जिज्ञासा
કથાશ્રવણથી ખેડુતની જીજ્ઞાસા.

श्री लक्ष्मी द्वारा किसान की परीक्षा
શ્રી લક્ષ્મીજી દ્વારા ખેડુતની પરિક્ષા.

गुरु के कहने से भगवान् में विश्वास
ગુરૂના કહેવાથી ભગવાનમાં વિશ્વાસ.

चक्षुओं से भगवान् कभी छिपे नहीं रह सकते, ऐसा जानकर उन्हें पूर्ण विश्वास के साथ मानना पड़ा कि यह अपढ़ किसान भक्ति की उस सीमा पर पहुँच गया है जहाँ जाने पर भगवान् को उस की मनोवाञ्छा पूरी करनी ही पड़ती है। अब उन्होंने मान लिया कि इस की पुकार पर भगवान् का यहाँ आना अस्वाभाविक नहीं हुआ है। इस लिए वे तुरंत दौड़ी हुई भगवान् के पास गईं और उन से कहा कि स्वामिन्, आप और आप के भक्त दोनों ही धन्य हैं। आप लोगों की कार्यप्रणाली, रूप रेखा, रहन सहन, बोल चाल आदि सभी बातें निराली होती हैं। जिन का वास्तविक मर्म जानना सर्वसाधारण के लिए दुरूह ही नहीं, बल्कि असंभव है। मैं नहीं जानती थी कि गप्पीनाथ और गोपीनाथ कभी एक अर्थवाले शब्द हो सकते हैं, पर आज यह असंभावित अर्थ भी मुझे ज्ञात हो गया। मैं अपनी चञ्चलता के लिए आप से क्षमा चाहती हूँ। अब मेरी प्रार्थना है कि आप शीघ्रातिशीघ्र उस के पास चलकर उस की विकलता दूर करें।

भगवान् गड्ढे में से बाहर निकल आये और हँसते हुए लक्ष्मीजी से बोले—प्रिये, तुम क्या किसी भक्त से कम हो कि अपने को धन्य धन्य नहीं समझना चाहती हो? और चञ्चलता तो तुम्हारा प्रधान प्राकृतिक गुण है! फिर उस के लिए क्षमा कैसी? यह गुण जिस दिन तुम छोड़ दोगी उस दिन तुम श्रीमती भगवत्प्रिया लक्ष्मीजी नहीं रह जाओगी, न मेरे उस विशिष्ट प्रेम का जो तुम्हारे ही अस्तित्व से अस्तित्ववान् है, कहीं आधार अथवा आश्रय ही रह जायगा। अच्छा, चलो अब भक्त का कल्याणसाधन करने चलें।

भगवान् भगवती के साथ भक्त किसान के समीप गये, तो देखा कि वह फिर उसी प्रकार अपनी धुन में मस्त हो चुका है। भगवान् उस की श्रद्धा भक्ति की अपूर्वता देखकर मुग्ध हो गये और गद्गद कण्ठ से पुकारकर बोले—भक्तराज, उठो। देखो, मैं तुम्हारी भक्ति का प्रत्यक्ष फल तुम्हारे सामने खड़ा हूँ।

भक्त किसान ने भगवान् की वाणी पहचान ली, पर उस ने सोचा कि जिन गुरु की कृपा और उपदेश से आज मैं ऐसा सौभाग्यशाली हुआ हूँ उन्हें गुरुदक्षिणा दिये बिना यह (भगवद्दर्शनरूप) सुखभोग करना उचित नहीं। इस लिए उस ने कहा—मेरी भक्ति के प्रत्यक्ष फल तो भगवान् ही हो सकते हैं, किन्तु मैं यह कैसे समझूँ कि आप सचमुच भगवान् ही हैं?

अन्तर्यामी भगवान् ने उस की गुरुभक्ति देखकर और अधिक प्रसन्न होकर कहा—अब तो तुम्हीं जानो कि मेरे भगवत्त्व पर किस प्रकार तुम्हारा विश्वास जम सकता है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ और कहता ही हूँ कि मैं ही तुम्हारी भक्ति का साक्षात् परिणाम सर्वव्यापक भगवान् तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष होकर उपस्थित हूँ।

किसान ने कहा—अगर आप मेरे ही ऊपर यह निर्णयभार डाल रहे हैं, तो मैं तो सिर्फ गुरु महाराज के कहने से विश्वास कर सकता हूँ जिन्होंने मुझे इस राह का राही बनाया। इस लिए आप कुछ देर यहाँ खड़ा रहना मंजूर करें तो मैं जाकर उन्हें बुला लाऊँ कि वे आप को पहचानकर मुझ में विश्वास स्थिर करें।

भगवान् ने कहा—अच्छा जाओ, ऐसा ही करो। मैं तुम्हारे कहने के अनुसार यहीं खड़ा रहूँगा जब तक तुम लौट नहीं आओगे। किंतु देखना, अधिक विलम्ब न करना, नहीं तो मैं चला जाऊँगा।

किसान समझ गया कि भगवान् मेरी दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए ही ऐसा कह रहे हैं। इस लिए वह जाते जाते रुक गया और कहा कि नहीं, इस तरह मैं नहीं जाऊँगा। कारण, क्या जाने गुरुजी आश्रम पर न हों और उन्हें ढूँढ़ने में मुझे देर लग जाय। इस लिए आप यह स्वीकार कर लीजिए कि मैं चाहे जितनी देर में आऊँ, पर आप बिना मेरे लौटे यहाँ से नहीं जायेंगे तब तो मैं गुरुजी को बुलाने जा सकता हूँ और नहीं, तो आप जाइए, और मुझे अपना काम करने दीजिए। मेरे गुरु का बताया हुआ रास्ता अगर सही है, तो मैं अपने असली भगवान् को जैसे होगा तैसे बुला लूँगा।

भगवान् को मालूम हो गया कि भक्त को अपनी भक्ति में जितना हठ, जितनी श्रद्धा और जितना विश्वास होना चाहिए उतना इस भक्त में सब तरह से है। इस लिए उन्होंने खुश होकर वहाँ उस के लौटने तक रहना स्वीकार कर लिया और उसे जाने की अनुमति दे दी।

किसान उसी प्रकार गोपीनाथ या गप्पीनाथ रटता हुआ मस्ती की चाल से गुरु को बुलाने चला गया। भगवान् और लक्ष्मीजी दोनों प्राणी वहीं खड़े खड़े उस की निश्चल भक्ति की बार बार प्रशंसा करते रहे। कुछ देर में किसान अपने गुरु को साथ लिये हुए वापस आ गया और गुरु को दिखलाते हुए कुछ दूर से ही कहा—यही महाशय कहते हैं कि मैं ही तुम्हारी भक्ति का प्रत्यक्ष फल भगवान् हूँ और तुम्हारी भक्ति से खुश होकर तुम्हें दर्शन देने आया हूँ। सो आप ठीक ठीक देखकर बतलायें कि इन का कहना कहाँ तक सच है।

महात्मा ने कहा—भगतजी, तुम कहने के लिए मेरे शिष्य हो, तो क्या हुआ? मैं सच कहता हूँ कि अपनी साधना में तुम मुझ से बहुत आगे बढ़ गये हो। सचमुच ही ये दोनों प्राणी साक्षात् लक्ष्मी नारायण हैं और तुम्हारे कहने से पाँव पियादे यहाँ आकर भी अब तक जहाँ के तहाँ खड़े हैं। तुम ने इन लोगों को बड़ा कष्ट दिया। चलो, चलो, पैर पर गिरकर क्षमा माँगो। इतना कहते हुए महात्माजी ने दौड़कर भगवान् के चरण पकड़ लिये और उसे प्रेमाश्रु से भिँगोते हुए अनेक प्रकार की स्तुति करने लगे। किसान भी अब विह्वल होकर

भगवान् के चरणों पर गिर पड़ा और भीतर ही भीतर (क्योंकि खुलकर किसी प्रकार का स्तोत्रपाठ करना उसे मालूम नहीं था) नाना प्रकार की प्रार्थना करने लगा।

भगवान् ने अपने भक्त को उठाकर गले लगाया और अखण्ड भक्ति के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति का वरदान देकर लक्ष्मीजी के साथ वहीं अन्तर्धान हो गये। श्रद्धा और विश्वास की यही महिमा है। यदि किसान प्रथम में गुरु की बातों पर श्रद्धा न करता, तो भगवान् की भक्ति का सदुपदेश हृदयंगम नहीं कर पाता और उस के बाद भी उसे अगर अपनी भक्ति में दृढ़ विश्वास न होता, तो भगवान् उस की पुकार पर दौड़े हुए आकर उसे दर्शन न देते, न वह परम पदप्राप्ति का वरदान लाभ कर सकता। उलटे होता यह कि गुरु की बातों में अश्रद्धा करने के पाप का भागी होने के साथ साथ उस के सब कर्म पाखण्ड में शामिल किये जाते और बार बार मरने और जन्म लेने का सिलसिला भी नहीं टूट सकता। अस्तु,

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, इस धर्म पर श्रद्धा न रखनेवाले (अभागी) पुरुष मुझे न पाकर बार बार मृत्युमय संसार में लौटते रहते हैं।

इस पर अर्जुन ने कहा—अच्छा महाराज, जो लोग आप पर, आप द्वारा उपदिष्ट धर्म पर अर्थात् ज्ञान विज्ञान पर श्रद्धा नहीं रखते उन की तो जैसी आप ने कही वैसी गति होती है, परन्तु जो लोग इन सब बातों पर श्रद्धा विश्वास का अपने हृदयों में पोषण करते हैं उन के लिए क्या क्या अवश्य कर्तव्य है, अब वह भी बतलाने की कृपा करें।

भगवान् ने कहा—वही सब बतलाने के लिए तो मैं ने विज्ञान सहित ज्ञान कहने की बात कही है। इस में सर्वप्रथम तुझे मेरे विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और वह यही है कि—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह समस्त जगत् व्याप्त है और समस्त जीव मुझ में है, पर मैं उन में नहीं हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मुझ परब्रह्म परमात्मा का जो अव्यक्त अर्थात् प्रकट न होनेवाला निराकार रूप है उसी से इस सारे संसार का प्रसार हुआ है—संपूर्ण विश्व को मैं ने ही फैलाया है। साथ साथ इस जगत् भर का भूतवर्ग अर्थात् प्राणिसमुदाय मुझ में ही टिका हुआ है। परन्तु विशेषता यह है कि सब जीव मुझ में हैं तब भी मैं उन में नहीं टिका हूँ।

फ० प्र०—प्यारे मित्रो, ईश्वरविरोधी असुर हिरण्यकश्यप ने अपने प्रभुभक्त पुत्र प्रह्लाद से आजिज आकर उस का अन्त कर देने के विचार से अन्त में यही प्रश्न किया था कि तेरा राम कहाँ है ? तू दिन रात जिस परमात्मा का नाम रटा करता है वह ईश्वर अगर मेरे सिवा दूसरा कोई है, तो बतला कि वह यहाँ बैठा हुआ है ? अगर वह वास्तव में है और यहीं रहता है, तो उसे मेरे सामने प्रत्यक्ष प्रमाणित कर और नहीं तो मरने के लिए तैयार हो जा।

ऐसा प्रश्न आज के संदेहग्रस्त संसार में यदि किसी से उतना दुर्धर्ष सम्राट् सामने खड़ा होकर करे, तो अवश्य ही सुननेवाले का दम घुटने लगे, क्योंकि जब इन दिनों स्वयं ही सब को संदेह घेरे हुए है कि ईश्वर कहीं रहता भी है या नहीं, तो ऐसी दशा में कौन साहस करके उस का किसी जगह रहना बतला सकता है ? परंतु प्रह्लाद दृढ विश्वासी भक्त थे। उन को ईश्वर के जगत् के एक एक अणु में रहने के संबन्ध में पूर्ण विश्वास था। अतएव उन्होंने डटकर उत्तर दिया कि—

'हम में तुम में, खड्ग खंभ में, सब में व्यापक राम।'

ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ परमात्मा न रहता हो; यहाँ तक कि इस निर्जीव तलवार जिस से तुम मुझे भयभीत करना चाहते हो, और सूखी लकड़ी के इस खंभे में जिस में तुम ने मुझे बाँध रखा है, राम (ईश्वर, परमात्मा) मौजूद हैं। और तुम तो एक सजीव व्यक्ति हो, फिर तुम्हारे में उन का होना तो निःसंदिग्ध है ही। (तात्पर्य, जब सारा विश्व ही राममय है और मैं तो हूँ ही), फिर मैं भयभीत क्यों होऊँ ? आखिर हुआ भी यही सत्य। हिरण्यकश्यप ने खंभे में लात मारी और निराकार से साकार भगवान् सामने प्रकट हो गये।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन में विरोधसी प्रतीति हो रही है, क्योंकि श्लोक में कहा है कि सब जीव मुझ में हैं, मैं उन में नहीं हूँ, पर वस्तुतः यह विरोधप्रतीति नहीं, विरोधाभासमात्र है। कारण, इसी श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में भगवान् का वचन है कि मैं निराकार मूर्ति से समस्त संसार में (एक समान) व्याप्त हूँ—राई रत्ती या पर्वत पसेरी कुछ भी मुझ से रिक्त नहीं है। 'इन्हीं परस्पर विरोधी बातों को देखकर कुछ विद्वान् इस श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि मुझ अव्यक्त मूर्तिवाले से यह सब जगत् फैला है और मेरी दृष्टि में सब जीव हैं, पर उन की दृष्टि में मैं नहीं हूँ।' किंतु वास्तव में तो इस कथन से यही भाव व्यक्त होता है कि परमात्मा की महिमा अपरंपार है। परमात्मा सब में हैं, सब परमात्मा में हैं, परमात्मा किसी में नहीं है, न कोई परमात्मा है—ये सब बातें परमात्मा की विचित्र लीला को द्योतिका हैं। इसी लिए भगवान् आगे के श्लोक में कहते हैं कि—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥

और (सब) जीव मुझ में नहीं (भी) हैं। मेरा ईश्वरीय योग (रूप, सामर्थ्य) देख। मेरी आत्मा भूतों को उत्पन्न (और) पालन करनेवाली होकर भी भूतों में रहनेवाली नहीं है।

गी० गौ०—और हे अर्जुन, जिस प्रकार मैं ने कहा कि सब जीव मुझ में स्थित हैं उसी प्रकार मैं ही यह भी कह रहा हूँ कि सब जीव मुझ में नहीं भी हैं। तात्पर्य यह है कि तू जीवों के मुझ में रहने या न रहने के संबन्ध में अधिक सोच विचार न करके केवल मेरा ईश्वरीय रूप सामर्थ्य देख; क्योंकि मेरी आत्मा की ऐसी विचित्र गति है कि वह सब जीवों की उत्पत्ति और पालन करनेवाली होती हुई भी उन में रहती नहीं है।

क० प०—प्यारे भाइयो, भगवान् वास्तव में बड़ी विचित्र लीला की बात कह रहे हैं। अभी ऊपर के श्लोक में वे कह आये हैं कि सारा विश्वप्रपञ्च मुझ से ही फैला हुआ है, मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ और सब जीव मुझ में हैं, और अब इस श्लोक में कह रहे हैं कि मुझ में कुछ नहीं है। इस का अभिप्राय क्या है? विचार करने पर यही उत्तर मिलता है कि जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर क्षण भर में सैकड़ों प्रकार के दृश्य दिखलाई पड़कर विलीन हो जाते हैं और दूसरे ही क्षण में केवल सफेद पर्दामात्र रह जाता है, सब दृश्य फिल्म की गति बंद होते ही फिल्म के साथ सिमिट जाते हैं, उसी प्रकार इस संसारसिनेमा की बात है। संसारसिनेमा को रचनेवाली फिल्म का नाम है माया। माया के प्रपञ्च से संसारदृश्य—जीव, जगत, परमाणु आदि—परमात्मा में हैं भी और नहीं भी हैं। जब तक ईश्वर और माया का परस्पर संबन्ध है तब तक सब उन में हैं और सब में वे हैं और माया का संबन्ध छूटते ही कहीं कुछ नहीं। इसी विचित्रता के कारण ईश्वर को आज तक ठीक ठीक कोई भी नहीं समझ सका, न उन के संबन्ध में 'इदमित्थम्' (यह ऐसा ही है) करके कोई कुछ कह ही सका। मुसलमान, यहूदी, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि सब ने अपनी अपनी बुद्धि की पहुँच तक कल्पना की और अपने अपने अनुकूल धर्मग्रन्थों को महत्त्व दिया, गीताकार ने भी कहीं से कोई बात बाकी नहीं रखी, पर अन्त में सब ने यही स्वीकार किया कि परमात्मा की लीला का पार पाना एकान्त असंभव है, कल्पना थककर मूक हो जाती है, किंतु परमात्मा का अन्त नहीं मिलता। इसी लिए महात्मा और महापुरुष लोग ईश्वरीय ज्ञान के संबन्ध में यही कहकर अपना निर्णय देते आये हैं कि जिस प्रकार अथाह नदी में से तुम अपने पात्र के अनुसार पानी भर लेते हो और संतुष्ट होकर अपना कार्यक्रम जारी रखते हो उसी प्रकार परमात्मज्ञानरूप अथाह समुद्र में से अपने बुद्धिपात्र के अनुपात से ज्ञानवारि भर लो और संसार का कार्यक्रम पूर्ण करते हुए उसी के चरणों में जीवन की इति कर दो। अस्तु;

अर्जुन से भगवान् ने जब एक साथ ही दोनों बातें कहीं कि सब भूत मुझ में हैं भी और नहीं भी हैं तथा साथ ही यह भी जोर दिया कि तूँ मुझ ईश्वर का योग सामर्थ्य देख, तो अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभो, इस प्रकार की उलझन में डालनेवाली बातों में से कौन सा विशेष तत्त्व निकालकर मैं आप का ईश्वरीय सामर्थ्य देखूँ अर्थात् आप ही बतलाइए कि इन में से मैं किस पर आस्था रखकर क्या समझूँ?

इस का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जिस प्रकार सब स्थान में जानेवाला वायु सर्वदा आकाश में स्थित रहनेवाला है उसी प्रकार संपूर्ण जीव मुझ में रहनेवाले हैं, ऐसा (तूँ) धारण कर ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिस तरह यह अत्यन्त विस्तृत वायु आकाश से ही उत्पन्न है और सर्वत्र विचरता हुआ आकाश में ही सदा रहा करता है उसी तरह मुझ से ही उत्पन्न ये समस्त संसारी जीव सर्वदा मुझ में ही रहते हैं; तूँ यही समझ।

क० म०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, हमारे चारों ओर आकाश फैला हुआ है और उस में सब जगह हवा भरी हुई है। यह हवा उसी से पैदा हुई है, यह भी शास्त्रों का निश्चित मत है। लेकिन यह सब होते हुए भी हवा हरदम आकाश में ही चिपकी रहती है, अन्यत्र नहीं जाती, ऐसी बात तो नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से जहाँ चाहती है वहीं विचरती रहती है। तब भी कहा यही जाता है कि हवा हर वक्त आकाश में रहती है, क्योंकि सब जगह घूमती फिरती हुई भी वह वहाँ रहती ही है। देखो, यह स्पष्ट बात है कि पानी आकाश से बरसता है और उसी पानी को किसी बर्तन में इकट्ठा करके उस में ध्यान दो, तो आकाश उस में साफ साफ दिखलाई पड़ता है। लेकिन न तो पानी से आकाश भींगता है और न आकाश से दबकर पानी ही इधर उधर फैल जाता है। बस, इसी तरह सारा संसार परमात्मा से पैदा हुआ है और उसी के विराट् रूप में सदा रहनेवाला है, फिर भी उस में कुछ संपृक्त नहीं रहता, यह भी ठीक ही है। जैसे नाटकीय व्यक्ति (ऐक्टर) कोई खेल खेलने के लिए नकली बाल और बड़ी बड़ी जटाएँ अपने सिर पर रख लेते हैं जिसे देखकर देखनेवाले असली ही की भाँति समझते हैं, उन के मन में ज़रा भी संदेह नहीं रहता कि नाटक के पात्रों ने नकली बाल लगायें हैं, फिर भी वे पात्र तो जानते ही रहते हैं कि मेरे सिर पर क्या रखा है। इसी लिए उन बालों में

उन का स्नेह ममत्व नहीं रहता और नाटक खतम होते ही उसे वे उतार फेंकते हैं। ऐसे ही यह दुनिया भी भगवान् का नाटक है। इस में तरह तरह के खेल होते रहते हैं जिन का सब सचालनभार भगवान् पर ही रहता है। परंतु वास्तव में यह नाटक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह बात भगवान् की सर्वज्ञता में सर्वदा स्पष्ट रहती है। इसी लिए भगवान् संसार में लिप्त नहीं होते। यहाँ नाटक के उदाहरण से दो बातें लक्षित होती हैं। एक यह कि नाटक के अभिनेता दृश्यों और दर्शकों पर मुग्ध नहीं होते, किंतु दर्शक ही वहाँ की सब बातों के साथ साथ उन के अभिनय पर मुग्ध होते हैं, क्योंकि उन्हें वहाँ की अन्तरङ्ग बातों का ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही प्रभु भी अपने लीलानाटक पर मुग्ध नहीं होता। वैसा होने से दोष का समावेश हो जायगा। दूसरी बात जो उक्त उदाहरण से स्पष्ट होती है वह यह है कि नाटक देखनेवाले यद्यपि यह अच्छी तरह पहले से ही जानते रहते हैं कि मैं जो कुछ देख रहा हूँ वह आमूल बनावट है, वास्तविकता का यहाँ आभास के अतिरिक्त लेशमात्र भी नहीं है; फिर भी वे दृश्यों और अभिनयों के आकर्षण में पड़कर अपनापन तक खो बैठते हैं। (बहुत से ऐसे दर्शक देखे गये हैं, जो नाटक सिनेमा आदि समाप्त हो जाने तथा सब दर्शकों के चले जाने के बाद भी अपने स्थान पर ही बैठे रह गये हैं। बाद में सावधान करने पर मुश्किल से अपने स्वभाव में आ सके हैं। और कभी कभी तो उसी धुन में पागल तक हो जाते सुने गये हैं।) यही माया का फाँस है। संसार इसी में उलझकर उस की असलियत को जानने में असमर्थ रह जाता है। दर्शक होकर भी नहीं जानता कि मैं दर्शक हूँ। यहाँ तक कि अभिनेता की स्थिति से भी ऊपर चढ़कर नाटक के कथानक से अपना संबन्ध जोड़ने लगता है। इसी लिए उसे दुःखित, शोकमग्न, अथवा आनन्दित और हर्षमग्न होना पड़ता है। केवल भगवान् (और भगवान् को जाननेवाले ज्ञानी योगी जन) इस रहस्य को जानते हैं। यही कारण है कि वे सब जगह रहते हुए भी कहीं नहीं रहते, पर उन में सब कुछ रहता है। अस्तु;

इसी लिए तो भगवान् ने कहा भी है कि हे अर्जुन, जैसे सर्वत्र अप्रतिहत गति रखनेवाला महान् वायु सर्वदा आकाश में स्थित है वैसे ही सब जीव (आकाश की भाँति सर्वव्यापक) मुझ परमात्मा में स्थित हैं, ऐसी दृढ धारणा कर।

इस पर अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभो, यदि यही सत्य है कि सब भूत आप में स्थित हैं, तो आप तो नित्य, निरञ्जन, निराकार, नाशरहित और अजन्मा हैं, अतः आप में स्थित जीवों को भी तो वैसा ही होना चाहिए था? किंतु ये जीव तो बीच बीच में न जाने कहाँ अदृश्य हो जाते हैं, यद्यपि इन्हें (अर्थात् इन में स्थित जीवात्मा को) भी नित्य कह चुके हैं, इस लिए कृपा करके आप मुझे यह रहस्य समझाइए।

भगवान् ने कहा—इस में कोई विशेष रहस्य नहीं है। यह तो बिलकुल स्पष्ट बात है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौन्तेय, कल्प के समाप्तिकाल में सब जीव मेरी प्रकृति में (लीन हो) जाते हैं। फिर कल्प के आदिकाल में मैं उन्हें उत्पन्न करता हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यह सारा संसार मेरी माया का वशवर्ती होने के कारण माया द्वारा स्थिरीकृत अवधि पूर्ण होने पर उसी में समा जाता है अर्थात् मेरी प्रकृति कल्प के अन्त में अपना प्रसार सिमेट लेती है अतः सब जीव उसी में लीन हो जाते हैं। और बाद में जब मुझे उन को उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रतीत होती है अर्थात् प्रकृतिनियत कल्पारम्भ का समय आ जाता है, तो मैं फिर से उन्हें रच डालता हूँ। बस, यही इस सृष्टि का रहस्य है।

क० प्र०—प्यारे सज्जनो, शरीर की छाया का शरीर के अभाव में कोई अस्तित्व नहीं है। शरीर की संचालनक्रिया के साथ ही उस की छाया भी चलती फिरती दीखती है। परंतु उस की विचित्रता यही है कि शरीराधीन होती हुई भी वह अपना अलग अस्तित्व साबित सी करने लगती है—शरीर है साढ़े तीन ही हाथ लंबा और छाया हो जाती है पचासों हाथ की। इसी तरह भगवान् के अतिरिक्त उन की माया का भी कुछ प्रभाव नहीं हो सकता, किंतु अज्ञानीजन माया को ही सब कुछ समझकर उसी में भूले रह जाते हैं। अगर माया को छोड़कर लोग भगवान् को ही अपने विचारराज्य का राजा बना लें, दिन रात चौबीस घंटे भगवान् में ही लीन रहें, तो निश्चय है कि किसी को माया अर्थात् प्रकृति का वशवर्ती न होना पड़े। लेकिन यहाँ तो अपनी सृष्टि का कार्यक्रम निरन्तर चालू रखने के लिए भगवान ने अपनी प्रकृति को अपना आश्रय देकर इतनी प्रिय और शक्तिशालिनी बना दिया है कि सारा संसार उसी में भूला रह जाता है। इसी लिए ज्ञानी महात्मा बार बार संसारी जीवों को यह समझाने की कोशिश करते रहते हैं कि भाइयो, माया का आश्रयण मत करो, बल्कि तुम भी उसी का आधार ग्रहण करो जिस को ग्रहण कर माया मायारानी बनी हुई है। माया का सब प्रताप और प्रभाव प्रभु के इच्छाधीन है। प्रभु चाहें, तो क्षण भर में ही अपनी माया का सारा खिलवाड़ बिगाड़कर उसे मटियामेट कर सकते हैं, किंतु वह उन का हुक्म नहीं टालती, उन की सेवा को और उन को नहीं भूलती, तो वे क्यों उसे किसी तरह के संकटों और कष्टों में पड़ने दें। हाँ, जो लोग माया से अलग होने के लिए जी जान से प्रभु के चरणों में लिपट जाते हैं और पल भर के लिए भी उन चरणों का सहारा नहीं छोड़ते उन्हें प्रभु इतनी शक्ति दे

कल्पान्त में जीवों का प्रलय (अ० ६ श्लो० ७)
કલ્પને અંતે જીવોનો પ્રલય (અ. ૯ શ્લો. ૭)

देते हैं कि उन के ऊपर माया अपना प्रभाव न डाल सके। किंतु ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ प्रभुभक्तों की संख्या इतनी अल्प होती है कि यहाँ उन की कोई गणना नहीं की गई और सर्वव्यापक सिद्धान्त बतला दिया। लाख दो लाख में एक जीवन्मुक्त योगी या परम पद प्राप्त भक्त हो भी तो उस की गणना सर्वसामान्य नियम बतलाने के समय भला किस तरह की जा सकती है। उस के लिए तो इतना किया जा सकता है कि सर्वसाधारण नियम कहने के बाद एक विशेष कक्षा के प्रति संकेत कर दिया जाय और कह दिया जाय कि अमुक प्रकार का आचार विचार और आहार विहार रखनेवाला ज्ञानी अथवा योगी या भक्त प्रकृति के फंदे से मुक्त होकर अमुक प्रकार की उत्तम गति पाने का अधिकारी हो जाता है। सो उस प्रकार के लोगों को जहाँ और जब जैसी जरूरत पड़ी है तहाँ और तब भगवान् ने वैसा उपदेश इसी गीता में दिया ही है। अतएव यहाँ सर्वसाधारण के लिए सर्वव्यापक नियम की चर्चा करते हुए उस तरह के लोगों की कोई चर्चा भगवान् ने नहीं की और एक प्रधान बात कह दी कि हे कौन्तेय, कल्प का अन्तकाल आने पर सब जीव मेरी प्रकृति में चले जाते हैं अर्थात् उसी में मिलकर अदृश्य हो जाते हैं और पुनः जब कल्प का आरम्भकाल आता है, तो मैं फिर से उन की सृष्टि कर डालता हूँ।

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्, यह तो सभी लोग जानते हैं और आप स्वयं कहते भी हैं कि आप सब संभव असंभव कार्य करने में सर्वदा समर्थ हैं, ऐसा कोई महान् कार्य नहीं जो आप के लिए अत्यन्त सरल और सुगम न हो; ऐसी दशा में कारण क्या है कि आप अपनी रची हुई सृष्टि को अपनी ही तरह सर्वदा के लिए स्थिर नहीं कर देते अर्थात् आप की बनाई सृष्टि का कल्पान्त में नाश क्यों हो जाता है कि आप को पुनः उस की रचना का कार्य-भार उठाना पड़ता है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, इस का भी एक कारण है और वह यही है कि—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

(मैं) अपनी प्रकृति को थामकर प्रकृति के वश से विवश हुए इस समस्त जीवसमुदाय को बार बार रचता हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यह सारा संसार अपने अपने कर्मों के अनुसार बार बार जन्म धारण करने के लिए अनादि काल से मेरी प्रकृति के अधीन हो चुका है, किसी जीव में यह शक्ति नहीं है कि वह अपनी इस पराधीनता की शृङ्खला को

तोड़ सके, क्योंकि उस के कर्म उसे भवबन्धन में डालने के लिए स्वयं परवश हैं इसी लिए मुझे भी अपनी प्रकृति का आश्रयण करना पड़ता है और जीवों के कर्मानुसार बार बार उन के सृजन का कार्य पूरा करना पड़ता है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, रामचरित मानस की अर्धाली है कि—

'दुइ न होंहिं एक संग भुआलू ॐ हँसब ठठाइ फुलाउब गालू॥'

इस का भाव यह है कि हँसना और रोना—ये दो काम एक साथ नहीं हो सकते। कोई भी मनुष्य एक समय में या तो रो ही सकता है या हँस ही सकता है। इसी प्रकार संसार में और भी कितने ही काम हैं जो दूसरे के विरोधी हैं जिन में एक यह भी है कि संसार के सुखभोग की इच्छा और मुक्ति की कामना एक साथ नहीं की जा सकती। संसार के सुख चाहनेवाले जो कुछ भी कर्म करते हैं उन सब में उन की यही इच्छा रहती है कि इस कार्य के द्वारा मुझे अमुक सुख प्राप्त हो। ऐसा विचार रखकर कार्यक्रम संचालित रखनेवाले यदि यह चाहें कि उपर्युक्त प्रणाली के साथ साथ हम उस प्रणाली का कार्य भी करते रहें जिस से सुखभोग के बाद मुक्त होने का अधिकार मिल जाय, तो यह हो नहीं सकता। मुक्त होने के लिए सुखभोग की इच्छा छोड़कर—निष्काम कर्मकर्ता बनकर—कार्यसंपादन करना पड़ता है और यह काम सुखभोग के लालची से हो नहीं सकता। यह तो वही कर सकता है जो अपने आप को सर्वभावेन भगवान् का समझने के साथ साथ सारे विश्व को भगवान् का मूर्त स्वरूप मान चुका है और उसी के निमित्त अपना प्रत्येक कार्य—श्वास प्रश्वास का ग्रहण और निक्षेप तक अर्पित कर चुका है। यह संसार से होना असंभव है। यहाँ तो सभी लोग एक लगाकर चार पाने की कामना में आकाश पाताल एक कर रहे हैं; निष्काम कर्मयोग की भी कुछ महत्ता है, यह मानने के लिए कोई आसानी से तैयार नहीं है। तब भला यह कैसे हो सकता है कि कोई *यों ही जन्म धारण करने के कष्ट से छुट्टी पा जाय। इस तरह के कामकाजी संसार को तो* विवश होकर जन्म लेना ही पड़ेगा, किसी तरह उस से छुटकारा नहीं मिल सकता। गर्ज यह कि दुनियां का मजा लूटना और भगवान् के धाम में जाकर सदा के लिए दुःख से छूट जाना, ये दोनों काम हँसने और रोने की तरह एक साथ कदापि नहीं हो सकते—कर्मफल की इच्छा रखकर कर्म करने पर कर्मबन्धन में पड़ना ही होगा। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, अपनी प्रकृति का आश्रयण करके मैं प्रकृतिवश से विवश समस्त जीवसमूह का बार बार सृजन करता हूँ, तो अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभो, यदि कर्म करना ही जीव के बन्धन का कारण है तब तो आप को भी विवश होकर ही जन्म धारण करना पड़ता होगा, क्योंकि जीवों को उन के कर्मानुसार गति देने की कामना से ही तो आप भी सृष्टि का सृजनरूप महान् कर्म करते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनंजय, उदासीन की तरह उन कर्मों में असक्त रहनेवाले मुझ (परमात्मा) को वे कर्म बन्धन में नहीं डालते ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यद्यपि मेरा कार्यक्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है, इतना कि सारा संसार मिलकर भी मुझ अकेले के बराबर काम नहीं कर सकता । मैं अकेला ही इस समस्त ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहाररूप महत्तम कर्म करनेवाला अत्यन्त बड़ा कार्यकर्ता हूँ; फिर भी मुझे मेरे ये सब कर्म बाँधते नहीं । कारण यह कि इतना सब कुछ करनेवाला होकर भी मैं किसी कर्म में सक्त अर्थात् लिप्त नहीं होता, प्रत्युत सब कर्मों से सर्वदा उदासीन की तरह रहा करता हूँ । ऐसी दशा में मुझे मेरे कर्म क्यों बाँधेंगे ? अर्थात् किसी तरह नहीं बाँध सकते ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, अर्जुन की शङ्का के अनुसार परमात्मा भी अगर कर्मबन्धन में पड़ जायँ, तो उन्हें भी बार बार विवश होकर जन्म मरण के चक्कर लगाने पड़ें और सुख दुःख, राग द्वेष, ईर्ष्या मोह के विकार विकृतचेता बनाने लगें । फिर जीवात्मा और परमात्मा में विभिन्नता ही क्या रह जायगी ? तब तो संसार से ईश्वर, प्रभु, साक्षी, सर्वज्ञ, सनातन देव आदि विशेषण सहित संबोधन लगाकर किसी के प्रति भक्ति प्रकट करने और उस के द्वारा परम पद पाने की आशा में जीवन की इति श्री कर देने की प्रथा भी कदाचित् संसार में नहीं रहेगी । किंतु यह सब अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा, इस में कोई भी संदेह करने का दृढ साहस नहीं कर सकता । क्यों ? कारण क्या है कि जीवात्मा और परमात्मा, ये दो प्रकार की आत्माएँ संसार को अपना अपना क्रीडाक्षेत्र बनाकर उसी को अनेकानेक प्रपञ्चों में डाले रहती हैं ? क्या एक ही प्रकार की आत्मा से संसार का कार्यसंचालन नहीं हो सकता ? ठंढे दिल से विचार करने पर—शास्त्रों, गुरुओं, महापुरुषों और संत महात्माओं की वाणी पर ध्यान देने पर सचमुच यही उत्तर मिलता है कि नहीं । क्योंकि संसार को अपनी गति पर चलते रहने के लिए जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों ही विशेषणों से युक्त आत्माओं की नितान्त आवश्यकता है । संसार में यदि केवल जीवात्मा ही रहे, परमात्मा उस के बीच किसी प्रकार का हस्तक्षेप या बिना बुलाये प्रवेश न करे, तो संसार संसार नहीं, बल्कि नाना प्रकार की असुविधाओं का समूह किं वा साक्षात् नरकलोक ही हो जाय । परमात्मा ही संसार को उस के ठीक रास्ते पर चलाकर यहाँ की विचित्रताओं में सुन्दर सचित्रता की सृष्टि करता है—

स्वयं प्रत्यक्षतः दिखलाई न पड़कर भी अपने नाममात्र से इसे प्रभावित रखता है जिस से समस्त जीवात्मा प्रकाश ग्रहण करते और अपने अपने अनुकूल मार्ग को पकड़कर इस संसार को दुःखमयता में भी सुखमयता की धारा बहाते हैं। यदि परमात्मा अथवा उस का नाम न रहे, तो यह सब कुछ भी न हो। इसी तरह जीवात्मा भी संसार के लिए कम उपयोगी नहीं है, इतना ही नहीं; बल्कि वह तो और भी अधिक उपयोगी है। अथवा जीवात्मा में ही संसार है, यही कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। जीवात्मा को ही वेदों द्वारा उपदेश देकर परमात्मा ने अपना ज्ञान कराया है और तभी तक उन की भी यहाँ महिमा है जब तक कि संसार में जीवात्मा विद्यमान है। जीवात्मा के अभाव में परमात्मा को भी संभवतः संसार में कहीं ठिकाना नहीं मिल सकता। इस लिए संसार को दोनों की समान आवश्यकता है, इस में संशय के लिए बिलकुल गुंजाइश नहीं। जैसे किसी शहर की रौनक के लिए जन-संख्या और अधिकारीमण्डल दोनों की ही खास जरूरत पड़ती है—जनता की कमी से शहर उदास और अधिकारी के अभाव से एकदम गंदा हो जाता है—वैसे ही संसार की रौनक और सुव्यवस्था के लिए जीवात्मा परमात्मा का सहयोग अपेक्षित है। लेकिन इस उदाहरण से यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् की तरह अधिकारी लोग भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ते होंगे। ऐसा समझना बड़ी भूल होगी; क्योंकि कोई कितना भी न्यायप्रिय अधिकारी क्यों न हो, मनुष्य होने के नाते उस में स्वार्थ की भावना अवश्य ही बनी रहती है और यह स्वार्थ ही कर्मबन्धन का कारण है। परमात्मा में इसी का अभाव रहता है, वे अर्थ से उदासीन होकर, कर्मफल से अलिप्त रहकर, एक सुदृढ़ भूमिका पर बैठकर अपने लिए नहीं, बल्कि संसार के लिए कर्म करते हैं। अतएव उन्हें उन के कर्म बाँध नहीं सकते। यही परमात्मा की विशेषता है और इसी का परिचय देते हुए उन्होंने अर्जुन से कहा कि—

हे धनंजय, उदासीन की तरह उन कर्मों में अलिप्त रहने के कारण मुझे ये कर्म बन्धन में नहीं डालते।

इस पर अर्जुन ने पूछा—अच्छा महाराज, यह तो आप बड़ी विचित्र बात कह रहे हैं! क्योंकि उन कर्मों से यदि आप उदासीन की तरह रहते हैं तब तो इस संसार की रचना आदि में विशृङ्खलता पड़ जानी चाहिए—जैसे अधिकारी वर्ग के उदासीन हो जाने से राज्य और नगर में लूट पाट मच जाती है वैसे ही आप के उदासीन रहने से संसार में अंधेर मच जाना चाहिए अर्थात् कभी चार दिन तक दिन और कभी आठ दिन तक रात आदि के रूप में प्राकृतिक कामों में किसी न किसी तरह का अनियम दिखलाई पड़ना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, जिस से मानना पड़ता है कि कोई इस का उदासीन नहीं, अपितु स्थिर और सचेत नियामक है। अतः मैं जानना चाहता हूँ कि वह कौन है जो सब व्यवस्थित कार्यों को नियम पर चलाता रहता है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, तेरा संदेह युक्तिसंगत है। पर मेरी उदासीनता का तूँ जैसा अर्थ लगा रहा है वैसा उदासीन मैं नहीं होता हूँ। मेरी प्रधानता तो सर्वदा रहती ही है; क्योंकि—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

प्रकृति मेरी अध्यक्षता द्वारा चर अचर के सहित (संपूर्ण जगत् की) सृष्टि करती है। हे कौन्तेय, इसी हेतु से संसार (नियमित रूप से) परिवर्तित होता रहता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मेरी प्रकृति मेरे साथ अवज्ञापूर्ण व्यवहार नहीं करती है। मैं उदासीनवत् स्वभाव में स्थिर रहता हूँ, ऐसा जानकर प्रकृति मनमाना आचरण करके विश्रृङ्खला नहीं पैदा करती, प्रत्युत वह मुझे सदा अपना अध्यक्ष (मालिक या मैनेजर) मानकर मेरी आज्ञा के सर्वथा अनुकूल इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। यही कारण है कि यह संसार अपने ढर्रे पर बराबर हेर फेर के साथ घूमा करता है, और तब भी कहीं से कोई असंबद्धता अथवा अव्यवस्था नहीं आने पाती।

क० प्र०—प्यारे, भाइयो, भगवान् ने इस श्लोक में दो प्रधान बातों का वर्णन किया है जो दो होती हुई भी एक ही विषय का प्रतिपादन करती हैं। ये दोनों बातें हैं कार्य और कारण, और संपादित एक विषय है भगवान् की उदासीनता। चर, अचर, स्थावर, जङ्गम जगत् कार्य है। इतना बड़ा कार्य करनेवाली भगवान् की दासी प्रकृति या माया कारण है, परंतु विशेषता यह है कि उस की कारणता स्वतन्त्र नहीं है, भगवान् की कृपा से बल पाकर ही वह सब कार्य करने में समर्थ होती है। हाँ, भगवान् की उदासीनता इतने से ही संपन्न है कि वे केवल उस के कार्यों को देखते रहते हैं। भगवान् प्रकृति को आदेश नहीं करते कि तूँ अमुक प्रकार के जीव उत्पन्न कर, न वे जीवों को ही उपदेश करते हैं कि तुम लोग पापपुण्यमय कर्म करके नीच ऊँच लोकों की प्राप्ति करो अथवा निष्काम कर्मयोगी बनकर परब्रह्म में मिलो। वे केवल देखते रहते हैं कि कौन क्या कर रहा है, बस। यही भगवान् की अध्यक्षता है और यही संसार को परिवर्तनशील बनाने का मूल कारण है। भगवान् यदि उदासीन न रहें, अपनी प्रकृति की भाँति तत्पर रहकर जगत् के प्रपञ्चों में लिपटे रहें तब भला यह कब संभव हो सकता है कि कोई सकाम कर्म करनेवाला रह जाय। जब कि महाभारत जैसे संसार के अद्वितीय और अभूतपूर्व महासंग्राम के बीच खड़े होकर वे उस संग्राम के मुख्य अधिनायक

स्वयं प्रत्यक्षतः दिखलाई न पड़कर भी अपने नाममात्र से इसे प्रभावित रखता है जिस से समस्त जीवात्मा प्रकाश ग्रहण करते और अपने अपने अनुकूल मार्ग को पकड़कर इस संसार की दुःखमयता में भी सुखमयता की धारा बहाते हैं। यदि परमात्मा अथवा उस का नाम न रहे, तो यह सब कुछ भी न हो। इसी तरह जीवात्मा भी संसार के लिए कम उपयोगी नहीं है, इतना ही नहीं; बल्कि वह तो और भी अधिक उपयोगी है। अथवा जीवात्मा में ही संसार है, यही कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। जीवात्मा को ही वेदों द्वारा उपदेश देकर परमात्मा ने अपना ज्ञान कराया है और तभी तक उन की भी यहाँ महिमा है जब तक कि संसार में जीवात्मा विद्यमान है। जीवात्मा के अभाव में परमात्मा को भी संभवतः संसार में कहीं ठिकाना नहीं मिल सकता। इस लिए संसार को दोनों की समान आवश्यकता है, इस में संशय के लिए बिलकुल गुंजाइश नहीं। जैसे किसी शहर की रौनक के लिए जन-संख्या और अधिकारीमण्डल दोनों की ही खास जरूरत पड़ती है—जनता की कमी से शहर उदास और अधिकारी के अभाव से एकदम गंदा हो जाता है—वैसे ही संसार की रौनक और सुव्यवस्था के लिए जीवात्मा परमात्मा का सहयोग अपेक्षित है। लेकिन इस उदाहरण से यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् की तरह अधिकारी लोग भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ते होंगे। ऐसा समझना बड़ी भूल होगी; क्योंकि कोई कितना भी न्यायप्रिय अधिकारी क्यों न हो, मनुष्य होने के नाते उस में स्वार्थ की भावना अवश्य ही बनी रहती है और यह स्वार्थ ही कर्मबन्धन का कारण है। परमात्मा में इसी का अभाव रहता है, वे अर्थ से उदासीन होकर, कर्मफल से अलिप्त रहकर, एक सुदृढ़ भूमिका पर बैठकर अपने लिए नहीं, बल्कि संसार के लिए कर्म करते हैं। अतएव उन्हें उन के कर्म बाँध नहीं सकते। यही परमात्मा की विशेषता है और इसी का परिचय देते हुए उन्होंने अर्जुन से कहा कि—

हे धनंजय, उदासीन की तरह उन कर्मों में अलिप्त रहने के कारण मुझे वे कर्म बन्धन में नहीं डालते।

इस पर अर्जुन ने पूछा—अच्छा महाराज, यह तो आप बड़ी विचित्र बात कह रहे हैं! क्योंकि उन कर्मों से यदि आप उदासीन की तरह रहते हैं तब तो इस संसार की रचना आदि में विश्रृङ्खलता पड़ जानी चाहिए—जैसे अधिकारी वर्ग के उदासीन हो जाने से राज्य और नगर में लूट मार मच जाती है वैसे ही आप के उदासीन रहने से संसार में अंधेर मच जाना चाहिए अर्थात् कभी चार दिन तक दिन और कभी आठ दिन तक रात आदि के रूप में प्राकृतिक कार्मों में किसी न किसी तरह का अनियम दिखलाई पड़ना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, जिस से मानना पड़ता है कि कोई इस का उदासीन नहीं, अपितु स्थिर और सचेत नियामक है। अतः मैं जानना चाहता हूँ कि वह कौन है जो सब संघटित कार्यों को नियम पर चलाता रहता है?

लोक में आकर मनुष्यों की भाँति ही नाना जंजालों में फँसते हैं और तब भी अपने जंजालों की पर्वाह न करके संसार को कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाने की ही दिन रात चेष्टा करते रहते हैं— तरह तरह के उपदेश देते हैं, अपने सिर पर दुःखों का पहाड़ उठाकर भी संसार के सामने बड़े बड़े आदर्श स्थापित करते हैं और सब तरह से सिद्ध करके दिखला तथा बतला देते हैं कि अमुक मार्ग से चलनेवाले प्राणी के कर्मबन्धन कट जायँगे और उन्हें आवागमन से मुक्ति मिल जायगी तथा अमुक मार्ग से चलनेवाले अनन्त जन्मों तक कर्मों में बँधते रहेंगे एवं पुनः पुनः दुःखमय संसार में आकर दुःख झेलते रहेंगे। इस के भी पहले उन्होंने प्रकृति द्वारा जीवों को यह बुद्धि दिलवा दी है कि वे भगवान् के उपदेशों को समझ बूझकर अपनी रुचि के अनुसार उन्हें अमल में लायें। परंतु जीव इतने पर भी ध्यान न दें और असद् कर्म करते हुए सद् कर्म और सद् ज्ञान की उपेक्षा करके भवसागर में उभचुभ होते रहें, तो इस में भगवान् का भला क्या दोष है ? इसी लिए कहा जाता है कि जीव अपने बनाव बिगाड़—सुगति दुर्गति—का कारण आप है। अर्थात् मनुष्य की प्रकृति ही मनुष्य की उन्नति अवनति करानेवाली है, भगवान् तो साक्षी अथवा अध्यक्षमात्र हैं और जो जैसा करता है उसे वैसा फल भोगने में नियुक्त भर कर देते हैं।

इस लिए मनुष्य या देवता राक्षस आदि कोई भी प्राणी यदि अपनी सुगति चाहता है, तो उसे चाहिए कि भगवान् को दोष न देकर अपनी प्रकृति (आदत, स्वभाव, लत) को सुधारे अर्थात् सत्पुरुषों द्वारा उपदिष्ट मार्गों का अवलम्बन करे, सत्कर्म और सद्धर्म से विचलित न हो। ऐसा करने से निश्चय वह जगत् के परिवर्तन में भी एक अपरिवर्तनीय एवं सुदृढ मार्ग पा जायगा और जिस की अध्यक्षता में यह परिवर्तनचक्र चलता है उस के पास पहुँचकर वहीं हो जायगा। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, प्रकृति मेरी अध्यक्षता में इस समस्त चर अचर जगत् की सृष्टि करती है, इसी लिए यह संसार परिवर्तित होता रहता है, तो अर्जुन ने कहा— भगवन्, आप ने मुझ से (चतुर्थ अध्याय में) कहा है कि मैं युग युग में अवतार ग्रहण करके संसार को सन्मार्ग बतलाता हूँ, भक्तों की रक्षा और असुरों का संहार करता हूँ। आप के उस कथन से आप का कर्म करना सिद्ध है। तब भी आप अब कह रहे हैं कि मैं सब से उदासीन की तरह रहता हूँ और मेरी प्रकृति ही सब संसारचक्र चलाती है। इस प्रकार दो ढंग की बातों से तो बड़ी गड़बड़ी फैल सकती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, मैं ने अपने अवतारग्रहण की बात कहने के समय तुझ से यह भी बतला दिया था कि मेरा जन्म कर्म दिव्य है—जन्म लेकर भी मैं मनुष्यकोटि में नहीं आता हूँ। ज्ञानी और विवेकशाली लोग मेरे उस परम दिव्य रूप की बातें जानते हैं।

(अर्जुन) को निष्काम कर्मयोग का उपदेश दे डाले हैं, तो उस से अधिक कठिन परिस्थिति क्या और कहाँ पड़ सकती थी कि वे सकाम कर्म करने का प्रलोभन देकर उत्साहित करना आवश्यक समझते? नहीं और हजार बार नहीं। महाभारत युद्ध से बढ़कर विषम परिस्थिति संसार में उत्पन्न होना महा असंभव है। तो जब विकट समय में विकट विषय का उपदेश भगवान् ने दे डाला, तो यह तो और मानी हुई बात है कि साधारण (सुखमय) समय में तो वे और भी किसी तरह उस निष्काम कर्मयोग को छोड़ने का प्रोत्साहन नहीं देंगे। इस कथन से भगवान् के उदासीन की तरह रहने का भाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि निष्काम कर्मयोग का परिणाम है संसार के आवागमन से मोक्ष। इस लिए यदि भगवान् स्वयं संसार से उदासीन न रहते, तो दूसरों को उस से उदासीन होने का उपदेश क्यों करते। भगवान् की इस उदासीनता का ही यह फल है कि संसार बराबर चक्कर खाता रहता है। कभी दिन, कभी रात, कभी सुख, कभी दुःख, कभी आना, कभी जाना, कभी जन्म, कभी मृत्यु— ये बखेड़े बड़े भयंकर हैं; भगवान् की भगवत्ता ऐसे अनर्थों का नाश करनेवाली है, पर इन का नाश न होकर सर्वदा परंपरा लगी चली जा रही है क्यों? इसी लिए कि भगवान् तटस्थ हैं। उन्होंने संसार से मुक्ति पाने का उपाय और संसार में फँसे रहने का कारण-दोनों विषय संसार को उपदेश देकर समझा दिया है। उन में से जिसे जो जँचता है उसे वह ग्रहण करता है और तदनुसार सुफल (ब्रह्मलोक की प्राप्ति) कुफल (संसारबन्धन) पाता रहता है। यदि भगवान् तटस्थ न रहें और एक सैनिक की तरह ड्यूटी बजाने के लिए संसार की बागडोर प्रकृति के हाथों से छीन-कर अपने हाथों में ले लें, तो इस में संदेह नहीं कि अर्जुन की तरह सारे संसार को वे कुछ ही क्षणों में निष्काम कर्मयोगी बना डालें और कहीं कोई परिवर्तन न होने देकर सर्वत्र एक तरह की स्थिरता कायम कर दें। लेकिन वे सर्वकर्मसमर्थ होकर भी ऐसा करते क्यों नहीं? क्या संसार से उन का किसी तरह का मनमोटाव है कि इसे वे संपत्ति विपत्ति और इष्टानिष्ट के भयानक आवर्त में घूमते रहने के लिए छोड़कर स्वयं अलग जा बैठते हैं—उदासीन और तटस्थ होकर रहते हैं? नहीं, संसार से या इस के अतिरिक्त भी और कोई व्यापार-क्षेत्र हो, तो उस से भी भगवान् का वैमनस्य नहीं है। भगवान् वैमनस्य (शत्रुभाव) और सौमनस्य (मित्रभाव) से परे हैं और सर्वकर्मसमर्थ हैं, यह भी सही है; तथापि वे संसार को एकभाव में सर्वदा के लिए स्थिर नहीं करते, इस का कारण यही है कि कर्मबन्धन से दूर रहने के लिए उन्होंने इन सब कार्यों का भार प्रकृति को दे रखा है। प्रकृति जैसा चाहती है वैसा नाच नाचा और नचाया करती है भगवान् उस के झमेलों में नहीं पड़ते। इस पर भी कोई भगवान् को यह दोष नहीं दे सकता कि वे अपना ही भला चाहनेवाले स्वार्थी हैं, क्योंकि इसी दोष से छूटने के लिए वे निराकार से साकार नराकार धारण करते हैं और मनुष्य-

लोक में आकर मनुष्यों की भाँति ही नाना जंजालों में फँसते हैं और तब भी अपने जंजालों की पर्वाह न करके संसार को कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाने की ही दिन रात चेष्टा करते रहते हैं— तरह तरह के उपदेश देते हैं, अपने सिर पर दुःखों का पहाड़ उठाकर भी संसार के सामने बड़े बड़े आदर्श स्थापित करते हैं और सब तरह से सिद्ध करके दिखला तथा बतला देते हैं कि अमुक मार्ग से चलनेवाले प्राणी के कर्मबन्धन कट जायँगे और उन्हें आवागमन से मुक्ति मिल जायगी तथा अमुक मार्ग से चलनेवाले अनन्त जन्मों तक कर्मों में बँधते रहेंगे एवं पुनः पुनः दुःखमय संसार में आकर दुःख झेलते रहेंगे। इस के भी पहले उन्होंने प्रकृति द्वारा जीवों को यह बुद्धि दिलवा दी है कि वे भगवान् के उपदेशों को समझ बूझकर अपनी रुचि के अनुसार उन्हें अमल में लायें। परंतु जीव इतने पर भी ध्यान न दें और असत् कर्म करते हुए सत् कर्म और सत् ज्ञान की उपेक्षा करके भवसागर में डभचुभ होते रहें, तो इस में भगवान् का भला क्या दोष है ? इसी लिए कहा जाता है कि जीव अपने बनाव बिगाड़—सुगति दुर्गति—का कारण आप है। अर्थात् मनुष्य की प्रकृति ही मनुष्य की उन्नति अवनति करानेवाली है, भगवान् तो साक्षी अथवा अध्यक्षमात्र हैं और जो जैसा करता है उसे वैसा फल भोगने में नियुक्त भर कर देते हैं।

इस लिए मनुष्य या देवता राक्षस आदि कोई भी प्राणी यदि अपनी सुगति चाहता है, तो उसे चाहिए कि भगवान् को दोष न देकर अपनी प्रकृति (आदत, स्वभाव, लत) को सुधारे अर्थात् सत्पुरुषों द्वारा उपदिष्ट मार्गों का अवलम्बन करे, सत्कर्म और सद्धर्म से विचलित न हो। ऐसा करने से निश्चय वह जगत् के परिवर्तन में भी एक अपरिवर्तनीय एवं सुदृढ मार्ग पा जायगा और जिस की अध्यक्षता में यह परिवर्तनचक्र चलता है उस के पास पहुँचकर वहीं हो जायगा। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, प्रकृति मेरी अध्यक्षता में इस समस्त चर अचर जगत् की सृष्टि करती है, इसी लिए यह संसार परिवर्तित होता रहता है, तो अर्जुन ने कहा— भगवन्, आप ने मुझ से (चतुर्थ अध्याय में) कहा है कि मैं युग युग में अवतार ग्रहण करके संसार को सन्मार्ग बतलाता हूँ, भक्तों की रक्षा और असुरों का संहार करता हूँ। आप के उस कथन से आप का कर्म करना सिद्ध है। तब भी आप अब कह रहे हैं कि मैं सब से उदासीन की तरह रहता हूँ और मेरी प्रकृति ही सब संसारचक्र चलाती है। इस प्रकार दो ढंग की बातों से तो बड़ी गड़बड़ी फैल सकती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, मैं ने अपने अवतारग्रहण की बात कहने के समय तुझ से यह भी बतला दिया था कि मेरा जन्म कर्म दिव्य है—जन्म लेकर भी मैं मनुष्यकोटि में नहीं आता हूँ। ज्ञानी और विवेकशाली लोग मेरे उस परम दिव्य रूप की बातें जानते हैं।

और ज्ञानियों का जानना ही जानना है, इस लिए गड़बड़ी मचने का कोई भय नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मनुष्यशरीर धारण करनेवाले मुझ सब जीवों के महेश्वर के परम भाव को न जाननेवाले मूढ लोग मेरी अवज्ञा करते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मूर्ख लोग मेरे दिव्य परम रूप को नहीं जानते। मनुष्यरूप में अवतार धारण करने के कारण वे मुझे मनुष्य ही जानते हैं और जैसे अपने अड़ोसी पड़ोसी के साथ अहंकार और हेकड़ी का व्यवहार करके उस को अपमानित करना एवं नीचा दिखाना चाहते हैं वैसा ही व्यवहार मेरे साथ भी करते हैं। वे इस बात को नहीं मानते कि मैं उन के समान साधारण मनुष्य नहीं हूँ, वल्कि (उन के सदृश) संसार में जितने जीव हैं उन सब के ईश्वर का भी ईश्वर—महेश्वर हूँ।

क० प्र०—परम प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् बतला रहे हैं कि मूढ, अविवेकी, माया ने जिन का ज्ञान हर लिया है, ऐसे लोग मुझ परमेश्वर का अपमान, निरादर या अवहेलना करते हैं। विद्वान्, विवेकी, माया के परदे को मटियामेट कर देनेवाले, ज्ञानी लोग ही मुझे भली भाँति जानते और पूजते हैं। बात कायदे की कही गई है। जब किसी की विशिष्टता का, अपूर्व अलौकिक शक्ति सामर्थ्य का, शौर्य, बल, पराक्रम, तेज आदि का मनुष्य को परिचय मिल जाता है तभी वह उस के प्रति एक प्रकार के आकर्षण का अपने हृदय में अनुभव करता है और उसी अनुभव द्वारा प्रेरित होकर उस को अपना आदर, संमान, प्रतिष्ठा, पूजा, अर्चा, भक्तिभाव समर्पित करता है। बिना विशेषता का अनुभव किये किसी में प्रेम का होना अस्वाभाविक है। और विशेषता का अनुभव वही कर सकता है कि जिस की बुद्धि पर मूढता का आवरण नहीं चढ़ा हुआ है। यह मूढता का पर्दा गाड़ी भर शास्त्र पढ़ने से अथवा हजारों वर्ष कठिन से कठिन तप करने से भी दूर नहीं होता। यह तो तभी दूर होता है जब अहंकार का मद दूर हो। जिस में यह अभिमान भरा हुआ है कि मैं बड़ा बली, अत्यन्त पराक्रमी, अद्वितीय योद्धा, सर्वत्र अजेय और इसी लिए सारे संसार का एकमात्र प्रभु होने की शक्ति रखनेवाला हूँ वह चाहे कितना भी शास्त्रीय ज्ञानप्राप्त विद्वान् हो और चाहे कितना भी कठोर तपःसाधन कर चुका हो, फिर भी उसे भगवान् के अवतारी शरीर में परमेश्वरीय भावना नहीं हो सकती। और जिस में अहंमद नहीं है, जो यह समझनेवाला नहीं है कि मैं ही सब से बड़ा हूँ,

भगवान् का मनुष्य समझनेवाले कंस, जरासंध, कौरवादि अज्ञजन (अ० ९ श्लो० ११)

बल्कि इस के विपरीत यह समझ रखनेवाला है कि भगवान् ने अपनी सृष्टि में एक से बढ़कर एक पराक्रमी, शूर, वीर, ज्ञानी, विद्वान् उत्पन्न किया है और उन के भक्तों को कोई दुष्ट दुःख न दे, इस के लिए वे स्वयं अलौकिक शक्ति से संपन्न तेजोमय, किंतु साधारणतः मनुष्य अथवा अन्य संसारी जीवों जैसा ही, आवश्यकतानुसार शरीर धारण करते हैं, ऐसा मनुष्य अवतार विशेष में तो भगवान् का दिव्य दर्शन करता ही है, साथ ही साथ उसे उन सभी मनुष्यों के रूपों में भगवान् का विशेष अंश वर्तमान दिखाई देता है जो अपेक्षाकृत सद्व्यवहारी होते हुए अधिक लोकोपकारी होते हैं और इसी भावना से प्रेरित होकर अपने शारीरिक बल और धन जन का सद्व्यय किया करते हैं। जिस मनुष्य में ऐसी भगवद्भावना आ जाती है वह प्रातःस्मरणीय हो जाता है, भले ही वह तपस्वी, यती, ज्ञानी या विद्वान् कुछ भी न हो। और जिस में ऐसी भावना का अभाव है वह चाहे कितना भी चतुर्मुखी शक्तिशाली—तपस्वी, यती, शास्त्रज्ञानी, विद्वान्, लोकोत्तर बली और धनी ही क्यों न हो, पर संसार में वह सर्वत्र घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अन्त में बड़ी दुर्दशा को प्राप्त होता है। मन्दोदरी और उस का पति रावण—ये दोनों सहवासी और लौकिक दृष्टि से समानधर्मा होते हुए भी उपर्युक्त दोनों प्रकार के उत्कट उदाहरण हैं।

रावण विश्वविजयी की उपाधि से विभूषित हो चुका था। इस लिए उस की शारीरिक और आर्थिक बल के बारे में अद्वितीयता तो प्रकट ही है, साथ ही यह उपाधि पाने की क्षमता उस में किस तरह आई, इस बात पर ध्यान देने से उस की अद्वितीय विद्वत्ता और अतुलनीय तपस्विता का भी पता चल जाता है। वह एक ऋषि का वंशज था। संपूर्ण वेद-शास्त्र का अध्ययन बचपन में ही कर चुका था। उस का पाण्डित्य जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था। उस ने इतनी कठोर तपस्या की थी कि आज तक कोई भी ऐतिहासिक पुरुष उस के बराबर तपस्वी प्रसिद्ध नहीं हुआ। उस ने अपने रचे स्तोत्रों से भगवान् शंकर और प्रजापति (ब्रह्मा) की स्तुति की थी। अपने दस सिरों को अपने ही हाथों काट काटकर हवनकुण्ड में आहुति दे दी थी और विश्वविजय का वरदान प्राप्त किया था। इतना होने पर भी वह विद्वान् या ज्ञानी तपस्वी न कहलाकर संसार में मूर्ख राक्षस के ही नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ? इसी लिए कि वह भगवान् के परम भाव को नहीं जानता था। अपने बराबर किसी भी संसारी जीव को न मानने के कारण वह इस बात पर विश्वास ही नहीं करता था कि मनुष्य के रूप में भगवान् संसार में विचरण कर सकते हैं और वे ही राम के नाम से प्रसिद्ध होकर मेरे साथ संमुख संग्राम करने आये हुए हैं। वह अपनी लौकिक प्रभुता के मद में चूर रहनेवाला घोर राक्षसी मनोवृत्ति का ब्राह्मण था। इसी लिए उस की शास्त्रीय विद्वत्ता उस के काम न आई, सब कुछ पढ़ लिखकर भी वह संसार की पारखी दृष्टि में मूर्ख ही रह गया और भगवान् [illegible] को उस का संहार करना पड़ा।

बल्कि इस के विपरीत यह समझ रखनेवाला है कि भगवान् ने अपनी सृष्टि में एक से बढ़कर एक पराक्रमी, शूर, वीर, ज्ञानी, विद्वान् उत्पन्न किया है और उन के भक्तों को कोई दुष्ट दुःख न दे, इस के लिए वे स्वयं अलौकिक शक्तिसे सपन्न तेजोमय, किंतु साधारणतः मनुष्य अथवा अन्य संसारी जीवों जैसा ही, आवश्यकतानुसार शरीर धारण करते हैं, ऐसा मनुष्य अवतार विशेष में तो भगवान् का दिव्य दर्शन करता ही है, साथ ही साथ उसे उन सभी मनुष्यों के रूपों में भगवान् का विशेष अंश वर्तमान दिखाई देता है जो अपेक्षाकृत सद्व्यवहारी होते हुए अधिक लोकोपकारी होते हैं और इसी भावना से प्रेरित होकर अपने शारीरिक बल और धन जन का सद्व्यय किया करते हैं। जिस मनुष्य में ऐसी भगवद्भावना आ जाती है वह प्रातःस्मरणीय हो जाता है, भले ही वह तपस्वी, यती, ज्ञानी या विद्वान् कुछ भी न हो। और जिस में ऐसी भावना का अभाव है वह चाहे कितना भी चतुर्मुखी शक्तिशाली—तपस्वी, यती, शास्त्रज्ञानी, विद्वान्, लोकोत्तर बली और धनी ही क्यों न हो, पर संसार में वह सर्वत्र घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अन्त में बड़ी दुर्दशा को प्राप्त होता है। मन्दोदरी और उस का पति रावण—ये दोनों सहवासी और लौकिक दृष्टि से समानधर्मी होते हुए भी उपर्युक्त दोनों प्रकार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

रावण विश्वविजयी की उपाधि से विभूषित हो चुका था। इस लिए उस की शारीरिक और आर्थिक बल के बारे में अद्वितीयता तो प्रकट ही है, साथ ही यह उपाधि पाने की क्षमता उस में किस तरह आई, इस बात पर ध्यान देने से उस की अद्वितीय विद्वत्ता और अतुलनीय तपस्विता का भी पता चल जाता है। वह एक ऋषि का वंशज था। संपूर्ण वेद-शास्त्र का अध्ययन बचपन में ही कर चुका था। उस का पाण्डित्य जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था। उस ने इतनी कठोर तपस्या की थी कि आज तक कोई भी ऐतिहासिक पुरुष उस के बराबर तपस्वी प्रसिद्ध नहीं हुआ। उस ने अपने रचे स्तोत्रों से भगवान् शंकर और प्रजापति (ब्रह्मा) की स्तुति की थी। अपने दस सिरों को अपने ही हाथों काट काटकर हवनकुण्ड में आहुति दे दी थी और विश्वविजय का वरदान प्राप्त किया था। इतना होने पर भी वह विद्वान् या ज्ञानी तपस्वी न कहलाकर संसार में मूर्ख राक्षस के ही नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ? इसी लिए कि वह भगवान् के परम भाव को नहीं जानता था। अपने बराबर किसी भी संसारी जीव को न मानने के कारण वह इस बात पर विश्वास ही नहीं करता था कि मनुष्य के रूप में भगवान् संसार में विचरण कर सकते हैं और वे ही राम के नाम से प्रसिद्ध होकर मेरे साथ सम्मुख संग्राम करने आये हुए हैं। वह अपनी लौकिक प्रभुता के मद में चूर रहनेवाला घोर राक्षसी मनोवृत्ति का ब्राह्मण था। इसी लिए उस की शास्त्रीय विद्वत्ता उस के काम न आई, सब कुछ पढ़ लिखकर भी वह संसार की पारखी दृष्टि में मूर्ख ही रह गया और भगवान् राम के बाणों को उस का संहार करना पड़ा।

बल्कि इस के विपरीत यह समझ रखनेवाला है कि भगवान् ने अपनी सृष्टि में एक से बढ़कर एक पराक्रमी, शूर, वीर, ज्ञानी, विद्वान् उत्पन्न किया है और उन के भक्तों को कोई दुष्ट दुःख न दे, इस के लिए वे स्वयं अलौकिक शक्ति से संपन्न तेजोमय, किंतु साधारणतः मनुष्य अथवा अन्य संसारी जीवों जैसा ही, आवश्यकतानुसार शरीर धारण करते हैं, ऐसा मनुष्य अवतार विशेष में तो भगवान् का दिव्य दर्शन करता ही है, साथ ही साथ उसे उन सभी मनुष्यों के रूपों में भगवान् का विशेष अंश वर्तमान दिखाई देता है जो अपेक्षाकृत सद्व्यवहारी होते हुए अधिक लोकोपकारी होते हैं और इसी भावना से प्रेरित होकर अपने शारीरिक बल और धन जन का सद्व्यय किया करते हैं। जिस मनुष्य में ऐसी भगवद्भावना आ जाती है वह प्रातःस्मरणीय हो जाता है, भले ही वह तपस्वी, यती, ज्ञानी या विद्वान् कुछ भी न हो। और जिस में ऐसी भावना का अभाव है वह चाहे कितना भी चतुर्मुखी शक्तिशाली—तपस्वी, यती, शास्त्रज्ञानी, विद्वान्, लोकोत्तर बली और धनी ही क्यों न हो, पर संसार में वह सर्वत्र घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अन्त में बड़ी दुर्दशा को प्राप्त होता है। मन्दोदरी और बल का पति रावण—ये दोनों सहवासी और लौकिक दृष्टि से समानधर्मी होते हुए भी उपर्युक्त दोनों प्रकार के उत्कट उदाहरण हैं।

रावण विश्वविजयी की उपाधि से विभूषित हो चुका था। इस लिए उस की शारीरिक और आर्थिक बल के बारे में अद्वितीयता तो प्रकट ही है, साथ ही यह उपाधि पाने की क्षमता उस में किस तरह आई, इस बात पर ध्यान देने से उस को अद्वितीय विद्वत्ता और अतुलनीय तपस्विता का भी पता चल जाता है। वह एक ऋषि का वंशज था। संपूर्ण वेदशास्त्र का अध्ययन बचपन में ही कर चुका था। उस का पाण्डित्य जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था। उस ने इतनी कठोर तपस्या की थी कि आज तक कोई भी ऐतिहासिक पुरुष उस के बराबर तपस्वी प्रसिद्ध नहीं हुआ। उस ने अपने रचे स्तोत्रों से भगवान् शंकर और प्रजापति (ब्रह्मा) की स्तुति की थी। अपने दस सिरों को अपने ही हाथों काट काटकर हवनकुण्ड में आहुति दे दी थी और विश्वविजय का वरदान प्राप्त किया था। इतना होने पर भी वह विद्वान् या ज्ञानी तपस्वी न कहलाकर संसार में मूर्ख राक्षस के ही नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ? इसी लिए कि वह भगवान् के परम भाव को नहीं जानता था। अपने बराबर किसी भी संसारी जीव को न मानने के कारण वह इस बात पर विश्वास ही नहीं करता था कि मनुष्य के रूप में भगवान् संसार में विचरण कर सकते हैं और वे ही राम के नाम से प्रसिद्ध होकर मेरे साथ संमुख संग्राम करने आये हुए हैं। वह अपनी लौकिक प्रभुता के मद में चूर रहनेवाला घोर राक्षसी मनोवृत्ति का आश्रय था। इसी लिए उस की शास्त्रीय विद्वत्ता उस के काम न आई, सब कुछ पढ़ लिखकर भी वह संसार की पारखी दृष्टि में मूर्ख ही रह गया और भगवान् राम के बाणों को उस का संहार करना पड़ा।

परंतु मन्दोदरी—वही रावण की निजपत्नी—वे पढ़ी लिखी मूर्ख भी तपस्या और पूजा पाठ के सदाचरण से रहित अधम कोटि की मानवी को राम के इन्हीं संहारकारी बाण बरसानेवाले हाथों ने त्रास के बदले त्राण दिया। क्यों? इस तरह पति पत्नी में ही भेद-पूर्ण दृष्टि पड़ने का कारण क्या है? जो भगवान् कृष्णावतार लेकर गीता का उपदेश देते हुए कहते हैं कि—

'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥'

'मुझे सर्वयज्ञरूप तपों का भोक्ता, सब लोकों का महान् ईश्वर और सब जीवों का सुहृद् अर्थात् परम हितैषी समझनेवाला पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है' वे ही भगवान् रामावतारी होकर पति का संहार और पत्नी की सुरक्षा करने पर अपने उपर्युक्त (सुहृदं सर्वभूतानाम्) उपदेश की प्रतिष्ठा कैसे कायम रख सकते थे? क्या उन्हें यह ख्याल नहीं था कि ऐसे कार्य से सब जीवों की हितैषिता की प्रतिज्ञा में धक्का लगेगा? था और भली भाँति था। भगवान् कभी कोई बात भूलनेवाले नहीं हैं, वे सर्वज्ञ हैं और सर्वदा सब कुछ स्मरण रखनेवाले हैं। उन्होंने न तो रावण का संहार किया, न मन्दोदरी की रक्षा की। रावण का संहार रावण के कर्मों—अहंकार, आसुरमद, विश्वमनीन प्रभुता से उत्पन्न गर्व ने किया। इसी प्रकार मन्दोदरी की रक्षा भी उसी की पारखी दृष्टि ने की। मन्दोदरी निरक्षर भले ही रही हो, पर वह निरक्षिणी (बिना आँख की) नहीं थी। रावण साक्षर, किंतु भगवान् को जानने पहचानने की दृष्टि से शून्य था और मन्दोदरी निरक्षर, पर भगवान् को पहचाननेवाली दृष्टि से संपन्न थी। इस का प्रमाण उस समय का रावणमन्दोदरीसंवाद है जब कि हनुमान्‌जी के लङ्कादहन करके लौटने पर रामचन्द्रजी ने समुद्र में पुल बाँधकर लङ्का पर चढ़ाई कर दी थी। हनुमान्‌जी जब सोने की लङ्का को राख में मिलाकर सकुशल लौट गये और समस्त स्वर्ग, मर्त्य, पाताल को जीतनेवाला रावण उन का कुछ नहीं बिगाड़ सका तभी से मन्दोदरी की आँखें खुलने लगी थीं। उस ने अन्तर्दृष्टि से उसी समय देखना प्रारम्भ कर दिया था और दिन रात इसी कार्यकारण पर विचार करती रहती थी कि हनुमान् जब कि उस राजा (दशरथ) के लड़के (राम) का दूतमात्र था, कोई प्रमुख योद्धा नहीं, और तब भी इतना बलवान् था, तो वह लड़का साधारण लड़का नहीं, बल्कि संसार भर के बड़ों का भी बड़का साक्षात् भगवान् ही होगा, इस में संदेह नहीं। आखिर उस ने बहुत सोच समझकर यही निश्चय किया कि मेरे पति चाहे कितने भी बली क्यों न हों और आज तक चाहे जितनी लड़ाइयों में विजय पाकर सुर असुर सब को अपने वश में क्यों न कर चुके हों, पर इस बार मनुष्य के साथ भी लड़कर वे विजय नहीं पा सकेंगे, क्योंकि मुझे निश्चित रूप से

मालूम हो रहा है कि अब की मर्तबा भगवान् ही मनुष्य के रूप में प्रकट हुए हैं और उन की पत्नी सीताजी जगत् की जननी श्री लक्ष्मीजी हैं जिन्हें मेरे पति ने धोखा देकर अपने यहाँ ला रखा है। इस लिए मेरी जान में मेरे पति की तथा समस्त लङ्कावासी की भलाई इसी में है कि जानकीजी को सुलह के साथ वापस कर दिया जाय। ऐसा स्थिर कर मन्दोदरी अपने महल से निकली कि चलकर पति को अपनी शक्ति भर समझा कर देखूँ कि वे मेरी बात मानते हैं या नहीं।

उधर रावण ने भी जब सुना कि राम ने समुद्र में पुल बाँध लिया और उन की सारी सेना ने लङ्का के समुद्र तट पर आकर पड़ाव डाल दिया, तो इस खबर से वह बेतरह घबरा उठा, यहाँ तक कि घबड़ाहट के मारे उस के दसों मुँह एक साथ ही बोल बैठे कि अयँ, क्या राम ने समुद्र में पुल बाँध दिया? लेकिन साथ ही उसे जब मालूम हुआ कि मुझ असाधारण और अलौकिक बली रावण का सब के सामने इस प्रकार भय प्रकट करना बड़ा अनुचित हुआ, तो उस ने ऊपर से हँसते हुए कहा—कोई हर्जा नहीं। मैं खुद बहुत दिनों से समुद्र में पुल बाँधने का विचार कर रहा था। यह काम मेरे शत्रु ने पूरा कर दिया। इस से मैं परिश्रम करने से बच गया। अब जरूरत इतनी ही है कि शत्रु को हराकर उस पुल पर अपना कब्जा करना चाहिए। इस प्रकार कहता हुआ वह सभा में से उठकर भीतर महल में चला गया। उसी समय मन्दोदरी रावण से मिलने इसी तरफ आ रही थी। दोनों की बीच रास्ते में ही भेंट हो गई जिस से मन्दोदरी बड़ी खुश हुई। प्रेम के साथ रावण का हाथ अपने हाथ में लेकर उसे अपने महल में ले गई और वहाँ सुसज्जित कोमल शय्या पर बैठाकर उस ने कहा—प्राणनाथ, मैं आप से भेंट करने के लिए बहुत देर से बेचैन होकर बाट जोह रही थी। जब काफी देर होने लगी और आप के इधर आने की कोई आशा नहीं मालूम हुई तब मैं स्वयं आप को बुला लाने के विचार से सभाभवन की ओर चल पड़ी थी और सौभाग्य से राह में ही आप के दर्शन पाकर कृतार्थ हुई।

रावण का हृदय यद्यपि अभी तक पूर्ण स्वस्थ नहीं हुआ था, रह रहकर उस के मन पर पुल बँधने का आतङ्क छा जाता था, फिर भी उस ने बाहर अपनी व्याकुलता को व्यक्त नहीं होने दिया और प्रेम दिखलाते हुए मन्दोदरी से कहा—प्रिये, तुम्हारी इच्छा होने पर मैं पाताल में भी रहूँ तो क्या, उसे तोड़ फोड़कर तुरंत तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो सकता हूँ, सभाभवन तो अपने किले के अंदर है, वहाँ से आ गया तो क्या हुआ। कहो, क्या किसी सेवा में कमी पड़ी थी कि व्याकुल होकर मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं?

मन्दोदरी ने कहा—नहीं नाथ, आप के शासन में किस का साहस है कि सेवा में कमी करे। मैं एक जरूरी बात पर कुछ विचार करने के लिए आप से मिलने को उत्सुक थी।

रावण ने कहा—कहो, कहो। रुकती क्यों हो? बात क्या है? कहने में डर क्यों रही हो?

मन्दोदरी ने रावण के पैर पर सिर रखकर और दोनों हाथों से आँचल पसारकर बड़ी नम्रता के साथ कहा—प्रभो, प्रियतम, पहले मुझे यह सन्तोष दिलाइए कि मेरी वार्ता पर क्रोध नहीं करेंगे और ध्यान से सब बिनती सुन लेंगे तब मैं अपना मुँह खोलने का साहस करूँ।

रावण ने कहा—तुम निर्भय होकर जो कहना चाहती हो, कह सुनाओ।

मन्दोदरी ने कहा—नाथ, मेरी यही प्रार्थना है कि आप रामचन्द्रजी के साथ वैर न करें। आप को यदि मेरा सौभाग्यचिह्न (माथे का सेंदुर) प्रिय है और आप उसे चिरकाल तक मेरे सिर पर सुशोभित देखना चाहते हैं, तो जानकीजी को बिना किसी शर्त के वापस कर दीजिए और रघुनाथजी के साथ सन्धि कर लीजिए। मैं अच्छी तरह देख रही हूँ कि आप में और राम में वैसा ही अन्तर है जैसा जुगनू और सूर्य में। नीति कहती है कि शत्रुता उसी के साथ करनी चाहिए जिसे बुद्धि और बल से जीत सकने की अपने में शक्ति हो। और रामजी निश्चय वे ही हैं जिन्होंने वाराह और नृसिंह का रूप धारण करके हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप जैसे प्रबल दैत्यों का संहार किया था। इस लिए मेरा कहना मानिए और चुपचाप जानकीजी को उन के हाथों में सौंपकर क्षमा माँग लीजिए कि आप का कोई अनिष्ट न होने पाये। मैं खूब जानती हूँ कि वे दीनदयालु हैं, शरणागतभयहारी हैं, प्रणतसुखकारी हैं। इस लिए, आप ने उन का यद्यपि बहुत अपकार किया, तो भी वे दीन जानकर आप को क्षमा कर देंगे।

रावण को मन्दोदरी के मुँह से निकलेवाले एक एक अक्षर पर क्रोध की आग भड़कती हुई मालूम हो रही थी, परन्तु क्रोध न करने का वचन दे चुकने के कारण उस ने मन ऐंठकर क्रोध को दबा लिया और ऊपर से कहा—मान लो कि तुम्हारे कहने से मैं अपनी इज्जत का ख्याल छोड़ दूँ और उन दोनों छोकड़ों (राम लक्ष्मण) से जिन्हें तुम सातवें आसमान का रहनेवाला मान रही हो, जाकर माफी माँगूँ, लेकिन तब भी वे सब न मानें और हठ करके युद्ध ही करना चाहें तब क्या होगा?

मन्दोदरी ने कहा—नाथ, मेरा तो जहाँ तक विश्वास है, वे ऐसा कदापि नहीं करेंगे। परन्तु यदि आप का ही अनुमान सत्य निकले तब मैं खुशी से यही कहूँगी उस समय आप भी अपने पूरे शौर्यबल से उन्हें परास्त करने और मारने काटने की कोशिश शुरू कर दीजिएगा। लेकिन पहले तो मेरी प्रार्थना मानकर सुलह के लिए ही शक्ति भर प्रयत्न कीजिए। उन की ओर से आप अपने मन में बुरी कल्पना व्यर्थ ही कर रहे हैं। वे कोसलेश रामचन्द्र दया की मूर्त्ति हैं और आप पर दया करके ही यहाँ तक आने का उन्होंने कष्ट उठाया है। अन्यथा वे

रामजी सेतुबंध से लंका जा रहे हैं।

રામચંદ્રજી સેતુ ઉપર થઈ લંકાગમન.

मंदोदरी का रावण को समझाना।

મંદોદરીની રાવણને પ્રાર્થના.

रामरावणयुद्ध।

રામ રાવણ યુદ્ધ.

चाहते, तो घर बैठे ही आप को लङ्का सहित अपने पास उठवा मँगाते, क्योंकि वे निःसन्देह परब्रह्म परमात्मा हैं और सब संभव असंभव को सकेतमात्र से सघटित कर डालने की शक्ति रखते हैं। इस लिए हे नाथ, मेरी बात मान लीजिए और अवश्य सन्धि कर डालिए। इस से तीनो लोको में आप का सुयश छा जायगा और सारी लङ्का व्यर्थ ही नष्ट होने से बच जायगी।

इस प्रकार अपने सामर्थ्य भर सद्बुद्धि देकर मन्दोदरी ने आँखो में आँसू भरकर रावण के पैरो को पकड़ लिया और रोते रोते फिर कहा कि हे नाथ, रघुनाथजी से मैत्री स्थापित करके मेरा सौभाग्य अचल कीजिए।

रावण था तो भयानक राक्षस, पर मन्दोदरी के आँसुओं का सहसा निरादर करना उसे उचित नहीं जान पड़ा। इस लिए उस ने उस की बातो को स्वीकार न करने पर भी उसे कोमलता से झिड़की देते हुए कहा—तुम भी कैसी पागलो सी बातें करती हो! मेरा पराक्रम क्या तुम से छिपा हुआ है कि उन नन्हें बच्चों की झूठी झूठी दो चार कहानियाँ सुनकर तुम इस प्रकार बेसिर पैर की बातें सोचती और भयभीत हो रही हो? अरे, वे सब तो मेरे लिए एक तिनके के बराबर भी नहीं हैं, उन्हें तो मैं एक ही चपेट में पकड़कर निगल जाऊँगा; तुम क्यो व्यर्थ चिन्तित हो रही हो? मेरे डर से इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि दसों दिग्पाल थर थर काँपते रहते हैं और तुम्हारे ऊपर न जाने कहाँ का संदेह सवार हो गया है कि कल के बच्चों से मेरी हार की कल्पना कर रही हो। जाओ, निश्चिन्त होकर आनन्द मनाओ, मुफ्त की दुश्चिन्ता में पड़कर शरीर मत नष्ट करो। मन में यह निश्चय रखो कि अभी तक तीनों लोको में कोई ऐसा नहीं उत्पन्न हुआ है जो मेरी बराबरी कर सके, संमुख युद्ध करके परास्त करना तो बड़ी दूर की बात है।

इतना कहकर रावण ने मन्दोदरी को अपने पैरो पर से उठाकर प्यार सहित हृदय से से लगाया और दो चार चिकनी चुपड़ी बातें बनाकर उसे धैर्य देता हुआ वहाँ से उठकर फिर सभा में चला गया। मन्दोदरी बिचारी ने अपना माथा ठोककर मन ही मन कहा—अच्छा नाथ; मैं तो तुम्हारी दासी ही हूँ, जो चाहे कह सुनकर मेरा मुँह बंद कर देने का तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है, पर मैं स्पष्ट देख रही हूँ कि काल के वश में होने के कारण ही इस समय तुम्हारे अंदर प्रबल अभिमान जाग पड़ा है। परंतु जितना मैं ने कहा सुना उस से अधिक और मेरे वश में है ही क्या कि निकट भविष्य की अवश्यंभावी हानि से तुम्हारी और अपनी रक्षा करूँ।

इस प्रकार रो कलपकर मन्दोदरी तो चुप रह गई, पर अन्त में हुआ क्या, यह सब रामायणप्रेमी सज्जनों को मालूम है। रावण को उस के मद, मूर्खता और अभिमान का तत्काल फल मिला, उतने बड़े विस्तृत साम्राज्य के अधिपति के कुल का समूल नाश हो गया, यहाँ

तक कि विभीषण को छोड़कर (जो सच्चे रामभक्त थे और ठीक युद्ध के अवसर पर राम की सेना में आ मिले थे) लङ्का में दिया जलानेवाला भी कोई पुरुष जीवित नहीं बचा। और यह सब सिर्फ इतने ही के लिए कि लङ्कावासियों का राजा रावण भगवान् राम को परम पुरुष न मानकर साधारण पुरुष—मामूली आदमी जानता था। उस ने मूर्खतावश अपने हितैषियों को दुश्मन से मिला हुआ माना और मरने तक अपनी ज़िद नहीं छोड़ी। आख़िर में भगवान् राम ने उस का गर्व नष्ट कर दिया तभी उस ने समझा कि ये राम मनुष्य नहीं, प्रत्युत मनुष्य के रूप में जगदीश्वर हैं, और इतना ही समझने के कारण भगवान् ने उसे उत्तम लोक में गति देकर अपनी स्वाभाविक दयालु प्रकृति का परिचय दिया। इस लिए शास्त्र पढ़ो या मत पढ़ो, जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, दान आदि सत्कर्मानुष्ठान करो या मत करो, परंतु यदि बुद्धिमानों में भर्ती होना चाहते हो और अपना परलोक सुधारने की इच्छा रखते हो, तो ईश्वरीय अवतारों को मनुष्य समझने की भूल करके परमात्मा की अवज्ञा मत करो।

अर्जुन के उपर्युक्त मूढ़ की स्थिति पूछने पर भगवान् श्री कृष्ण का कहना है कि जो लोग मेरे मनुष्यावतारों को महेश्वर नहीं जानते और मेरे अलौकिक कार्यकलापों को संदेह की दृष्टि से देखकर उन में जादू टोना का मिथ्या आरोप करते हुए मेरे प्रति दुर्वचन का प्रयोग करके मुझे अपमानित करने की चेष्टा करते हैं वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं, और यही कारण है कि—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

(वे) भ्रान्त चित्तवाले निष्फल आशा, निष्फल कर्म, निष्फल ज्ञान होकर राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही आश्रय किये रहते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिन की आशाएँ सफल नहीं होतीं, जिन के कर्म (अर्थात् तज्जन्य परिश्रम) निरर्थक चले जाते हैं और जिन के ज्ञान निष्प्रयोजनीय हो जाते हैं, ऐसे वे भ्रान्त और अशुद्ध अन्तःकरणवाले अज्ञानी मूढ जन राक्षसी, आसुरी और मोहकारी प्रकृति को ही अपना आश्रय बनाये रहते हैं। तात्पर्य यह कि मुझ परमात्मा के अवतारों को मनुष्य समझकर उन की निन्दा और भर्त्सना करनेवालों की चित्तवृत्ति अपवित्र रहा करती है। अतएव उन की कोई आशा फलवती नहीं होती, कोई कर्म सिद्धिदायक नहीं होता, कोई ज्ञान अज्ञाननाश नहीं करता, सब के सब व्यर्थ चले जाते हैं और फलस्वरूप उन मूर्खों को राक्षसों, असुरों और मोह में डालनेवाले मूढ मायावियों की प्रकृति का ही अवलम्ब लेकर अपना जीवन बिताना पड़ता है।

क० म०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् के अलावे दूसरों से किसी बात की आशा करना, भगवान् को छोड़कर दूसरों के निमित्त कर्म करना, भगवान् के अतिरिक्त दूसरे विषय का ज्ञान प्राप्त करना इत्यादि सभी बातें व्यर्थ हैं, निष्फल हैं, निरर्थक हैं। अरे, जब कि सकल शास्त्र, पुराण, इतिहास पुकार पुकारकर कहते हैं कि भगवान् के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ भी दृश्य अदृश्य शब्द, नाम, रूपमय जगत् है सब भगवन्मय है, ऐसी हालत में भगवान् को भूलकर औरों से कार्य कारण आदि किसी प्रकार का संबन्ध रखना, मूर्खता नहीं, तो और क्या कहा जा सकता है ? और मूर्खता का त्याग न करके उसी में फँसे रहना तथा उसी से सुफल चाहना और उसी का दम भरना व्यर्थ, निष्फल और इसी प्रकार के अर्थ बतलानेवाले शब्दों द्वारा जो कुछ भी कहा जाय वह सब है। ऐसी मूर्खता में पड़े रहनेवालों को शान्ति तो आजीवन नहीं मिल सकती; क्योंकि यह साधारण अनुभव की बात है कि जिन की आशा, जिन का कर्तव्य, जिन का जानना सुनना और सोचना विचारना फलीभूत न होकर व्यर्थता को प्राप्त हो जाता है, ऐसे लोग घबड़ा उठते हैं, उन का चित्त विक्षिप्त हो जाता है जिस के फलस्वरूप वे लोग ठिकाने से विचार करके व्यर्थता के मूल कारण को पकड़ नहीं पाते और झट मुठ निर्दोष को दोषी, बे कसूर को कसूरवार समझकर उसी पर अपने मन का गुबार निकालने लगते हैं अर्थात् ऐसे यह तो सोचते नहीं कि हम ने प्रारम्भ में ही उलटा मार्ग ग्रहण किया, ईश्वर को छोड़कर दूसरे उपायों से कार्य सिद्ध करना चाहा; उलटे दोष देने लगते हैं अपने भाग्य और उस के नियामक ईश्वर को।

सोचने की बात है कि संसार की गति किस ढंग की है—कार्यसिद्धि का ढर्रा क्या है अथवा बड़ों का अनुभव क्या बतलाता है। यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है कि सूर्य को पीछे करके आगे चलनेवाले के आगे आगे उस की परछाहीं दौड़ती जाती है और सूर्य के संमुख चलनेवाले की परछाहीं चलनेवाले के पीछे पीछे दौड़ती आती है। अब सूर्य को यदि हम परमात्मा के स्थान पर समझें और अपनी छाया को आशा, कर्म, ज्ञानरूप फलप्राप्ति, तो इसी निष्कर्ष पर हमें पहुँचना पड़ता है कि ईश्वर को पीछे करके यानी उन्हें छोड़कर सीधे एकमात्र किसी विशेष फल के ही पीछे दौड़ने पर फल संमुख दिखाई देता हुआ भी हाथ में नहीं आने पाता—जितना ही हम उसे अपनाना चाहते हैं उतना ही वह हम से दूर भाग जाता है और जब हम ईश्वर (सूर्य) को अपने संमुख कर लेते हैं, उन्हें ही अपना ध्येय बना लेते हैं और फल की चिन्ता छोड़कर उस की ओर से बेपर्वाह हो जाते हैं तब वह फल (छाया की भाँति) बिना बुलाये और बिना चाहे हमारे पीछे पड़ जाता है, उस समय हम चाहें भी कि फल हमारा संसर्ग छोड़ दे, तो भी वह शरीर और परछाहीं के संबन्ध की तरह हमारे साथ अटूट संबन्ध जोड़ने लगता है। आज का संसार प्रत्यक्ष पर ही विश्वास करने का अभ्यास करते

तक कि विभीषण को छोड़कर (जो सच्चे रामभक्त थे और ठीक युद्ध के अवसर पर राम की सेना में आ मिले थे) लङ्का में दिया जलानेवाला भी कोई पुरुष जीवित नहीं बचा। और यह सब सिर्फ इतने ही के लिए कि लङ्कावासियों का राजा रावण भगवान् राम को परम पुरुष न मानकर साधारण पुरुष—मामूली आदमी जानता था। उस ने मूर्खतावश अपने हितैषियों को दुश्मन से मिला हुआ माना और मरने तक अपनी जिद नहीं छोड़ी। आखिर में भगवान् राम ने उस का गर्व नष्ट कर दिया तभी उस ने समझा कि ये राम मनुष्य नहीं, प्रत्युत मनुष्य के रूप में जगदीश्वर हैं, और इतना ही समझने के कारण भगवान् ने उसे उत्तम लोक में गति देकर अपनी स्वाभाविक दयालु प्रकृति का परिचय दिया। इस लिए शास्त्र पढ़ो या मत पढ़ो, जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, दान आदि सत्कर्मानुष्ठान करो या मत करो, परंतु यदि बुद्धिमानों में भर्ती होना चाहते हो और अपना परलोक सुधारने की इच्छा रखते हो, तो ईश्वरीय अवतारों को मनुष्य समझने की भूल करके परमात्मा की अवज्ञा मत करो।

अर्जुन के उपर्युक्त मूढ की स्थिति पूछने पर भगवान् श्री कृष्ण का कहना है कि जो लोग मेरे मनुष्यावतारों को महेश्वर नहीं जानते और मेरे अलौकिक कार्यकलापों को संदेह की दृष्टि से देखकर उन में जादू टोना का मिथ्या आरोप करते हुए मेरे प्रति दुर्वचन का प्रयोग करके मुझे अपमानित करने की चेष्टा करते हैं वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं, और यही कारण है कि—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

(वे) भ्रान्त चित्तवाले निष्फल आशा, निष्फल कर्म, निष्फल ज्ञान होकर राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही आश्रय किये रहते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिन की आशाएँ सफल नहीं होतीं, जिन के कर्म (अर्थात् तज्जन्य परिश्रम) निरर्थक चले जाते हैं और जिन के ज्ञान निष्प्रयोजनीय हो जाते हैं, ऐसे वे भ्रान्त और अशुद्ध अन्तःकरणवाले अज्ञानी मूढ जन राक्षसी, आसुरी और मोहकारी प्रकृति को ही अपना आश्रय बनाये रहते हैं। तात्पर्य यह कि मुझ परमात्मा के अवतारों को मनुष्य समझकर उन की निन्दा और भर्त्सना करने-वालों की चित्तवृत्ति अपवित्र रहा करती है। अतएव उन की कोई आशा फलवती नहीं होती, कोई कर्म सिद्धिदायक नहीं होता, कोई ज्ञान अज्ञाननाश नहीं करता, सब के सब व्यर्थ चले जाते हैं और फलस्वरूप उन मूर्खों को राक्षसों, असुरों और मोह में डालनेवाले मूढ मायावियों की प्रकृति का ही अवलम्ब लेकर अपना जीवन बिताना पड़ता है।

आशा निराशा में न बदलने पाये, किसी तरह ज्ञान की कमजोरी न महसूस करनी पड़े, तो भगवान् के बतलाये सुगम मार्ग निष्कामकर्मयोग का अवलम्बन करो, अपनी प्रत्येक शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक क्रिया प्रभु के निमित्त होने दो, भगवान् के अतिरिक्त और कुछ जानने की चेष्टा भी मत करो। ऐसा करने पर तुम्हारी आशा कभी व्यर्थ नहीं जायगी (क्योंकि उस का तो तुम्हारे निकट कभी अस्तित्व ही नहीं रहनेवाला है), तुम्हारा कोई कर्म निष्फल नहीं होगा (क्योंकि प्रभुनिमित्तक कर्म को प्रभु स्वयं पूर्णता प्रदान करते हैं), तुम्हारा ज्ञान कभी निरर्थक नहीं होगा (क्योंकि परमात्मज्ञान के जिज्ञासु को जो कुछ भी थोड़ा बहुत ज्ञान हो जाता है वह हरहालत में कल्याणकारी ही सिद्ध होता है।) इस प्रकार तुम राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति के आश्रय में जाने से अनायास ही बचे रह जाओगे। और यदि इतना जान सुनकर भी तुम से यह मार्ग नहीं अपनाया जा सका तब तो वही होना निश्चित है जो भगवान् प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन से कह रहे हैं कि—

हे अर्जुन, जो लोग मेरे अवतारशरीर को मनुष्यमात्र मानकर मुझे सब जीवों का महेश्वर नहीं जानते और मेरी अवहेलना करते हैं उन की आशाएँ व्यर्थ, उन के कर्म निष्फल और उन के ज्ञान निष्प्रयोजन होते हैं, क्योंकि मेरी अवज्ञा उन की चित्तवृत्ति भ्रमित एवं अपवित्र कर दिये रहती है। और यही कारण है कि ऐसे लोग राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति का आश्रय किये रहते हैं। अस्तु;—

' भगवान् जब उपर्युक्त रीति से संक्षेप में आसुरी प्रकृतिवालों की सर्वतोमुखी विफलता का वर्णन कर चुके और उस के द्वारा अर्जुन को यह बात विदित हो गई कि भगवान् से विमुख रहनेवालों के ऊपर राक्षसी आसुरी प्रकृति का दबाव और प्रभाव रहता है तथा उन का चित्त स्थिरता ग्रहण करने के अयोग्य होता है, तो उस ने यह भली भाँति समझ लिया कि ऐसी प्रकृति के लोग नीचात्मा हैं, ऐसे लोगों से संसार की कोई भलाई नहीं हो सकती। इस लिए अब भगवान् से इन के अलावे किसी ऐसी प्रकृति के मनुष्यों के संबन्ध में जानने योग्य बातें जाननी चाहिएँ जिन से संसार की भलाई होने की आशा की जा सके और जिन का अनुकरण करना ससार में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता हो। लेकिन यहाँ तो जिधर देखता हूँ उधर इसी तरह के लोग दिखलाई पड़ते हैं। मेरे भाई दुर्योधन आदि से तो भगवान् कृष्ण की अलौकिक कारंवाइयाँ (कंसासुर, शिशुपाल और उन के सहायक बड़े बड़े वीर राक्षसों के वध तथा कालीय दमन आदि की लोमहर्षण घटनाएँ) छिपी नहीं हैं, वे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि ये सब काम किसी मनुष्य से नहीं हो सकते थे, फिर भी वे इन्हें मनुष्य ही समझते हैं। तो जब कि ऐसे ऐसे विद्वान् राजा और उन के मन्त्री वगैरह तक भगवान् के कथनानुसार राक्षसी प्रकृति का आश्रयण किये हुए हैं, तो मालूम होता है कि संसार में दूसरी तरह की प्रकृति के लोग शायद ही होते हों।

करते उसी प्रकार का स्वभाववाला हो गया है, इस लिए संभव है कि वह केवल दृष्टान्त से संतुष्ट न हो और व्यक्तिगत अनुभव करने की इच्छा करे जिस पर किसी भी विवेकी को आपत्ति नहीं हो सकती, न होनी चाहिए, और मेरा तो दृढ विश्वास है कि इस प्रकार के व्यक्तिगत अनुभव द्वारा प्रभुपरायण होने की अभिलाषा रखनेवालों से अधिकाधिक जगत की कल्याणवृद्धि ही होगी; परंतु सच तो यह है कि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करे या न करे, जो सच्चे प्रभुभक्त हैं और जिन की महापुरुषों की उक्तियों में श्रद्धा है वे दोनों हालत में इस बात को सत्य स्वीकार करने के लिए सदा तैयार रहते हैं कि कामना की, तद्विषयक कर्म की और ज्ञान की वास्तविक उपादेयता तो यही है कि केवल प्रभुप्राप्ति की कामना की जाय, केवल प्रभुनिमित्तक कर्म किये जायँ और केवल प्रभुविषयक ज्ञान प्राप्त किया जाय। प्रभु के अतिरिक्त ये सब बातें केवल व्यर्थ प्रपञ्च हैं, अभिलाषी, कर्ता और जिज्ञासु को राक्षसी, आसुरी और मोहिनी माया में फँसानेवाली भयंकर विभीषिकाएँ हैं। इन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर अच्छे लोग कहा करते हैं कि ऐ बंदे, किसी को अपने से अधिक सुखी, समृद्ध, दिव्य वस्त्राभूषण से संयुक्त देखकर अपने आप को उस से निकृष्ट मत समझ, उस के सामने दीन बनकर हाथ मत फैला और न यह आशा रख कि उस के कुछ दे देने से तेरी इच्छा पूरी हो जायगी, तेरा कार्य सफल हो जायगा तथा तेरा अनुमान सत्य सिद्ध होकर ही रहेगा। अगर हाथ फैलाता है, तो केवल परमात्मा के सामने फैला, उन्हीं की प्रार्थना कर, उन को ही समझने की कोशिश में रह। ऐसा करने से तुझे कोई वस्तु माँगने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। इस तरह के आचरण से परमात्मा प्रसन्न होकर तेरी स्थिति ही ऐसी बनाये रहेंगे कि तुझे कभी किसी बात की कमी का अनुभव ही नहीं करना पड़ेगा।

परंतु इन बातों पर कोई कान नहीं देता। लोग निष्कामभाव के महत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहते और सौ में नब्बे इच्छाओं तथा उन के लिए किये गये प्रयत्नों को विफल होते देखकर भी केवल दस की ही पूर्ति पर अपनी बुद्धि को अपने ही मुँह से वाहवाही देने लगते हैं। यह बुद्धि का दिवाला नहीं, तो और क्या है? प्रारम्भ किये तुम ने सौ काम और उन में पूरे हुए सिर्फ दस; और तब भी तुम अहंकार में चूर होने लगे कि वाह रे हम, आज तो अपनी बुद्धि के बल पर हम ने दस काम कर दिखाये! यह ढोंग भला तुम्हें कितनी घड़ियों तक संतुष्ट रख सकेगी? निश्चय समझो कि ज्यों ही तुम्हारे सिर पर से मोह का भूत उतर जायगा और अपने नब्बे कार्यों की विफलता से होनेवाली हानि का अन्तःकरण में अनुभव होगा त्यों ही तुम दुःख के मारे सिर धुनने लगोगे, अपनी भूल पर ध्यान न देकर झूठमूठ परमेश्वर को दोष दोगे और पाप पर पाप का पहाड़ लादते चले जाओगे। इस लिए अगर चाहते हो कि ऐसी घड़ी का मुँह न देखना पड़े, जो काम हाथ में आये वह पूरा होकर रहे, कोई

महात्मानस्तु मा पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

इस प्रकार मन में सोच विचारकर अर्जुन भगवान् के संमुख अपनी शङ्का उपस्थित करना ही चाहता था कि अन्तर्यामी भगवान् ने उस के आन्तरिक भावों को जानकर स्वयं कहना आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा—अर्जुन, मैं तेरे हृदय की सभी बातें समझ रहा हूँ। तेरा सोचना बिलकुल ठीक है, वस्तुतः संसार में इन दिनों राक्षसी और आसुरी प्रकृति के ही लोग अधिकतर दिखलाई पड रहे हैं,—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परंतु हे पार्थ, दैवी प्रकृति का आश्रय लेनेवाले महात्मा लोग मुझ को (समस्त) जीवों का अविनाशी आदिकारण जानकर अनन्य चित्त से (मेरा) भजन करते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यद्यपि संसार में मूढता और आसुर प्रकृति का ही अधिक प्रचार दिखलाई पड़ता है, मेरे मानवीय अवतार को परम ईश्वर माननेवाले बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं, *फिर भी जिन की आत्मा उच्चता पर आसीन है* वे महात्मा लोग तो अवश्य ही राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति के परे हैं और दैवी प्रकृति के आश्रय में रहकर मुझे सब जीवों का मूलकारण समझते हैं। इसी लिए वे लोग आशा, तृष्णा, सकामता और लौकिकता के ज्ञान से दूर रहकर मुझे ही अनन्यभाव से भजते हैं और मेरे प्रति अपने मन में यह दृढ धारणा रखते हैं कि मैं (श्री कृष्ण) ही अविनाशी परमेश्वर हूँ।

क० म०—प्यारे मित्रो, जो लोग चित्त को एकाग्र करके भगवान् का भजन करते हैं उन को भगवान् महात्मा की उपाधि देकर आदृत करते हैं। बताओ तो सही कि महात्मा जैसा दुर्लभ पद भगवान् कितनी सस्ती कीमत पर दे रहे हैं! लोग हजारों लाखों रुपये खर्च करके विद्याएँ पढ़ते हैं कि वकील की, बैरिस्टर की, डाक्टर की, जज की, कलेक्टर की और न जाने किस किस चीज की उपाधि मिले। साथ ही उस के लिए दिन रात एक करके दिमाग में संसार भर के भूगोल इतिहास की बातें भरने की मेहनत करते हैं सो अलग से। और मजा यह कि इतना करने पर भी किसी किसी को अनेक वर्ष फेल होने के बाद कहीं सौभाग्य प्राप्त होता है कि इच्छित उपाधि हासिल होती है। कौन बुद्धिमान् नहीं स्वीकार करेगा कि संसार भर की बड़ी बड़ी उपाधियाँ एक तरफ रखी जायें और महात्मा की उपाधि एक तरफ, तो दोनों में महान् महात्मा की ही उपाधि साबित होगी। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

यह है कि बड़े बड़े (हाईकोर्टों औरकमिश्नरियों के) जज कमिश्नर तक समय आने पर अपने जीवन भर के झंझाटों से ऊबकर अपने अपने पदों का परित्याग कर देते हैं और जो जान से ऐसी कोशिश और ऐसा आचरण करते हैं कि संसार उन्हें जज कमिश्नर न कहकर 'महात्मा' जाने, महात्मा कहे और महात्माओं के साथ जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए वैसा ही व्यवहार करे। काशी, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, ऋषिकेश और इन के अतिरिक्त हिमालय तथा विन्ध्य पर्वत की गुहाओं में भी मैं ने अनेक बार ऐसे महात्माओं को देखा है जो अपने पूर्व जीवन में बड़ी बड़ी उपाधियों को विभूषित कर संसार की समग्र सुखसामग्री का उपभोग कर चुके हैं, परंतु जब कहीं सच्चा सुख और वास्तविक शान्ति का अनुभव नहीं हुआ, तो सब छोड़ छाड़कर एकान्तसेवी बन गये और महात्मा का जीवन बिता रहे हैं। लेकिन आश्चर्य है कि इन सब बातों को देख सुनकर भी कोई भौतिक विद्याओं के प्रति उदासीनता नहीं प्रकट करता और न निःशुल्क मिलनेवाली महात्मा की उपाधि के लिए अपने मन में कभी विचार करता है। यों संकट पड़ने पर भले ही कोई थोड़ी देर के लिए महात्मा या महात्मा जैसा स्वभाववाला बन जाय और अनन्यभाव से भगवान् भगवान् कहकर संकट से मुक्त होने की आशा करने लगे, पर इस तरह की स्वार्थपूर्ण अनन्यता अनन्यता में शामिल नहीं हो सकती, न ऐसा भजनानन्दी भक्त महात्मा कहलाने का वास्तविक अधिकार पा सकता है। ऐसी भक्ति तो आसुरी प्रकृतिवालों के लिए ही, उन के मतानुसार, धर्मयुक्त कही जा सकती है, दैवी प्रकृतिवाले तो ऐसी भक्ति से दूर ही रहते हैं, क्योंकि दैवी प्रकृति का काम है एकमना होना अर्थात् जो दैवी प्रकृति के होते हैं वे संकट पड़ने पर भगवान् का भजन नहीं करने लगते हैं, किंतु उन का भगवद्भजन करना स्वभाव ही होता है, वे संकट को संकट और सुख को सुख मानकर व्यथित और आनन्दित नहीं होते, उन के लिए संकट और सुख दोनों समान होते हैं। उन के ऊपर दुःखों का पहाड़ टूट पड़े या सुख का समुद्र भर जाय, दोनों हालत में वे अनन्यभाव से भजन में लीन रहते हैं। और जो लोग संकट पड़ने पर भगवान् को याद करने लगते हैं वे संकट के दूर होते ही भगवान् को भूलकर अपने आनन्दप्रमोद में लीन हो जाते हैं। इस लिए इन दोनों प्रकार के भक्तों की तुलना करना तो निरी अबोधता है। स्वार्थवश भजनभाव करनेवालों का मन उन के काबू में नहीं रहता, वे लोग तो किसी तरह कोशिश करके कुछ देर के लिए मन को भगवान् की ओर लगाये रखने का उपक्रम कर लेते हैं, अन्त तक—जीवन पर्यन्त—उन का मन उन के वश में नहीं रह सकता, सुख की तरङ्गें सामने पाकर बिना लंगर की नाव की तरह धारा की ओर बह जाता है। और जिन को भजन और भगवान् से कोई स्वार्थ नहीं साधना रहता है, तथापि जो भगवान् को सदा मन में रखने में व्यस्त रहते हैं वे ही स्वभावतः मन को वश में रख सकते हैं, उन के मन की तरङ्गें केवल भगवान् के अभिमुख दौड़ा करती हैं, भगवद्भजन ही उन के लिए

सब सुखों से परिपूर्ण महातरङ्गमय अथाह समुद्र होता है जिस में पड़कर उन का मन किसी दूसरी दिशा का ध्यान भी नहीं रखता, फिर दूसरी दिशा में उस के जाने आने की तो चर्चा ही व्यर्थ है। अस्तु;

ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन; दैवी प्रकृति के महात्मा लोग मुझे समस्त भूतों का अविनाशी आदि कारण (परम पिता परमेश्वर) जानकर मेरा ही अनन्यभाव और एकाग्र मन से भजन करते रहते हैं।

इस प्रकार अर्जुन ने कहा कि हे भगवन् , आप ने अब तक यह बात अनेक बार कही कि मेरा भजन करनेवाले भक्त महात्मागण एकाग्रचित्त और अनन्यभाव से मेरा ही भजन करते हैं, पर आप ने यह नहीं बतलाया कि वे भक्त लोग आप को किस रीति अथवा किस विधि से भजते हैं। अतः यदि कोई अड़चन न हो, तो यहाँ पर पहले मुझे यह बतला दीजिए कि वे लोग आप का भजन करने में कौन कौन से विशेष विधान का पालन करते हैं ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मेरे भक्त अनेक प्रकार के होते हैं और सभी ने अपने अपने लिए तदनुसार मेरी भक्ति के भी अनेक प्रकार बना लिये हैं, परंतु अभी मैं ने जिन महात्मा के भजन की बात कही है उन के भजन करने का यह ढंग है कि वे—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

दृढ व्रतवाले (महात्मा लोग) निरन्तर कीर्तन करते हुए और (अनेक धार्मिक) यत्न करते हुए तथा मुझ को नमस्कार करते हुए भक्तिपूर्वक नित्ययुक्त रहकर मेरी उपासना करते रहते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिन की मुझ में अचल भक्ति है वे निश्चित रूप से व्रती रहनेवाले भक्त महात्मा लोग सदा मेरा कीर्तन किया करते हैं और इन्द्रिय-निग्रह, शम, दम, दया, अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि धार्मिक कृत्यों द्वारा मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं तथा मुझे सर्वदा नमस्कार करते हुए मुझ में निरन्तर युक्त रहकर भक्ति सहित मेरी उपासना अर्थात् सेवा, पूजा, अर्चा आदि करने में लगे रहते हैं।

क० प०—प्यारे भाइयो, भगवान् ने यहाँ पर अपनी भक्ति के दो प्रकारों, दो तरीकों का वर्णन किया है—एक प्रकार है भगवान् के गुणों का कीर्तन करना और दूसरा है भगवान् को नमस्कार करना। लेकिन ये दोनों काम सचाई के साथ होने चाहिएँ, लोगों को लुभाने के

लिए नहीं। सच्चा भक्त दिखावटी भजन नहीं करता, वह अचल मतवाला होता है, उस का निश्चय कभी डिगनेवाला नहीं होता, वह श्रोताओं का समूह देखकर उस समूह के ऊपर अपना रोब गालिब करने के लिए—अपनी भक्ति के प्रभाव से प्रभावित करने के लिए भगवान् का कीर्तन नहीं करता। उस कोटि के भक्त का तो स्वभाव ही कीर्तन करते रहना होता है, वह श्रोताओं के समूह में रहे या कहीं जंगल पहाड़ पर अकेले एकान्त में, उस का भगवद्‌गुणानु-कीर्तन सर्वत्र दिन रात जारी रहता है वह, हर हमेशा इस प्रयत्न में अपना हृदय लगाये रखता है कि अन्तःकरण मुहूर्तमात्र के लिए भी भगवान् को विस्मृत न करने पाये। इसी प्रकार भक्ति के दूसरे प्रकार नमस्कार में भी तल्लीनता अपेक्षित है। 'विलैया दण्डवत्' से काम नहीं चल सकता, क्योंकि भगवान् भौंड़ी की नकल अथवा नाटक सिनेमा की सफल एक्टिंग देखकर खुश होनेवालों की तरह अपने भक्तों में नाटकीय प्रगल्भता देखने के इच्छुक कभी नहीं हैं। वे हृदय में रहते हैं और वहीं से सम्बन्ध रखनेवाली बातों पर प्रसन्न होते हैं। इस लिए उन्हें नमस्कार भी वही पसन्द है जो हार्दिक हो। जिस नमस्कार में आन्तरिक प्रेरणा हो और उसे भगवान् तक पहुँचा देने की भक्त में प्रबल उत्कण्ठा हो उसी नमस्कार या प्रणाम से भगवान् भक्त को अपना दास समझते हैं। विलैया दण्डवत् तो बाजार में चलते फिरते धनी मानी बाबुओं की जेब से एक अधेला निकलवाने में भी सफल होता नहीं देखा जाता, फिर वैसे नमस्कार से हृदय के पारखी भगवान् को कोई किस तरह रिझा सकता है? इस लिए भगवान् के संमुख और भगवान् के निमित्त होनेवाले सभी कर्म आन्तरिक भावना से ओतप्रोत हों तभी उन कर्मों को भगवान् की ओर से सकर्मता और सत्कर्मता एवं उन के कर्ताओं को तत्कर्तृकता मिल सकती है, अन्यथा उन कर्मों में परिश्रम करते करते (क्योंकि दिखावटी कर्म भी बिना परिश्रम के तो हो नहीं सकते, इस लिए) कोई मर भी जाय, तो भी उस की खबर भगवान् नहीं रख सकते, फिर दूसरा कोई तो क्या खबर रखेगा अथवा रखे भी तो उस से क्या होना जाना है।

विचारने की और अनुभव करने की बात है कि नदी एक जड़ पदार्थ है, उस में सोचने समझने की शक्ति नहीं है, उसे कोई लाखों वर्ष उपदेश देता रह जाय और चाहे कि नदी मेरा शिष्यत्व स्वीकार कर अपने को ज्ञानी बनाये तथा मुझ को अपना गुरु जानकर मेरे प्रति कृतज्ञता प्रकट करे, तो यह बात स्वाभाविक कल्पना से भी बाहर की समझी जायगी। परंतु सच तो यह है कि नदी जैसी जड़ वस्तु भी अपना एक निश्चित ध्येय लेकर संसार में पदार्पण करती है, जिस ने उसे संसार में जाने और वहाँ पर ध्येय को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है उस का शिष्यत्व स्वीकार करती है और उस के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हुई अपने ध्येय को प्राप्त करके ही विरत होती है। जानते हो, नदी का ध्येय क्या है? उस का ध्येय है अपने

पति, अपने स्वामी, अपने ईश्वर सागर को प्राप्त करना। नदी जिस दिन जगत् में जन्मती है उसी दिन से अपनी लक्ष्यप्राप्ति पर सन्नद्ध हो जाती है और जब तक वहाँ (लक्ष्य, ध्येय तक) पहुँच नहीं जाती तब तक पल भर के लिए भी कहीं विराम या विश्राम नहीं करती—समुद्र में पहुँचकर और वहाँ भी अपना अस्तित्व खोकर ही दम लेती है। यह बात भी नहीं है कि जैसे मनुष्यों की लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में अनेकानेक विघ्न बाधाएँ पड़ पड़कर उसे इतस्ततः व्यस्त करना और ध्येय तक पहुँचने से रोक देना चाहती हैं वैसे नदियों के मार्ग में न पड़ती हों; विघ्नबाधाओं का तो काम ही यह है कि वे जड़ चेतन सभी को अपनी कसौटी पर कसें, पर चेतन मनुष्य (या और और जीव जन्तु) भले ही विघ्नों से ऊबकर अपने ध्येय से अलग हो जायँ, किंतु अचेतन नदी उन की चिन्ता या पर्वाह भी नहीं करती। नदी की ध्येयप्राप्ति—समुद्रमार्ग—में पड़नेवाली बाधाएँ हैं, जंगल, झाड़, पहाड़ी चट्टान, नाले, खंदक, खाइयाँ इत्यादि। ये सब बाधाएँ नदी के मार्ग में रुकावट डालने में कुछ बाकी नहीं उठा रखतीं। जंगल के दरख्तों और झाड़ियों की जड़ें और डालियाँ नदी का जल सोख सोखकर, उसे अपने अङ्गों में लपेट लपेटकर चाहती हैं कि यह नदी यहाँ से आगे न जाने पाये, नाले और खंदक आदि भी नदी का कुल जल अपने ही अंदर भर लेना चाहते हैं, पर नदी को तो अपने प्रिय समुद्र से मिलने की बेचैनी रहती है, वह भला कब रुकने की इच्छा कर सकती है? वह सब विघ्नों को काट छाँटकर सीधे समुद्र में जा मिलती है और उसी का रूप प्राप्त कर लेती है। और यह तो कहना ही नहीं है कि नदी अपने प्रेरक का शिष्यत्व कब स्वीकार करती और कब कृतज्ञता प्रकट करती है, क्योंकि यह तो सभी लोग जानते हैं कि नदी के उद्गम स्थान पहाड़ होते हैं। सो वहाँ से नम्र होकर नीचे की ओर द्रवित होना ही उस का शिष्यत्व स्वीकार करना है और पहाड़ों के नीचे उतरकर उन से सटकर (जहाँ तक संभव हो) बहना ही चरणसेवारूप कृतज्ञता प्रकट करना है।

परन्तु मनुष्यों में ऐसे कितने हैं जो अपने जन्म और जीवन के प्रधान लक्ष्य परमेश्वर को पाने के लिए अन्त तक प्रयत्न में लगे रहते हों? भगवान् का 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' वाला वचन कुछ लोग उक्त प्रश्न के उत्तर में पेश कर सकते हैं, पर क्या आज भी संसार उसी तरह की प्रवृत्ति रखनेवाला रह गया है जैसा आज से पाँच छः हजार वर्ष पहले भगवान् कृष्ण के उपस्थितिकाल में—गीता का पुनीत उपदेश देने के समय धर्मपूर्ण प्रवृत्ति रखनेवाला रहा होगा? यह ठीक है कि उस समय भी समाज में उच्छृङ्खलता, अनाचारिता, धर्मघातकता आदि के रूप में भयंकर पापमयता आ गई थी, कंस, जरासंध, दुःशासन आदि अयतावादी धर्मद्रोही जोरों से अपना अपना मत प्रकट कर चुके थे और कर रहे थे, पर यह भी झूठ नहीं कि कृष्ण द्वैपायन व्यास, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, धर्मराज युधिष्ठिर आदि के समान

शान्तिवादी धर्मरक्षकों की संख्या भी पर्याप्त थी। आज के विनाशोन्मुख संसार में कौन ऐसा प्रसिद्ध माई का लाल है जो उन महात्माओं में से किसी का भी समकक्ष होने का सप्रमाण दावा कर सके? हाँ, कोई अकेला अपनी पुनीत गति की कामना से कहीं पर्वत की गुफा में छिपकर बैठा हुआ नारद, शुकदेव, सनक, सनन्दन आदि के समान ब्रह्मज्ञान में ही जीवन अर्पित कर चुका हो, तो मैं उस की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, न कर सकता हूँ। मेरा तो ऐसे महात्मा से अभिप्राय है जिस की महात्मत्ता, जिस के ज्ञान, जिस के तपोबल से समाज का कुछ उपकार संभव हो। और इस दृष्टिकोण से अन्वेषण करने पर उपर्युक्त प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि आज के जमाने में परमेश्वर को पाना ही जीवन का लक्ष्य माननेवाला मनुष्य मिलना असंभव नहीं, तो कम से कम अतिशय कठिन तो अवश्य है। यों दूसरों को ऊँची ऊँची सिद्धि की ओर प्रवृत्त करने की मौखिक कोशिश करनेवालों और—

'तन तें कर्म करौ बिधि नाना ॐ मन राखौ जहँ कृपानिधाना॥'

का महत्वपूर्ण उपदेश देनेवालों की आज भी हमारे यहाँ कमी नहीं है, काफी अधिकता है—सैकड़ों संस्थाएँ जिन में सदस्यों की संख्या हजारों तक पहुँची हो सकती है, भगवान्नामजप, कीर्तन, मनन का समाज में प्रचार करनामात्र ही अपना उद्देश्य बनाकर दिन रात काम कर रही हैं, पर, 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की कहावत से वे संस्थाएँ बरी नहीं की जा सकतीं। और बिना निजाचरण सुधारे दूसरों को उपदेश देकर सदाचारी बनाने की कल्पना भी कोरी मूढ़ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस लिए मैं तो अपने भाइयों (या भक्तों) से यही कहूँगा कि अधिक उपदेश सुनने अथवा शास्त्र पढ़कर ज्ञान प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं होनेवाला है। इन कामों के लिए उतना पर्याप्त समय भी आज की दुनिया के पास नहीं रह गया है। ऐसी हालत में यदि सब लोग ऊपर कहा गया नदी और समुद्र का दृष्टान्त ही अपने सामने रखकर अपनी अपनी कौटुम्बिक कठिनाइयों में भी यत्नपूर्वक भगवान् को अनवरत ध्यान में रखें, उन के नाम और गुण का कीर्तन करते हुए उन के प्रति नमस्कार मात्र निवेदित किया करें, तो सब की जीवनयात्रा (भोजन छाजन) सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी अनायास दूर हो जायँ, महात्मा कहलाने की सभी योग्यता प्राप्त होने में देर न लगे और अन्त में भगवान् का धाम तो उन के लिए रिजर्व रखा ही हुआ है। यह सोचना भ्रम है कि महात्मा बनने के लिए वन में या पर्वत की कन्दराओं में जाना आवश्यक है, क्योंकि अगर तुम उद्योग करके अपने को दैवी प्रकृति का बना लो, तो घर में रहते हुए भी वास्तविक महात्मा बन सकते हो और अगर तुम दैवी प्रकृति के न बनकर राक्षसी और आसुरी प्रकृति को ही धारण किये रहे तब तो तुम्हारे लिए भी किसी कवि की यही उक्ति अवश्य चरितार्थ होगी कि—

'जिन तें घर माँझ कछू न बनी तिन ते बन माँझ कहा बनिहै।'

यह ऐसी बात नहीं है जिस में बुराई या अतिशयोक्ति की गुंजाइश हो। सचमुच ही अगर कोई जी न चुराये, भगवान् के गुणों को, उन के नाम और यश को वस्तुतः स्वीकार करनेवाला हृदय रखता हो, तो कवि के कथनानुसार घर में ही वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है और नहीं, तो जंगल पहाड़ पर जाकर भी केवल शिकार खेलने और सैर सपाटे में अथवा (कायर होने पर) भय और जीवन की निराशा में ही सब समय बिता देगा, कोई ठोस काम जिस से इह लोक और पर लोक दोनों में सुख मिले, नहीं कर सकेगा। हमारे यहाँ (भारतवर्ष में) ऐसे अनेक महात्मा हो गये हैं जिन्होंने घर रहते हुए और अनेकानेक पारिवारिक झगड़ों को झेलते हुए भी भगवान् की कीर्तनभक्ति में पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली थी। ऐसे भजनानन्दी भक्तों ने अपने जन्म से भारत के अनेक प्रान्तों को पवित्र, यशस्वी, संमानीय और सुप्रसिद्ध कर दिया है। ज्ञानदेव, तुकाराम, एकनाथ स्वामी, विठ्ठलदास आदि महात्माओं को अपने यहाँ जन्म देकर दक्षिण भारत आज भी अपने को धन्य समझ रहा है। गौराङ्ग महाप्रभु (चैतन्य-देव—निमाई) निताई आदि के नाम पर पूर्वभारत का गौरव अभी तक अक्षुण्ण है और जब तक भारतीय संस्कृति का नाम है तब तक रहेगा। तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास आदि के नाम क्या उत्तर भारत के लोग गर्व सहित उच्चारण करना कभी छोड़ सकते हैं? प्रीतम, प्रेमानन्द, दयाराम, नरसिंह मेहता (या नरसी मेहता) आदि की लोकोत्तर कथाएँ पश्चिम भारत के आबाल वृद्ध नर नारि अभी तक ऐसे भाव से कहते सुनते हैं, मानों वे अभी कल की ताजी घटनाएँ हों। ये सभी महात्मा कीर्तनभक्त थे और इन में अधिकांश ने परिवार में रहकर ही साक्षात् प्रभुप्राप्ति का सौभाग्यलाभ कर लिया। यहाँ मैं उदाहरणस्वरूप नरसिंह मेहता के पारिवारिक जीवन की एक कहानी सुनाने की उत्सुकता नहीं छोड़ सकता। यह कहानी जितनी रोचक और मनोरञ्जक है उतनी ही शिक्षाप्रद और उपदेशपूर्ण भी है। गुजरात प्रान्त में तो यह कहानी कहावत का रूप धारण कर चुकी है। वहाँ प्रसंगवश अगर कभी ऐसी बात आ पड़ती है कि कोई व्यक्ति किसी की सरलता और भगवद्भक्ति आदि की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर जरूरत पड़ने पर कभी कुछ धरोहर वगैरह रखना चाहता है और उस विषय में किसी दूसरे व्यक्ति से सलाह माँगता है कि मैं अमुक महाजन के यहाँ अपनी रकम रख दूँ? तो राय देनेवाला व्यक्ति महाजन से पूर्ण परिचित न होने पर स्वभावतः यही उत्तर देता है कि भाईजी, मैं ऐसा कैसे कह दूँ कि आप बिना रसीद आदि लिखवाये, केवल भक्ति पर भरोसा करके उस के पास अपना धन रख दें? क्योंकि सभी भक्त नरसिंह मेहता तो हो नहीं सकते कि अगर किसी तरह उस से आप का धन खर्च हो जाय, तो भगवान् आप की धरोहर सवाया करके वापस कर देंगे? राय माँगनेवाला व्यक्ति अगर संयोग से नरसिंह मेहता की बाबत

विशेष जानकारी नहीं रखता और पूछ बैठता है कि नरसिंह मेहता कौन थे तथा उन के बदले में भगवान् ने किस प्रकार धरोहर लौटाई थी, तो परामर्शदाता इस प्रकार कहने लगता है—

नरसिंह मेहता गुजरातप्रान्त के जूनागढ़ नामक नगर में रहते थे। उन का जन्म वहीं के एक सुप्रतिष्ठित नागर ब्राह्मण के घर में हुआ था। ये बचपन से ही भगवान् के भजन पूजन में अधिक चित्त लगाया करते थे। इन के माता पिता को हमेशा इन के प्रति यह भय बना रहता था कि कहीं ये घर छोड़कर वैरागी न बन जाय। इस लिए वे लोग बराबर इस कोशिश में रहते कि इन को भजन पूजन के लिए कम से कम समय मिले, पर जब उन का कोई उपाय सफल नहीं हुआ, उलटे नरसिंह मेहता का पूजा पाठ और अधिक व्यापकता धारण करने लगा, तो उन लोगों ने गृहस्थी के बन्धन में जबरदस्ती जकड़ देनेवाली बेड़ी—शादी के बन्धन-में इन्हें फँसा देने में ही उस का कुशल समझा। जूनागढ़ से कुछ ही दूर पर इन के माता पिता को एक कुलीन घर में सुशीला कन्या का पता लग गया। बस, शीघ्र ही सब बात चीत पक्की करके उन लोगों ने उस के साथ इन का विवाह कर दिया। लेकिन उन लोगों का यह प्रयत्न भी कोई विशेष लाभदायक नहीं सिद्ध हुआ। विवाह हो जाने तथा घर में सर्वगुणसंपन्ना सुन्दरी पत्नी के आ जाने पर भी नरसिंह मेहता का भजनभाव पूर्ववत् चलता रहा। इस से इन के माता पिता का भय और अधिक बढ़ गया कि अब अगर इस ने गृहत्याग किया, तो मुफ्त ही एक सुकुमार बालिका की जीवनकली बिना खिले ही मुरझा जायगी। इसी चिन्ता में दिन रात उन के माता पिता चिन्तित रहने लगे। परंतु उन लोगों ने अब अपने पुत्र से इस सबन्ध में कुछ कहना सुनना बिलकुल छोड़ दिया था, क्योंकि वे सोचते थे कि अधिक दबाव डालने से कहीं भयङ्कर उलटा परिणाम न भोगना पड़ जाय। परन्तु मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने मानसिक दुःखों को दूसरों पर प्रकट कर कुछ शान्ति का अनुभव करता है, दूसरों से कह देने पर हृदय का बोझ कुछ हलका मालूम होने लगता है। इस लिए नरसिंह मेहता से कुछ न कहने पर भी उन लोगों ने अपने अड़ोस पड़ोस के हित मित्रों से अपने मन का दुःख कह डाला।

एक दिन नरसिंह मेहता के बाल्यकाल के किसी साथी ने उन से आकर कहा कि तुम अपने माता पिता को दुःखी क्यों कर रहे हो? उन्होंने तुम्हारा विवाह क्या इसी लिए किया है कि तुम पत्नी का त्याग करके वैराग्य धारण कर लो?

नरसिंह मेहता को अपने मित्र की बात से बड़ा विस्मय हुआ, क्योंकि वस्तुतः उन के मन में तो कोई ऐसी बात थी नहीं। इस लिए उन्होंने आशङ्का सहित अपने मित्र से पूछा—तुम कह क्या रहे हो? मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि ऐसी निराधार बात पूछने का तुम्हारा अभिप्राय क्या है? मेरे बारे में यहाँ के लोग कोई षड्यन्त्र तो नहीं रच रहे हैं?

साथी ने कहा—तुम ने क्या किसी की कोई बुराई की है कि कोई तुम्हारी झूठी शिकायत करेगा ? तुम्हारे पिताजी ने मेरे पिताजी से स्वयं ये सब बातें कहीं हैं। न जाने क्यों उन का यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि तुम घर छोड़ने की शीघ्र तैयारी में लगे हुए हो। इस चिन्ता से वे बड़े दुखी थे और अभी तक हैं। यद्यपि मेरे पिताजी ने उन्हें बहुत प्रबोधन दिया और समझाया, पर उन के मन से यह चिन्ता दूर नहीं हो रही है। इसी लिए मेरे पिताजी ने मुझे तुम्हारे पास भेजा भी है कि मैं तुम्हें समझा बुझाकर घर में रहने के लिए दबाव डालूँ। किंतु मैं पहले यही नहीं निश्चय कर पाता हूँ कि तुम्हारे जैसे बुद्धिमान् को क्या कहकर समझाऊँ बुझाऊँ। फिर भी इतना जानने के लिए बहुत बेचैन हो रहा हूँ कि क्या सचमुच ही तुम ने घर छोड़ देने का निश्चय कर लिया है ? अथवा तुम्हारे पिताजी केवल कल्पना के आधार पर इतने चिन्ताकुल हो रहे हैं ?

नरसिंह मेहता ने कहा—भाई, तुम्हारी बातें सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है, मेरे कारण पिता माता दुखी हैं, इस से बढ़कर मेरे लिए पातक की और कौन सी बात हो सकती है। परंतु मैं तुम से सच कह रहा हूँ मित्र, कि मैं ने इधर कभी स्वप्न में भी गृहत्यागी होने की बात नहीं सोची है। हाँ, बहुत दिन पहले एक आध मर्तबा ऐसा ख्याल मन में अवश्य उठा था, पर जब से प्रभास क्षेत्र गया (यह पवित्र स्थान जूनागढ़ से थोड़ी ही दूरी पर है) और वहाँ एक महात्मा से सुना कि "मनुष्य यदि दैवी प्रकृति से संपन्न है तब तो वह घर में रहे या घर छोड़कर जंगल पहाड़ पर चला जाय, दोनों ही जगहें उस के लिए समान हैं, क्योंकि दैवी संपद्युक्त मनुष्य स्वभावतः परमात्मा का अनन्य भक्त, अतएव सर्वत्र रहता हुआ और सब कुछ बर्तता हुआ भी महात्मा कहलाने की योग्यता रखता है, और यदि दैवि संपत्ति का नहीं है, आसुरी और राक्षसी स्वभाव ही रखकर पुरा रहता है, तब तो वह कहीं भी कोई लाभ नहीं उठा सकता" उसी समय से मेरे मन की वह बात विलीन हो गई। मैं ने वहीं निश्चय कर लिया कि घर छोड़ने की कोई जरूरत नहीं, बल्कि ऊँची प्रकृति का होने की जरूरत है, और मैं ने उन महात्मा से ही पूछा भी कि दैवी प्रकृति का होना किस उपाय से संभव हो सकता है ? इस पर महात्मा ने बतलाया कि वैष्णवजन बनने से दैवी प्रकृति प्राप्त होती है और उसी से मोक्ष जैसा देवदुर्लभ पदार्थ भी हस्तामलकवत् (हाथ में रखे आँवले के समान सर्वदा प्राप्त) हो जाता है। तब मैं ने वैष्णवजन बनने का उपाय पूछा जिस के उत्तर में उन्होंने कहा कि अनन्यभाव और दृढ़मत रखकर परमात्मा का कीर्तन करना और इस सिद्धान्त का पालन करना कि—

"वैष्णवजन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाने रे।
पर दुःखे उपकार करे, पर मन अभिमान न आने रे॥"

यही वैष्णव बनने का सर्वोत्तम उपाय है। बस, उसी समय से मैंने निश्चय कर लिया कि अब घर छोड़ने का विचार भी मन में नहीं आने दूँगा और समस्त जीवन परोपकार में, सारा धन वैभव दूसरों का दुःख कष्ट दूर करने में और सारी बुद्धि अज्ञानियों का मोह दूर करने में लगा दूँगा। इस लिए तुम जाकर अपने पिताजी से बतला दो कि वे मेरे पिता जी के मन का संदेह दूर कर दें।

मित्र ने कहा—यह तो होगा ही, पर साथ साथ तुम को खुद भी अपने हृदय की बातें अपने पिताजी से कहकर उन के कष्ट को दूर करना चाहिए। इस लिए तुम अभी जाकर ये सब बातें उन से सुना दो और अपना सिद्धान्त उन पर प्रकट कर दो।

नरसिंह मेहता ने मित्र की राय मान ली और पिता माता के निकट जाकर उन से क्षमा माँगते हुए सारी बातें खोलकर समझा दीं। उस दिन से उन के माता पिता का मानसिक क्लेश दूर हो गया और वे लोग प्रसन्न होकर रहने लगे। लेकिन नरसिंह मेहता के भाग्य में अधिक दिन माता पिता की सेवा नहीं बदी थी। कुछ ही दिन बाद उन के माता पिता का परलोक-वास हो गया। इस लिए घर में केवल नरसिंह मेहता और उन की पतिपरायण पत्नी मात्र रह गये। अब नरसिंह मेहता अपने घर के स्वतन्त्र अधिनायक हुए, उन का हाथ रोकनेवाला कोई नहीं रहा, वे खुले हाथों अपने घर की संपत्ति दीन दुखियों को लुटाने लगे। कभी कभी उन की स्त्री कहतीं कि अपने खाने पीने के लिए भी कुछ घर में रहने देंगे या सब लुटाकर ही दम लेंगे, तो उत्तर में नरसिंह मेहता कह देते कि अपने खाने पीने की चिन्ता मैं क्यों करूँ? मैं जब जानता हूँ कि मेरा कुछ नहीं है, सब भगवान् का है, मैं और तुम सभी भगवान् के हैं, तो अपनी फिक्र भी उन्हीं पर क्यों न छोड़ दूँ? वे भगवान् अपने जन की रक्षा की चिन्ता स्वयं रखते हैं, हमें इस फेर में नहीं पड़ना चाहिए।

पत्नी के पास कोई जवाब नहीं रह गया, वे चुप रह गईं और अपने अंदर पति की प्रकृति में प्रकृति मिलाकर रहने का स्वभाव डालने लगीं।

यद्यपि नरसिंह मेहता का स्वभाव लड़कपन से ही परोपकारी था और बिना भेद भाव के वे सब की सहायता किया करते थे, किंतु उन के पिताजी कट्टर सनातनी थे। उन के सामने नरसिंह मेहता हृदय से चाहते हुए भी अपने इच्छानुसार समाज के उस वर्ग की सेवा नहीं कर पाते थे जिसे संसार दलित वर्ग कहकर पुकारता है और जिसे वास्तव में सब तरह की सहायता की जरूरत है। इस लिए आज तक वे भगवान् का अहर्निश कीर्तन करना और साधु संन्यासियों की सेवा के साथ साथ कुलीन अतिथि अभ्यागतों को खिला पिलाकर संतुष्ट करना ही अपने लिए संभव समझकर उसी में संतुष्ट रहते चले आते थे। परंतु अब उन के ऊपर पिता माता की कट्टरता का प्रभाव नहीं रह गया था। इस लिए अब उन्होंने ऊँच नीच, दलित अदलित का भेद

भाव छोड़कर जीवमात्र की सेवा करना अपना धर्म बना लिया। अब उन के दर्वाजे पर जो कोई भी भूखा प्यासा, दीन दुखी पहुँच जाता उसी की वे तन, मन, धन से सेवा और सहायता करते। वे यह विचार नहीं रखते कि मैं जिसे संमान दे रहा हूँ और भोजनाच्छादन से संतुष्ट करने की चेष्टा में लगा हुआ हूँ वह ब्राह्मण क्षत्रिय है या शूद्र अन्त्यज। वे जीव को प्रसन्न करना चाहते थे, जाति को नहीं। वे जानते थे कि इस प्रकार के आचरण को हमारा नागरसमाज सहन नहीं करेगा, पर उन्हें यह भी मालूम था कि भगवान् को जो बात सह्य हो उस में मनुष्य की अपेक्षा करना मूर्खता है। भगवान् को हमारा जो कार्य असह्य हो वह अगर समाज को सह्य हो, तो भी समाज मेरी रक्षा नहीं कर सकता, किंतु समाज के कर्णधारों का कोपभाजन बनकर भी भगवान् द्वारा सुरक्षा पाना निश्चित है।

यह बतलाना कठिन है कि जातीय समाज की बागडोर अपने हाथ में रखनेवाले किसी के समाजविरुद्ध आचरण पर सचमुच ही समाज को रसातल पहुँचा हुआ देखने लगते हैं अथवा वैसे आचरणवाले की विश्वसमाज में बढ़ती हुई प्रतिष्ठा देखकर जलन और डाह के मारे अपने समाज का गुट बनाकर 'हरि को भजे सो हरि को होई' का सिद्धान्त रखनेवाले को नीचा दिखाने के फेर में पड़ जाते हैं। किंतु कुछ भी हो, महात्मा नरसिंह मेहता की भी प्रतिष्ठा जैसे जैसे सर्व साधारण के हृदय में व्यापक रूप में फैलती गई वैसे ही वैसे नागरसमाज की दृष्टि भी उन के प्रति तीक्ष्ण होती गई। पहले उन की जाति बिरादरीवालों ने उन्हें नाना उपायों से तंग करना, उन की मसखरी उड़ाना, उन्हें कुत्सित शब्दों से संबोधित कर तिरस्कृत करना आरम्भ किया। सामाजिकों का ख्याल था कि नरसिंह मेहता ऐसे व्यवहारों से आजिज आकर या तो बिना जाति पाँति के साधु वैरागियों और अन्त्यजों को खिलाना पिलाना, आदर सत्कार करना छोड़ देंगे और नहीं, तो नगर छोड़कर कहीं भाग जायेंगे, परंतु दृढव्रती और एकान्त निश्चयी मेहताजी के ऊपर जब इन दुर्व्यवहारों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, उलटे वे अपने लोकोपकार के क्षेत्र को और विस्तृत बनाते गये, तो एक दिन नागरों ने एक जातीय सभा बुलाई और उस में सर्वसंमति से यह प्रस्ताव पास कर डाला कि नरसिंह मेहता आज से नागरपरिवार से बाहर किये गये। उन के साथ नागरों में से कोई भी किसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार नहीं रख सकता। अगर पता लगेगा कि हमारी जाति के किसी कुटुम्ब का एक छोटा बच्चा भी नरसिंह मेहता का छुआ जल पी लिया या उन के साथ हिल मिलकर उठा बैठा, तो उस कुटुम्ब भर के लोग जातिच्युत कर दिये जायेंगे। उसी दिन इस की सूचना मेहताजी के पास भी भेज दी गई, किंतु उन के ऊपर अपनी बिरादरीवालों के इस संमिलित प्रस्ताव का भी कोई असर नहीं पड़ा। उन्होंने संदेश ले आनेवाले से साफ साफ कह दिया कि भाई, मैंने संसार भर को अपनी जाति मान ली है, मेरी दृष्टि में मनुष्यजाति के अतिरिक्त और किसी जाति की यदि

कुछ महिमा है, तो वह है जीवजाति। अर्थात् मैं प्राणीमात्र को—वह मनुष्य, पशु, पक्षी कोई भी हो—ईश्वरीयसत्ताक समझता हूँ, मेरा सिद्धान्त है सभी जीवों को अपने सामर्थ्य भर कष्ट से मुक्त करना। इस के लिए अगर हमारे भाई बन्धु मुझे हेय समझते हैं और मेरे साथ सम्पर्क रखने से उन्हें अपनी जातीयता नष्ट होने की आशङ्का है, तो मैं हर्ष से उन के इस प्रस्ताव का स्वागत करता हूँ।

सूचना लेकर आनेवाला (समाजदूत) अपना सा मुह लेकर लौट गया और अपनी ओर से घटा बढ़ाकर मुखियों के सामने कह सुनाया कि उन्होंने बहुत बढ़ बढ़कर बातें की हैं और सब को गालियाँ दी हैं, समाज में रहनेवालों को पतित तक कहने में उन्होंने सकोच नहीं किया है, इत्यादि। नागरों ने उसी समय फिर गोष्ठी की और तय किया कि अगर वह नीच हमें नीच कह रहा है, तो उस के साथ अब ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि उसे अपनी करनी का पूरा मज़ा मिल जाय। अन्त में उन लोगों ने समाजबहिष्कार का प्रधान चिह्न जिस का गुजरात में अभी तक रिवाज है, काली हंडी नरसिंह मेहता के दरवाजे पर टँगवा दी और साथ साथ एक कुत्ते के गले में हड्डी बाँधकर उसे उन के बैठके में बँधवा दिया। लेकिन मेहताजी इस से ज़रा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपना कीर्तन, भजन, लोकोपकार उसी प्रकार जारी रखा। उन के मुख से अपने भगवान् के सामने एक बार यह बात भी नहीं निकली कि हे प्रभो, तुम्हारी सृष्टि की सेवा और तुम्हारे गुणों का कीर्तन करने में जो लोग इस प्रकार विघ्न डालना चाहते हैं उन की तुम खबर लो या उन्हें दण्ड दो। हाँ, उन की पत्नी को अवश्य इन बातों से बड़ा दुःख हुआ। वे चिन्ता और शोक से एक साथ ही घबड़ा उठीं और भगवान् से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ करने लगीं कि हे भगवन्, जिस तरह हो सके उस तरह कोई ऐसा उपाय करो जिस से हमारा कल्याण हो। जातिवाले अगर ऐसा ही व्यवहार करते रहे, तो और कुछ हानि भले ही न हो, किंतु मेरी लड़की की शादी की समस्या तो अवश्य ही जटिल हो जायगी।

इस के अतिरिक्त उन्होंने अपने पति (नरसिंह मेहता) को भी बहुत तरह से समझाते हुए कहा कि हे स्वामी, मैं जानती हूँ कि भगवान् की पूजा भक्ति, उन के भक्त साधु सन्यासियों का आदर सत्कार तथा भक्तों के भक्त दरिद्रनारायण (शूद्र अन्त्यज आदि) का समान समादर बड़ी उत्तम बात है, जो मनुष्य यह सब करते हुए अपने स्त्री पुत्र का पालन पोषण करता रहता है वह अवश्य ही भगवान् और जनताजनार्दन दोनों का आशीर्वाद पाकर संसार में यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। किंतु संसार में एक वर्ग और है जिसे प्रसन्न रखे बिना स्त्री पुत्र का यथोचित लालन पालन कर सकना कठिन ही नहीं, बल्कि कभी कभी असम्भव भी हो जाता है। यह वर्ग अपनी जाति बिरादरी है। संसार में जब से वर्णव्यवस्था स्थापित हुई

सभी से जातीयता ने भी मानवमस्तिष्क में अपने लिए स्थान बनाया और मनुष्यों के विशेष विशेष समूह ने अपना अपना वर्गीकरण करके अपने अपने रहन सहन, रीति रस्म, आहार व्यवहार की अलग अलग व्यवस्था कर ली। इस व्यवस्था को चिरायु बनाने के लिए व्यवस्थापकों ने अनेक प्रकार के नियम उपनियम (कायदे कानून) भी उसी समय निर्मित कर दिये जिन के अनुसार यदि कोई अपनी जातीय व्यवस्था का उल्लङ्घन करे, तो दण्ड का भागी होता है। इसी लिए प्राचीन काल से लेकर आज तक सभी लोग वर्णव्यवस्था को आदर की दृष्टि से देखते हुए उसी के अनुसार आचरण और व्यवहार करते चले आ रहे हैं तथा जो लोग या जो व्यक्ति किसी कारण से या अकारण ही केवल स्वतन्त्रता का उपभोग करने के विचार से कभी उस नियम को भङ्ग करते रहे हैं वे दण्ड भी पाते आये हैं। इस लिए मैं आप से यही प्रार्थना करती हूँ कि जो काम करने से अपनी जाति के लोग प्रसन्न और संतुष्ट रहें वही आप को करना चाहिए। ऐसा कोई भी कर्म हमारे लिए अच्छा नहीं होगा जिस से जातिभाई रुष्ट होकर हमारा अपमान करें, हमें अपने से नीच समझें और तिरस्कार सहित जाति के बाहर कर दें। मैं ये सब बातें इस विचार से नहीं कह रही हूँ कि आप को इन का ज्ञान नहीं है, अतः उपदेश देकर ज्ञान करा दूँ। नहीं, यह भावना स्वप्न में भी मन में लाने से मैं किसी लायक नहीं रह जाऊँगी, मेरा धर्म कर्म सब नष्ट हो जायगा और नरक में वास मिलेगा। मेरे कहने का इतना ही अर्थ है कि भगवान् की दी हुई एक कन्या हमारे घर में धीरे धीरे विवाह करने के योग्य होती जा रही है। सो उस अवसर के आने के पहले ही अगर हम जाति से बाहर कर दिये गये, तो निरपराध कन्या जन्म भर कुँआरी ही रह जायगी। इन बातों का विचार करने पर मुझे तो इसी में भलाई दिखलाई पड़ रही है कि इस समय आप वही काम कीजिए जो अपनी जातिवालों के अनुकूल हो। बस, इतनी ही मेरी प्रार्थना है। विशेष कुछ कहने की न तो मुझ में योग्यता है, न आप से कुछ छिपा हुआ है।

नरसिंह मेहता चुपचाप अपनी स्त्री की बातें सुनते रहे। जब वह अपना अभिप्राय व्यक्त करके चुप हो गई, तो मेहताजी ने शान्ति के साथ इस प्रकार कहना शुरू किया—प्रिये, तुम ने जो कुछ भी कहा वह सब यथार्थ है। संसार में सचमुच ही मनुष्य से सब तरह के कष्ट सह्य हो जाते हैं, पर अपनी जाति जब कष्ट देने लगती है उस समय मनुष्य का धैर्य जाता रहता है। अपनी जाति के संमान देने से संसार में संमानित होना असंभव है, क्योंकि संसार अगर निरादर करे और अपने लोग संमान दें, तो उस का अर्थ जनसाधारण में वही लगाया जाता है जो 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनने का अर्थ है। अर्थात् अपनी जाति के लोग अपने हैं और संमान सार्वजनिक वस्तु है, सो दूसरों की अथवा सब की वस्तु को अपने आप ले लेने का अर्थ एक तरह से सर्वजन से चोरी या डकैती द्वारा उस का अपहरण कर लेने

के समान है। हाँ, यह अवश्य होते देखा जाता है कि जिस मनुष्य को संसार संमान दे रहा हो उसे यदि उस की जाति के लोग बराबर अपमान ही देते रहें, तो संसार भी अपने निश्चय से डिगने लगता है। इस का कारण यही है कि उस समय संसार की दृष्टि में संदेह घर कर लेता है जिस से संसार को विवश होकर यही सोचना पड़ता है कि अगर वह व्यक्ति वास्तव में संमानयोग्य होता, यदि उस व्यक्ति में सचमुच ही कोई रहस्यमय दुर्गुण न होता, तो सब में प्रतिष्ठा पाने की योग्यता रखते हुए भी उसे अपने ही लोगों से अपमान क्यों प्राप्त होता। इस लिए कोई न कोई छिपी हुई बुराई उस में अवश्य है जिस के बारे में संसार अनभिज्ञ है। कदाचित् इसी लिए तुलसीदासजी ने भी कह डाला है कि—

'जद्यपि जग दारुण दुख नाना ॐ सब ते कठिन जाति अपमाना ॥'

परंतु प्रिये, यह सब जानते हुए भी मुझे निवश होकर कहना पड़ रहा है कि इस समय मैं जातिवालों के द्वारा अपमानित होने के भय से भयभीत होकर प्रभुपरायणता और प्रभुरूप सर्वजीव जन की सेवा से कदापि विमुख नहीं हो सकता। मुझे अपनी लड़की के विवाह के विषय में भी कोई भय नहीं है और मैं चाहता हूँ कि तुम भी इस के लिए किसी तरह की चिन्ता न करो। कारण, वह लड़की मेरी, तुम्हारी या जाति बिरादरीवालों की नहीं, बल्कि परमात्मा की है—यह सारा संसार ही परमात्मा का है और परमात्मा के निर्वाह कराने से ही सब के सब कार्य निबह रहे हैं। इसी प्रकार उस लड़की के विवाह आदि का निर्वाह भी उसी परमात्मा की इच्छा के अनुसार समय आने पर अपने आप हो जायगा। हाँ, परमात्मा से निर्वाह पाने में इतनी कोशिश अवश्य रखनी पड़ती है कि परमात्मा के भरोसे को भूलकर अपने ऊपर चिन्ता का बोझ एक क्षण के लिए भी नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने का मतलब परमात्मा के प्रति अविश्वास करना हो जाता है। इस लिए तुम जातिवालों को और उन के द्वारा मान अपमान प्राप्त होने आदि की सब बातें भूलकर शुद्ध हृदय से भगवान् से प्रार्थना करो कि हे प्रभो, हे सर्वेश्वर, हम सब तुम्हारी शरण में हैं, तुम्हारा ही भरोसा रखते हैं, इस लिए तुम्हीं से प्रार्थना करते हैं कि तुम्हें जैसे उचित मालूम उस तरह तुम हमारा कल्याण करो। बस, जाओ प्रिये, इसी प्रकार प्रभु की प्रार्थना करती हुई दिन रात उन्हीं के रूप गुण, नाम धाम की चिन्तना किया करो। मन में यदि यह दृढ निश्चय रखोगी, तो इस से तुम्हें अवश्य मनचाहा लाभ होगा और जातिवालों ने जो हमें जातिच्युत करने का प्रस्ताव पास किया है तथा हमारे द्वार पर काली हंडी लटकाई है उस से उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं मिलेगा।

पत्नी ने कहा—नाथ, आज आप के वचनों ने मेरे हृदय में अपूर्व शान्ति पहुँचाई है। मैं आप के सहवास में रहकर भगवान् के संबन्ध में यद्यपि अनेक बार बहुत कुछ सुन चुकी थी और आप की देखादेखी भगवान् में श्रद्धा भी रखती थी, तथापि मुझे यह अनुभव तो आज

तक कभी नहीं हुआ था कि भगवान् को चाहने पर, भगवान् का भरोसा करके सब की पर्वाह छोड़ देने पर हृदय में ऐसी आनन्द की लहरें उठने लगती हैं। आह, मैं नहीं कह सकती हूँ कि जब से अपने द्वार पर काली हंडी टँगी देखी तब से मेरे मन में कितनी दुश्चिन्ताएँ भर गईं थीं। मुझे प्रत्यक्ष रूप से यही दिखलाई पड़ रहा था कि ये बिरादरीवाले और कुछ करें या न करें, पर मेरी प्यारी बच्ची के विवाह में अवश्य बाधा खड़ी कर देंगे और जन्म भर उसे कुँआरी रखने पर मुझे विवश करेंगे। परंतु आप के उपदेश से मैं देख रही हूँ कि अभी से मेरा मन पूरा पूरा भरोसा करने लगा है कि परमात्मा की बेटी का विवाह परमात्मा के अधीन है, बिरादरीवालों के नहीं। अच्छा प्रियतम, यह तो बतलाइए कि क्या विवाह में दहेज देने के लिए रुपये भी परमात्मा ही देंगे ? क्योंकि घर में तो अब बहुत ज्यादा पूँजी रह नहीं गई है, और जो कुछ है भी वह दो चार महीनों या साल भर में आप अतिथिसत्कार में ही खर्च डालेंगे। और आप जीवन भर यह कीर्तन भजन न छोड़ने का दृढ़ निश्चय अभी अभी मुझे सुना ही चुके हैं। इस से यह तो स्पष्ट ही है कि आप स्वयं कमा धमाकर कहीं से द्रव्य का उपार्जन नहीं करेंगे।

नरसिंह मेहता ने कहा—जब कि कन्या के लिए वर भगवान् भेज देंगे, यह विश्वास तुम्हें हो चुका है, तो इस में क्यों संदेह हो रहा है कि दहेज के लिए धन कहाँ से आयेगा ?

पत्नी ने कहा—मैं सोचती हूँ कि वर तो चेतन प्राणी है, अतः उस के मन में भगवान् प्रेरणा कर देंगे और वह अपने आप विवाह करने चला आयेगा, पर द्रव्य तो चेतन है नहीं कि वह भी प्रेरणा सुने समझे और अपने से दौड़ा हुआ चला आये।

नरसिंह मेहता ने हँसकर कहा—यह दलील तुम ने बड़ी अच्छी दी। अरे देवीजी, इसी तरह इतना और क्यों नहीं सोच डालतीं कि जिस के पास धन होगा उस धनिक मनुष्य को भगवान् से प्रेरणा मिलेगी और वह हमारे घर धन दे जायगा। आया समझ में ?

पत्नी ने कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए कहा—जी हाँ, समझ गई और सोच रही हूँ कि इतनी सहज बात खुद क्यों नहीं समझ ली। मालूम होता है, अभी जातिबाहर होने की बात से उत्पन्न घबड़ाहट की मात्रा कुछ मन में बची रह गई है। इस लिए अब मैं मन्दिर में जाने की आज्ञा चाहती हूँ। वहीं भगवान् की मूर्ति के सामने बैठकर मानसिक शान्ति और पारिवारिक कल्याणकामना के लिए भगवान् से प्रार्थना करूँगी।

नरसिंह मेहता ने कहा—अच्छी बात है, जाओ। लेकिन देखना, अगर कोई अड़ोसी पड़ोसी मिल जाय, तो उस से किसी तरह की शिकायत मत करना, वर्ना यह भी भगवद्विश्वास में कमी कहलायेगी।

पत्नी ने कहा—शायद स्त्रीस्वभाव के भय से आप मुझे ऐसी सीख दे रहे हैं, किंतु मैं ने तो कह न दिया कि अब मुझे किसी पर रोष द्वेष या मन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं

रह गई है; फिर मैं किसी से शिकायत क्यों करूँगी। लेकिन आप ने सावधान कर दिया, यह अच्छा ही हुआ। नहीं तो कौन जाने कब जोशभाव जोर कर जाता। इस के बाद वे वहाँ से चली गई और नरसिंह मेहता भी प्रसन्नचित्त होकर भगवान् की सेवा शुश्रूषा और कीर्तन भजन में तन मन से जुट गये।

दूसरे दिन सवेरे तड़के ही गाँव के पचासों स्त्री पुरुष नरसिंह मेहता के दरवाजे पर पहुँचकर गुहार करने लगे कि दोहाई है मेहताजी की ! हम लोगों का अपराध क्षमा कीजिए। अब हम लोग कभी आप के साथ बुरा बर्ताव नहीं करेंगे। आप अपने भगवान् से कहकर हम लोगों के लिए भी उन के दरबार में जगह दिलवाइए। हम आज तक भारी अज्ञान में थे। हमें यह नहीं मालूम था कि आप ने भगवान् को इस प्रकार अपने वश में कर रखा है।

दर्वाजे पर इस तरह हल्ला गुल्ला सुनकर मेहता दम्पती को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे दोनों प्राणी तुरंत बाहर निकल आये और सब लोगों को आदर सहित बैठने के लिए आसन देकर कहा—भाइयो, हम ने तो एक बार भी अपने मन में यह नहीं सोचा कि किसी ने हमारा कुछ अपराध किया है या कुछ बनाया बिगाड़ा है। हमें यह भी नहीं मालूम है कि भगवान् कब हमारे वश में हुए और न हम यही समझ रहे हैं कि हमारे कहने से वे अपने दर्बार में आप लोगों को जगह देंगे।

गाँववालों ने कहा—वाह, आप ने क्या अपने भगवान् से कहकर हमारे दर्वाजों पर यह लिखकर काली हंडियाँ नहीं टँगवा दी हैं कि 'नरसिंह मेहता को जो लोग जाति और समाज के बाहर कर रहे हैं, भगवान् उन लोगों को अपने दर्बार के बाहर कर रहे हैं ?' इस के अलावे क्या आप के कहे बिना ही भगवान् ने रात में हमें भयानक भयानक स्वप्न दिखलाकर यह चेतावनी दी है कि जो लोग नरसिंह मेहता को तंग करेंगे, उन्हें अपमानित या निन्दित करने की चेष्टा करेंगे उन का भला नहीं होगा ?

नरसिंह मेहता ने कहा—नहीं भाइयो, हम ने जब यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है कि—

'जाति पाँति पूछे नहिं कोई ॥ हरि को भजै सो हरि को होई ॥'

तो हम ऐसा क्यों करने जायेंगे ? हमें अब आप की जाति में रहने न रहने का कुछ हर्ष विषाद है ही नहीं, तो यदि आप ने उस जाति से मुझे बाहर कर दिया तो उस के लिए मैं भगवान् से किसी की किसी तरह की शिकायत क्यों करूँगा ? इस लिए आप लोग यह सत्य मानिए कि न तो हम ने भगवान् से कहकर आप के दर्वाजों पर हंडियाँ टँगवाई हैं, न आप लोगों के लिए उन के दर्बार का रास्ता ही बंद करवाया है। साथ ही आप लोगों को यह भी विश्वास रखना चाहिए कि भगवान् अन्यायी या अत्याचारी नहीं हैं। वे किसी व्यक्ति के कहने में

नहीं हैं। उन की इच्छा मनुष्य के कर्माधीन है। किसी की सिफारिश पर किसी को अपने दर्बार में आने देना और किसी की शिकायत पर किसी के लिए अपने दर्बार का रास्ता बंद करना भेदभरी दृष्टि रखनेवाले नरों और नरपतियों का काम है, भगवान् अगर ऐसा करने लगें, तो संसार से उन की निर्लिप्तता, निर्दोषिता और न्यायप्रियता का चण भर में दिवाला हो जाय। इस लिए आप लोग मुझ से चमा माँगना छोड़कर भगवान् को ही अपनी विनती सुनायें और हृदय में उन के प्रति पूर्ण भाव रखकर उन के दर्बार में जाने की योग्यता प्राप्त करें। हमें आप लोगों ने जातिच्युत किया है, इस का हमारे मन में लेशमात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि मैं स्वयं किसी की जाति में नहीं रहना चाहता, मुझे तो एकमात्र परम प्रभु की जाति में मिलने की आकाङ्क्षा है। अतएव अन्त में आप से मेरी यही प्रार्थना है कि अब कभी आप लोग मुझे जाति में मिलाने की व्यर्थ चेष्टा मत कीजिएगा। कृपा करके आप लोगों ने मुझे जिस बन्धन से एक बार मुक्त कर दिया है, पुनः उसी में जकड़बंद होने की मैं मूर्खता नहीं कर सकता। बड़ी मुश्किल से यह बन्धन छिन्न भिन्न हुआ है, फिर उस की ओर दृष्टि डालने और उसे जोड़ जाड़कर पुनः सुगठित करने की कल्पना भी अब मेरे लिए उपहासास्पद होगी।

नरसिंह मेहता की वक्तृता सुनकर उन लोगों की बुद्धि चक्कर में पड़ गई कि अब कभी हम लोग भगवान् को पाने की योग्यता नहीं प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि नरसिंह मेहता वस्तुतः महात्मा पुरुष मालूम हो रहे हैं, जब तक वे अपने मुँह से हमें चमा नहीं दे देंगे तब तक भगवान् हमारे अपराध भूलकर हमें अपने यहाँ शरण देंगे, ऐसी आशा नहीं की जा सकती और ये किसी तरह हमें अपराधी ही नहीं स्वीकार करते। क्या कहा जाय ? बड़ी कठिन समस्या खड़ी हो गई। धिक्कार है हम लोगों की उस दुर्बुद्धि और अविवेकिता को जिस ने हमें पहले सोचने विचारने का मौका नहीं दिया और इस प्रकार हमारी उन्नति का रास्ता बंद करवा दिया। लेकिन अब पछताने और शोक करने से भला क्या लाभ ? चलो, घर चलें और भगवान् से प्रार्थना करें कि वे सद्बुद्धि दें, ताकि फिर कभी ऐसा दुर्भाग्यजनक व्यवहार हम लोगों के मनसा, वाचा, कर्मणा न होने पायें।

वे चले गये, तो मेहताजी की पत्नी ने मेहताजी से कहा कि इस समय तो आप ने बड़ा कठोर हृदय बना लिया था। आखिर तो वे सब हैं अपने ही भाई बन्धु ? एक बार भूल सब से हो जाती है। उन्हें चमा करने में आप ने क्यों आपत्ति की ? बिचारे कितने उदास होकर यहाँ से गये हैं ?

मेहताजी ने कहा—प्रिये, तुम समझ नहीं रही हो। जब कि मैं ने या तुम ने भगवान् से केवल इतनी ही प्रार्थना की है कि प्रभो, हमारा कल्याण करो और उसी प्रार्थना को सुनकर भगवान् ने उन लोगों के साथ इस तरह का व्यवहार किया है, तो हम लोगों को क्या अधिकार

है कि भगवान् के काम में दखल दें ? जब अपने कल्याण का भार हम भगवान् पर रख चुके हैं, तो हमें अपने सब बाहरी भीतरी व्यवहार भी उन्हीं पर छोड़ देने चाहिएँ। यही सोचकर मैं ने उन लोगों को संतुष्ट करना अथवा पुनः जाति में मिलने की इच्छा उत्पन्न होने देना उचित नहीं समझा।

पत्नी ने कहा—आप जो कुछ सोचते और करते हैं, वह मेरी समालोचना के बाहर का विषय है। मुझे तो आप की आज्ञा और इच्छा का अनुसरण करनामात्र अपना धर्म मालूम है। यह तो मैं ने केवल इस लिए कह डाला है कि उन बिचारों का उदासीन मुख देखकर मुझे बड़ी दया आ रही थी।

मेहताजी ने कहा—दया मुझे भी आ रही थी, पर भगवान् की इच्छा के आगे हमारी दया का कुछ भी मूल्य नहीं है, यही सोचकर हमें संतोष धारण करना चाहिए। भगवान् सब के रक्षक हैं। वे किसी की हानि नहीं कर सकते। इस लिए निश्चय समझो कि उन लोगों के साथ भी भगवान् वही बर्ताव करते होंगे जिस से उन लोगों का कल्याण हो।

पत्नी ने कहा—ठीक है, अब मेरा संदेह दूर हो गया। दुष्कर्म और सुकर्म दोनों का फल देना भगवान् का ही कर्तव्य है। इस लिए गाँववालों ने जैसा किया है उस के अनुसार ही भगवान् उन्हें फल चखायेंगे और तभी उन लोगों की आँखें खुलेंगी जिस के द्वारा पीछे वे सुकर्म करके अपने लिए उत्तम मार्ग ग्रहण करेंगे, यही न आप के कहने का अभिप्राय है ?

नरसिंह मेहता ने कहा—भगवान् के कार्यकलाप में 'अस्ति, नास्ति' (हाँ नहीं) कहने का हमें कोई अधिकार नहीं, न उतनी बुद्धि ही है। हो सकता है कि तुम्हारा अनुमान ही सत्य हो और इसी उपाय से भगवान् उन के कल्याणसाधन की बात सोच रहे हों। परंतु हमें अपना काम करना चाहिए। इन बातों के फेर में पड़ने से हमारा कर्तव्यपालन पूरा नहीं हो सकेगा। इस लिए हमें अपना कर्ममात्र करने का अधिकार है।

पत्नी ने कहा—अच्छी बात है। जाने दीजिए इस चर्चा को। परंतु एक बात मैं बार बार कोशिश करके भी अपने मन से नहीं निकाल पाती हूँ। आप तो जानते ही हैं कि माता का हृदय अपनी संतान के लिए कितना चिन्तित रह सकता है। कितना भी चाहती हूँ कि कन्या के विवाह के संबन्ध में मैं बेफिक्र रहूँ, समय आने पर और भगवान् की इच्छा होने पर वह कार्य भी स्वयं हो जायगा ; परंतु जब तब यह चञ्चल मन बरबस उसी विषय की चिन्ता करने लगता है।

नरसिंह मेहता ने कहा—प्रिये, क्षमा करना। मैं ने रात में इस विषय का एक बड़ा विचित्र स्वप्न देखा है। उसे मैं उसी समय तुम से कहनेवाला था, पर सवेरे सवेरे ही गाँववालों के पहुँच आने और हल्ला मचाने से वह बात मुझे बिलकुल ही भूल गई थी। रात का स्वप्न

यह है कि भगवान् मेरे निकट आकर मुझे अनेक प्रकार से आश्वासन देकर कह रहे थे कि तुम्हारी कन्या साक्षात् लक्ष्मी के अंश से उत्पन्न हुई है। उस के विवाह के योग्य वर मैं ने ठीक कर दिया है। आज दोपहर को तुम उस के विवाहखर्च के लिए द्वारिका के सेठ साँवलदास के यहाँ से हुंडी लिखकर रुपये मँगवा लेना। तुम्हारे हस्ताक्षर की हुंडी लेकर जो कोई भी जायगा उसे वह सेठ रुपये दे देगा। अतः तुम अपना आदमी भेजकर आज ही रुपये मँगवा लो। रुपये आ जाने पर आज रात में फिर स्वप्न दूँगा और यह बतला दूँगा कि तुम्हारी लक्ष्मीस्वरूपिणी कन्या के योग्य वर किस गाँव में है तथा उस का नाम और परिचय आदि क्या है।

पत्नी ने खुश होकर कहा—वाह, वाह, तब तो बड़ी खुशी की बात है। भगवान् सचमुच बड़े दयालु हैं। उन की महिमा का पार पाना हम मूर्ख स्त्रियों के लिए महा कठिन है। अच्छा, अब आप शीघ्र हुंडी लिखिए। तब तक मैं आप के किसी भक्त को द्वारिका जाने के लिए बुला लाती हूँ।

नरसिंह मेहता ने कहा—अच्छा, यह तो कहती जाओ कि कितने रुपयों की हुंडी लिखूँ? देखो, खूब सोच समझकर बतलाना। ऐसा न हो कि समय पर खर्च घट जाय और न ऐसा ही होना चाहिए कि उस धन में से एक पाई भी अपने पास बच रहे; क्योंकि वहाँ से जो कुछ भी आयेगा वह एक ही बार और केवल कन्या के ही निमित्त आयेगा।

पत्नी ने कहा—इस संबन्ध में मैं भला क्या राय दे सकती हूँ। मुझे यह तो मालूम नहीं है कि लड़केवालों की हैसियत क्या है, कितने दहेज लेकर वे विवाह करेंगे, कितना बारात के आगत स्वागत में लगेगा? क्या भगवान् ने इस संबन्ध में कोई संकेत नहीं दिया है?

नरसिंह मेहता ने कहा—नहीं, भगवान् ने संख्या के संबन्ध में कुछ नहीं कहा। मैं समझता हूँ, इस का कारण यही होगा कि भगवान् ने यह सोचकर इस का भार हमीं लोगों पर छोड़ दिया होगा कि जिस प्रकार सारा संसार अपनी हैसियत के मुताबिक ही संबन्ध जोड़ता है और उस में खर्च वर्च करता है उसी प्रकार हम लोग भी करेंगे। और बात भी यही यथार्थ है। इस लिए मैं ने तो यही निश्चय किया है कि अधिक से अधिक एक हजार रुपये में हमारे सब काम हो जाने चाहिएँ—पाँच सौ दहेज और पाँच सौ स्वागतखर्च। कहो, तुम अपनी ओर से भी कुछ कहना चाहती हो?

पत्नी ने कहा—आप ने बिल्कुल उचित ही खर्च का अनुमान किया है, इस के अलावा भला मुझे क्या कहना है? पर आप बार बार कह रहे हैं कि कुछ तुम भी कहो, तो मुझे विवश होकर कहना पड़ रहा है कि पाँच सौ वरपक्ष के लिए और पाँच सौ बरातियों के लिए चाहिए, तो क्या पाँच सौ के गहने मेरी बच्ची के लिए नहीं चाहिएँ?

नरसिंह मेहता ने खुश होकर कहा—इसी लिए मैं बार बार तुम्हारी राय माँगता था। नीतिकारों ने अनुचित नहीं कहा है कि पुरुष अकेला अधूरा है, आधे की कमी उस की अर्धाङ्गिनी ही पूरी करती है। ठीक है, अब तुम शीघ्र किसी को द्वारिका जाने के लिए बुला लाओ। तब तक मैं पंद्रह सौ की हुंडी लिखे डालता हूँ।

नरसिंह मेहता की स्त्री ने एक विश्वासपात्र ग्वाले के घर जाकर सब हाल कह सुनाया और अन्त में कहा कि तुम अभी तैयार होकर मेरे साथ ही चले चलो। द्वारिका से तुम्हें आज ही लौटना भी है, और यहाँ से अस्सी मील के कुछ ऊपर ही द्वारिका की सीमा है। इस लिए अब अधिक तैयारी करने का भी समय नहीं है।

ग्वाले ने कहा—माताजी, आप के आशीर्वाद से जब तक इस देह में चलने फिरने की शक्ति है तब तक इतनी बड़ी बड़ी यात्राएँ मैं दम भर में पूरी कर सकता हूँ। आप को विशेष कहने की जरूरत नहीं है। भगवान् चाहेंगे, तो मैं आज रात रहते ही लौट भी आऊँगा। आप चलकर चिट्ठी पत्री तैयार कर रखिए। मैं जरा इन पाहुनों का प्रबन्ध करके अभी आ ही रहा हूँ।

मेहताजी की पत्नी ने कहा—चिट्ठी पत्री सब तैयार है। तुम तुरत चले ही चलो। और पाहुनों को न हो, तो एक दिन के लिए मेरे ही घर पर रख दो।

ग्वाले ने कहा—नहीं माताजी, ये पाहुने रहने नहीं आये हैं, इन्हें भी आज ही द्वारिका की यात्रा करनी है। अड़चन सिर्फ इतनी ही है कि इन के पास कुछ रुपये हैं और आजकल रास्ते में लुटेरों का बड़ा भय लगा रहता है। चारों ओर से प्रति दिन ऐसे समाचार मिलते रहते हैं कि दस आदमियों के गरोह ने फलानी जगह डाका डाला, बीस के गरोह ने फलानी जगह। इस लिए ये लोग चाहते हैं कि अपने पास के रुपये यहीं किसी सेठ के यहाँ रख दें और निर्भय होकर यात्रा करें। यात्रियों के मुखिया महाशय स्नान करने गये हैं, नहीं तो अभी मैं आप से भी उन का परिचय करा देता। बस, उन्हीं के आने की देर है। उन के आते ही सब ठीक ठाक करके तुरत मैं आप के यहाँ हाजिर होता हूँ।

ग्वाले के पाहुनों का मुखिया स्नान करके लौट चुका था और दर्वाजे के बाहर से ही अपने सबन्ध में होनेवाली बातें सुन रहा था। अपने साथ किसी का परिचय प्राप्त होने की बात आते ही वह समझ गया कि इन लोगों की बातों के बीच में मेरा उपस्थित होना मूर्खता नहीं कही जायगी, बल्कि ऐसा ही करने का मौका है। वह घर में चला गया और देखा कि एक सरल प्रकृति की सभ्य रमणी इसी तरफ से (जिस से वह भीतर गया था) बाहर जाने को तैयार है। वह समझ गया कि इसी के साथ मकानमालिक ग्वाला मेरे सबन्ध में बातें कर रहा था। इस लिए उस ने भीतर जाते ही उस स्त्री को प्रणाम किया, क्योंकि ग्वाले के

मुँह से 'माताजी' संबोधन सुनकर वह यह भी समझ गया था कि यह स्त्री मातृ्य है, और ग्वाले से पूछा—क्यों भाई, तुम अभी किस के साथ यात्रियों के मुखिया का परिचय कराने की बात कह रहे थे ?

ग्वाले ने पहले मेहताजी की पत्नी की तरफ मुखातिब होकर कहा—माताजी, यही मुखियाजी हैं। इन्हीं के रुपयों का इंतजाम करके मैं आप की हुंडी लाने द्वारिका जाने को कह रहा था। फिर मुखिया की ओर घूमकर कहा—आप प्रसिद्ध कीर्तनभक्त नरसिंह मेहता की पत्नी हैं। आप को अपनी कन्या का विवाह करने के लिए कुछ रुपयों की जरूरत है। परंतु आप की जाति बिरादरी के लोगों ने आप की भेदबुद्धिरहित जीवमात्र पर दया देखकर भजन के मारे आप को जातिबहिष्कृत कर दिया है। इस लिए यहाँ से किसी तरह की सहायता मिलने की आशा न देखकर आप ने हुंडी लिखकर द्वारिका के एक सेठ के यहाँ से रुपये मँगवाने का निश्चय किया है। मेहताजी की इस दास पर (अपनी ओर संकेत करके) बड़ी कृपा रहती है। इस लिए मुझे ही द्वारिका से रुपये लाने का भार सौंपने आप यहाँ आई हुई हैं। चलिए, आप का रुपया कहीं सुरक्षित करके शीघ्र द्वारिका की यात्रा की जाय।

मुखिया ने हँसकर कहा—आखिर तो ग्वाले ही ठहरे ! अच्छा, यह तो कहो कि मेहताजी कितने कि हुंडी वहाँ से मँगवायेंगे ?

ग्वाले ने कहा—बहुत रुपये हैं, पूरे पंद्रह सौ यानी डेढ़ हजार। क्या साधारण विश्वासी आदमी का काम है इतने रुपये का लाना ?

मुखिया ने कृत्रिम गम्भीरता से कहा—अरे वाह; यह भी कहना होगा ? इतनी सचाई तुम में अगर न होती, तो क्या मैं ही इतने रुपये लेकर तुम्हारे घर टिकता और तुम्हारी ही राय के मुताबिक उसे सुरक्षित रखने की कोशिश करता ? लेकिन एक बात मुझे फिर कहनी पड़ती है कि तुम सच्चे और विश्वासपात्र होते हुए भी हो अहीर ही।

ग्वाले ने कहा—इस का मतलब मैं नहीं समझ रहा हूँ कि आप बार बार यह बात क्यों कह रहे हैं ? पहली बार मैं ने विशेष ध्यान नहीं दिया, पर अब आप को बतलाना ही होगा कि ऐसा क्यों कह रहे हैं ? मैं ने कौन सी अहिरई (भोंदूपन की बात) की है जिस के लिए आप मुझे निरा मूर्ख कह रहे हैं ?

मुखिया ने कहा—मूर्ख ही नहीं, अगर तुम ज्यादा बुरा न मानो, तो मैं तो तुम्हें मूर्खराज कहे बिना न मानूँ। तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैं इतने ही रुपये रखने की फिक्र में पड़ा हूँ जितने की हुंडी लाने के लिए तुम द्वारिका जाने की तैयारी कर रहे हो। तुम यह भी अवश्य स्वीकार करोगे कि मेहताजी से बढ़कर विश्वास करने योग्य दूसरा व्यक्ति शायद ही इस गाँव में मिल सके। और सब से बड़ी बात तो यह है कि भगवान की कृपा से इस समय

ऐसा सुन्दर सुयोग उपस्थित हो गया है जिस के अनुसार कार्य करने से न तो मुझे किसी के ऊपर विश्वास करने या न करने की जरूरत रह जाती है, न मेहताजी को ऐसे खतरनाक जंगली रास्ते से केवल तुम्हारे ही भरोसे पर द्वारिका से रुपये मँगवाने की। इन सब बातों की पूरी जानकारी रखकर भी तुम मुझे दूसरे के यहाँ धरोहर रखवाने ले चलना चाहते हो और खुद द्वारिका तक की सफर करने की तैयारी कर रहे हो, इसी लिए मेरी इच्छा हो रही है कि तुम्हें मूर्खराज की उपाधि दे डालूँ।

ग्वाला विचारा वस्तुत बड़ा भोला आदमी था। उस में सचाई, धर्मभावना, बड़ों में श्रद्धाबुद्धि आदि सद्गुण जितनी अधिक मात्रा में मौजूद थे उतनी ही अधिक मात्रा में उस में व्यावहारिक ज्ञान का अभाव था। उसे सिर्फ इतना ही ज्ञान था कि बड़े लोग जो कुछ कहें उतना ही करना मेरा धर्म है। बड़ों की बातें सुनने के बाद उस में से अपनी ओर से तर्क वितर्क द्वारा नाना प्रकार के अर्थ निकालना उसे नहीं आता था। यही कारण है कि इतने बड़े सुभीते की, इतनी आसान—अनायास ही सब प्रपञ्चों से छुट्टी दिलानेवाली—बात वह स्वयं नहीं समझ सका था। मुखिया के मुँह से जब उस ने सुना कि घर बैठे ही तीनों काम—१ मुखिया के रुपयों की सुरक्षा, २ नरसिंह मेहता को रुपयों की प्राप्ति और ३ द्वारिका जाने आने की मेहनत से फुर्सत—एक साथ ही सिद्ध हुए जा रहे हैं, तो वह खुशी से बाग बाग हो गया और मुखिया से बोला—धन्य हैं आप। आप ने मुझे बड़ी भारी चिन्ता से मुक्त कर दिया। मैं सोच रहा था कि आप लोग चार पाँच साथी होते हुए भी साथ में रुपये लेकर यात्रा करने में भयभीत हो रहे हैं। और मुझे अकेले ही द्वारिका से रुपये लेकर लौटना पड़ेगा। ऐसी हालत में भगवान् ही कुशल से यात्रा पूरी करें, तो मुझे अपनी विश्वासपात्रता का सुयश मिल सकता है। सो भगवान् ने इतनी दया दिखला दी कि बिना हाथ पैर हिलाये ही मुझे चारों ओर से सफलता मिल गई। अच्छा, अब चलिए और रुपयों की थैली लेते चलिए। मेहताजी को रुपये देकर मैं अभी आप को द्वारिका के सेठ साँवलदास के नाम की हुंडी दिला दूँ और निर्भय होकर आप द्वारिकापुरी की यात्रा करें।

मुखिया रुपयों की थैली लेकर ग्वाला के साथ मेहताजी के घर पहुँचा और साष्टाङ्ग प्रणाम करके रुपयों की गठरी उन के चरणों के सामने उड़ेल दी। मेहताजी चकचकाकर ग्वाले का मुँह देखने लगे। उन्होंने समझा कि कदाचित् जादू या किसी दैवबल से ग्वाले ने द्वारिका से साँवल सेठ को बुला लिया है। उन्हें मुखिया के संबन्ध में कोई बात मालूम नहीं थी। उन की पत्नी ने लौटकर केवल इतना ही कहा था कि मैं अमुक ग्वाले को बुला आई हूँ, वह अभी आकर हुंडी का कागज ले जायगा, आप शीघ्र कागज लिख रखिए। इसी से उन्होंने मुखिया को साँवल सेठ समझा। परंतु उन्हें अधिक आश्चर्य में न डालकर मुखिया ने

ुरंत कहा—महाराज, मैं ने सरदार (ग्वाला) से आप के संबन्ध में सब कुछ मालूम कर लिया है। मुझे इन रुपयों को धरोहर रखकर द्वारिका जाना था और आप को संयोग से इतने ही रुपये द्वारिका से मँगवाने थे। भगवान् की इच्छा से हम दोनों के कार्य एक ही स्थान पर संपन्न हो गये। आप मुझे हुंडी लिखकर दे दीजिए। मैं वहाँ जाकर रुपये ले लूँगा और इन रुपयों से यहाँ आप अपनी पुत्री का विवाह आदि कीजिए।

मेहताजी ने कहा—वाह, वाह, प्रभु की महिमा सचमुच अपरंपार है। उन की लीला-गति की विचित्रता अनन्त है। क्या ही सुन्दर ढंग से एक साथ ही अनेक कार्य सरल हो गये कि कुछ कहा नहीं जा सकता। यह हुंडी लिखी रखी है। इसे आप ले जायँ और द्वारिका में जाकर भगवान् के चरणों में मेरा भी साष्टाङ्ग नमन कहिएगा।

मुखिया ने हुंडी ले ली और अनेक प्रकार से मेहताजी को धन्यवाद देकर वहाँ से प्रस्थान किया।

मेहताजी ने उन रुपयों में से पाँच सौ रुपये अपनी स्त्री को दे दिये कि जाकर पुत्री के लिए आभूषण तैयार कराओ, पाँच सौ रुपये उसी ग्वाले को सौंप दिये कि चावल, दाल, आटा, बेसन, घी, चीनी, दूध, दही, खोआ, तरकारी, पत्तल, पुरवा, इंधन, लकड़ी आदि बरात के लिए सब रसद इकट्ठा करो और पाँच सौ रुपये वरपक्ष को देने के लिए अपनी तिजोरी में सुरक्षित कर दिये। इस के बाद दिन भर नित्य नियमानुसार कीर्तन आदि में मेहताजी तल्लीन रहे। धीरे धीरे दिन बीत गया और रात्रि का आगमन हुआ। मेहताजी और उन की पत्नी यह जानकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे कि आज रात को स्वप्न में भगवान् पुनः दर्शन देंगे और अपनी कन्या के लिए वर का निर्देश करेंगे। यों प्रसन्न तो वे लोग सदा ही रहा करते थे, पर आज उस में कुछ विशेषता इस लिए आ गई थी कि आज स्वप्न में भगवान् के दर्शन मिलने की बात पहले से निश्चित हो चुकी थी। क्रमशः रात के गम्भीर होने पर, भोजन और अतिथिसत्कार आदि से निवृत्त होकर दोनों प्राणी भगवान् को बार बार स्मरण करते हुए निद्रा देवी का आवाहन करने लगे और भगवान् से प्रार्थना की कि हे प्रभो, कृपा करके आज हम दोनों प्राणियों को अपने दिव्य रूप का दर्शन देना। उन लोगों ने अपने मन में यह एक बार भी नहीं सोचा, न भगवान् से ही कहा कि कन्या के लिए सुन्दर, सुयोग्य, सुसंपन्न और सुसंस्कृत वर की नियुक्ति करना, क्योंकि एक तो मेहताजी स्वभावतः अपनी कन्या को अपनी नहीं, किंतु भगवान् की कन्या जानते थे, दूसरे कल रात के स्वप्न और तदनुसार मुखिया द्वारा बिना प्रयास के ही रुपये मिल जाने की बातों को देखते हुए तो दोनों प्राणियों को पूर्ण रूप से अटल विश्वास हो चुका था कि भगवान् ने जब कन्या को लक्ष्मीस्वरूपिणी घोषित किया है, तो वे अवश्य ही उस के लिए नारायण जैसा ही लोकोत्तर गुणों से युक्त वर नियुक्त करेंगे।

इस प्रकार भगवान् को अपने मन में धारण करके दोनों प्राणी सुख से नींद की गोद में आराम करने लगे। जब रात ढलने लगी, ब्राह्ममुहूर्त आने की वेला निकट आने लगी अर्थात् लगभग ढाई तीन बजे रात का समय उपस्थित हुआ, तो एक साथ ही दोनों व्यक्तियों (नरसिंह मेहता और उन की पत्नी) को एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ कि जिस कोठरीमें हम लोग सो रहे हैं वह अद्भुत प्रकार के तेजःपुञ्ज (प्रकाश की ढेरी) से भर गई है। फिर क्या मालूम हुआ कि यह चारों ओर फैला हुआ प्रकाश शनैः शनैः एकत्रित हो रहा है और उस के बीच में परमात्मा के, शास्त्रोक्त लक्षणों से युक्त, अङ्ग प्रत्यङ्ग स्पष्ट होते जा रहे हैं। यह सब होने में पल भर की देर नहीं लगी और दोनों प्राणियों के सामने चतुर्भुज भगवान् अपने बायें हाथ में एक किशोर बालक का हाथ पकड़े प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ने लगे। भगवान् को देखकर मेहताजी और उन की पत्नीजी ने स्वप्न में अनेकानेक स्तुतियों से भगवान् की प्रार्थना प्रारम्भ कर दी।

प्रार्थना समाप्त होने पर भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक कहना आरम्भ किया—भक्त मेहता दम्पति, तुम लोगों की परमात्मनिष्ठा अलौकिक और अनुपमेय है। मैं तुम्हारे ऊपर हृदय से प्रसन्न हूँ। मेरी कृपा से संसार में तुम लोगों को कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं प्राप्त होगा, तुम्हारी कीर्ति, तुम्हारा यश तुम्हारे जीवनकाल में ही चारों दिशाओं में फैल जायगी। यह बालक जो तुम मेरे साथ देख रहे हो, यही तुम्हारी कन्या का भावी वर है। इस के जैसा सर्वसुलक्षणसंपन्न बालक इस समय संसार में दूसरा कोई नहीं है। यह तुम्हारे गाँव से तीन कोस की दूरी पर उत्तर दिशा में अपने माता पिता के संरक्षण में रहता है। प्रातःकाल होने पर तुम स्वयं इस के घर जाकर इस के पिता से मिलना और अपनी कन्या के विवाह के लिए लोकाचार के अनुसार प्रार्थना करना। इस का पिता भी मेरा अनन्य भक्त है। मैं ने इसी प्रकार स्वप्न देकर उसे भी सब कुछ बतला दिया है। वह तुम्हारी प्रार्थना शीघ्र स्वीकार कर लेगा।

इस के बाद भगवान् और उन के साथ का बालक दोनों अदृश्य हो गये और मेहताजी तथा उन की पत्नी दोनों प्राणी एक साथ ही आँखें मलते हुए उठकर बैठ गये। मेहताजी ने अपनी पत्नी से पूछा कि कहो प्रिये, तुम्हें भगवान् के दर्शन प्राप्त हुए?

पत्नी ने कहा—नाथ, आप के चरणों के आशीर्वाद से आज मैं ने अद्भुत स्वप्न देखा है। मैं नहीं जानती थी कि स्वप्न में इतना बड़ा सुख भी किसी को प्राप्त होता होगा। आह, भगवान् के साथ का बालक तो मानों कोमलता और सुन्दरता की राशि (खजाना) ही था। क्या संसार में उतना सुन्दर बालक भी जन्म ले सकता है?

मेहताजी ने कहा—भगवान् की सृष्टि में किसी बात का होना असंभव नहीं है। मालूम होता है, तुम ने यथावत् वही स्वप्न देखा है जो मुझे दिखलाई पड़ा है। अस्तु, अब मैं उस बालक

के पिता को ढूँढकर उस से भेंट करने जा रहा हूँ। यद्यपि भगवान् ने बालक के पिता का नाम धाम आदि कुछ नहीं बतलाया, तथापि मुझे पूर्ण विश्वास है कि उस से भेंट होने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ेगी। यहाँ से तीन कोस उत्तर जाने पर जो गाँव मिलेगा उस में उस लड़के की हुलिया की चर्चा करते ही लोगों से उस के पिता के संबन्ध में सब कुछ ज्ञात हो जायगा। ऐसा तेजस्वी बालक यहाँ से तीन ही कोस पर रहता है और आज तक हम लोगों को उस के विषय में कुछ भी पता नहीं रहा, यही आश्चर्य है। पर इस में सन्देह नहीं कि उस बालक के आस पास के गाँववाले अवश्य ही उस के गुणों की प्रसिद्धि के साथ साथ उस का परिचय पा चुके होंगे।

पत्नी ने कहा—भगवान् करें आप का अनुमान सत्य सिद्ध हो और बिना कष्ट के आप सब काम ठीक करके लौटें।

मेहताजी ने कहा—ठीक कहती हो। भगवान् की इच्छा ही सर्वत्र प्रधान है। उन्हीं की इच्छा और आज्ञा का अवलम्ब लेकर मैं यात्रा कर रहा हूँ। इस लिए अवश्य ही वे सब तरह से निर्विघ्नता दिखलायेंगे। इतना कहकर मेहताजी गणेशरूपी भगवान् का स्मरण करके अपने निश्चित मार्ग पर चल खड़े हुए और जाते जाते अपनी पत्नी को समझाते गये कि जब तक मैं लौटकर आऊँ तब तक तुम तिलक संबन्धी सब सामान तैयार कर रखना, क्योंकि मैं जहाँ तक यही उद्योग करूँगा कि आज ही तिलक चढ़ जाय और कल ही विवाह हो जाय। नीतिकारों की आज्ञा है—'शुभस्य शीघ्रम्।' इस लिए ऐसे महान् शुभ कार्य में व्यर्थ विलम्ब करना अच्छा नहीं।

पत्नी ने भी उन की राय का समर्थन किया। मेहताजी अपने अनुमान के मुताबिक तीन कोस के बाद एक गावँ में जाकर एक किसान से मिले और स्वप्न में देखे हुए बालक की रूप रेखा आदि बताकर उस से पूछा कि ऐसा सुन्दर कुमार इस गाँव में किस के घर को सुशोभित कर रहा है?

किसान ने कहा—शायद आप इस गाँव के जमींदार महोदय के घर जाना चाहते हैं। उन का घर वह सफेद सफेद दिखलाई पड़ रहा है। उसी घर में वह अद्भुत बालक रहता है।

मेहताजी को यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि स्वप्न के आधार पर सोचकर स्थिर किया हुआ गाँव ही वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से भी मेरा अभीष्ट स्थान निकल आया। और मनुष्य होने के नाते पल भर के लिए इस प्रसन्नता का भी उन्होंने अवश्य ही अनुभव किया कि मेरी कन्या का संबन्ध गाँव के प्रधान पुरुष (जमींदार) के लड़के के साथ होनेवाला है। वे प्रसन्नता सहित लंबे लंबे डग डालते हुए शीघ्र ही जमींदार के घर पहुँच गये। द्वार पर

दरवान को बैठा देखकर उन्होंने जान लिया कि यहाँ सब काम राजसी ढंग से होते हैं। तदनुसार उन्होंने अपना परिचय देते हुए दरवान से जमींदार महोदय के पास अपने आने का संदेश भेजवाया।

दरवान ने मेहताजी का परिचय पाकर उन के चरणों का स्पर्श किया और अपने भाग्य को अनेक प्रकार से सराहता हुआ बोला—सरकार, आप के आने की तो हम लोग उसी समय से बाट जोह रहे थे जब कि हमारे मालिक ने सवेरे ही आकर हम लोगों से रात के स्वप्न की विचित्र कथा कही।

दरवान की बात से मेहताजी को बड़ा आनन्द मालूम हुआ। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक पूछा—क्यों भाई, मुझ से भी कह सकते हो कि तुम्हारे मालिक ने रात में कौन सा अद्भुत स्वप्न देखा है?

दरवान ने कहा—क्यों नहीं। आप की लक्ष्मीस्वरूपा पुत्री को भगवान् ने लाकर हमारे मालिक को दिखलाया और आज्ञा दी कि तुम अपने पुत्र का विवाह इसी लड़की के साथ करना। इस लड़की के पिता सवेरे ही तुम्हारे यहाँ आकर इस संबन्ध के लिए प्रार्थना करेंगे। सो तुम बिना किसी शर्त के उन की प्रार्थना स्वीकार कर लेना। यही तो रात का स्वप्न है, और इसी के अनुसार हम लोग आप के आने की राह देख रहे थे।

मेहताजी ने कहा—अच्छा, अब जाकर अपने प्रभु को मेरे आने की सूचना दो और इतनी बड़ी खुशखबरी सुनाने का यह पुरस्कार लो। उन्होंने टेंट में से निकालकर पाँच रुपये दरवान के हाथ पर रख दिये।

दरवान खुशी के मारे फूला नहीं समाया। उस ने मन में सोचा, आज अवश्य ही सवेरे सवेरे मैं ने किसी बड़े भाग्यवान् का मुहँ देखा है। उस ने मेहताजी को बैठने के लिए कुर्सी दी और प्रसन्नता में उछलता हुआ सा जमींदार को सूचना देने चला गया।

जमींदार ने जब मेहताजी के आने का समाचार सुना, तो तुरंत दरवान से कहा कि तूँ जाकर गाँव के मुख्य मुख्य लोगों को बुला ला और अपनी स्त्री से कहा कि तुम जरा ठीक ढंग से बच्चे को कपड़े वगैरह पहनाकर बाहर भेजो, तब तक मैं खुद चलकर उन का स्वागत करता हूँ।

जमींदार साहब को बाहर आते देखकर मेहताजी कुर्सी पर से उठ खड़े हुए। जमींदार साहब भी बड़े ही विनीत भाव से उन की ओर अग्रसर हुए और जब बिलकुल करीब आ गये, तो दौड़कर दोनों महाशय आपस में गले गले मिलने लगे। इतने में एक नौकर ने पूर्वोक्त किशोर (जमींदार के पुत्र और मेहताजी के भावी दामाद) को लाकर दोनों महाशयों के सामने खड़ा कर दिया। बालक ने पिता से संकेत पाकर मेहताजी के चरण छूकर प्रणाम किया।

बालक को देखते ही मेहताजी के मुँह से निकल गया—बस, बस, यही बालक रात में भगवान् के साथ साक्षात् भगवान् के ही रूप में मेरे स्वप्न में दिखलाई पड़ा था। फिर बालक को उठाकर उन्होंने अपने हृदय से लगा लिया।

कुछ देर में गाँव के सभी प्रधान व्यक्ति जमींदार के बैठके में आकर एकत्रित हो गये और सब के सामने मेहताजी ने अपना प्रस्ताव रखते हुए प्रार्थना की कि कृपा करके सब लोग मेरी प्रार्थना का समर्थन करें और एकमत होकर आज्ञा दें कि आज ही मैं तिलक भेज दूँ तथा कल ही आप लोग मेरे घर को सुशोभित कर मेरी कन्या का जन्म सुफल करते हुए मेरे परिवार का उद्धार करें।

सब लोग एक स्वर से 'अवश्य अवश्य' कह कर चुप हो गये, तो जमींदार ने कहना प्रारम्भ किया—मेहताजी, अपनी भक्ति के बल से आपने वह पद प्राप्त कर लिया है जो बड़े बड़े सिद्ध योगी मुनि के लिए भी संसार में दुर्लभ है। आप में भगवान् ने अपनी वह शक्ति केन्द्रित कर दी है कि आप की आज्ञा के सामने समस्त संसार को सिर झुकाना पड़े। परन्तु आप अपनी सरलता और नम्रता को भला किस तरह छोड़ सकते हैं? इसी लिए न आप इतनी विनती और प्रार्थना कर रहे हैं कि आप को पुत्री का विवाह करना है, और अपने यहाँ की सामाजिक प्रथा के अनुसार लड़कीवाले को लड़केवाले के सामने दबकर रहना चाहिए? पर मैं सच कह रहा हूँ कि यद्यपि घटनाचक्र से इस समय मैं पुत्रवाला हो रहा हूँ, तथापि मेरा हृदय निरन्तर आप के चरणों पर लोट पोट हो रहा है। अस्तु, अधिक कहने सुनने की जरूरत नहीं। आप विवाह संबन्धी सब कार्य उसी रीति से संपन्न करें जैसा कि पहले से अपने मन में निश्चित कर चुके हों। हम लोगों को केवल सूचना मिलती रहे कि अमुक कार्य अमुक समय पर होना चाहिए, अमुक कार्य अमुक समय पर, बस!

मेहताजी ने कहा—यदि आप में इतना सौजन्य न होता, तो साक्षात् भगवान् के सदृश सुन्दर कुमार आप के घर कैसे अवतरित होता। मेरा परम सौभाग्य है कि आप मेरी सुविधाओं का इतना ध्यान रखना चाहते हैं। अच्छा, अब आज्ञा दीजिए कि मैं जाकर शीघ्र सब व्यवस्था करूँ और सायंकाल पुष्प, अक्षत, चन्दन आदि लेकर तिलक देने आऊँ।

अस्तु; यथा समय मेहताजी ने घर आकर तिलक भेज दिया। दूसरे दिन बारात आई और पूर्ण उत्साह के साथ विवाहकार्य संपन्न हुआ। दो दिन बारात जनवासे में रही। मेहताजी ने सब बारातियों का अभूतपूर्व स्वागत सत्कार किया। यों तो उन के यहाँ की परंपरा ही हो गई थी कि निरन्तर अतिथि अभ्यागत पहुँचते रहें और उन की आवभगत होती रहे, पर यह तो खास उन की कन्या का विवाहोत्सव ही ठहरा। इस में तो उन्हें वह सेवा-भक्ति दिखलानी थी जो उन के जमींदार संबन्धी के उपयुक्त हो। सो भगवान् की कृपा से

सब कुछ वैसा ही हुआ जैसी मेहताजी की हार्दिक अभिलाषा थी। चौथे दिन बारात और साथ साथ मेहताजी की सुपुत्री भी बिदा हो गई। अनन्तर सब कार्य पूर्ववत् चलने लगा।

उधर वे यात्री लोग द्वारिका पहुँचे जिन के रुपयों से यहाँ विवाहखर्च का निर्वाह किया गया। वहाँ जाकर, भगवान् के दर्शन की बात को इन यात्रियों ने गौण बना दिया और मुखिया की राय से यही तय पाया कि पहले किसी अच्छे स्थान पर डेरा डंडा रखकर साँवल सेठ के यहाँ चला जाय वहाँ से रुपये लेकर यहाँ दस पाँच रोज रहने का सब इंतजाम ठीक कर लिया जाय बाद में निश्चिन्त होकर स्नान और भगवान् का दर्शन आदि किया जायगा। ऐसा स्थिर करके इन लोगों ने एक प्रतिष्ठित और सुसपन्न मुहल्ले में एक सुन्दर मकान भाड़े पर लिया। वहाँ सब सामान रखकर एक आदमी को रखवाली के लिए बैठा दिया और मुखिया सहित और सब लोग साँवल सेठ की दूकान की तलाश में निकल पड़े।

द्वारिकाधीश भगवान् कृष्ण इन लोगों की हर एक कारंवाई देख ही रहे थे। इन्हें यह जानकर बड़ा बुरा मालूम हुआ कि इन यात्रियों ने अपनी यात्रा के प्रधान उद्देश्य (द्वारिकेशदर्शन) को गौणरूप दे दिया और मेरे अनन्य भक्त नरसिंह मेहता की हुंडी पर अविश्वास का भाव लाकर पहले उस की परीक्षा के उद्देश्य से अपने रुपये उगाहने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस लिए इन्होंने ऐसी माया रच दी कि मुखिया महाशय अपने अन्य साथियों के साथ दिन भर नगर भर में घूम घूमकर साँवल सेठ का पता लगाते ही रह गये, पर किसी ने भी यह नहीं बताया कि उस सेठ की दुकान कहाँ है। अब तो इन लोगों को बड़ी घबड़ाहट मालूम होने लगी। वे सोचने लगे कि यह तो बड़ा धोखा होना चाहता है। वहाँ मेहताजी अपनी पुत्री के विवाह में सब रुपये उठा चुके होंगे और यहाँ नगर भर में कोई इन की हुंडी सकारनेवाला मिल ही नहीं रहा है। हे भगवान्, अब हम लोग क्या करें ?

इस प्रकार एक बार जो भगवान् शब्द मुँह से निकल गया, तो भगवान् ने सोचा कि इन सबों ने मेरा स्मरण तो किसी तरह किया; अत इन्हें साँवल सेठ की दूकान ढूँढ़ने की मेहनत से छुट्टी दे देनी चाहिए जिस में इन सबों को आगे का कर्तव्य स्थिर करने का कुछ मौका मिले और मुझे इन के मानसिक विचारों का तमाशा देखते बने। भगवान् की प्रेरणा से उसी समय एक लड़का खेलता कूदता वहाँ जा पहुँचा जहाँ यात्री लोग खड़े होकर चिन्तामार से दबे जा रहे थे। बालक को देखकर मुखिया ने सोचा कि इस लड़के से भी एक बार पूछ देखना चाहिए। कौन जाने, यह साँवल सेठ को जानता ही हो; क्योंकि बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि जो बात बड़े लोगों से नहीं मालूम हो पाती उसे बहुत से बच्चे अनायास ही बतला दिया करते हैं।

सज्जनो, इस तरह के विचार भी उस मुखिया के मन में भगवान् की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुए, यह कहने की आवश्यकता नहीं। मुखिया ने बालक को अपने समीप बुलाया

और अपनी झोली में से एक लड्डू निकालकर उस के हाथ पर रखते हुए कहा—प्यारे राजा भैया, तुम्हें अगर इस नगर में रहनेवाले साँवल सेठ नाम के महाजन की दूकान मालूम हो, तो हमें उस का पता बतलादो, हम तुम्हें और लड्डू खिलायेंगे।

बालक ने कहा—जी, यहाँ लड्डू तो यों ही मारे मारे फिरा करते हैं। आप अपना यह भी लड्डू लीजिए, अपने पास रखिए। और साँवल सेठ को भला इस नगर का कौन निवासी न जानता होगा? वे यहाँ के मुख्य सेठ—नगरसेठ हैं। आगेवाली चौमुहानी पर जाकर दाहिनी ओर आँख उठाते ही आप को जो सब से ऊँची कोठी दिखाई देगी वही साँवल सेठ की दूकान है। समझ गये कि वहाँ तक चलकर दिखलाना पड़ेगा?

मुखिया के मन में तो आया कि कह दूँ—चलकर दिखला दो, पर यह सोचकर उसे ऐसा कहने में लज्जा मालूम हुई कि एक बालक के सामने मेरी नासमझी जाहिर होगी; क्योंकि वह स्पष्ट यही प्रश्न कर रहा है कि 'समझ गये?' ऐसा विचारकर इन्होंने कह दिया—हाँ, समझ गया। तुम बड़े अच्छे लड़के हो; पर यही अच्छा नहीं कर रहे हो कि मेरे लड्डू का अपमान कर रहे हो।

बालक ने कहा—अगर ऐसी बात है, तो लाइए एक लड्डू मुझे दे दीजिए, क्योंकि किसी द्वारिकावासी के लिए यह कदापि सह्य नहीं हो सकता कि उस के द्वारा भगवान् की सृष्टि में किसी भी वस्तु का अपमान हो।

लड़के की चातुरी देखकर यात्री दंग रह गये। मुखिया ने उस के हाथ पर कई लड्डू अपनी झोली से निकालकर रख दिये और कहा—प्यारे बच्चे, अवस्था में यद्यपि तुम अभी बहुत छोटे हो पर भगवान् की कृपा से बुद्धि तुम्हें ऐसी तीक्ष्ण मिली हुई है कि हमारे जैसे बड़ी अवस्था के लोग भी तुम्हारे पैर चूमें। भगवान् तुम्हें दीर्घायु करें। अब तुम जाओ, मौज के साथ अपने खेल कूद में शामिल हो। हम लोग साँवल सेठ से मिलने जा रहे हैं।

लड़का अपनी प्रशंसा सुनकर खुशी से उछलता कूदता एक तरफ चला गया, तो मुखिया ने अपने साथियों से कहा—चलो भाइयो, अब उस शैतान के बच्चे साँवल सेठ के यहाँ चलें। उस मूर्त को ढूँढने में बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। आश्चर्य तो यह है कि उस गधे को शहर भर में खोजते खोजते थक गये और सैकड़ों सयानों से उस का पता पूछते पूछते हैरान हो गये, पर उस का पता बतलाना तो अलग रहा, किसी ने उस का नाम तक जानना स्वीकार नहीं किया, सब यही उत्तर देते थे कि इस नाम का कोई भी सेठ या महाजन इस नगर भर में नहीं रहता है। इस लिए मुझे तो इस लड़के के ऊपर भी पूरा संदेह हो रहा है कि कदाचित् हम लोगों से लड्डू ठगने के लिए ही तो इस ने उस का जानना नहीं स्वीकार कर लिया? किंतु कुछ हो, उस के बताये पते पर तो चलना ही होगा।

एक यात्री ने कहा—आप को ऐसा सन्देह था, तो जान बूझकर आप ने लड्डू क्यों बरबाद किये?

मुखिया ने कहा—केवल इस लिए कि ऐसा चालाक और बात चीत करने में चुस्त लड़का मैं ने आज तक नहीं देखा था। दूसरी बात यह भी है कि उस लड़के को देखकर हृदय में अपने आप एक विचित्र प्रकार का प्रेम या दुलार का भाव उमड़ा पड़ता था। इसी से मैं ने उसे लड्डू देकर अपना प्रेम जताया। अच्छा, अब उठो, देर करना अच्छा नहीं है; क्योंकि अभी तक हम लोगों ने स्नान भोजन कुछ नहीं किया है। वहाँ से जल्द लौटकर पेटपूजा (भोजन) करनी चाहिए। अगर लड़के का कहना झूठ भी निकला, जैसा कि मुझे रुपये में पन्द्रह आना निश्चय भी है, तो भी अब दूसरे से उस दुष्ट सेठ का पता नहीं पूछा जायगा। यही आखिरी खोज करने चल रहा हूँ। पता लग गया तो ठीक ही है, नहीं तो कल वापस चलकर नरसिंह मेहता को ही गिरफ्तार करना होगा। भले ही उन्होंने रुपये खर्च कर दिये हों और उस के लिए उन्हें तंग होना पड़े, लेकिन हम अपने रुपये किसी तरह नहीं छोड़ सकते।

सब लोग उस लड़के के कथनानुसार जब चौरस्ते पर पहुँचे, तो दूर से ही वह ऊँची हवेली दिखलाई पड़ी जिस को लड़के ने साँवल सेठ की कोठी बतलाई थी। यात्री लोगों को लड़के की बात पर कुछ कुछ विश्वास होने लगा, पर पूरा विश्वास अब भी नहीं हो रहा था। फिर भी ये लोग लपकती चाल से चलने लगे कि शीघ्र से शीघ्र वहाँ पहुँचकर लड़के की सचाई झुठाई का पता लगा लें।

भगवान् तो तमाशा देखने की तैयारी कर ही चुके थे। उन्होंने जब देखा कि ये सब बड़ी संशयात्म प्रकृति के हैं और केवल थोड़ी सी परेशानी उठाने के कारण, जो स्वयं इन के ही कर्मों के दण्डरूप में प्राप्त हुई है, मुझे मूर्ख, गधा और दुष्ट आदि जाने क्या क्या कुवाच्य कह डाला, साथ ही मेरे निर्दोष भक्त नरसिंह मेहता को भी तंग करने की प्रतिज्ञा तक कर ली, तो उन के मन में पुनः यात्रियों के विरुद्ध चाल चलने की इच्छा हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि अब तो इन्हें तभी रुपये दिये जाने चाहिएँ जब ये सब तरह से इस परदेश में रुपये बिना कष्ट भोग लें और उतने के बाद भी सदिच्छा और श्रद्धा से प्रेरित होकर अपने मुख्य उद्देश्य (द्वारिकेशदर्शन) में कुछ तत्परता दिखलायें।

यात्रियों ने चौराहे पर से देखा था कि सेठ साँवलदास की कोठी खुली हुई है और ग्राहकों के आने जाने का ताँता लगा हुआ है, साथ ही सैकड़ों ग्राहकों की भीड़ भी उन की दूकान के चौतरे के नीचे खड़ी है। इतना देखने के बाद जल्दीबाजी के मारे उन लोगों ने लपककर चलना शुरू किया था। सौ दो सौ कदम चलने के बाद रास्ते के घुमाव के कारण

उस कोठी की केवल ऊँची अटारी दिखाई पड़ती थी, दूकान के सामने की भीड़ और कोठी का शेष भाग आँखों से ओझल हो गया था। दस पंद्रह मिनट में यात्री लोग उस कोठी के ठीक सामने दर्वाजे पर जा पहुँचे। परंतु वहाँ जाकर जो कुछ उन्हें दिखलाई पड़ा उस से उन के आश्चर्य की सीमा नहीं रह गई। इन लोगों ने देखा कि कुछ दूर से हम लोगों को जो ग्राहकों की भीड़ और आवाजाही दिखलाई दी थी उस का अब नामोनिशान भी यहाँ नहीं रह गया है, दूकान के सब दर्वाजे बंद हो गये हैं और सब में बाहर से जबरदस्त ताला जड़ा हुआ है जिस से मालूम हो रहा है कि कोठी के भीतर भी कोई आदमी नहीं है। यह हालत देखकर यात्रियों को चक्कर सा आ गया। उन की समझ में नहीं आया कि यह कैसी लीला है। अभी दस मिनट पहले जरा दूर से जिस दूकान पर इतनी चहल पहल देखी गई जिस की शतांश भी आसपास की दूकानों पर नहीं थी उसी स्थान पर अब एक मनुष्य तो क्या कुत्ता भी नहीं है, यह कैसा जादू है ? यात्री सब अपने मुखिया का मुँह देखने लगे कि देखें इन की समझ में कुछ आ रहा है या नहीं, पर मुखिया महाशय की दशा तो और अधिक खराब हो रही थी। बात यह थी कि जो रुपये मेहता भगत के यहाँ रखकर हुंडी लिखाई गई थी उन में तीन तिहाई रुपये अकेले मुखिया के थे। इस लिए स्वभावतः उस का अधिक चिन्तित होना अनिवार्य था। वह साँवलदास की दूकान बंद देखते ही इतना घबड़ा गया कि सोच के मारे उस के अङ्ग प्रत्यङ्ग ढीले पड़ गये, आँखें पथरा सी गईं और साँस की गति बंद सी होने लगी। उस की यह दशा देखकर उस के साथियों को यह संदेह होने लगा कि यह रुपयों के दुःख से पागल न हो जाय। इस लिए उन सबों ने चालाकी से काम लिया और मुखिया से कहा—आप हम लोगों में प्रधान हैं, आप को हमें समझाना बुझाना चाहिए। ऐसी हालत में आप ही जब घबड़ा जायेंगे, तो हमारा कहाँ ठिकाना लगेगा। इस लिए चित्त को स्थिर कीजिए और किसी से पूछकर पहले यह निश्चय कीजिए कि साँवल सेठ की ही यह दूकान है या सचमुच ही उस लड़के ने हम लोगों से मसखरी की है।

अपने साथियों की बातों से वस्तुतः मुखिया को कुछ ढाढ़स मिला। उस ने कोशिश करके अपने को सँभाला और दुःखपूर्ण, किंतु स्थिर शब्दों में कहा—भाई, पहले मुझे अवश्य संदेह था कि क्या जाने वह लड़का हम लोगों को यों ही बहकाकर चलता बना हो, पर अब मुझे मालूम हो गया कि उस ने हमें बहकाया नहीं, बल्कि हमारे साथ पूरी उस्तादी कर गया।

साथियों ने पूछा—उस्तादी कैसी ? उस ने कुछ हाथ भी लगा लिया क्या ?

मुखिया ने कहा—कुछ हाथ लगा लेता, तो उतनी हानि नहीं होती जितनी उस ने हम लोगों के आने का हाल बताकर की है।

साथियों ने कहा—क्यों, हाल बताने का क्या अर्थ है? जरा समझाकर कहिए, हम लोग एक तो घबड़ाये हुए भी हैं, दूसरे आप की रहस्यमयी बातें सुनकर और भी दिमाग चढ़ा जा रहा है।

मुखिया ने कहा—मेरा ख्याल है कि वह शैतान लड़का यहाँ हम लोगों से पहले ही आकर कह गया है कि कुछ यात्री आप (साँवलदास) को ढूँढते हुए आ रहे हैं। और शायद सेठ को भी पहले से यह मालूम था कि कोई हुंडी का रुक्का लेकर आनेवाला है। बस, खबर पाते ही उस ने दूकान बंद करके कहीं का रास्ता पकड लिया।

साथियों ने कहा—लेकिन यह कैसे समझा जाय कि वह लड़का हम लोगों का भीतरी अभिप्राय (सेठ से रुपया लेना) जानता था जिस से सेठ को सतर्क कर गया?

मुखिया ने कहा—मैं यह थोड़े ही कह रहा हूँ। मेरा अनुमान तो यह है कि उस ने यों ही लड़कपनवश वाहवाही लूटने के विचार से आकर सेठ को उस के यहाँ पाहुनों के आने की सूचना दे दी है और हुंडी संबन्धी बात जानते रहने के कारण सेठ ने उस से दूसरा ही फायदा उठा लिया। अस्तु, जो कुछ हो। अब तो तुम्हीं लोगों की राय ठीक मालूम होती है कि किसी से पूछकर यह पक्का कर लिया जाय कि यह कोठी है तो साँवलदास की ही? बाद में जैसा उचित मालूम होगा, आगे की बातें सोची जायँगी।

निदान, मुखिया सहित सब यात्रियों ने जाकर बगल के एक दूकानदार से पूछा, तो मालूम हुआ कि सेठ साँवलदास की वही कोठी है। किसी विशेष कारण से अभी कुछ देर पहले कोठी बंद करके सब कर्मचारी चले गये हैं। सेठजी व्यापार संबन्धी किसी काम से विदेश गये हुए हैं, कदाचित् उन्हीं ने पत्र लिखकर कोठी के कर्मचारियों को अपने पास बुला लिया है। कहा नहीं जा सकता कि वे लोग कब लौटेंगे। यह सब हाल सुनकर यात्री लोग उदासी के साथ डेरे पर लौट आये। हाथ, पैर, मुँह आदि धोने के बाद जब कुछ शान्ति प्राप्त हुई, तो फिर विचार होने लगा कि अब क्या करना चाहिए। मुखिया को छोड़कर अन्य यात्रियों की राय थी कि सब से पहले स्नान करके भगवान् के दर्शन कर लिये जायँ, बाद में भोजन और आराम किया जायगा। लेकिन मुखिया को यह बात नहीं जँची। उस ने कहा—पहले कुछ जलपान करके थोड़ी देर सो लिया जाय। इस से दिन भर की थकावट कुछ कम हो जाय, तो स्नान और भोजन के व्यापार में लगा जायगा। भगवान् का दर्शन अब कल ही किया जायगा। इस पर कुछ देर आपस में कड़ी बहस हुई, पर अन्त में मुखिया की राय ही सब को स्वीकार करनी पड़ी। जलपान के लिए बाजार से मिठाई नमकीन आदि लाई गई और एक तरह से भर भर पेट भोजन के बराबर ही जलपानक्रिया संपन्न की गई। इन कामों में पूरी साँझ हो गई तब वे लोग थकावट दूर करने के लिए बिस्तर लगाकर सो

गये। नींद टूटने पर रात के नौ बज चुके थे। इस लिए पूर्वनिश्चयानुसार स्नान करने का पुनः प्रस्ताव करते हुए सभी हिचक रहे थे। मुखिया ने यह बात ताड़ ली जो उस के मन के मुताबिक थी। उस ने जोर देकर कहा कि अब यदि स्नान किया जायगा, तो उस का सीधा अर्थ ज्वर को निमन्त्रण देकर बुलाना ही होगा। और बिना स्नान किये भोजन पकाना भी असंभव है, क्योंकि लंबी सफर तय करके आने और बाद में दिन भर शहर का चक्कर लगाने से शरीर पसीने से बिल्कुल लथपथ हो गया है। भोजन पकाया जायगा, तो फिर पसीना हो आयेगा और भोजन में रुचि नहीं रह जायगी। इस लिए फिर से थोडा जलपान हो कर लिया जाय और खूब सोया जाय। कल सुबह होते ही फिर सेठ की तलाश में चला जायगा। यदि उस से मुलाकात हो गई और रुपये वसूल हो गये, तो स्नान ध्यान और दर्शन आदि की फिक्र की जायगी। मुखिया की इस राय से शेष यात्री मन ही मन जल भुनकर रह गये। उन सबों को मुखिया की भगवद्दर्शन के प्रति बार बार उदासीनता बडी बुरी लग रही थी, पर करें, तो क्या करें? मुखिया यात्रीदल का मुखिया होने के साथ साथ गाँव का भी मुखिया था। लाचार होकर सब को उसी की बात माननी पड़ी।

दूसरे दिन तड़के ही सब यात्री सेठ की कोठी पर जा धमके। दूकान खोलने की तैयारी होती देख सबों को कुछ संतोष हुआ, पर सवेरे सवेरे, बिना 'बोहनी बट्टा' हुए ही दूकानदार से रुपयों का तगादा करने का मौका न देखकर मन ही मन बुरा भी बहुत लगा। किंतु कोई वश तो था नहीं? लाचार होकर वे लोग कोठी के सामने दूसरी पटरी पर जाकर बैठ गये और किसी ग्राहक के आने तथा बोहनी कराने की प्रतीक्षा करने लगे। बहुत देर के बाद एक ग्राहक आया और साँवल सेठ की दूकान से कोई सौदा लेकर ज्यों ही आगे बढ़ा त्यों ही यात्रीदल सेठजी की दूकान पर आ पहुँचा। दूकानदार ने समझा कि कोई परदेशी ग्राहक है, इस लिए मनमाना मुनाफा करके अधिक पैसे अपने पाकेट के हवाले करूँगा। खुश होकर बोला—कहिए भैयाजी, क्या हुकुम है, कौन सौदा चाहिए?

मुखिया ने आगे बढ़कर नरसिंह मेहता की लिखी हुंडी दूकानदार के सामने करते हुए कहा—सौदा नहीं, रुपये लेने हम लोग आये हैं। कल से इस दूकान के पीछे हम लोगों को जैसी परेशानी उठानी पड़ी उसे भगवान् ही जानते हैं। लीजिए यह कागज अपने मालिक को दिखलाए और जहाँ तक हो सके फौरन इस का रुपया अदा कीजिए। हम लोग अधिक देर ठहरने में असमर्थ हैं, क्योंकि दो दिनों से एक प्रकार से फाका ही बीत रहा है।

दूकानदार ने अपनी कल्पना असफल होते देखी, तो मन ही मन खीज उठा कि कहाँ से ये मनहूस सुबह के वक्त खोपड़ी पर आ टूटे। बिगड़कर बोला—देखते नहीं हो तुम लोग कि अभी दूकान खोली जा रही है? 'न बोहनी, न बट्टा, गल्ले में हाथ!' ले आओ पुर्जा फुर्जा

यहाँ से। मैं नहीं जानता, नरसिंह मेहता कौन है? मालिक बाहर गये हुए हैं। एक महीने बाद लौटेंगे तब उन्हीं को यह दिखलाना। उन को इच्छा होगी, रुपये देंगे या इसे भाड़ में झोकेंगे।

दुकानदार की फटकार सुनकर यात्रियों के मन की जो दशा हुई उसे कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है। बिचारों की आँख से आँसू टपक पड़े। पर कोई उपाय न देखकर, परदेश में अपने को असहाय जानकर चुपचाप पुर्जा ले लिया और डेरे पर लौट गये। वहाँ जाकर सब के सब घटो उदास होकर बैठे रहे। उस समय उन के मन की ऐसी दशा हो गई थी कि वे यह भी नहीं सोच पाते थे कि अब क्या किया जाय। वे जब कुछ सोचना चाहते तब यही प्रश्न नग्नरूप में सामने आ खड़ा होता कि हाय, हमारे रुपये क्या अब नहीं ही मिल सकेंगे? बस, बार बार प्रश्न ही उन के मन को उथल पुथल कर रहा था, प्रश्न का उत्तर देने की उन के हृदय में शक्ति ही नहीं रह गई थी। उन लोगों को उदासीनभाव से गुम सुम बैठे देखकर उन का नौकर, जिसे बर्तन साफ करने और बाजार से सौदा वगैरह लाने के लिए उन लोगों ने मकानमालिक के कहने पर शुरू में ही रख लिया था, सामने आया और विनय के साथ बोला—बाबूजी, आप लोगों के बीच में बोलने की मुझ में बुद्धि नहीं है, तो भी आप लोगों की कल से ही मैं जैसी हालत देख रहा हूँ उस से बिना बोले रहा भी नहीं जाता। इस लिए कसूर माफ कीजिए और बतलाइए कि आप लोग किस कष्ट में पड़ गये हैं? आप लोग जब से आये तब से सोच में पड़े हुए दिखाई दे रहे हैं। नहाना या भोजन करना, मानों आप लोग जानते ही नहीं हैं। इस उदासी का क्या कारण है? अगर मुझ से कहने में कोई हर्ज न हो, तो कहिए। मैं अपनी शक्ति भर आप का दुख दूर करने की कोशिश करूँगा।

यह खास बात है कि संकट के समय मनुष्य अपने प्रति दया दिखलानेवाले पर बहुत जल्द विश्वास कर लेता है। यही बात यात्रियों पर लागू हुई। मुखिया ने नौकर को धन्यवाद दिया और संक्षेप में अपनी कहानी बतलाकर कहा—इस समय यदि तुम ने आकर हमारी खबर न ली होती, तो अवश्य ही हम लोग उपवास ही करके रह जाते। आज की घटना से हम लोगों का चित्त इतना व्याकुल हो उठा था कि कुछ भी आगा पीछा नहीं सुझाई पड़ता था। तुम्हारे आ जाने से जैसे हम लोगों की चेतना लौट आई और अब तो जी भी कुछ कुछ हलका होता दिखाई दे रहा है।

नौकर ने कहा—द्वारिकानाथ करें आप लोग कुशलपूर्वक यहाँ का काम पूरा करके अपने बाल बच्चों में आयँ हजूर! लेकिन इस तरह बिना खाये पिये परदेश में घूमते रहने से बीमारी पकड़ लेती है। इस लिए मेरा कहना मानिए और जाकर स्नान करके भगवान् का दर्शन कर आइए। तब तक मैं चौका ठीक कर रखता हूँ। बस, आकर भोजन बनाइए और

चार चार कौर खाकर आराम कीजिए। साँवल सेठ को मैं जानता तो नहीं हूँ, पर इतना जानता हूँ कि द्वारिका का कोई भी परदेशी यात्री के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता जैसा आप के साथ उस सेठ के कारिंदे ने किया है। इस लिए मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि आप लोगों ने आने के साथ ही भगवान् का दर्शन छोड़कर अपने को रुपये पैसों के फेर में फँसा दिया इसी से भगवान् की प्रेरणा पाकर उस ने आप के साथ बुरा बर्ताव किया है। इसी लिए मैं कहता हूँ कि स्नान करके भगवान् का प्रेम सहित दर्शन कर आइए तब भोजन बनाइए। और यहाँ से जब अपने देश जाने लगिए, तो दुबारा फिर पूरी श्रद्धा के साथ भगवान् का दर्शन करते जाइए। फिर सेठ जब परदेश से लौटे तब द्वारिका आकर उस से भेंट कीजिए। भगवान् जरूर आप का मनोरथ पूरा करेंगे।

नौकर की बातें सुनते ही यात्रियों को एकाएक ऐसा लगा, जैसे भगवान् ही आकर हमें उपदेश दे रहे हों, भूले हुए गलत रास्ते से हटाकर सीधी राह पर लगा रहे हों। यात्रियों को अपनी भूल मालूम हो गई, उन की आँखें खुल गईं। उन लोगों ने लंबी साँस ली और अपनी भूल कबूल करते हुए नौकर से कहा—तुम तो भाई, बड़े बड़े विद्वानों से भी अधिक बुद्धि रखने-वाले मालूम पड़ते हो। तुम ने हमारा बड़ा उपकार किया। निश्चय ही हम ने बड़ा भारी अप-राध कर डाला है और उसी का फल भोग रहे हैं। अच्छा, अब तुम्हारे ही कहने के अनुसार सब काम करेंगे। जाओ, तुम चौका ठीक करो। तब तक हम लोग स्नान और दर्शन कर आते हैं।

स्नान, दर्शन और भोजन के बाद थोड़ा आराम करके जब यात्री लोग उठे तो अभी दिन के दो बजे थे। रुपयों की चिन्ता मन से दूर नहीं हो रही थी। एक महीना द्वारिका में रहकर सेठ की प्रतीक्षा हो नहीं सकती थी। द्वारिका में अब उन लोगों को एक मिनट भी अच्छा नहीं लग रहा था। इस लिए यही निश्चय हुआ कि घर चलना चाहिए। चटपट सब सामान बँधकर तैयार हो गया। नौकर कहीं बाहर गया हुआ था। इसी बीच में वह लौट आया। उस ने यात्रियों की यात्रा की तैयारी देखी, तो आश्चर्य से पूछा—अरे, आप लोग आज ही चले जायेंगे क्या ?

मुखिया ने कहा—क्या किया जाय ? आये तो थे कम से कम पंद्रह दिन रहने के लिए, पर हुंडी के रुपये न मिलने से रास्ते का खर्च भी अब तो भगवान् ही के भरोसे है। इसी से अब यहाँ रहना असंभव हो रहा है।

नौकर ने कहा—ठीक बात है। परदेश में रुपयों के सिवा कोई साथी नहीं होता। क्या करूँ ? मैं तो महा दरिद्र आदमी हूँ।

मुखिया ने कहा—तुम्हारा हृदय बड़ा ऊँचा और अत्यन्त पवित्र है। भगवान् से हमारे लिए प्रार्थना करना कि हमारा कष्ट दूर करें।

नौकर ने कहा—आप इन्हें हृदय से भूलने न दीजिएगा, तो अवश्य वे आप का दुःख दूर करेंगे। जाते समय इन का दर्शन करना मत भूलिएगा।

मुखिया ने कहा—कदापि नहीं भूल सकते। यहाँ से पहले मन्दिर में जाकर दर्शन और प्रार्थना करके तब घर की ओर कदम उठायेंगे। लो, यह एक रुपया तुम्हारा इनाम है। हम लोगों के पास कुछ रह ही नहीं गया, नहीं तो और देते।

नौकर ने कहा—आप की दया ही बहुत है। फिर जब द्वारिका आएगा, तो मेरी खोज कर लीजिएगा। आप की सेवा करके मैं अपने को धन्य समझूँगा। वह सलाम करके अपने मालिक के घर की सफाई दफाई में लगा और यात्रीदल भगवान् के मन्दिर की ओर प्रस्थित हुआ। वहाँ प्रार्थना करते करते संध्या हो गई, तो सबों ने राय बदल दी और यह निश्चय हुआ कि रात भर यहीं मन्दिर में जागते रहें और भगवान् की स्तुति करें। सवेरे एक बार पुनः समुद्रस्नान और भगवान् का दर्शन करके घर चलेंगे।

इस प्रकार क्रमशः इन लोगों की भक्ति बढ़ती गई। बड़ी भक्ति से इन लोगों ने मन्दिर में रात बिताई। रात भर में एक बार भी न तो इन की आँखों में नींद दिखाई दी, न एक पल के लिए मन से भगवान् का स्मरण करना भूला। सुबह होने पर भक्ति सहित स्नान करके पुनः इन लोगों ने भगवान् के सामने जा इन के चरणों पर मस्तक रखा और अनेक प्रकार से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगते हुए प्रतिज्ञा की कि हे प्रभो, अब ऐसी मूर्खता कभी नहीं करेंगे। फिर भगवान् का चरणामृत पीकर घर के लिए प्रस्थान कर दिया।

भगवान् ने देखा कि अब इन सबों का मन पूर्ण निष्कलङ्क होकर मेरे चरणों की भक्ति में लीन हो रहा है, इस लिए इन की यात्रा विघ्नरहित कर देनी चाहिए। बिचारों को मार्ग में रुपये पैसे बिना खाने पीने की कमी पड़ जायगी, तो उस का दोष ये लोग परंपरया नरसिंह मेहता पर लादने लगेंगे। इस प्रकार दो हानियाँ होंगी यदि रुपये न दे दिये जायेंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने एक मारवाड़ी सेठ का वेष बनाया और दो हजार रुपयों की थैली लेकर यात्री-दल की फिराक में चल खड़े हुए। यात्री लोग इस समय द्वारिका नगरी की सीमा पार कर चुके थे और दिहाती पगडंडी पर चले जा रहे थे। भगवान् वहीं जा पहुँचे और यात्रियों को पुकारकर बोले—सुनिए महाशयो, सुनिए ! अपने रुपये छोड़कर क्यों भगे जा रहे हैं ?

यात्री लोग खड़े हो गये और पीछे मुड़कर देखने लगे। उन्होंने देखा कि अमीरी ठाट बाट से युक्त एक मारवाड़ी हाथ में थैली लिये दौड़ा चला आ रहा है। जब भगवान् समीप आ गये, तो मुखिया ने पूछा—क्या आप हमीं लोगों को पुकारकर कुछ कह रहे थे ?

भगवान् ने कहा —हाँ, आप के ये रुपये देने में बहुत दूर से आप के पीछे पीछे दौड़ा आ रहा हूँ। लीजिए, सँभालिए अपने रुपये।

मुखिया ने कहा— क्षमा कीजिएगा, हम लोग आप को पहचान नहीं रहे हैं, न यही समझ रहे हैं कि आप किस तरह के रुपये हमें देना चाहते हैं।

भगवान् ने कहा— मैं द्वारिका का नगरसेठ साँवलदास हूँ। आप जब मेरी दूकान पर गये थे तब मैं बाहर गया हुआ था। मेरे नौकरों ने आप को पहचाना नहीं, इसी से आप के साथ अशिष्टता का व्यवहार किया। बाद में किसी तरह मुझे सूचना मिल गई और मैं रुपये लेकर दौड़ पड़ा।

मुखिया ने पूछा— कितने रुपये लाये हैं आप ?

भगवान् ने कहा— पूरे दो हजार रुपये इस थैली में हैं।

मुखिया ने कहा—लेकिन हुंडी तो केवल पन्द्रह सौ रुपयों की है। आप इतने रुपये क्यों ले आये ?

भगवान् ने कहा—नरसिंह मेहता की मेरे यहाँ इसी हिसाब की हुंडी चलती है। यदि आप को विश्वास हो, तो इतने रुपये लेकर हुंडी का पुर्जा मुझे दीजिए, यदि विश्वास न हो, तो दूनी हुंडी भी सकारी जा सकती है। बोलिए, क्या कहते हैं; और एक हजार रुपये लाऊँ ?

मुखिया ने कहा—अरे, नहीं नहीं। उस भक्त आदमी का इतना ही ज्यादा लेना न जाने कितने जन्मों में पटेगा। यह रुक्का लीजिए। पर कलम दावात तो मेरे पास नहीं है। क्या आप अपने साथ ले आये हैं ?

भगवान् ने पूछा—कलम दावात क्या होगी ?

मुखिया ने कहा—क्यों ? क्या हुंडी पर मुझे हस्ताक्षर नहीं करने पड़ेंगे ?

भगवान् ने कहा—नहीं। यहाँ सब कार्य विश्वास पर चलते हैं। लिखा पढ़ी के लिए मुनीम रखने की झंझट कौन उठाने जाय ?

मुखिया ये बातें देख सुनकर दंग रह गया। उस से या उस के साथियों से कुछ कहते नहीं बन पड़ता था। चुप चाप रुपयों की थैली हाथ में ले ली और हुंडी का कागज भगवान् के हवाले कर दिया।

भगवान् ने कहा—धन्यवाद ! आप लोगों ने मुझे बहुत बड़े अपयश से मुक्त कर दिया। आप का कल्याण हो। अब जाइए। मेहताजी से मेरा हार्दिक स्मरण कहिएगा।

मुखिया ने कहा—आप स्वयं धन्यवाद के पात्र होते हुए हमें ही धन्यवाद दे रहे हैं, यह सज्जनता आप द्वारिकावासियों के योग्य ही है। हम उजड्ड देहाती आदमी तो इतना भी नहीं जानते कि कब क्या बोलना चाहिए। ईश्वर आप की महिमा में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि करें।

अस्तु; भगवान् ने द्वारिका का और यात्रीदल ने अपने पथ का अनुसरण किया। कथा का अभिप्राय यह निकला कि दैवी प्रकृति का आश्रयण करके कीर्तन और नमस्कारपूर्वक भगवान्

की भक्ति करनेवाले भक्त की महिमा से असंभव बातें भी संभव हो जाती हैं, और जो लोग संसार को दिखलाने भर के लिए भक्ति का ढोंग रचकर तीर्थयात्रा आदि को ही भक्ति की पराकाष्ठा समझते हैं वे सिर्फ़ दूर दूर (तीर्थों) की ज़मीन नापने का परिश्रममात्र करते हैं, क्योंकि तीर्थों में जाने के बहाने वहाँ की दृश्यावली देखना और मौज उड़ाना ही उन का मुख्य उद्देश्य रहा करता है। किंतु संयोग से जब इन ढोंगियों के संपर्क में कोई सच्चा भक्त—दैवी प्रकृति का साधु पुरुष आ जाता है या उस के संपर्क में किसी प्रकार ढोंगी लोग पहुँच जाते हैं, तो भगवान् को भी विवश होकर उसे सच्ची राह दिखलाने का उपाय करना ही पड़ता है, जैसा कि कथा में अच्छी तरह दिखलाया जा चुका है। इस लिए जिसे मनुष्यजन्म सार्थक करना हो उस का यही कर्तव्य है कि यथासाध्य अपने में दैवी गुणों की वृद्धि करे। दैवी गुण के बिना सतत कीर्तन, भक्ति की दृढ़ता, प्रयत्नशीलता और नियमपूर्वक नमस्कार करने का भाव हृदय में धारण ही नहीं हो सकता। और जब तक ऐसा नहीं हो सकता तब तक उपासना करते रहने का कुछ भी फल नहीं है। हृदय में जब तक जीवों के प्रति दुर्भाव, स्वार्थसिद्धि के प्रति मूल धारणा, प्रिय के प्रति राग, अप्रिय के प्रति द्वेष, अनिष्टकर कार्य में क्रोध, इष्टकर कार्य में मोह और लोभ आदि विमार्ग में ले जानेवाले भाव मौजूद हैं तब तक कोई लाख लाख देवों की उपासना और पूजा भक्ति क्यों न करता रहे, उस से उन्नति नहीं होनेवाली है। उन्नति के लिए तो बस, एक ही मार्ग है। वह है हृदय की निर्मलता। जीवमात्र के प्रति प्रेम, दया, परोपकारबुद्धि, प्रिय और अप्रिय दोनों में समान भाव, इष्ट और अनिष्ट दोनों में अनासक्ति, शत्रु और मित्र दोनों में परमात्मा के निवास की भावना—ये उत्तम गुण धारण करने पर हृदय के भीतर वास्तविक निर्मलता विराज सकती है और उसी दशा में की गई भगवदुपासना सच्ची उपासना कहला सकती है। ऐसी उपासना सिवा दैवी प्रकृतिवाले के और कोई भी पुरुष नहीं कर सकता। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, दैवी प्रकृति के महात्मा लोग दृढ़व्रती होकर प्रयत्नपूर्वक निरन्तर मेरा कीर्तन हुए सर्वदा भक्ति से युक्त रहकर मुझे नमस्कार करते हैं और नित्य उपासना में लीन रहते हैं।

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—अच्छा, प्रभो, इन दैवी प्रकृति के महात्माओं द्वारा जिस प्रकार आप की भक्ति और उपासना संपादित होती है उस के अतिरिक्त भी कोई दैवी उपासना का प्रकार है?

भगवान् ने कहा—हाँ, अवश्य है और वह यही है कि—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्य (प्रकार के) भक्त एकभाव से, भिन्न भिन्न भाव से और नाना भाव से ज्ञानयज्ञ के द्वारा भजन करते हुए मुझ विश्वतोमुख की उपासना करते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, उपर्युक्त कीर्तन नमनादि के द्वारा मेरी भक्ति करनेवाले महात्माओं के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के जो मेरे भक्त हैं वे कभी तो मुझ में अभेद भाव रखकर, कभी अलग अलग भाव रखकर और कभी बहुत से भाव रखकर ज्ञानयज्ञ से मेरा भजन और उपासना करते हैं। परंतु चाहे कोई कितने भी प्रकारों से मेरी उपासना करे, सब तरह की उपासनाएँ प्राप्त मुझ को ही होती हैं, क्योंकि मैं विश्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र व्यापक रहकर यज्ञ और उपासना को ग्रहण करनेवाला सर्वसाक्षी परमात्मा हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, यहाँ भगवान् पहले ज्ञानदृष्टि से संपन्न होनेवाली पूजा का वर्णन करते हैं। भगवान् के कथन का यह अभिप्राय है कि संसार जितने प्रकार के देवताओं की पूजा करता है वे सब पूजाएँ ज्ञानदृष्टि से मेरी ही पूजा हैं। 'एकत्वेन' का यही अर्थ है कि विश्व भर में अभेद दृष्टि रखनेवाले ज्ञानीजन सर्वत्र मुझे ही देखते हैं और अपना सब कुछ मुझ को ही अर्पित करते हैं। 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' वाला यह सिद्धान्त है। इस के बाद भेद बुद्धिवाली पूजा को भी भगवान् खण्डित नहीं करते, उसे भी उचित स्थान देते हैं। 'पृथक्त्वेन' शब्द से वही पूजा दर्शाई गई है। कोई राम, कोई कृष्ण, कोई शंकर, कोई सूर्य, इन्द्र, गणेश, दुर्गा आदि अनेक देवताओं की उपासना में श्रद्धा रखनेवाला है, तो क्या वह अनुचित करनेवाला कहा जायगा? नहीं; सब के रूप में भगवान् की ही महिमा अन्तर्भूत है और सब की पूजा उन्हीं को प्राप्त होती है। जैसे—संगतराश (पत्थर पर कला कारीगरी करनेवाला) एक ही पहाड़ पर से पत्थर के दस टुकड़े ले आता है। एक पत्थर को गढ़कर राम की मूर्ति बनाता है, दूसरे से कृष्ण की, तीसरे से हनुमान् की, चौथे से गणेश की, पाँचवें से कार्तिकेय की, छठें से पार्वती की—इसी प्रकार दस पत्थरों से दस देवताओं की मूर्तियाँ तैयार कर देता है। इन मूर्तियों को देखनेवाले उन उन के नामों से अलग अलग एक एक मूर्ति की महिमा देखेंगे और बखान करेंगे। परंतु अन्तःप्रवेशसमर्थ दृष्टिवाला ज्ञानी ऐसा नहीं देखेगा। वह समझ जायगा इसी पत्थर एक ही पहाड़ के अङ्ग हैं और एक ही कारीगर ने इन्हें दस तरह के रूप देकर सुसज्जित किया है, इस लिए नाम रूप में पृथक्त्व (अलगाव) होने पर भी वास्तविक भेद तो कुछ भी नहीं है। इसी लिए नाना देवों में से किसी भी एक को अपना इष्टदेव मानकर अपनी भक्ति को केन्द्रित कर देनेवाला कर्मयोगी भक्त

भी वही गति—वही पद—प्राप्त करता है जो ज्ञानयोगी अपने ज्ञान से एकमात्र परमात्मा में लीन होकर प्राप्त करता है। हाँ, इस में इतनी सावधानी अवश्य चाहिए कि प्रारम्भ में जिस देवविशेष को जो भक्त अपनी उपासना का केन्द्र निर्धारित करे उसे अन्त तक उसी में अटल रूप से संलग्न रहना और उसी को परमात्मा मानते रहना चाहिए। ऐसा करने पर ही किसी भी देवता की भक्ति से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इस के विपरीत करने पर अर्थात् आज राम को इष्टदेव मानकर उपासना प्रारम्भ करके कल फलसिद्धि में अविश्वास करने और किसी दूसरे देव को इष्ट समझने लगने पर तो वही आवागमन का चक्कर लगा रह जायगा। स्वामी रामदास परमात्मा की एकत्वेन उपासना करनेवाले भक्त थे, महात्मा तुलसीदास ने श्री रामचन्द्र को परमात्मा मानकर अपनी भक्ति समर्पित की, भक्त सूरदास ने श्री कृष्ण भगवान् को परमात्मा माना। परंतु अन्तिम फल मोक्ष तो तीनों ने ही प्राप्त किया। इस लिए सिद्ध है कि मानो तुम चाहे किसी भी देव को, पर उसी में परमात्मबुद्धि रखो, तो कोई भी हर्ज नहीं है, विश्वतोमुख परमात्मा तुम्हें तुम्हारी उसी उपासना से मुक्ति दे देंगे। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, दूसरे प्रकार के भक्त एकत्व से, पृथक्त्व से और नानात्व से भजन करते हुए मुझ विश्वतोमुख परमात्मा की ज्ञानयज्ञद्वारा उपासना करते हैं।

इस पर अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्, मैं जानना चाहता हूँ कि एकत्व, पृथक्त्व और नानात्व में आप को किस प्रकार देखना और समझना चाहिए?

भगवान् ने कहा— इस के लिए व्यापक दृष्टि बनानी चाहिए और सर्वत्र संसार में तथा उस के परे भी मुझे ही वर्तमान देखना चाहिए। यथा—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, हवनक्रिया (भी) मैं (ही) हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, क्रतु अर्थात् श्रौत कर्म या यज्ञ जितने हैं वह सब मैं ही हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्त कर्मकाण्डरूपी यज्ञ भी मैं ही हूँ, स्वधा अर्थात् पितरों के निमित्त होनेवाले श्राद्धादि कर्म भी मैं ही हूँ और क्रतु, यज्ञ तथा स्वधा के उपयोग में आनेवाली वस्तुएँ औषध, वनस्पतियाँ, अन्न, घी, मन्त्र, अग्नि इत्यादि समस्त पदार्थ भी मैं ही हूँ एवं सब के अन्त में इन सब क्रतु, यज्ञ, स्वधादिक की हवनरूपी जो क्रिया है वह भी मैं ही हूँ।

क० म०—प्यारे भाइयो, वेदों, स्मृतियों और अन्यान्य धर्मशास्त्रों में जिन यज्ञों और कर्मकाण्डों का विधान बतलाया गया है, और जिन वैदिक मन्त्रों द्वारा यज्ञादि संपन्न किये जाते हैं वे सब परमात्मा के ही रूप हैं और परमात्मा को ही प्राप्त हैं, यही इस श्लोक का भावार्थ है। वेदोक्त क्रतु और स्मृत्युक्त पञ्च महायज्ञ भगवान् के सिवा और कुछ नहीं हैं। इसी प्रकार पितरों के उद्देश्य से किया जानेवाला श्राद्ध भी भगवान् का ही रूप है और पितररूपी भगवान् को ही वह प्राप्त भी होता है। भगवान् सब पितरों के भी पितर हैं और इसी लिए वे ही स्वधारूप होकर स्वधा की वस्तुओं को ग्रहण भी करते हैं। संसार में जितनी औषधियाँ अर्थात् दवाएँ और वनस्पतियाँ (इत्यादि) हैं उन्हें परमात्मा का ही रूप समझना चाहिए। यहाँ यह संदेह हो सकता है कि औषध भी जब भगवान् स्वरूप ही हैं, तो दवा करते रहने पर भी कितने ही रोगी कालकवलित क्यों हो जाते हैं ? दवाएँ भगवान् हैं, और रोगी प्राणी उन्हीं भगवान् की स्वरूपभूता दवाओं का सेवन करते हैं, ऐसी दशा में तो शत प्रतिशत रोग आराम हो जाने चाहिएँ ? इस का उत्तर यह है कि रोगों की भी अपनी शक्ति और आयु होती है अर्थात् रोग भी तभी अच्छे होते हैं जब भगवान् के यहाँ से उन की मियाद पूरी हो जाती है। अभिप्राय यह कि पूर्व कर्मानुसार आयु प्राप्त रोग पर भगवत्स्वरूपा औषधियाँ तभी कारगर होती हैं जब भगवत्प्राप्तियोग्य कर्मों का संपादन होकर रोगायु समाप्त हो जाती है। परंतु यह सोचकर कि आयु बीत जाने पर रोग अपने आप छूट जायँगे, दवा करने से विमुख नहीं होना चाहिए; क्योंकि भगवद्रूपा दवाएँ भी तभी फायदा पहुँचा सकेंगी जब कि उन में भगवद्बुद्धि रखकर तुम उन का सेवन करते रहोगे। इस के संबन्ध में एक किंवदन्ती कही जाती है—

काशी में असीघाट मुहल्ले में रहते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी नियमपूर्वक नित्य गङ्गास्नान करने जाया करते थे। एक बार उन के पैर में एक बड़ा भारी फोड़ा हो गया। उस की पीड़ा से तुलसीदासजी को उठने बैठने में भी महान् कष्ट होने लगा, फिर कुछ दूर तक जाने आने की तो बात ही क्या है ? पर तुलसीदास महात्मा थे, सहिष्णु थे, 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः' के अनुसार आचरण करनेवाले समत्व योगी थे। उन्हें फोड़े के कष्ट की कोई पर्वाह नहीं थी, न उस को अच्छा करने के लिए वे कोई दवा दारू—औषध पथ्य का सेवन ही करते थे। फोड़े की ओर से बेफिक्र रहकर वे नित्य नियम से अपना स्नान, ध्यान, पूजा, पाठ सब करते रहते थे। फोड़ा अपने मन से पककर फूटता था, खून और पीब बह जाती थी, फिर मुँह बंद हो जाता और बढ़ जाता, फिर फूटता बहता। यही क्रम लगा हुआ था। पर तुलसीदासजी उस तरफ ध्यान भी नहीं देते थे।

अचानक एक दिन गङ्गास्नान के लिए जाते समय मार्ग में उन्हें विचित्र प्रकार की आवाज सुनाई पड़ी। उन्होंने रुक कर ध्यान दिया, तो मालूम हुआ कि कोई उन्हीं को संबोधित

कर कह रहा है—महात्माजी, अब क्यों व्यर्थ ही फोड़े से तकलीफ उठा रहे हैं ? क्यों नहीं मेरा एक फल पीसकर उस पर लगा देते और भले चंगे हो जाते हैं ?

तुलसीदासजी ने कहा—तुम कौन हो और कहाँ से बोल रहे हो ?

आवाज आई—मैं भटकटैया का पौधा हूँ। आप के सामने ही पड़ा हुआ हूँ।

तुलसीदासजी ने गौर करके देखा, तो बात सच निकली, उन के पैर के पास भटकटैया अपने काँटेदार पत्ते फैलाये हिल हिलकर उन से दवा लगाने की प्रार्थना कर रही थी। उन्होंने कहा—मैं तुम्हारी उपकारबुद्धि के लिए धन्यवाद देता हूँ। किंतु यह तो बतलाओ कि आज महीनों से मेरे पैर में यह फोड़ा हुआ है, और प्रति दिन मैं इसी राह से स्नान करने जाता आता हूँ, इस से यह भी निश्चय है कि तुम बराबर इसे देखते भी हो; फिर भी आज तक तुम ने यह उपाय नहीं बतलाया, इस का क्या कारण ? आज इतने दिनों के बाद क्यों तुम ने उपाय बतलाने की कृपा की है ?

भटकटैया ने कहा—महाराज, हर एक सुख दुःख के भोग भोगने की अवधि होती है। आप को फोड़े द्वारा जो कष्ट मिल रहा है उस के भोगने की जब तक अवधि थी तब तक मैं बतलाकर ही क्या करती, क्योंकि उतने समय तक हजार उपाय करने पर भी वह अच्छा न होता और न मुझे कोई यश ही मिलता। अब आप के कष्टभोग की अवधि पूरी हो गई है। कल तक ही इस फोड़े की अन्तिम आयु है। इस लिए मैं ने सोचा कि अब आप से उस से मुक्ति पाने की औषधि भी बतला दूँ जिस से आप का रोग छूटे और मेरा नाम हो, मुझे सुयश मिले। इस लिए—

'जो कृपा कोर से एक बार इशारा हो जाय।
काम हो आप का औं नाम हमारा हो जाय॥'

मतलब यह कि दवा में जो भगवान् की शक्ति निहित है उस में संदेह करना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो उस में है ही। हाँ, फायदा वह तभी करेगी जब उस का समय आ जायगा। इस लिए भगवान् ने जो कहा है कि औषध मैं ही हूँ वह कथन यथार्थ ही है। और इसी लिए दवा भी करते ही रहना चाहिए। दवा फायदा नहीं कर रही है, यह सोचकर दवा करना छोड़ देना नादानी है। समय आने पर दवा अवश्य फायदा करेगी और उस में अन्तर्भूत भगवच्छक्ति का गुण सब पर प्रकट हो जायगा। अस्तु;

भगवान् अब आगे अपने और और रूपों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥१७॥

इस जगत् का पिता, माता, धाता, पितामह, ज्ञातव्य, पवित्र, ॐकार और ऋक्, साम, यजु भी मैं ही हूँ।

गो० गौ०—हे अर्जुन, इस समस्त चर अचर जगत् की सृष्टि करनेवाला पिता (अर्थात् ब्रह्मा) और सब को वात्सल्य दृष्टि से देखनेवाली माता भी मैं ही हूँ। मैं इस जगत् को धारण करनेवाला धाता हूँ और मैं ही ब्रह्मा को उत्पन्न करता हूँ जिन से सृष्टि की रचना का कार्य संपादित होता है, इस लिए सब का पितामह (अर्थात् सब के पिता का पिता) भी मैं ही हूँ। इस संसार में जानने योग्य भी एकमात्र मैं ही हूँ। मैं ही सब वस्तुओं में पवित्र वस्तु अर्थात् जप, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि हूँ—मेरी पावनशक्ति से ही संसार को पवित्र करनेवाली वस्तुओं की पवित्रता का अस्तित्व है। ॐकार अर्थात् परब्रह्म परमात्मा और उन का मुख्य नाम भी मैं ही हूँ। त्रयी शब्द से संसार में जिन तीन वेदों का समादर किया जाता है वह ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

क० प०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस श्लोक में भगवान् के जिन रूपों का वर्णन है उन्हें शायद ही कोई सनातनी भारतीय न जानता हो। इसी श्लोक के आधार पर रचे गये श्लोक—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव॥'

को नित्य प्रति सभी हिंदू आदर के साथ उच्चारण करते हैं। उक्त श्लोक में गीता के इस श्लोक में कथित भगवान् के जिन रूपों का शब्दों द्वारा कथन नहीं हो सका वे सब के सब 'त्वमेव सर्वं मम देव देव' इस कथन में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस लिए यह 'त्वमेव माता च पिता त्वमेवा' वाला श्लोक वास्तव में निरन्तर हृदय में स्मरण रखने और यथावसर उच्चारण करते रहने योग्य है, इस में किंचित संदेह नहीं। जिन माता पिता ने हमें जन्म दिया है उन दोनों की उत्पादिका शक्ति ही भगवान् हैं और जिस शक्ति से हमारे माता पिता हमारा लालन, पालन, संवर्द्धन करते हैं वह शक्ति भी भगवान् ही हैं। इसी लिए उन्होंने अर्जुन से कहा है कि इस जगत् का पिता, माता और धाता मैं ही हूँ। इसी भाव को लेकर गोसाईंजी ने रामायण में भगवान् के श्रीमुख से कहलाया है—

'करौं सदा तिन्हकी रखवारी। जिमि बालकन्ह राखि महतारी॥'

इस लिए यह संदेह करना अनुचित है कि एक ही भगवान् माता और पिता दोनों कैसे हो सकते हैं? भगवान् सब जीवों को धारण करते हुए उन की रक्षा करते रहते हैं, यह बात है ही, साथ ही उन्होंने शेषावतार से सारी पृथ्वी अपने सिर पर धारण की है, इस लिए

अनेक प्रकार से उन का जगत् का धाता होना अकाट्य रूप से सिद्ध है। भगवान् के ही धारण करने से इस संसार में नित्य नियम से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल आदि अपना अपना कार्य अनिवार्य रूप से और अविचल भाव से सर्वदा करते रहते हैं। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि नियम को भङ्ग करके कभी भी अव्यवस्था उत्पन्न कर सके, सभी अपने अपने स्थान पर दृढ़ होकर अपने कार्य में लगे हुए हैं।

संसार में यदि कुछ भी जानने योग्य पदार्थ है, तो एक मात्र भगवान् ही हैं—भगवान् को जानना ही जानना (ज्ञान) कहलाता है, और बातों को जानना जानना नहीं, बल्कि अन्धकार में पड़ना (अज्ञान) कहा गया है। इसी प्रकार संसार में स्वतः पवित्र और दूसरों को पवित्र करनेवाली वस्तु यदि कोई है, तो वह भी भगवान् ही हैं और संसार को उच्च की उन्नति के मार्ग पर लगानेवाले ऋक्, साम, यजु नामक पावन वेदग्रन्थ भी भगवान् ही हैं। अस्तु;

अब आगे देखिए कि भगवान् अर्जुन को और किन किन रूपों में अपना परिचय दे रहे हैं। वे कहते हैं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

(मैं ही सब की) गति, पालन पोषण करनेवाला, स्वामी, साक्षी, निवास, शरणदाता, हितेच्छु, उत्पत्तिकर्ता, प्रलयकर्ता, स्थितिकर्ता, निधान, अविनाशी बीज हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, इस संसार की गति अर्थात् प्राप्त होने योग्य परम पद मैं ही हूँ। मैं ही सब का पालन और पोषण करता हूँ। सब का मालिक भी मैं ही हूँ। सब के शुभ और अशुभ कर्मों को देखता रहनेवाला साक्षी (गवाह) भी मैं ही हूँ। सब जीव सर्वदा मुझ में ही रहते हैं, अतः मैं ही निवास अर्थात् सब के रहने का स्थान हूँ। मैं ही सब को शरण देनेवाला हूँ। सब का सर्वदा हित ही हित चाहनेवाला सुहृत् अर्थात् उत्तम मित्र भी मैं ही हूँ। मैं ही सब संसार को उत्पन्न करनेवाला आदि कारण हूँ, मुझ से ही संसार की स्थिति है और मैं ही इस का प्रलयस्थानीय भी हूँ। सब का निधान अर्थात् खजाना भी मैं ही हूँ—प्रलय के बाद पुनः सृष्टि न होने तक सब जीव मुझ में ही स्थित रहते हैं। समस्त जीवों को उत्पत्ति देनेवाला विनाशरहित बीज अर्थात् मूल कारण भी मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्रिय सज्जनो, संसार की कैसी विचित्र गति है कि वह बनावटी मालिकों—आफिस के मैनेजर, प्रोप्राइटर, कचहरी के हाकिम हुकाम, कारखाने के मालिक मुख्तियार आदि की तो दिन भर में तेरह बार चापलूसी करता है, सलामी बजाता है, पाँव की जूतियाँ तक सीधी करता है और अपने मन में विश्वास सा रखता है कि इन आचरणों से मेरी उन्नति होगी, मेरी तनख्वाह (आमदनी) बढ़ेगी, मुझे प्यार मिलेगा; पर उस असली मालिक परमात्मा को जिन का कि सर्वव्यापक सामर्थ्य ऊपर के श्लोक से प्रत्यक्ष ही सिद्ध है, बराबर अविश्वास की दृष्टि से देखा करता है और उन के सामने एक बार भी न तो सिर नवाता है, न चापलूसी करता है और न डाली भेंट ही पहुँचाता है। यह बात भी नहीं है कि संसार को उस परम प्रभु (सब मालिक) के बारे में कुछ मालूम ही न हो। नहीं, वह किसी न किसी तरह जानता तो उसे अवश्य ही है, क्योंकि मुँह से वह बार बार यह दुहराते देखा जाता है कि उसी ने चींटियों को 'कन' और कार्य संलग्नता दी है, उसी ने हाथियों को 'मन' और बैठे ठाले खाने को उत्पन्न किया है, उसी ने मछलियों को जल और मनुष्यों को थल दिया है, इत्यादि; पर संसार की ये बातें बस मुँह से उच्चारणमात्र होकर ही अपना अस्तित्व मिटा डालती हैं—मनुष्य इन मौखिक बातों को कार्यान्वित करना नहीं जानता, या जानकर भी करना नहीं चाहता; क्योंकि इन बातों पर वह हृदय से विश्वास नहीं करता। संसार आँखों से देखकर भी न तो देखना चाहता है और न कानों सुनकर भी सुनना अथवा समझना चाहता है। यह कौन नहीं जानता कि जिस ने हमें बचपन में, जब हमारे दाँत नहीं उगे थे, पीने के लिए दूध दिया वह दाँत निकलते ही हमें खाने को अन्न भी अवश्य देगा? सभी जानते हैं और अनुभव भी कर चुके हैं, पर जान-कर भी अनजान बननेवाले को भला कौन समझा सकता है? और समझाने पर भी कोई समझना ही न चाहे, तो समझानेवाला अपना सिर खपाने के सिवा और लाभ ही क्या उठा सकता है? इसी लिए तो संसार में इतनी हाय हाय मची हुई है। लोग जितना ही जानकर अनजान बने हुए अपनी ही शक्ति पर भरोसा करना और प्रभुकृपा से एक आध कार्यसिद्धि होने पर अपनी ही डींग हाँकना सीखते चले जाते हैं उतनी ही लोगों की तबाही भी बढ़ती आ रही है। यह बात भूगोल का प्रत्येक विद्यार्थी अच्छी तरह जानता है कि भगवान् की कृपा से ही ठंढे बर्फीले देशों में बड़े बड़े गर्म चाजोंवाली भेड़ें पैदा होती हैं, उन्हीं की मर्जी से मरुस्थल की यात्रा पूरी करने के लिए ऊँटों के गद्दीदार पैर उत्पन्न होते हैं, वे ही मनुष्यों की आवश्यकता देखते हुए पचास रुपये से बढ़ाकर पाँच सौ रुपये महीने की तनख्वाह दिलवाने लगते हैं; कहाँ तक गिनाया जाय, सारे ब्रह्माण्ड को वे ही उस की स्थिति और आवश्यकता के अनुसार खाना, कपड़ा, रुपया, पैसा, धन, सम्पत्ति सब कुछ देते हैं, पर संसारी प्राणी ऐसे कृतघ्न हैं कि उन की महिमा को अस्वीकार कर अपनी ही बहादुरी और बड़ाई बखानते रहते हैं। यही कारण है

कि जो लोग घडी भर पहले किसी उत्कर्ष को लेकर हँसी के गुलछर्रे उड़ाते नज़र आते हैं वे ही घडी भर बाद अपकर्ष के आवर्त में पडकर हाहाकार मचाने में प्रवृत्त देखे जाते हैं। यदि संसार ईर्ष्या, द्वेष, द्वन्द्व, मोह को छोड़कर अपनी करनी आप बखानने के फेर में न पड़े और भगवान् के वचन में विश्वास करके उन्हें संसार भर का एकमात्र ठिकाना, सब का एक दृष्टि से पालन पोषण करनेवाला, सब का एकमात्र अधिपति, सब के पुण्य पाप के अनुसार ही सब को ऊँची नीची परिस्थिति में रखनेवाला, सब का सर्वकालीन आश्रय, सब को शरण देनेवाला, सब का परम हितैषी मित्र, सब का सृजन, पालन, संहार करनेवाला, सब के लिए एक समान आधार, कभी नष्ट न होनेवाला सब का अनादि पिता—आदि कारण—मानने लगे तथा अपनी प्राप्त परिस्थिति को उन की कृपा की देन समझकर हर हालत में सर्वदा प्रसन्न रहे, कभी किसी तरह का दुःख न माने और न व्यर्थ भगवान् पर दोषारोपण करे, तो निश्चय ही सारे विश्व भर में शाश्वत शान्ति विराजने लगे। भगवान् की उपर्युक्त वाणी में आस्था न रखने के कारण ही आज जहाँ दृष्टि जाती है वहीं अशान्ति का अबाधित साम्राज्य दिखलाई पड़ रहा है। और सब लोगों की वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्ति का अध्ययन करने पर निष्कर्ष भी यही निकलता दिखलाई दे रहा है कि भविष्य में भी अभी पता नहीं कि कब तक यह अशान्ति का बोलबाला अपना पदविस्तार करता जायगा। किंतु यह सब होते हुए भी जहाँ तहाँ कोई कोई ऐसे महात्माजन भी अवश्य हैं जिन के पवित्र स्पर्श से वहाँ वहाँ का वातावरण इस अशान्त युग में भी शक्ति भर शान्ति का विस्तार करता ही है। हाँ, विचार करने पर इतना दुःख अवश्य होता है कि ऐसी विकट परिस्थिति में जो महापुरुष अपने को भगवद्भक्ति के आश्रित कर चुके हैं उन की वही हालत है जो राक्षसराज रावणपालिता लङ्का में भक्त विभीषण की थी अर्थात् इस अशान्ति के साम्राज्य में शान्तिस्वरूप महात्माओं की 'जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी' वाली हालत हो रही है। इस लिए इन दिनों सद्विवेकी सज्जनों का यह प्रधान कर्तव्य होना चाहिए कि यथासाध्य प्रयत्न करके भगवन्मार्ग का ही आश्रयण करें जिस से संसार में भगवान् की वाणी को अपना कार्यक्षेत्र विस्तारित करने का अवसर मिले और अनायास ही सज्जनगण सुयश-भागी बनें। अस्तु;

भगवान् अर्जुन को अपनी व्यापकता का परिचय देते हुए पुनः कहते हैं कि—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन, मैं तपता हूँ, वर्षा को रोकता और छोड़ता हूँ। अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, सूर्य का रूप धारण करके संसार को गर्मी मैं ही प्रदान करता हूँ और उस गर्मी के द्वारा संसार के जलों को वाष्प के रूप में शोषित करके मेघ बननेवाला और आकाश में जल को रोक रखनेवाला वर्षारूप भी मैं ही हूँ तथा आवश्यकता पड़ने पर उस मेघजल से सिञ्चित करनेवाला वर्षण भी मैं ही हूँ अर्थात् संसार में सर्वदा वृष्टि ही वृष्टि न होती रहे, इस के लिए वर्षा को रोकनेवाला तथा अवर्षण से अकाल न पड़ जाय, इस के लिए वर्षा बरसानेवाला मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है। देवताओं को अमरत्व प्रदान करनेवाला अमृत तथा सब का नाश करनेवाली मृत्यु अर्थात् कालरूप भी मैं ही हूँ। विनाशशील संसार में कभी विनाश और अभाव को न प्राप्त होनेवाला सत् अर्थात् आत्मारूप और संसार का समस्त विनष्टप्राय असद्रूपवस्तुजात भी मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, इस श्लोक से भगवान ने अर्जुन को यह शिक्षा दी कि सांसारिक किसी भी पदार्थ से किसी को कभी घृणा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि संसार के शीत, उष्ण, शुष्क, आर्द्र, उत्तम, मध्यम, उच्च, नीच जितने पदार्थ हैं, सब में भगवान् का रूप, भगवान् की सत्ता विद्यमान है। अमरत्व प्रदान करनेवाली परमोत्तम वस्तु अमृत और मृत्यु का ताण्डव दिखलानेवाली अनुत्तम वस्तु मृत्यु, काल (अथवा हालाहल विष) भी भगवत्स्वरूप ही हैं। भला बुरा यावतीय संसारी किंवा अलौकिक पदार्थमात्र भगवान् के रूप ही हैं, तो किसी से घृणा और किसी से आसक्ति और प्रेम क्यों करना ? नहीं करना चाहिए। यद्यपि संसार के सत्व रज, तम ये तीन गुण न्यूनाधिक मात्रा में जिस में जिस रूप में रहते हैं वह उन के अनुसार ही अपने लिए भले बुरे और उत्तम मध्यम का बिलगाव करता है और कहीं खुश, कहीं नाखुश, कहीं सुखी, कहीं दुखी होता है; फिर भी इस श्लोक की शिक्षा को संसार ने शायद अधिकांश में अपनाया है। क्योंकि संसार में देखा जाता है कि सड़क पर चलता हुआ कोई रो रोकर कोई बात कहता जाता हो, तो रोने जैसे बुरे भाव को देखने के लिए भी उस के पीछे सौ पचास आदमी लग जाते हैं और कोई इसी प्रकार सड़क पर हँस हँसकर कुछ कहता जाय, तो हँसने जैसे उत्तम भाव को देखनेवाले भी काफी संख्या में उस के पीछे पड़ जाते हैं। ऐसे ही बहुत लोग गर्मी से, बहुत जाड़ा से और बहुत बरसात से भी खुश होनेवाले संसार में मौजूद हैं। इन बातों से प्रमाणित हुआ कि संसार में सब ढंग के लोग सर्वदा रहते आये हैं और सर्वदा रहेंगे। इस लिए किसी से भला मानना और किसी से बुराई रखना कदापि उचित नहीं है। सृष्टि भगवान् की है और उन्हीं की इच्छा के अनुसार उस में सम विषम सब तरह के भाव तथा भाववान् पदार्थ रचे गये हैं और इसी लिए सब में भगवान् अपने रूप से वर्तमान रहते हैं। ऐसी स्थिति में कहीं घृणा और कहीं अनुराग करना उत्तम गुण में नहीं

गिना जा सकता। इस लिए इस श्लोक से तितिक्षा और समत्व की शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। अस्तु;

भगवान् का संसारव्यापक रूप बतलानेवाला उपर्युक्त समग्र उपदेश सुनकर अर्जुन के मन में पुनः एक सदेह उठ खड़ा हुआ। इस लिए उस ने भगवान् से फिर प्रश्न किया कि हे भगवन्, आप के ही कथनानुसार जब कि आतप (घाम) फैलानेवाले सूर्य, वर्षा करनेवाले इन्द्र, अमरत्व देनेवाले विष्णु, मृत्यु देनेवाले काल (यमराज) आदि सब देव आप के ही स्वरूप हैं अथवा आप ही हैं और सब की उपासना प्रकारान्तर से आप की ही उपासना है, तब तो किसी भी देवता की भक्ति उपासना करनेवाले को वही फल और पद मिलना चाहिए जो साक्षात् आप की उपासना से प्राप्त होता है; फिर आप ने मुझ से इस के पहले (आठवें अध्याय, सोलहवें श्लोक में) यह क्यों कहा कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक पुनर्जन्म देनेवाले हैं और मेरे लोक में जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता ?

भगवान् ने उत्तर दिया—अर्जुन, तेरी शङ्का साधार होती हुई भी मूलतः भ्रमपूर्ण ही है, क्योंकि सकाम और निष्काम उपासना का महदन्तर भी मैं तुझ से पहले ही बतला चुका हूँ। परंतु मालूम होता है, वे बातें इस समय तेरे ध्यान से उतर गई हैं। इस लिए मैं तुझ से पुनः कह देना चाहता हूँ कि—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस का पान करनेवाले, पाप से रहित हुए (पुण्यात्मा) लोग यज्ञों द्वारा मेरा पूजन करके (मुझ से) स्वर्ग पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। वे पुण्य द्वारा इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में

देवताओं के स्वर्गीय भोगों का भोग करते हैं। वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर (फिर) मृत्युलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म में लगे रहनेवाले कामना के इच्छुक आवागमन का लाभ करते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, ऋक्, यजु, साम–इन तीनों वेदों को जाननेवाले सकाम कर्मकर्ता विद्वान् लोग पवित्र सोमरस को पीने से पापरहित होकर अनेक प्रकार के अश्वमेध, अजामेध, रुद्र, विष्णु आदि बड़े बड़े यज्ञों का विधिवत यजन करते हैं और उन के द्वारा दूसरे रूप में मेरी ही पूजा करते हैं। फिर अपनी पूजा के द्वारा (सकाम कर्म करनेवाले होने के कारण) वे मुझ से प्रार्थना करते हैं कि मुझे स्वर्ग में गति अर्थात् स्वर्ग जाने की योग्यता दीजिए। चूँ कि वे अपने सकाम पुण्यों द्वारा वहाँ जाने की योग्यता प्राप्त कर चुके होते हैं, इस लिए उन्हें मैं इन्द्रलोक तक पहुँचा देता हूँ। वहाँ स्वर्ग में वे लोग देवताओं को प्राप्त होनेवाले आनन्ददायी स्वर्गीय भोगों का यथेच्छ भोग करते हैं। अत्यन्त विषयसुखरूप दिव्य आनन्द का उपभोग करते हुए वे बहुत दिन तक उस महान् विस्तृत स्वर्ग लोक में वास करते रहते हैं। अन्त में मर्त्यलोक में किया हुआ यज्ञजनित पुण्य भोगते भोगते जब समाप्त हो जाता है, तो वे कामना सहित यज्ञ करनेवाले फिर इसी मृत्युलोक–पृथिवी-मण्डल पर लौट आते हैं। तीनों वेदों में वर्णन किये हुए धर्मों के पीछे पड़े रहनेवाले सकामी पुरुष इसी प्रकार संसार में बार बार आने जाने का कष्ट प्राप्त करते रहते हैं।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, इन दो श्लोकों में भारतवर्ष के उस वैभवयुक्त समय का वर्णन है जब यहाँ चारों ओर रात दिन एक से एक बढ़कर यज्ञों का अनुष्ठान होता रहता था जिस से सारा संसार सर्वदा सुखी और प्रसन्न रहा करता था। ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद - इन तीनों वेदों में बड़े बड़े यज्ञों का विस्तार और विधि सहित वर्णन है। प्राचीन समय में ब्राह्मण लोगों को तीनों वेद कण्ठाग्र रहते थे। कहीं कहीं एक आध लिखित पुस्तक सुरक्षित रखी रहती थी। कभी किसी को कोई सन्देह हो जाता, तो वह पुस्तकवाले का पता लगाकर वहाँ जाता और पुस्तक देखकर अपना संदेह मिटा लिया करता था। यों सब विद्यार्थियों को गुरु के आश्रम में लगातार बीस पचीस वर्ष रहकर गुरु की सेवा और शुश्रूषा द्वारा उन से तीनों वेदों की शिक्षा और उपदेश लेना पड़ता तथा तीनों वेद ज़बानी याद रखने पड़ते थे। वे ब्राह्मण आश्रम से वेदपारंगत विद्वान् होकर निकलते और देश में घूम घूमकर सर्वत्र वैदिक धर्म

का प्रचार करते। उस समय भारत में विदेशी या विजातीय शासन नहीं था। यहाँ के ही आर्य पराक्रमी क्षत्रिय राजा देश के विद्वानों के सहयोग से प्रजा का कष्टनिवारणपूर्वक उसे सुखी और सुरक्षित रखने का भार अपने ऊपर लिये रहते थे। यही करना उस समय के राजा का प्राकृतिक कर्म अथवा राजा कहलाने का साधारण अर्थ था। इन्हीं राजाओं को उपदेश देकर वे धर्मप्रचारक वैदिक विद्वान् बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान कराया करते थे। किसी को संदेह हो सकता है कि राजा लोग स्वर्ग जाने की इच्छा से यज्ञ करते थे और ब्राह्मण लोग वैदिक धर्म की रक्षा और प्रचार अथवा दक्षिणा पाने के लोभ से यज्ञ कराते थे, इस से इन्हीं दो जातियों को यज्ञों से लाभ होना निश्चित है, फिर ऊपर यह क्यों कहा गया है कि प्राचीन समय में वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान होते थे, अतः संसार तब सुखी था? इस का उत्तर यह है कि यज्ञों में जो मन्त्र पढे जाते हैं और उन के द्वारा जिन जिन देवताओं का आवाहन कर उन्हें चरु शाकल आदि से तृप्त किया जाता है उस से वे देवता प्रसन्न होकर यज्ञकर्ता और कारयिता (करानेवाले) को स्वर्गीय और आर्थिक लाभ तो कराते ही हैं, साथ साथ वे समस्त संसार के ऊपर भी प्रसन्न होते हैं और उचित बरसात, जाड़ा, गर्मी के द्वारा सर्वत्र सुकाल रखते हैं। दूसरी बात यह भी है कि सर्वत्र यज्ञों की भरमार होने से धुँआ अधिक उत्पन्न होता था जिस से काफी तादाद में बादल तैयार होते थे और सब जगह वर्षा करके अन्न की वृद्धि करते थे। इस प्रकार यज्ञों के अनुष्ठान से यज्ञ करने करानेवाले और सर्वसाधारण प्रजाजन भी सुखी और प्रसन्न रहते थे। उस समय यज्ञों की अधिकता तथा ब्राह्मणों के सर्वदेशीय संमान और समादर को देखकर ही आधुनिक काल के ऐतिहासिक उस काल को वैदिक और ब्राह्मणयुग कहते हैं।

वैदिक धर्म के प्रचार से संसार में और परलोक में भी लोगों को धन, ऐश्वर्य, सुख, संपत्ति, आनन्द, प्रमोद सब कुछ प्राप्त होता था। किसी को शारीरिक कष्ट नहीं था। यहाँ सोमरस—सोमवल्ली—पीकर लोग अमृत पीने का आनन्द मनाते और वहाँ जाकर तो साक्षात् अमृत पीने का ही सौभाग्य प्राप्त करते, सुदीर्घ काल के लिए अमरों (देवताओं) से होड़ लगाते। फिर भी भगवान् ने गीता में उस धर्म और धार्मिकों की पूर्ण प्रशंसा नहीं की है। इस का कारण यही है कि यज्ञों के फेर में पड़कर लोग वेदों में वर्णित स्वर्ग को सुन्दर से सुन्दर अप्सराओं और नाना प्रकार की सुखसामग्रियों की प्राप्ति की मन में कल्पना करके सकामी बन जाते हैं; और इतनी बड़ी आयु तो किसी भी जीव को मिली नहीं है कि कोई अनन्त यज्ञों का अनुष्ठान करे और अनन्तकाल तक स्वर्ग में रहने का अधिकार पाये। अपनी अपनी आयु और शक्ति सामर्थ्य के अनुसार किसी को कम और किसी को अधिक यज्ञ करने का अवसर मिलना अनिवार्य है। इस लिए यह भी मानना ही पड़ता है कि स्वर्ग में सब को अपने अपने संचित पुण्य के अनुपात से ही सुख विलास प्राप्त होंगे और तदनुसार ही वहाँ अधिक और कम समय

तक रहने का अधिकार भी मिलेगा जिस से एक अपने से अधिक सुखी दूसरे पुण्यकर्मा को देखकर मानसिक दुःख का अनुभव भी करेगा ही। इस प्रकार वहाँ रहकर मानसिक दुःख भोगना और वहाँ से लौटकर पुनः संसारजाल में पड़ना तथा नाना प्रकार के भवताप सहना, ये अनेक प्रकार की बुराइयाँ इन वैदिक यज्ञों के साथ लगी रहती हैं। इसी लिए भगवान् ने इन की अधिक बड़ाई न करके अपने भक्त की जिन्हें एकमात्र भगवान् और भगवान् का लोक पाने की इच्छा रहती है, अधिक प्रशंसा की है।

किंतु आज के युग में तो वे बड़े बड़े स्वर्गीय सुख देनेवाले वैदिक यज्ञ भी किसी मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल नहीं हो रहे हैं। यज्ञ करना पाखण्ड और ढोंग तथा हवन आदि करना अच्छे अच्छे फल, मेवात, घी, चीनी को आग में भस्म करनामात्र कहा जाता है। आज अगर कोई पूजा, पाठ, जप, तप, यज्ञ, पुरश्चरण की ओर प्रवृत्त होता भी है, तो अपने इन पुण्यकर्मों से तत्काल फल चाहता है। आज—इस जीवन में—हजारों रुपये खर्च करके यज्ञ अनुष्ठान किया जाय और इस से मिलनेवाले फल को परलोक के लिए किसी देवता पर (जिस के नाम पर यज्ञ आदि सपन्न किये गये) विश्वास करके उस के पास धरोहर रख दिया जाय, इस पर न तो किसी को विश्वास है और न कोई इतना संतोषी ही है कि इतने दिनों के बाद मुनाफा मिलने का भरोसा रखकर आज व्यापार करे। यहाँ तो आज सुबह रोजगार में पूँजी लगाना और शाम को मुनाफे सहित मूल धन वसूल कर लेना उत्तम व्यापार की कसौटी मान ली गई है। बहुत हुआ तो एक महीना दो महीने या एक फसिल दो फसिल की इतिजारी चहते है। इस से अधिक हर्गिज नहीं। और कितने तो ऐसे चतुर होते हैं कि देवताओं की पूजा (यज्ञादि) करके बदले में तुरंत फलसिद्धि तो चाहते ही हैं, साथ ही ऐसी चतुराई के उपाय में भी लगे रहते हैं कि एक का चार लाभ हो, जैसा कि निम्नलिखित कुटिल नीति के पारगत (धूर्त) विद्वान् की कथा से प्रमाणित होता है।

कहा जाता है कि कौटिल्यशास्त्र के प्रणेता चाणक्य के शिष्यो में एक शिष्य को राजनीति और राजाश्रय से विराग उत्पन्न हो गया। वह विष्णुगुप्त (चाणक्य) के यहाँ परिश्रमपूर्वक जब संपूर्ण नीतिशास्त्र पढ़ चुका, तो विष्णुगुप्त ने बहुत चाहा कि वह मेरा सहकारी मन्त्री बने और चन्द्रगुप्त मौर्य के दर्बार में राजपुरुष बनकर आराम से जीवनयापन करे। बाद में जब मैं अवकाश ग्रहण कर लूँगा, तो यही मेरी जगह पर प्रधान अमात्य होगा। परन्तु राक्षस (जो महानन्द का प्रधान मन्त्री था) के साथ अपने गुरु की राजनीतिक कुटिल चालो में उस ने अनेक प्रकार की अनीति होते देखी थी, अतः उस प्रकार की जीविका से उसे घृणा हो गई और वह अपनी दरिद्रता को ही शिरोधार्य कर जंगल में तपस्या करने चला गया। विद्वान् तो वह था ही, पूरी विधि से भगवान् की आराधना करने लगा। उस की
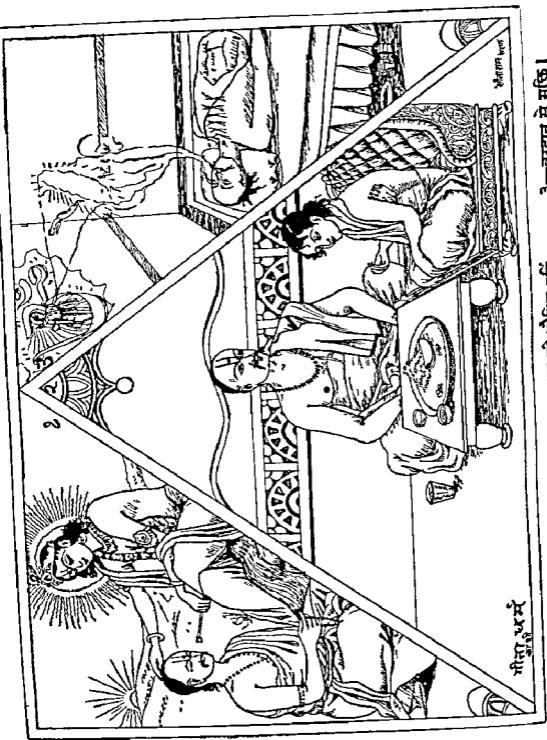
१—चतुर ब्राह्मण को वरदान, २—वरदान की भौतिक पूर्ति, ३—वरदान से मुक्ति।

૧. ચતુર બ્રાહ્મણને વરદાન, ૨. વરદાનની ભૌતિક પૂર્તિ, ૩. વરદાનથી મુક્તિ.

नैष्ठिकता से भगवान् को उस के ऊपर शीघ्र प्रसन्न होना पड़ा और वरदान देने के लिए उस के सामने उपस्थित होकर दर्शन देना पड़ा।

भगवान् ने प्रत्यक्ष होकर कहा—ब्राह्मण, वर माँगो। मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अतः तुम जो चाहो वह एक वरदान मुझ से माँग लो।

ब्राह्मण ने अन्तर्नेत्र से देखा, अनुभव किया कि चतुर्भुज भगवान् मेरी तपस्या का बदला चुकाने के लिए सचमुच ही मेरे सामने खड़े हैं। यद्यपि वह सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रहने की इच्छा से ही जंगल में आया था और किसी विशेष फल की इच्छा न करके ही उस ने तप करना भी आरम्भ किया था, फिर भी वह था तो वस्तुत कुटिल नीति का ही विद्वान्, अतः दृढ़ता की परीक्षा लेने के विचार से ही आये भगवान् को अपने पास देखकर वह निष्कामता के ऊँचे आदर्श से फिसल गया और चिर अभ्यस्त होने के कारण मन की विवशता से उसी नीति का आश्रय लेने को बाध्य हुआ। अर्थात् कुटिल नीति का विद्वान् होने के कारण स्वभावतः वह भगवान् की बातों पर भी कुटिलता के साथ विचार करने लगा। उस ने सोचा—भगवान् को तपस्या के प्रभाव से प्रसन्न करना साधारण बात नहीं है। अनेक जन्म के बड़े बड़े पुण्यों के फलस्वरूप इन का दर्शन मिलना शास्त्रकारों ने झूठ नहीं लिखा है। किंतु मेरे ऊपर ये अनायास ही इतने खुश हो गये हैं कि थोड़ी ही दिनों की तपस्या पर यहाँ तक स्वय दौड़कर दर्शन देने आये हैं और उस पर एक वरदान देने की भी बात कह रहे हैं। इतना बड़ा सौभाग्य शायद ही दुनिया में आज तक किसी के सामने उपस्थित हुआ हो। लेकिन मैं हूँ पण्डित विष्णुगुप्त शर्मा का असली विद्यार्थी जिन्होंने अकेले केवल अपनी कुटिल नीति के बल से इतने बड़े विशाल मगध साम्राज्य में क्रान्ति मचा दी और एक निर्वासित असहाय राजवंश को सम्राट् बनाकर दम लिया। ऐसी दशा में मैं यदि भगवान् के दर्शन और एक वरदान देने के वचन पर ही संतुष्ट हो जाऊँ, तो मेरे जन्म भर कुटिल नीति की शिक्षा ग्रहण को धिक्कार है। पर भगवान् कोई बनिया महाजन तो हैं नहीं कि एक वरदान देने को कहकर पुनः कोई नरम गरम शर्त रखने पर एक से अधिक वर देने के लिए तैयार हों? इन्होंने तो जो एक बार कह दिया वही अन्त तक पालेंगे। और मैं ऐसा दरिद्र और दुखी हूँ कि एक वर से मेरा काम नहीं चल सकता। इस लिए कुटिलता-धूर्तता-ही ऐसे मौके पर काम देगी, इस में संदेह नहीं। इस प्रकार उस ने निश्चय किया कि कोई ऐसी युक्ति निकालनी चाहिए जिस से मेरी आँखें जो जंगल में आते समय कँटीले खंदक में गिरने से गायब हो गई हैं वे भी लौट आयें और मैं धनी होने के साथ साथ पुत्र पौत्र का मुँह देखने का भी सौभाग्य प्राप्त करूँ और भगवान् की एक वर देने की बात भी रह जाय। उस की कुशल बुद्धि ने उसे तुरंत उपाय सुझा दिया। इस लिए वह भगवान् से अपने मन की बात कहने जा ही रहा था कि उसे

बोलने में विलम्ब करते देख, भगवान् ने उस से पूछा—विप्र, क्या सोच रहे हो ? क्या निष्काम भक्त बनकर ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहते हो; मैं जाऊँ ? वरदान नहीं लेना चाहते हो, तो भी कुछ कहने में तो कोई हानि नहीं दिखाई देती ?

ब्राह्मण ने कहा—क्या कहूँ प्रभो ? मैं सोच रहा था कि आप देंगे एक ही वरदान; अतः ऐसी कौन सी वस्तु माँगूँ जो एक होती हुई भी सब तरह से पूर्ण हो ?

भगवान् ने कहा—हाँ, यह अच्छी तरह सोच लो। एक से अधिक वर इस समय किसी तरह नहीं मिल सकता।

ब्राह्मण ने कहा—अच्छा भगवन्, मैं एक वाक्य कहना चाहता हूँ, वही पूरा सफल हो।

सदा के सीधे भगवान् कुटिलता क्या जानें ? उन्होंने झट से कह दिया—प्रसन्नता से कह सकते हो। मुझे एक वर देने में कुछ आपत्ति नहीं है, वह एक वाक्य हो अथवा जो कुछ भी हो।

ब्राह्मण ने कहा—नाथ, तब मैं यही वाक्य सत्य होते देखना चाहता हूँ कि 'अपना चिरंजीवी पौत्र सोने के सिंहासन पर बैठकर सोने के बर्तन में उत्तमोत्तम पदार्थ भोजन करता हुआ देखकर आप का धाम प्राप्त करूँ।'

भगवान् यह छोटा सा वाक्य सुनकर दंग रह गये। सोचने लगे—ठीक चाणक्य का चेला है, बल्कि उन से बढ़कर। क्योंकि उन्होंने मनुष्य को अपनी चालाकी से परास्त किया, पर इस ने तो मुझ (भगवान्) को छका दिया। उन्होंने कहा—ब्राह्मण, तुम्हारी नीतिज्ञता और तुम धन्य हो। तुम जैसों का ही नीतिशास्त्र पढ़ना सफल है। तुम ने एक वाक्य में इहलोक और परलोक दोनों में सर्वोत्तम स्थान माँग लिया। अपने वचन की रक्षा के लिए मुझे यह वरदान देना ही पड़ेगा। जाओ, तुम्हारा वाक्य सफल हो।

भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मण को उसी समय आँखें मिल गईं। वह प्रसन्न हो उठा और मूँछों पर ताव देता और मन में यह कहता हुआ कि गुरु गुड़ ही रहे, अपने घर चला गया। समय पाकर उस का विवाह हुआ। उस के श्वशुर की अथाह संपत्ति उसे ही मिली। पुत्र, पौत्र सभी का सुख उस ने आनन्द से देखा और उसी प्रकार देखा जैसा कि भगवान् से वाक्यवरदान माँगा था। एक सौ बीस वर्ष की पूर्णायु भोगकर वह भगवान् के (यद्गत्वा न निवर्तन्ते) धाम चला गया।

इस प्रकार सांसारिक सुखभोग और स्वर्गादि उत्तम लोकों में वास पाने की कामना से भी यदि कोई श्रौत स्मार्त धार्मिक कृत्य करे, तो निश्चय है कि उत्तम कृत्य के संसर्ग में लगे रहने से वह एक दिन स्वर्गादि (पुण्य क्षीण होने पर लौटा देनेवाले) लोकों की स्पृहा छोड़कर उस परम पद को अवश्य प्राप्त कर लेता है। लेकिन आजकल जो 'वाद' चला है जिसे

भौतिक, दैविक, आत्मिक, नास्तिक आदि सब प्रकार के वादों के ऊपर 'स्वतःप्रवृत्तवाद' के अतिरिक्त मेरी समझ में और कोई सुन्दर सत्य नाम नहीं दिया जा सकता, उस के सामने इस प्रकार के यदा कदा प्रत्यक्ष हो जानेवाले उदाहरण भी कुछ महत्त्व नहीं रखते। इस प्रकार की घटनाओं को आज के विद्वान् आकस्मिक घटनामात्र कहकर टाल देते हैं। इसी लिए आधुनिक समय में पूजा, पाठ, जप, तप से सिद्धि चाहने की किसी में प्रवृत्ति ही नहीं उत्पन्न होती। इन दिनों सब लोग अपनी बुद्धि अथवा शरीर की निजी कमाई पर ही भरोसा करते हैं और पूर्व कर्मानुसार जब उन की कमाई में उन्नति नहीं होती, दिन रात मर मरकर मेहनत करने पर भी पेट तक भरना मुश्किल होने लगता है, तो मूर्खतावश भगवान् को कोसने लगते हैं। इस से दिन दिन उन के पाप की बढ़ती होती है और वे अनन्त-जन्म मरण के जाल में पड़े रहते हैं। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि तीनों वेदों के ज्ञाता कर्मकाण्डी लोग बहुत तरह के यज्ञों से मुझे (अन्य अन्य देवताओं के रूप में) प्रसन्न करके स्वर्गप्राप्ति की प्रार्थना करते हैं और अपने पुण्यप्रताप से वे इन्द्रपुरी में जाकर अच्छे अच्छे भोगों को भोगते हैं। फिर बाद में वे अपना पुण्य समाप्त करके पृथिवी पर जन्म धारण करते हैं। इसी प्रकार फल की इच्छा से कर्म करनेवालों को आवागमन का कष्ट मिलता रहता है, तो अर्जुन ने पूछा—अच्छा प्रभो, आप ने सकामभाव से अपने अन्यान्य देवतारूपों की उपासना का फल तो कहा, पर अभी तक यह नहीं बताया कि जिन के लिए आप ने अनन्य भाव से अपना नित्य स्मरण करने पर अपने को सुलभ बतलाया है उन निष्काम योगियों के भोजनाच्छादन (खाना कपड़ा) का निर्वाह और साधना में पड़नेवाली आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक बाधाओं से कैसे रक्षा होती है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, जब कि अन्य देवताओं की उपासना करनेवालों को भी प्रकारान्तर से—*सीधे सीधे नहीं—अपना भक्त समझकर मुझे उन के कर्मानुसार लौकिक पार*-लौकिक सुख देने पड़ते हैं, तो अपने अनन्य भक्त को भला मैं त्रिविध तापों में कब रहने दे सकता हूँ। इसी लिए तो—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो लोग अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन सतत (योग) अभ्यास में युक्त रहनेवालों का योगक्षेम मैं ढोता हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो लोग संसार में रहते हुए भी संसार में प्रत्यक्ष होकर दिखाई और यथाशीघ्र सुन्दर सुफल देनेवाले सूर्य, चन्द्र, इन्द्र (मेघ), वायु,

अग्नि आदि देवताओं की उपासना में अपने मन को नहीं भरमाते, प्रत्युत सब को भूलकर, अनन्य होकर मुझे ही स्मरण चिन्तन द्वारा अच्छी तरह पूजते रहते हैं उन नित्य मुक्त परमात्मा में लीन रहनेवाले योगाभ्यासियों के योग अर्थात् जो जीवन-निर्वाह और साधनाविषयक वस्तु उन के पास नहीं है वह पहुँचाने का और क्षेम अर्थात् उन पहुँचाई हुई वस्तुओं की रक्षा का भार मैं लिये रहता हूँ। तात्पर्य यह कि अपने अनन्य भक्तों के जीवननिर्वाह और परमपदप्राप्ति में उपस्थित होनेवाली बाधाओं को दूरकर स्वयं मैं उन के भरण पोषण और मोक्ष के उपाय में लगा रहता हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् की गीता में कथित यही वह आश्वासन-वाणी है जिसे बहुत से विद्वान् गीता का हृदय, सर्वस्व, सार, निचोड कहकर उस के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति समर्पित करते हैं। इस में यावज्जीवमात्र को यह व्यापक शिक्षा दी गई है कि सब को अनन्य (दूसरे का नहीं, एकमात्र प्रभु का) होकर एक समान भगवान् को चिन्तन, मनन, स्मरण, वन्दन के रूप में अपनी श्रद्धा भक्ति समर्पित करने का अधिकार प्राप्त है। अनन्य भावाभियुक्त होने का एक अर्थ है सर्वत्र चराचर जगत् में केवल भगवान् को ही देखते रहना और दूसरा अर्थ है समस्त संसार (और उस के प्रपञ्च) को उन्हीं में भूलकर उन का ही हो जाना। इन दोनों अर्थों के पूर्ण अनुरूप जिस भक्त का आचरण हो जाता है उसी के योगक्षेम का वहन भगवान् करते हैं, उसी की आवश्यकता (लौकिक पारलौकिक दोनों) की पूर्ति और उस की सुरक्षा के फेर में भगवान् विवश होकर लगे रहते हैं। प्रकृति से परे रहनेवाले भगवान् को भी हठात् अपने अनन्य भक्त की भुक्ति मुक्ति की चिन्ता रखने की प्रकृति धारण करनी पड़ती है। योगक्षेम पद से लौकिक पारलौकिक दोनों प्रकार के उत्कर्ष का यहाँ इसी लिए ग्रहण किया जाता है कि यदि जीव को लौकिक उत्कर्ष अर्थात् भोजन वस्त्रादि की निश्चिन्तता नहीं प्राप्त रहेगी, तो 'भूखे भजन न होहिं गोपाला' के अनुसार अनन्यता आनी ही कठिन है और यदि पारलौकिक उत्कर्ष अर्थात् परमपदप्राप्ति का पूर्ण निश्चय न रहा, तो अनन्यता की सार्थकता ही क्या रहेगी। बहुत लोगों का यह जो खयाल रहता है कि योगियों को खाने पीने, ओढ़ने बिछौने की जरूरत ही नहीं पड़नी चाहिए वह गलत है। खाना न मिलने से शरीर का संसार में अस्तित्व नहीं रह सकता और कपड़ा न मिलने से (अथवा लता पत्रादि किसी भी प्रकार का शरीर ढकने का उपाय न होने से) शरीर का स्वस्थ रहना असम्भव है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भगवान् द्वारा योगक्षेम के वहन, भोजन वस्त्र की बेफिक्री मिलने का यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि राजा महाराजाओं की तरह खूब स्वादिष्ट और चटक मटक चीजें ठूँस ठूँसकर खाने तथा उन्हें पचाने के लिए अनेकानेक पाचकों का सेवन करते रहने पर भी भगवान् का अनन्य भक्त बना जा सकता है।

भगवान् से भरण पोषण पाकर भी परिमित भोजन आच्छादन—आहार विहार—का ही अभ्यास रखना पड़ेगा और तभी अनन्य भक्ति तथा उस से मिलनेवाली फलप्राप्ति हो सकती है, जैसा कि भगवान् ने—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

कहकर पहले (अध्याय ६, श्लोक १७ में) ही अपने निष्काम कर्मयोगी अनन्य भक्त का आचरणीय मार्ग निर्दिष्ट कर दिया है। इस से दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं—भूखा नंगा रहकर मन को स्थिर रखना नहीं बन सकता, अतः भोजन वस्त्र का उपयोग करना आवश्यक है और ज्यादा खा लेने से भी उसी प्रकार की हानियाँ होने लगेंगी, अतः परिमित उपयोग करना और अधिक जरूरी है। इस श्लोक पर दृष्टान्त देकर इस का विवेचन यहाँ करना अनावश्यक है, क्योंकि इस के अभिप्राय से मिलती हुई कई कथाएँ इस के पहले कही जा चुकी हैं। और गीतापण्डा की कथा तो साक्षात् इसी श्लोक का आधार ही रखती है (जो गीतागौरवाङ्क द्वितीय भाग, अ० ७, श्लो० १६, पृ० ४२६—४३२ पर विस्तार सहित लिखी जा चुकी है)। इस लिए भगवान् की अनन्यरूप भक्ति का आश्रयण करनेवाले निष्काम भक्त को अपने खाने पीने आदि किसी भी विषय की चिन्ता न करके सर्वत्र प्रभु की झाँकी करते हुए उन्हीं के चिन्तन में लीन रहना चाहिए और दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि परमात्मा स्वयं सब के पालन पोषण का भार अपने ऊपर लिए हुए हैं, फिर मैं उन की अनन्य उपासना छोड़कर अन्य प्रपञ्चों में क्यों पड़ूँ ? अस्तु;

इसी अभिप्राय से अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो निष्काम भक्त अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करते हुए सब प्रकार से मेरी ही उपासना करते रहते हैं, अपने में निरन्तर लगे रहनेवाले उन परमार्थ ज्ञानियों का योगक्षेम मैं स्वयं चलाता हूँ।

इस पर अर्जुन ने पूछा—हे प्रभो, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो लोग अनन्यभाव से आप की उपासना नहीं करते, और और देवताओं की सेवा भक्ति में लगे रहते हैं, वे उन उन देवताओं से ही अपनी कामनापूर्ति क्यों नहीं करा लेते ? आप ही निष्काम भक्तों के योगक्षेम और सकाम भक्तों के स्वर्गादि सुख प्राप्त कराने का भार क्यों लिये रहते हैं ? और अगर यही बात है कि सब देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब असत् प्राणी और पदार्थ आप के ही रूप हैं, तो उन की इस प्रकार की उपासना से प्रसन्न होकर उन्हें भी आप मुक्ति ही क्यों नहीं दे देते, वे आवागमन में क्यों पड़े रहने दिये जाते हैं ? उन के यज्ञ और उपासनाजन्य पुण्यभोग की एक निश्चित अवधि क्यों बना देते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—अर्जुन, ऐसा करने का एक प्रधान कारण है। बात ऐसी है कि—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

जो कोई भी श्रद्धा सहित अन्य देवताओं के भक्त होकर (उन का) पूजन करते हैं वे भी विधिहीनता के साथ हे कौन्तेय, मुझे ही पूजते हैं; क्योंकि समस्त यज्ञों का भोगनेवाला और स्वामी भी मैं ही हूँ। किंतु वे (देवपूजक) तत्त्व सहित, भली भाँति मुझे नहीं जानते हैं, इस लिए गिरते हैं।

गो० गौ०—हे अर्जुन, यह तो मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि समस्त चराचर जगत् मेरा ही रूप है और मैं ही उस का उपभोग करनेवाला असली मालिक हूँ। इस लिए अज्ञानवश कामनाओं की वारंवार पूर्ति के लिए श्रद्धायुक्त होकर अनेकानेक देवी देवताओं का जो लोग यजन पूजन करते हैं वे भी अविधि—उलटी रीति—से मेरा ही यजन पूजन करते हैं। फिर भी वे मुझ को प्राप्त करके मुक्त नहीं होते, पुनः पुनः संसारसागर में गिरते ही रहते हैं, इस का कारण यही है कि वे मुझे इस तरह की तात्त्विक दृष्टि से नहीं देखते जिस से उन्हें मेरे सर्वव्यापक रूप का ज्ञान हो। तात्पर्य यह कि वे दूसरे देवताओं के भक्त मेरी पूजा करते हुए भी अपने को दूसरे का भक्त समझते हैं, अपनी इष्टप्रतिमा में मेरा रहना उन्हें नहीं मालूम रहता, इसी से उन का पतन होता है। अपने इष्ट देवलोक को प्राप्त होकर वे पुनः पुनः जन्म और मृत्यु की दुर्दशा भोगते रहते हैं।

क० म०—प्यारे मित्रो, कुछ देर के लिए इस शरीर को संपूर्ण अवयवों—मस्तक मुख, उदर, बाहु, चरण आदि-के साथ सृष्टिस्थानीय—विश्वप्रपञ्च, उत्तम मध्यम देवता, ऋषि, मनुष्य आदि आदि—मान लो और इस में विराजमान आत्मा को इस (शरीररूपा सृष्टि) का भोक्ता और प्रभु। इस के बाद विचारपूर्वक देखो कि अन्य देवताओं-मस्तक, मुख, उदर आदि को प्राप्त होनेवाली किसी वस्तु से आत्मा को कितनी प्रसन्नता होती है और सीधे आत्मा को

मिली हुई वस्तु से कितनी ? स्पष्ट बात है कि मस्तक पर सुगन्धित तेल अथवा उत्तमोत्तम कीमती साफा या टोपी आदि रखने पर मस्तक की पीड़ा दूर होगी, उस की शोभा बढ़ेगी जिस से मस्तक स्वभावतः प्रसन्न और आनन्दित होगा तथा आत्मा उस मस्तकरूप देवता का प्रभु है, इस लिए मस्तक की प्रसन्नता से उसे भी प्रसन्नता होगी ही, पर इस से भी अधिक सुस्पष्ट बात यह है कि किसी विषय के उत्तम ज्ञान से जो एकमात्र आत्मा को ही प्राप्त होनेवाला विषय (अथवा वस्तु) है, आत्मा को जैसा आनन्दानुभव होगा वैसा मस्तक द्वारा मिली हुई प्रसन्नता से कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि किसी राज्य के प्रबन्ध को ठीक ठीक चलाने के लिए राजा के अतिरिक्त और भी बहुत से अधिकारी—कमिश्नर, कलेक्टर, तहसीलदार, थानेदार आदि की भी सत्ता आवश्यक होती ही है और सर्वसाधारण प्रजा को उन की सेवा शुश्रूषा करके अपना अपना काम भी चलाना ही पड़ता है, किंतु प्रजा में बहुत से लोग ऐसे दर्जे के भी होते हैं जिन का काम सीधे राजा से ही संबन्ध रखने पर सिद्ध होता है। इसी प्रकार इस सृष्टिरूपी राज्य में रहनेवाली प्रजा (प्राणिसमूह) को अपने अपने कार्य के अनुसार सृष्टिराज्य के अधिकारी सूर्य (कमिश्नर) और इन्द्र (कलेक्टर) आदि को प्रसन्न करना ही पड़ता है। यद्यपि कमिश्नर कलेक्टर अथवा सूर्य इन्द्र अपने आश्रय राजा या परमात्मा के बनाये नियम के अनुसार ही अपने खैरख्वाह और भक्त की इच्छा पूरी करते हैं, तथापि खैरख्वाह और भक्त की पहुँच तो इन्हीं तक होती है, इस लिए वे अपना सब कुछ इन्हीं को समझते हैं। परंतु उत्तम श्रेणी के खैरख्वाह नागरिक 'सर', 'नाइट', 'राय बहादुर' और भक्त ज्ञानी महात्मा आदि कमिश्नर, कलेक्टर, सूर्य, इन्द्र को अपने से बड़ा नहीं स्वीकार करते और इसी लिए वे लोग सीधे राजा अथवा गवर्नर तथा परमात्मा से ही अपना संबन्ध जोड़ते हैं।

यह प्रणाली बुरी है, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे जितनी शक्ति रहती है वह उतना ही भार उठा सकता है और उसी परिमाण में वस्तुसंग्रह कर सकता है। इस लिए अपनी अपनी पहुँच के अनुसार जो जिसे खुश कर पाता है उसे खुश करता है और अपना अभीष्ट साधता है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जिसे जितनी शक्ति मिली हुई है उतने में ही संतोष कर लेना, अधिक शक्ति बढ़ाकर ऊँचे दर्जे पर न पहुँचना अर्थात् सीधे राजा तथा परमात्मा के यहाँ पहुँचने की चेष्टा न करना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। कारण, जब कि परमात्मा ने सब को एक समान बुद्धिवैभव देकर उत्पन्न किया है और सब को यह मौका दे दिया है कि जो जहाँ तक कर सके, उत्तम स्थान पर पहुँचने की कोशिश कर सकता है; ऐसी दशा में बुद्धि का तगाज़ा ही यह है कि तुम सामर्थ्य भर उच्च से उच्च उपाधि, पद, स्थान आदि प्राप्त करने का प्रयत्न करो। इसी बात को थोड़े में यों समझ सकते हो कि

जिस प्रकार कोई निम्नश्रेणी का गरीब मनुष्य यह जानते हुए भी कि मैं लाट साहब से भेंट करने की *योग्यता नहीं रखता,* अगर कभी इस इच्छा के वशीभूत हो जाता है कि मैं उन से भेंट करूँगा ही, तो वह उस के लिए सतत उद्योग करता है और प्रयत्नपूर्वक पढ़ लिखकर ऊँची योग्यता प्राप्त करने के बाद उन से एक न एक दिन भेंट करने के योग्य हो ही जाता है उसी प्रकार मनुष्यमात्र को यह जानते हुए भी कि परमात्मा से मिलना साधारण बात नहीं है, उन से मिलने की योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा में अनवरत लगे रहना चाहिए और छोटे मोटे फल देनेवाले साधारण देवताओं की पूजा भक्ति के फेर में पड़ने से अपने को बचाकर वहाँ (परमात्मा के यहाँ) तक पहुँचकर ही दम लेना चाहिए। कारण, छोटे देवता उतनी शक्ति नहीं रखते जिस से वे किसी को मोक्ष जैसा अक्षय पदार्थ दे सकें। कमिश्नर कलेक्टर किसी *पर कितना भी प्रसन्न क्यों न हो, पर यह उन की शक्ति के बाहर की बात है कि वे किसी को* अपने ही समान (कमिश्नर या कलेक्टर) बना दें। हाँ, गवर्नर या लाट साहब अवश्य किसी पर प्रसन्न होकर उसे अपने समान बना सकते हैं। इसी प्रकार सूर्यादि देवता अपने भक्त को अपनी बराबरी का दर्जा नहीं दे सकते, ऐसा करना उन के सामर्थ्य के परे है। परंतु परमात्मा यदि प्रसन्न हो जायँ, तो वे अवश्य अपने भक्त को सब कुछ, अपना स्थान (परमात्मपद) तक दे सकते हैं। किंतु जिस तरह लाट साहब से मुलाकात करने में अधिक उद्योग, अधिक योग्यता और अधिक स्थिरता तथा सहनशीलता सहित परिश्रम की जरूरत पड़ती है और उन के राज्य के अधिकारी कमिश्नर आदि से मिलने में उस की अपेक्षा बहुत कम उसी तरह परमात्मा के पास स्वयं पहुँचने अथवा अपनी प्रार्थना पहुँचाने में अधिक धैर्य आदि अत्यन्त आवश्यक हैं। इसी लिए साधारण श्रेणी के लोग उतनी ऊँचाई तक पहुँचने का ख्याल छोड़कर छोटे दर्जे के लोगों (अधिकारी और अन्य देवता) से ही अपना काम निकालने में लगे रह जाते हैं। उस उच्च स्थान की वास्तविकता तक जानने का साहस नहीं करते, फिर वहाँ तक जाने के बदले नीचे गिरें, तो इस में आश्चर्य ही क्या है? अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, भक्ति और श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओं की उपासना करनेवाले भी बिना विधि के मेरा ही पूजन करते हैं, क्योंकि सब प्रकार के यज्ञों का भोक्ता और प्रभु मैं ही हूँ, किंतु इन बातों के साथ वे वास्तविक रूप से मुझे नहीं जानते, इसी लिए नीचे गिरते और बार बार जन्म मरण प्राप्त करते हैं।

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—अच्छा महाराज, संसार में मनुष्यों ने अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने पूज्य तो अनेक प्रकार के कल्पित कर लिये हैं। यह [illegible] तो संसार में रह नहीं गया है कि लोग आप को या आप से अधिकार प्राप्त करके [illegible] में हाथ बटानेवाले देवताओं (सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वायु [illegible] ब्रह्मा कुबेर [illegible] अपनी

उपासना अर्पित करें। यहाँ तो देवता, ऋषि, पितर, यक्ष, नाग, भूत, प्रेत आदि तरह तरह के पूज्यों की कल्पना कर लोगों ने उन्हें शीघ्र फलसिद्धि देनेवाला प्रसिद्ध कर रखा है और उन्हीं की पूजा अर्चा में अपने जीवन को समर्पित कर दिया है। इस लिए मैं जानना चाहता हूँ कि उन विधिहीन पूजा करनेवाले पुजारियों की अन्त में क्या गति होती है ? क्या उन उपासकों को भी कभी आप के परमोत्तम धाम में जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं अर्जुन, यह विपरीत बात भला किस तरह हो सकती है। मेरी बनाई हुई सृष्टि में सब काम उसी रीति से होते हैं जैसा कि पहले से नियम बना दिया गया है और सब तरह के उपासकों के लिए उन उन की भक्ति के अनुसार नियम यही है कि—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं की पूजा करनेवाले देवताओं के पास जाते हैं, पितरों की पूजा करनेवाले पितरों के पास जाते हैं, भूतों की पूजा करनेवाले भूतों के पास जाते हैं और मेरी पूजा करनेवाले मेरे (ही) पास जाते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, देवताओं को निमित्त बनाकर व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, तप आदि का विधि विधान सहित पालन करनेवाले मनुष्य देवलोक में जाते हैं, पितरों के उद्देश्य से ये कर्म करनेवाले पितरों के लोक में जाते हैं, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदि की पूजा करनेवाले भूत प्रेतादिक के लोक में जाते हैं और मेरी भक्ति में मन लगाकर मेरे निमित्त उत्तमोत्तम धार्मिक कृत्य करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरे लोक में आकर मेरा सान्निध्य (निकटवास) प्राप्त करते हैं।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, इस पूरे श्लोक का भाव यदि एक ही वाक्य में कहना हो और वह भी किसी महान् कवि या महात्मा के शब्दों में, तो जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा ही है, वह यही होगा कि—

'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥'

इस लोक में भावना ही प्रधान होती है। प्रत्येक प्राणी अपनी भावना के अनुसार ही सिद्धि असिद्धि, सुगति दुर्गति, संपत्ति विपत्ति सब कुछ प्राप्त करता है। इसी बात को 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति·········॥' आदि वाक्यों द्वारा कहकर भगवान् ने पहले भी अर्जुन को सतर्क कर दिया है कि तू अगर अच्छी गति चाहता है, तो अच्छी भावनावाला बन। अच्छी भावनाएँ बहुत सी हो सकती हैं, पर वास्तविक अच्छाई तो

वही भावना प्राप्त कर सकती है जो सब के ऊपर अच्छी हो। और वह परमात्मभावना के अतिरिक्त दूसरी भावना हो नहीं सकती। परमात्मा ही सब से उत्तम गति हैं, यह बात स्वयं सिद्ध है। इस लिए परमात्मा से जुड़ी हुई भावना ही उत्तम भावना है, इस में सन्देह नहीं। देवता, ऋषि, पितर, किन्नर, गन्धर्व आदि जितने अलौकिक शक्तिसंपन्न पूजनीय वर्ग हैं वे सभी उस परम अलौकिक और परम पूज्य परमात्मा की पूजा में अपनी अपनी सत्ता तक खोकर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करते रहते हैं। परन्तु परमात्मा के परे कोई नहीं है जिस की प्राप्ति के लिए वे प्रयत्न करें। परमात्मा को अगर कुछ प्राप्त करने की इच्छा रहती है, तो एकमात्र अपने भक्तों की भक्ति। बस, परमात्मा केवल भक्ति के भूखे हैं। 'भक्तिप्रियो माधवः' भक्ति के प्रेमी भगवान् को ही सब से ऊपर मानकर उन्हें अपनी भक्ति जो नहीं चढ़ाता और तमाम दुनिया भर के देवता और भूत प्रेत को पूजने में लगा रह जाता है उसे उस के कर्म के अनुसार ही फल भी भोगना पड़ता है।

अरे, जब कि तुम किसी की पूजा करने में लगे ही हुए हो, किसी के नाम का जप, किसी की मूर्ति को स्नान, अनुलेप, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सब कुछ समर्पित करना जब तुम्हारे भी नित्यकर्म में विहित है ही, तो तुम्हें तो कुछ विशेष कष्ट भी नहीं उठाना है, तुम तो सहज ही तद्गत हो सकते हो—केवल भावना में परिवर्तन, सर्वदेवमय हरि का अपनी पूजा की चिर अभ्यस्ता देवविशेष की मूर्ति में स्थापनमात्र करके अपनी उसी सदा की पूजा को परमात्मा की पूजा बना सकते हो। ये बातें कोई देव अथवा प्रेतपुजारी न जानता हो, ऐसी बात नहीं है। तब भी वह देव प्रेतादि की भावना को छोड़कर अपने देवता के स्थान पर सब के देवता परमात्मा की प्रतिष्ठा करना क्यों नहीं चाहता? क्यों बड़े बड़े देवताओं के भी देवता महेश्वर की बातों को जानता हुआ भी छोटे छोटे देवताओं का पुजारी बना रहता है? मेरी समझ में तो इस का कारण यही है कि लोभ उस का पिण्ड नहीं छोड़ता या वह लोभ का पिण्ड नहीं छोड़ना चाहता। वह दुनिया के (दुनियावी दृष्टि में) सुखी और विभवयुक्त मनुष्यों को देख देखकर अधिक से अधिक सुखी और वैभवशाली बनने का इतना इच्छुक हुआ रहता है कि उसे सत् असत् की पहचान भी नहीं रह जाती। वह चाहे जैसे बने, केवल मतलब पूरा करना चाहता है। और मतलब का मतलब उस को यही मालूम रहता है कि हम सकुटुम्ब और सपरिवार सुखी रहें, हमें किसी तरह की कमी न हो, हम जो कामना करें वह अवश्य फौरन फलवती हो। इस के लिए उस ने सुन रखा है कि मैं जिस देवता या भूत प्रेत की पूजा करता हूँ वह परमब्रह्म परमात्मा की अपेक्षा अति शीघ्र फल देनेवाला है। फिर वह देर से फल देनेवाले की तरफ क्यों झाँके? उसे परलोक की चिन्ता है नहीं। अगर होती, तो वह समझता न कि यहाँ तुरंत फल देनेवाले वहाँ भी वैसा ही फल देते हैं—कुछ ही समय में

अपने यहाँ से नीचे ठेल देते हैं। और तब वह श्लोक के अन्तिम चरण 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' पर अवश्य ध्यान देता। वह सोचता कि यहाँ पचीस पचास वर्ष (?) तूँ तूँ, मैं मैं का सुख भोगने के बजाय अक्षय सुख (परम पद) पाने में ही जीव की भलाई है। फिर फिर वह यहाँ के झमेलों में आने की लालसा न रखता। यहाँ की असलियत को जान जाता और चाहता कि यहाँ से कहीं ऐसी जगह चला जाऊँ जहाँ से फिर कभी न लौट सकूँ। परंतु ऐसी इच्छा रखनेवाले की तो संसार में इतनी कमी है कि भगवान् ने भी उस तरह के लोगों की अन्त में गिनती करते हुए कहा है कि—

देवताओं के पुजारी देवलोक, पितरों के भक्त पितृलोक, भूतों के दास भूतों का देश और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं।

इस पर अर्जुन ने सोचा कि जिस प्रकार देवताओं की पूजा में उन के छोटे बड़े पद के हिसाब से थोड़ा और प्रचुर धन खर्च होता है, सोना, चाँदी, मणि, माणिक्य, बहुमूल्य वस्त्र, अलंकार की ढेरी और अन्न का पर्वत एकत्रित करना पड़ता है उसी हिसाब से अगर भगवान् की पूजा में भी जुटाना पड़े तब तो संसार में मनुष्यनामधारी शायद ही कोई पूरी विधि का पालन कर सके! हाँ, इन्द्र आदि देवता संभवतः कर सकें, तो कर सकें? इस लिए उस ने कुछ चिन्तायुक्त होकर भगवान् से पूछा—प्रभो, आप की पूजा में धन कितना खर्च होता है?

भगवान् अर्जुन के हृदय का भाव समझ गये। उन्होंने मुस्कुराकर कहा—अर्जुन, मेरी पूजा में धन नहीं खर्च होता। मेरा तो यह स्वभाव है कि—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो मुझे भक्ति सहित पत्ता, फूल, फल, पानी प्रदान करता है उस विशुद्ध अन्तःकरणवाले का भक्तिपूर्वक समर्पित वह (पत्ता फूल आदि भी) मैं ग्रहण करता हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मेरी उपासना द्रव्यसाध्य नहीं, किंतु भक्तिसाध्य है। मैं भक्ति का प्रेमी हूँ। शुद्ध बुद्धिवाला, प्रपञ्चरहित, निष्कपट जो कोई भक्त भक्ति-रस में लपेटा हुआ पत्ता, फूल, फल और पानी आदि जो कुछ भी मुझे अर्पित कर देता है, मेरी सगुण प्रतिमा के सामने लाकर रख देता है, उस साकाररूप में पूजनेवाले भक्त का भक्ति के साथ दिया हुआ वह पत्ता आदि सभी कुछ साकार होकर मैं ग्रहण करता और भोग लगाता हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् ने अपनी पूजा को, अपनी प्रसन्नता वितरित करने में उपायभूत साधना की सुगमता को इस कथन द्वारा इतना सुगम बना दिया है कि सुगमता को भी हद हो गई है। मैं तो सचमुच ही इसे किसी छोटी से छोटी वस्तु की प्राप्ति में भी जितने सहज साधन परिश्रम की जरूरत पड़ती होगी उस को भी पराकाष्ठा समझता हूँ। दुनिया में किसी पदार्थ को पाने का इस से सरल उपाय मिलना असंभव है। फिर किसी की प्रसन्नता का इतने ही (केवल पत्ता, फूल, फल, पानी चढ़ाने भर के) परिश्रम से मिलना तो वस्तुतः बहुत ही सस्ता सौदा है, प्रसन्नता से बढ़कर दुर्लभ पदार्थ कुछ है ही नहीं। प्रसन्नता ही प्राणिमात्र के जीवन का सहारा है। मनुष्य स्वयं प्रसन्न रहने और अपने हितैषियों को प्रसन्न बनाये रखने के लिए क्या क्या उपाय नहीं करता है? इस के लिए कितने ही हजारों लाखों रुपये पानी की तरह बहानेवाले आज हमारे सामने भी मौजूद हैं। यह प्रसन्नता भी बाजार के सौदों की तरह तेजी मंदी का भाव रखती है। बालक को प्रसन्न करने के लिए एक पैसे का लड्डू या बतासा काफी होता है। सयाने सगे संबन्धी गहने कपड़े पाकर संतुष्ट होते हैं। अफसर अधिकारी नजर भेंट (गहिरंत नगद नारायण) पाकर मुस्कुराहट व्यक्त करते हैं। देवी देवता बड़े बड़े यज्ञ अनुष्ठान से अनुकूल और ऋजु होते हैं। और मनुष्य अपनी इच्छाओं को अच्छी तरह दबा न सकने के कारण इन सभी तरह के पूज्यों को पूजता और अपना मनोरथ पूरा करता है। परंतु जिन की प्रसन्नता प्राप्त होने के बाद प्रसन्नता का भंडार ही पूरा हो जाता है, जिस प्रसन्नता के प्राप्त हो जाने पर प्रसन्नतापात्र में और किसी की प्रसन्नता पाने की जगह ही नहीं रह जाती उन भगवान् और उन की प्रसन्नता का मिलना कितना सरल, कितना सुगम है, यह देखकर हृदय पुलकित हो जाता है और अनायास मुँह से निकल पड़ता है कि सचमुच ही भगवान् की उलटी रीति है। कहाँ तो संसार की यह प्रणाली कि जो जिस हैसियत का (छोटा बड़ा) देवता रहता है वह उसी के मुताबिक (हलकी गहरी) पूजा की रकम वसूल करता है, और कहाँ भगवान् की यह प्रणाली कि वे जितने ही सब से ऊपर चढ़कर रहनेवाले हैं उतनी ही, सब से नीचे उतरकर बिना दाम कौड़ी की, पत्र पुष्पमात्र की पूजा लेनेवाले हैं। यह बात नहीं है कि संसार में कीमती पत्ते, महँगे फूल फल और बहुमूल्य पानी होते ही नहीं। ये चीजें भी बड़े बड़े दामों की होती हैं। सुनते हैं काशी में मगही नाम के पान का पत्ता कभी कभी दो दो आने का एक एक के भाव से भी महँगा बिक जाता है। बहुत से फूल भी काफी कीमती, होते हैं। फलों में अनार, अंगूर, पिस्ता, बादाम वगैरह सस्ते नहीं बिकते। अनेक प्रकार के बनावटी पौष्टिक अर्क भी पाँच पाँच रुपये बोतल तक बिकते देखे गये हैं। यदि भगवान् की पूजा में इसी प्रकार के पान के पत्ते, पुरानुमा, गुच्छेदार, विलायती, ऊँचे दामवाले फूल, महँगे
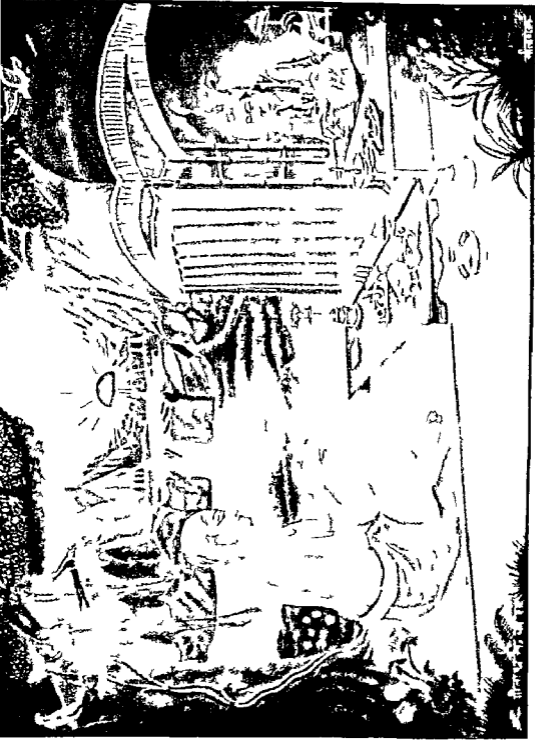
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

मेवे और बोतल का पानी अर्पित करने से भगवान् प्रसन्न होते हो तब कोई कैसे मान सकता है कि भगवान् की पूजा में रुपया पैसा नहीं खर्च होता ? किंतु नहीं; भगवान् की पूजा में सचमुच ही रुपया पैसा नहीं लगता । भगवान् पान नहीं, तुलसी और बेल के पत्तों से प्रसन्न होते हैं, जंगली बेला, चमेली, जूही आदि के सुगन्धित पुष्प उन्हें प्रिय हैं, धतूर, मँदार बेर आदि के बिना मूल्य के फलों को भी भगवान् उतने ही प्रेम और भाव से भोग लगाते हैं जितना कोई बड़ा आदमी पिस्ता बादाम भी चाव से न खाता होगा । बोतल के पानी का भगवान् ने स्वप्न भी नहीं देखा होगा । उन्हें तो गङ्गा यमुना आदि किसी भी नदी अथवा कुँए तालाब वगैरह के शुद्ध जल ही मीठे लगते हैं । यह ठीक है कि आजकल के बहुत से शहरों में तुलसी और बेल के पत्ते तथा धतूर, मँदार, बेर के फल आदि ढूँढने पर भी दिखाई नहीं देते, पर इस के लिए भगवान् क्या करें ? शहरों में नहीं, तो देहातों में तो ये चीजें मारी मारी फिरती हैं; वहीं से लाओ और भगवान् को प्रेमपूर्वक समर्पित करो । उन का मतलब तो सिर्फ बिना मूल्य की वस्तुओं से है । वे वस्तुएँ उन्होंने सर्वत्र उत्पन्न की थीं, पर मनुष्यों ने अपनी सुविधा के लिए नये नये शहरों का निर्माण कर लिया और तुलसी बेल को दूर फेंककर उन के स्थान पर 'लवेंडर' और 'स्वीटपी' जैसी अंग्रेजी लता लहरा दी, तो इस में भगवान् का क्या दोष । मनुष्यों ने उन्हें उखाड़ फेंका है । उन्हें भगवान् की पूजा करनी हो, तो वे जहाँ मिले तहाँ से वे वस्तुएँ ढूँढ लायें ।

निष्कर्ष यह निकला कि शुद्धता और प्रेम, ये ही दो वस्तुएँ भगवान् को प्रिय हैं। शुद्धता से बाहरी भीतरी दोनों प्रकार की शुद्धता लेनी चाहिए । भगवान् को जो वस्तुएँ चढ़ाई जायें वे पवित्र होनी चाहिएँ । तुलसीपत्र में और बिल्वपत्र में मिट्टी न लगी हो, उस पर चिड़ियों ने गदगी न फैला दी हो, फूल किसी के सूँघे हुए न हो, फल जूठे अथवा सड़े गले बासी न हो, पानी में स्पर्शादि दोष या किसी प्रकार की अन्य उच्छिष्टता आदि बुराई न हो । कल का जल भगवान् की पूजा में नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह कृत्रिम उपायों से शुद्ध किया रहता है, और भगवान् को चाहिए नैसर्गिक पवित्रता । यह बाहरी शुद्धि का दिग्दर्शन हुआ । इसी प्रकार भीतरी शुद्धता भी होनी चाहिए । मन में किसी तरह की दुर्भावना, दूषित विचार, इष्टानिष्ट प्रपञ्चपूर्ण राग द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, मन में स्थिरता रखनी आवश्यक है, ऐसी स्थिरता जो पूर्ण प्रेम से भगवान् की पूजा में उपयोगी सिद्ध हो । परन्तु इस बाह्याभ्यन्तरशुद्धि से प्रेम का दर्जा ज्यादा ऊँचा है । प्रारम्भ में यद्यपि दोनों प्रकार की शुद्धता रखे बिना हृदय में ठीक ठीक भगवत्प्रेम का होना असंभव है, इस लिए शुद्धता को पहला दर्जा भी मिला ही हुआ है, फिर भी बहुत से दृष्टान्त ऐसे भी पाये जाते हैं जिन से सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रेम हो जाने पर शुद्धता गौण हो जाती है, प्रेम ही प्रधान पद प्राप्त कर लेता है ।

शबरी के बेर, विदुर की स्त्री के केले के छिलके, द्रौपदी की बटलोही का तिनका भर साग, सुदामा की स्त्री के चावलों की खुद्दी आदि उस प्रेम के भूखे (भगवान्) की प्रेमासक्ति के पर्याप्त प्रमाण हैं। ये सभी कथाएँ विस्तार सहित पहले (प्रथम द्वितीय भाग में) कही जा चुकी हैं। इस लिए यहाँ प्रसंगविशेष भर का उल्लेख कर दिया जाता है।

भगवान् राम चौदह वर्ष के वनवास में घूमते हुए एक दिन शबरी नाम की एक भील जाति की स्त्री के घर के समीप पहुँच गये। वह थी तो जंगली स्त्री, पर पूर्व पुण्य के कारण भगवान् में उस की अगाध भक्ति थी। भगवान् के आगमन से वह पुलकित हो उठी और प्रेम सहित भगवान् की पूजा करने लगी। जब नैवेद्य चढ़ाने का समय आया, तो उस ने जंगल से इकट्ठे किये हुए बेर के फल भगवान् के पास ला रखे और एक एक फल चख चखकर कि कहीं कोई फल खट्टा न भगवान् के मुँह में चला जाय, प्रेमभाव से भगवान् को खिलाने लगी। प्रेम के भूखे भगवान् ने देखा भी नहीं कि वह कैसे फल खिला रही है और प्रसन्न चित्त से दनादन बेर खाने लगे। यही प्रेम की सत्यता और उस की भूख की प्रबलता है। आदमी अपने सगे संबन्धी का भी जूठा खाने में हिचकता है, पर प्रिय भगवान् अपने प्रेमी के जूठे पर ध्यान तक नहीं देते, न यही देखते हैं कि जूठा खिलानेवाला किस जाति या वर्ण का है।

विदुर की स्त्री ने प्रेममग्न होकर इतना भी नहीं देखा कि मैं खाद्य वस्तु (केले की गूदी) तो फेंके देती हूँ और अखाद्य वस्तु (केले के छिलके) भगवान् को खिला रही हूँ। इतना ही नहीं; वह प्रेम के—अनन्य भक्ति के—भावावेश में इस तरह अपना सुध बुध खो चुकी थी कि उसे अपने शरीर के आवरण, जो स्त्रियों की लज्जारक्षा का एकमात्र अवलम्ब है, का भी ध्यान नहीं रह गया था। वह नंगे बदन भगवान् के सामने बैठकर उन्हें प्रेमपूत केले के छिलके खिला रही थी और भगवान् पवित्र प्रेम में मुग्ध होकर उसी में अमृतरस से बढ़कर रस पा रहे थे। यह बात भी नहीं थी कि भगवान् दो चार दिन के भूखे रहे हों और कहीं कोई स्वादिष्ट भोजनपदार्थ न मिलने के कारण वैसी वस्तु खा रहे थे। भगवान् दुर्योधन के निमन्त्रण को अस्वीकार कर विदुरपत्नी के घर बिना बुलाये ही चले गये थे। यह उसी प्रसंग की बात है जब पाण्डव की ओर से दूत बनकर कौरवदर्बार में संधिप्रस्ताव पहुँचाने भगवान् गये थे। वहाँ दुर्योधन ने भगवान् के स्वागत की बड़ी विस्तृत तैयारी कर रखी थी (जिस का पूरा वर्णन पहले भाग में किया जा चुका है)। दुर्योधन बाहरी आडम्बर दिखलाकर अत्यन्त सेवा सत्कार करने का ढोंग रचकर भगवान् को अपनी ओर मिलाने की दुराशा में पड़ा हुआ था, पर भगवान् ने उस के राजसी भोजन का परित्याग कर दिया और विदुर के घर की साग भाजी को अपने मन से जाकर ग्रहण किया। कहा जाता है कि भगवान् जब दुर्योधन के स्वागत को ठुकराकर विदुर के घर पहुँचे और उस के दरवाजे की साँकल खटखटाई उस

समय विदुर की पत्नी वस्त्ररहित होकर स्नान कर रही थी, इस लिए साँकल की आवाज सुनकर उस ने भीतर से ही पूछा—कौन दरवाजा खटखटा रहा है ?

भगवान् ने कहा—मैं हूँ, जिसे तूँ अभी अभी हृदय से स्मरण करती हुई अपने घर बुला रही थी।

उस ने कहा—मैं तो गोविन्द भगवान् को याद कर रही थी, क्या तुम भगवान् हो ?

भगवान् ने कहा—हाँ, मैं वही हूँ। क्या और भी कोई प्रमाण देना पड़ेगा ?

अब भला विदुर की पत्नी को इतना होश कहाँ कि वह भगवान् से उत्तर प्रत्युत्तर करे अथवा यह सोचे कि मैं नंगी हूँ और इस हालत में एक पुरुष के सामने आना लज्जा की बात है ! वह भगवान् का आना जानते ही अपनापा खो बैठी, वैसी नंगी ही दौड़कर दरवाजे के पास चली गई और साँकल हटा, किवाड़े खोल, सीधे भगवान् के पैरों पर गिर पड़ी।

भगवान् ने कहा—अरे, तूँ बिना कपड़ा पहने ही एक पुरुष के सामने चली आई ?

उस ने कहा—आप आये ही ऐसे समय पर और उस पर भी किवाड़े पीट पीटकर जल्दी मचाने लगे, तो मैं क्या करूँ ? और आप तो सर्वदा यही घोषणा किया करते हैं कि—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।'

इस लिए मैं आप को पिता के स्थान पर मानकर पुत्री के रूप में निर्भीक भाव से आप के सामने आ गई, तो क्या मैं ने कुछ अनुचित किया ?

भगवान् ने कहा—नहीं, नहीं; ऐसी बात होती, तो मैं यहाँ खिंचकर आता ही कैसे ? दुर्योधन की सारी बहुमूल्य सत्कारसामग्री और राजसी निमन्त्रण छोड़कर मैं तेरे यहाँ तेरी परम अनन्य भक्ति के वश से ही चला आया हूँ। मेरे भक्त और उन के सब कुछ मुझ भगवान् के बीच में उचित अनुचित की तब कोई चर्चा भी नहीं रह जाती जब दोनों ओर से अनन्यता की दृढ़ डोरी जकड़ जाती है। अच्छा, कुछ हो तो मुझे जल्दी भोजन करा, मैं बहुत देर से भूखा हूँ।

विदुर की पत्नी ने कहा—धन्य मेरे भाग्य ! वह दौड़ी हुई जाकर घर में से केले उठा लाई। उस समय प्रेमविभोर होकर बाह्यज्ञान से भी वह शून्य हो चुकी थी। इस लिए केले की गूदी फेंक फेंककर छिलके भगवान् को खिलाने लगी और भगवान् भी भक्त की भावना के साथ एकाकार होकर उन छिलकों में ही अपूर्व रस का आस्वादन करते हुए अपनी (भक्तिरूप) भूख मिटाने लगे।

इसी समय विदुर भी कहीं से आ पहुँचे। उन्होंने अपनी पत्नी की मूर्खता देखी, तो उसे झिड़कते हुए कहा—अरी पगली, यह क्या कर रही है ? और उस के हाथ से कुछ केले छीनकर स्वयं भगवान् को भोजन कराने बैठ गये। उन की दी हुई केले की गूदी भगवान् ने

खा तो डाली, पर साथ ही कहा भी कि विदुर, जो मिठास तुम्हारी पत्नी के हाथ से मिले हुए छिलकों में है वह तुम्हारे विधिवत् दिये हुए भोज्य पदार्थ (गूदी) में नहीं है ।

विदुर ने पूछा—भगवन्, ऐसा क्यों ? संसार तो सदा से छिलकों को ही नीरस समझता आया है ?

भगवान् ने कहा—संसार भाव का भूखा होता, तो वसे छिलकों का रस अवश्य मालूम रहता, किंतु वह तो स्थूल पदार्थों को ही देखता और जानता है, सूक्ष्म पदार्थ हार्दिक भक्ति भाव की बातें वह क्या जाने ? परंतु मैं सूक्ष्मदर्शी तुम्हारी स्त्री के हृदय के भावों का अमृतरस ग्रहण करने आया हूँ। इस लिए उस के हाथ से मिले हुए छिलकों में उस के हृदय के भाव का पुट मिला देख रहा हूँ और मुझे उसी में अपूर्व रस मिल रहा है ।

मित्रो, यही भक्ति है और इसी का नाम है प्रयत्न के साथ अपनी आत्मा को परमात्मा में मिलाकर पत्र, पुष्प, फल, जल आदि नैवेद्य अर्पण करना । विदुर की पत्नी केवल भगवान् का भूख मिटाना चाहती थी, उस के हृदय में भगवान् को जिस भक्ति का निवास था उसी दृष्टिकोण से वह भगवान् के सत्कार में लगी हुई थी । इसी लिए भगवान् को खिलाते समय वह केले की गूदी और छिलके का भेद भूल गई; यहाँ तक कि विदुर के कहने पर भी वह अपनी भूल नहीं समझ सकी और न गूदे छिलके में भेद कर सकी ।

तीसरा उदाहरण द्रौपदी का है । यह कथा भी विस्तार सहित पहले कही जा चुकी है । अतः यहाँ इतना ही कहना है कि भक्ति सहित पुकारकर अपनी इज्जत बचाने की प्रार्थना करनेवाली द्रौपदी ने भगवान् के सामने खाली बटलोही लाकर रख दिया और उस में से साग का एक टुकड़ा खाकर भगवान् ने डकार दिया जिस से दुर्वासा ऋषि और उन के दस हजार शिष्यों का पेट बिना खाये ही भर गया ।

संक्षेप में यहाँ यह कथा इतनी ही कहनी है कि शर्त में बँधे हुए पाण्डव वनवास के भयंकर दुःख झेल रहे थे, तो भी राजमहल में बैठकर सुख ही सुख भोगता रहनेवाला दुर्योधन और उस की मण्डली के दुष्ट सदस्य दिन रात यही विचार करते रहते कि पाण्डवों को अधिक से अधिक कष्ट किस प्रकार पहुँचाया जाय । दुर्वासा ऋषि की सहज कोपन प्रकृति सर्वविदित थी । कौरव भी इस बात को जानते थे । इस लिए यही उपाय स्थिर हुआ कि पहले दुर्वासा को किसी तरह अपने ऊपर प्रसन्न किया जाय । आखिर एक दिन संयोग से दुर्वासा ऋषि अपने आप दुर्योधन के दर्बार में आ पहुँचे । उस ने उन का अपूर्व आतिथ्य किया जिस से वे संतुष्ट होकर उसे वरदान तक देने को तैयार हो गये । तब सर्वसंमति से दुर्योधन ने यह वर माँगा कि आप अपने दस हजार शिष्यों सहित एक दिन वनवासी पाण्डवों के यहाँ ऐसे समय जाइए जब द्रौपदी भी भोजन से निवृत्त हो चुकी हो । साधु दुर्वासा दुर्योधन की खलता नहीं

शबरी के बेर — શબરીનાં બોર

विदुरपत्नी के केले के छिलके — વિદુરપત્નિનાં કેળાનાં છાલાં.
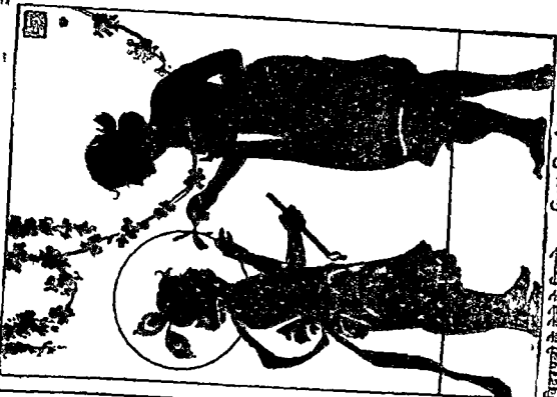
समझ सके और उस की प्रार्थना स्वीकार कर ली। दुर्योधन जानता था कि सूर्य ने द्रौपदी को एक ऐसी बटलोही दी है जो द्रौपदी के भोजन करने के पहले हजारों लाखों प्राणियों को भोजन कराके भी जैसी की तैसी भरी रहती है और द्रौपदी के भोजन करते ही बिलकुल खाली हो जाती है। फिर जब तक दूसरे दिन भोजन का समय नहीं आ जाता तब तक उस के द्वारा एक आदमी के लिए भी भोजन मिलना असंभव रहता है। इस लिए उस ने दुर्वासा ऋषि से ऐसे समय पर पाण्डवों के यहाँ जाना स्वीकार कराया जब पाण्डव किसी तरह दुर्वासा को खिला पिला न सकें और भूख से क्रोध को प्राप्त दुर्वासा के शाप में जलकर भस्म हो जायँ।

अस्तु; एक दिन दस हजार शिष्यों सहित महर्षि दुर्वासा काम्यक वन में युधिष्ठिर की कुटिया पर जा पहुँचे। युधिष्ठिर इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए और सब भाइयों सहित उठकर उन का स्वागत किया, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय आदि से इन्हें सत्कृत किया और अन्त में भोजन के लिए अनुमति माँगी।

दुर्वासा ने कहा—इस के लिए अनुमति क्या देनी है? अतिथि होने पर यह सब तो स्वीकार करना ही पड़ता है। इस लिए हम लोग स्नान करके लौटने पर सहर्ष भोजन के लिए प्रस्तुत रहेंगे। इतना कहकर सब शिष्यों सहित ऋषि नदीतट पर स्नान करने चले गये। परंतु इधर द्रौपदी ने जब यह समाचार सुना, तो उस का माथा ठनक गया, पर साथ ही उसे इस महाविपत्ति से उद्धार पाने का उपाय भी सूझ गया। वह समझ गई कि बात बात पर शाप देने के लिए तैयार रहनेवाले दुर्वासा मुनि के कोप से प्रिय भ्राता श्री कृष्ण के अतिरिक्त इस समय कोई रक्षा नहीं कर सकता। फिर क्या? वह एकाग्र चित्त से भगवान् को पुकारती हुई कहने लगी कि हे भाई, दुर्योधन की सभा में दुःशासन के हाथ से जिस प्रकार तुम ने मेरी लाज बचाई उसी प्रकार इस समय भी हमारी रक्षा करो। निमन्त्रण पाकर समय पर भोजन न मिलने से दुर्वासा ऋषि अवश्य हम लोगों को शाप देकर भस्म कर डालेंगे। उन को क्रोध न उत्पन्न हो, इस का उपाय अब मेरे हाथ में नहीं है, क्योंकि मैं भोजन कर चुकी, अतः इस बटलोही से आज अब एक दाना भी नहीं निकल सकता। और अतिथियों की संख्या १०००१ दस हजार एक है, इस से तुम सहज ही मेरी आसन्न विपत्ति का ख्याल कर सकते हो। अधिक क्या कहूँ? जैसे बने वैसे मेरी रक्षा करो।

दीनों की पुकार पर निरन्तर कान लगाये रखनेवाले दीनानाथ ने द्रौपदी की कातर प्रार्थना सुनी और दौड़कर द्रौपदी के सामने आ उपस्थित हुए। द्रौपदी की चिन्ता दूर हो गई। उस ने भगवान् के चरणों में मस्तक डाल दिया और रो रोकर अपने ऊपर आई विपत्ति सुनाने लगी।

भगवान् ने कहा—बहिन, तुम्हारी विपत्ति का चक्र तो दैव ने बहुत दिनों से चालू कर रखा है जिस के कारण समय समय पर मुझे भी तुम्हारे लिए घसिटना ही पड़ता है, पर इस

समय मुझे बहुत भूख लगी है । कुछ हो, तो पहले खिलाकर मेरी भूख मिटाओ; फिर तुम्हारी बातें सुनूँगा और उस के प्रतीकार का उपाय सोचूँगा ।

द्रौपदी बिचारी भगवान् की बात सुनकर सन्नाटे में पड़ गई कि अब क्या करूँ ? इन से कैसे कहूँ कि घर में एक दाना भी कुछ नहीं है। परंतु कहे बिना काम भी तो नहीं चल सकता ? और इन से ही लाज करने लगूँगी, तो हृदय की बातें कहूँगी किस से ? उस ने हाथ जोडकर कहा—प्रभो, मैं भोजन कर चुकी, अब तो मेरे पास कुछ नहीं है कि आप की भूख मिटा सकूँ । और इसी भोजन के प्रपञ्च से उत्पन्न होनेवाली विपत्ति से बचने के लिए ही तो मैं ने आप को बुलाया है। उलटे आप भी भोजन ही माँग रहे हैं ।

भगवान् ने कहा—तुम मुझ से परिहास कर रही हो । यह मजा कब हो सकता है कि भाई भूख से व्याकुल होकर भोजन माँगे और बहिन के पास कुछ रहे ही नहीं ?

द्रौपदी ने कहा—नहीं कृष्ण, मैं परिहास नहीं करती, सच कह रही हूँ; अब उस अक्षय पात्र (सूर्य की स्थाली) में कुछ नहीं बचा है, मैं सचमुच भोजन कर चुकी हूँ।

भगवान् ने कहा—मैं ऐसे नहीं मानूँगा, तुम मुझे वह बटलोही लाकर दिखलाओ तब मानूँगा ।

द्रौपदी को आश्चर्य हुआ कि आज भगवान् मेरी बात पर विश्वास क्यों नहीं कर रहे हैं। वह क्या जाने कि भगवान् के मन में क्या है। आखिर लाचार होकर उसे सूर्य की दी हुई बटलोही लाने जाना ही पड़ा । उस ने यह कहते हुए वह अक्षयपात्र भगवान् के सामने लाकर रख दिया कि लो, देख लो अगर तुम्हें मेरी बातों का विश्वास नहीं है तो ।

भगवान् ने आँख गड़ाकर बटलोही के भीतर चारों ओर देख लिया और तब द्रौपदी से कहा—कैसे विश्वास करता ? तुम झूठ तो बोल ही रही थीं कि इस में कुछ नहीं है ! देखो, यह क्या है ?

भगवान् ने हाथ डालकर बटलोही में से एक साग के पत्ते का छोटा सा टुकड़ा बाहर निकाला और द्रौपदी को दिखलाने के बाद उसे अपने मुँह में डालते हुए कहा—इतने भोजन से तो तीनों लोक अघा जायगा । इस साग के पत्ते को क्या तुम कम समझ रही हो ?

द्रौपदी भगवान् की बात का मर्म तो समझ नहीं रही थी । उस ने 'हाँ हाँ' करके भगवान् का हाथ पकड़ना चाहा और कहा कि आज तुम कैसे खिलाड़ी हो गये हो ? यह क्या लड़कपन कर रहे हो ?

भगवान् ने कहा—मैं सचमुच ही आज विचित्र खिलाड़ी हो गया हूँ। इसी लिए तो मैं चाहता हूँ मेरे इस लड़कपन से सारे संसार की आत्मा और सब यज्ञों के भोक्ता भगवान् पूर्ण तृप्त हों ।

भगवान् के इस आखिरी वचन से द्रौपदी को वन की लीला का कुछ कुछ आभास मिल गया और जब तुरंत ही भगवान् ने सब से छोटे पाण्डव (सहदेव) से कहा कि तुम शीघ्र जाकर ऋषि को शिष्यों सहित भोजन के लिए बुला लाओ, तब तो वह अच्छी तरह समझ गई कि सारे संसार की आत्मा और परमात्मा के तृप्त करने का क्या अभिप्राय है। सहदेव जब उठकर जाने लगे, तो भगवान् ने एक गिलास पानी पीकर एक ऊँची डकार भी ले ली। इस से द्रौपदी का रहा सहा संदेह भी दूर हो गया अर्थात् उसे यह मालूम हो गया कि भगवान् ने इस प्रकार अपना पेट भरकर दुर्वासा और उन के दस हजार शिष्यों की भूख मिटा दी इतना ही नहीं, बल्कि उन लोगों का पेट पूरमपूर भर भी दिया।

बात हुई भी ऐसी ही। इधर ज्यों ही भगवान् ने डकार ली त्यों ही उधर नदीकिनारे संध्या करते हुए ऋषिशिष्यों को अपना पेट गले तक भरा मालूम होने लगा जिस से व्यग्र होकर वे बाहर से हवा खींच खींच पेट में भरने और डकार ले लेकर दुर्वासा ऋषि से कहने लगे—गुरुजी, आज तो न जाने क्यों हम लोगों को एक साथ ही अजीर्णरोग हो गया ? कुछ समझ में नहीं आता कि युधिष्ठिर का निमन्त्रण कैसे पूरा किया जायगा ?

दुर्वासा ने कहा—मेरी भी वही दशा हुई है। इस लिए विचार करने पर मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहा हूँ कि अब यहाँ से भाग चलने में ही हम लोगों का कुशल है। मैं ने पहले नहीं समझा था कि दुर्योधन के मन में इतना कलुष भर गया है। वह अवश्य बड़ा भारी पापी है और अपने पापों के फलस्वरूप अवश्य ही उस का सर्वनाश होनेवाला है। अन्यथा वह युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा के साथ स्वयं विरोध करके हम साधु संन्यासियों को भी उसी मार्ग में घसीटने का प्रयत्न क्यों करता ? अपनी बुद्धि को मैं क्या कहूँ कि पहले उस के दुर्भाव का ज्ञान नहीं कर सका। श्री कृष्ण की महिमा को मैं भली भाँति जानता हूँ, उन के साथ दो एक बार उलझकर मैं बहुत झंझट भी उठा चुका हूँ। इस समय वे ही कृष्ण सब तरह से पाण्डवों की रक्षा कर रहे हैं। ऐसी दशा में किस की शक्ति है कि पाण्डवों का कुछ बिगाड़ सके। यह बात मैं ने अभी योग द्वारा जानी है। इस लिए चलो, तुरंत यहाँ से भाग चलें। नहीं, तो कहीं कोई भोजन के लिए बुलाने चला आया, तो कुछ उत्तर देते नहीं बन पड़ेगा।

स्पष्ट ही है कि जब कर्णधार गुरु ही हिम्मत हार चुका, तो उस के इशारों पर चलनेवाले शिष्यों की क्या हालत हुई होगी। सब चेले जहाँ तहाँ चारों दिशाओं में भाग भागकर छिप गये कि कोई भोजन करने के लिए बुलाने न चला आये। इधी लिए भगवान् के भेजे सहदेव जब घाटकिनारे पहुँचे, तो वहाँ उन्हें न दुर्वासा मिले, न कोई शिष्य प्रशिष्य। सहदेव ने वापस आकर सब हाल भगवान् से कहा, तो भगवान् ने सब लोगों को इस का रहस्य समझाया, जिसे जानकर भीम क्रोध से आगबबूला हो दुर्योधन और उस की मित्रमण्डली को

गालियाँ देने लगे तथा नकुल सहदेव आदि उस की दुर्बुद्धि पर थुड़ी थुड़ी करने लगे। इसी को भक्तियुक्त चित्त से प्रदत्त भगवान् का पत्र ग्रहण करना कहते हैं।

इसी तरह सुदामा की स्त्री के चावलों का उदाहरण भी दृष्टान्तकोटि में लिया जा सकता है। सुदामा नितान्त दरिद्रतादुःख भोग रहे थे, पर श्री कृष्ण के परम मित्र होते हुए भी उन से अपनी दरिद्रता के संबन्ध में कभी कुछ कहना नहीं चाहते थे। उन की स्त्री बार बार उन्हें भगवान् के यहाँ (द्वारिका) जाने के लिए प्रेरित करती, पर वे ऐसे निष्कामभावापन्न व्यक्ति थे कि धन के लिए भगवान् के यहाँ जाना ही नहीं चाहते थे। जब होता तभी यह कहकर उसे झिड़क देते कि पगली, ब्राह्मण को धन से क्या जरूरत कि तूँ मुझे अर्थार्थी बनाकर भगवान् के पास भेजना चाहती है? अन्त में उन की स्त्री ने कहा—अच्छा, धन के लिए नहीं, तो दर्शन के लिए ही एक बार उन के यहाँ जाइए, पर जाइए तो सही!

सुदामा ने कहा—भगवान् के यहाँ खाली हाथ जाना नहीं चाहिए और अपने यहाँ कोई ऐसी वस्तु है नहीं जो भगवान् को भेंट दी जा सके। इस लिए मेरा जाना मुश्किल है।

परंतु सुदामा की स्त्री को दृढ विश्वास था कि भगवान् अपने मित्र को ऐसी हीन दशा में देखकर पिघले बिना न रहेंगे। इस लिए इन्हें भेजना अत्यन्त आवश्यक है, पर घर में तो भूनी भाँग भी नहीं है, भेंट देने को दूँ क्या? अन्त में उस ने अपनी किसी पड़ोसिन के पास बहुत संकोच से जाकर अपना हाल कहा, तो उस ने थोड़ी सी चावलों की कनी दी। लाचार होकर सुदामा की स्त्री ने यही भेंट भगवान् को भेजा जिसे प्रेम सहित छीनकर भगवान् ने सुदामा से ले लिया और एक ही फंकी में उन की स्त्री को राजरानी से भी अधिक सुखी और संपन्न बना दिया। (यह कथा भी विस्तार सहित पहले भाग में दी जा चुकी है।)

इन सभी उदाहरणों और दृष्टान्तों से यही निश्चित होता है कि भगवान् को सोने के *मन्दिर में सोने की मूर्ति बनकर रहना और सोने के पात्र में सोने जैसे बहुमूल्य भोजन करना* नहीं प्रिय है, प्रत्युत भक्त के हृदयमन्दिर में हार्दिक भावों से बनी मूर्ति के रूप में रहकर भक्तियुक्त अञ्जलि में भक्तिभाव से लपेटा पत्ता, फूल, फल, जल ही अधिक प्रिय है। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो कोई मुझे भक्ति सहित पत्ता, फूल, फल, जल आदि ही अर्पित करता है उस नियतात्मा का भक्तिपूर्वक दिया हुआ वही मैं बड़े प्रेम से भोजन करता हूँ।

इस पर अर्जुन ने पूछा—अच्छा महाराज, क्या इस से भी सुगम कोई उपाय है जिस से आप की प्रसन्नता प्राप्त हो?

भगवान् ने पूछा—यह उपाय कुछ कठिन है क्या कि तूँ और सहज उपाय जानना चाहता है?

अर्जुन ने कहा—नहीं प्रभो, कठिन तो नहीं है, फिर भी कुछ प्रयाससाध्य तो है ही; क्योंकि पत्ता, फूल, फल, पानी वगैरह जुटाने और उन को आप के प्रति अर्पण करने के लिए आप के पास तक अपनी भक्ति के बल से जाने का परिश्रम तो इस में भी करना ही पड़ेगा? इसी से मैं अपने लिए कोई ऐसा सरल उपाय जानना चाहता था कि मुझे कुछ प्रयास भी न करना पड़े और आप का भक्त बनने में कोई कसर भी न रह जाय।

भगवान् ने कहा—यदि ऐसी बात है, तो तेरे लिए यही उपाय मैं बतलाता हूँ कि तूँ—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

जो करता है, जो खाता है, जो होम करता है, जो देता है, जो तप करता है, हे कौन्तेय, वह (सब कुछ) मुझ को अर्पण कर।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यदि तूँ भक्तिपूर्वक पत्र पुष्पादि समर्पण से भी सरलतर मेरे पूजन का प्रकार जानना और मुझे प्रसन्न रखना चाहता है, तो तूँ अपने आप जो कोई भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता पीता है, जो कोई भी वैदिक या स्मार्त विधि से यज्ञ हवन आदि करता है, जो कुछ भी दान करता है तथा जो कुछ भी शारीरिक, मानसिक, वाचिक तपस्या करता है वह सब करता हुआ उन में से अपनापन का भाव निकाल ले और सब कुछ मुझे समर्पित कर दे। यही सब से सुगम और विना प्रयास के होनेवाला मेरे सविधि पूजन का सर्वोत्तम उपाय है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अगर भगवान् के निमित्त पत्ता, फूल, फल, पानी आदि जैसी निःशुल्क वस्तुएँ जुटाने में भी तुम्हें कठिनाई प्रतीत हो रही हो, उतनी मिहनत भी तुम्हारे लिए कष्ट का कारण हो रही हो, तो भगवान् कहते हैं कि जाने दो, उतना परिश्रम भी मत करो। अपने निमित्त तो तुम्हारे हाथ पैर कुछ न कुछ करते ही रहेंगे, अपने जीवन के लिए तो तुम खाओगे ही, अपने गृहस्थधर्मानुसार तो पञ्च महायज्ञादि करोगे ही, अपने मन के संतोष के लिए तो किसी को कुछ देना चाहोगे ही। कौन है ऐसा जो इन में से कोई न कोई कार्य न करे? सभी कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। बस, वे ही कुछ न कुछ करनारूप जो कर्मादि हैं उन्हीं को तुम मुझे—मेरे निमित्त अर्पित कर दिया करो, यही भगवान् का बतलाया हुआ सब से सरल उपाय है। और सुनने में सचमुच ही यह बड़ा सरल मालूम भी पड़ रहा है, पर ठीक ठीक यदि विचार करके देखो, तो यह उपाय ही महान् कठिन है। इस उपाय में यद्यपि कहा इतना ही गया है कि 'जो जो करते हो, करते जाओ और सब कुछ भगवान् को चढ़ाते जाओ', कुछ करने के लिए स्पष्ट शब्दों में मना नहीं किया गया है, तथापि

इस के अंदर एक वस्तु के त्याग का ऐसा जोरदार उपदेश छिपा पड़ा है जिस के अनुसार बर्ताव किये बिना एक का भी समर्पण असंभव है, फिर सब की तो बात ही क्या है! वह वस्तु है अहंकार या अभिमान। कोई भी कर्ता जब तक अहंकार का समूल त्याग नहीं कर देगा तब तक इस सर्वसमर्पणवाले भाव का आंशिक लाभ भी कदापि नहीं कर सकता। और कौन ऐसा है जो अहंकार का—मिथ्याभिमान का त्याग कर सके? यहाँ तो जन्म जन्मान्तर से ऐसा अभ्यास पड़ा हुआ है कि जरा सा कोई काम किसी के हाथ से ठीक उतर गया कि वह डंके की चोट यह साबित करने के पीछे पड़ जाता है कि 'यदि मैं न होता' तो औरों के करने से यह काम हर्गिज नहीं हो सकता था। और जो थोड़ा ज्ञान विज्ञान का परिचय रखनेवाला हुआ, तो इतना और जोड़ देता है कि 'ईश्वर की कृपा से बस मौके पर मैं पहुँच गया', वर्ना सब चौपट हो चुका था। अर्थात् ईश्वर ने केवल वहाँ पहुँचने की प्रेरणा दे दी, काम तो सब मैं ने ही किया। यह काम बन जाने पर की बात है, बिगड़ने पर की नहीं। अगर बिगड़ने पर भी लोग ऐसा ही अपना कर्तृत्वभाव दिखाते और कहते कि 'मेरी मूर्खता से यह काम बिगड गया', तो एक हद तक गनीमत थी। परंतु बिगड़ने पर तो भाव ही दूसरा हो जाता है। उस समय अपनी भूल को जानते हुए भी लोग उस पर पर्दा डाल देना चाहते हैं और यही स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं कि क्या करें, भगवान् ही नाराज और टेढ़े हैं, तो हमारा क्या वश चले। हम ने तो कोई उपाय बाकी नहीं उठा रखा, पर भगवान् ने बनने ही नहीं दिया, तो क्या उपाय लगाया जाय। इसी को कहा जाता है—'मीठा मीठा गप गप और कड़ुआ कड़ुआ थू थू।' ऐसे भावों में रमे रहनेवालों से भगवान् के कथनानुसार सर्वसमर्पण स्वप्न में भी नहीं हो सकता। सर्वसमर्पण के मार्ग पर चलने में सर्वप्रथम इसी सर्वनाशकारी अहंभाव को मिटाना पड़ता है और तभी सच्चा समर्पण संपन्न होता है। अहंभाव मिटाने का उपाय यही है कि संसार में 'अपना' नाम की कोई वस्तु समझो ही नहीं। अपनापा अर्थात् निजत्व भी भूल जाओ—'मैं था' 'मैं हूँ' 'मैं रहूँगा' आदि त्रैकालिक अस्तित्व भी जब मिट जायगा वही समय होगा निजत्व भूलने का। जब निज और निजत्व बुद्धि नहीं रहेगी तब आसानी से सब जगह प्रभुत्व (परमात्मत्व) दिखलाई पड़ने लगेगा। अपना लड़का, अपना मित्र, अपना धन, अपना कुटुम्ब परिवार आदि के भाव दूर करने के लिए पहले अपने आप को जगज्जाल से दूर करना पड़ेगा अर्थात् मैं परमात्मा का हूँ, मेरे हाथ पैर, खान पान, आहार विहार, आचार विचार सब कुछ परमात्मा के और परमात्मा के लिए हैं, यह भाव जब हृदय में उतर हो जायगा, तो अपना लड़का, स्त्री, मित्र, धन, कुटुम्ब आदि भी सहज ही परमात्मा के प्रतीत होने लगेंगे। उस दशा में यावत् कर्म करना, खाना पीना, यज्ञहवन आदि करना, दान देना और तपस्या करना आदि स्वतः परमात्मा को अर्पित होते जायेंगे। उस समय ऐसा अभ्यास हो जायगा

कि बिना सोचे विचारे ही भगवदर्पणसंपन्नता प्राप्त हो जायगी, यह सोचना भी नहीं पड़ेगा कि मैं जो करूँ धरूँ सो भगवान् को देता चलूँ। कारण, उस अहंभावहीनता के समय तो तुम स्वयं परमात्मतत्त्व से ओतप्रोत रहोगे, परमात्मा तुम में और तुम परमात्मा में एकाकार हो चुके होगे, फिर किस के लिए सोचना और किस के लिए करना धरना। उस समय तो *परमात्मा* ही परमात्मा के लिए करने, खाने, देने और तपादि तपनेवाले हो गये रहेंगे। इसी लिए मैं ने कहा कि यह उपाय पत्र पुष्पादि समर्पण से भी महान् कठिन है। अर्जुन जैसा दृढनिश्चयी व्यक्ति ही इसे आचरण में ला सकता है। इसी लिए सर्वव्यापक क्रिया न देकर भगवान् ने केवल अर्जुन के (अथवा जो कोई पूर्णतः अर्जुन जैसा स्थिर बुद्धिवाला हो चुका हो उस के) लिए 'त्वं' शब्द को आकृष्ट करनेवाली मध्यम पुरुष की क्रियाएँ प्रयुक्त कीं और यत्करोषि ददासि आदि कहकर 'तत् मदर्पणं कुरुष्व' कहा। इस लिए तुम भी यदि ऐसा सरल, जो बड़े बड़े (कठिन से भी कठिन) से कम नहीं कहा जा सकता, *उपाय व्यवहार में* लाकर वास्तविक भगवदर्पण करनेवाले बनना चाहते हो, तो अर्जुन की ही तरह भगवान् के, गुरु के, आचार्य के अथवा जिस किसी भी सखा मित्र आदि में तुम्हें अपना उद्धार कराने की क्षमता का भान हो उसी के चरणों में अपने आप को समर्पित कर दो और उसी के बताये मार्ग पर अविचलभाव से चलते रहो। ऐसा करने पर अवश्य ही तुम ठीक ठीक सर्वसमर्पण करने के योग्य हो जाओगे जैसा कि भगवान् ने अर्जुन के लिए कहा है कि—

हे अर्जुन, तूँ जो कुछ भी कर्म करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है, जो कुछ तप करता है वह सब कुछ मुझ को अर्पण कर।

यह उपदेश सुनकर अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्, यह समर्पण का उपदेश तो सचमुच बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है, क्योंकि इस में सब विधि ही विधि दिखलाई पड़ती है, निषेध का कहीं नाम भी नहीं है। परंतु मैं जानना चाहता हूँ कि सब कुछ आप को समर्पित कर देने से मुझे लाभ क्या होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—लाभ ? अरे लाभ तो ऐसा होगा जिस से बढ़कर कोई दूसरा लाभ हो नहीं सकता, क्योंकि—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस तरह (तूँ) शुभ अशुभ फलरूप कर्मों के बन्धनों से मुक्त होगा (और सब कर्मों के) संन्यासयोग से युक्त आत्मावाला हुआ विमुक्त होकर मुझ को प्राप्त होगा।

गी० गौ०—हे अर्जुन, ऊपर कही गई विधि से यदि तूँ सब कुछ मुझे अर्पित कर देगा, तो उस समर्पण के प्रभाव से तुझे कर्मों के अच्छे या बुरे किसी प्रकार के वन्धन में नहीं पड़ना पड़ेगा। कारण, सर्वकर्मसमर्पण से जिस संन्यासरूप योग का संपादन होता है उस संन्यासयोग से उस हालत में तेरी आत्मा युक्त हो जायगी और उसी के परिणामस्वरूप तूँ जीवितावस्था में ही कर्मबन्धन से मुक्त होकर जीवन्मुक्त की दशा प्राप्त करेगा तथा अन्त में शरीर छोड़ने पर संसारबन्धन से मुक्त होकर मेरे समीप चला आयेगा।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, फल की आशा रखकर कर्म करने से तीन प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं—१ इष्ट, २ अनिष्ट, ३ मिश्र, अर्थात् भला = मनचाहा, बुरा = अनचाहा और दोनों मिला जुला। इष्ट फल मिलने से प्रसन्नता होती है, सुख का अनुभव होता है; अनिष्ट फल प्राप्त होने पर अप्रसन्नता होती है, दुःख की अनुभूति करनी पड़ती है; मिश्र फल के लाभ से प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनों मिल जुलकर हृदय को आन्दोलित करते हैं, सुख दुःख दोनों में उलझा रहना पड़ता है। यह दुनियावी खुशी नाराजगी, आराम तकलीफ ही जीव को संसार में बाँधनेवाले जाल हैं। यदि इन के फेर में न पड़े और शरीर, वचन, मन से जितने कर्म करे उन सब से किसी प्रकार के फल की इच्छा न करके उन्हें भगवान् के नाम पर करता जाय, तो उपर्युक्त तीनों प्रकार के फलों में से किसी की उत्पत्ति नहीं होती। यही शुभाशुभफलयुक्त कर्मबन्धन से मोक्ष अथवा कर्मों का संन्यास कहलाता है। इसी प्रकार का आचरण संन्यासयोग के साधन की कुंजी है। ऐसी कर्मफलासक्ति से रहित कर्मकारिता ही कर्मसंन्यासयोग की उच्च भूमिका पर मनुष्य को आरूढ़ कराके उसे उस योग से युक्त आत्मावाला—संन्यासयोगयुक्तात्मा—बनाने में समर्थ होती है। इस लिए संन्यासयोगयुक्तात्मा का यह अभिप्राय कभी मत समझो कि भगवान् ने संन्यासयोग से युक्त होने के लिए कहकर अर्जुन को गृहत्यागी होने का उपदेश दिया है। इस श्लोक में कथित संन्यासयोगी के पद पर पहुँचने के लिए घर छोड़ने की नहीं, प्रत्युत घर गृहस्थी में रहते और सब प्रकार से गृहस्थाश्रमधर्म का पालन करते हुए केवल कर्मों के फलों की अभिलाषा छोड़ने की आवश्यकता है। और उस के छोड़ने का यही उपाय है कि जो जो काम धाम करो वह सब परमेश्वरप्रीत्यर्थ करो, उस से अपना या अपने शत्रु मित्र किसी का भला या बुरा किसी तरह का फल मत चाहो। ऐसा परमात्मभाव रखकर कर्म करने पर तुम्हारे कर्मों में बन्धनकारिका शक्ति का अभाव हो जायगा, अतः तुम सर्वदा निर्बन्ध रहकर जीते जी मुक्तिसुख का आनन्द भोगोगे और मरने के बाद तुम्हारी आत्मा सीधे परमात्मा में जाकर एकाकार हो जायगी जहाँ से कभी लौटना नहीं होता और न संसारसागर में पड़ने का कष्ट उठाना पड़ता है। अस्तु;

भगवान् में भक्त और भक्त में भगवान् (अ० ६ श्लो० २६)

यही सब समझाने के लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, सर्वविधकर्म, भोजन, हवन आदि श्रौत स्मार्त क्रियाएँ मुझ परमेश्वर को समर्पित करने से तू कर्मों के शुभ अशुभ फल देनेवाले बन्धनों से छूट जायगा। इस प्रकार संन्यासयोग से युक्त आत्मावाला होने पर संसार-चक्र से पूरी तरह छूटकर मुझ को प्राप्त हो जायगा।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन्, आप पहले कह आये हैं कि जो जिस देवता की उपासना करता है वह उसी के लोक में जाता है—उत्तम देवता का उपासक उत्तम लोक में, मध्यम देवता का उपासक मध्यम लोक में और अधम (भूत प्रेतरूप) देवता का उपासक अधम लोक में अपने पुण्य कर्म के अनुपात से निवास पाता है और पुण्यक्षीण होने पर पुनः संसार में लौट आता है। और यहाँ आप कह रहे हैं कि मेरी उपासना करनेवाला, सब कर्मों का फल मुझे दे देनेवाला मुझे ही प्राप्त करता है जहाँ से कहीं जाना आना नहीं पड़ता। इस तरह के कथन से तो यही सिद्ध होता है कि जो आप की भक्ति करे वह तर जाय और जो न करे वह यहाँ का यहाँ ही भटकता रह जाय। यदि यही सत्य है तब तो आप के ऊपर भी राग द्वेष—प्रेम विरोध—करने का दोष आरोपित हो जाता है, क्योंकि रागद्वेषमय संसारी प्राणी और छोटे मोटे देवता पितर आदि का भी तो यही स्वभाव होता है कि जो उन्हें मानता है, उन की चापलूसी और खुशामद करता है उसे वे भी मानते और संतुष्ट करते हैं और जो नहीं मानता पूजता उस के ऊपर वे भी ध्यान नहीं देते। ऐसी दशा में आप का गुणातीत, समरस, भगवान् कहलाना कैसे निष्कलङ्क सिद्ध हो सकता है?

भगवान् ने उत्तर दिया—ठीक है; मैं ने पहले भी उचित और सत्य ही कहा है और अब भी वैसा ही कह रहा हूँ, परंतु तब भी मैं गुणातीत और समदर्शी ही हूँ। कारण यह कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

मैं सब प्राणियों में समभाव से रहता हूँ। न कोई मेरा अप्रिय है, न प्रिय। किंतु जो लोग भक्ति सहित मुझ को भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं भी उन में हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मैं संसार भर के समस्त जीवों में एक समान व्यापक रहता हूँ, सब को एक नजर से देखता हूँ। मेरा न तो कोई शत्रु है और न कोई मित्र ही है, मेरी दृष्टि में सब प्राणी बराबर हैं। परंतु हाँ, एक बात अवश्य है और वह यही कि जो कोई भक्त संपूर्ण भक्ति से मेरा भजन करते हैं, मुझे ही अपनी

समस्त श्रद्धा और उपासना समर्पित करते हैं, वे स्वभावतः मुझ में स्थित रहते हैं और इसी लिए मैं भी स्वभाव से ही उन में स्थित रहता हूँ। तात्पर्य यह कि जिन को मैं प्राप्त होता हूँ अथवा जो मुझे प्राप्त होते हैं उन के साथ मेरा आसक्ति और प्रेम का नाता है और जो दूसरों के भक्त उपासक हैं उन के साथ अनासक्ति और द्वेष का भाव रखता हूँ, ऐसी बात नहीं है, अपितु मेरे भक्त स्वतः मुझ में और मैं स्वतः उन में रहने का आपस में स्वभाव ही रखते हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् न तो किसी के मित्र हैं, न किसी के शत्रु। वे सब के लिए बराबर हैं। हाथी से लेकर चींटी तक उन की दृष्टि में केवल प्राणी हैं। हाथी बहुत बड़ा जानवर है, बड़े काम का है, सवारी, शिकार, प्रतिष्ठाप्रदर्शन आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हाथी के द्वारा शीघ्र सपन्न हो जाते हैं, इस लिए भगवान् हाथियों पर विशेष कृपा रखते हों और चींटी किसी काम में नहीं आती, उलटे उस के द्वारा अनेक प्रकार की हानियों की ही संभावना रहती है, इस लिए चींटियों को भगवान् हेय समझते हों, ऐसी बात कदापि नहीं सोचनी चाहिए। ऐसा समझना आदमियों का—स्वार्थ के पुतलों का काम है, भगवान् का, परमार्थरूप परम तत्त्व के अधिष्ठाता का नहीं। और अगर कोई यह कहे कि भगवान् भी तो अपने भावुक भक्तों को मुक्ति देते हैं और अपने ही रूप सूर्यादि देवों के उपासकों को पुनरावर्तन में पड़े रहने देते हैं। ऐसी परिस्थिति में कैसे माना जाय कि भगवान् समदर्शी हैं ? इस का समाधान यह है कि भगवान् शत्रु अथवा मित्रभाव से ऐसा नहीं करते, बल्कि भगवान् का और उन के भक्तों का वैसा स्वभाव ही होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश लोहा और शीशा दोनों पर समानरूप से पड़ता है, परन्तु लोहा अपने मलिन स्वभाव के कारण सूर्यताप से तप-कर और अधिक कालिमा ही प्रकट करता है और शीशा अपने स्वभाववश उसी प्रकाश को कई गुना अधिक फैला देता है। इस पर क्या सूर्य को किसी तरह दोष दिया जा सकता है कि शीशा को क्यों चमका देते हो और लोहा को क्यों नहीं चमकाते ? नहीं, सूर्य को कोई कैसे कुछ कहेगा, क्योंकि वे तो दोनों पर अपनी ओर से बराबर बराबर ही प्रकाश डाल रहे हैं। इसी प्रकार अग्नि का भी उदाहरण देख लो। अग्नि स्वभावतः गरम है। जाड़ों में लोग बड़े प्रेम से उसे चारों ओर से घेरकर बैठते और अपना जाड़ा दूर करते हैं। ध्यान रहे कि जो लोग आग के समीप बैठेंगे, जाड़े से उन्हीं की रक्षा आग कर सकती है, जो आग से दूर हटकर आसन जमायेगा उस का जाड़ा वह नहीं हटा सकती, उसे तो काँपते ही रहना पड़ेगा। किंतु आग के इस सान्निध्य गुणप्रकाश—शीतनिवारण—और असान्निध्य अपकाश अर्थात् शीत के अनिवारण पर यदि कोई उसे पक्षपाती कहे और उस के ऊपर भेददृष्टि रखने का दोष आरोपित करे, तो मानी हुई बात है कि ऐसा कहने और करनेवाला मूर्ख है। आग का जब स्वभाव

ही यह है कि वह अपनी उष्णता उसी को प्रदान करेगी जो उस के निकट आयेगा, तो दूर रहकर उस से उष्णता प्राप्त करने का हठ करना मूर्खता नहीं, तो और क्या कहा जा सकता है ? बस, ऐसे ही भगवान् के संबन्ध में भी समझ लो। भगवान् भी अग्नि की भाँति ऐसे स्वभाव के हैं कि जो उन के निकट जायगा उसी का भवताप दूर करेंगे, जो उन से दूर रहेगा उस का नहीं। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, मैं सब जीवों में समानभाव से रहता हूँ, मेरा शत्रु मित्र कोई नहीं है; किंतु जो भक्तिभाव से मुझे भजते हैं वे मुझ में रहते हैं और मैं भी उन में रहता हूँ, तो अर्जुन ने पूछा—अच्छा प्रभो, यह तो बतलाइए कि जो कोई जीवन का अधिकांश भाग अज्ञानवश पापवृत्ति में ही व्यतीत कर चुका है, पर अन्त में किसी तरह अपनी भूल पहचान लेता है और आप की भक्ति करना चाहता है, तो उस को आप के भक्तों के बीच बैठने का अधिकार मिल सकता है या नहीं और उसे संतसमाज सज्जन मान सकता है या नहीं?

इस के उत्तर में भगवान् ने कहा—क्यों नहीं ? अवश्य उसे दोनों बातें प्राप्त हो सकती हैं। मेरी तो यह स्पष्ट घोषणा ही है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

यदि कोई अत्यन्त बुरे आचरणवाला भी अनन्य भक्तिवाला बनकर मेरा भजन करता है, तो वह साधु ही माना जाना चाहिए, क्योंकि वह अच्छे निश्चयवाला

गी० गौ०—हे अर्जुन, भले ही कोई बड़े बड़े पापाचार ही जन्म भर क्यों न कर चुका हो और समाज में महान् पापी ही क्यों न प्रसिद्ध हो चुका हो, परंतु यदि पूर्व जन्म के संस्कार, सत् शास्त्रों के अध्ययन, उत्तमोत्तम उपदेशों के श्रवण अथवा सत्संग द्वारा उस में भक्ति भावना मेरे प्रति जागृत हो चुकी है और अनन्यभाव से मेरी भक्ति का आश्रित होकर मेरा भजन करता रहता है, तो वह पापी भी सज्जन ही मानने के योग्य है। कारण यह कि अब उस के निश्चय ने अधम पापपूर्ण मार्ग का परित्याग कर मेरी भक्ति सदृश उत्तम मार्ग का दृढ अवलम्बन कर लिया है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन का प्रश्न है कि पापी मनुष्य पुण्यात्मा बन सकता है या नहीं, दुराचारी को आप के भक्त का दर्जा मिल सकता है या नहीं ? भगवान् का उत्तर है कि हाँ, पापी पुण्यात्मा हो सकता है, मेरे भक्त का स्थान ग्रहण कर सकता है। भगवान् का यह उत्तर शास्त्रीय दृष्टि से तो उचित है ही जैसी कि सर्वशास्त्रमयी गीता की घोषणा ही है, साथ

गी० गौ०—हे अर्जुन, पापी से पापी मनुष्य भी ज्यों ही मेरी शरण में आकर मेरे भक्तिरस में पग जाता है त्यों ही (तुरंत ही) वह पुण्यात्मा और पूर्ण धर्मभाव से युक्त हो जाता है तथा ऐसी शान्ति को पहुँच जाता है जो सर्वदा एकरस बनी रहे। इस लिए तूँ यह बात गाँठ में बाँध ले, अपने मन में निश्चित धारणा कर ले कि जो मेरा भक्त हो जाता है उस का कदापि विनाश नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह कि मेरे भक्तिमार्ग का अवलम्ब लेने पर किसी के उद्धार में जरा भी देर नहीं रह जाती है, न उस की अधोगति ही होती है; प्रत्युत वह नित्य निरन्तर शान्तिलाभ करता है और परम उच्चता को पहुँच जाता है।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् की एक के बाद तुरंत ही यह दूसरी आश्वासनवाणी है। इस के द्वारा वे प्रतिज्ञा के रूप में घोषित कर रहे हैं कि मेरी शरण में आकर पापात्मा उसी क्षण धर्मात्मा हुए बिना रह नहीं सकता और मेरा भक्त बन जाने के बाद मैं उस का नाश नहीं होने दे सकता। इस कथन से साफ साफ यह बात लक्षित हो रही है कि जो लोग अपने पापों की ढेरी की ओर दृष्टि डालते हुए भगवान् की शरण जाने में डरते हैं उन्हें भयमुक्त करने के लिए ही यह कहा गया है कि अनन्य भाव से मेरा भजन करने पर धर्मात्मा होने में देर लग नहीं सकती। साथ ही वह यह मत सोचे कि पापात्मा से धर्मात्मा बनने पर भी कदाचित् यह जीवन नष्ट हो जाय और पहले किये हुए पापों के कारण समाज में जो कलङ्कित इतिहास रचा जा चुका है उस के फलस्वरूप शान्ति सुख से मेरी भेंट न हो, लोग ढोंगी कह कहकर और तरह तरह की निन्दा फैला फैलाकर व्यग्र न कर दें? इसी भय को दूर करने के लिए कहा है कि नहीं, यह भय भी निर्मूल है। कारण यह कि भगवद्भक्ति के रस में ओतप्रोत हुए धर्मात्मा का मन तो स्वभावतः भगवान् का स्मरण, चिन्तन, कीर्तन, भजन, यजन, पूजन करने में लगा रहेगा, उसे इतना अवकाश ही कब मिलेगा कि वह समाज के कर्णधारों और परनिन्दारत हीनवृत्तिकों की बातें सुनने जायगा। इस लिए उसे तो अपने आप चौबीस घड़ी वह शान्ति और सुख मिलता रहेगा जो कभी उस का साथ ही नहीं छोड़ सकता; फिर वह व्यग्र और विचलित क्यों होगा? दूसरी बात यह कि जो एकान्त प्रभुनिष्ठ पापरहित होकर धर्माचरण में प्रवृत्त हो वास्तविक धर्मात्मा की उपाधि प्राप्त कर लेगा उस की निन्दा करने का, उस को देखकर उस के पूर्व पापों के ख्याल से उस पर अँगुली उठाने का किसी को साहस भी नहीं हो सकेगा। कारण यह कि जिस प्रकार खोटा सोना सोनार की अँगीठी में गलाया जाकर जब अपना खोटापन भस्म कर डालता है और शुद्ध सुवर्ण की दिव्य चमक से चमकता हुआ बाहर निकलता है और तब उसे देखकर कोई भी खोटा कहने का साहस नहीं करता है, उसी प्रकार पापभ्रष्ट सच्चे धर्मात्मा को भी न तो कोई निन्दा कर सकता

है और न उस की ओर घृणापूर्ण दृष्टिनिक्षेप करने का साहस ही कर सकता है। पहले का खोटा, अतएव कम कीमती सोना भी अपना खोटापन दूर होने पर बहुमूल्य—सच्चे सोने के ही—भाव में बिकने के योग्य हो जाता है, ऐसे ही पहले का पापी, अतएव निन्दनीय दुराचारी भी भगवान् की भक्ति द्वारा अपना पाप प्रक्षालन करके प्रशंसनीय और नित्य पूर्ण शान्ति का अधिकारी हो जाता है और जैसे सच्चा सोना किसी तरह बाजार में अपने ठीक ठीक भाव से नीचे नहीं गिर सकता, जब बिकेगा तब अपने ही भाव पर बिकेगा वैसे ही वह धर्मात्मा भी फिर अपने लक्ष्य से नीचे नहीं गिर सकता, अपितु दिन दिन अपनी भक्ति के प्रभाव से ऊपर ही चढ़ता जायगा। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, पापी और दुराचारी भी अगर सच्ची लगन से मेरा भजन करता है, तो वह तुरत धर्मात्मा हो जाता है और सर्वकालिकी शान्ति को प्राप्त करता है। तूँ निश्चय समझ कि मेरे भक्त का विनाश कभी हो ही नहीं सकता।

यह सुनकर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे प्रभो, यह तो उन लोगों की भक्ति का माहात्म्य हुआ जो अपने दुराचरण के कारण सन्मार्गभ्रष्ट होकर बाद में आचारशुद्धि के द्वारा सन्मार्ग-ग्रहण की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, किंतु मैं अब यह जानना चाहता हूँ कि जो लोग स्वभाव से ही पापपङ्क में फँस चुके हैं अर्थात् अधम कोटि की योनियों में जन्म धारण कर चुके हैं वे आप की भक्ति का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं या नहीं और उस भक्ति के द्वारा उन को सुगति की प्राप्ति हो सकती है या नहीं?

इस का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—हाँ अर्जुन, ऐसे लोग भी मेरी भक्ति उसी प्रकार कर सकते हैं जैसे उत्तम योनिवाले और उन्हें भी मैं वही गति देता हूँ जो पुण्य पवित्र जाति में जन्म लेनेवालों को प्राप्त होती है। मेरा तो स्वभाव ही यह है कि अपने भक्तमात्र के लिए अपने धाम का दरवाजा खुला रखता हूँ। इसी लिए तो—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे पार्थ, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र और पापयोनियाँ (चाण्डालादि) जो कोई भी हों, मेरा आश्रय लेकर वे भी परम गति को चले जाते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मेरा भक्त बनने के लिए जाति, वर्ण, धर्म, संप्रदाय आदि की उच्चता निम्नता का कोई प्रतिबन्ध नहीं है—चाहे स्त्री हो चाहे वैश्य, चाहे शूद्र हो चाहे चाण्डाल मृतप आदि कोई भी क्यों न हो, सब को मेरी भक्ति करने का पूर्ण अधिकार है और अपनी शरण में आनेवाले सभी भक्तों को मैं वही

पर सब को लौंग इलायची से सत्कृत करता। उस के इस आचरण से ही यद्यपि उस के ग्राहकों की संख्या सर्वदा बढ़ती जाती थी, दूसरों के ग्राहक उस की सज्जनता पर आकृष्ट हो, और दूकानों से टूट टूटकर उस की दूकान के ग्राहक बनते जाते थे, फिर भी उस की स्त्री और उस के पुत्र को उस का लौंग इलायची बाँटना बड़ा बुरा लगता। वे कहते—तुम प्रति दिन दो दो रुपये की लौंग इलायची बाँट बाँटकर ग्राहक बढ़ाओगे, तो उस से फायदा ही क्या होगा? दो रुपया रोज के हिसाब से महीने में साठ रुपये और साल में सात सौ बीस रुपये होते हैं। सो जब कि इतना तुम लुटा ही देते हो, तो मुनाफा क्या पत्थल होगा? इसी बात को लेकर रोज उस के घर में झगड़ा कलह मचा करता। उस के इस सौजन्य (लौंग इलायची के सत्कार) से उस के पास पड़ोस के दूसरे दूकानदार सदा मन ही मन जलते रहते थे। उन सबों के मन में यही विश्वास दृढ हो गया था कि समाधिदास लौंग इलायची खिला खिलाकर हमारे ग्राहक तोड़ता फोडता है। बड़ा धूर्त आदमी है। ऊपर से कितना भोला भाला साधु बना रहता है? देखकर मालूम होता है कि विचारा छल कपट का नाम भी नहीं जानता होगा, पर भीतर छल कपट और जाल फरेब का खजाना जमा कर रखा है। समाधिदास के प्रति उस के पड़ोसी दूकानदारों के मन में ऐसे ही दुर्भाव भरे हुए थे। इस लिए वे लोग जब उसी विषय को लेकर उस के घर में कलह होते देखते, तो बड़े प्रसन्न होते और समाधि की स्त्री और पुत्र का पक्ष लेकर उन दोनों को और अधिक झगड़ा करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। छिपे छिपे उसे जहर दे देने अथवा अदालत में मुकद्दमा चलाकर उस को पागल करार करा देने की सलाह देने में भी वे न हिचकते। अपने स्वार्थ की हानि होते देख पड़ोसी दूकानदारों ने सद्विवेक और सद्विचारों को एक प्रकार से तिलाञ्जलि ही दे डाली थी। फिर भी कदाचित् पति और पिता होने के ख्याल से समाधि की स्त्री और पुत्र से इतना भयंकर दुर्व्यवहार तो उस के प्रति नहीं करते बना; हाँ, अन्त में यह परिणाम अवश्य निकला कि लोगों के भड़काने से उत्तेजित होकर एक दिन स्त्री पुत्र ने मिलकर समाधिदास को घर से बाहर निकाल दिया। विचारे को अड़ोस पड़ोस से तो किसी तरह की सहायता मिलने की आशा थी नहीं, क्योंकि वह जानता ही था कि ये सब भी परवालों और नालायक लड़के के ही पक्ष में हैं, इस लिए घर से निकाला जाने पर वह संसार से उदास होकर जंगल में चला गया।

प्रकृति की दुलारी बेटी वनश्री बरसात के दिनों में जो कमनीयता धारण कर लेती है उस का आनन्द या तो कोई प्रत्यक्षदर्शी ही उठा सकता है या उस का पूर्ण वर्णन करनेवाले कवि की कविता का मनन करनेवाला काव्यप्रेमी। गरमी से तपे और धूल धक्कड़ से भरे जंगली वृक्षों के धूसरित पत्ते जब वर्षा के जल में मल मलकर स्नान करने के बाद नया हरा

उत्तम गति देता हूँ जो बड़े बड़े ज्ञानी महात्माओं को दिया करता हूँ। प्रतिबन्ध है केवल मेरी भक्ति करने का। उस में जातिगत हीनता भले ही हो, पर यदि आचरणगत उत्तमता और पवित्रता वर्तमान है, तो उसे मुझ परमेश्वर की परम उत्तम गति पाने से कोई वञ्चित नहीं रख सकता।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, भगवान् के धाम का मार्ग सब के लिए एक समान खुला हुआ है। वहाँ किसी के लिए पक्षपात और किसी के लिए विरोध नहीं है। भगवान् के दर्बार में 'जजिया' कर नहीं लगता। वहाँ यह शर्त नहीं है कि तुम ब्राह्मण हो, तो खुशी से घुस जाओ और तुम नीच हो, तो बाहर हटो। वहाँ तो केवल भक्ति की, भगवान् का सच्चे मन से शरणागत होने की एकमात्र शर्त है। समाज भले ही स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार मत दे, शूद्र को उत्तम उपदेश सुनने के अधिकार से वञ्चित रखे, वैश्य को तराजू बटखरे से फुर्सत न लेने दे, डोम, चमार, मेहतर, कसाई, कोल, भिल्ल आदि को भगवान् का नाम लेने की भी आज्ञा न दे; परंतु भगवान् ऐसी भेददृष्टि नहीं रख सकते। उन्होंने 'सुआ पढ़ावत गणिका तारी' है। निषादराज गुह को रामरूप से गले तक लगाया और अन्त में अपने धाम को भेज दिया है। ये सब कथाएँ आप लोगों को पहले ही सुनाई जा चुकी हैं। हाँ, वैश्य के संबन्ध में कोई शास्त्रीय कथा अभी नहीं कही गई है। इस लिए यहाँ मार्कंडेय पुराण की एक कथा इस संबन्ध में कह रहा हूँ जिस से बहुत लोगों के इस संदेह का निराकरण हो जायगा कि धन के कीड़े बनियों से भला अपना व्यवसाय कब छूट सकता है कि वे भगवान् के भक्त बनकर उन के धाम में जाने योग्य ज्ञानी बन सकें? उन्हें तो नमक, मिर्च, तेल, खटाई, लोहा, लकड़ी, रूई, सूत का ब्योरा बैठाने और हिसाब की बही उलटने पुलटने से ही अवकाश मिलना मुश्किल है, भले ही घाटे पर घाटा होता रहे और दिन दूनी रात चौगुनी चिन्ता की आग भभकती जाय, पर वे उस व्यापार से मुँह मोड़कर भगवान् की शरण में जाने का नाम तक नहीं ले सकते। यह कथा इन सब दलीलों को छिन्न भिन्न करके यह सिद्ध कर देती है कि बनिया भी भगवान् की कृपा से व्यापार से विराग ग्रहण कर सच्चा ज्ञानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

प्राचीनकाल में एक नगर में समाधि नामक एक बहुत बड़ा धनी वैश्य रहता था। उस की संपत्ति की थाह नहीं थी। उस का भाग्य ऐसा प्रबल था कि जिस किसी भी वस्तु के व्यापार में वह हाथ लगाता उसी में उसे काफी मुनाफा मिलता। इस लिए उस की संपत्ति प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती चली जाती थी। समाधि वैश्य का स्वभाव भी बहुत ही सीधा सादा, अत्यन्त सरल था। वह कभी किसी के साथ कड़ा होकर बात नहीं करता। कोई उस की दूकान से सौदा ले या न ले, वह सब से मीठी बातें करता, अपनी दूकान पर आने

पर सब को लौंग इलायची से सत्कृत करता। उस के इस आचरण से ही यद्यपि उस के ग्राहकों की संख्या सर्वदा बढ़ती जाती थी, दूसरों के ग्राहक उस की सज्जनता पर आकृष्ट हो, और दुकानों से टूट टूटकर उस की दूकान के ग्राहक बनते जाते थे, फिर भी उस की स्त्री और उस के पुत्र को उस का लौंग इलायची बाँटना बड़ा बुरा लगता। वे कहते—तुम प्रति दिन दो दो रुपये की लौंग इलायची बाँट बाँटकर ग्राहक बढ़ाओगे, तो उस से फायदा ही क्या होगा ? दो रुपया रोज के हिसाब से महीने में साठ रुपये और साल में सात सौ बीस रुपये होते हैं। सो जब कि इतना तुम लुटा ही देते हो, तो मुनाफा क्या पत्थल होगा ? इसी बात को लेकर रोज उस के घर में झगड़ा कलह मचा करता। उस के इस सौजन्य (लौंग इलायची के सत्कार) से उस के पास पड़ोस के दूसरे दूकानदार सदा मन ही मन जलते रहते थे। उन सबों के मन में यही विश्वास दृढ़ हो गया था कि समाधिदास लौंग इलायची खिला खिलाकर हमारे ग्राहक तोड़ता फोड़ता है। बड़ा धूर्त आदमी है। ऊपर से कितना भोला भाला साधु बना रहता है ? देखकर मालूम होता है कि बिचारा छल कपट का नाम भी नहीं जानता होगा, पर भीतर छल कपट और जाल फरेब का खजाना जमा कर रखा है। समाधिदास के प्रति उस के पड़ोसी दूकानदारों के मन में ऐसे ही दुर्भाव भरे हुए थे। इस लिए वे लोग जब उसी विषय को लेकर उस के घर में कलह होते देखते, तो बड़े प्रसन्न होते और समाधि की स्त्री और पुत्र का पक्ष लेकर उन दोनों को और अधिक झगड़ा करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। छिपे छिपे उसे जहर दे देने अथवा अदालत में मुकदमा चलाकर उस को पागल करार करा देने की सलाह देने में भी वे न हिचकते। अपने स्वार्थ की हानि होते देख पड़ोसी दूकानदारों ने सद्विवेक और सद्विचारों को एक प्रकार से तिलाञ्जलि ही दे डाली थी। फिर भी कदाचित् पति और पिता होने के ख्याल से समाधि की स्त्री और पुत्र से इतना भयंकर दुर्व्यवहार तो उस के प्रति नहीं करते बना; हाँ, अन्त में यह परिणाम अवश्य निकला कि लोगों के भड़काने से उत्तेजित होकर एक दिन स्त्री पुत्र ने मिलकर समाधिदास को घर से बाहर निकाल दिया। बिचारे को अड़ोस पड़ोस से तो किसी तरह की सहायता मिलने की आशा थी नहीं, क्योंकि वह जानता ही था कि ये सब भी घरवाली और नालायक लड़के के ही पक्ष में हैं, इस लिए घर से निकाला जाने पर वह संसार से उदास होकर जंगल में चला गया।

प्रकृति की दुलारी बेटी वनश्री बरसात के दिनों में जो कमनीयता धारण कर लेती है उस का आनन्द या तो कोई प्रत्यक्षदर्शी ही उठा सकता है या उस का पूर्ण वर्णन करनेवाले कवि की कविता का मनन करनेवाला काव्यप्रेमी। गरमी से तपे और धूल धक्कड़ से भरे जंगली वृक्षों के धूसरित पत्ते जब वर्षा के जल में मल मलकर स्नान करने के बाद नया हरा

बाना धारण करते हैं, तो उस समय उन्हें देखकर अशान्त से अशान्ततर चित्तवाला, संसार-तापतापित व्यक्ति भी बिना मुग्ध हुए नहीं रहता। जंगल की बरसाती हरियाली देखते ही मनुष्य के हृदय की ज्वाला अपूर्व शान्ति का अनुभव करती हुई तत्काल ही बुझ जाती है और हृदय एक अद्भुत नवीन शक्ति से हरा भरा हो उठता है। और अगर संयोग से उसी अवसर पर उस जंगल में कोई ज्ञानी महात्मा मिल जाय जो अपने उपदेशामृत से संसारानलतप्त प्राणी की अन्तरात्मा को सिञ्चित कर दे तब तो उस के हृदय की हरियाली के लहराने का कहना ही क्या है। बस, यही बात समाधि वैश्य के साथ भी सघटित हुई। समाधिदास को उन के पुत्र कलत्र ने ऐन भादों के महीने में घर से निकाल बाहर किया था। इस लिए जंगल में पहुँचने पर वहाँ की प्राकृतिक शोभा देखकर उस की आधी से अधिक चित्तविकलता तो यों ही दूर हो गई और जो थोड़ी बहुत बची रह गई थी वह तब दूर होने लगी जब सौभाग्य से वह चलता चलता एक ऋषि के आश्रम में आ पहुँचा। यह आश्रम जंगल के उस भाग में स्थित था जहाँ जंगल की सघनता और जगहों से अत्यन्त अधिक थी अर्थात् ऋषि का आश्रम प्रायः जंगल के मध्य भाग में था। कदाचित् इसी लिए एक राजा भी अपने शत्रु से युद्ध में पराजित हो प्राणरक्षा के निमित्त भागकर उसी समय ऋषि के आश्रम पर आ पहुँचा। राजा अपना राज्य शत्रु के हाथ में चला जाने से इतना व्याकुल और दुखी था कि वह जंगल की छटा और आश्रम के शान्तिपूर्ण वातावरण में आकर भी अपनी मनोव्यथा से मुक्त नहीं हो सका। वह बार बार लंबी लंबी उसाँसें लेता और बड़बड़ाता हुआ अपने आप कह रहा था कि हा, आज मैं कहीं का नहीं रहा, मेरे शत्रुओं ने मेरा राज्य, खजाना, शस्त्रास्त्र का भाण्डागार, हाथी, घोड़ा आदि सब कुछ छीन लिया, और शत्रु को जीतते देखकर मेरे मन्त्रियों, सेनापतियों और नौकर चाकरों ने भी उलटे हाथों मुझे ही मूड़ना प्रारम्भ कर दिया—सब के सब अपने अपने स्वार्थ में लिपट गये और शत्रु से मिलकर मुझे बिल्कुल असहाय कर दिया; यहाँ तक कि वे मेरे प्राण लेने पर भी उतारू हो गये और मुझे शिकारके बहाने भागकर जंगल में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। पता नहीं, मेरी निजी सवारी के काम में आनेवाला वह नैसर्गिक बलवान् मदमत्त हाथी अब कैसे होगा। जितनी हिफाजत से मैं उस का लालन पालन करता था, मैं उस के ऊपर जितना ध्यान रखता था, क्या मेरे शत्रु उस की वैसी देख भाल करते होंगे? हाय, जिन्हें मैं अन्न, वस्त्र, धन, धान्य देकर सदा अपना अनुगत बना रखा था वे स्वार्थी धन के पुतले अब मेरे शत्रु की सेवा में हाथ जोड़े खड़े रहते होंगे; क्योंकि मेरी कमाई हुई अथाह संपत्ति हथियाकर मेरे शत्रु खुले हाथों उस का अपव्यय करते होंगे और अधिक से अधिक धन देकर मेरे समस्त अनुगतों को अपना अनुगत बना लिये होंगे। ओफ, कितने कष्टों से संचित किया हुआ मेरा तमाम खजाना! अवश्य ही मेरे शत्रु के हाथों में पड़कर वह थोड़े ही दिनों में बिलकुल नष्ट हो

जायगा। राजा बहुत देर तक यही सब बकता रहा। वैश्य ने राजा की बातें सुनीं, तो उसे भी अपना घर बार याद आ गया और वह सिर नीचे लटकाकर पुनः शोकमग्न हो गया। इतने में ही राजा की नजर उडती हुई उस वैश्य के ऊपर आ पडी। राजा ने उस के उदासीनभाव से अनुमान किया कि यह भी संसार के स्वार्थियों से विताड़ित होकर ही घर छोड़कर जंगल में आया हुआ मालूम हो रहा है। इस लिए इस से बात करनी चाहिए और देखना चाहिए कि हम दोनों के दुःख में कहाँ तक साम्य है।

राजा ने वैश्य के समीप जाकर बैठते हुए कहा—क्यों महाशय, आप यहाँ तपोवन में आकर भी शोक करते हुए क्यों दिखाई दे रहे हैं ? यहाँ तो महर्षि के प्रताप से शान्ति की ऐसी अविरल धारा बह रही है कि कोई कैसा भी जला, भुना, सताया हुआ मनुष्य यहाँ आकर अपना दुःख भूल सकता है; फिर भी आप की मानसिक पीड़ा दूर नहीं हो रही है, इस से ज्ञात होता है कि आप को अवश्य कोई बड़ा भारी कष्ट पहुँचा है। क्या अपने दुःख का कारण मुझ से कह सकते हैं ?

वैश्य ने कहा—आप अभी जिस प्रकार का अपना दुःख प्रकट कर रहे थे कुछ कुछ वैसा ही दुःख मेरे ऊपर भी पड़ा है। अन्तर इतना ही है कि आप को बाहरी शत्रुओं ने राज्यभ्रष्ट किया है, इस लिए आप को उन के ऊपर क्रोध है और उन से बदला लेने की कदाचित् मन में प्रबल आशा है। और मुझे मेरी स्त्री और लड़के ने ही धन की तृष्णा से घर से बाहर किया है। इस लिए मैं उन से तिरस्कार पाकर भी जन्म भर उन्हें अपना समझते रहने के अभ्यासवश उन को भूल नहीं पाता हूँ।

राजा ने कहा—आप भी बड़े विचित्र आदमी मालूम होते हैं। जिन स्त्री बच्चों ने धन के लोभ से पति पिता का भी मोह नहीं किया उन को तो बाहरी शत्रु से भी भयंकर शत्रु समझना चाहिए। आप व्यर्थ ही उन दुष्टों के मोह में पड़े हुए हैं।

वैश्य ने कहा—राजन्, आप जो कह रहे हैं वे बातें मैं नहीं जानता, ऐसी बात नहीं है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ऐसे नीचों का मोह तो क्या, मन में विचार भी नहीं लाना चाहिए, किंतु अपने दुर्बल मन को क्या कहूँ जो बार बार हठ करके उन्हीं की चिन्ता में लगा हुआ है और सोच रहा है कि वे सब कुशल से हैं या नहीं, मेरे लिए उन के मन में कुछ स्थान है या नहीं, मेरा इकट्ठा किया हुआ धन वे लुटा पुटा रहे हैं या सुरक्षित रखे हैं, पास पड़ोसवाले उन के इस आचरण पर कुछ कहते सुनते हैं या उन्हीं की प्रशंसा करते हैं। इन्हीं बातों को जानने के लिए मेरी गई हुई चिन्ता पुनः पुनः लौट आती है।

राजा ने कहा—गई हुई चिन्ता लौटने का क्या अभिप्राय है ?

वैश्य ने कहा—मैं घर से निकलकर जब जंगल में आया और यहाँ इन महर्षि का दर्शन किया, तो यहाँ वनशोभा और तपोभूमि के प्रभाव से मेरा मन बहुत कुछ शान्ति धारण कर चुका था, पर जब से आप आये और अपने दुःख कष्ट का वर्णन सुना गये तब से मेरे मन की वह दशा नहीं रह गई जो यहाँ आने से उत्पन्न हुई थी। आप का शोक देख सुनकर मेरा शोक पुनः लौट आया और मुझे व्याकुल कर रहा है। और अब मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा है कि किस तरह उन स्वार्थी धनलोलुपों का मोह छोड़ूँ तथा उन की निष्ठुरता का बदला स्वयं निष्ठुर बनकर चुकाऊँ? बस, यही सब सोच सोचकर बार बार मैं शोकसंतप्त और उदासीन हो रहा हूँ तथा उसाँसें लेने को विवश हो रहा हूँ। यदि आप इस दुःख को दूर करने का कोई उपाय जानते हों, तो बतलाने का अनुग्रह करें जिसे हृदय में धारण कर और उपयोग में लाकर मैं शोकमुक्त हो सकूँ तथा आप का यशोगान कर कृतज्ञ बनूँ।

राजा ने कहा—मैं अगर ऐसे उपाय जानता होता, तो स्वयं क्यों दुःखभार ढोता रहता? इस का उपाय इन ऋषि को छोड़कर और कोई नहीं बतला सकता। चलिए, उन्हीं को हम दोनों अपनी विपत्तिकथा सुनाकर शोकमोचन का और साथ साथ ऐसे विषम मोह का जिसे बुरा जानकर भी त्यागने में हम असमर्थ हैं, कारण पूछा जाय। वे सर्वज्ञ ऋषि हमारे शोक मोह का कारण और उस की निवृत्ति का उपाय अवश्य बतलायेंगे।

वैश्य ने कहा—यह आप ठीक कह रहे हैं। जब तक मोह की उत्पत्ति का कारण नहीं मालूम होगा तब तक उस से छुटकारा मिलना भी कठिन है। इस लिए पहले कारण जानना ही परम आवश्यक है।

इस प्रकार निश्चय कर दोनों दुखिया ऋषि के समीप जा साष्टाङ्ग प्रणाम कर बैठ गये तब ऋषि ने उन से उन के आने का कारण पूछा।

राजा ने उत्तर दिया—भगवन्, मैं राज्य से बहिष्कृत और ये वैश्य अपने पुत्र कलत्र से तिरस्कृत होकर वन में आने को विवश हुए हैं। फिर भी हम दोनों के मन से राज्य तथा गृहपरिवार का मोह दूर नहीं हो रहा है। हम दोनों उस मोह की बुराई जानते हुए, उस के कारण दुःखभारवहन करते हुए और उस से मुक्त होने की इच्छा रखते हुए भी उस से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाते हैं, इस का क्या कारण है? हमारा यह मोह कैसे दूर होगा?

ऋषि ने कहा—राजन्, आप यह कहते तो हैं कि हम मोह की बुराई जानते हैं, पर वस्तुतः आप का यह 'जानना' विषयमूलक है, ज्ञानमूलक नहीं। इस लिए वह जानना भी नहीं जानने के ही बराबर है। कारण, यदि विषय संबन्धी ज्ञान को ही ज्ञान मान लिया जायगा, तो मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी, मृग आदि भी ज्ञानी होने का दावा कर सकते हैं, क्योंकि आहार, निद्रा, भय आदि जो इन्द्रियों के विषय हैं उन में पशु आदि भी वैसे ही विचार

૧ ઘરમાંથી કાઢી મૂકાએલો સમાધિ વૈશ્ય.

૨ સમાધિ અને સુરથ મુનિના આશ્રમમાં.

૩ કોલા વિધ્વંસીઓથી હારેલો રાજા સુરથ.

૪ બન્નેને દેવીનું વરદાન.

२ कोलाविध्वंसियों से हारा राजा सुरथ।

रखते और आचरण करते देखे जाते हैं जैसा मनुष्य। पशु पक्षी भी अपने बच्चों का लालन पालन, अपने घर और परिवार की देख भाल मनुष्यों के समान ही करते हैं। इस लिए वास्तविक ज्ञान वही है जो पुत्र कलत्रादि विषयवासना से दूर हटाकर उस परम प्रभु के चरणों में तल्लीन हो जाने का सामर्थ्य उत्पन्न करे। यद्यपि यह बात नहीं कही जा सकती कि आप जैसे राजन्य अथवा समाधि वैश्य जैसे श्रेष्ठिवर्ग इस ज्ञान के सम्बन्ध में जानते ही नहीं, आप लोग इस बात को जानते अवश्य हैं, फिर भी विषयवासना और शोक मोह का त्याग नहीं कर पाते, इस का कारण यही है कि उस परम प्रभु की आद्या शक्ति महामाया ने समस्त संसार को इस प्रकार मोहित कर रखा है कि संसार जानी हुई बातों को भी व्यवहार में लाने में असमर्थ रह जाता है और निरन्तर शोक मोह के जंजाल में पड़ा करता है। इस लिए इस बात से विस्मित होना व्यर्थ है कि स्त्री पुत्र से निरादृत होकर भी समाधि उन्हीं के कुशलादि की चिन्ता क्यों कर रहा है अथवा मैं ही अपने राजकर्मचारियों की दुर्भावना का शिकार होकर भी पुनः उसी प्रपञ्चपूर्ण राज्यप्राप्ति के लिए आशान्वित क्यों बना बैठा हूँ। यह महामाया बड़े बड़े ज्ञानी महात्माओं को भी जरा सी चूक होते ही मोह के महाभयंकर खंदक में डाल देती है और वही जब कृपादृष्टि करनेवाली हो जाती है, तो मूर्ख से मूर्ख को भी परम ज्ञानवान् बना देती है। तात्पर्य यह कि वह महामाया ही अप्रसन्न होकर अपने रचित जगज्जाल में फँसाये रखती है और प्रसन्न होने पर वही मनुष्यों को मुक्ति देने को भी तैयार रहती है। एक वाक्य में—वही संसार में बाँधती और उस से मुक्त भी करती है।

राजा ने पूछा—भगवन्, वह महामाया है कौन और कैसे वह उत्पन्न हुई तथा वह करती क्या क्या है? वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वभाववाली है अथवा किसी अन्य के प्रभाव से प्रभावित होकर इतना शक्तिसामर्थ्यसंपन्न हो गई है? ये सब बातें विस्तार सहित मैं आप से सुनना चाहता हूँ।

ऋषि ने कहा—राजन्, वह जगज्जननी भी परमात्मा की तरह नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वभाव वाली है। उस की लीला भी सच्चिदानन्दमय प्रभु की तरह अपरम्पार और अनन्त है, इस लिए वह भी सच्चिदानन्दमयी ही है। वह भी भगवान् विष्णु की भाँति समय समय पर अवतार धारण करती है और देवताओं की कार्यसिद्धि में सहायता किया करती है। जिस प्रकार भगवान् की प्रतिज्ञा है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् जब जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्कर्ष होता है, हे भारत, तब तब मैं अपनी आत्मा का सृजन किया करता हूँ। और—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों के विनाश तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग युग में अवतार धारण किया करता हूँ, उसी प्रकार जगज्जननी महामाया की भी प्रतिज्ञापूर्ण घोषणा है कि—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

इस प्रकार दानवों के उत्थान (तथा धर्म और धार्मिकों के ह्रास) से जब जब संसार के स्वाभाविक संसरण में बाधा उपस्थित होती है, जगत् आसुरपीड़ा से व्यथा पाने लगता है तब तब अवतार लेकर मैं (असुररूप) शत्रुओं का नाश (और सुर भूसुररूप धार्मिकों की रक्षा) करती हूँ। राजन्, उस भगवती आद्या शक्ति की महिमा का पूरा पूरा वर्णन कर सकना ब्रह्मादि देवों की शक्ति के भी परे है; फिर मेरी तो गणना ही क्या है ? हाँ, मैं ने उस के संबन्ध में जो कुछ सुना है और जहाँ तक ज्ञान प्राप्त किया है उस का सार इतना ही है कि प्रलयकाल में योगनिद्रा में पड़े हुए भगवान् विष्णु के कानों की मैल से उत्पन्न होकर मधु और कैटभ नाम के प्रबल राक्षसों ने जब विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा को मारना चाहा, तो ब्रह्मा ने भगवान् को जगाकर अपनी रक्षा कराने के लिए उस महामाया की ही प्रार्थना की जिस से प्रसन्न होकर उस आद्या शक्ति भगवती ने ही भगवान् विष्णु को योग-निद्रा से जगाया और भगवान् ने उन राक्षसों का वध कर ब्रह्मा की रक्षा की। फिर महिषासुर नामक महाबलशाली असुर ने जब संसार को त्रस्त कर देवताओं के लिए एक क्षण भी चैन से रहना कठिन कर दिया तब भी देवताओं की प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसी देवी ने महिषासुर का नाश कर संसार में अमन चैन कायम किया। इसी प्रकार अवतार ले लेकर शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड, धूम्रलोचन, रक्तबीज आदि बड़े बड़े राक्षसों और असुरों का उस ने समय समय पर नाश और लोक का कल्याण किया है। इस लिए हे राजन् सुरथ, और हे समाधि वैश्य, आप दोनों भी अपनी अपनी अभिलाषापूर्ति के लिए उसी भगवती, वैष्णवी, आद्या शक्ति, जग-जननी, महामाया की शरण में जाइए और शास्त्रोक्त विधि से उस की आराधना कीजिए। वह देवी ठीक ठीक आराधना करने पर बहुत शीघ्र प्रसन्न होती है और मनुष्यों को उन की इच्छा के अनुसार सांसारिक भोग, स्वर्गगति और अपवर्गप्राप्ति (मोक्षलाभ) आदि सब कुछ प्रदान करती है।

राजा ने कहा—भगवन्, महर्षे, आप ने ऐसी अद्भुत शक्तिशालिनी भगवती की महिमा का हमें ज्ञान कराके हमारा जो उपकार किया उस के लिए हम आजन्म आप के ऋणी और

कृतज्ञ रहेंगे। अब कृपाकर हमें उस की आराधना की विधि भी बतला दें तथा कहाँ बैठकर हम लोग आराधना में संलग्न हों वह स्थाननिर्देश भी करने की दया करें।

ऋषि ने कहा—उस की आराधनविधि कुछ विशेष प्रकार की नहीं है। आप अपने सनातनधर्मानुसार जिस प्रकार आज तक अनेकानेक देवता की पूजा अर्चा करते रहे हों वैसे ही उस भगवती को भी चन्दन, पुष्प, धूप, दीप नैवेद्य, बलिप्रदान (फल, उर्द आदि) के समर्पण द्वारा पूजित और उत्तमोत्तम स्तुतिपाठों से संतुष्ट करें। और कोई भी पवित्र तथा एकान्त स्थान—नदीतट, देवीमन्दिर, तपोवन आदि—ग्रहण कर आप लोग आसन लगा आराधना कर सकते हैं। उस में भी अपनी रुचि ही प्रधान है कुछ विशेष नियम नहीं है कि इन में से कौन सा स्थान अधिक उपयुक्त है।

राजा ने कहा—यदि ऐसी बात है, तो हम लोग इस तपोवन से सटकर बहनेवाली नदी का तट ही अपने लिए अधिक उपयोगी समझते हैं, क्योंकि वहाँ एकान्त भी है और जंगल के निकट होने से सब प्रकार के फल मूल आदि मिल सकने की सुविधा भी है।

ऋषि ने कहा—अत्युत्तम। आप ने उचित स्थान चुना। अब जाइए और आराधना प्रारम्भ कर दीजिए।

ऋषि की आज्ञा पाकर राजा और वैश्य दोनों ने नदी के किनारे जाकर आसन जमा दिया और मन में भगवती का प्रत्यक्ष दर्शन पाने की दृढ़ इच्छा रखकर एकाग्र चित्त से तप करना आरम्भ कर दिया। वे लोग ने मिट्टी से देवी की मूर्ति बनाकर देवीसूक्त नामक स्तोत्र से नियमपूर्वक उस की स्तुति करते, चन्दन, पुष्प, धूप, हवन आदि से पूजा करते, कभी निराहार रहते, कभी अधिक क्षुधा लगने पर संयमपूर्वक (बिलकुल पेट भर नहीं) कुछ भोजन भी कर लेते। भोजन में कभी फूल, कभी फल, कभी किसी पेड़ का पत्ता, कभी किसी पेड़ की जड़, कभी कन्द आदि का ही वे उपयोग करते, अन्न कभी नहीं खाते। जब कुछ दिनों में ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई कि निराहार रहने पर प्राण व्याकुल न हों, तो उन लोगों ने एक दम उपवास करना प्रारम्भ कर दिया और प्रतिज्ञा कर ली कि अब जब तक भगवती प्रत्यक्ष दर्शन न दे देगी तब तक हम आहार और जलपान आदि कुछ भी नहीं करेंगे। फिर अन्त में वे अपने शरीर का मांस और रक्त की बलि भी चढ़ाने लगे। बकरा भेंड़ आदि की बलि चढ़ाने में दूसरे जीवों की हिंसा होती है, इसी विचार से उन्होंने अपना ही शरीर काटा। आजकल के कायर ढोंगी भक्तों की भाँति बकरा, भेंड़, भैंसा आदि का बलिदान उन्हें उचित नहीं जान पड़ा।

इस प्रकार लगातार तीन वर्ष तक पूर्ण संयम के साथ वे दोनों भक्त आराधना करते रहे। इस से भगवती को उन की भक्ति का ठीक ठीक विश्वास हो गया कि अब ये भक्त

मेरा दर्शन पाने के सच्चे अधिकारी हो गये हैं। तब उन्होंने एक दिन प्रातःकाल ठीक उसी समय प्रत्यक्ष होकर उन्हें दर्शन दिया जब वे दोनों भक्त देवीसूक्त का पाठ करने में पूर्ण तल्लीन थे। अपनी आराधना को सफलता देखकर दोनों भक्तों ने आनन्दविह्वल होकर भगवती के चरणों पर अपने मस्तक रख दिये। भगवती ने प्रेम से उन का मस्तक स्पर्श किया और कहा—भक्तो, उठो और अपनी अपनी अभिलाषा के अनुसार मुझ से वरदान माँगो। मैं तुम दोनों पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस समय तुम लोग जो कुछ भी माँगोगे वह सब कुछ देने को मैं तैयार हूँ।

राजा ने कहा—मातेश्वरि, यद्यपि आप के दर्शनों से बढ़कर संसार में अन्य कोई भी लाभ नहीं है, और वह दर्शनरूप महान् लाभ मुझे आप की कृपा से प्राप्त हो ही गया, इस लिए और कुछ वरदान माँगना विशेष उचित नहीं है; तथापि आप आज्ञा दे रही हैं कि वर माँगो, अतः उस के पालन के लिए और दूसरी बात यह कि अभी तक मेरे मन मे अपने शत्रु से बदला लेने की लालसा निवृत्त नहीं हो सकी है, इस लिए भी मैं यही वरदान चाहता हूँ कि मेरे शत्रु अब मेरा पराक्रम न सह सकें, उन्हें बलपूर्वक मार भगाकर मैं अपना गया हुआ राज्य अपने अधिकार में कर लूँ तथा अन्य जन्मों में भी मुझे अचल राज्य प्राप्त होता रहे, शत्रु कभी मुझे जीतकर राज्यभ्रष्ट न कर सकें।

देवी महामाया ने कहा—ऐसा ही हो, तुम्हारी सब अभिलाषाएँ पूर्ण हों। जाओ, इसी जन्म में शत्रुओं को हराकर अपना राज्य हस्तगत करो, फिर मरने के बाद दूसरे जन्म में तुम्हें समस्त संसार का राज्य प्राप्त होगा और तुम सावर्णि नाम के जगद्विख्यात मनु होगे। अच्छा, वैश्यवर्य, अब तुम भी अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहो, प्रसन्नता से माँग लो।

समाधि वैश्य ने कहा—माता, आप की कृपा से मुझे अब अपनी कहलानेवाली सभी वस्तुओं से विराग हो गया है। अपने लोगों से मुझे इतना दुःख प्राप्त हुआ है कि अब मैं उन की ओर भूलकर भी देखना नहीं चाहता। इस लिए आप कृपाकर मुझे यह वरदान दें कि मैं सच्चा ज्ञान प्राप्त करूँ और यह मेरा पुत्र है, मैं इस का पिता हूँ, यह मेरी स्त्री है, मैं इस का पति हूँ, इन बन्धनकारक भावनाओं के फेर में पड़कर कभी अपने लक्ष्य से भ्रष्ट न होऊँ।

भगवती जगदम्बा ने कहा—पुत्र समाधिदास, मैं तुम्हारी कहाँ तक प्रशंसा करूँ? तुम ने जैसा सुन्दर वरदान माँगा है ऐसा वरदान माँगनेवाले बुद्धिमान् संसार में बहुत कम हैं। मैं सहर्ष तुम्हें परमात्मसिद्धिरूप परमोत्तम ज्ञान प्राप्त करने का वरदान देती हूँ। जाओ, तुम्हारी अभिलाषा भी बहुत शीघ्र पूर्ण होगी।

समय पाकर सुरथ राजा ने पुनः सेना संघटित की और भयंकर संग्राम में कोला-विध्वंसी नामक शत्रुओं के साथ साथ अपने उन विश्वासघाती मन्त्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि कर्मचारियों को भी मारकर अपना राज्य प्राप्त किया तथा समाधि वैश्य का भी उद्धार

भगवती की कृपा से नष्ट हो गया और उन्होंने पूर्ण परमात्मज्ञान की स्थिति प्राप्त कर मुक्ति-लाभ किया अर्थात् भगवान् के कथनानुसार वैश्य को भी परम गति मिल गई। इस लिए इस में जरा भी सदेह नहीं करना चाहिए कि भगवान् की दृष्टि में सब जीव एक समान हैं। न तो कोई ऊँचा है, न कोई नीचा—ज्ञान के मार्ग में जाने पर सांसारिक उच्चता नीचता की शृङ्खला छिन्न भिन्न हो जाती है। भगवान् की सर्वकर्मसमर्थ शक्ति ही भगवती महामाया कहलाती है। इस लिए वस्तुगत्या दोनों में कोई भेद नहीं है। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मेरी शरण आकर जो कोई भी अपनापा भूल जाते हैं वे स्त्री, वैश्य, शूद्र या किसी पापयोनि के भी क्यों न हों, सब परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।

इस पर अर्जुन ने कहा—हे भगवन्, जब कि आप स्त्री, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादि अन्त्यजों की परिगणना—नामनिर्देश—करके उन के लिए परम गतिप्राप्ति का अधिकार घोषित कर रहे हैं, तो इसी सिलसिले में मैं बची हुई दो जातियों (ब्राह्मणों और क्षत्रियों) के विषय में भी नामनिर्देशपूर्वक जानना चाहता हूँ कि उन को किस प्रकार के कर्मों से परम गति की प्राप्ति होती है जिन का आचरण कर मैं भी वह गति पाने के योग्य बनूँ ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, जब कि स्त्री, वैश्य, शूद्र और अन्त्यजादि पापयोनियों को मैं परम गति दिया करता हूँ तब—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर पुण्यकर्मा ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों की तो बात ही क्या है ? (इस लिए तूँ) इस सुखरहित अनित्य लोक को प्राप्त होकर मुझ को भज।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जब मैं पूर्व श्लोक में यहाँ तक कह चुका हूँ कि अधम से अधम पापपूर्ण वर्ण जाति में जन्म लेनेवाले भी मेरी शरण में आकर संसार-सागर से तर जाते हैं और मुझ भगवान् की परम गति प्राप्त करते हैं, ऐसी दशा में पवित्र आचार विचारवाले धर्मात्मा ब्राह्मणों और ऋषियों के सदृश आचरण रखने-वाले क्षत्रियों के विषय में तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उन के लिए तो स्वतः सिद्ध है कि वे मेरी गति को अवश्य प्राप्त कर सकते हैं; बशर्ते कि पूर्ण अनन्यता के साथ मेरा भजन करें। तूँ भी श्रेष्ठ क्षत्रियकुल में जन्म धारण करने के कारण उस गति को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी है। इस लिए इस क्षणभङ्गुर-अल्पकाल-

स्थायी—और सुखरहित अर्थात् दुःखमय मृत्युलोक में सर्वपुरुषार्थसाधनसमर्थ उत्तम मनुष्यशरीर पाकर परम पुरुषार्थरूप मुक्त भगवान् की सर्वोत्तमा गति का लाभ करने के लिए अनन्य भाव से मेरा भजन कर।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, भगवान् ने यह तो कहा कि चाण्डालादि नीची जातिवाले भी भजन भक्ति के प्रभाव से कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्षलाभ कर सकते हैं तब फिर ब्राह्मण क्षत्रिय आदि उत्तम वर्णवालों का क्या पूछना है; किंतु भगवान् ने यह नहीं कहा कि ब्राह्मण क्षत्रिय पवित्र वंश और उत्तम वर्णोत्पन्न होने के नाते बिना भजन भाव के ही उस (मोक्षरूप) महान् लाभ से लाभान्वित होने के अधिकारी हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय के लिए भी भगवान् ने वही नियम, वही कानून, वही शर्तें रखी है जो स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि के लिए। विश्व-विजयी सम्राटों के दर्बार की तरह भगवान् के दर्बार में ऐसे पक्षपातपूर्ण नियम कानून नहीं बनते कि अमुक सामन्त ने अमुक महायुद्ध के समय अमुक रूप से साम्राज्य की सहायता की थी, इस लिए उसे बारह खूनों की माफी दी जाती है, अपने शासनक्षेत्र में वह पूर्ण स्वतन्त्र घोषित किया जाता है, अपने शासितवर्ग के साथ वह चाहे जैसा व्यवहार करे, उस की कोई शिकायत नहीं कर सकता, और अमुक ने उस समय उतनी सहायता नहीं की, अपने ही कार बार सँभालता रहा, इस लिए अब चाहे कुछ भी डाली पूज दे, उसे कुछ नहीं दिया जा सकता, इत्यादि। भगवान् का दर्बार सदा सब के लिए सब तरफ से खुला रहता है और सब पर एक समान नियम बरता जाता है। वह नियम है भगवान् का भजन। भगवान् का भजन करनेवाला डोम चमार हो चाहे वैश्य शूद्र, स्त्री पुरुष हो चाहे ब्राह्मण क्षत्रिय, भजन का फल सब को एक ही प्राप्त होता है—मोक्ष। वहाँ समय असमय का भी कोई प्रश्न नहीं है। कोई पहले से मेरी भक्ति कर रहा है, अतः उसे मोक्ष दिया जाय और दूसरा पहले दूसरे देवताओं का भक्त था, इस लिए, अब भले ही मेरी ओर झुक रहा हो, उसे दूर करो, उस का विश्वास नहीं, उसे मोक्ष नहीं मिल सकेगा—यह सब कुछ भी प्रतिबन्ध वहाँ नहीं है। वहाँ जाने के लिए चाहे जब जो कोई भी इच्छा कर सकता है और अपने अध्यवसाय अर्थात् संयम, नियम, यजन, पूजन, स्मरण, मनन, कीर्तन, सेवन की अनन्यता, भक्ति की दृढता द्वारा वहाँ पहुँच सकता है। इस लिए यह मत सोचो कि एक तो इस मृत्युलोक में रहने के लिए जीवन की अवधि ही कम रखी गई है, उस में भी अधिकांश दुर्वृत्तियों में गवाँ चुका, फिर अब से भगवान् का भजन करके कौन सा बड़ा लाभ उठा सकूँगा। ऐसा सोचना भ्रम है, क्योंकि यह संसार क्षण-स्थायी और नाना दुःखों से परिपूर्ण तो है ही। यहाँ तो इतना ही सौभाग्य बहुत समझो कि तुम्हें मनुष्य का शरीर प्राप्त हो गया है जो सब कुछ करने धरने और बनाने बिगाड़ने की शक्ति रखता है। इस लिए जभी मौका मिल जाय, जब से ही प्रभुचरणों में अनुराग हो जाय तभी

उस मौके का लाभ लेने की तैयारी कर लो, उसी समय प्रभुपरायण हो जाओ। तुम्हारी निष्ठा यदि सर्वतः पूर्ण है, तुम्हारी भक्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं है, तो तुम एक दिन अवश्य उस परम पद को प्राप्त करने के पूर्ण योग्य हो जाओगे। तुम्हारे पूर्वकृत दुष्कर्म भगवद्भक्ति के मार्ग का अवलम्बन करते ही सुकर्म के रूप में परिणत हो जायेंगे, तुम पापरहित, निष्कलङ्क, परम पवित्र बन जाओगे और जब तक संसार में रहोगे तब तक आत्मा में लीन रहने के कारण परम सुखी, संतुष्ट और निर्भय रहोगे तथा अन्त में परमात्मज्योति में मिलकर अक्षय सुख से युक्त हो जाओगे। अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जब पापयोनि को भी मेरा भजन कर मोक्षप्राप्ति का अधिकार है तब फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और राजर्षि क्षत्रियों की तो चर्चा ही क्या है। इस लिए तूँ इस अनित्य और सुखरहित मृत्यु लोक को पाकर मुझ को भज।

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे प्रभो, आप का भजन तो वास्तव में बड़ा लाभदायक पदार्थ है। इस लिए अब कृपाकर मुझे ऐसी युक्ति बतला दीजिए कि मैं आप का भक्तिपथ पकड़कर कभी उस से विचलित न होऊँ और निश्चित रूप से आप को प्राप्त कर लूँ।

भगवान् ने कहा—अर्जुन, यदि सचमुच तूँ अपनी बात पर दृढ़ रहना और मेरी भक्ति कर मुझे प्राप्त करना चाहता है, तो—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझ को नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण होकर, आत्मा को (मुझ में) युक्त करके मुझ को ही प्राप्त करेगा।

गी० गौ०—हे अर्जुन, तूँ निश्चित रूप से मुझे तभी प्राप्त कर सकेगा जब कि अचल भाव से मुझ में मन लगानेवाला बन जा, दृढ भक्त बनकर मेरी भक्ति में लग जा विशुद्ध भाव से मेरा पूजन करनेवाला हो जा और संपूर्ण श्रद्धा सहित मुझ को प्रणाम करता रह। मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि इस रीति से यदि तूँ अपनी आत्मा को मुझ परमात्मा के योग में लगा देगा और सर्वदा मेरा ही परायण—मेरा ही आश्रित—बना रहेगा, तो अवश्य तूँ मुझ परमात्मा का ही धाम प्राप्त करेगा अर्थात् संसारचक्र में घूमता रहने से मुक्त हो जायगा।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, मनुष्य के मन का यह स्वभाव है कि वह जहाँ लग जाता है वहाँ से जल्दी हटना नहीं चाहता। मन का कुछ ठिकाना नहीं रहता कि वह कहाँ लगेगा और कहाँ नहीं लगेगा। वह जहाँ कहीं भी अपनी अनुकूलता देखता है वहीं लग जाया करता है। मन के इसी स्वभाव के कारण संसार में देखा जाता है कि कोई अपनी स्त्री में ही, कोई पुत्र, मित्र, बन्धु, बान्धव में, कोई देशप्रेम में, कोई राजभक्ति में, कोई निरन्तर स्वतन्त्र आमोद प्रमोद में मन लगाकर अपने को सुखी, आनन्दी और संतुष्ट बनाये रखने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार दरिद्र का मन अपनी दरिद्रता की बात सोच सोचकर उस से छुटकारा पाने, रोगी का मन अपने रोग की पीड़ा शान्त करने और वियोगी का मन वियोगव्यथा से मुक्ति पाने के लिए छटपटाया करता है। अभिप्राय यह कि मन जिस विषय में आसक्त हो जाता है, मनुष्य उसी विषय का चिन्तन मनन करने को विवश हुआ रहता है। अतः यही मन अगर भगवान् में लग जाय, तो आदमी भगवान् के विषय में ही सोचता विचारता रहेगा, इस में कोई संदेह नहीं कर सकता। जिस का मन जिस विषय में लग जाता है उस के अतिरिक्त वह कुछ नहीं चाहता। देखो, ऐसे अनेक उदाहरण तुम्हें नित्यप्रति देखने को मिलते रहते हैं कि कहीं कोई स्त्री की चिन्ता में मर रहा है, कोई पुत्र के लिए रो रहा है, कोई मित्र के लिए व्याकुलता प्रकट कर रहा है, कोई धन के लिए तड़फड़ा रहा है, इत्यादि। ऐसा क्यों होता है? क्यों नहीं सब लोग किसी एक ही विषय के लिए व्यग्र दिखाई देते? सब अलग अलग वस्तु के लिए क्यों परेशान रहते हैं? इस का कारण यही है कि स्त्री में आसक्ति रखनेवाले का मन उसे दूसरे विषय की बात नहीं सोचने देता, अतएव वह स्त्री के लिए चिन्तित रहता है, पुत्र मित्रादि के प्रेम में फँसा रहनेवाला मन पुत्र मित्र के विरह में रोता है, व्याकुल होता है और धन की कामना में लगा रहनेवाला मन धन के लिए तरह तरह के उपाय सोचता रहता है। इन सब कारणों से व्यथित मन तब तक शान्ति नहीं पाता जब तक उस को चिन्तनीय वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती। उस समय तक वह न रात को रात समझता है, न दिन को दिन। खाना पीना अथवा किसी भी प्रकार का विनोद आनन्द तब तक उस का मनबहलाव नहीं कर सकता जब तक मन स्वयं अपनी इच्छित वस्तु पाकर बहलना न स्वीकार कर ले। मनुष्य का मन जिस में लग जाता है उसी को वह प्रसन्न रखने की, सुन्दर बनाने की, सवाँरते रहने की, उस के आराम तकलीफ में सहयोग देने की यथाशक्ति चेष्टा करता है। यही मन अगर भगवान् में लग जाय, तो उसी प्रकार वह भगवान् को प्रसन्न रखने की, उन का भजन पूजन करने की और उन्हीं के सिंगार पटार की चिन्ता में व्यस्त रहेगा जिस प्रकार संसारी विषयों के प्रति इस में व्यस्तता देखी जाती है। इस लिए भगवान् ने अर्जुन को पहले यही आज्ञा दी कि तूँ मुझ में मन लगा। जब मन लग जायगा तभी भक्ति करना बनेगा और तभी पूजन नमन हो

सकेगा। परंतु यहाँ तो सब के मन की यह आदत पड़ गई है कि वह भगवान् के संबन्ध में किसी तरह की चर्चा भी नहीं सुनना चाहता। राजा महाराजा, सेठ साहूकार में मन लगा-कर उन की भक्ति में अपना सर्वस्व निछावर करने, हृदय से पूजा अर्पित करने और उन के *सामने घुटने टेककर उन्हें नमस्कार करने—सलाम बजाने में ही संसारी लोग अपने को कृत-*कृत्य मान बैठे हैं। भगवान् को सोचने, भजने, पूजने और प्रणाम नमस्कार करने की किसे फुर्सत है? लोगों का कहना है कि वैसा करने से हमारा संसार, हमारा कुटुम्ब परिवार किस के भरोसे सुखी होगा? राजा महाराजा खुश होंगे, तो हमारी बातें सुनेंगे, हमारी सब तरह *से सहायता करेंगे और अन्न, यश, धन, संपत्ति देकर हमारी तकलीफ दूर करेंगे। भगवान्* क्या ऐसा कर सकते हैं? वे तो मेरी भक्ति से प्रसन्न होकर अकेले मुझे अपने पास आने की शक्ति देंगे। मेरे परिवार को तो अपने कर्मानुसार ही न सुख दुःख भोगने पड़ेंगे? लोग यह नहीं सोचते कि राजा महाराजा की खुशी से प्राप्त धन धान्य भी उस दशा में कुटुम्ब परि-*वार का दुःख नहीं दूर कर सकेगा यदि उन के कर्म दुःख ही पाने के योग्य हैं।* इस के विप-रीत, यदि भगवान् को प्रसन्न कर लिया जायगा और उन की सेवा में अपना सर्वस्व भेंट करके अपने कुटुम्ब के भरण पोषण का भार उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया जाएगा, तो कुटुम्बियों के दुष्कर्म से प्राप्त होनेवाले दुःख भी भगवान् मुझे प्रसन्न रखने के लिए दूर कर सकते हैं, यह सोचने की सुबुद्धि तुम्हें क्यों नहीं होती? *भगवान् जब दुराचारी तक को परम सुख दे डालते* हैं, तो क्या सदाचारी गृहस्थ को कुटुम्ब सुख से वञ्चित रखेंगे? कभी नहीं। वे सदाचारी भक्त के दुराचारी कुटुम्ब को भी तब तक अवश्य दुःख में नहीं पड़ने देते जब तक उन का भक्त उस कुटुम्ब की देख भाल करता रहता है। संसार में इस तरह की अनेक घटनाएँ होती देखी गई हैं और इसी लिए बहुतों को ऐसा कहते सुना गया है कि 'भाई, वह धर्मात्मा था, भगवान् का सच्चा भक्त था। भगवान् की उस पर सदा कृपा रहती थी। इसी लिए जब तक वह जीता *रहा, उस ने दुःख का मुहँ भी नहीं देखा। उस के मरते ही तमाम घर में विध्वंसलीला मच गई,* साल भर भी उस के मरे नहीं हुए और सब स्वाहा हो गया, उस के लड़के बचे दर दर की ठोकरें खाते और भीख माँगते फिरते हैं" इत्यादि। इस प्रकार की बातें सुनकर भी अगर कोई भगवान् द्वारा इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख सौभाग्य से संपन्न होने की आशा नहीं करता और क्षणिक संसार तथा संसारियों के ही चक्कर में पड़ा रह जाना चाहता है, तो उस से बढ़कर मूर्ख और अभागा कौन होगा? कहाँ तो भगवान् की ऐसी दयादृष्टि कि वे चाण्डाल से लेकर *ब्राह्मण तक सब के लिए समान भाव से अपना पद देने को* तैयार और कहाँ संसारी अज्ञों का यह ख्याल कि वे अकेले मुझे मुक्ति देंगे, मेरे परिवार को उस से कोई सुख नहीं होगा; कैसी थोथी और बिना युक्ति की बात है? इस लिए तुम्हें अगर कुछ भी मनुष्यत्व का ध्यान और

अपने भले बुरे का ज्ञान है, तो ऐसी बेसिर पैर की बातें सोचना विचारना छोड़कर भगवान् की— समदर्शी परमात्मा की भक्ति करना सीखो और मन में दृढ विश्वास रखो कि भगवान् की भक्ति मुझे यहाँ वहाँ सर्वत्र विजय प्राप्त करायेगी, भगवान् के भक्त को यहाँ पर न तो दुःख का साक्षात्कार करना पड़ता है और न वहाँ जाकर फिर लौटना तथा भगवान् के विरहजन्य शोकभार से संतप्त होने के दुर्भाग्य में पड़ना पड़ता है। ऐसा विश्वास रखने पर ही तुम भगवान् में मन लगाने में समर्थ होगे और तभी तुम से भगवान् की भक्ति, भगवान् की पूजा और भगवान् की वन्दना (प्रणाम नमस्कार) रूप महती साधना संपन्न हो सकेगी। यह भक्तिसाधना साधारण बात नहीं है, न सब कोई इस में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस कार्य में वही पुरुष आगे बढ़ सकता और यथोचित लाभ उठा सकता है जिस का निश्चय चल विचल न हो। इसी से इस भक्ति को बतलानेवाली विद्या को राजविद्या और भगवान् में अपनी भक्ति का योग कर देने को राजगुह्ययोग कहा गया है। इसे अर्जुन के समान स्थिरप्रतिज्ञ अनन्य भक्त बनकर ही प्राप्त करना संभव है, अन्यथा सब कुछ कहना सुनना व्यर्थ है। अस्तु;

ऐसी ही दृढता के साथ आचरण करने का उपदेश देकर उसे सच्चा और पूर्ण भक्त बनाने के लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण हो अपनी आत्मा को मुझ में युक्त कर तूँ मुझ को ही प्राप्त करेगा।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य गीताव्यास लोकसंग्रही जगद्गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराजकथित श्रीमद्भगवद्गीतागौरव का राजविद्या राजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहो, फिर (तूँ) मेरा ही श्रेष्ठ वचन सुन जो मैं तुझ प्रसन्न होनेवाले की हितकामना से कहूँगा।

गी० गौ०—हे बड़ी बड़ी बाहोंवाले अर्जुन, मुझ में मन लगा, मेरी भक्ति करनेवाला बन, इत्यादि नवम अध्याय की समाप्ति करते हुए जो उपदेश मैं ने तुझे दिया है उसे सुनकर तूँ मन ही मन क्या सोच रहा है? तेरी आकृति से स्पष्ट लक्षित होता है कि तुझे मेरी वे बातें बड़ी अच्छी मालूम हुई हैं और इसी लिए तूँ भीतर ही भीतर बड़ा प्रसन्न हो रहा है। सो यदि यही बात है, तो उन्हीं बातों पर तूँ संतोष मत कर ले और न उन्हीं को सोच सोचकर प्रसन्न होता रह जा, बल्कि मेरी कुछ और उत्तमोत्तम बातें सुनने के लिए फिर से तैयार हो जा जो मैं तेरी विशेष भलाई करने की इच्छा से पुनः कहने जा रहा हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, भगवान् के समान संसार का हितैषी कौन होगा? भगवान् अपने भक्त के ऊपर अपने उपदेश का पूर्ण प्रभाव पड़ते देखकर स्वयं प्रेममग्न हो जाते हैं और चाहते हैं कि उस की अपरिमित भलाई कर डालूँ। यही बात उन्होंने अर्जुन में देखी। अर्जुन से जब नवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने कहा कि तूँ संसार भर के वाहियात प्रपञ्चों को छोड़कर एकमात्र मुझ परम प्रभु को मन में धारण करके मेरी ही भक्ति में अपना सब कुछ अर्पित कर दे और मेरे ही अर्चन वन्दन में लगा रह, इतने ही से तुझे मेरी प्राप्ति हो जायगी, तो इस पर अर्जुन का हृदय प्रसन्नता से विकसित हो उठा, वह समझ गया कि अब मैं बाज़ी मार लूँगा। कारण, वह तो भगवान् के बिना कहे ही—द्वितीय अध्याय में ही—अपने आप को संपूर्ण भाव से भगवान् के चरणों में भेंट चढ़ा स्पष्ट रूप से कह चुका

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।'

'मैं आप का शिष्य आप की शरण में हूँ, मुझे शिक्षा और उपदेश दीजिए।' इस लिए भगवान् ने राजविद्या राजगुह्ययोग का महान् उपदेश देकर जब उस को यही आखिरी आज्ञा दी कि तूँ मुझे मन से विचार, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मेरे संमुख नत रह (मुझे नमस्कार कर), तो अब वह क्यों न सोचे कि मैं ने बाजी मार ली और तब क्यों न परम प्रसन्न हो उठे ! परंतु भगवान् को अभी संतोष नहीं हुआ था। क्योंकि वे जानते थे कि अर्जुन भले ही अपने को सब प्रकार से कृतकृत्य समझ ले, पर वास्तव में उसे अभी बहुत कुछ जानना बाकी है। इसी से उन्होंने उस के बिना पूछे ही कहा कि अभी से संतोषी मत बन, प्रत्युत फिर मेरी बातें सुनने को प्रस्तुत हो जा। यहाँ कोई पूछ सकता है कि भगवान् ने क्यों नहीं थोड़ी देर और प्रतीक्षा कर ली ? संभव है कुछ देर प्रसन्न होकर विचार करने के बाद अर्जुन पुनः नया प्रश्न भगवान् के संमुख उपस्थित करता और तब उन्हें 'नापृष्टः कस्यचिद्-ब्रूयात्' के शास्त्रीय सिद्धान्त से अनुमोदित उपदेश देने का उचित अवसर भी अपने आप मिल जाता ? इस का उत्तर यह है कि अब प्रतीक्षा करने का अवसर ही नहीं रह गया था, क्योंकि भगवान् अब जिस विषय का उपदेश देने जा रहे हैं वह विषय ही ऐसा है कि उसे भगवान् के अतिरिक्त और कोई संसार में अभी सुना भी नहीं था, जानना तो बड़ी दूर की बात है। ऐसी दशा में अर्जुन भला किस तरह प्रश्न करता ? इसी से भगवान् को बिना पूछे ही वह विषय सुनाने के लिए अर्जुन को प्रेरित करना पड़ा। दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि अर्जुन जब भगवान् की शरण में जा ही चुका था और उन्होंने उसे जो मार्ग ग्रहण करने का उपदेश दिया उस से मुक्ति तक प्राप्त होने की बात भी वह जानकर संपूर्ण उपदेश ग्रहण कर ही चुका था, तो अब अधिक उपदेश की उसे जरूरत ही क्या थी कि भगवान् उस को पुनः उपदेश देना चाहते हैं ? इस का एक उत्तर यह है कि भगवान् अर्जुन को अपना समस्त ज्ञान विज्ञान सुनाने की पहले ही प्रतिज्ञा कर आये हैं। इस लिए उसे आधी ही बात सुनाकर संतोष कर लेना अनुचित होता। दूसरा यह कि भगवान् अर्जुन के केवल गुरु ही नहीं, अनन्य मित्र भी थे। इस लिए वे यदि अपने संबन्ध से उसे पूरा ज्ञान न करा देते, तो मैत्री के सिद्धान्त के अनुसार उन पर मित्र से रहस्य छिपाने का दोष आरोपित हो जाता। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, तूँ फिर मेरी ही उत्तम वाणी सुन जो मैं तुझ प्रसन्न होनेवाले की हितेच्छा से कहना चाहता हूँ।

यह परम आदरयुक्त वचन सुनकर अर्जुन पुनः उपदेश सुनने के लिए तत्पर होकर बोला—बड़ी कृपा है भगवन्, कहिए; मैं आप की आज्ञा का सहर्ष पालन करने को तैयार हूँ।

भगवान् का ज्ञान प्राप्त कर संसार में उस का प्रचार करनेवाले ऋषि

ભગવાનનુ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરીને સંસારમાં તેનો પ્રચાર કરનારા ઋષિ

भगवान् ने कहा—हाँ, ध्यान से सुन। मैं आज तुझ से ऐसी ऐसी बातें कहूँगा जो अब तक किसी ने नहीं सुनी हैं। बात यह है कि—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरी उत्पत्ति को न तो देवताओं ने जाना है, न महर्षियों ने। कारण, मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का (भी) आदि कारण हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मेरा अवतार धारण करना अथवा मेरी अनन्त प्रभुता आदि आज तक किसी ने नहीं जानी है। मनुष्य और इतर लघु प्राणियों की तो बात ही क्या है, देवता और बड़े बड़े ऋषि मुनि भी इन बातों को नहीं जानते। इस का कारण यह है कि मैं सारे संसार से पहले उत्पन्न होनेवाले उन देवताओं और महर्षियों से भी पहले का, अतएव उन का भी उत्पादक और आदि कारण हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, देवता और ऋषि से ही उपदेश पाकर संसार ने भगवान् के संबन्ध में ज्ञान प्राप्त किया है। सर्वशास्त्रों के प्रणेता देवता और ऋषि ही होते हैं, वे ही जो कुछ कहते हैं उसी पर श्रद्धा विश्वास रखकर संसार अपना सब तरह का बर्ताव करता है। सो वे देवता और ऋषि भी जब भगवान् के उत्पन्न करने से उत्पन्न हुए हैं, तो वे उतनी बातें अपने शिष्यों (संसार के समस्त प्राणियों) को कहाँ से बतला सकते हैं जितनी भगवान् बतला सकते हैं? वे लोग तो इतना ही कह सकते थे, और कह ही डाले हैं, कि भगवान् ने कच्छप, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, राम, कृष्ण, तथा और और भी समयानुसार अवतार लिया तथा सृष्टि की रक्षा की। वे उस अनादि ब्रह्म की उन अनन्त बातों को नहीं बतला सकते जो स्वयं भगवान् ने अर्जुन को बतलाई हैं। संसार में ही देख लो न कि कोई भी पौत्र प्रपौत्र क्या अपने पितामह प्रपितामह के ज्ञान, धन, जन्म, कर्म आदि का उतना ज्ञान रखता है जितना उस के पिता पितामह रखते होंगे? इतनी दूर की बात तो जाने दो, मैं ने तो जहाँ तक देखा है, बहुत से पुत्रों को अपने पिता की ही सब गुप्त प्रत्यक्ष बातें नहीं मालूम रहतीं। मालूम हों भी कैसे? कोई भी अपना सब रहस्य उसी पर प्रकट करता है जो उस की दृष्टि में उस का रहस्य जानने का पूर्ण अधिकारी, सच्चा विश्वासपात्र, ठीक ठीक ईमानदार होता है। जब तक ऐसा योग्य श्रोता न मिले तब तक वक्ता अपनी अन्तरङ्ग बातें नहीं बतला सकता। सो भगवान् को भी देवताओं और ऋषियों मुनियों में अर्जुन जैसा श्रद्धालु, विश्वासपात्र, सच्चा

अब तक कोई नहीं मिला था। इसी लिए उन्होंने अपनी असली विभूतियों को अब तक छिपाकर अपने ही तक सीमित रखा था, दूसरे किसी को उन का पता नहीं दिया था। अब जब उन्होंने देख लिया कि अर्जुन में वे सब लक्षण वर्तमान हैं जिन लक्षणों से युक्त होनेवाले को मुझे अपनी सारी विभूति प्रत्यक्ष करा देनी चाहिए, तो अर्जुन के सामने उन्होंने अपना हृदय खोलकर रख दिया। अर्जुन से भगवान् ने कह दिया कि आज मैं तुझे ऐसी ऐसी बातें बतलाऊँगा जो अब तक देवता और ऋषि भी नहीं जान सके हैं। यद्यपि भगवान् देवताओं और ऋषियों के आदि कारण हैं, उन से बहुत पहले से—अनादि काल से— भगवान् की सत्ता संसार में व्याप्त है, तथापि देवताओं ऋषियों को भगवान् की सब सत्ताएँ नहीं मालूम हुईं, न उन लोगों ने जानने का प्रयत्न किया, इस का कारण क्या है? स्वभावतः यह प्रश्न सब के मन में उठ सकता है। मेरी समझ में इस का कारण यही है कि देवताओं और ऋषियों को जब भगवान् के अनन्त धाम से तत्संबन्धी धर्मोपदेश मिलने लगा होगा उस समय उन लोगों ने उतने उपदेशों पर संतोष कर लिया होगा जितने से उन्होंने संसार की परम गति का अनुमान कर लिया होगा। नवम अध्याय के अन्तिम श्लोकोक्त उपदेश से अर्जुन भी वैसा ही संतोष धारण करने जा रहा था, पर वह तो नारायण के सहचर 'नर' का साक्षात् अवतार था, उसे भगवान् संतोष क्यों करने देते? तभी तो उस की संतोषप्रवृत्ति की प्रशंसा करते हुए भी उन्होंने उसे अपनी परम विभूतियों का ज्ञान कराना आवश्यक समझा और उपदेशश्रवण के लिए उस को सन्नद्ध कराने के बाद कहा—

हे अर्जुन, मेरी उत्पत्ति (अथवा प्रभुत्व शक्ति) को न तो देवताओं ने जाना है, न महर्षियों ने; क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।

इस पर अर्जुन ने पूछा—हे प्रभो, आप का भक्त बन जाने और उस के द्वारा मुक्तिप्राप्ति का सामर्थ्य प्राप्त कर कर लेने के बाद भी क्या यह जरूरी है कि आप की ये सब बातें अवश्य ग्रहण की जायँ?

भगवान् ने उत्तर दिया हाँ, अर्जुन, इन वक्ष्यमाण बातों का जानना भी परम आवश्यक है, क्योंकि—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मुझ को अजन्मा, आदिरहित और सब लोकों का महेश्वर जानता है वह मनुष्यों में मोहरहित होकर सब पापों से अच्छी तरह छूट जाता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो मनुष्य मुझ परमात्मा को कभी जन्म न लेनेवाला, देवता ऋषि का भी आदि कारण होने से सर्वदा का आदिरहित अर्थात् सब प्रकार से अजन्मा ही और महेश्वर अर्थात् सब लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर जानता है वह मनुष्य सब मनुष्यों में मोहमुक्त कहलाता है और सब प्रकार के पापों से बिल्कुल छुटकारा पा जाता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस श्लोक के द्वारा भगवान् ने अर्जुन के प्रत्यक्ष प्रश्न का उत्तर तो दिया ही है, *साथ साथ उन्होंने उस के मन से यह भाव भी निकाल देना चाहा है* कि वह भगवान् को अपनी स्त्री (सुभद्रा) का भाई, नन्द वसुदेव का लड़का और गोप गोपियों का सखा प्रेमी मत समझे। अर्जुन अगर भगवान् के मुँह से अपनी भगवत्ता सिद्ध करते हुए देवता और ऋषि का भी आदि कारण कहना सुनकर उन से परिहास करता और कहता कि आप तो गोकुल में पैदा हुए हैं और मेरे साथ अपनी बहिन का विवाह किया है। मैं आप की जन्मतिथि तक बतला सकता हूँ, फिर आप कैसे कह रहे हैं कि मैं देवता आदि को भी पैदा करनेवाला आदि कारण हूँ, तो भगवान् को उस की बात भी स्वीकार ही करनी पड़ती, क्योंकि लौकिक दृष्टि से वह बात भी सोलह आने सच होती। परंतु चतुर भगवान् ने सोचा कि इस आध्यात्मिक और अलौकिक उपदेशप्रवचन के समय लौकिक दृष्टि का निक्षेप होना अच्छा नहीं होगा। इस लिए अर्जुन को वैसा परिहास करने का मौका ही उन्होंने नहीं मिलने दिया और अपनी बात सिद्ध करने के लिए अपने जन्मराहित्य की ज्ञानपूर्ण चर्चा चला दी। लेकिन अर्जुन भी साधारण मनुष्य नहीं था, वह भी भगवान् का ही सखा था। उस के पास भी बड़ी बड़ी युक्तियों का संग्रह भरा हुआ था। इस लिए उस ने जब भगवान् को 'डार डार' चलते और अपने को अजन्मा अनादि कहकर लौकिक परिहास से बचने की चेष्टा करते देखा, तो वह भी 'पात पात' चलने लगा और शास्त्रीय युक्ति का ही सहारा लेता हुआ बोला—क्यों महाराज, आप ने ही तो कहा था कि—

> 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥' (अ० ४, श्लो० ५)

'हे अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं जिन सब को मैं ही जानता हूँ, तू नहीं जानता।' *सो वहाँ तो आप ने अपने पूर्व जन्मों की जानकारी से गौरव का भाव* दिखलाया और मुझे अनजान मूर्ख सिद्ध किया और अब यहाँ कह रहे हैं कि मैं जन्मरहित तथा अनादि हूँ। इन परस्पर विरोधी बातों का क्या उत्तर है आप के पास ?

भगवान् ने कहा—बहुत से उत्तर हो सकते हैं। पर सच तो यह है कि मेरी बातें परस्पर विरोधी हैं ही नहीं। तू इन बातों में विरोध देख रहा है, यही अलबत्ता विरुद्ध आचरण

है, क्योंकि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मेरे जन्म कर्म दिव्य हैं। इस का अभिप्राय यह है कि मैं संस्कार के साथ अवतार नहीं लेता हूँ और न प्रारब्ध में बँधकर प्रकृति के नियन्त्रण के अनुसार कर्म करता हूँ। मैं स्वतन्त्र अपनी इच्छा से अवतरित होता हूँ और बन्धनरहित रह-कर ही पुनः अपने धाम चला जाता हूँ। संसारी जीवों की भाँति न तो मुझे जन्म संबन्धी दुःख भोगने पड़ते हैं, न मरण का ही मुझे भय अथवा कष्ट होता है। और जन्ममरणसंकट वास्तव में उसी का नाम है जिस में प्रारब्ध कर्मों के अनुसार संसार में उत्पन्न होना और दूसरे (आगामी) जन्म में फिर से मिलनेवाले कर्मभोग के भय से डरते हुए मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़े। मैं (भगवान्) इन दोनों प्रकार के भावों से मुक्त, सर्वतः निर्लिप्त, अतएव निर्वि-कार एवं साकार अवतारी होता हुआ भी वस्तुतः निराकार अर्थात् अजन्मा और अनादि ही हूँ।

भगवान् के अवतारों के संबन्ध में जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकार की भावना को अपने हृदय में धारण करता तथा इस से कभी विचलित नहीं होता वही भगवान् को तत्त्व के साथ जानने-वाला कहा जाता है। ऐसे मनुष्य के अनेक जन्मों के संग्रहीत समस्त पाप आग में रूई के समान भक से जलकर एक बारगी राख हो जाते हैं और धार्मिक वायु के झकोरों में पड़कर उस राख का भी अन्त में अस्तित्व लुप्त हो जाता है। वह मनुष्य फिर कभी किसी विषय में मोहित नहीं होता। उस की सब क्रियाएँ पूर्ण निष्काम भाव से संपादित होने लगती हैं और वह सब तरह से गुणातीत के लक्षणों से युक्त होकर जीवन्मुक्त की दशा को प्राप्त कर लेता है। अस्तु;

इसी प्रकार के भावों से अर्जुन को परिपूर्ण बनाने के लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो मनुष्य मुझे कभी जन्म न लेनेवाला, अतएव आदिरहित तथा सभी लोकों का महान् ईश्वर जानता है वह मनुष्यों में असमोहित न होकर सब प्रकार के पापों से बिलकुल छुटकारा पा जाता है।

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे भगवन्, आप पहले भी एक बार कह आये हैं कि मैं सब लोकों का महान् ईश्वर, सब के यज्ञ तप आदि का भोक्ता और सब का परम हित चाहने-वाला हूँ, और फिर यहाँ भी आप यही घोषित कर रहे हैं कि मैं लोकमहेश्वर हूँ। वहाँ (अ० ५, श्लो० २९ में) भी आप ने बतलाया था कि सब (कथित) बातों के साथ साथ जो मेरी सर्वलोकमहेश्वरता को जानता है वह शान्ति को प्राप्त होता है और यहाँ भी आप का यही कथन है कि मुझे अजन्मा, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर जाननेवाला मोहरहित होकर सब पापों से मुक्त हो जाता है; परंतु आप ने अभी तक यह कहीं नहीं बतलाया कि आप सब लोकों के महान् ईश्वर होने के नाते सब लोकों को देते क्या हैं अर्थात् आप की सर्वलोक-महेश्वरता से जगत् को लाभ क्या होता है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, यह तो तुझे मालूम ही है कि संसार के साधारण नरेश्वर (राजा) लोग भी अपनी प्रजा को कितने प्रकार का लाभ पहुँचाते रहते हैं। इसी प्रकार मेरे बारे में भी क्यों नहीं सोच लेता कि जब मैं इतना बड़ा ईश्वर हूँ, तो उसी के अनुसार संसार को बड़ी बड़ी वस्तुओं से लाभान्वित भी अवश्य करता होऊँगा ?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, समझने को तो मैं बहुत कुछ समझ रहा हूँ और समझ सकता हूँ, पर मेरा स्वयं समझना क्या उस हद तक कभी पहुँच सकता है जितना आप के बतलाने पर समझ सकूँगा ? अवश्य ही वैसा होना असंभव है। इसी लिए मैं आप से ही पूछकर जानना चाहता हूँ कि आप अपने को सब लोकों का ईश्वर बनाते हुए सब लोकों को किस प्रकार का लाभ पहुँचाते हैं ?

भगवान् ने कहा—यदि ऐसी बात है, तो ध्यान से सुन और गिन ले कि संसार मुझ से क्या क्या पाता है—

> बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
> सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
> अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
> भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अयश, (इत्यादि) विभिन्न प्रकार के प्राणियों के भाव मुझ से ही (उत्पन्न) होते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मेरी त्रिगुणात्मिका सृष्टि में जितने प्रकार के भिन्न भिन्न जीव हैं उन में करणीय अकरणीय आदि भला बुरा समझ ने की शक्ति (बुद्धि), लौकिक पारलौकिक—आत्मा परमात्मा के विषय में सब कुछ जान लेने का सामर्थ्य (ज्ञान), विषयवासना आदि हीन कामनाओं और सब प्रकार के भोगों से दूर रखनेवाली वैराग्यवृत्ति (असंमोह), बदला लेने की पूरी शक्ति रहते हुए भी किसी भी प्रकार की हानि पहुँचानेवाले पर क्रोध न करना (क्षमा), अपने मन को और आत्मा को जो विषय वास्तविक या अवास्तविक जिस किसी भी रूप में ज्ञात है बिल्कुल उसी रूप में उस विषय का अन्य को परिचय देना (सत्य), बाहरी भीतरी

दसों इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण (दम), मन को सब तरह से अपने वश में रखना (शम), मनचाही वस्तु की प्राप्ति और अनचाही के दूरीकरण से उत्पन्न भाव (सुख), अनिच्छित के लाभ और इच्छित के अलाभ से उत्पन्न भाव (दुःख), संपूर्ण चराचर जगत का सृजन (भव), सृष्टिगत समस्त पदार्थों का एक साथ विनाश (अभाव), छोटी बड़ी किसी भी प्रकार की हानि की संभावना से उत्पन्न भाव (भय), भय के कारणों का किसी ढंग से नाश हो जाने पर उत्पन्न होनेवाला भाव (अभय), प्राणिमात्र को मनसा, वाचा, कर्मणा प्रसन्न और सुखी रखने का भाव (अहिंसा), सम, सुन्दर, मनोऽनुकूल या विषम से विषम परिस्थिति को भी प्रभु की कृपा से प्राप्त जानकर सब में एकाकारता का भाव (समता), सुख, दुःख, भोग, अभोग, पूर्णाहार, निराहार आदि आनन्दकर या कष्टकर समय को परमात्मा की देन समझकर हर हालत में प्रसन्न रहने का भाव (तुष्टि), अपने अपने स्वभावजन्य, जाति वर्णानुकूल धर्म की वृद्धि और उस की रक्षा के निमित्त कष्ट सहने में तत्परता का भाव (तप), अपनी प्रिय वस्तु को मनसा, वाचा, कर्मणा अन्य के लिए संकल्पित कर देने का भाव (दान), शरीर, वचन और मन से किये गये उत्तम कर्मों पर जनता द्वारा प्रशंसा प्राप्त होने का भाव (यश), इसी प्रकार मध्यमाधम अर्थात् निकृष्ट निकृष्टतर कर्मों पर जनता द्वारा निन्दा प्राप्त होने का भाव (अयश)— ये सब जितने प्रकार के भाव मिलते हैं, इन सब को मैं ही उत्पन्न करता और अलग अलग मनोवृत्तिवालों को अलग अलग वितरित करता हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, ऊपर के दो श्लोकों में भगवान् ने जितने प्रकार के भाव गिनाये हैं वे सब भगवान् से ही उत्पन्न होकर सारे संसार में फैले हुए हैं और सारा संसार अपने अपने कर्म, संस्कार, प्रारब्ध के अनुसार उन्हीं में भ्रमण करता हुआ अपना अपना कर्म संपादित कर रहा है। यह बात यद्यपि नहीं कही जा सकती कि सभी जीवों में ये सब भाव न्यूनाधिक मात्रा में रहते ही हैं, बहुत से जीव ऐसे भी उत्पन्न होते हैं जिन में इन में से एकाध भाव ही जन्म भर भरे रहते हैं, इस लिए मनुष्य में भी अगर कोई एक ही स्वार्थसाधक भाव रहे, तो कोई बुरी बात नहीं है, तथापि शास्त्रकारों ने मनुष्य के लिए स्वार्थसाधक भावमात्र को अपनाने की बार बार निन्दा की है। मनुष्य का मनुष्यत्व ही उस के स्वार्थी बनने का घोर विरोधी है। इस लिए इन कथित भावों में जो जो उत्तम भाव हैं उन्हीं को अपनाना मनुष्य का यथार्थ कर्तव्य है और जो जो भाव अपेक्षाकृत उत्तम नहीं कहे जा सकते उन्हें छोड़ देना ही उस का धर्म है। जैसे—दुःख, विनाश, भय, अपयश आदि अच्छे भाव नहीं कहे जा सकते, अतः इन भावों का आश्रय करना अच्छा नहीं है। जहाँ तक बने, इन भावों से पृथक् रहने में ही मनुष्य की

भलाई है। यहाँ कोई संदेह कर सकता है कि ये भाव बुरे हैं, तो इन्हें भगवान् ने उत्पन्न ही क्यों किया ? सर्वसमर्थ भगवान् ने इन भावों को सदा के लिए सृष्टि से बाहर क्यों नहीं कर दिया ? इस का उत्तर यही है कि जिस प्रकार की सामग्रियों से सृष्टि की रचना की गई है इन्हें देखते हुए इन भावों का रहना ही अधिक उत्तम है। सृष्टि सत्त्व, रज, तम—इन्हीं तीन गुणों के मिश्रण से रची गई है। इस लिए राजसिक तामसिक भाव दुःख, विनाश, भय, अपयश आदि उस से पृथक् नहीं रखे जा सकते। दूसरी बात यह कि यदि भला बुरा दोनों भाव साथ साथ न रहें, तो भला या बुरा पहचाना भी नहीं जा सकता—भले से बुरे का और बुरे से भले का पृथक्करण (विलगाव) होना ही स्वाभाविक है, एक न हो, तो दूसरा अलग नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य आवश्यक है कि मनुष्य उन को ठीक ठीक पहचानकर भले का ग्रहण और बुरे का परित्याग करे। इसी लिए सब भावों में भगवान् ने बुद्धि को प्रधानता दी और सब के पहले उस का नामनिर्देश किया। बुद्धि मनन करने की शक्ति को कहते हैं। यह वस्तु अच्छी है या खराब, यही विचारधारा मनन कहलाता है। सृष्टि के समस्त जीवों में किसी न किसी अंश में बुद्धिभाव पाया जाता है, पर मनुष्य में यह भाव सब से अधिक मिलता है। कुछ तो भगवान् ने ही मनुष्य को और जीवों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् बनाया है, पर मनुष्य स्वयं अपनी शक्ति से बुद्धि पर अपना अधिक दावा रखता है। प्रत्येक मनुष्य का यही कथन है कि भगवान् ने बुद्धि की रचना करने के बाद उसे (बुद्धि को) तीन बराबर बराबर हिस्सों में बाँट दिया जिन में से २½ ढाई हिस्सा अकेले मुझ को मिला है और बाकी आधा हिस्सा में सारा संसार है। ऐसा एक भी मनुष्य मिलना अत्यन्त कठिन है जो अपनी बुद्धि को दूसरे की बुद्धि से कम माने। यहाँ तक कि जिस के उलटे पलटे—सर्वथा हानि पहुँचाने-वाले—कामों को देखकर एक अपढ़ गँवार भी उस की मूर्खता सिद्ध कर सकता है वह प्रबल मूर्ख भी अपने को बुद्धिमान् समझने में किसी का थोड़ा सा भी विरोध सहन नहीं कर सकता, जो उसे मूर्ख कहता है उस की खोपड़ी चकनाचूर करने के लिए वह लाठी लेकर तैयार हो जाता है। यद्यपि बुद्धि किसी के खास बँटवारे की वस्तु नहीं है, न यही जरूरी है कि कोई अधिक डिग्रियोंवाला, अधिक ओहदेवाला या अधिक वेतन पानेवाला ही बुद्धिमान् कहलाने का यथार्थपात्र है। बिना पढ़े लिखे भी बड़े बड़े बुद्धिमान् संसार में कितने ही पैदा हो गये है, खेतों में घास छीलनेवाला किसान भी कभी कभी ऐसी बुद्धिमत्तापूर्ण युक्तियाँ पेश कर देता है कि अच्छे अच्छे वकील बैरिस्टर दंग रह जाते हैं, कितने ही भिखमंगे सड़कों पर खड़े होकर दूसरों को अखबार पढ़ते देखते हैं, तो ध्यान लगाकर उस में की खबरें सुनने लगते हैं और अवसर पड़ जाने पर ऐसी ऐसी राजनैतिक गुत्थियाँ सुलझा देते हैं कि बड़े बड़े राजनैतिक पत्रों के संपादक भी झख मारें। संसार में ऐसे उदाहरण अनेक बार देखे गये हैं कि दो हजार मासिक वेतन पाने-

वाले इंजीनियर ने कोई पुल या महल मकान तैयार किया और अन्य कितने ही इंजीनियरों ने उस की सुन्दरता तथा दृढ़ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की, पर एक मामूली किसान या आठ दस आने रोज के कारीगर ने उस इमारत को देखते ही ऐब निकाल दिया जिस पर निर्माणकर्ता इंजीनियर और प्रशंसक सभी को मुँह की खानी पड़ी। इसी प्रकार यह भी सुना गया है कि किसी अपढ़ यूरोपियन किसान (अंग्रेज) के लड़के ने हजारों रुपये लगाकर अपने देश की सर्वोच्च डिग्री हासिल की और किसी उपनिवेश का गवर्नर बनाकर भेज दिया गया। वहाँ उस ने कई वर्ष शासन किया और सारी प्रजा ने उस के शासन की भूरि भूरि प्रशंसा की। वहाँ से वह अपने देश लौटा तो पचासों लाख रुपये ले जाकर अपने पिता के सामने रख दिया। इन बातों को देखते हुए कौन उस की विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता में संदेह कर सकता है? किंतु नहीं। उस का पिता फिर भी उस की बुद्धिमानी का कायल नहीं हुआ और बिगड़कर बोला—तूँ महामूर्ख और महानालायक है। मैं ने कुछ नहीं पढ़ा है तो क्या हुआ? मुझे यदि तेरे समान कोई ओहदा मिला होता, तो मैं ने करोड़ों रुपये पैदा कर लिये होते। इस उदाहरण से क्या यही समझना होगा कि उस गवर्नर को वास्तव में उतनी बुद्धि नहीं थी, अथवा उस का पिता सचमुच ही बहुत बुद्धिमान् था? नहीं, दोनों ही बातें असत्य हैं। सत्य केवल यह है कि हर एक अपने लिए ढाई हिस्सा बुद्धि का मिलना मानता है और आधे में सारे संसार की बुद्धि देखता है। कोई भी अपने को अपूर्ण विद्वान् या बुद्धिमान् स्वीकार नहीं करना चाहता। सभी यही समझते हैं कि मैं ही पूर्ण बुद्धिवाला हूँ। परंतु यह नितान्त भ्रान्त धारणा है, क्योंकि इस संसार में पूर्ण केवल एक परमात्मा है, जैसा कि श्रुतिवचन भी है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इस का अर्थ है—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है, और पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही अवशेष रहता है। इस लिए मनुष्य यदि अपने को किसी विषय में पूर्ण मानता है, तो यह उस की कोरी अनभिज्ञता, मदान्धता, अहंकारिता के सिवा और कुछ नहीं है। कारण, यदि मनुष्य पूर्ण बुद्धिमान् होता, तो उस के ज्ञानी बनने में कोई कसर न रह जाती। किंतु मनुष्यों की आज दिन संसार में जो संख्या उपलब्ध है उस में कितने ज्ञानी प्रसिद्ध हैं? इसी लिए भगवान् ने भी बुद्धि के बाद ज्ञान की गणना की और यह संकेत किया कि बुद्धि वही ठीक है जो ज्ञानप्राप्ति में संलग्न रहे। ज्ञान होने से भ्रान्ति का नाश होता है अर्थात् मनुष्य मोहरहित होकर असंमूढता का भाव प्राप्त करता है। असंमूढ मनुष्य ही बदला चुकाने की शक्ति रखते हुए भी दूसरों की गाली, मार, निन्दा को क्षमा कर सकता है। जो मोह में पड़ा रहनेवाला है वह गाली मार तो क्या, जरा से मौखिक मखौल

या चिकोटी की पीड़ा तक नहीं सह सकता, शक्ति रहते वह ऐसा बदला चुका लेना चाहता है कि दिल्लगी करने और चिकोटी काटनेवाला जन्म भर याद करता रहे। और जिस में बदला चुकाने की शक्ति ही नहीं है वह यदि लात घूसा खाकर चुप रह जाता और कहता है कि जाओ, मैं क्षमा करता हूँ, तो उस की क्षमा क्षमा नहीं, कायरता है। क्योंकि वह जानता है कि मैं अगर बदला चुकाने जाऊँगा, तो वह मारनेवाला अब की बार कदाचित् प्राण ही ले लेगा। इस लिए भगवान् की विभूतियों में जिस क्षमा की गणना हुई है वह कायरों और कमजोरों की हार के रूप में कदापि नहीं समर्थित हो सकती। वह तो वही रूप प्राप्त कर सकती है जो सब प्रकार का शक्तिसामर्थ्यसंपन्न एक बुद्धिमान् ज्ञानी ही उसे दे सकता है।

भगवान् ने यहाँ भूतों के भावों के रूप में अपनी जिन विभूतियों का वर्णन किया है वे ऐसी सरल नहीं हैं कि सब लोग उन का ठीक ठीक उपयोग कर सकें। इन बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा आदि समस्त विभूतियों में बुद्धि और ज्ञान (अर्थात् अन्तरङ्ग बहिरङ्ग के सूक्ष्म स्थूल पदार्थों का मनन विवेचन करनेवाली शक्ति) को मुख्य स्थान प्राप्त है— सर्वप्रथम इन्हीं दोनों का नाम आया है। इस से यह भाव निकलता है कि आगे की—क्षमा, सत्य, दम, शम आदि—विभूतियों में बिना बुद्धि और ज्ञान के ठीक ठीक बर्ताव नहीं हो सकता। पहले बुद्धि से समझकर विवेक (ज्ञान) द्वारा निश्चय कर लेना चाहिए कि कब क्षमा का अवसर है, कब सत्य की वास्तविक उपयोगिता सिद्ध हो सकती है, कब इन्द्रियों का दमन आवश्यक है तथा कब मन का शम करना चाहिए, इत्यादि; उस के बाद जैसा अवसर देखे वैसा इन विभूतियों का उपयोग करे, अन्यथा लाभ के बदले हानि हुए बिना नहीं रह सकती। जैसे—चोरों, डाकुओं, हत्या करनेवालों, गाँव, घर, खेत, खलिहान में आग लगानेवालों, जहर देनेवालों, आततायियों, स्त्री बालक आदि का हरण करनेवालों को क्षमा करना कभी धर्म नहीं कहा जा सकता। ऐसे पापियों को क्षमा करने से धर्म के बदले अधर्म और लाभ के बदले हानि ही होगी। ऐसों को क्षमा करनेवाला कायर, पापी, नारकी और राजकीय कानूनों के अनुसार घोर अपराधी ही कहा जायगा, गीतानुसार आचरण करनेवाला पुण्यात्मा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह फाँसी की सजा के भय से छिपे हुए किसी अपराधी का पुलिस को पता देनारूप सत्य सत्य नहीं, बल्कि सत्य का गला घोंटना कहा जायगा, रास्ता कँटीला है या साफ सुथरा, यह देखने के लिए यदि आँखें काम कर रही हैं, तो उन्हें बंद कर लेना और यह सोचना कि इसी का नाम इन्द्रियनिग्रह है, भयंकर मूर्खता ही प्रमाणित होगी, प्यास से प्राण निकलने की संभावना देखते हुए भी मन को पानी पीने की इच्छा से वञ्चित करने की चेष्टा शम नहीं, प्रत्युत आत्म हत्ति ही साबित होगी। तात्पर्य यह कि एक ही लकड़ी से बैल और शेर सब को भगाने का काम नहीं चल सकता। विवेकबुद्धि की सर्वत्र आवश्यकता है। कोई भी अवसर [illegible]

विवेक से काम लिये समुचित नहीं संचालित हो सकता। संसार में जन्म लेनेवाले प्राणिमात्र को अपनी अपनी हैसियत के अनुसार सांसारिक व्यवहार बर्तना ही पड़ता है। कोई कैसा भी धर्मप्राण व्यक्ति क्यों न हो, जीवनरूपी धर्म का निर्वाह तो उसे करना ही होगा, और जीवनधर्म ही लोकव्यवहार का मूल कारण है; फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि कोई भी मनुष्य लोकव्यवहार से अलग रहकर अपनी जीवनयात्रा पूरी कर सके। अतः विवेक का सहारा लेकर सभी को अपना अपना जीवनव्यापार, लोकव्यवहार बर्तना पड़ता है।

एक बार की बात है कि महारानी द्रौपदी ने महाराज धर्मराज (युधिष्ठिर) को उपदेश देकर उन्हें विवेक ज्ञान का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया था। यह बात उस समय की है जब पाण्डव लोग द्रौपदी के साथ राज पाट हारकर वनवास करने पर विवश हुए थे। कथा यों है कि पाण्डवों ने दुर्योधन की शासनप्रणाली और प्रजा का सुख दुःख जानने के लिए एक वनवासी (जंगली) मनुष्य को गुप्तचर बनाकर हस्तिनापुर भेजा था। वनवासी ब्रह्मचारी का वेष धारणकर वहाँ गया और राज्य भर का भीतरी बाहरी बहुत सा समाचार ले आया। उस ने पाण्डवों से आकर कहा कि दुर्योधन बड़ा ही न्यायप्रिय और प्रजावत्सल राजा हो रहा है। सारी प्रजा उस का अन्तःकरण से गुणगान करती और भलाई चाहती है। साथ ही उस ने और भी बहुत सी राजनीतिक बातें बतलाईं। गुप्तचर की बातों पर विचार और भविष्य के कर्तव्य का निश्चय करने के लिए पाण्डवों की गोष्ठी बैठी। युधिष्ठिरजी साक्षात् धर्म के अवतार थे। उन्होंने कहा कि जब दुर्योधन के शासन में प्रजा को सब प्रकार का सुख है तो और दुर्योधन अपना भाई ही है, तो कोई कारण नहीं कि हम लोग प्रजा में अशान्ति असंतोष उत्पन्न करने के कारण बनें और वनवास की अवधि बीतने के पहले ही राजनैतिक चालों का आश्रय लें। हम लोगों को अभी शान्तिपूर्वक वनवासकाल समाप्त करना चाहिए, बाद में जो उचित होगा वैसा बर्ताव किया जायगा।

भीमसेन स्वभाव से ही उग्र प्रकृति थे। उन्हें विप्लव और उत्पात जितने प्रिय थे उतनी शान्ति नहीं। इस लिए बड़े भाई की नीति उन्हें अच्छी नहीं लगी। दुर्योधन की बड़ाई सुनकर उन का खून खौल उठा। पर युधिष्ठिर का वे संकोच भी बहुत करते थे। उन के सामने कुछ बोल नहीं सके, मन ही मन क्रोध को पीकर रह गये। द्रौपदी भी वहीं बैठी हुई थीं। उन्हें भी युधिष्ठिर की साधुता पर चिढ़ छूट रही थी। फिर भीमसेन का मनोभाव भी उन्होंने लक्ष्य कर लिया। उन्हें भीम का पक्ष लेकर युधिष्ठिर को समझाने का मौका मिल गया। उन्होंने आड़े हाथों युधिष्ठिर की खबर लेनी शुरू कर दी। कहा—महाराज, मैं मानती हूँ कि साधुता और धार्मिकता बड़े प्रशंसनीय गुण हैं और इन के आचरण से बिना हाथ पाँव हिलाये ही भगवान् दाल रोटी का सवाल हल कर देते हैं, पर यह भी मुझे मालूम है कि

परमात्मा और उन की प्रकृति ने सृष्टि के अंदर समस्त पदार्थों को एक सीमा में बाँध रखा है। अतः धार्मिक और साधु को भी एक सीमा बनाकर चलना पड़ता है जिस के बाहर जाने का किसी को अधिकार नहीं है। इस लिए मैं निवेदन करना चाहती हूँ कि गुप्तचर ने जो बातें कही हैं वे आप को साधु और धर्मवृत्ति की सीमा के बाहर की—राजनीति की बातें हैं। इन बातों पर आप को नैतिक दृष्टि से विचार करना चाहिए, न कि धार्मिक दृष्टि से। इस विषय में धर्म का आश्रय लेने से काम नहीं चलेगा, नीति के अनुसार ही चलना उचित होगा। नीति और धर्म दोनों दो बातें हैं, दोनों को एक साथ घसीटना बुद्धिमानी नहीं है। अतः विवेक से काम लीजिए। दुष्टों, खलों, पापियों, अत्याचारियों, क्रूरों के साथ अपना धर्मभाव मत दिखलाइए, नहीं तो वे यहाँ जंगल में भी आप की नींद हराम कर देंगे। उन के साथ नीति के कथनानुसार ही वर्ताव करने से आप का धर्म भी सुरक्षित रह सकता है। और नीति यही कहती है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' शठ के साथ शठता का ही व्यवहार करना चाहिए। इस लिए इस समय आप धर्म को संध्या वन्दन तक ही सीमित कीजिए और राज्य के संबन्ध में नीति को बर्तिए तथा श्री कृष्ण और अपने चारों भाइयों की संमति को भी अपने हृदय में स्थान दीजिए, धर्म का हठ छोड़ दीजिए। नीति का अनुसरण न कीजिएगा और शठों की शठता का कठोर दण्ड देने की तैयारी न रखिएगा, तो दुष्ट लोग आप की सिधाई का ऐसा अनुचित लाभ उठाने लगेंगे जैसा शरीर में घुसा हुआ वाण आलस्यपूर्वक वहीं छोड़ दिया जाने पर इस लिए धर्म में धर्म और नीति में नीति बर्तना ही बुद्धिमान् का परम कर्तव्य है, धर्म में नीति और नीति में धर्म बर्तना नहीं। अन्त में युधिष्ठिरजी को द्रौपदी की बात माननी पड़ी जिस के फलस्वरूप महाभारत युद्ध हुआ और गीता जैसे परम ज्ञान के प्रसार को अवसर मिला।

क्षमा और सत्य आदि भी धर्म और नीति के बाहर की बातें नहीं हैं। नीति के कथन पर ध्यान रखते हुए ही क्षमा सत्य आदि को स्थान देना उचित है। धार्मिक हठ के साथ क्षमा करने पर बड़ी बड़ी बुराइयाँ पैदा हो जाया करती हैं। इस लिए विवेक से काम लेते हुए क्षमा का बर्ताव करो, और विवेकियों का यही अनुभव है कि अवसर के अनुसार क्षमा करने पर भी दुष्टों को क्षमालक्षण तो कदापि मत बतलाओ, अन्यथा वे क्षमापात्र तुम्हें सीधा जानकर तुम्हारी दुर्गति कर डालेंगे। इस विषय का एक बड़ा सुन्दर लौकिक दृष्टान्त है।

हिमालय की तलहटी में पास ही पास बसे हुए दो गावों के बीच एक छोटा सा, किंतु अत्यन्त सघन जंगल था। कहा जाता है कि वहाँ पहले एक ही गाँव था, पर कुछ ही समय के भीतर गाँववालों ने इस कदर अपनी संततिवृद्धि की कि उसी गाँव में सब का निर्वाह हो सकना असंभव हो गया। इसी लिए थोड़ी दूर हटकर दूसरा गाँव बसाना अनिवार्य सिद्ध

हुआ। गर्ज यह कि दोनों गावँ के लोग एक ही जाति के थे, दोनों जगहों के बाशिंदों में एक ही पुरखा का रक्त प्रवाहित था, अतएव उन का आपस में सर्वदा से घनिष्ठ संबन्ध रहता चला आता था। सवेरे, दोपहर, शाम, आधीरात—कभी भी वह पगडंडी पथिक से रिक्त नहीं रहती थी और उस घने जंगल के बीच से चलकर दोनों गावों को एक में मिलाती थी। लड़के, बच्चे, बड़े, बूढ़े सभी निधड़क दिनरात उस रास्ते आते जाते रहते। कभी किसी तरह की जंगली भयंकरता—शेर, भालू, चीता, सूअर, साँप, बिच्छू आदि—का किसी को अनुभव नहीं करना पड़ा था। पर संयोग की बात कि एक दिन कोई अंधा उसी मार्ग से चुपचाप चला जा रहा था कि इतने में उसे साँप की फुफकार सुनाई पड़ी। अंधा बिचारा भय के मारे उछलकर दो हाथ दूर जा खड़ा हुआ। वह अंधा क्या जाने कि जिस के भय से मैं भागकर *यहाँ आया हूँ वह विषधर यहीं है। अंधे का पैर भूल से या दुर्भाग्य से उस साँप की पूँछ पर* जा पड़ा। साँप मदमाँता तो था ही, ऊपर से दुम कुचल जाने से उस का क्रोध और भड़क उठा। उस ने चट से अंधे के पैर का अँगूठा काट खाया। साँप अत्यन्त जहरीला था। अंधा बिचारा आह भरने के पहले ही इस लोक से चल बसा।

परंतु यह भी कोई विपत्ति न थी, यदि इतने से ही मामला खतम हो जाता। वहाँ तो अब उस साँप के मुँह मनुष्य का मीठा रक्त लग गया। उसे खून का स्वाद पहले मालूम नहीं था। आज पहले पहल उस ने रुधिरपान का आनन्द लिया था जो उसे बड़ा ही प्रिय मालूम हुआ। फिर क्या था? साँप ने रास्ते पर ही अपना अड्डा जमा दिया और जो कोई भी उस पगडंडी से गुजरता उसी के पैर में लिपटकर उस का खून पीने लगा। इस प्रकार उसी दिन चौबीस घंटे के अंदर उस ने दस बारह आदमियों की जान ले ली। गाँववालों को जंगल में साँप रपटने का हाल अभी मालूम तो था नहीं। इसी से पहले गाँव से दूसरे की ओर दूसरे गाँव से पहले की लोग जाते आते रहे और अनजाने साँप के शिकार बने। साँप के विष की प्रबलता से सब के सब वहीं मरते गये, कोई भी लौटकर गाँव में समाचार नहीं दे सका। परंतु जब दिन रात बीत जाने पर भी अपने अपने घर के कामों से दूसरे गाँव को जानेवाले अपने अपने घर लौटकर नहीं आये, तो उन उन के घरवालों के मन में संदेह पैदा हुआ। बहुधा ऐसा हुआ करता है कि अपने घर के प्राणी अन्यत्र जाकर जब किसी संकट में पड़ जाया करते हैं, तो घरवालों का हृदय एक प्रकार की अनहोनी घटना के त्रास का अनुभव करने लगता है। यही बात उन घरवालों की हुई जिन जिन के घर के प्राणी साँप के शिकार बने थे। घरवाले गाँव भर में घूम घूमकर चिन्ता और उदासी के साथ कहने लगे मेरे चचा फलाने काम से गये और अभी तक नहीं लौटे, मेरा भाई अमुक कार्य से जाकर नहीं लौटा और मेरे पिता अमुक कार्य से गये थे, पर अभी तक नहीं आये। इस प्रकार दोनों गाँवों में

१—सर्प को मनुष्य के रक्त का चस्का, २—पथिकों का संहार, ३—साधु के उपदेश से सर्प का अहिंसक होना ।

૧ સાપને મનુષ્યના લોહીનો સ્વાદ. ૨ વટેમાર્ગુઓનો સંહાર. ૩ સાધુના ઉપદેશથી સાપનું અહિંસક બનવું.

संदेह का साम्राज्य फैल गया कि हो न हो जंगल में ही कोई विचित्र घटना घट रही है। निदान दस दस पंद्रह पंद्रह आदमियों का गरोह दोनों गाँवों से उठा और जंगल की ओर अपने कुटुम्बियों का पता लगाने चल पड़ा। जब एक गरोह जंगल के बीच की सघनता की ओर बढ़ना ही चाहता था उसी समय मनुष्यों की गन्ध पाकर वह खूनी साँप ज़ोर ज़ोर से फुफकार छोड़ने लगा। गरोहवालों के कान खड़े हो गये और बिजली की धारा की तरह सब के मन में यह बात दौड़ गई कि हमारे घरवालों को इसी शत्रु ने लौटकर घर नहीं आने दिया। इतने में दूसरे गाँव का गरोह भी सामने से आ निकला। उसे भी साँप की फुफकार सुनाई पड़ गई थी इतना ही नहीं; बल्कि उस गरोह के सामने से वह साँप तेजी के साथ सरसराता हुआ एक ओर से दूसरी ओर को निकल भी गया था—उस गरोह ने साँप की विकराल मूर्ति आँखों से देख भी ली थी। बाद में आगे बढ़ने पर वे दस बारह मुर्दे भी दिखाई पड़ गये थे। जिन्हें ढूँढ़ने के लिए वह गरोह निकला था। यह सब देख सुनकर उस गरोह के लोगों ने सोचा कि इसी समय चलकर उस गाँव में भी यह खबर दे दी जाय कि अब तो कोई अपनी जान से हाथ न धोये। यही विचारकर वह गरोह आगे बढ़ा आ रहा था कि दोनों गरोहों में बीच जंगल में मुलाकात हो गई। कुछ देर की खोजकर अपने अपने लोगों के लिए लोगों ने रोया और विलाप किया, फिर यह निश्चय हुआ कि दोनों गाँवों के जंगली मुहानों पर एक एक पहरेदार नियुक्त कर दिया जाय, ताकि कोई एका दुका आकर साँप का शिकार न बनने पाये। चूँकि उन लोगों ने बारी बारी से आनेवाले दस बारह साथियों को चौबीस घंटे के भीतर ही काल-कवलित और एक साथ दस पंद्रह जन मिलकर आने से अपने को बचा हुआ पाया, इसी लिए उन्होंने अनुमान कर लिया कि हम भी अगर एक एक करके आते, तो कदापि न बचते अर्थात् हम यदि गरोह बाँधकर न आते, तो वह सामने से निकल जानेवाला साँप यों ही नहीं निकल जाता। इस लिए अब जब एक गाँव से दूसरे गाँव में किसी को आना जाना हो, तो या तो रास्ता बदलकर (जंगल का चक्कर काटकर) आये जाये और नहीं, तो गरोह बाँधकर। निदान, जंगल के दोनों छोर पर दो पहरेदार नियुक्त कर दिये गये जो किसी भी भूले भटके बटोही को उधर से जाने से रोक दिया करते। लेकिन तब भी कभी न कभी एक आध यात्री उधर चले ही जाते और साँप का ग्रास बनकर बीच में ही रह जाते। इन एक आध में कुछ तो ऐसे होते जो पहरेदार के मना करने पर भी न मानते और ज़िद करके उसी राह चले जाते और कुछ ऐसे होते कि पगडंडी के मुहाने से न जाकर जहाँ तहाँ से बिना राह के ही जंगल में घुस पड़ते। फिर भी पहरेदारों की वजह से बहुत लोगों की रक्षा हो जाया करती थी।

एक दिन एक साधु बाबा आये और जंगली पगडंडी पर चलने को अग्रसर हुए। पहरेदार ने मना किया कि बाबाजी, उधर मत जाइए, वर्ना जंगल के पार नहीं जा सकेंगे।

बाबाजी ने कहा—क्यों, जंगल में क्या भूलभुलैया बनी हुई है जिस में मैं भटकता रह जाऊँगा ?

पहरेदार ने कहा—हाँ, ऐसी भूलभुलैया है जिस में फँसने पर पूरे एक हजार वर्ष भटकना पड़ेगा।

बाबाजी ने कहा—तू बड़ा मसखरा मालूम होता है ? मनुष्य भी क्या हजार वर्ष जी सकता है ? यदि नहीं, तो मैं हजार वर्ष कैसे भटकूँगा ?

पहरेदार ने कहा—मसखरी नहीं बाबाजी, मैं सचमुच कह रहा हूँ। वह भूलभुलैया ऐसी है ही कि उस में पड़नेवाला कोई भी क्यों न हो, उस की आयु हजार वर्ष की हो जाती है और सारी आयु उसी में भटकते बीतती है।

पहरेदार ने कुछ ऐसे ढंग से बातें कीं जिस से बाबाजी को मानना पड़ा कि यह कुछ मतलब की ही बात कह रहा है, पर मसखरा स्वभाव होने के कारण सीधे सीधे न कहकर घुमा फिराकर कह रहा है। उन्होंने कहा—बच्चा, ज्यादा बुझौअल मत बुझा, साफ साफ कह कि तेरी बातों का मतलब क्या है ?

पहरेदार ने हँसकर कहा—माफ करें महाराज, पहरे पर अकेले बैठे बैठे जी ऊब जाता है, इसी लिए इसी तरह कभी कभी थोड़ा जी खुश कर लिया करता हूँ। बात यह है कि इधर कुछ दिनों से इस रास्ते पर एक बड़ा ही खूनी साँप अड्डा जमा बैठा है। जो कोई भी जंगल में घुसता है उसे बिना काटे नहीं छोड़ता। और साला ऐसा विषधर है कि काटने पर लहर भी नहीं आती, आदमी जहाँ का तहाँ ठंढा हो जाता है। यही तो भूलभुलैया है और हजार वर्ष की आयु··

बाबाजी ने कहा—बस, बस, रहने दे। मुझे भी मालूम है कि साँप के काटने से जिस की मृत्यु होती है उसे हजार वर्ष नरक भोगना पड़ता है। पर मैं न तो साँप से डरनेवाला हूँ, न नरक से। मैं तो इसी राह से जंगल पार करने की कोशिश करूँगा।

पहरेदार ने कहा—आप के पीछे कोई रोने धोनेवाला नहीं है क्या ?

बाबाजी ने कहा—नहीं। और होता भी, तो क्या करता। मैं अपनी टेक छोड़नेवाला आदमी नहीं हूँ। एक बार जो काम करने का निश्चय कर लेता हूँ उसे पूरा करने में प्राण भले ही चले जायँ, पर मैं अन्त तक चेष्टा किये बिना पीछे हटने का नाम नहीं लेता। इस लिए तुम अपनी जिद छोड़ दो। मैं इसी पगडंडी से जंगल को पार करके छोड़ूँगा। साँप तो क्या, साक्षात् काल भी मुझे नहीं रोक सकता, न मैं उस से डरनेवाला हूँ।

पहरेदार ने कहा—आगे नाथ न पीछे पगहा। बाबा, तुम खुशी से जाओ और मरो चाहे जियो। मेरा काम चेतावनी दे देना था, उसे मैं ने पूरा कर दिया। अब तुम्हें जो अच्छा लगे वही कर सकते हो।

इतना कहकर पहरेदार अपने मोढ़े पर आ बैठा और बाबाजी उसी खतरनाक पगडंडी से जङ्गल में घुस गये। अन्त में जब वे साँप के अड्डे के करीब पहुँचे, तो उन की गन्ध पाते ही वह खूनी साँप फों फों करता हुआ उन के सामने आ पहुँचा और रास्ता रोककर खड़ा हो गया। अन्य यात्रियों की तरह बाबाजी साँप को देखकर भयभीत नहीं हुए। या तो उन्हें साँप को वश में करने का मन्त्र मालूम था या तपस्या की सिद्धि प्राप्त थी, क्योंकि ज्यों ही उन्होंने साँप से डपटकर कहा कि ठहर ठहर, बहुत ताव मत दिखला, त्यों ही उस साँप ने फुफकारना छोड़कर चुपचाप सिर नीचे कर दिया और कहा—तुम तो बड़े विचित्र मनुष्य मालूम होते हो ? मैं ने इसी स्थान पर दर्जनों को काल के घाट उतार दिया, पर तुम्हारी फटकार ने तो मेरी हिम्मत ही तोड़ दी। तुम कौन हो ?

बाबाजी ने कहा—मैं तेरा गुरु हूँ।

साँप ने कहा—गुरु क्या कहलाता है ?

बाबाजी ने कहा—जो किसी को हानि के मार्ग से हटाकर लाभ के मार्ग पर चलने का ज्ञान दे वही गुरु कहलाता है।

साँप ने कहा—तब तुम झूठ मूठ मेरे गुरु क्यों बन रहे हो ?

बाबाजी ने कहा—'झूठ मूठ' कहने का क्या अर्थ है ?

साँप ने कहा—यही कि पहले तो आज तक मैं ने कोई ऐसा काम ही नहीं किया जिस से मेरी हानि हुई हो। और मान लो कि किया भी हो, तो तुम ने उस से मुझे हटाया कब ? आज के पहले तो तुम्हें मैं ने कभी देखा भी नहीं था।

बाबाजी ने कहा—अरे मूर्ख, तूँ ने भला काम कब किया कि अपने को हानि से बचा हुआ समझ रहा है ? पहले जन्मों के हानिकर कामों—बड़े बड़े पापों के कारण ही तो तुझे इस जन्म में नरकतुल्य सर्पयोनि मिली है, इतने पर भी तुझे होश नहीं और अब भी लगातार निरपराध मनुष्यों की हत्या करता जा रहा है जिस के फलस्वरूप अगले जन्म में कितनी बड़ी हानि तुझे उठानी पड़ेगी, इस का ठिकाना नहीं। इसी बुद्धि पर मुझे झूठा बता रहा है ?

साँप ने कहा—अच्छा, ऐसी बात है ? तब तो सचमुच मैं हानि के रास्ते पर चल रहा हूँ। पर फिर भी तुम गुरु कैसे हुए ? क्योंकि इस रास्ते को छोड़ने के लिए तो तुम ने कभी कहा नहीं, न यही बतलाया कि क्या करने से मैं इस हानि से बच सकता हूँ।

बाबाजी ने कहा—अभी तक तुझ से भेंट नहीं हुई थी, यह तो तूँ भी कबूल हो कर चुका है। अब जब संयोग से भेंट हो गई है, तो तुझे उस राह से विमुख भी करूँगा और ऐसा मार्ग भी बताऊँगा जिस पर चलने से तुझे बड़े बड़े लाभ होंगे। इन्हीं सब बातों को मन में रखकर मैं ने कहा है कि मैं तेरा गुरु हूँ।

साँप जितना ही उस महात्मा से वार्तालाप करता जाता उतना ही उस का हृदय शुद्ध होता जाता था। और साधु का अन्तिम वाक्य पूरा होते होते तो उस को इतना ज्ञान हो गया कि वह उन के चरणों पर लोट गया और आँसू बहाने लगा। बाबाजी ने उसे चुमकार कर सीधे बैठने के लिए कहा और पूछा—क्यों, अब तो मैं तेरा गुरु हुआ न ?

साँप ने उत्तर दिया—हाँ, भगवन्, किंतु अब मैं अपने गुरु को तब तक नहीं छोडूँगा जब तक वे मुझे लाभ का मार्ग न दिखा देंगे।

बाबाजी ने कहा—लाभ का मार्ग यही है कि आज से तू किसी भी जीव को भूल से भी न काटने की प्रतिज्ञा कर ले, किसी के पैर से बुरी तरह कुचल जाने पर भी उस से बदला लेने की स्वप्न में भी इच्छा न रख। सारे जगत् को—कीट, पतङ्ग, मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, नग, नाग आदि समस्त जीव जन्तु को ज्ञान देनेवाले परमात्मा को निरन्तर ध्यान में रख और उन से प्रार्थना किया कर कि हे प्रभो, मेरे पापों को क्षमा करो, अनजान या जान में अब तक मैं ने जो कुछ किया उस से मेरा उद्धार करो। और भी तुझ से जहाँ तक दीन वचन कहते बने, भगवान को सुनाया कर। बस, इतनी साधना यदि तुझ से सध जाय, तो समझ लेना कि अब मेरे लाभ में कोई कसर नहीं रह गई।

इस तरह उपदेश देने के बाद बाबाजी जंगल से बाहर होकर दूसरे (उस पारवाले) गाँव में चले गये। वहाँ उन के अनेक भक्त शिष्य थे। उन सब ने उन्हें आ घेरा और अनेक प्रकार की उपदेशभरी बातें होने लगीं। बात चीत के सिलसिले में गाँववालों को जब यह मालूम हुआ कि बाबाजी ने उसी रक्तरञ्जित मार्ग से जगल पार किया है, तो उन सबों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इन्हें साँप ने जीता क्यों छोड़ दिया। बाबाजी को उन का सशङ्क भाव मालूम हो गया। उन्होंने कहा—भक्तो, प्रभु की कृपा से बड़े बड़े दुस्तर मार्ग सरलता से पार हो जाते हैं। संसार से बढ़कर दुर्लङ्घ्य कोई स्थान नहीं है। वह भी भगवान् के भक्त के लिए अतिशय सुगम हो जाता है। फिर एक क्षुद्र सर्प के कारण उत्पन्न हुई वनपथ की दुर्गमता यदि मेरे लिए सरल हो गई, तो इस से तुम्हें आश्चर्य क्यों हो रहा है ?

इस के बाद बाबाजी ने पहरेदार के रोकने से लेकर सर्प को उपदेश देने तक का सब समाचार गाँववालों को सुना दिया और सब को आशीर्वाद देकर वहाँ से प्रस्थान किया। पर गाँववालों का संशय घटने के बदले और बढ़ गया। यह बात उन की कल्पना में ही नहीं समा रही थी कि इतना भयकर क्रूर जन्तु (सर्प) किसी के कहने से अपनी प्राकृतिक क्रूरता का त्याग कैसे कर सकता है। अन्त में फिर एक गरोह तैयार किया गया कि चलकर परीक्षा लेनी चाहिए। गरोह देखकर साँप भाग न जाय, इस के लिए यह उपाय स्थिर हुआ कि सब लोग पास ही पास इधर उधर पेड़ों पर छिपे रहेंगे और एक आदमी हाथ में मुद्गर लेकर जमीन

पर रहेगा। यदि साँप वस्तुतः बाबाजी के कथनानुसार अपनी आदत छोड़ चुका होगा तब तो कोई बात ही नहीं है और अगर ऐसा न हुआ, साँप ने हमला किया, तो वह तुरंत गोली दाग देगा। और संयोग से अगर निशाना चूका, तो तब के लिए इधर उधर पेड़ों पर छिपे लोग दनादन कूदकर उस की रक्षा कर लेंगे। निदान, ऐसा ही किया गया और बाबाजी की बात सत्य सिद्ध हुई अर्थात् जो आदमी हाथ में बंदूक लेकर जमीन पर टहलता हुआ साँप के आने की प्रतीक्षा कर रहा था उस के पैरों के पास ही वह साँप, न जाने किस तरह छिपा छिपा आकर, प्रत्यक्ष हो गया और उसे देखकर जब वह आदमी बंदूक सँभालने लगा, तो उसने कहा— क्या दिहातीपना दिखला रहे हो? मुझे काटना होता, तो तुम तब तक मेरा दर्शन भी न पाते जब तक कि मैं तुम्हारे खून में विष न मिला चुका होता। अब मैं ने गुरु से दीक्षा लेकर संन्यास धारण कर लिया है। तुम लोगों को अब दस मील का चक्कर काटने की जरूरत नहीं है, निर्भय होकर इसी रास्ते आते जाते रहो। मैं अब भगवान् के भजन में अपनी जिंदगी बिताऊँगा, मनुष्यादि प्राणियों का रुधिर पीने में नहीं।

साँप की बातें सुनकर गाँववालों का हृदय प्रसन्न हो गया। बाबाजी ने इन लोगों को पहले ही समझा दिया था कि साँप ने स्वभाववश यदि तुम्हारे कुटुम्बियों की हत्या की है, तो तुम लोगों को भी मनुष्य होने के नाते अपना क्षमाशील स्वभाव न छोड़ना चाहिए। दूसरी बात यह कि उसे मारकर तुम लोग चाहो कि अपना बदला चुका लें, तो यह असंभव है—उस ने दर्जनों प्राणियों की जानें ली हैं अकेले, और तुम उस अकेले की जान लोगे दर्जनों मिलकर। इस से भला क्या लाभ हो सकेगा? साँप की सज्जनता देखकर गाँववालों को बाबाजी का उपदेश स्मरण हो गया। इस लिए उन लोगों ने उस के प्रति कोई दुर्व्यवहार नहीं किया। प्रसन्नता-पूर्वक सब अपने घर लौट गये और दोनों गाँवों में यह सब समाचार बतला दिया।

संसार बड़ा कुतूहली है। कोई नवीन बात फैली कि लोग कुतूहल और उत्सुकता-वश उस बात को लीला बना डालते हैं। चाहे वह बात कितनी ही साधारण क्यों न हो, पर तमाशा देखनेवाले उस के पीछे पड़ जाते हैं। फिर यह कोई वैसी साधारण बात भी नहीं थी, इस में तो पर्याप्त विचित्रता भी वर्तमान थी। जंगल में अब तमाशा देखनेवालों का ताँता लग गया। लड़के, सयाने, बूढ़े, स्त्री, पुरुष गोल के गोल जंगल में पहुँचने लगे। सभी उस प्रसिद्ध, भयंकर, खूँखार साँप की अस्वाभाविक शान्ति देखकर आश्चर्य करते। परंतु लड़कों को आश्चर्य से उतना प्रयोजन नहीं था जितना साँप की सिधाई का मजा उठाने से। कोई साँप की पूँछ पकड़कर दौड़ता हुआ कुछ दूर घसीट जाता, कोई उसे गले में लपेटता, कोई उस के शरीर में सूई चुभोता, कोई कोई पास आने में भय मानकर दूर से ही कंकड़ पत्थल फेंककर उसे तंग करते। साँप बिचारा सब को चुपचाप सह लेता, किसी का कुछ नहीं

बिगाड़ता, किसी पर बिगड़ता तक नहीं। काँटों में घसीटने, सूई चुभोने और ढेलों की मार खाने से उस का शरीर क्षत विक्षत हो गया था, पर वह सदा शान्त ही बना रहा। धीरे धीरे वह सूखकर सींक जैसा पतला हो गया, चलने फिरने की शक्ति भी क्षीण हो चली, किसी तरह हवा पी पीकर प्राणमात्र की वह रक्षा करता आ रहा था।

कुछ दिनों के बाद साँप के गुरु महाराज फिर घूमते घामते उस जंगल में आ पहुँचे। साँप ने उन्हें देखते ही पहचान ली और बड़ी दीनता के साथ प्रणाम किया।

बाबाजी ने आशीर्वाद दिया और पूछा—तुम्हारी यह कैसी दशा हो रही है? तुम तो पहचान में भी नहीं आ रहे हो?

साँप ने कहा—महाराज, क्या कहूँ और कैसे कहूँ? यही समझ लीजिए कि किसी प्रकार प्राण भर निकलना बाकी रह गया है।

बाबाजी ने कहा—कुछ कहो तो सही कि तुम्हारी यह दशा किस ने की है?

साँप ने कहा—गुरुवर, आप के उपदेश, अपनी सिधाई और लड़कों की ढिठाई से ही मैं इस अवस्था में आ पड़ा हूँ।

बाबाजी ने कहा—राम, राम, राम, राम; तूँ भी कैसा मूर्ख चेला पैदा हुआ? अरे अबोध, मैं ने यह कब सिखाया था कि तूँ फुफकारना भी छोड़ दे? मैं ने यही न कहा था कि किसी को काटना मत; या और कुछ?

साँप ने कहा—जी हाँ, आप ने तो यही कहा था।

बाबाजी ने कहा—तब तूँ ने फन उठाना और 'फों फों' करना क्यों छोड़ दिया?

साँप ने कहा—तो क्या ऐसा करने में कोई दोष नहीं है? उस से मेरा पाप नहीं बढ़ेगा?

बाबाजी ने कहा—नहीं। अपनी आत्मा की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। कारण यह कि अगर तूँ इतना भी नहीं करेगा और दिन रात लड़कों का खिलौना बनता रहेगा, तो परमात्मा को स्मरण करने में मन भी नहीं लगा सकेगा। इस लिए अब से फुफकार मारने में कभी मत चूकना।

साँप ने खुश होकर—वाह गुरुजी, धन्य हैं आप। अब मेरी जान बच जायगी, इस में संदेह नहीं।

बाबाजी ने कहा—अच्छा, अब तूँ भी ध्यान से भगवान् का नाम जपकर धन्य हो जा। मैं जा रहा हूँ और फिर चेताये देता हूँ कि फुफकारना प्रारम्भ करके कहीं काटनेवाली प्रकृति को भी मत अपना लेना। जब कोई संकट आदि उपस्थित हो, तो भगवान् से ही उस के निराकरण की प्रार्थना करना। इतना समझाकर बाबाजी चले गये।

दूसरे दिन फिर खिलाड़ी लड़के जंगल में इकट्ठे हो गये। साँप अभी अपनी बिल से बाहर नहीं हुआ था, इस लिए वे उसे जहाँ तहाँ ढूँढ़ने में लगे हुए थे। इतने में एक लड़के की नजर बिल में से निकलते हुए साँप पर पड़ गई। 'वह है' 'वह है' करता हुआ वह ज्यों ही उस की तरफ दौड़ा त्यों ही साँप दो हाथ ऊँचा फन उठाकर ज़ोर ज़ोर से फों फों करने लगा। अब तो सब लड़कों को नानी याद आ गई। वे 'बापरे बापरे' करते हुए वहाँ से नौ दो ग्यारह हुए। गाँव में जाकर उन सबों ने बाकी लड़कों से भी विस्तार सहित अपनी विपत्ति का वर्णन किया कि आज वह फिर कटहा बन गया और हम लोगों को दौड़ाकर काटना चाहा, तो कैसे हम लोगों ने अपनी जान बचाई, किस तरह सिधुआ को जूता छोड़कर भागना पड़ा, किस तरह जिधुआ की धोती काँटों में फँस गई और वह गिर पड़ा तथा किस तरह फिर उठकर भागा, इत्यादि इत्यादि।

उस दिन से फिर कोई लड़का जंगल की ओर जाने का नाम न लेता। साँप ने आनन्द से भगवान् का भजन करते हुए फिर अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर लिया और बहुत दिनों तक के भजन के प्रभाव से अन्त में सब पापों से मुक्त हो गया। कहने का भाव यह कि शास्त्र की शिक्षा हो या गुरु का उपदेश, विवेक से सर्वत्र काम लेना पड़ता है। शास्त्र ने कह दिया कि क्षमा करना बड़ा उत्तम गुण और मनुष्यमात्र के लिए अवश्य आचरणीय परम कर्तव्य है, तो इस का यह अर्थ नहीं है कि क्षमा करते करते तुम्हें उस का अजीर्ण ही हो जाना चाहिए। नहीं, कोई भी गुण वहीं तक गुण कहा जा सकता है जब तक उस से दुर्गुण न पैदा होने लगे। और यह काम तुम्हारा है कि किसी भी उपदेश को, किसी भी शास्त्रीय शिक्षा को इस शैली से ग्रहण करो कि उस से निरन्तर लाभ ही हो, हानि न होने पाये। यह विवेक से ही संभव हो सकता है, गुरु के उपदेश से नहीं। गुरु एक एक शिष्य को अलग अलग बुलाकर विभिन्न ज्ञान का पाठ नहीं पढ़ाया करता, वह सब शिष्यों को एक साथ और एक सा ही उपदेश देता है। इस लिए उस के उपदेश से यदि कुछ लोग लाभ उठा रहे हों और कुछ की हानि हो रही हो, तो उपदेश में भेद नहीं माना जा सकता, भेद है वस्तुतः उपदेश का अर्थ समझने में। तात्पर्य यह कि बुद्धि और ज्ञान के द्वारा मोह के फंदे से बचे रहना और क्षमा, सत्य, दम, शम आदि में उन्हीं बुद्धि ज्ञान की सहायता से बर्ताव करना लाभदायक सिद्ध होता है, अन्यथा उलटा ही फल मिलता है। इस प्रकार जब मूढ़ता का अभाव, सब जीवों में क्षमाभाव, सत्य का आचरण, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन करने में मनुष्य सफलता प्राप्त कर लेता है तभी वह सुख दुःख को समान मानने में समर्थ, सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के तत्त्व को जाननेवाला, भय और अभय के रहस्य को समझकर यथोचित व्यवहार करनेवाला, अहिंसाभाव में स्थिर रहनेवाला, चित्त को समान भाव में स्थित रखनेवाला, संतोषभाव धारण करनेवाला, तपस्या में दृढ़ रहनेवाला, दान करने "

श्रद्धा रखनेवाला, यश और अयश (कीर्ति और अपकीर्ति) का मर्म जानकर समुचित कर्म करनेवाला हो सकता है। संसार की रचना द्वन्द्वात्मक है। गुण दोष से कोई भी प्राणी रहित नहीं हो सकता। भगवान् द्वारा प्रवर्तित ये समस्त भाव सब जीवों में रहते हैं, पर बुद्धि और ज्ञान की उपयुक्तता इसी में है कि उचित अनुचित की विवेचना करके उचित आचरणों का ही पालन किया जाय। अनुचित भावनाओं को मन में आने ही मत दो। यदि कार्यकारण-संघर्ष से कोई अनुचित भाव आ ही जाय तो विवेक की सहायता से उसे तत्क्षण यथाशक्ति दूर कर देने की चेष्टा करो और जब तक वह भाव निर्मूल न हो जाय तब तक शान्ति मत लो। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अयश—ये समस्त विभिन्न भाव जीवों को मेरे ही द्वारा प्रवर्तित होकर प्राप्त होते हैं, तो अर्जुन ने पूछा कि अच्छा प्रभो, यह तो बतलाइए कि जिन जीवों में आप से उत्पन्न उपर्युक्त भाव होते हैं उन जीवों की रचना भी साक्षात् आप के ही प्रकाश से हुई है अथवा किसी विशेष शक्तिशाली को आप ने उत्पन्न किया है और उस शक्तिशाली ने इन संसारी भूतों को ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, सृष्टि की समस्त प्रजा की उत्पत्ति का क्रम वही है जो तू ने अन्त में कहा है अर्थात्—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६॥

सात महर्षि और पूर्वकालीन चार मनु मेरे मन से उत्पन्न मुझ में भाववाले हैं जिन की लोक में ये प्रजाएँ हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ—ये सात महर्षि और इन से भी बहुत पहले जन्मधारण करनेवाले सावर्णि, धर्मसावर्णि, दक्षसावर्णि, सावर्ण्य—ये चार मनु मेरे मानसिक संकल्प से उत्पन्न हुए हैं और मुझ में ही अपनी समस्त भावना को लीन रखनेवाले हैं। इन्हीं सात महर्षियों तथा चार मनुष्यों से संसार में चर अचर आदि सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभुप्रेमी सज्जनो, इस श्लोक का अर्थ लगाने में प्राचीन काल से लेकर आज तक के पण्डितों में बराबर मतभेद होता चला आया है। कोई कोई विद्वान् इस का अर्थ इस प्रकार लगाते हैं कि सात महर्षि—भृगु, मरीचि, अत्रि आदि; चार उन से भी पहले के महर्षि—सनक सनन्दन, सनातन आदि; चौदह मनु—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस,

जगत् और प्रजा के उत्पादक (अ० १० श्लो० ६)
જગત અને પ્રજાના ઉત્પાદક. (અ. ૧૦ શ્લો. ૬)

रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, इत्यादि; ये सब लोग भगवान् के मन से उत्पन्न होकर भगवान् में ही अपना भाव रखते हैं। इन्हीं से समस्त लोक और सारी प्रजा उत्पन्न हुई है। परन्तु जगद्-गुरु आद्य श्री शंकराचार्यजी के मत में वही अर्थ ठीक है जो श्लोक के नीचे दिया गया है।

प्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि की रचना हुई उस समय संसार में स्त्री पुरुष कोई नहीं था। तब भगवान् ने अपने मन में जीवसृष्टि की इच्छा की। उन के उस मानसिक संकल्प (इच्छा) से सात महर्षि और चार मनु उत्पन्न हुए। इन्हीं महर्षियों और मनुओं ने जगत् में जंगल, पहाड़, नदी, नद, शस्य, धान्य (अन्नादिक) और पशु पक्षी, मृग, मनुष्यादिकों को उत्पन्न किया है। यहाँ कोई सन्देह कर सकता है कि भगवान् के मन से वे महर्षि और मनु कैसे उत्पन्न हुए? इस का समाधान यह है कि जैसे तुम कोई भी कार्य करने के पहले मन में निश्चित कर लेते हो कि हमें अमुक कार्य करना है, उस का अमुक क्रम, उपाय, रचनाकौशल है और फिर उसी क्रम से उस कार्य को पूरा करते हो, वैसे ही भगवान् ने भी मन में संकल्प किया कि सात महर्षि और चार मनु उत्पन्न हों। अन्तर केवल इतना है कि तुम अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने के लिए हाथ, पैर, आँख आदि से निरन्तर काम लेते हो तब वह संकल्प पूरा उतरता है और भगवान् को अपने संकल्प की पूर्णता के लिए हाथ पैर नहीं चलाने पड़ते। यही भगवान् की भगवत्ता या सर्वशक्तिमत्ता है। भगवान् की बात तो जाने दो, उन के संकल्प से उत्पन्न महर्षि आदि को भी यह शक्ति प्राप्त थी कि उन की इच्छामात्र से बड़े से बड़े कार्य संपादित हो जाते थे, पर बाद की प्रजा में धीरे धीरे यह शक्ति क्षीण होती गई और उस के स्थान पर यज्ञीय शक्ति का प्रादुर्भाव होता गया अर्थात् मानसिक सृष्टि की जगह याज्ञिक सृष्टि रची जाने लगी। उदाहरण के लिए भगवान् राम और उन के अन्य तीनों भाइयों की उत्पत्ति की कथा देख सकते हो। ये लोग यज्ञ से पुत्र चरु के द्वारा उत्पन्न हुए थे, यह कथा रामायण में विस्तार सहित लिखी हुई है। बाद में यह शक्ति भी संसार से तिरोहित होने लगी तब मैथुनसृष्टि का प्रारम्भ हुआ। वही अब तक चलता चला आ रहा है। इस मैथुनसृष्टिप्रणाली में भी जब तक सब प्रकार के शास्त्रीय नियमों का पालन होता रहा तब तक बड़े, बड़े, वीर वरेण्य पैदा होते थे, जैसे— पितामह भीष्म, अर्जुन, भीम, पृथिवीराज, आल्हा, ऊदल, राणा प्रताप, शिवाजी आदि। किंतु अब ज्यों ज्यों शास्त्रीयता का त्याग और स्वेच्छाचार का प्रसार होता आ रहा है त्यों त्यों निर्बल निर्बुद्धि लोग उत्पन्न होकर संसार को अधःपतित कर रहे हैं। अस्तु;

भगवान् की बतलाई हुई उपर्युक्त सृष्टिप्रणाली का हाल सुनकर अर्जुन ने कहा— प्रभो, आप ने अपनी अज्ञेयता से लेकर सृष्टिविकासक्रम तक जो जो अपनी विभूतियाँ बतलाईं उन को जान लेने से, मैं समझता हूँ, आप के संबन्ध में मनुष्य का बहुत ज्ञान ..

भगवान् ने कहा—हाँ, अर्जुन, तूँ बहुत ठीक अनुमान कर रहा है। वास्तव में यही बात है कि—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो (पुरुष) मेरी इस विभूति और योग को तत्त्व से जानता है वह अविकम्पित योग से युक्त हो जाता है, इस में संदेह नहीं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो कोई मनुष्य पूर्वोक्त पाँच श्लोकों में वर्णित मेरी विभूति और मेरे योगसामर्थ्य को तात्त्विक रूप से जान लेता है वह कभी चल विचल न होनेवाले मेरे अखण्ड भक्तियोग से युक्त अर्थात् ओतप्रोत हो जाता है, इस बात में संदेह करने का किंचित् अवकाश नहीं है। तात्पर्य यह कि इन बातों का ज्ञाता अवश्यमेव भक्तियोगी हो जाता है और सर्वदा उसी में लीन रहता है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, भगवान् की उत्पत्ति को देवता और ऋषि कोई भी नहीं जानते, क्योंकि वे देवताओं और महर्षियों के भी आदि कारण हैं; भगवान् अजन्मा और आदि हैं तथा सब लोकों के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं; बुद्धि, ज्ञान, निर्मोहित्व, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश आदि सब प्रकार के जीवभावों के प्रवर्तक भी भगवान् ही हैं; सात महर्षियों और चार मनुओं के उत्पन्न करनेवाले भी वे ही हैं और उन्हीं में लीन रहकर महर्षि और मनु लोग प्रजाओं को उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं; इत्यादि बातों को भगवान् अपनी विभूति और अपनी भक्ति में प्रवृत्त करनेवाला योग बतला रहे हैं। इन बातों को जाननेवालों को मोह नहीं सताता, उस के सब तरह के पाप जलकर भस्म हो जाते हैं और अन्त में वह इन बातों को पूर्णतया हृदयंगम करके भगवान् की अचला भक्ति को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है। ये बातें मनगढंत नहीं हैं, क्योंकि स्वयं भगवान् का कहना है कि निःसंशय ऐसे रहस्यज्ञ तत्त्वज्ञ को मेरी भक्ति का अविचल योग प्राप्त होता है। ऐसा तत्त्वज्ञानी कभी धोखे में नहीं पड़ता। मोह से ही मनुष्य को धोखा होता है। सो जब कि इन बातों (विभूतियों और योगों) को जाननेवाला पहले ही मोहरहित हो जाता है, तो भला यह कब संभव है कि उसे भक्तिपथ में कहीं किसी प्रकार का धोखा उठाना पड़े? कभी नहीं। वह तो ऐसी स्थिति प्राप्त कर चुका होता है जहाँ पहुँचने पर चित्त में चञ्चलता आ ही नहीं सकती, वह तो सीधे भगवान् के योग में अर्थात् साक्षात् भगवान् में ही जुट गया होता है, फिर वह चल विचल होकर अन्यत्र कैसे जा सकता है? उस की तो यह स्थिति रहती है कि—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

अर्थात् जिसे पाकर वह उस से बड़ा कोई लाभ नहीं मानता और जहाँ रहकर वह बड़े से बड़े भयानक दुःख से भी चलायमान नहीं होता, इस लिए भगवान् की विभूति और योग की जानकारी तत्त्व के साथ रखनी चाहिए। बिना तत्त्व के, केवल वाग्वितण्डा के लिए इन बातों को रट लेने से काम चल जायगा, ऐसा कोई मूर्ख पाखण्डी सोचे, तो भले ही सोच सकता है, भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला भक्त ऐसा कदापि नहीं सोचेगा। वह तो जी जान से यही कोशिश करेगा कि जैसे हो सके वैसे इन बातों का तत्त्व मालूम करना चाहिए। भगवान् का भक्त भगवान् की किसी वाणी में स्वप्न में भी अविश्वास नहीं कर सकता। अतएव वह इस श्लोक में जो यह नियम लगा दिया गया है कि जो इस विभूति और योग को 'तत्त्व से' जानता है, इस पर पूरा मनन करेगा और जब तक वह संकेतित तत्त्व मालूम नहीं हो जायगा तब तक विश्राम नहीं ले सकता। अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो भक्त मनुष्य मेरी इस विभूति और योग को तत्त्व से जानता है वह कभी कम्पायमान न होनेवाले मेरे भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इस में सन्देह नहीं है।

इस पर अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्, यदि ऐसी बात है, तो कृपा करके मुझे यह भी अभी बतला दीजिए कि इन बातों में जिस अविकम्पित योग के प्रति आप संकेत कर रहे हैं वह योग वास्तव में है क्या ?

भगवान् ने उत्तर दिया—अर्जुन, वह तात्त्विकयोग यही है कि—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं सब का जन्महेतु हूँ, मुझ से सब की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी लोग ऐसा मानकर भाव से युक्त होकर मुझ को भजते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मैं परात्पर परमात्मा ही समस्त संसार की उत्पत्ति का मूलकारण हूँ तथा मुझ परमात्मा की प्रेरणा से ही इस जगत् के जीवों को कार्य-चेष्टा होती है तथा जगत् की स्थिति, उस का विनाश, उस में रहनेवाले जीवों को कर्मों के भोग की प्राप्ति आदि सब विविधविध चक्र चलाया जा रहा है, इस प्रकार का भाव मेरे प्रति रखकर बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष सब तरह के संसारी भावों से

पृथक् रहते हैं और एकमात्र मेरे ही भाव से समन्वित होकर, भावयुक्त रहकर सतत मेरा भजन करते हैं।

क० म०—प्यारे भाइयो, भगवान् ही समस्त संसार के अनादि पिता अर्थात् बीजभूत मूलकारण हैं, उन्हीं की कृपा से यह दृश्य जगत् परिलक्षित हो रहा है और अपने अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ आगे बढ़ता जा रहा है। जैसे वृक्ष अपनी जड़ों के द्वारा ही अपनी अङ्गवृद्धि के उपयुक्त रस पृथिवी से प्राप्त करता है वैसे यह सारा संसार इस वासुदेव परमात्मा से जीवनी शक्ति पाकर नित नूतन रूप धारण करता है। भगवान् की दी हुई जीवनी शक्ति के ही प्रभाव से सब लोग नाना प्रकार के कर्म करने में समर्थ होते हैं। भगवान् की रची हुई सृष्टि उन्हीं के बल पर आदि काल से आज तक स्थित है और निरन्तर परिवर्तन का चक्कर खाती हुई उन्हीं की ओर बढ़ती चली जा रही है तथा उन्हीं की शक्ति से एक दिन यह उन में ही समा जायगी। इन सब बातों को समझानेवाली जो एक प्रकार की मस्तिष्कशक्ति है वह भी भगवान् की कृपा से ही हमें मिली हुई है और उसी के अस्तित्व से हम चेतनशक्तियुक्त मानव कहलाते हैं। यदि भगवद्रूपा यह चेतनशक्ति सब जीवों में न रहे, तो संसार का स्थूल सूक्ष्म कोई भी कार्य न तो संपादित हो और न हम उसे देख, सुन और समझ बूझ सकें। जैसे एक ही बिजलीघर (पावर हाउस) से संचालित विद्युद्धारा कहीं बल्ब (लट्टू) से संयुक्त होकर प्रकाश फैलाती है, कहीं पंखे से जुटकर हवा पैदा करती है, कहीं चक्की से मिलकर आटा पीसती, तेल पेरती धान कूटती, दाल दलती है और कहीं मनुष्य के शरीर से स्पृष्ट होकर उस का हाथ पैर तोड़ देती अथवा प्राण ही हर लेती है उसी प्रकार भगवान् की एक ही शक्ति के संचालन से जगत् के सारे व्यापार होते रहते हैं। भगवान् की शक्ति, इच्छा, कृपा से ही कहीं पुत्रोत्सव मनाया जाता है, कहीं विवाह रचा जाता है, कहीं सिरफुड़ौअल मचा रहता है, कहीं शव ढोने का दृश्य उपस्थित रहता है, कहीं चिता जलती रहती है और कहीं भजन पूजन में घड़ी घंटे बजते रहते हैं। शक्ति एक ही है, पर काम भिन्न भिन्न स्थान और समय के योग से भिन्न भिन्न प्रकार के होते रहते हैं। जो लोग इन सब प्रकार के आनन्द निरानन्दमय व्यापारों को देखते हुए भी हृदय में यही भाव धारण किये रहते हैं कि सब कुछ भगवान् ही कर रहे हैं, अतएव सब उचित ही हो रहा है, बुराई कहीं कुछ नहीं है उन्हीं को भगवान् ने 'बुधा.' अर्थात् बुद्धिमान् और ज्ञानीजन कहा है। ऐसे उच्च भावभावित पुरुष ही भगवान् को भजने में ठीक ठीक मन लगा पाते हैं। जो लोग विचित्र प्रकार के बहुत से दृश्यों को देखकर बहुत तरह के भारमय प्रपञ्चों में पड़े रहते हैं उन से भगवान् का भजन हो सकना नितान्त असंभव है, क्योंकि वे तो कहीं पुत्र उत्पन्न होने की खुशिहाली में नगारे बजाने लगते हैं, कहीं विवाहमण्डप में बैठकर कर्मकाण्डोक्त मन्त्रों का भाव समझने और तदनुसार कल्पनाएँ कर करके मनोमोदक खाते

कल्पादि में सर्वभूत सर्जन
કલ્પના આદિમાં સર્વ ભૂતોનું સર્જન.

रहते हैं, कहीं मारपीट होते देखकर बिना उचित अनुचित का विचार किये ही लाठी लेकर स्वयं लड़ने टूट पड़ते हैं, कहीं मृत्युसमाचार पर लोगों को रोते देखकर आप भी उसी रोने में शरीक हो जाते और गला फाड़ फाड़कर औरतों से भी बाजी मार ले जाना चाहते हैं। ऐसे प्रपञ्ची लोगों के पास इतना समय कहाँ कि भगवान् की महिमा की ओर दृष्टिपात करें और हर हालत में उन्हीं का भजन करते रहें। इसी लिए गीता की परिभाषा में ऐसे लोगों को मूढ़-मति अज्ञानी कहा गया है। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मैं सब की उत्पत्ति का आदिकारण हूँ और मुझ से ही सब की (नानाविध जागतिक कार्यों में) प्रवृत्ति होती है, तत्त्वज्ञाता बुद्धिमान् लोग यही जानकर समस्त भावों से अन्वित होकर मेरा भजन करते हैं।

इस पर अर्जुन ने पूछा—हे प्रभो, ऐसा जानकर आप को भजनेवाले बुद्धिमान् आप का भजन करते किस ढंग से हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—अर्जुन, उन लोगों के भजन की शैली यह है कि वे—

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९ ॥

मुझ में अन्तःकरण को लगाकर, मुझ में (अपने) प्राणों को अर्पित कर, परस्पर (एक दूसरे) को समझाते हुए और मुझ को कहते हुए सर्वदा संतोष को प्राप्त होते और रमते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, सर्वभाव से मेरा ही भजन करनेवाले बुद्धिमान् भक्त-जन अपने मन को पूर्णरूपेण मुझ में लगा देते हैं, अपने प्राणों को दृढता के साथ मुझ को अर्पण कर देते हैं, आपस में मेरे ही ज्ञान के संबन्ध में एक दूसरे को समझाते समझते रहते हैं और मेरे ही गुणों की चर्चा—कथोपकथन—किया करते हैं। इस प्रकार वे सब तरह से मुझ में संतोषभाव धारण करते और परमात्मानन्द में रमण करते रहते हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् के भक्तों का मन, प्राण, बुद्धि, वाणी आदि समस्त बाह्य आभ्यन्तर व्यापार केवल भगवान् के निमित्त होता है। वे मन से सोचते हैं भगवान् के अद्वितीय रूप को, प्राणों को व्याकुल रखते हैं भगवान् में मिल जाने के लिए, आपस में तर्क वितर्क, वाद विवाद करते हैं भगवान् को तत्त्व से जानने के लिए, कथा वार्ता कहते सुनते हैं भगवान् के अलौकिक कार्यों, गुणों, माहात्म्यों और लीलाओं का ज्ञान बढ़ाने के उद्देश्य से। गर्ज यह कि भगवान् के भक्त मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् में ही अपने आप को भुलाये रहते हैं और

उन्हीं में भूलकर संतुष्टि तथा आनन्द प्राप्त करते रहते हैं। मन की जब यही चाल है कि वह किसी न किसी वस्तु या प्राणी में लगे बिना रहता ही नहीं, तो वे बुद्धिमान् भक्त उसे ऐसी वस्तु, ऐसे प्राणी में लगा देते हैं जिस से बढ़कर न तो कोई दूसरी प्राप्तव्य वस्तु है, न दूसरा ज्ञातव्य प्राणी। भगवान् को पाना ही वास्तविक पाना और भगवान् को जानना ही वास्तविक जानना समस्त शास्त्रों की संमति है। इस विषय में किसी भी शास्त्र का मतभेद नहीं है, पाने के उपाय और जानने की युक्ति में भले ही वे अलग अलग राय देते हों। यहाँ गीता में भगवान् यही संमति दे रहे हैं कि बहुत प्रकार के उपाय और युक्ति सोचने के फेर में न पड़कर चित्त को हठपूर्वक मुझ में लगाओ। यदि चित्त हठ करने पर भी कहना न मानना चाहे, इधर उधर की बातों में फँसता रहे, तो उसे प्राणायाम के द्वारा स्थिर करो। प्राणायाम करते हुए प्राणों को मुझ में लीन कर दो, प्राणायाम से खाली होने पर व्यर्थ की बातें मत बको, प्रत्युत अपनी वाणी को मेरी चर्चा के उपयोग में लगाओ, मेरे संबन्ध में सोचो विचारो और जहाँ तक मुझे जान सको उतना आपस में वाग्विनिमय के द्वारा एक दूसरे को समझाते बुझाते रहो। समझ लेने पर भी संतोषवृत्ति धारण करके अन्य विषयों में मत भटकने लगो, किंतु जहाँ कहीं भी सोओ बैठो वहाँ सर्वत्र मेरी ही कथाएँ कहा सुना करो, मेरी ही चर्चा में संतोष धारण करो और मेरी ही कथाओं में आनन्दित रहो।

जिन की वाणी भगवच्चर्चा में न लगकर व्यर्थ की बातें उगलती रहती है उन में अधिकांशतः दूसरों की निन्दा का ही विषय भरा रहता है। जिस प्रकार धोबी का जीवन दूसरों के कपड़ों की मैल छुड़ाने में ही समाप्त होता है उसी प्रकार परनिन्दा करनेवालों की वाणी का हाल है। वे अपने अंदर का कलुष तो देखते नहीं, दूसरों को ही निन्दित बनाकर शुद्ध करने के फेर में पड़े रह जाते हैं। धोबी अगर अपने ही व्यवहार के कपड़े धोया करे, तो उसे कोई धोबी कहने का साहस नहीं कर सकता। परनिन्दक भी अपनी बुराइयों पर ध्यान दें और उसी का प्रचार कर अपने को शुद्ध बनाना चाहें, तो उन की शुद्धि होते देर नहीं लग सकती और उन को पवित्र होते देखकर उन के संसर्ग में रहनेवाले अन्य लोग भी पवित्र होने लगेंगे। कुटुम्ब परिवार या लोक समाज में जो प्रमुख व्यक्ति के आसन पर स्थित रहता है उस के अच्छे या बुरे आचरण का प्रभाव अधीनस्थ व्यक्तियों पर पड़ना अनिवार्य है। इस अकाट्य नियम को सत्य मानकर अगर तुम अपने आचरण को शुद्ध रखो, तो तुम्हारे बिना कहे ही तुम्हारे स्वजन संबन्धी अच्छा कर्म करनेवाले हो जायँ। इस प्रकार तुम्हें बिना चाहे इतना पुण्य प्राप्त हो सकता है जिस से तुम्हारा उद्धार होने में संदेह न रह जाय। आचरण को शुद्ध बनाने के लिए जितने उपाय हो सकते हैं उन में सब से बड़ा उपाय भगवान् का भजन करना, सच्चे मन से भगवान् का भक्त बनना है। चाहे जहाँ रहो और चाहे जो कार्य करते रहो, मुँह से हरदम भगवान्

का नाम उच्चारण किया करो और मन में भगवान् का ध्यान करते रहो। जिन का चरित्र दूषित हो, जो बुरे स्वभाव के हों, जिन की जिह्वा पर सर्वदा कुत्सित बातें रहा करती हों, ऐसे दुष्टों, दुराचारियों, पापियों से कभी संसर्ग मत रखो। संगत करनी हो, तो ढूँढ़कर सज्जनों की करो। दुर्जन के साथ से हमेशा बुराई ही पैदा होती है। यह असंभव बात है कि कोई दुर्जन का सहचर होकर उस के दोष से दूषित न हो। भले ही तुम बड़े प्रसिद्ध महात्मा और संत की पदवी प्राप्त कर चुके हो तथा दुर्जन के संग रहकर भी अपनी दृढ़ता के कारण उस के संसर्गदोष से मुक्त रह सकते हो, पर यह हो नहीं सकता कि दुष्ट के साथ रहने से तुम्हें कभी न कभी दुष्परिणाम का भागी न होना पड़े। तुम अपनी ओर से सद्व्यवहारी, दयालु, परोपकारी होते हुए भी यदि दुष्ट के संसर्ग का आलस्य या दयावश त्याग नहीं करते, तो एक दिन तुम्हें उस का कुफल उसी तरह भोगना पड़ेगा जैसे संकोचवश दुर्जन कौए को अपने साथ से दूर न करने पर सज्जन हंसों को भोगना पड़ा था। सुनो, यह छोटा सा दृष्टान्त है—

एक बार पुण्य भारतभूमि के अनेक पवित्र स्थानों, तीर्थों, जलाशयों, तपोवनों का भ्रमण कर और यथेच्छ आनन्द से हंसों का एक दल मानसरोवर की ओर जा रहा था। हंसों की गुणग्राहिता सर्वविदित है। उन हंसों ने अवश्य ही भारतवर्ष के सभी स्थानों में सब तरह की बातें देखी होंगी। पाप पुण्य, पावन अपावन, उत्तम अधम, सदाचार दुराचार, भक्ति अभक्ति, धर्म अधर्म, सुन्दर असुन्दर, सब तरह के प्रसंग यहाँ के सब स्थानों में सर्वदा एक साथ होते रहते हैं। इन में प्रशंसनीय प्रसंगों पर ही हंसों की दृष्टि पड़ी होगी, निन्दनीय प्रसंग उन सबों ने देखा ही नहीं होगा, ऐसा कोई नहीं कह सकता, न किसी के कहने पर कोई मान सकता है। परंतु हंसों का दल मार्ग में मनबहलाव के लिए जो बातें करता जाता था उन में सब अच्छे ही प्रसंगों की चर्चा थी। गुणग्राही स्वभाव रखने के कारण हंसों ने दुष्प्रसंगों को देखकर भी नहीं देखा। वे अमेरिकन यात्रिणी मिस मेयो की भाँति भारतीय निन्दनीय बातें ही देखकर यहाँ से स्वदेश को नहीं लौटे थे, प्रत्युत मिस मेयो के विरुद्ध दिशा में ही उन का विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ था, वे यहाँ के तपस्वियों, ब्रह्मचारियों, साधु संन्यासियों और उत्तमोत्तम गति देनेवाले तीर्थों, नदियों, पहाड़ों के दृश्यों का वर्णन करते हुए प्रसन्नचित्त से आकाश में उड़े चले जा रहे थे। कुछ दूर जाने पर मार्ग में हंसों को एक कौआ दिखाई पड़ा। वह शायद उड़ता हुआ भूलकर हिमालय की ओर चला गया था, पर वहाँ का शीत न सह सकने के कारण घबड़ाकर उलटे पाँव भगा आ रहा था। उस ने हंसों को हिमालय की तरफ जाते देखकर सोचा कि इन्हें हिमालय की ठंडक से सावधान कर देना चाहिए, ताकि उधर जाकर फिर लौटने के व्यर्थ परिश्रम से बच जायें। वह हंसों के निकट चला गया और पूछा—आप लोग इधर कहाँ जायेंगे?

हंसों ने कहा—हम मानसरोवर जा रहे हैं।

कौए ने कहा—मानसरोवर कहाँ है ? जिधर आप लोग जा रहे हैं उधर तो हिमालय की चोटियों का ताँता लगा हुआ है। बर्फ और कुहरे के अलावे उधर और कुछ दिखाई ही नहीं देता ?

हंसों ने कहा—उन चोटियों के बीच में ही मानसरोवर है। वहाँ हमें बर्फ और कुहरे का कुछ भय नहीं रहता। वहाँ हम बड़े सुख से रहते और मोती चुँगा करते हैं।

मोती चुँगने की बात सुनकर कौए के मुँह में पानी आ गया। उस ने कहा—क्या मुझे भी अपने साथ लेते चलेंगे ? मोती के लालच में कौआ भूल गया था कि उधर जाने से फिर उसी कड़ाके की सर्दी में फँसना पड़ेगा। साथ ही उस ने हंसों के मुँह से यह भी सुना कि हमें वहाँ ठंडक का भय नहीं रहता। इस से उस ने सोचा कि शायद हिमालय के बीच में होने पर भी मानसरोवर में उतनी सर्दी न पड़ती हो, शायद वहाँ कोई ज्वालामुखी हो जिस से मानसरोवर में रहनेवालों को गरमी मिलती रहती हो।

हंसों में एक अनुभवी वृद्ध हंस भी था। वह जानता था कि कौए कैसी दुष्ट प्रकृति के पक्षी होते हैं। इस लिए उस ने कौए को साथ ले जाने में आपत्ति प्रकट की। लेकिन कौआ बहुत अनुनय विनय करने लगा कि मैं आप की बहुत सेवा करूँगा, आप लोग सोयेंगे तो रखवाली करता रहूँगा, मेरी आँखें बड़ी तेज हैं, मुझ से छिपकर कोई शत्रु आप के ऊपर आक्रमण नहीं करने पायेगा, इत्यादि।

हंस एक तो यों ही सीधे सादे, सात्विक प्रकृति के पक्षी होते हैं, उन में जीवमात्र पर स्वभावत दयाभाव रहा करता है, दूसरे कौए की गिड़गिड़ाहट ने उन के मन में और अधिक दया उत्पन्न कर दी। हंस उसे साथ ले चलने को तैयार हो गये और वृद्ध हंस को यह कह कर संतुष्ट कर दिया कि हम यदि अपनी सज्जनता नहीं छोड़ेंगे, तो कौए की दुर्जनता हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी। आखिर कौआ भी उन के साथ हो गया।

दोपहर तक वे सब बराबर ऊपर उड़ते चले गये, पर जब धूप अपने अन्तिम तापमान को पार करने लगी, तो सुकुमार हंसों के लिए खुले आकाश में उड़ना कठिन हो गया। इस लिए उन सबों ने एक घन वृक्ष पर कुछ देर बैठकर विश्राम करने का निश्चय किया। कौआ भी उन के साथ साथ था ही वह भी उन से सटकर एक टहनी पर आ बैठा। उस वृक्ष के नीचे की जमीन बहुत चिकनी, समथर और वृक्ष की सघन छाया से पूर्ण आच्छादित थी। इसी लिए मानसरोवर का यात्री एक मनुष्य भी उस वृक्ष के नीचे आनन्द के साथ कुछ देर से सो रहा था। हंसों के सरदार (वृद्ध हंस) ने जब नीचे दृष्टि डाली, तो देखा कि उस यात्री के देदीप्यमान मुखमण्डल पर पत्तों के बीच से छनकर सूर्य की प्रखर किरणें पड़ रही हैं।

१—संत हंसों में असंत कौआ, २—हंस की सज्जनता और कौए की दुर्जनता, ३—असंत की संगति का फल।

૧ સંત હંસોમાં દુર્જન કાગડો. ૨ હંસની સજ્જનતા અને કાગડાની દુર્જનતા. ૩ દુર્જનના સંગનું ફળ.

उस ने सोचा कि धूप की तेजी से उद्विग्न होने से कहीं उस श्रान्त यात्री की निद्रा न भङ्ग हो जाय, इस लिए अपने पखो को फैलाकर वह ऐसी जगह जा बैठा जहाँ बैठने से सूर्य की किरणो का नीचे आना रुक गया।

कौए दुष्ट होने के साथ साथ चञ्चल भी बहुत अधिक होते हैं, एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं बैठे रह सकते। उक्त हंस को एक स्थान से उड़कर (यात्री को छाया पहुँचाने के लिए) दूसरे स्थान पर बैठते देखकर कौआ भी वहीं जा बैठा और दुष्ट स्वभाव का होने के कारण बैठने के साथ ही ऐसे ढंग से बिट् (पाखाना) कर दिया कि सीधे यात्री के मुँह पर ही जाकर गिरे। उस दुष्ट को यात्री का सुख से सोना देखकर खलतावश जलन मालूम हो रही थी। फिर उस पर हंस को छाया करते देखकर तो वह और जल भुन गया था। इसी लिए उस ने अपने स्वभावानुसार नीच कर्म करके जी की जलन बुझाई।

मुँह पर बिट् पड़ते ही यात्री बिचारा चौंककर उठ बैठा और ऊपर देखने लगा। ऊपर हंस पर फैलाये चुपचाप बैठा हुआ था। उसे कौए की करनी का कुछ भी पता नहीं था। वह यही जानता था कि कौआ चञ्चलतावश यहाँ आकर बैठा और तुरत उड़ गया, बस। वह साधु बिना देखे किसी के प्रति असाधु कल्पना कैसे कर सकता था? पर उसे यह देखकर अब बड़े आश्चर्य में पड़ जाना पड़ा कि सोकर उठते ही यात्री ने बगल में पड़ा हुआ धनुष बाण उठा लिया और मेरी ही ओर लक्ष्य करके तीर का निशाना साध रहा है। किंतु उस बिचारे को आश्चर्य करने के अतिरिक्त और कुछ सोचने विचारने का अवसर ही नहीं मिला और तुरत बाण धनुष से छूट गया। हंस फड़फड़ाता हुआ यात्री के पास आ गिरा और कातर दृष्टि से उसे देखने लगा। बाण उस के पखो की बगल में, शरीर के ऊपरी भाग में लगा था। इस लिए उस के प्राण तो नहीं निकले पर वेदना अपार हो रही थी। उस ने करुणकण्ठ से यात्री से पूछा—पवित्र मानव, क्या तुम्हारे धर्म में यही लिखा है कि जो तुम्हारा उपकार करे उसी का अपकार करो?

यात्री ने कहा—और तुम्हारे धर्म में सोये हुए मनुष्य के मुँह पर विष्ठा कर देना ही उपकार कहा गया है क्या?

हंस ने कहा—विष्ठा? विष्ठा कैसा? मैं ने तो तुम्हारे मुँह पर सूर्य की तीखी किरणें पड़ती देखकर अपने पंख फैलाकर छाया की थी, विष्ठा तो नहीं किया।

यात्री ने (अपना मुँह दिखलाते हुए) कहा—यह देखो किस चीज का दाग है? दूध से दूध गिरा है क्या?

हंस ने (गौर से देखकर) कहा—नहीं, दूध का दाग नहीं है, अवश्य ही यह कौए के बिट् का ही दाग है।

हंस ने कहा—ठीक कहते हो भाई, यदि आज की पीड़ा सहकर प्राण इस शरीर में रुके रह गये, तो अब शेष जीवन में ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा। पर क्या आज मेरी जान बच सकती है? ओफ, बड़ी कठिन पीड़ा हो रही है।

यात्री ने हंस को उठाकर अपनी जाँघों पर लिटा लिया और उस के घाव की परीक्षा करने लगा। घाव अधिक भयकर नहीं था। फिर भी हंस को बहुत पीड़ा जो हो रही थी उस का कारण यही था कि बाण की नोक पर लगा हुआ लोहे का फल शायद कुछ ढीला रहने के कारण बाण की लकड़ी में से निकलकर उस की हड्डियों में फँसा रह गया था। यात्री ने सावधानी के साथ उसे बाहर निकाल लिया और जगल से कोई जड़ी लेकर उस का रस घाव पर लगा दिया। घाव तुरंत अच्छा हो गया पीड़ा का नाम भी नहीं रह गया। हंस की आत्मा प्रसन्न हो उठी और वह यात्री को कोटिशः धन्यवाद देकर अपने दल के साथ मानसरोवर की ओर चढ़ गया।

इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि दुष्टों के ससर्ग से हानि होना अवश्यभावी है। सज्जन हजार अपनी सौजन्यता पर स्थिर रहे, दुष्ट की दुष्टता पर ध्यान भी न दे, तो भी सह वास के दोष से उसे दूषित और हानि उठाने के लिए विवश होना ही पड़ता है। इस लिए दुष्टों के प्रति दया दिखलाना और सकोच में पड़कर उस का तिरस्कार न करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। उन से दूर रहने के लिए सज्जन पुरुष को सब तरह का उपाय काम में लाना चाहिए। सुन्दर तो यही होता है कि दुर्जनों को स्पष्टतः दुतकार दे, साफ साफ कह दे कि तुम अपना पौरा यहाँ से दूर ही रखो। परन्तु यदि कोई 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' के सिद्धान्त का ही कट्टर अनुयायी हो और किसी प्रकार की बहानेबाजी से ही दुष्ट को अपने से अलग रखता हो, तो उसे कोई दोषी नहीं ठहरा सकता—अधिक सत्य की रक्षा के लिए वह यत्किञ्चित् असत्यता (बहानेबाजी) का भी सहर्ष व्यवहार कर सकता है। कारण यह कि दुष्ट का ससर्ग अगर नहीं छोड़ा जायगा, तो वे दुष्ट अपने कलुषित व्यापार से सत भक्तों के आस पास के समस्त वातावरण को नरक से भी अधिक कुत्सित कर देंगे जहाँ रहकर भक्त पुरुष न तो भगवान् में चित्त लगा सकेंगे, न मद्गतप्राण हो सकेंगे। दुर्जनों के कुरुचिपूर्ण बकवाद के सामने महात्माओं का परस्पर भगवद्बोध संबन्धी वार्तालाप 'नक्कार खाने में तूती की आवाज' के समान वायु में विलीन हो जायगा। दुर्जनों का असगत कोलाहल सज्जन के हृदय को कुछ भी भगवद्विषय धारण नहीं करने देगा, क्योंकि वे तो किसी का कहना मानेंगे नहीं, फलतः सज्जन को ही विवश होकर, हार मानकर अपनी भगवच्चर्चा बद कर देनी पड़ेगी, भगवान् में सतुष्ट रहने और रमण करने से हाथ धो लेना पड़ेगा। अस्तु,

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, बुद्धिमान् भक्त मुझ में मन लगाकर और प्राणों का समर्पण करके आपस में मुझे समझते समझाते हैं, मेरी कथा वार्ता करते हैं और इस प्रकार

नित्य मुझ में ही संतोष और आनन्द प्राप्त करते हैं, तो अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन्, जो लोग आप के प्रति इतने भावुक रहते हैं, अपना मन प्राण सब कुछ आप को ही दे दिये रहते हैं उन को आप भी कुछ देते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—अवश्य ! मेरा यह स्वभाव ही नहीं है कि जो मुझे कुछ दे उस का रत्ती रत्ती बदला न चुका दूँ। इसी लिए तो मैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

उन सर्वदा युक्त रहकर प्रेम सहित भजन करनेवालों को उस बुद्धि का योग देता हूँ जिस के द्वारा वे मेरे समीप आ जाते हैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जो लोग नित्य निरन्तर अपने मन और प्राण आदि को मुझ परमेश्वर में युक्त किये रहते हैं और अत्यन्त प्रेम के साथ मेरा भजन करते रहते हैं उन को मैं ऐसी बुद्धि का योग करा देता हूँ जिस की सहायता से वे बिना इधर उधर भूले भटके सीधे मेरे ही पास चले आते हैं।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, मनुष्य की बुद्धि ही उसे नरक के धक्के खिलाती है, दरिद्रता के संकट में डालती है, जन्म मरण के चक्कर में नचाती है और वही उसे स्वर्ग में पहुँचाती है, वैभव का प्रकाश दिखलाती है, संसारबन्धन से मुक्ति दिलाती है। अच्छी बुद्धि और बुरी बुद्धि, यह उपाधिभेद इसी लिए बुद्धि को सदा से प्राप्त है। बुरी बुद्धि होने पर मनुष्य बुराइयाँ सोचता और बुरे काम करता है जिस से नाना प्रकार के उसे कष्ट भोगने पड़ते हैं और अच्छी बुद्धि होने पर भली बातों का मनन होता है जिस से ऊर्ध्वगमन की योग्यता प्राप्त होती है। शास्त्रविहित उत्तमोत्तम कर्म करनेवाला अच्छी बुद्धि पाता है और उस के द्वारा क्रमशः और अच्छे अच्छे उपायों का अवलम्बन कर अच्छा मार्ग ग्रहण करता हुआ संपूर्ण मात्र से परम उत्तम (सब से अच्छा) विषय भगवान् के चरणों में मन लगा देता है। उस के सत्कर्म उस की बुद्धि को ऐसी स्थिरता प्रदान करते हैं कि वह नित्य भगवान् के प्रेम में मग्न रहने लगता है। अन्त में भगवान् उस पर प्रसन्न हो जाते हैं और अपना सच्चा भक्त जानकर उस को ऐसी बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह बुद्धि उस भक्त पुरुष को सर्वदा के लिए भगवान् का बना देती है। इस लिए तुम इस बात की कभी चिन्ता मत करो कि भगवान् मुझे मिलेंगे या नहीं ! तुम केवल सच्चे मन से भगवान् का भजन करते रहो और उन्हीं के प्रेम में डूबे रहो। जब तुम अपने भजन की निरन्तरता से अपने मन को चारों ओर से हटाकर उस सच्चिदानन्दमय प्रभु के प्रेम में लीन कर देोगे, तो भगवान् स्वयं तुम्हारी सहायता के लिए तैयार हो जायँगे और

ज्ञानदीप से अज्ञान का नाश

ज्ञानदीपथी अज्ञाननो नाश.

ऐसी शक्ति से तुम्हें संपन्न कर देंगे कि तुम कहीं भटकने नहीं पाओगे—सीधे अपने परम लक्ष्य को पकड़े हुए आगे बढ़ते जाओगे—और बढ़ते बढ़ते इतने बढ़े हो जाओगे कि संसार के सब से बड़े स्थान पर पहुँच जाओगे। वह स्थान वे परमात्मा ही हैं। मान लो कि तुम परमात्मा को प्यार करते हो, हार्दिक प्रेम से उन को भजते रहते हो, पर तुम्हारा मन अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ रहा है, तुम्हारे बिना जाने ही यहाँ वहाँ (अन्य विषयों में) चौंढ़ियाया करता है, फिर भी तुम चिन्तित या उदासीन मत बनो, किसी तरह की खिन्नता मन में न लाओ, अपने प्रेम को दृढ़ करते रहो; मन की चञ्चलता की चिन्ता छोड़कर प्रेम से भगवान् का भजन करते रहो। भगवान् को जब मालूम हो जायगा कि तुम उन के सच्चे प्रेमी हो, किंतु मन की स्वाभाविक चञ्चलता के कारण कष्ट में पड़े हो और उन के समीप पहुँचने की शक्ति नहीं पा रहे हो, तो अपने आप तुम्हारी कठिनाई दूर कर देंगे, तुम्हारे लिए ऐसी सुदृढ़ बुद्धि का जुगाड़ कर देंगे कि वह तुम्हारे पास आते ही तुम्हारे मन को चञ्चलतारहित—स्थिर, कभी भी न हिलने डुलनेवाला—बना देगी और तब तुम स्थिरमना और निश्चयात्मिका बुद्धिवाले होकर अवश्यमेव भगवान् को प्राप्त कर लोगे। तात्पर्य यह कि तुम भक्तिपथ में आकर हताश न हो, मन को काबू में करना दुस्तर जानकर भजन से और भगवान् के प्रेम से पराङ्मुखता मत ग्रहण करो, प्रत्युत भगवान् के भरोसे रहकर बराबर भजन करते जाओ, अन्त में परमात्मा तुम्हें अवश्य अपने पास बुला लेंगे। अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, सतत युक्त होकर प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले उन बुद्धिमान् भक्तों को मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ जिस से वे मेरे समीप पहुँच जाते हैं।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया—हे प्रभो, जब कि वे बुद्धिमान् भक्त निरन्तर आप का ध्यान करते ही हैं, आप में मन और प्राण लगाकर प्रेम के साथ आप को भजते रहते ही हैं तब तो उन्हें उस अनन्यरूपा भक्ति से ही आप की प्राप्ति हो जायगी; फिर आप उन्हें एक विचित्र शक्तिशाली बुद्धि का योग देकर अपने पास क्यों बुलाते हैं? क्या इस बुद्धियोग के बिना उन की पूर्ण गति नहीं मिल सकती?

भगवान् ने उत्तर दिया—अर्जुन, तेरी शङ्का समयोचित है। वे अपनी दृढ़तर भक्ति से भी अवश्य मुझे प्राप्त कर ले सकते हैं, इस में संदेह नहीं, परंतु—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

उन पर दया करने के लिए ही मैं अन्तःकरण में बैठा हुआ दीप्तिमान ज्ञानदीपक से अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, अपने प्रेमी भक्त की अधिक से अधिक भलाई करने का ध्यान मुझे निरन्तर बना रहता है, मैं चाहता हूँ कि जो मेरा ही एकमात्र आधार पकड़ चुका है वह जहाँ तक हो सके वहाँ तक शीघ्रातिशीघ्र सब संकटों से छुटकारा पाकर मेरे समीप चला आये। बस, इसी लिए कृपा करके मैं उन के अन्तःकरण में स्थित हो जाता हूँ—अपूर्व बुद्धियोग प्रदान करता हूँ और अत्यन्त प्रकाश से युक्त, तेजःपुञ्जरूप ज्ञान के दीपक से उन के हृदयस्थ अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को छिन्न भिन्न करके दूर हटा देता हूँ। तात्पर्य यह कि मैं अपने भक्त को किसी प्रकार विमूढभावापन्न नहीं होने देता, स्वयं उन का अज्ञान दूर करने के लिए बुद्धियोग प्रदान करता हूँ और इस प्रकार अविलम्ब उन्हें अपने पास बुला लेता हूँ।

क० म०—प्यारे भाइयो, जो लोग सच्ची निष्ठा के साथ भगवान् के भक्त बनना चाहते हैं, पर मन की चञ्चलता के कारण निरशता का अनुभव करने लगते हैं, मन की बुलबुलाहट की वजह से हैरान और परेशान रहते हैं और भगवान् से बार बार मनाया करते हैं कि किसी तरह मन एक जगह, केवल भगवान् में टिकना सीखे, यहाँ वहाँ न दौड़े, उन प्रिय भक्तों पर भगवान् बड़ी कृपा रखते हैं। अज्ञान के कारण ही उन का मन स्थिरता नहीं धारण करता, अन्धकार में कोई ठीक ठिकाना न पाकर इधर उधर दौड़ता रहता है। सो भगवान् स्वयं उस भक्त के हृदय में जा विराजते हैं और अपने तेजस्वी प्रकाश अर्थात् ज्ञानरूपी दीपक से भक्त के अन्तःकरण के कोने कोने में उजाला फैला देते हैं जिस से अज्ञानजन्य अन्धकार निर्मूल हो जाता है और भक्तहृदय प्रकाश से जगमगा उठता है। उस प्रकाश में भक्त को वह निश्चित स्थान—परमात्मा का दिव्य रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता है। बस, तुरंत वह अपने मन को वहीं टिका देता है और फिर कभी वह वहाँ से इधर उधर नहीं हटने पाता। लेकिन भगवान् की इस कृपालुता का यह अभिप्राय कभी मत लगाना कि जब वे कृपा कर चञ्चल मन को अचञ्चल बनाने के लिए तत्पर ही रहते हैं तब फिर व्यर्थ ही मैं मन को वश में करने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट क्यों सहूँ—उसे स्थिर करने का निरन्तर अभ्यास और विषयों से वैराग्य क्यों धारण करूँ? ऐसा विचार करनेवालों पर भगवान् की कृपा नहीं हो सकती। कारण, ऐसा सोचना आलस्य और प्रमाद का द्योतक है। ऐसे आलसी और प्रमादी पर कृपा कर यदि भगवान् उसे मनःस्थैर्य प्रदान कर दें, तो भी वह अन्त तक स्थिरता नहीं रख सकता, क्योंकि उस हालत में वह सोच सकता है कि चलो जी, फिर कुछ दिन दुनिया के मजे लूटो; जरूरत पड़ने पर फिर भगवान् को मनाकर मन पर अधिकार कर लिया जायगा। इसी लिए संसार में कोई भी वस्तु कोई तब तक किसी को नहीं देता जब तक उस वस्तु का इच्छुक यह न प्रमाणित कर दे कि मैं उस वस्तु का कभी दुरुपयोग या अनादर नहीं करूँगा। बिना ताक पर मिठाई

रख देता है। पुत्र उसे लेने की इच्छा प्रकट करता है। पिता कहता है—जाकर उतार ले। पुत्र छोटा है, वहाँ तक उस के हाथ नहीं पहुँचते। वह उछलता कूदता है, टेबुल कुर्सी रखकर ऊँचे चढ़ता है, फिर भी यदि मिठाई उस के हाथ नहीं लगती, तो पिता हँसकर प्रसन्नता के साथ मिठाई उतारकर दे देता है। उस मिठाई को पुत्र कितने चाव से नाच नाचकर खाता है, इस का अनुभव किसी सुखी कुटुम्बी को ही हो सकता है। क्या पुत्र को पहले ही माँग पर मिठाई मिल जाने पर उतना आनन्द आ सकता था? इसी प्रकार भक्ति की भी बातें समझो। पहले अभ्यास वैराग्य द्वारा मन को स्थिर करने का यत्न करना आवश्यक है। अभ्यास वैराग्य में जब तुम असफल रहोगे, तो तुम्हारे हृदय में मन को स्थिर करने का और चाव पैदा होगा और बड़ी तल्लीनता से भगवान् की प्रार्थना करोगे कि प्रभो, अब मैं असमर्थ हूँ, तुम कृपा करके मुझे मन-स्थैर्य प्रदान करोगे तभी मुझे वह प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा मैं उस के लिए छलचता ही रह जाऊँगा, इत्यादि। तुम्हारी इस प्रार्थना से भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे और परम अनुग्रह के साथ तुम्हारे हृदय को अपने प्रकाश से भर देंगे। इस प्रकाश को पाकर तुम कृतकृत्य हो जाओगे, कभी उस से ऊब नहीं सकोगे, सर्वदा उस के प्रति तुम्हारा अनुराग बढ़ता जायगा, उस का निरादर नहीं करोगे। और यह प्रकाश है भी ऐसा ही जो एक बार प्रकाशित हो जाने पर फिर कभी लुप्त नहीं होता, अथवा यों कहो कि कभी क्षीण तक नहीं होता, नित्य अधिक प्रकाश फैलाता जाता है। इस प्रकाश को उत्पन्न करने में समय अवश्य लगता है, पर एक बार जो ज्ञानदीपक जला कि फिर वह कभी बुझने का नाम नहीं लेता, कितना ही बड़ा अंधड़ तूफान—सांसारिक वात व्याधि—क्यों न आवे, वह दीपक ज्यों का त्यों स्थिर भाव से अन्तःकरण में जगमगाता हुआ अज्ञानान्धकार को दूर करता रहता है। अस्तु;

इस प्रकार भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, उन सतत युक्त भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिए ही मैं उन के आत्मभाव में बैठा हुआ प्रकाशमय ज्ञानदीपक से उन के अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार का नाश करता हूँ, तब—

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्जुन बोला—आप परब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं। आप को सब ऋषियों ने, देवर्षि नारद ने तथा असित, देवल, व्यास ने नित्य, दिव्य पुरुष, आदि देव, अज, व्यापक कहा है और स्वयं (आप) भी मुझ से ऐसा ही कह रहे हैं।

गी० गौ०—अर्जुन ने कहा—हे प्रभो, आप परब्रह्म परमात्मा और परम धाम अर्थात् सब से उत्तम तेज हैं, सब से उत्तम पावन (पवित्र करनेवाले) हैं। आप को सभी प्राचीन ऋषियों ने सनातन, देवलोकी, दिव्य, पुरुषोत्तम अर्थात् अलौकिक पुरुषश्रेष्ठ, देवताओं से भी पहले का आदि देव, कभी जन्म न धारण करनेवाला अजन्मा और सर्वव्यापक कहा है। इस के साथ साथ देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आदि ऋषियों का भी ऐसा ही कथन है और आप स्वयं भी मुझ से अपना ऐसा ही परिचय दे रहे हैं।

क० मु०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इन दोनों श्लोकों में अर्जुन ने अपने हृद्गत अनेक भावों को समाविष्ट कर रखा है। वह आगे चलकर जो प्रश्न भगवान् के समक्ष उपस्थित करना चाहता है, ये श्लोक उसी की भूमिका हैं। वह भगवान् को अनेक विशेषणों में संबोधित करता है और सब में 'परम' शब्द का योग दे रहा है। इस से सिद्ध होता है कि वह भगवान् की चापलूसी कर उन्हें सब प्रकार से अनुकूल बनाना चाहता है जिस में आगे पूछी जानेवाली बातों को भगवान् परम प्रसन्न होकर विस्तार के साथ बतलाने की कृपा करें। यहाँ वह भगवान् को परब्रह्म कह रहा है। उसे भगवान् पहले ही बतला चुके हैं कि परब्रह्म गुणातीत, निर्लेप, निराकार, केवल आत्मा द्वारा अनुभव का विषय होनेवाला है, फिर भी वह आगे भगवान् से कहेगा कि आप मुझे अपना परम रूप दिखलाइए। वह भगवान् को परमधाम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तेज कह रहा है। यह भगवान् के सगुण रूप का प्रतिपादन करनेवाला विशेषण है। इस प्रकार अर्जुन एक साथ ही परब्रह्म और परमधाम कहकर यह भाव प्रकट कर रहा है कि आप ही गुणातीत और गुणमय दोनों हैं, अतः आप निराकार होते हुए भी मुझे अपना साकार रूप दिखला सकते हैं। फिर वह परम पवित्र विशेषण दे रहा है जिस का यह अभिप्राय है कि आप सब को अपनी कृपादृष्टि से विशुद्ध और पापरहित बना देते हैं, इस लिए मुझे भी पवित्र बनाकर अपना व्यापक रूप और विस्तृत विभूति दिखलाने का अधिकारी बना सकते हैं। आप दिव्य शाश्वत पुरुष हैं अर्थात् आप अपना वह रूप दिखलाने में यह विरोध नहीं खड़ा कर सकते कि इस समय तो मैं वसुदेव के पुत्र के रूप में तेरे ही जैसा मनुष्य हूँ, फिर वह परम रूप यहाँ कहाँ से दिखलाऊँ ? नहीं, आप सदा एकरूप रहनेवाले देवलोकी पुरुष हैं, अतः यहाँ आप

ऋषि और नारदोक्त भगवान् (अ० १० श्लो० १३)
ઋષિયો અને નારદોક્ત ભગવાન્ (અ ૧૦ શ્લો ૧૩)

वसुदेव के पुत्र के रूप में हों अथवा नन्द यशोदा के कन्हैया के रूप में, किंतु आप अपना सर्व-व्यापक आत्मयोगवाला रूप भी दिखला सकते हैं। आप स्वतः उत्पन्न हैं, जन्म धारणकर सांसारिक मायाजाल में पड़नेवाले साधारण मनुष्य नहीं है। आप यहाँ वहाँ सर्वत्र रहनेवाले हैं, यह नहीं कह सकते कि वहाँ (परलोक में) चलने पर तूँ वह रूप देख सकेगा। तात्पर्य यह कि वह भगवान् की दिव्य विभूतियों सहित उन का पूर्ण आत्मयोगस्थ व्यापक रूप देखने के लिए ऐसी मजबूत नींव डाल रहा है कि भगवान् किसी तरह उस की प्रार्थना अस्वीकृत न कर सकें। वह अपनी बातों को प्रमाणित करने के लिए कह रहा है कि मेरी बातें इधर उधर की उड़ती हुई खबरों जैसी नहीं हैं, बल्कि मैं जो बातें कह रहा हूँ वे समस्त ऋषियों से अनुमोदित, देवर्षि नारद द्वारा प्रचारित, असित, देवल और व्यास के ग्रन्थों में निबद्ध तथा स्वयं आप की कथित बातें हैं।

इस पर भगवान् ने पूछा—अच्छा, यह तो बतला कि मेरे इन नामों और रूपों के विषय में तेरा निजी मत क्या है? तूँ इन परब्रह्म, परमधाम, अज, विभु आदि मेरे नामों में कैसा विश्वास रखता है? ऋषियों की और मेरी कथित बातों को सच मानता है या झूठ?

अर्जुन ने कहा—जब कि इतने बड़े बड़े लोग आप को ऐसा अद्वितीय कहते हैं और आप भी उन का ही पक्षसमर्थन करते हैं, तब फिर मेरा क्या साहस है कि उन में अविश्वास करूँ? इस लिए मैं भी—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव, यह सब सत्य (ही) मान रहा हूँ जो आप मुझ से कह रहे हैं। क्योंकि हे भगवन्, आप की उत्पत्ति को न देवों ने जाना है, न दानवों ने।

गी० गौ०—हे भगवन्, आप की बातों को सत्य मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है जिस से आप के व्यक्तित्व के संबन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सके, क्योंकि हे कृष्ण, आप तो देवताओं से भी बहुत पहले के हैं, देव दानव कोई भी तो आप का मूल स्वरूप जान नहीं पाये, फिर मैं आप का जन्म अथवा आप की अद्भुत विशेषताएँ किस तरह जान सकता हूँ? इस लिए मैं आप की ही बात सच मानता हूँ और देवता, ऋषि तथा आप स्वयं जैसा कहते हैं उसी के अनुसार आप का स्वरूप हृदय में धारण करना चाहता हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, भगवान् का व्यक्तित्व जाननेवाला कोई नहीं है। कोई ठीक ठीक नहीं बतला सकता कि भगवान् कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, कैसे स्वभाववाले हैं, किस प्रकार प्रसन्न होते हैं, कब नाराज होते हैं, इत्यादि। यों कहने के लिए बहुत लोगों ने उन के स्वरूप का वर्णन अपने अपने ग्रन्थों में किया है; कोई उन्हें वैकुण्ठवासी बतलाता है, कोई शेषशायी कहता है, कोई योगगम्य सिद्ध करता है—योगियों के हृदयकमल में रहनेवाला घोषित करता है। जितने लोग उतनी तरह की बातें भगवान् के संबन्ध में कही जाती हैं। उन में कौन सी बात ठीक है, कौन नहीं, यह निर्णय करनेवाला कोई नहीं है। ऐसी दशा में बुद्धि इसी परिणाम पर पहुँचती है कि सब बातों का समन्वय करने पर जो मत अधिक संख्या में पुष्ट हो वही मान्य होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यही ठीक जँचता है कि भगवान् भक्तों के समीप रहते हैं, भक्तों का दिया हुआ नाम अपना संबोधन मानते हैं और भक्तों की इच्छा के अनुसार गुण रूप रखते हैं। उन के भक्त ऋषि, महर्षि, देवर्षि नारदादि, असित, देवल, व्यास मुख्य माने गये हैं। उन लोगों ने भगवान् को जिस रूप में देखा है वैसा ही वर्णन किया है। भगवान् ने भी गीता में उन्हीं के वर्णन जैसा अपना परिचय दिया है जैसा कि अर्जुन के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ही है। भगवान् ने और भी अनेक स्थानों पर यही कहा है कि मैं अपने भक्तों के निकट रहनेवाला हूँ। भगवान् का कहा हुआ यह श्लोक सर्वप्रसिद्ध है कि—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

अर्थात् हे नारद, मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता, योगियों का हृदय भी मेरा निवासस्थान नहीं है। मैं तो वहीं रहा करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरे नामों का जप और मेरा गुणगान किया करते हैं। पुराणों में ऐसी कथाएँ बहुत मिलती हैं जिन से नारद ऋषि का अद्वितीय भगवद्भक्त होना प्रमाणित होता है। भगवान् जो बात किसी से नहीं कहते थे वह भी नारद को बतला दिया करते थे, क्योंकि नारदजी भगवान् को छोड़कर और कोई बात जानते ही नहीं थे। इस लिए तुम भी यदि भगवान् की रहस्यमय बातों को जानना चाहते हो, तो नारद के समान भक्त बनो। यह मत समझो कि नारद के समान बनने के लिए कहकर मैं कोई ऐसी कठिन बात कह रहा हूँ जो मनुष्य के लिए अशक्य हो। मेरा तो यह मत है कि दृढ़ इच्छा करने पर अपठित मनुष्य भी नारद के दर्जे का भक्त बन सकता है। यद्यपि नारद को यहाँ गीता में देवर्षि कहा गया है और पुराणों में उन की उत्पत्ति ब्रह्मा के मन से बतलाई गई है, तथापि मैं ज़ोर देकर कह रहा हूँ कि कोई भी दृढ़ संकल्पवाला भक्त उन की समकक्षता प्राप्त कर सकता है, इस में कुछ आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। कारण, नारद की उत्पत्ति के संबन्ध

में और भी बहुत सी कथाएँ जहाँ तहाँ देखी जाती हैं जिन से ज्ञात होता है कि वे देवर्षि भी हैं और साधारण श्रेणी के मनुष्य भी। भक्तिपुष्प नामक ग्रन्थ में उन की जीवनी इस प्रकार लिखी हुई है—

देवर्षि नारद किसी जन्म में एक कहाँर के लड़के थे। वह कहाँर बहुत दरिद्र आदमी था। अनेक प्रकार के कष्टों में पड़कर वह नारद के बाल्यकाल में ही परलोक चला गया। नारद का लालन पालन उन की माँ को अकेले करना पड़ा। गरीबी तो उस की पुश्तैनी संपत्ति थी ही, उसे लोगों के जूठे बरतन माँजकर ही किसी प्रकार अपना और नारद का पेट चलाना पड़ता था। वह दिन भर संपन्न गृहस्थों की सेवा टहल करती और नारद इधर उधर धूल मिट्टी में शूद्र के लड़कों के साथ खेला कूदा करते। पर नारद के संस्कार साधारण शूद्रों के संस्कार से भिन्न प्रकार के थे। इस लिए वे जब दस बारह साल के हुए, तो शूद्रों के लड़कों के साथ खेलना उन्हें बुरा मालूम होने लगा। उन्होंने उन का साथ छोड़ दिया और चौबीस घंटे अपनी मां के साथ रहने लगे।

कुछ दिनों के बाद नारद की जन्मभूमि में साधुओं की एक जमात आई। गाँव के कुछ भजनानन्दियों ने अनेक प्रकार से अनुनय विनय कर उस जमात को कुछ दिन के लिए अपने गांव में रोक रखा। साधुओं का भंडार भारी था। गाँववालों ने चौका बरतन साफ करने के लिए तीन चार मजदूरिने रख लीं। (यों भले ही साधु बाबा लोग अपने भंडार का बरतन अपने हाथों माँज धो लेते हैं, पर जब कोई भक्त उन का भंडार-खर्च अपने ऊपर उठा लेता है तब सब काम उसी को करना पड़ता है।) उन मजदूरिनों में एक नारद की मां भी थी। भजनानन्दी भक्तों ने उस के मालिक से उसे दो चार दिन के लिए मँगनी माँग ली थी। यहाँ काम बहुत करना पड़ता, नारद की देखभाल करने या उन की अंट संट बातों का उत्तर देने की भी उसे फुर्सत न मिलती। नारद यों चुपचाप दिन रात उस के साथ साथ भला कब तक घूमते रह सकते थे। लड़कपन का स्वभाव विनोदी होता है। उन्हें माँ की चुप्पी अच्छी न लगती। वे उस की ओर से उदास होकर साधुओं के पास जाकर बैठने लगे। सौभाग्य से इस जमात में पाखण्डी साधु कोई नहीं था। सभी भगवान् के भक्त थे और सच्चे विरागी। वे सर्वदा भगवान् के अलौकिक गुणों की चर्चा, उन के अवतारों की कथा, उन की भक्तवत्सलता की व्याख्या आदि किया करते। पहले तो नारद को इन की बातें बहुधा समझ नहीं पड़ती थी, पर धीरे धीरे इन्हें उन बातों में एक विचित्र प्रकार का रस मिलने लगा। पहले जब साधु लोग आपस में आत्मा अनात्मा के संबन्ध की जटिल कड़ियाँ सुलझाया करते तब नारद का मन इधर उधर घूमा करता और जब वे साधु राम-रावणयुद्ध की मनोरञ्जक कथा कहते, प्रह्लादहिरण्यकश्यप संबन्धी रोमाञ्चकारी घटनाओं का वर्णन

करते अथवा गोपियों और कृष्ण के प्रेम का व्याख्यान सुनाते तब नारद दत्तचित्त होकर उन की बातें सुनते। इन भागवत कथाओं को सुनते सुनते नारद का संस्कार शुद्ध होता गया। दूसरी बात यह कि उन की माँ जब बरतन चौके से अवकाश पाती, तो नारद को उन साधुओं का बचा हुआ जूठन लाकर खिला जाया करती। नारद उस प्रसाद को बड़ी भक्ति के साथ भोजन करते। इस से भी उन की बुद्धि निर्मलता धारण करती गई। अन्त में परिणाम यह हुआ कि अब वे उन महात्माओं की ज्ञानचर्चा में भी पूर्ण मनोयोग देने लगे, आत्मा अनात्मा की गूढ़ बातें भी क्रमशः उन की समझ में आने लगीं और सांसारिकता से उन का पूरा विराग हो गया। अब वे भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन की कामना करने लगे, सोचने लगे कि जिन भगवान् की कथाओं में इतना आनन्द भरा हुआ है कि सुनकर हृदयकलिका विकसित हो जाती है उन को मूर्तिमान् देखकर तो न जाने कितना सुख मिलेगा। अब जैसे हो वैसे मुझे उन का दर्शनलाभ अवश्य करना चाहिए। उन्होंने साधुओं से एक दिन साहस कर पूछा—महात्माओं, आप प्रतिदिन परमात्मा की बातें करते नहीं अघाते; क्या उन का प्रत्यक्ष दर्शन आप ने किया है?

महात्माओं ने कहा—नहीं बचा, भगवान् के दर्शन पाना क्या साधारण बात है? बहुत जन्मों के पुण्यों का उदय होने पर उन के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है।

नारद ने कहा—क्या इसी जन्म में प्रयत्न करने से वे दर्शन नहीं दे सकते हैं?

महात्माओं ने कहा—दे क्यों नहीं सकते, पर उस सीमा तक जब कोई अपना अनुभव बढ़ाये तब तो?

नारद ने कहा—क्या आप लोग उतना अनुभव नहीं बढ़ा सकते?

महात्माओं ने कहा—बढ़ाने को तो सब लोग बढ़ा सकते हैं। किसी के लिए रोक थोड़े ही है, पर उतना अभ्यास करने का समय भी तो मिलना चाहिए?

नारद ने कहा—आप लोग कथावार्ता में और श्रोताओं को उत्तर प्रत्युत्तर देने में जितना समय लगाते हैं उस में से क्या उतना समय नहीं निकाल सकते?

महात्माओं को अब एक लड़के के साथ अधिक प्रश्नोत्तर करना अच्छा नहीं मालूम होता था, साथ ही उन्हें भय लग रहा था कि धीरे धीरे यह हमारी असली कमजोरी न ताड़ जाय। इस लिए उसे चुप करा देने के विचार से उन्होंने कहा—बचा, ये सब बातें तू अभी नहीं समझ सकता। इसी प्रकार दस बीस वर्ष यदि साधु महात्माओं का सहवास करता रहेगा, तो संभव है कि तुझे स्वयं अपने प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा और मालूम हो जायगा कि अभ्यास के लिए समय निकालना कैसा कार्य है। तू अभी नादान लड़का है। इस लिए याद रख कि साधु संतों के साथ अधिक तर्क वितर्क करना उचित नहीं।

नारद का महात्माओं से ईश्वर को पूछना । २ नारद की माता का उन्हें ढूँढना । ३ समाधिस्थ नारद ।
નારદનું મહાત્માઓને ઈશ્વર વિષે પૂછવું. ૨ નારદની માતાએ તેમને શોધવા. ૩ સમાધિસ્થ નારદ.

नारद ने कहा—समझ गया। आप लोग भगवान् का नाम जपने और कथा सुनने सुनाने में ही संतोष प्राप्त कर चुके हैं, उन के स्वरूप का अनुभव आप लोग नहीं कर सकते। परंतु मैं तो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि भगवान् का साक्षात् दर्शन पाये बिना संतोष नहीं कर सकता। इतना कहकर नारद वहाँ से उठकर चले गये और एकान्त स्थान में बैठकर भगवान् का ध्यान करने लगे।

दूसरे दिन जब नारद की माँ उन के लिए भोजन लेकर आई, तो साधुओं के पास उसे नारद नहीं दिखाई दिये। वह बहुत हैरान हुई और साधुओं से पूछने लगी कि मेरा लड़का कहाँ है ?

साधुओं ने कहा—वह छोकरा परमात्मा के दर्शनों का भूखा है, कहीं जंगल में उन्हीं को ढूँढ़ रहा होगा। हम लोग नहीं जानते कि वह यहाँ से उठकर कहाँ गया।

नारद की माँ ने कहा—वह भगवान् के दर्शन करना चाहता था, तो आप लोगों ने उसे दर्शन करा क्यों नहीं दिये ? आप तो सिद्ध महात्मा कहे जाते हैं; क्या यह बात आप के वश में नहीं थी ?

उन्होंने कहा—नहीं, यह दूसरे के वश की बात नहीं है। अपने ही परिश्रम और लगन से आदमी भगवान् के दर्शन पा सकता है।

उस ने कहा—वह यहाँ से गया कब ?

साधुओं ने कहा—कल संध्या होने के कुछ ही समय बाद से वह यहाँ नहीं देखा गया।

साधुओं की बात सुनकर नारद की माँ बहुत दुखी हुई। वह पुत्रमोह से व्याकुल होकर नारद को इधर उधर खोजने लगी। बहुत छान बीन करने पर उसे नारद का पता मिला। वे एक कोठरी में आँखें बंद किये, समाधि लगाये, चुपचाप बैठे हुए थे। उन्हें देखकर उन की माँ का दुःख दूर हो गया। वह उन्हें पुकारकर अपने साथ चलने के लिए कहने लगी, पर कई बार बुलाने पर भी जब नारद ने आँखें नहीं खोलीं तब वह फिर घबड़ा गई और उन का हाथ पकड़कर उठाने की चेष्टा करने लगी, किंतु इतने पर भी नारद की समाधि नहीं टूटी। अन्त में उस ने समझा कि शायद महात्माओं ने इसे कोई जादू टोना कर दिया। इस लिए उन्हीं की प्रार्थना करनी चाहिए।

उस ने महात्माओं के पास जाकर सब हाल कहा और प्रार्थना की कि मेरे लड़के को होश में ला दीजिए। उस की बातों से महात्माओं को आश्चर्य हुआ कि इतना छोटा लड़का एकाएक क्या समाधि की ऐसी अवस्था में पहुँच सकता है ? वे नारद की माँ के साथ समाधिस्थ नारद के पास गये, तो नारद की एकाग्रता देखकर स्तब्ध रह गये। उन्होंने समझ लिया कि यह यहाँ का बालक अवश्य ही कोई पूर्वजन्म का ऊँचा तपस्वी है। इस लिए इस

को समाधि से जगाकर मन्त्रदीक्षा दे देनी चाहिए, क्योंकि गुरु से उपदिष्ट हुए बिना किसी कर्म की सिद्धि नहीं मिलती और यह उपदेश देने के योग्य अधिकारी है, इस में कोई संदेह नहीं।

साधुओं ने अनेक यत्न से नारद को जगाया और कहा—बचा नारद, तूँ बड़ा भाग्यवान् लड़का है। तेरी निष्ठा देखकर हम बड़े ही प्रसन्न हैं। पर शास्त्रों में लिखा है कि गुरु के उपदेश से रहित उद्योग व्यर्थ चला जाता है। इस लिए तूँ पहले किसी गुरु से मन्त्रदीक्षा लेकर तब भगवान् के दर्शनार्थ प्रयत्न में लग।

नारद ने कहा—यदि ऐसी बात थी, तो आप लोगों ने पहले क्यों नहीं बतलाई? अब क्यों कह रहे हैं?

महात्माओं ने कहा—बिना अधिकारी चीन्हे मन्त्र का उपदेश तो क्या, कोई साधारण लौकिक बात भी नहीं बतलाई जाती। पहले हम लोगों ने नहीं समझा था कि तूँ इतने गहरे में है, किंतु अब हमें तेरा पूर्ण परिचय मिल गया है।

नारद ने कहा—आप लोग कृपाकर मुझे मन्त्र का उपदेश देंगे? मैं शूद्र का बालक हूँ।

महात्माओं ने कहा—शूद्र होने से क्या तूँ मनुष्य नहीं है। और भगवान् राम ने तो कितने ही पशुओं को भी अपना मित्र और मन्त्री बनाया था। हम सहर्ष तुझे मन्त्रोपदेश दे सकते हैं।

यह सुनकर नारद महात्माओं के चरण पकड़कर प्रार्थना करने लगे—भगवन्, गुरो, स्वामिन्, मैं आप की कृपा के बल पर भगवान् के दर्शन में सफलता प्राप्त करने का परम इच्छुक हूँ, मुझे उपदेश देकर कृतार्थ करें, मेरे ऊपर दया करें, मेरा जन्म सफल होने में सहायता प्रदान करें।

महात्माओं ने नारद को उठाकर आदर सहित बैठाया और परम प्रसन्न होकर उन्हें सगुण भक्ति की पूरी विधि बतलाकर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' अथवा 'श्रीमन्नारायण नारायण नारायण' मन्त्र जपने का उपदेश दिया।

नारद ने कहा—मैं यह 'नारायण' वाला मन्त्र ही अपने लिए विशेष सुगम समझ रहा हूँ, मुझे यही जपने की आज्ञा मिले।

महात्माओं ने कहा—बहुत सुन्दर है। अब तूँ समाधि लगाकर अथवा चलते फिरते सर्वदा इस मन्त्र का जप करता रह। भगवान् तुझे अवश्य दर्शन देंगे।

बस, उसी समय से नारदजी श्रीमन्नारायण नारायण जपते हुए कभी हजार हजार वर्ष समाधि में बैठे रहते हैं, कभी वीणा लेकर वही मन्त्र गाते हुए तीन लोक चौदह भुवन का पर्यटन करते रहते हैं और कभी भगवान् के समीप जाकर उन के दर्शनों का अलभ्य लाभ उठाया करते हैं। भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें सब स्थानों में जाने आने की शक्ति दे दी है। वे

घूम घूमकर सारे संसार की भलाई करते रहते हैं। वे राम के दर्बार में और रावण की महफिल में जहाँ देखो वहीं पहुँचे रहते हैं। इसी लिए तो कोई ऐसा धर्मग्रन्थ नहीं जिस में इन की चर्चा न हो। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी उन्होंने परब्रह्म परमात्मा को भली भाँति जान लिया हो सो बात नहीं है। भगवान् की माया ने उन्हें भी मोह में डाल दिया था जिस की कथा पहले कही जा चुकी है। अस्तु ;

इसी लिए अर्जुन ने कहा कि हे केशव, मैं आप की ही कही हुई सब बातों को सत्य मानता हूँ, क्योंकि हे भगवन् , आप का वास्तविक स्वरूप, आप का पूर्ण व्यक्तित्व न तो देवों को मालूम है, न दानवों को। और यही कारण है कि—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोतम, हे भूतों के उत्पादक, हे जीवेश्वर, हे देवों के देव, हे जगत्प्रभु, आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं।

गी० गौ०—हे पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष, हे समस्त जीवों की उत्पत्ति करनेवाले, हे संपूर्ण प्राणिमात्र के ईश्वर, हे अखिल देवताओं के पूज्य देवता, हे सारी सृष्टि के स्वामिन्, जब यही निश्चित बात है कि आप इस ब्रह्माण्ड के लघु जीवों के प्रथम उत्पन्न होनेवाले देवताओं के भी आदि कारण हैं तब भला आप को छोड़कर कौन ऐसा है जो आप का पूर्ण ज्ञान रख सके ? कोई नहीं है। इस लिए आप अपने स्वरूप को, अपनी महत्ता को अपने द्वारा स्वयं जाननेवाले हैं. दूसरा कोई भी आप को जाननेवाला नहीं है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, सर्वज्ञ परमेश्वर को अल्पज्ञ जीव भला कैसे जान सकता है ? मनुष्य में जब इतनी शक्ति भी नहीं है कि वह अपने घनिष्ठ संबन्धियों, प्रति दिन और प्रति क्षण के व्यवहार में आते रहनेवालों— पिता, पुत्र, भाई, बहिन, पति, पत्नी, मित्र, सुहृद्, बन्धु, बान्धव—तक के मन की बातें या शारीरिक शक्ति और विचारपरंपरा का ज्ञान रख सके, तो वह उस ईश्वर की जिस ने अपनी महती महिमा से देवताओं के लिए भी अतिशय दुरवगम्यता प्राप्त कर ली है, विशेषता को कैसे जान सकता है। अपने पुत्र की जरा सी कुशलताभरी तोतली बात पर आश्चर्यचकित हो जानेवाला स्थूलबुद्धि मानव सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धिगम्य परमात्मा को क्या जाने। यदि मनुष्यों में इस प्रकार की शक्ति होती, तो क्या कैकेई का कहना मानकर दशरथ राम को वन जाने देते ? क्या यशोदा गोपियों के उलाहने पर कृष्ण

ओखल में बाँधती ? क्या शंकराचार्य की उन की माता संन्यास धारण करने से विरत करना चाहती ? और ये दृष्टान्त तो एक अन्य व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति की दैवी प्राकृतिक शक्ति की अज्ञेयता सिद्ध करनेवाली हैं, अतः इन्हें छोड़ दो और स्वयं अपने प्रति दृष्टि डालकर देखो कि क्या तुम यह भी जानते हो, कल तुम्हारे हाथों कौन सा बड़ा या छोटा कार्य बनने या बिगड़नेवाला है ? नहीं, कोई नहीं जानता कि क्षण भर बाद मुझ से क्या हो जायगा अथवा मेरे ऊपर क्या भार आ पहुँचेगा। इसी लिए तो मनुष्यों को हार मानकर सर्वदा किसी कवि की यही उक्ति दोहरानी पड़ती है कि—

'क्षणादूर्ध्वं न जानामि विधाता किं करिष्यति।'

भगवान् कब क्या करेंगे, यह भी जब मनुष्य के लिए दुर्बोध विषय है, तो भगवान् कौन और कैसे हैं तथा कितनी शक्ति और सामर्थ्य से संपन्न हैं, यह विषय तो महान् दुरूह होना ही चाहिए। अस्तु;

इसी लिए अर्जुन भगवान् की ही शरण गहता है और कहता है कि हे पुरुषोत्तम, हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देव देव, हे जगत्पते, आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने को जानते हैं, अर्थात् दूसरा कोई आप का कुछ भी ज्ञान रखनेवाला नहीं है।

इस पर भगवान् ने कहा कि हाँ; अर्जुन, तूँ सत्य ही कह रहा है। वास्तव में इस सृष्टि में मुझ को ठीक ठीक जाननेवाला कोई नहीं है। परंतु मेरी अज्ञेयता की चर्चा और मैं ही अपना ज्ञान स्वयं रखता हूँ, इस कथन में तेरा आन्तरिक अभिप्राय क्या है ?

अर्जुन ने कहा—हे प्रभो, इस का यही अर्थ है कि आप ही अपने को जानते हैं, इस लिए आप ही—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अपनी (उन) दिव्य विभूतियों को पूर्ण रूप से कह सकते हैं, जिन विभूतियों के द्वारा आप इन लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

गो० गी०—हे भगवन्, अपनी जिन अलौकिक विभूतियों के द्वारा आप इन समस्त लोकों को व्याप्त करके ठहरे हुए हैं उन संपूर्ण विभूतियों का पूरा पूरा वर्णन करने में आप ही समर्थ हैं। तात्पर्य यह कि आप का दिव्य तेज, आप की अद्भुत शक्ति, आप के अगम्य गुण, आप का महान् ऐश्वर्य, आप का विस्तृत ज्ञान मैं यदि जानना चाहूँ, तो आप ही एक ऐसे पुरुष हैं जो मेरी अभिलाषा को पूर्ण कर सकते

हैं, दूसरा कोई भी मेरा मनोरथ सफल करनेवाला नहीं है। कारण यह कि ये सारी बातें आप की हैं और इन्हें आप ही जानते हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अर्जुन ने जिस उद्देश्य को हृदय में रखकर बारहवें श्लोक से भूमिका बाँधनी आरम्भ की थी वह रहस्य यहाँ आकर उस ने कुछ कुछ स्पष्ट कर दिया। उस ने भगवान् को अब पूर्णत अपने अनुकूल बना लिया है। वह अब तक भगवान् की प्रशंसामात्र करता आ रहा था कि आप परब्रह्म परमात्मा हैं, सूर्य चन्द्र आदि में जो तेज है वह आप के तेज के सामने कोई चीज नहीं, आप सब प्रकार के तेजों में परम तेज हैं, आप के जैसा कोई पावन नहीं है, न आप जैसा उत्तम कोई पुरुष है। इन बातों को थोड़ा बहुत इधर उधर के शास्त्रों के अध्ययन से और विशेषत आप के मुखारविन्द से सुनकर ही मैं ने जाना है। इस लिए मैं इन बातों को पूर्ण सत्य मान रहा हूँ। और मुझे विश्वास है कि अब तक जो बातें मैं ने नहीं जानी है, ऐसी भी बहुत सी बातें आप अपने सबन्ध में जानते हैं। अतएव अब इस श्लोक द्वारा वह कह रहा है कि यदि आप दया करें, तो उन बातों को कह भी सकते हैं। इस लिए मुझ पर कृपा करें और अपनी समस्त विभूतियों को मुझे बतला दें कि जड़ चेतन, स्थावर जङ्गम में कहाँ कहाँ किस किस रूप में आप रहते हैं? मैं जानना चाहता हूँ कि आप की ज्योति किस प्रकार विभक्त होकर संसार में सर्वत्र प्रकाश फैला रही है? किस प्रकार जड़ पाषाण और चेतन जीवसमूह में आप व्याप्त हैं, इन बातों को आप ही बतला सकते हैं। देवताओं की दिव्यता और ससारियों की सासारिकता में आप का ही तेज, आप की ही विभूति, आप की ही सत्ता व्यापक होकर स्थित है, यह बात बिना आप के बतलाये समझ में नहीं आ सकती, क्योंकि और किसी को इन बातों का वर्णन करने की शक्ति ही नहीं प्राप्त है।

इस तरह कहकर अर्जुन ने समुचित रूप में अपना अन्तर्भाव व्यक्त किया है। आज के ससार में भी उसी तरह की प्रथा को विशेष आदर प्राप्त है। दूसरे की जीवनी दूसरा कोई लिख तो सकता है, पर उस पर मनुष्यसमाज का उतना विश्वास नहीं जम सकता जितना किसी के स्वयं अपना जीवनवृत्तान्त लिखने पर विश्वास जम जाया करता है। हाँ, इतना अवश्य होना चाहिए कि स्वय अपनी जीवनी लिखनेवाला सत्य का गला न दबाकर अपने आचरण की भली बुरी सब बातें साफ साफ लिख दे। महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में ऐसा ही किया है। उन्होंने लोकनिन्दा की पर्वाह न करके, उत्तम मध्यम जैसा भी जब व्यवहार किया है, वह सब स्पष्ट लिख दिया है। इसी लिए उन की आत्मकथा को लोगों में आज इतना आदर और समान भी प्राप्त है और इसी से उन्हें ससार सत्य का सच्चा पुजारी भी मानता है। अस्तु;

अर्जुन ने जब कहा कि हे प्रभो, जिन विभूतियों द्वारा इन लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हैं, अपनी उन विभूतियों का अशेष वर्णन करने में आप ही समर्थ हैं, तो भगवान् ने

कहा कि हाँ, मैं अपनी समस्त विभूतियों का ज्ञाता और उन का वर्णन करने में समर्थ तो हूँ, पर इन बातों से तुझे क्या प्रयोजन है कि तूँ बार बार इन बातों की चर्चा करके मेरी प्रशंसा कर रहा है ?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, प्रशंसनीय तो आप हैं, फिर मैं आप के अतिरिक्त प्रशंसा किस की करूँ ? इस लिए मैं आप से पूछ रहा हूँ कि—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

हे योगिन्, मैं सर्वदा (आप का) चिन्तन करता हुआ आप को किस प्रकार जानूँ ? हे भगवन्, किन किन भावों में (आप) मेरे द्वारा चिन्तनीय हैं ?

गी० गौ०—*हे योगिराज, नित्य निरन्तर आप को ध्यान में रखकर, आप की* ही चिन्तना करता हुआ मैं आप को किस तरह जानूँ ? हे भगवन्, मेरी प्रार्थना है कि कृपा करके आप यह उपाय बतला दीजिए कि किस प्रकार के भावों में आप को मैं सोचूँ, किन किन रूपों में मैं आप का ध्यान करूँ, मुझे किन किन वस्तुओं में आप का चिन्तन करना चाहिए ?

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, जो बात अपने को मालूम न हो, पर उसे मालूम करने की मन में उत्कट इच्छा हो, तो इस का एकमात्र यही उपाय है कि जो उस बात को जानता हो उस को अपने प्रति प्रसन्न और कृपालु बनाओ। वह तुम्हारे व्यवहार से तुम्हारे ऊपर संतुष्ट होगा तभी तुम्हें ज्ञातव्य बातों का ज्ञान करायेगा। यही अर्जुन ने भी किया। वह जानता था कि भगवान् को जानना परम आवश्यक है और यह भी जानता था कि भगवान् को तभी जाना जा सकता है जब कि वे स्वयं अपने आप को स्पष्ट रूप से बतला दें, क्योंकि उन की बातें उन के अलावे और कोई जानता ही नहीं। यों तो उसे मालूम था कि भगवान् सर्वव्यापक हैं, जल, थल, पर्वत, आकाश में सब जगह विराजमान हैं, पर कहाँ कहाँ वे किस किस रूप में विराजते हैं, इस बात का ज्ञान उसे विस्तृत रूप में नहीं था। जैसे गौ का दूध गौ के शरीर भर में है, यह कहना सत्य है, पर वह दूध मिलेगा कहाँ से, यह ठीक ठीक जाने बिना गौ का दूध प्राप्त करना असंभव है उसी तरह परमात्मा की सत्ता सारे जगत में है, यह बात यथार्थतः सत्य होने पर भी वे परमात्मा दिखलाई कहाँ पड़ेंगे, यह ज्ञान जब तक नहीं हो जायगा तब तक कोई परमात्मा को कहाँ कहाँ ढूँढ़ता फिरेगा और

कहाँ पायेगा ? इस लिए पहले यही जानना जरूरी है कि किन स्थानों या किन वस्तुओं में परमात्मा का पता लगाने पर वे शीघ्र उपलब्ध हो सकते हैं। बिना यह ज्ञान हुए उन का वस्तुगत ज्ञान होना असंभव है। संसार कोई ऐसी तिनके सी वस्तु तो है नहीं कि परमात्मा को संसार व्यापक जानकर तुम उन्हें उस संसार में से चटपट ढूँढ निकालोगे ? संसार तो अपरंपार है। फिर उस में तुम कहाँ किस रूप में उन का पता लगाओगे, और कब तक पता लगाते रहोगे ? तुम्हारी आयु ही कितनी बड़ी है कि जीवन में तुम संसार की समस्त वस्तुओं में से ढूँढते ढूँढते उन्हें कभी ढूँढ लेने की आशा रखोगे ? अर्जुन जैसा वीर वरिष्ठ जिसे स्वर्गादि उपरिष्ठ लोकों में भी जाने की शक्ति प्राप्त थी, वह तो भगवान् की महिमा का पूरा पता पा नहीं सका, फिर दूसरा कोई—कलियुगी साधारण श्रेणी का मनुष्य अपने बल पर भला कब भगवान् का पता लगा सकता है ? लेकिन आश्चर्य है कि आजकल के कितने ही क्षुद्र मनुष्य अपने को अर्जुन से भी अधिक शक्तिशाली मानकर सरे आम भगवान् को जानने का दावा करने लगते हैं। इसी लिए आज के संसार को अज्ञान के अन्धकार में दिन रात भटकते ही रह जाना पड़ता है, हासिल कुछ नहीं होता। इस लिए तुम में यदि कुछ भी बुद्धि हो और समय रहते अपनी सुधार लेने की सत्प्रवृत्ति हो, तो क्षुद्रता का परित्याग कर अर्जुन की तरह तुम भी सर्वभावेन भगवान् की शरण में जाओ और उन्हीं से प्रार्थनापूर्वक कहो कि हे प्रभो, हे योगेश्वर, मैं आप को जानना चाहता हूँ, आप का ध्यान और भजन करना चाहता हूँ, पर यह नहीं जानता कि आप को किस रीति से अपने चिन्तन का विषय बनाऊँ, संसार में कहाँ कहाँ आप को ढूँढूँ और किन किन भावों में आप को देखकर आप का चिन्तन करूँ। इस लिए आप ही बतलाइए कि मेरे द्वारा आप किन किन वस्तुओं में चिन्तन किये जाने के योग्य हैं। अर्थात् मेरी शक्ति के अनुसार आप मुझे अपना ज्ञान करा दें। अस्तु;

अर्जुन का उपर्युक्त कथन सुनकर भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मैं ने तो पहले ही तुझे अपनी विभूतियों का परिचय दे दिया और बतला दिया है कि बुद्धि, ज्ञान, असंमोहादि भावों का प्रवर्तक मैं ही हूँ, सात महर्षि और चार मनुओं को मैंने ही मानस संकल्प से उत्पन्न किया है तथा समस्त लोक मेरी ही विभूति हैं, फिर अब दुबारा तूँ क्यों नये सिरे से प्रश्न कर रहा है ?

अर्जुन ने कहा—देव, आप की कृपा से यद्यपि मैं ने अब तक बहुत कुछ जान लिया है, तथापि मैं आप को पूर्णतः अभी तक नहीं जान सका। इस लिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे जनार्दन, अपने योग और विभूति को विस्तार से फिर कहिए, क्योंकि अमृत सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।

गी० गौ०—हे देवविरोधी जनों का नाश करनेवाले, आप ने अपनी जिस योगैश्वर्यरूप शक्ति का और अपनी जिन विभूतियों का मुझे अब तक उपदेश दिया उन को विस्तार के साथ फिर से कहने की कृपा कीजिए, क्योंकि हे नाथ, मुझे आप के अमृतमय वचनों को सुन सुनकर संतोष नहीं हो रहा है। तात्पर्य यह कि आप जितना ही अपना अमृतोपदेश सुना रहे हैं उतना ही मैं उसे पुनः पुनः सुनने को लालायित हो रहा हूँ, इस लिए फिर से सुनाकर मुझे कृतार्थ कीजिए।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, विचार तो करो कि अर्जुन कैसा उत्तम जिज्ञासु था ? भगवान् कह रहे हैं कि परमात्मा के ज्ञान, योग, ऐश्वर्य, विभूति की अतिशय कठिन बातें सुनकर तेरा चित्त ऊब जायगा, जितना सुन चुका है उतने का ही मनन कर। उतना भी यदि पूर्ण हृदयगम हो जायगा, तो तेरी सब कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। किंतु वह कहता है कि नहीं प्रभो, इतने से मेरी तृप्ति नहीं हो सकती। आप जितना ही कहते हैं उतना ही अधिक सुनने की मेरी लालसा हो रही है। आप की बातें शुष्क बातें नहीं, प्रत्युत वे अमृत हैं जिन का जितना ही पान करता हूँ उतनी ही प्यास लगती जाती है और इच्छा होती है कि यह अमृतरस अहर्निशि पीता ही रह जाऊँ।

और एक आज का जमाना है कि किसी को बैठाकर अगर तोता मैना का क़िस्सा और ऐयारी तिलस्मी उपन्यास चाहे जन्म भर खुशी से सुनाते रहो, पर जहाँ ज्ञान विज्ञान की चर्चा और भगवान् की बातें शुरू हुई कि वह जँभाई लेने लगता है, देह में ऐंठन पैदा होने लगती है, असमय में ही नींद आ घेरती है और अन्त में वक्ता महाशय को पुस्तक पत्रा लपेटकर चुप हो जाने में ही भलाई माननी पड़ती है। इसी का यह दुष्परिणाम होता चला आ रहा है कि दिन पर दिन इस देश से ऊँचे ऊँचे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थराज लुप्त होते जा रहे हैं, जो किसी प्रकार बच भी रहे हैं उन का भी प्रचार न होने के कारण कुछ ठिकाना नहीं कि वे कब अदृश्य हो जायें। इस लिए जिन में अपनी संस्कृति पर कुछ भी प्रेम हो जो भारतीय कहलाने में कुछ भी गौरव मानते हों और भारतीयता की रक्षा का थोड़ा भी परवाह रखते हों उन्हें चाहिए कि भारत के अमूल्य ज्ञानग्रन्थों का प्राण के समान संमान करें, जहाँ कहीं भी भगवच्चर्चा, भगवान् की कथा, भगवान् के संबन्ध में वार्ता होती हो वहाँ अवश्य जायें। समय का सदुपयोग इसी में है। इस लिए यह बहाना न करें कि हमें अवकाश नहीं मिलता। यह अलबत्ता कह सकते हैं कि भगवान् की कथा वार्ता से समय नहीं मिलता,

अतएव हमें अन्य कार्यों में कोई मत फँसाओ। किंतु भगवान् की कथा वार्ता होनेवाले स्थानों पर केवल जाने से ही कोई लाभ नहीं हो सकता, यह भी ध्यान रहे। वहाँ आन्तरिक श्रद्धा की प्रेरणा से जायँ और वैसी ही श्रद्धा से वहाँ के श्रुत विषयों का मनन करें। कथा समाप्त होने के पहले ही वहाँ से उठें मत। अर्जुन की तरह उन कथाओं में अमृतरस चखने का अनुभव करें और कभी तृप्त न होने की आकाङ्क्षा रखें अर्थात् उस विषय में नित नूतन प्रेम बढ़ाते रहें। वक्ता महाशय से प्रार्थना करें कि वे अपने प्रवचन के समय में वृद्धि करें। इस से दो लाभ होंगे—एक तो वक्ता का उत्साह बढ़ेगा जिस से वे परिश्रम के साथ ग्रन्थों का तत्त्व निकाल कर सुनाने की चेष्टा करेंगे और दूसरा यह कि श्रोता की अधिकाधिक ज्ञानवृद्धि होगी। अस्तु;

ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन, आप अपने योगैश्वर्य का और अपनी विश्वव्यापक विभूति का विस्तार के साथ फिर से वर्णन कीजिए, क्योंकि आप का प्रवचनामृत सुनते सुनते भी मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।

इस प्रकार अर्जुन की श्रद्धायुक्त विनीत प्रार्थना सुनकर—

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्री भगवान् बोले— हे कुरुश्रेष्ठ, अब अपनी दिव्य विभूतियाँ प्रधान रूप से (मैं) तुझे बतलाऊँगा, क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

गी० गौ०—श्री भगवान् ने अर्जुन की ज्ञानपिपासा देखकर प्रसन्नतापूर्वक कहा कि हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुझे अपनी अलौकिक विभूतियों की बातें अवश्य बतलाऊँगा। तेरी श्रद्धा देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि जो बातें मैं ने आज तक किसी से नहीं बतलाई थीं उन बातों को श्रवण करने का तूँ योग्य अधिकारी है। किंतु तेरी एक इच्छा मैं पूर्ण नहीं कर सकता अर्थात् तूँ मेरी योगैश्वर्य शक्ति और विभूतियों को विस्तार से सुनना चाहता है, सो नहीं हो सकता, क्योंकि मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है, मेरा विस्तार असीम है। इस लिए मैं तुझे अपनी प्रधान प्रधान विभूतियों की ही बातें बतलाऊँगा।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, कोई कैसा ही घनिष्ठ मित्र अथवा सगा संबन्धी क्यों न हो, जब तक उस के हृदय में यह विश्वास नहीं जम जाता कि मेरा सहचर मेरे प्रति अटूट अनुराग रखनेवाला है, मुझ में अतिशय श्रद्धा करनेवाला है तथा बिना मेरी सहायता के उस का काम

किसी तरह नहीं चलनेवाला है तब तक वह अपने मित्र को अपना असली भेद नहीं बतलाता, अपनी रहन सहन का पता नहीं देता और न खुले दिल से समुचित सहायता ही प्रदान करता है। अर्जुन विद्वान् मनुष्य था। वह राजवंश में उत्पन्न हुआ था। राजनीति की जटिल से जटिल समस्याओं को हल करने की बुद्धि उसे मिली हुई थी। उस से मित्रता के नियमों का कोई भी अङ्ग अपरिज्ञात न था, वह मैत्री के सभी नियम उपनियम का ज्ञाता था। इसी लिए उस ने भगवान् की महिमा का यथाशक्ति वर्णन करके उन पर यह विश्वास स्थापित कर दिया कि मैं आप के सिवा दूसरे को अपना मित्र नहीं समझता, इतना ही नहीं, बल्कि मैं आप को अपना परम गुरु समझने के साथ साथ सारे संसार का अद्वितीय गुरु, संचालक, उत्पादक और प्रतिपालक भी समझता और अन्तःकरण से आप में अगाढ श्रद्धा रखता हूँ। इस लिए आप यदि मेरी सहायता नहीं करेंगे, तो मैं संसार में और किसी की सहायता की न तो आशा कर सकता हूँ और न किसी अन्य की सहायता से मेरा मनोऽभिलाष ही पूर्ण हो सकता है।

इस प्रकार सपूर्ण भाव से अर्जुन ने जब भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया और अपनी इच्छा—भगवान् की विभूति का ज्ञान प्राप्त करने की सची जिज्ञासा—प्रकट करने में कोई बात उठा न रखी, तो भगवान् को भी पूरा विश्वास हो गया कि हाँ, अर्जुन अवश्य मेरा सचा अनुगत और एकमात्र मेरे ही आश्रय को अपना आश्रय समझनेवाला अनन्य भक्त एवं शिष्य मित्र सब कुछ है। इस लिए इस से मुझे किसी प्रकार का भेद—छिपाव दुराव—नहीं रखना चाहिए और जहाँ तक सभव हो, इसे अपना पूरा परिचय दे देना चाहिए। यही सोचकर भगवान् ने कहा कि अच्छा अर्जुन, अब मैं अवश्य तुझे अपनी योगैश्वर्यशक्ति के साथ साथ मुख्य मुख्य विभूतियों का परिचय दूँगा—अपना विभूतियोग तुझे दिखलाऊँगा। परंतु अर्जुन की तो प्रभु से प्रार्थना थी कि आप मुझे अपना योग और अपनी विभूतियाँ विस्तार से बतलाइए और भगवान् कह रहे हैं कि मैं खास खास बातें ही बतलाऊँगा, सब नहीं; इस का क्या कारण है? तुलसीदासजी के शब्दों में इस का कारण है—

'हरि अनंत हरि कथा अनंता' और—

'राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।'

और भगवान् भी इसी बात को अपनी स्वीकृति देते हैं। वे भी कहते हैं—'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' मेरे विस्तार का अन्त नहीं है। इसी लिए तो कृष्णजी के नामकरण के अवसर पर नन्दजी के पुरोहितजी को भी कहना पड़ा कि नन्दजी, आप के बालक के नाम अनन्त हैं। मैं इन का नामकरण करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, क्योंकि इन के जितने नाम हैं और हो सकते हैं उन सब का मुझे स्वयं ज्ञान नहीं है। इस लिए मैं हार मानकर अपनी बुद्धि के अनुसार एक छोटा सा, किंतु महामहिम 'श्री कृष्ण' नाम इन का रख देता हूँ।

हाँ, समय समय पर लोक में इन की लीलाओं को देखकर लोग और भी बहुत से नाम इन के रखते जायँगे जिन्हें आप भी देखेंगे और जानेंगे हो। पुरोहित की बात सोलह आने सच निकली। नन्दजी ने देखा कि मेरे पुत्र कृष्ण गोकुल में लीलाएँ रचकर गोपीनाथ बन गये, वृज में खिलवाड़ खेलकर वनविहारी हो गये, मुर राक्षस को मारकर मुरारि कहलाने लगे, कंस का वध कर कंसान्तक प्रसिद्ध हुए, केशी का नाश कर केशिनिषूदन बने और गोवर्द्धन पर्वत उठाकर गिरिधारी प्रख्यात हुए। इसी प्रकार उन्होंने असीम लीलाएँ रचीं और अनन्त नाम धारण किया। अस्तु;

इसी अभिप्राय से भगवान् ने अर्जुन से कहा कि हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं अपनी दिव्य विभूतियाँ मुख्यतः तुझे बतलाऊँगा। तेरी प्रार्थना के अनुसार विस्तारपूर्वक वर्णन इस लिए नहीं करूँगा कि मेरे विस्तार का कहीं अन्त ही नहीं है।

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—अच्छा प्रभो, ऐसा ही कीजिए। आप संक्षेप में और मुख्य रूप से भी जितना अपना विभूतिपरिचय देंगे, मेरे लिए उतना भी कम नहीं होगा। परंतु इतनी प्रार्थना फिर करता हूँ कि इन मुख्य विभूतियों को बतलाने में भी संक्षेप से काम मत लेने लगिएगा!

भगवान् ने कहा—नहीं अर्जुन, मुख्य मुख्य में भी संक्षेप अथवा संकोच करने की क्या आवश्यकता है? अच्छा, अब ध्यान से सुन। मैं पहले अपनी सर्वप्रथम प्रधानीभूत विभूति तुझे बतला रहा हूँ। वह इस प्रकार कि—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

हे गुडाकेश, मैं सब प्राणियों के भीतर रहनेवाला 'आत्मा' हूँ और मैं ही प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।

गी॰ गौ॰—हे निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन, संसार में चर अचर जितने प्राणी हैं उन सब के हृदय के भीतर स्थित रहनेवाली जो आत्मा है वह मैं श्री कृष्ण परमात्मा ही हूँ और सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण, सब प्राणियों की स्थिति का आधार तथा सब प्राणियों के प्रलय का हेतु भी मैं ही हूँ।

क॰ प्र॰—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस एक ही श्लोक में भगवान् ने समस्त ब्रह्माण्ड की निखिल क्रिया का वर्णन कर दिया है। जीवों की चैतन्यता क्या है, जीवों का जन्म किस की इच्छा से होता है—जीवों को जन्म देने में कौन हेतु है, जीव उत्पन्न होकर टिके कैसे रहते हैं तथा अन्त में जीवों की मृत्यु किस प्रकार हो जाती है? इत्यादि सभी प्रश्नों का इस

एक ही श्लोक में उत्तर है। जीवों का चेतनभाव ही आत्मा कहलाता है। भगवान् कहते हैं कि वह आत्मा मैं ही हूँ अर्थात् मुझ से ही सारे ब्रह्माण्ड में चेतन्यता दिखाई पड़ती है। यदि जीव में आत्मा न रहे, तो जीव की 'जीव' सत्ता भी नहीं रह जायगी। यह आत्मा नामक सृष्टि का प्रधान तत्त्व परमात्मा की पहली विभूति है और सृष्टिगत समस्त पदार्थों में सर्वप्रधान है। इस प्रकार यह एक ही वाक्य कह देने से भगवान् की समस्त विभूतियों का विज्ञों को ज्ञान हो जा सकता था, पर अर्जुन कहीं फिर न पूछ बैठे कि आखिर जगत् में जब जीव उत्पन्न हो जायेंगे तभी तो उन में आत्मारूप होकर आप स्थित होंगे; किंतु यह तो आप ने बतलाया नहीं कि जिन में आप आत्मारूप होकर बैठेंगे वे जीव हो पहले कहाँ से आ गये? इसी संभावित प्रश्न का उत्तररूप भगवान् का यह कथन है कि 'अहम् आदि' मैं ही पहले सब जीवों को उत्पन्न करनेवाला आदि कारण हूँ, मेरे ही मानस सङ्कल्प से सृष्टि के चराचर जीव उत्पत्ति पाते हैं और इसी लिए मैं ही उन में आत्मा होकर स्थित रहता हूँ। फिर यह प्रश्न न उत्पन्न हो कि वे जीव आप की इच्छा से उत्पन्न होकर आप की ही शक्ति से चेतनभाव भी ग्रहण करते हैं, पर वे अनन्त काल से अब तक अपनी परंपरा किस के बल पर चलाये चले आ रहे हैं? इसी लिए भगवान् ने कहा कि 'मध्यं च' मैं ही सब प्राणियों का मध्य अर्थात् स्थितिकाल हूँ, मेरी ही शक्ति के आधार पर यह सृष्टि अपनी परंपरा निभाये चली आ रही है। इस के बाद प्रश्न उठ सकता है कि जब आप ही प्राणियों के चेतनभाव हैं, आप ने ही उन्हें उत्पन्न कर उन की स्थिति रखी है, तो क्या कोई आप से भी प्रबल शक्ति है जो आप के रचित प्राणि समूह का एक एक करके संहार करती हुई उन को न जाने कहाँ अदृश्य करती चली जाती है? सो न उठे, इसी लिए भगवान् अन्तिम वाक्य कहते हैं कि 'भूतानाम् अन्तश्च अहम् एव' मैं ही अपने रचित और अपने स्थापित जीवों के अन्त अर्थात् प्रलय का भी कारण हूँ; मेरे सिवा कोई दूसरी शक्ति नहीं जो मेरी सृष्टि का मेरे न चाहते हुए संहार करे, मैं ही अपनी इच्छा से अपनी लीला का व्यापार फैलाता हूँ, उसे चेतनभाव प्रदान करता हूँ, उस को स्थित किये रहता हूँ और जब लीलासंवरण की इच्छा होती है, तो मैं ही उस सृष्टिलीला को अपने ही अन्दर समेट लेता हूँ। अस्तु,

इसी प्रकार के गूढ़ भावों को व्यक्त करते हुए भगवान् ने अर्जुन को अपनी प्रथम विभूति का परिचय दिया कि हे गुडाकेश, मैं सब भूतों की अन्तर्हृदयस्थ आत्मा हूँ और मैं ही सब का आदि कारण, स्थिति तथा प्रलय भी हूँ।

इस पर अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्, जब कि सब में आप ही आत्मभाव से विराजमान हैं तब तो आप का ध्यान करने की इच्छा रखनेवाला कीट पतङ्गादि किसी भी जीव का ध्यान करके आप के ध्यान की पूर्णता समझ सकता है?

भगवान् ने कहा—ऐसा करने में कोई दोष होगा, यह बात तो नहीं है, पर यह असंभव है कि लघुवृत्ति संसारी जीवों का मोह मात्सर्यादिपूर्ण भाव देखकर कोई अन्त तक उन में श्रद्धा विश्वास रख सके। और ध्यान भजन उसी का करना चाहिए जिस में आदर भाव बना रहे, श्रद्धा और विश्वास खण्डित न हों। इस लिए मेरे जिन रूपों का ध्यान भजन करने से श्रद्धा विश्वास में त्रुटि के बदले पूर्णता और परिपक्वता आती है उन शक्तिमती विभूतियों का वर्णन इस प्रकार है—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यों में मैं विष्णु, ज्योतियों में किरणधारी सूर्य, वायुओं में मरीचि (और) नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, अदिति के पुत्रों में मैं सर्वश्रेष्ठ विष्णु भगवान् हूँ, चमकनेवाली ज्योतियों में सब से अधिक किरणोंवाला सूर्य नारायण हूँ, वायुओं में मरीचि नामधारी मैं प्रधान वायु हूँ और नक्षत्रों में सब का राजा मैं चन्द्रमा हूँ।

क० प्र०— प्यारे प्रभुप्रेमी सज्जनो, यों तो देवता के नाम से सबोधित होनेवाले जितने पूज्यवर्ग हैं उन सब को आदित्य अर्थात् कश्यप ऋषि की अदिति नामक पत्नी से उत्पन्न कहा जाता है, पर शास्त्रों में बारह आदित्य मुख्यतः प्रसिद्ध हैं। उन के नाम क्रम से ये हैं—१ धाता, २ मित्र, ३ अर्यमा, ४ इन्द्र, ५ वरुण, ६ अंश, ७ भग, ८ विवस्वान्, ९ पूषा, १० सविता, ११ त्वष्टा और १२ विष्णु। इन बारहों में विष्णु सब से अधिक शक्तिशाली, तेजस्वी, रूपवान् और गुणवान्, अतएव सब के राजा कहे गये हैं। इस लिए भगवान् उन में अपने को विष्णु बतला रहे हैं।

ऐसे ही ज्योति धारण करनेवाले नक्षत्र, चन्द्रमा, आग, विद्युत, सूर्य आदि जितने पदार्थ और देवता हैं उन में सब से अधिक प्रकाश फैलानेवाली प्रखर किरणें सूर्यनारायण की होती हैं, सूर्य सब प्रकाशकों के राजा हैं। सो भगवान् कह रहे हैं मैं वही (सूर्य) हूँ।

हवाएँ उनचास तरह की प्रसिद्ध हैं। कहावत ही पड़ गई है कि 'लङ्का में जब आग लगी, तो उनचासों हवाएँ बहने लगीं।' वायुपुराण (अध्याय ६७) में इन सब के नाम, गुण, कर्म पृथक् पृथक् विस्तार से वर्णित हैं। इन ४९ में भी सात वायु विशेषतः प्रसिद्ध हैं—कोई प्राणद वायु कहा जाता है, कोई प्राणहर कहा जाता है, कोई शीतल, मन्द, सुगन्ध कहा जाता है, कोई उष्ण, तीव्र, दुर्गन्ध कहलाता है। लोगों का प्रत्यक्ष अनुभव भी है कि जो हवा मद्रास में बहती है वह पंजाब में नहीं, जो समुद्रतट पर बहती है वह हिमालय पर

नहीं। इस तरह देश काल के भेद से भी हवाओं की विभिन्नता सर्वविदित ही है। इन्हीं में मोटी, पतली, सूक्ष्म, स्थूल का भी भेद हुआ करता है। कोई फायदा पहुँचानेवाली और कोई नुकसान करनेवाली होती है, यह बात डाक्टर और वैज्ञानिक भी मानते ही हैं। इन में जो सब से अधिक पूजनीय, अमृततुल्य लाभदायक और जीवमात्र की जीवनशक्ति का पोषक वायु है उसी का नाम मरीचि है। सो भगवान् का कथन है कि वह मरीचि नामक श्रेष्ठ वायु मैं ही हूँ।

वैसे तो अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्र प्रसिद्ध हैं, पर सूर्यास्त होने के बाद रात को आकाश में समूह के समूह, कोई बहुत तीक्ष्ण और कोई बिलकुल धुँधली सी जो चमकती हुई ताराएँ दिखलाई पड़ती हैं उन को भी नक्षत्र कहते हैं और सूर्य के समान गोल आकारवाले, किंतु शीतल और शुभ्र प्रकाश फैलानेवाले जो चन्द्रमा हैं उन को भी नक्षत्र कहते हैं। लेकिन इन अश्विनी आदि सहित अनगिनती नक्षत्रों और चन्द्रमा के गुण कर्म में महान् अन्तर है। जैसे मनुष्यों में राजा भी मनुष्य ही है और प्रजा भी वही हैं, पर दोनों के गुण कर्म अलग अलग होते हैं वैसे ही नक्षत्रों में भी गुणकर्मभेद से चन्द्रमा को नक्षत्रेश अर्थात् नक्षत्रों का राजा और अन्य को उन की प्रजा कहते हैं। इन बातों का विशेष विस्तार ज्योतिषशास्त्र में है। भगवान् अपने को नक्षत्रों में नक्षत्रेश=शशी=चन्द्रमा बतला रहे हैं।

अस्तु; आदित्य, ज्योति, मरुद और नक्षत्रों में जहाँ जहाँ भगवान् की विशेष विभूतियाँ हैं उन का परिचय देने के बाद भगवान् फिर कहते हैं—

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों में चेतना हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मैं चारों वेदों में सामवेद हूँ, सब देवताओं के बीच में देवराज इन्द्र हूँ, दसों इन्द्रियों में सब का स्वामी मन मैं हूँ और प्राणियों में जो जीवनी शक्ति है वह भी मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, वेदों में यद्यपि सब से पहले ऋग्वेद का नाम आता है और आजकल के अन्वेषकों की तो राय ही यह है कि ऋग्वेद से ही यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद छाँटकर अलग निकाले गये है, परंतु सामवेद में जो सरसता है वह अन्य वेदों में दर्शन को नहीं मिल सकती। सपूर्ण सामवेद दिव्य, मधुर, अतिशय भावमय, उत्तम संगीत से भरा हुआ है। संगीतविद्या की उत्पत्ति सामवेद से ही हुई है। और भगवान् को मधुर गाना जितना प्रिय है उतना कोई वस्तु नहीं। इसी लिए भगवान् को भजनेवाले भक्तों ने सदा गीत गा गाकर

ही उन्हें मनाया है। नारदजी बिना वीणा के कभी भजन करने नहीं बैठते, यह तो सब को मालूम ही है; स्वयं भगवान् भी अर्जुन को जो उपदेश दे रहे हैं वह गाकर ही दे रहे हैं। तभी तो इस का 'श्रीमद्भगवद्गीता' 'श्रीमान् भगवान् द्वारा गाई हुई' नाम पड़ा है। सुन्दर संगीत सुनने पर श्रोता जब भावमय हो उठते हैं, तो उन्हें रोमाञ्च हो जाया करता है। इस गीता का ललित गान सुनकर संजय की भी वही हालत हुई थी। संजय ने गीता के अन्त (अठारहवें अध्याय) में धृतराष्ट्र से स्पष्टतः कहा है कि—

'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

अर्थात् महात्मा श्री कृष्ण वासुदेव और पार्थ अर्जुन का यह अद्भुत और रोंगटे खड़ा करनेवाला (रोमाञ्चकारी) संवाद मैं ने सुना। तात्पर्य यह कि भगवान् को संगीत उतना ही प्रिय है जितनी प्रिय उन्हें भक्ति है। इसी लिए अपनी दिव्य स्तुतियों से भरे संगीतमय सामवेद को वे अपनी विभूति बतला रहे हैं और कहते हैं कि वेदों में मैं सामवेद हूँ। शेष—देवताओं के राजा इन्द्र, इन्द्रियों का राजा मन और प्राणियों की चेतना शक्ति—का प्राधान्य स्पष्ट ही है। अस्तु;

इसी लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों में चेतना हूँ।

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—प्रभो, शास्त्रों में तो रुद्रादि देवताओं की भी बड़ी महिमा बखानी गई है, और आप देवताओं में इन्द्ररूप से प्रधानता स्वीकार करते हैं; तो क्या रुद्र गणेशादि में आप की विभूति नहीं है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, बहुत जल्दीबाजी मत कर। यह तो सूर्य चन्द्रादि देवों में प्रधान इन्द्ररूपा विभूति का मैं ने परिचय दिया है, रुद्रों की तो गणना पृथक् ही है। सुन—

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं रुद्रों में शंकर और यक्ष राक्षसों में कुबेर हूँ; वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, एकादश रुद्रों के बीच में शंकर—महादेव—हूँ। धन संपत्ति के लोभी, विलासप्रिय यक्षों तथा राक्षसों के मध्य उन का राजा धनाधिप कुबेर हूँ मैं। आठ वसुओं में प्रधान पावक अग्नि मैं हूँ और बड़ी तथा छोटी चोटी वाले संसार में जितने पर्वत हैं उन में सब से ऊँचा पर्वत सुमेरु मैं ही हूँ।

क० म०—प्यारे भाइयो, रुद्र के अर्थ होते हैं घोर, भीषण, उग्र और इसी प्रकार के भाव व्यक्त करनेवाले शब्द। परंतु यहाँ रुद्र शब्द से ग्यारह रुद्र नामक देवता का ग्रहण किया जाता है। पुराणों में ग्यारह रुद्रों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—१ शंकर, २ कपर्दी, ३ हर, ४ त्र्यम्बक, ५ अपराजित, ६ वृषाकपि, ७ बहुरूप ८ रैवत, ९ मृगव्याध, १० शर्व, ११ कपाली। शंकर इन में प्रधान माने गये हैं, वे सब के राजा हैं। इसी लिए भगवान् इन में अपनी प्रधान विभूति का होना व्यक्त करते हैं। भगवान् की इस घोषणा से सांप्रदायिकों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। कट्टर शैव और कट्टर वैष्णव आपस में इतना वैमनस्य रखते हैं कि वाग्युद्ध होते होते कभी कभी प्राणों की लेन देन की नौबत आ जाती है। वैष्णव कहते हैं कि तुम्हारे (शैवों के) देवता शंकर कोई देवता नहीं, श्मशानवासी, भूत, प्रेत, बैताल हैं और शैव कहते हैं कि तुम वैष्णवों के विष्णु अथवा श्री कृष्ण कभी के देवपदवाच्य नहीं। वे अहीर के लड़के, गोपियों का मक्खन और धोतियाँ चुरानेवाले चोर और छिछोर हैं। ये कट्टर सांप्रदायिक यह नहीं सोचते कि शंकर और विष्णु दो शरीर एक प्राण हैं—शंकर के हृदय विष्णु और विष्णु के हृदय शंकर हैं। ये कट्टरपंथी समझते हैं कि हमीं ने धर्म का ठेका ले रखा है। उन्हें गीता का यह श्लोक आँख खोलने और अज्ञानान्धकार को दूर करने की चेतावनी देता है। पर वे या तो आँख से मूलतः हीन हैं या उसे खोलकर भ्रम दूर करने को तैयार नहीं। कौन कहे कि अन्धपरंपरानुयायियो, यह झगड़ने का नहीं, आपस में मेल पैदा करने का जमाना है, इस लिए गीता देखो गीता! यह ग्रन्थराज आपसी वैमनस्य दूर कर सब को एक समान मानने का उच्च उपदेश पुकार पुकारकर दे रहा है, इसे सुनने के लिए कान की मैल निकालकर ध्यान दो। सार्वभौम धर्म का प्रचार करो। धर्म और धर्मप्रभु भगवान् को अंधों का हाथी मत बनाओ। कारण, वे संसार को धारण करने के लिए हैं, न कि अलग अलग रूप में कलह का विषय बनने के लिए। यदि उन्हें एकमत होकर एक साथ नहीं देखोगे, तो जन्म भर भटकते रह जाओगे और अंधों के हाथी के समान कभी ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकोगे कि इन का वास्तविक स्वरूप कैसा है। अंधों के हाथी की कथा जानते हो ? नहीं, तो सुनो—

विश्व विचित्रता का भाण्डार है। इस में ऐसी ऐसी आश्चर्योत्पादक, कौतूहलपूर्ण, चमत्कारिक बातें भरी हुई हैं जिन की कल्पना करना भी मनुष्य की शक्ति के परे है। पर्यटनशील, अन्वेषक, प्रकृतिनिरीक्षणपटु कोई कोई व्यक्ति सौभाग्य से कभी इन विचित्रताओं को देख लेते हैं और भगवान् के लीलाकौशल पर मुग्ध होकर रह जाते हैं। ऐसे ही रहस्योद्घाटक व्यक्तियों द्वारा कभी कभी कोई कोई विश्ववैचित्र्य जनसाधारण के सुनने में आ जाता है, तो वह भी सुनकर आश्चर्य से दंग हो जाता है, बड़ी कठिनता से वैसी अद्भुत कहानियों (?) पर विश्वास करता है; बहुधा नहीं भी करता। फिर भी वे विचित्र कथाएँ तो परंपरया सर्वत्र

फैल ही जाती हैं। कुछ लोग उन से केवल मनोरञ्जन का काम लेते हैं, कुछ उन के ही आधार पर अपनी कल्पनाशक्ति का क्षेत्र व्यापक बनाते हैं और कुछ उन्हें परमात्मा की अपूर्व लीला मानकर भक्ति से आप्लावित होते हैं।

शहर के तड़क भड़क और यातायात के आधुनिक साधनों से रहित, ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, वणिज व्यापार से परिपूर्ण विज्ञ समाज से बहुत दूर, अतिशय अपरिचित प्रान्तर में प्रकृति नटी की कारीगरी और स्वच्छन्द रचनाशक्ति का अद्भुत नमूना एक अन्धग्राम था। पता नहीं, सृष्टि के किस युग से उस गाँव में अंधे ही रहते चले आते थे। उस गाँव में एक भी सचक्षु मनुष्य नहीं था। कहा जाता है कि सभ्य समाज की अवहेलना और सतत भर्त्सना को सहने में असमर्थ होकर प्राचीन काल में एक अंधा और एक अंधी दम्पति अपने को आँख-वाले मनुष्यों की दृष्टि से छिपाने के लिए जनशून्य जंगल की ओर चले गये। बहुत दिन यात्रा करते करते जब उन का चलने फिरने से जी भर गया, तो वे एक फलयुक्त वन के समीप ताल तमाल के पत्तों का घरौंदा बनाकर वहीं बस गये और फल मूल खाकर किसी तरह जीवन-यापन करने लगे। आँखें न होने के कारण उन्हें फलों के जंगल में भी बड़ी कठिनता से फल मिलते थे। कभी कभी तो बिल्कुल उपवास पर ही कई दिन बिता देने पड़ते थे। तथापि उन दोनों प्राणियों ने अन्न धन से पूर्ण मनुष्यसमाज में आने की इच्छा कभी नहीं की। भगवत्कृपा से पाई हुई आँख के सौभाग्य पर फूले न समानेवाले सर्वसुखसंपन्न सभ्य मनुष्यों ने भगवत्कोप से नेत्रहीन इन दोनों प्राणियों के साथ जैसा मानवोचित व्यवहार किया था वह उन्हें पुनः मनुष्यसमाज में आने की प्रवृत्ति से सर्वदा वञ्चित करता रहता।

इस बात को बीते हजारों वर्ष हो गये। किसी को परंपरा से भी स्मरण नहीं रह गया कि कभी दो अन्धदम्पति मनुष्यसमाज से विमुखता ग्रहण कर वृक्षसमाज से नाता जोड़ने कब किधर चले गये थे। परंतु वहाँ अब अंधों का एक बड़ा भारी गाँव ही बस गया था। उन अंधे अंधी के दर्जनों अंधे अंधी पुत्र पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। फिर उन पुत्र पुत्रियों के भी अंधी ही संतानें हुईं। इस प्रकार वहाँ अंधे अंधियों की सृष्टि ही चल पड़ी। प्रभु ही जाने कि उस गाँव में उस की प्रकृति ने किस स्वतन्त्र प्रकृति से काम किया और अंधों की रचना से गाँव भर दिया। वे सब अब वृक्षों से फल तोड़ने और लताओं को खोद खोदकर कन्द मूल निकालने में पूर्णनिपुण हो गये थे। उन्हें वहाँ किसी तरह का दुःख नहीं था। सभ्य समाज की तरह उन के यहाँ से भी यह स्मृतिपरंपरा नष्ट हो चुकी थी कि आँखवालों ने कभी हमारे पूर्व पुरुषों का निरादर और अपमान किया था और इसीलिए हमें यहाँ जंगली जानवरों में उन्हीं से मिलता जुलता जीवन बिताना पड़ रहा है। इसलिए उन्हें किसी तरह की मानसिक चिन्ता या कष्ट भी नहीं था। हाँ, कभी कभी शिकारी डाकुओं और [illegible]

फिरते साधु सन्यासियों) की जब वहाँ पहुँच हो जाती और उन के मुँह से सुनी हुई बातों से उन्हें यह मालूम होता कि संसार में एक जाति ऐसी भी है जो सब तरह से हमारे सदृश होती हुई भी हमें देखती है, पर हम उसे नहीं देख सकते, तो कुछ देर के लिए उन्हें अवश्य विकलता और एक प्रकार की न्यूनता का बोध होता, पर साथ ही उन आँखवालों से ही सुनी हुई नाना प्रकार की लौकिक अलौकिक कथा किंवदन्तियों और अनेकानेक जीव जन्तुओं के संबन्ध में भाषण व्याख्यानों का मन में ऊहापोह करते ही उन की वह विकलता और न्यूनता नष्टप्राय हो जाया करती।

एक बार की बात है कि कोई शिकारी राजा हाथी पर चढ़कर उसी ओर शिकार खेलने गया हुआ था। राजा के नौकर चाकरों ने एक मचान पहले से ही खड़ा कर रखा था। राजा जंगल में पहुँचते ही बंदूक लेकर मचान पर जा बैठा और महावत (फीलवान) को आज्ञा दी कि जब तक मैं मचान पर हूँ उस के अंदर ही तूँ जाकर हाथी के लिए चारा काट ला।

उस जंगल में हाथियों के चारे के काम में आनेवाले—बरगद, पीपल, पकड़ी आदि के-वृक्ष दर्शन के लिए भी नहीं थे। इस लिए महावत ऐसे वृक्षों की खोज करता करता जब बहुत दूर निकल गया, तो कुछ दूर से ही देखता क्या है कि एक वृक्ष के नीचे बहुत से आदमी जमीन पर क्या जाने क्या टटोलते हैं और जब वह चीज मिल जाती है, तो चट से मुँह में डाल लेते हैं। उसे उन का यह व्यापार देखकर बड़ा कौतुक मालूम हुआ। उस ने 'चै धत् चै धत्' कहकर हाथी को तेजी से उसी तरफ बढ़ाया। कुछ निकट पहुँचने पर वह अपने आप ही प्रसन्न होकर बोल उठा—अरे वाह; यह तो बड़ा मजा रहा; बिना मेहनत किये ही मैं पकड़ी के पेड़ के पास आ पहुँचा। वह और तेज चाल से हाथी को भगाकर तुरंत उस पेड़ के नीचे चला गया और तब उस ने देखा कि बीसों अंधे पकड़ी का गोटा बीन बीनकर खा रहे हैं। हाथीवान अपनी धुन में मशगूल था। उसे जल्दी से डाढ़ा काटकर राजा साहब के पास लौट जाना था। साथ ही वह मूर्ख भी आवश्यकता से कुछ अधिक ही था। इन कारणों से उसे एक साथ ही कोड़ियों अंधों को देखने पर भी कुछ आश्चर्य अथवा विचित्रता का भान नहीं हुआ; बल्कि इतना ही बहुत कुशल हुआ कि उस ने अंधों की पहचान कर ली, अन्यथा अपनी धुन में वह हाथी पर बैठा बैठा दो चार अंधों को हाथी के पैरों से रौंदवा देता, तो विशेष आश्चर्य की बात न होती। खैर, अंधों के भाग्य अच्छे थे कि महावत को उन की नेत्रहीनता मालूम हो गई और उस ने चिल्लाकर अंधों से कहा कि हटो, हटो, दूर भगो। इधर हाथी आता है, दब जाओगे।

पर वे अंधे बिचारे जिन्होंने अपनी उत्पत्ति से लेकर आज तक हाथी का नाम भी नहीं सुना था, महावत के हल्ला मचाने पर भला क्या समझ सकते थे कि हाथी किस तरह का

रहा है और कैसे हम उस के द्वारा कुचल जायेंगे। वे जहाँ के तहाँ मौनभाव धारण किये पड़े रहे। इस लिए महावत ने चौगुने जोर से फिर आवाज दी—अरे अंधो, तुम्हारे कान भी नहीं हैं क्या ? सुनते नहीं हो कि इधर हाथी आ रहा है ? चलो, दूर हो पाकड़ के नीचे से।

अब की अंधों की तटस्थता भङ्ग हुई। महावत की ध्वनि से इस बार उन के मन में कुछ भय का संचार हुआ और कल्पना हो उठी कि हम लोगों पर शायद किसी तरह की विपत्ति आ रही है। साथ साथ उन के मन में धीरे धीरे यह भी सन्देह होने लगा कि आनेवाली विपत्ति हाथी नाम के किसी वस्तुविशेष से संबन्ध रखनेवाली है। इस लिए स्वभावतः वे सोचने लगे कि हाथी क्या कहलाता है, वह किस ढंग से आता है, किस प्रकार का होता है, अपने आप आ रहा है या कोई उसे ला रहा है ? इस प्रकार के प्रश्नों के साथ अंधे उठकर खड़े हो गये और जिधर से महावत के बोलने की आवाज आ रही थी उसी तरफ फूटी हुई आँखों से देखने की कोशिश करने लगे।

महावत को देर हो रही थी। वह डर रहा था कि कहीं राजा साहब शिकार खेलकर मचान से उतर न पड़ें और मैं इधर ही फँसा रहकर उन के गुस्से का शिकार न बनूँ। अंधों की जड़ता देखकर वह झल्ला उठा। उसे भला क्या मालूम कि मेरी ही तरह के मनुष्य होते हुए भी ये मूर्ख अंधे हाथी नहीं जानते होंगे। उस ने तड़पकर फिर कहा—क्या तुम सभों ने जान देने की ही ठान ली है ? मैं कब से चिल्ला रहा हूँ कि मुझे हाथी के चारे के लिए पकड़ी की डालें काटनी हैं, हटो पकड़ी के नीचे से; फिर भी मुर्दों की तरह तुम सब जहाँ के तहाँ खड़े हो ? क्या दौड़ा दूँ हाथी को तुम सभों के ऊपर ?

अंधों को भली भाँति मालूम हो गया कि हाथी कोई जानवर है जो पकड़ी की डालें खाता है और शायद वह इतना बड़ा है कि अगर हम लोगों के ऊपर दौड़ा दिया जायगा, तो हमारे प्राण निकल जायँगे। इन बातों का ज्ञान होते ही अंधे भयभीत होकर पकड़ी की छाया के बाहर जाकर खड़े हो गये। परंतु उन सभों के मन में अब यह उत्सुकता उत्पन्न हो गई कि जब हमारे भाग्य से हाथी जैसा विचित्र जानवर यहाँ तक आ गया है, तो किसी उपाय से हमें यह जरूर जान लेना चाहिए कि वह कैसा और कितना बड़ा है। इतने में उन के कानों में पकड़ी की बड़ी बड़ी डालों के टूटने की 'चर मर' 'तड़ तड़' शब्दों द्वारा आवाज मालूम होने लगी। इस से उन के आश्चर्य का पारावार नहीं रह गया। वे डर के मारे और दस कदम पीछे हट गये और सोचने लगे कि बाप रे, हाथी तो सचमुच ही मालूम होता है कि साक्षात् दैत्य जैसा ही कोई जानवर है। पकड़ी पर से उस की डालें टूटने से जैसी आवाजें आ रही हैं उन से स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि उस को साधारण छोटी मोटी डालें नहीं टूट रही हैं, अवश्य उस की भारी भारी शाखाएँ धमाधम नीचे गिर रही हैं जिन के कारण यहाँ तक धमक

पहुँच रही है। क्या एक मनुष्य से इतनी बड़ी बड़ी डालों का तोड़ना किसी तरह बन सकता है ? नहीं, एक मनुष्य तो क्या, दस मनुष्य भी मिलकर बिना हरवा हथियार की सहायता के ऐसी ऐसी डालें नहीं तोड़ सकते। और यह प्रकट ही है कि हाथी और शायद उसी के ऊपर बैठे हुए एक मनुष्य के अलावे और कोई भी आदमी यहाँ नहीं है। सच हो न हो, अवश्य हाथी ही पकड़ी की डालों को दनादन तोड़ तोड़कर जमीन पर पटकता चला जा रहा है। लेकिन मालूम होता है हाथी बहुत सीधा जानवर है, भालू, चीता, शेर, भेड़िया के समान खूँखार नहीं है। तभी तो वह एक साधारण मनुष्य के वश में है ? जब तक वह मनुष्य उसे अलग खड़ा किये रहा तब तक वह पेड़ से दूर खड़ा था और हमलोगों के हटने पर जैसे ही उस ने न जाने क्या कहा तैसे ही वह पेड़ के नीचे आ गया तथा अपना काम करने लगा। इस लिए हम लोग अगर उस आदमी की प्रार्थना करें, तो वह जरूर हम लोगों को हाथी दिखा सकता है। ऐसा निश्चय कर एक अंधे ने कहा—क्यों भाई हाथीवान, क्या दया करके हमें हाथी देखकर यह मालूम कर लेने दोगे कि वह कैसा और कितना बड़ा है ?

हाथीवान ने कहा—क्या हाथी को मैं ने किसी डब्बे में बंद कर रखा है ? खड़े तो हो, देखते क्यों नहीं ? मैं मना थोड़े ही कर रहा हूँ ?

अंधे ने कहा—भाई, दुर्भाग्य से हम आँखवाले नहीं हैं, इस लिए तुम्हें हमारी दिल्लगी नहीं उड़ानी चाहिए। आँख से देखने की हमें शक्ति मिली होती, तो हम इस प्रकार प्रार्थना क्यों करते ?

हाथीवान कुछ लज्जित हुआ। उस ने कहा—आखिर इस में मेरा क्या वश है ? मैं ही किस तरह तुम्हें हाथी दिखला सकता हूँ, तुम्हीं बतलाओ न ? मैं जादू भी तो नहीं जानता, न सिद्ध ऋषि मुनि ही हूँ कि मन्त्रबल से तुम्हें आँखें दे दूँगा।

अंधे ने कहा—उस के लिए तुम्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। हम अंधे बहुत बातें हृदय से देख लेते हैं और जो उस तरह समझ में नहीं आतीं उन बातों को हाथों से टटोलकर देख लेते हैं। इस लिए हम चाहते हैं कि तुम हाथी को शान्तभाव से एक जगह खड़ा रखो और हमारा हाथ पकड़कर उस के शरीर से छुला दो। बस, हम लोग टटोल टटोलकर मालूम कर लेंगे कि वह कैसा है। क्यों, कर सकते हो इतनी कृपा ?

हाथीवान ने कहा—अच्छी बात है। इस तरह देखना है, तो चले आओ मेरी आवाज पकड़कर। मैं हाथी को चुपचाप खड़ा कर रखता हूँ, डरने की कोई बात नहीं है।

अपनी प्रार्थना स्वीकृत होती देख अंधे प्रसन्न हो उठे, मानों टटोलकर हाथी देखने से उन्हें आँखें मिलने जैसा लाभ होनेवाला है। सब के सब महावत की आवाज की तरफ दौड़ चले। तब महावत ने समझाकर कहा—देखो, इतने आदमी मत आओ। हाथी भीड़ देखकर भड़क उठेगा, तो सँभालना मुश्किल हो जायगा।
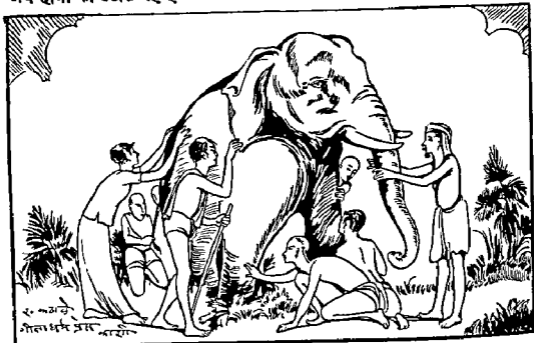
अंधे हाथी को टटोल रहे हैं. 	આંધળા હાથીને જોઈ રહ્યા છે.

हाथी के वितर्क में अंधों में लड़ाई और राजा का वचन.

હાથીના નિર્ણય માટે આંધળાઓમાં લઢાઈ અને રાજાનું સાન્ત્વન.

अंधे ठिठककर खड़े हो गये और पूछने लगे—तब कितने आदमी आयें? तुम्हीं कहो।

हाथीवान ने कहा—ज्यादा से ज्यादा चार, छः, आठ आदमी तक आ सकते हो, पर दौड़कर नहीं, खामोशी के साथ धीरे धीरे।

आखिर यही हुआ। आठ अंधे शान्तिपूर्वक हाथी के पास चले गये। हाथीवान ने अपनी जगह पर बैठे हुए ही नीचे झुककर उन के हाथ पकड़ पकड़ कर हाथी का शरीर स्पर्श करा दिया। वे खुश हो होकर हाथी को धीरे धीरे टटोलने लगे। किसी ने पैर टोना शुरु किया, किसी ने पूँछ पकड़ी, कोई कान पकड़कर हिलाने लगा, किसी के हाथ में सूँड़ पड़ी, कोई दाँतों को टो रहा था, कोई पेट पर हाथ दौड़ा रहा था। इतने में एक अंधे ने कहा—अजी हाथीवान साहब, तुम बैठते कहाँ हो, वह जगह मुझे दिखला सकते हो?

हाथीवान ने कहा—हाँ, हाँ, आओ। इतना कह उस ने अंधे का हाथ थामकर उसे ऊपर खींच लिया और जब वह अच्छी तरह हाथी की पूरी पीठ टटोलकर देख चुका, तो फिर नीचे उतार दिया।

इस प्रकार जब सब (आठों) अंधों का मन भर गया, तो हाथीवान को धन्यवाद देते हुए फिर अपनी जमात में जाकर मिल गये और वहाँ बैठकर आपस के अनुभव के आदान प्रदान द्वारा यह निर्णय करने की चेष्टा करने लगे कि वास्तव में हाथी किस चीज की तरह है।

एक अंधा बोला—मेरी जान में तो हाथी एक ऊँचे टीले जैसा है। मैं ने उस के ऊपर चढ़कर खूब टटोल लिया था, वह अवश्य काफी ऊँचे टीले के समान ही है, इस में संदेह नहीं।

दूसरे अंधे ने कहा—तूं आँख और बुद्धि दोनों से अंधा है। हाथी अगर टीले की तरह होता, तो चलता फिरता कैसे? टीला क्या कहीं उठ चल सकता है? मैं ने पैरों देखा और उसे ठीक काठ के खंभे जैसा पाया। मालूम होता है कि वह खंभा ही यहाँ से वहाँ उछल उछलकर चला करता है।

इस बात पर एक तीसरे अंधे ने जोर देते हुए कहा—हाँ जी हाँ, तुम्हीं सच कहते हो; मुझ को भी वह बिल्कुल खंभे के ही मैफिक जान पड़ा।

चौथे ने कहा—तुम सब की बुद्धि पर पाला पड़ गया है। खंभा हो या टीला—ये दोनों चीजें एक जगह जमकर रहनेवाली हैं, न तो टीला हिलता डुलता है, न खंभा। और ईश्वर ने हाथी को पैदा किया है चलने फिरने के लिए। इस लिए मैं देख रहा हूँ कि उस के बारे में मेरा ही अनुभव ठीक मालूम होता है।

उन सबों ने पूछा—तूं ने क्या अनुभव किया है?

उस ने कहा—मुझे वह हाथी एक लपकदार डंडे के समान मालूम हुआ। मैं ने दोनों हाथों से बहुत देर तक उसे अच्छी तरह टटोल लिया था। इस लिए उस के दण्डाकार होने में जरा भी सदेह नहीं है।

पाँचवें ने कहा—तब तूँ ने भी कुछ नहीं जाना। मालूम होता है, तुम सबों के हाथों में पकड़ी की मोटी पतली डालें पड़ गई थीं और उन्हीं को तुम सबों ने हाथी समझ लिया था। मैं भी तुम सबों के साथ रहता, तो हवा ही खाता रह जाता। वह तो संयोग अनुकूल था कि मैं हाथी से बिल्कुल सटकर खड़ा था और उस ने खुद फटाफट हिलकर बतला दिया कि मैं हाथी हूँ। बस, चटपट मैं दोनों हाथों से उसे टटोलने लगा और देखा कि वह हूबहू सूप की तरह है।

छठें ने कहा—क्या कहूँ ? मुझे हँसी आती है कि इतनी प्रार्थना से किसी तरह हाथीवान ने हाथी दिखलाना मजूर किया, फिर भी सब मेहनत बेकार चली गई।

सब ने मिलकर कहा—अच्छा, तब तूँ ही बतला कि तुझे वह कैसा मालूम हुआ ?

उस ने कहा—मुझे तो वह एक अत्यन्त चिकने और जरा जरा गोलाई लिये टेढ़े खूँटे के आकार का समझ पड़ा। हाँ, खूँटे में और उस में फर्क इतना ही था कि खूँटा एक जगह गड़ा रहता है, कितना भी हिलाओ डुलाओ, कहीं टसमस नहीं होता, और उसे जब जब मैं छूता था तब तब वह झटका देकर मेरे हाथों में से छूट जाने की कोशिश करने लगता था। इस लिए वह खूब रँदकर चिकने किये गये खूँटे जैसा ही था, इस में शक नहीं।

सातवें ने कहा—मालूम होता है कि तेरे हाथ में भी छाल छूटी हुई पकड़ी की छोटी सी डाल ही पड़ी थी। हाथी उसे तेरे हाथ से छीनकर खाने की कोशिश करता रहा होगा, इसी से तूँ उसी को हिलने डुलने और झटका देनेवाला हाथी समझ बैठा। पर मेरी राय में तो वह चार पाँच हाथ ऊँची छत से भिन्न नहीं था। आश्चर्य यही है कि बिना आधार के वह छत टिकी कैसे थी और आगे पीछे हिलने पर भी जमीन पर गिर क्यों नहीं पड़ती थी।

आठवें ने कहा—भाइयो, जब सब की राय अलग अलग है; तो कुछ निश्चय नहीं हो सकता कि दरअसल में हाथी कैसा था। फिर भी मैं ने उसे जैसा देखा वह कह डालना ही उचित है। मुझे तो वह ऐसा लगा जिस के समान मैं ने आज तक कोई चीज देखी ही नहीं है। हाँ, थोड़ा थोड़ा किसी अच्छे पहलवान की जाँघ से लेकर एड़ी तक के आकार का वह जान पड़ता था। लेकिन गड़बड़ी यह थी कि जाँघ और एड़ी के बीच में जो घुटना होता है वहीं से सब की टाँग मुड़ती है, पर हाथी नीचे से ऊपर तक सब जगह से साँप की तरह मोड़ खा जाता था। दूसरी बात यह कि एड़ी में पैर का तलुआ और अँगुलियाँ जुटी रहती हैं, पर उस में यह सब न होकर सिर्फ दो बड़े बड़े छेद थे जिन में से गरम गरम हवा निकल रही थी।

उस की बात सुनकर सब के सब भों भों कच कच करने लगे कि वाह, तुम तो बड़े चालाक मालूम होते हो; कहते हो कि कुछ ठीक कहा भी नहीं जा सकता और गरम गरम हवा निकलना बतलाकर यह भी प्रमाणित करना चाहते हो कि वह साँस ले रहा था, इस लिए जरूर हाथी ही था, पेड़ की खोड़िदार डाल नहीं थी। पर हम लोग तुम्हारी चालाकी में फँसनेवाले नहीं हैं। इस प्रकार सब अपनी अपनी देखी हुई बात को सच साबित करने के लिए आपस में खूब लड़ने झगड़ने लगे।

महावत को कहाँ तो जाने की जल्दी पड़ी हुई थी और कहाँ उसे अंधों की बातों में ऐसा आनन्द आया कि हाथी दाना तोड़कर आधे के करीब खा भी चुका तो भी उस को राजा की बात याद नहीं आई। राजा ने शिकार करने के बाद बहुत देर तक उस की प्रतीक्षा भी की; फिर भी जब वह न लौटा, तो वह क्रुद्ध होकर मचान पर से उतर पड़ा और पैदल ही काँटों झाड़ियों में फँसता हुआ उसे ढूँढने चल पड़ा। अन्त में बड़े परिश्रम से वह महावत के पास पहुँच सका। राजा को देखते ही महावत की धोती ढीली हो गई, वह थर थर थर थर काँपने लगा और हाथ जोड़कर सिर नीचे लटका लिया।

राजा ने आवेश के साथ पूछा—क्यों रे नीच, तुझे यह किस ने कहा कि यहीं हाथी को खिला पिलाकर तब मेरे पास आना ?

महावत कुछ बोल नहीं सका; एक बार अंधों की ओर देखकर चुप रह गया। इस से राजा का ध्यान स्वतः उन अंधों के प्रति आकृष्ट हो गया। उस ने उन्हें झगड़ते देखा, तो कहा—क्या है वहाँ ? चल, देखूँ तो।

आगे बढ़ने पर राजा को उन अंधों के वाद विवाद का विषय सकारण मालूम हो गया। वह पहले तो मन ही मन मुस्कुराया कि ये कितने मतिमन्द हैं, पर साथ ही उसे उन के ऊपर दया भी उमड़ आई। उस ने सोचा—हो सकता है कि इन बिचारों ने कभी हाथी की चर्चा ही न सुनी हो, क्योंकि जैसा विजन यह प्रान्त है और यहाँ की वनश्रेणी जैसी दुर्गम है उसे देखते हुए यही अनुमान होता है कि इस तरफ शायद ही कभी कोई सभ्य संसार का मनुष्य आता जाता हो। मैं ही आज इस जंगल की भयंकरता का ख्याल न करके इधर जो चला आया हूँ वह साधारण बात थोड़े ही है ! कलेक्टर साहब ने खास तरह से इंतजाम न किया होता, तो क्या मैं किसी तरह सृष्टिवैचित्र्य का नमूना इन अंधों की बस्ती का पता पा सकता था ? कभी नहीं। इस लिए ये अंधे आज हाथी का नाम सुनकर, उस का स्पर्श के द्वारा रूपानुमान करके जो झगड़ा कर रहे हैं वह कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। हम लोग भी तो वे देखी सुनी वस्तु का रूप निर्धारण करने के लिए इसी प्रकार सिरफोड़ौअल किया करते हैं। शैव अपने मन का ईश्वर का रूप गुण बतलाते हैं, वैष्णव अपना अनुभव सत्य सिद्ध करने में व्यस्त रहते हैं; इसी

अंधों ने खुश होकर कहा—क्या सचमुच ऐसी ही बात है ? ओह, तब तो दर असल में हम लोग बड़ी गलती पर थे। अच्छा महाराज, जब आप ने कृपा करके इतनी भूल सुधार दी, तो इतनी दया और करें कि हम लोगों में से किस ने हाथी का कौन सा अङ्ग देखा है, यह भी समझा दें।

राजा ने कहा—कोई हरजा नहीं, सुनो—तुम में से पहला जो हाथी को रीछे जैसा बतलाता है, उस ने हाथी की पीठ देखी है। यह सवारी करने की जगह है, हम लोग हाथी की पीठ पर ही बैठते हैं। दूसरे और तीसरे ने हाथी के दो पैर देखे हैं। वस्तुतः हाथी के पैर खंभे जैसे ही होते हैं; पर यह भी समझ लो कि उस के दो ही पैर नहीं होते, बल्कि चार होते हैं, जिन में से दो को ही तुम्हारे साथियों ने देखा है। चौथे ने हाथी की पूँछ देखी है। वह भी ठीक ही कह रहा है कि यह लपकदार डंडे की तरह थी। पाँचवें ने हाथी का कान देखा है जो हूबहू सूप सा होता ही है। छठे ने हाथी का दाँत देखा है। हाथी के दाँत दो होते हैं और अत्यन्त चिकने खूँटे जैसे ही होते हैं। सातवें ने हाथी का पेट देखा है। हाथी का पेट उस के खंभे जैसे चार पैरों के ऊपर होता है। इसी लिए तुम्हारे साथी को वह ऊँची छत जैसा मालूम हुआ है। आठवें ने हाथी की सूँड़ देखी है। सूँड़ हाथी का मुख्य अङ्ग है। इसे तुम हाथी की नाक भी कह सकते हो, क्योंकि तुम्हारे साथी ने उस में जो दो छेद देखे हैं, उन छेदों से ही हाथी साँस लेता देता है। तुम्हारा साथी ठीक ही कह रहा है कि वह पहलवान् की जाँघ जैसी थी। हाथी इसी से चारा तोड़ते हैं, चारे को उठाकर मुँह में ले जाते हैं, इसी से पानी खींचकर नहाते हैं, पीते हैं और इसी से वे खाद्य अखाद्य की पहचान भी करते हैं। इसी लिए सूँड़ को हाथी का मुख्य अङ्ग कहा जाता है। इस प्रकार तुम सब ने मिलकर एक हाथी देखा है, अलग अलग एक एक हाथी नहीं।

अस्तु; कथा का सारांश यह कि संसार में शिव, गणेश, देवी, दुर्गा, अग्नि, वरुण आदि जितने देवता हैं वे सब उस एक ही परब्रह्म परमात्मा के भिन्न भिन्न अङ्ग या रूप हैं, सब में परमात्मा की ही विभूति काम कर रही है। परंतु अज्ञानी लोग इस सिद्धान्तवाद को स्वीकार न करके व्यर्थ ही आपस में विरोधभाव पैदा कर लेते हैं और एक एक अङ्ग को पूर्ण परमात्मा सिद्ध करना चाहते हैं। पर जो लोग गीता के इस दशम अध्याय का ठीक ठीक मनन करेंगे उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई भी देवता परमपिता परमात्मा से पृथक् अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता अर्थात् सब के सब एक ही भगवान् की विभूति हैं। अस्तु;

भगवान् अर्जुन से यह कहकर कि हे अर्जुन, मैं ग्यारह रुद्रों में शंकर, यक्षों और राक्षसों में धनेश कुबेर, आठ वसुओं में पावक (अग्नि) और पर्वतों में सुमेरु हूँ, आगे अपनी अन्य विभूतियों का सिलसिलेवार परिचय देते हुए कह रहे हैं कि—

प्रकार शाक्त, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, यहूदी, थियोसोफी सभी अपना अपना अलग अलग गुण, कर्म, प्रभाववाला ईश्वर मानते हैं। परंतु कौन वास्तविक विद्वान् ऐसा है जो यह न स्वीकार करना चाहता हो कि ईश्वर एक है। सभी संप्रदायों के आचार्यों का मुख्य सिद्धान्त यही है कि परमात्मा एक, अज, विभु और सब का कारण है, फिर भी वे विभिन्न संप्रदायानुयायी आपस में एकमत नहीं होते, एक दूसरे के मत का खण्डन और स्वमत-मण्डन ही करते रहते हैं। ठीक यही दशा इन अंधों की हो रही है। फीलवान के कहने से इन्हें पहले ही मालूम हो चुका है कि यहाँ पर एक ही हाथी है और उसी एक का सब ने स्पर्श द्वारा सब को ज्ञान कराया है, किंतु ये अपने अपने अनुभव को अलग अलग हाथी का रूप देने के लिए तैयार हैं, यह नहीं सोचते कि हम लोग एक ही हाथी के पृथक् पृथक् अङ्गों को हाथी समझने की भयानक भूल कर रहे हैं। अस्तु; इन्हें समझाकर झगड़ा बंद करा देना मेरा परम कर्तव्य है।

इस प्रकार सोच विचारकर राजा ने कहा—कहो जी सूरदास लोगो, तुम सब क्यों झगड़ा कर रहे हो?

अंधों ने कहा—आप कौन हैं, आप हमारा झगड़ा सुनकर क्या करेंगे?

राजा ने कहा—मैं हाथी का मालिक, दर्शनपुर का राजा हूँ। मैं तुम लोगों के झगड़े का फैसला करना चाहता हूँ।

अंधों ने कहा—अगर ऐसी इच्छा आप की है, तो यह तय कर दीजिए कि हम आठों में से किस का कहना ठीक है, जिस की बात से आप के हाथी के रूप का मेल खाता है। इस के बाद आठों अंधों ने अपनी अपनी राय राजा के सामने जाहिर कर दी।

सब की बातें ध्यान से सुनने के बाद राजा ने कुछ देर चुप रहकर विचार करने का स्वाँग दिखलाया। फिर कहा—तुम आठों ही सच कह रहे हो, कोई झूठ नहीं कह रहा है, सब के कहने के मुताबिक ही मेरे हाथी का आकार प्रकार है।

अंधों ने (आश्चर्यपूर्वक मुँह बाकर) कहा—इस का क्या अर्थ है? यह भला कैसे हो सकता है कि हम कहते तो हैं जुदा जुदा बातें और आप का हाथी मेल खा जाता है सब की बातों के साथ?

राजा ने कहा—देखो, जिस तरह तुम लोगों का शरीर एक ही है, पर उस में हाथ, पैर, पेट, पीठ, नाक, कान वगैरह अङ्ग बहुत से हैं, और इन सब के मिलने पर ही तुम्हारा शरीर पूरा कहा जाता है, उसी तरह तुम लोगों ने जिस हाथी को देखा है उस के शरीर में भी ये सब अङ्ग हैं और इन सब अङ्गों से युक्त हाथी ही पूरा हाथी कहलाता है। लेकिन तुम लोग आपस में एक दूसरे की बात को मान नहीं रहे हो और हाथी के एक एक अङ्ग को एक एक हाथी समझ रहे हो।

अंधों ने खुश होकर कहा—क्या सचमुच ऐसी ही बात है ? ओह, तब तो दर असल में हम लोग बड़ी गलती पर थे। अच्छा महाराज, जब आप ने कृपा करके इतनी भूल सुधार दी, तो इतनी दया और करें कि हम लोगों में से किस ने हाथी का कौन सा अङ्ग देखा है, यह भी समझा दें।

राजा ने कहा—कोई हरजा नहीं, सुनो—तुम में से पहला जो हाथी को टीले जैसा बतलाता है, उस ने हाथी की पीठ देखी है। यह सवारी करने की जगह है, हम लोग हाथी की पीठ पर ही बैठते हैं। दूसरे और तीसरे ने हाथी के दो पैर देखे हैं। वस्तुतः हाथी के पैर खंभे जैसे ही होते हैं; पर यह भी समझ लो कि उस के दो ही पैर नहीं होते, बल्कि चार होते हैं, जिन में से दो को ही तुम्हारे साथियों ने देखा है। चौथे ने हाथी की पूँछ देखी है। वह भी ठीक ही कह रहा है कि वह लपकदार डंडे की तरह थी। पाँचवें ने हाथी का कान देखा है जो हूबहू सूप सा होता ही है। छठे ने हाथी का दाँत देखा है। हाथी के दाँत दो होते हैं और अत्यन्त चिकने खूँटे जैसे ही होते हैं। सातवें ने हाथी का पेट देखा है। हाथी का पेट उस के खंभे जैसे चार पैरों के ऊपर होता है। इसी लिए तुम्हारे साथी को वह ऊँची छत जैसा मालूम हुआ है। आठवें ने हाथी की सूँड़ देखी है। सूँड हाथी का मुख्य अङ्ग है। इसे तुम हाथी की नाक भी कह सकते हो, क्योंकि तुम्हारे साथी ने उस में जो दो छेद देखे हैं, उन छेदों से ही हाथी साँस लेता देता है। तुम्हारा साथी ठीक ही कह रहा है कि वह पहलवान् की जाँघ जैसी थी। हाथी इसी से चारा तोड़ते हैं, चारे को उठाकर मुँह में ले जाते हैं, इसी से पानी खींचकर नहाते हैं, पीते हैं और इसी से वे खाद्य अखाद्य की पहचान भी करते हैं। इसी लिए सूँड़ को हाथी का मुख्य अङ्ग कहा जाता है। इस प्रकार तुम सब ने मिलकर एक हाथी देखा है, अलग अलग एक एक हाथी नहीं।

अस्तु; कथा का सारांश यह कि संसार में शिव, गणेश, देवी, दुर्गा, अग्नि, वरुण आदि जितने देवता हैं वे सब उस एक ही परब्रह्म परमात्मा के भिन्न भिन्न अङ्ग या रूप हैं, सब में परमात्मा की ही विभूति काम कर रही है। परन्तु अज्ञानी लोग इस सिद्धान्तवाद को स्वीकार न करके व्यर्थ ही आपस में विरोधभाव पैदा कर लेते हैं और एक एक अङ्ग को पूर्ण परमात्मा सिद्ध करना चाहते हैं। पर जो लोग गीता के इस दशम अध्याय का ठीक ठीक मनन करेंगे उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई भी देवता परमपिता परमात्मा से पृथक् अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता अर्थात् सब के सब एक ही भगवान् की विभूति हैं। अस्तु;

भगवान् अर्जुन से यह कहकर कि हे अर्जुन, मैं ग्यारह रुद्रों में शङ्कर, यक्षों और राक्षसों में धनेश कुबेर, आठ वसुओं में पावक (अग्नि) और पर्वतों में सुमेरु हूँ, आगे अपनी अन्य विभूतियों का सिलसिलेवार परिचय देते हुए कह रहे हैं कि—

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे पार्थ, मुझ को पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति जान। सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में मैं सागर हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, राजपुरोहितों में मुख्य पुरोहित बृहस्पति तूँ मुझे जान और बड़े बड़े वीर सेनानायकों के भी प्रधान सेनानायक स्कन्द अर्थात् स्वामी कार्तिकेय के रूप में भी तूँ मुझे ही देख। मैं ही सब जलाशयों और सरोवरों में मुख्य सरोवर समुद्र हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, पुरोहित शब्द की व्याख्या करने की जरूरत नहीं। और और देशों के लोग पुरोहित शब्द का भाव और अर्थ भले ही व्याख्या करने के बाद समझें, पर भारत के लिए ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो पुरोहित उपाध्याय आदि शब्द का उच्चारण होते ही सब श्रोता उस शब्द का पूर्ण अर्थ समझ जाते हैं कि पुरोहित उसी का नाम है जो किसी मनुष्य के जन्म से लेकर मरने के बाद तक के सब कर्म कराये और उपाध्याय उसे कहते हैं जो मन्त्र दे तथा शिक्षाप्रचार करके अपनी जीविका चलाये। पुरोहित लोगों की यह पुश्तैनी वृत्ति है, साथ ही पुरोहिती अर्थात् जिस के कुल का जो पुरोहित होता है वह भी प्राय: पुश्तैनी हुआ करता है। पुरोहितों के पास और कोई शास्त्र पुराण रहे या न रहे, पर पञ्चाङ्ग (पत्रा) और ग्रहशान्ति (ग्रहयज्ञप्रयोग), ये दो चीजें अवश्य रहती हैं। इन्हीं दोनों की सहायता से वे पात्र-जीवन के ही नहीं, बल्कि यावत्परलोकगमन के सारे कर्म कराया करते हैं। एक वाक्य में यों कहा जा सकता है कि पुरोहितजी का पत्रा और पोथा यजमान के घर पुत्र उत्पन्न होते ही जो खुलता है वह उस के मरने के बाद तक कभी बंद नहीं होता। जातकर्म कराते हैं पुरोहितजी, नामकरण होता है पुरोहितजी के मुखारविन्द से और इसी प्रकार अन्नप्राशन, कर्णवेध, मुण्डन, यज्ञोपवित, विवाह, वधुप्रवेश, आदि आदि शुभ कर्म तथा बीमारी में देवताओं की मनौती और मरने के बाद भूत, प्रेत, श्मशान आदि परलोक संबन्धी समस्त व्यापार और पूजा पाठ भी ये ही लोग संपन्न कराते हैं। जैसे राजा, रईस, सेठ, साहूकार, अमीर, गरीब, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब के घर एक एक पुरोहित होना अनिवार्य है वैसे ही देवताओं में भी एक पुरोहित सदा से रहते चले आये हैं। देवताओं के पुरोहित ही पुरोहितराज अथवा मुख्य पुरोहित कहे जाते हैं और उन्हीं का नाम बृहस्पति है। भगवान् ने इन बृहस्पति को ही अपनी पौरोहित्य संबन्धी मुख्य विभूति बतलाई है। इस का एक और कारण है। वह यह कि और सब पुरोहितों में बहुत से केवल कुलपुरोहित ही रह जाते हैं, विद्या विनयादि के अभाव से अथवा अन्य किसी

बृहस्पति, स्कन्द, सागररूप भगवान् (अ० १० श्लो० २४)

બૃહસ્પતિ, સ્કંદ અને સાગરરૂપ ભગવાન. (અ. ૧૦ શ્લો. ૨૪)
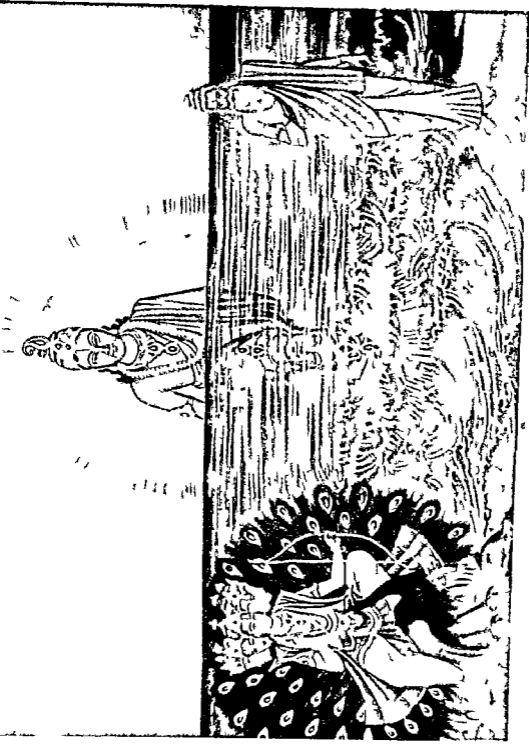
कारण से भी कुलगुरु का स्थान कोई दूसरा ही ले लिये रहता है, परंतु बृहस्पतिजी महाराज निखिल ब्रह्माण्ड में एक मुख्य विद्वान् होने के कारण देवताओं के सनातन गुरु भी हैं, औरों की तो बात ही क्या, खास देवराज इन्द्र तक उन के शिष्य रहते चले आये हैं। इसी लिए बृहस्पति का एक नाम देवगुरु अथवा गुरु भी है।

स्कन्द स्वामी कार्तिकेय को कहते हैं। स्वामी कार्तिकेय सृष्टिमात्र में अद्वितीय सेनापति गिने जाते हैं। ये गिरिजापति महादेव के पुत्र हैं। त्रिपुरासुर ने जब तीनों लोकों और चौदहों भुवनों को अपने पराक्रम से पराभूत कर दिया था, देवता, देवेन्द्र आदि सभी उस के भय से छिपे छिपे फिरते थे, कोई उस के सामने जाने का साहस नहीं कर पाता था, उस समय स्वामी कार्तिकेय ने ही साहस कर सकल देवसेना का संघटन किया और स्वयं सेनापति बनकर त्रिपुरासुर का नाश करने में प्रधान रूप से अपने पिता को सहायता पहुँचाई। सो भगवान् कह रहे हैं कि उन का वह सेनापतित्व मेरी ही विभूति है, मैं ही सेनापति कार्तिकेय हूँ।

जलाशयों में सर्वश्रेष्ठता समुद्र की प्रत्यक्ष ही है। इस लिए भगवान् जलाशयों में समुद्र को ही अपनी विभूति या अपना स्वरूप बतला रहे हैं। जिस प्रकार संसार भर के उत्तम मध्यम नद, नदी, नाले समुद्र में ही जाकर अपना अन्त करते हैं और वह सब को समान आदर देकर अपने में मिला लेता है उसी तरह सारी सृष्टि के जीवगण भगवान् में ही मलय को प्राप्त होते हैं, और कोई कैसा भी पुण्यात्मा या पापात्मा हो, सब को वे अपने यहाँ आश्रय देते हैं। अस्तु;

भगवान् उसी प्रकार धारावाहिक रूप से कहते चले जा रहे हैं कि—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षियों में मैं भृगु, वाणियों में एक अक्षर (ॐ), यज्ञों में जपयज्ञ

इन भृगु को ही सर्वश्रेष्ठ महर्षि बतलाकर इन्हें अपनी विभूति सिद्ध कर रहे हैं। भगवान् के अतिरिक्त और कौन ऐसी महत्ता स्वीकार कर सकता है? एक छोटे बच्चे से लेकर बड़े बूढ़े तक अपने को लात मारनेवाले को महानीच, अत्यन्त दण्डनीय, वश चले तो फाँसी तक पर लटका देने के योग्य समझने लगते हैं। लात मारनेवाले को क्षमा करना बड़ा ही कठिन कार्य है। यदि दुर्भाग्यवश शारीरिक, आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार का बलाभाव रहा, तो मुँह से गाली और शाप देने से तो अत्यन्त अकिंचन भी बाज नहीं आता। ऐसी दशा में लात मारनेवाले को उस के समकक्षों में सब से श्रेष्ठ कहनेवाला तो कोई कहाँ से हो सकता है? परंतु बड़ों के भी बड़े भगवान् एक ऐसे ही ऋषि को तमाम महर्षियों में श्रेष्ठ बतला रहे हैं, यहाँ तक कि सब महर्षियों में इन्हीं महर्षि को साक्षात् अपना प्रतीक कह रहे हैं।

महर्षि भृगु भगवान् के परम भक्तों में भी मुख्य भक्त माने गये हैं। इन की गणना भी ब्रह्मा के मानसपुत्रों में है और ये कई बार—अनेक मन्वन्तरों में—सप्त महर्षियों में भी प्रधानता प्राप्त कर चुके हैं। पुराणों में एक कथा ऐसी भी मिलती है कि भृगु महर्षि की ही कन्या श्री लक्ष्मीजी को भगवान् ने अपनी पत्नी बनाया है। इस प्रकार ये भगवान् के पूज्य ससुर और भगवान् इन के प्रिय दमाद हुए। फिर भी इन्होंने भगवान् के वक्षःस्थल पर पादप्रहार किया, इस का कारण यह है कि एक बार इन्हें ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ सहनशील का पता लगाने की इच्छा हुई। बहुत दिनों तक ये संसार भर में घूम घूमकर सब से बड़े बड़े क्षमावान् का पता लगाते रहे। जब बहुत थक जाने पर भी इन की कल्पना के अनुसार कोई स्वाभाविक क्षमाशील न मिला तब इन्होंने अपने पिता ब्रह्माजी से ऐसे व्यक्ति के बारे में प्रश्न किया और अपनी ओर से यह भी कहा कि मेरे विचार में तो कोई भी देवता, दानव अथवा अन्य प्राणी ऐसा नहीं है जो अकारण प्रहार, मानहानि, अनादर आदि को क्षमा कर सके।

ब्रह्माजी ने इन के विचारों का खण्डन किया और भगवान् विष्णु के अनन्त गुणों का अतिशय वर्णन करते हुए कहा कि उन की तुम यथाशक्ति परीक्षा लेकर देख सकते हो, तुम्हें फिर इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

अपने पिता के मुँह से अपनी बातों का खण्डन और भगवान् के शक्ति सामर्थ्य का बार बार मण्डन सुनकर महर्षि भृगु चिढ़ से गये। उन्होंने ब्रह्माजी से कहा—अच्छा, देखता हूँ जाकर कि विष्णु कितने सहनशील हैं, कहाँ तक अपमान सह लेते हैं, किस हद तक क्रोध पर नियन्त्रण रखकर शाप देने के बदले वे मुझे क्षमा करते हैं। इस के बाद ये वहीं से आवेश सहित उठकर सीधे क्षीरसागर में शेषशायी लक्ष्मीनारायण के पास पहुँचे। भगवान् आराम के साथ लेटे हुए लक्ष्मीजी से पैर दबवा रहे थे। उन्हें क्या पता कि मेरे ससुरजी बौखलाये हुए मुझे लात मारने आ रहे हैं। भगवान् को सँभलने की भी फुर्सत न देकर महर्षि भृगु ने

पहुँचने के साथ ही उन की छाती पर खींचकर एक करारा लात जमा ही तो दिया, और क्रोध-पूर्ण मुद्रा में चुप चाप वहीं खड़े हो गये कि देखूँ ये विष्णु महाराज क्या जवाब देते हैं ? इन्हें पूरा विश्वास था कि जो भगवान् अपने दरिद्र भक्तों और जड़ एवं स्थूल पदार्थ पृथिवी के ऊपर किये गये अन्याय अत्याचार का बदला चुकाने के लिए स्वर्ग छोड़कर मृत्युलोक तक दौड़े चले जाते हैं तथा वैध अवैध सभी उपायों से राक्षसों असुरों का नाश करके ही संतोष की साँस लेते हैं वे भगवान् स्वयं अपने ऊपर पादप्रहार करनेवाले को भला कब सजा से बरी कर सकते हैं? वे अवश्य मुझे भस्मसात् ही करके छोड़ेंगे।

परंतु भगवान् तो भगवान् ही ठहरे। उन के विषय में जैसा दूसरा कोई सोच विचार कर रखे वैसा ही यदि वे करने लगें, तो उन की भागवती शक्ति ही क्या रही ? भगवान् ने चट पट उठकर महर्षि भृगु का पैर पकड़ लिया और उसे दोनों हाथों से सुहलाते हुए कहने लगे कि आह, आप के सुकुमार चरणकमल में मेरी कठोर छाती की हड्डियों ने बड़ा घाव पहुँचाया; क्षमा करें विप्रवर, मैं नहीं जानता था कि आप इसी ओर आ रहे हैं, अन्यथा पहले ही उठकर आप का मार्ग खाली कर दिया होता। इस अनजान में हुए अपराध के परिमार्जन के लिए मैं आज से सदा आप के चरणों को अपने हृदय पर धारण करके पूजता रहूँगा, साथ ही आप और जो कुछ दण्डव्यवस्था दें उस के पालन के लिए सब प्रकार से तत्पर और सन्नद्ध हूँ।

ऐसी कल्पनातीत भगवद्वाणी सुनकर महर्षि भृगु के छक्के छूट गये। वे अत्यन्त लज्जित होकर भगवान् के पैरों पर गिर पड़े और सिर रगड़ रगड़कर उन से क्षमा माँगने लगे। उन्होंने कहा—भगवन्, मैं मिथ्या आडम्बर में भूलकर संसार को असहनशील समझने लगा, पिता के वचनों पर विश्वास नहीं किया और आप को अकारण पीड़ा पहुँचाकर परीक्षा लेने का विचार ही नहीं किया, प्रत्युत अत्यन्त निन्द्य रूप में अपनी इच्छा को चरितार्थ भी किया। प्रभो, क्या मेरे इस दुराचार को संसार कभी भूल सकता है ? और उस पर भी जब कि आप कभी अपने वक्षःस्थल पर से मेरे कुकर्मी पैर का चिह्न नहीं मिटने देंगे तब तो निश्चय है कि कल्प कल्पान्त तक भी मेरी यह कुख्याति नहीं लुप्त हो सकेगी।

भगवान् ने कहा—महर्षे, आप चिन्तित न हों। मैं आप पर परम प्रसन्न हूँ, अतएव मैं आप को अपनी परम भक्ति का वरदान देता हूँ। इस के अतिरिक्त मैं आप को यह भी आश्वासन दे रहा हूँ कि मेरे हृदय पर पड़ा हुआ आप का पदचिह्न 'भृगुलात' न कहाकर 'भृगुलता' के नाम से प्रसिद्ध होगा और अनन्तकाल तक आप की महिमा की वृद्धि करता रहेगा।

भगवान् यह भृगुलता आज तक अपने हृदय पर धारण किये हुए हैं और अपनी छाती पर लात मारनेवाले उन्हीं महर्षि भृगु को सब महर्षियों में श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि महर्षियों में भृगु नाम के महर्षि मेरी विभूति हैं अथवा महर्षियों में मैं भृगु महर्षि हूँ।

ॐकार को भगवान् परम अक्षर अर्थात् साक्षात् ब्रह्म बतला चुके हैं। ॐकार का माहात्म्य बतलाते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि जो इस ॐकाररूप एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ प्राणत्याग करता है वह साक्षात् मुझ भगवान् की सर्वोत्तमा गति को प्राप्ति करता है। इसी का माहात्म्यवर्णन करते हुए यहाँ पुनः भगवान् कहते हैं अखिल अर्थबोधक वाणी-मात्र में प्रधान रूप से व्याप्त रहनेवाला मैं एक अक्षर—'ॐ'कार हूँ। जिस किसी को भी जिह्वा से जिस किसी भी अर्थ का भानबोध करानेवाले जो कोई भी शब्द बाहर निकलते हैं वे सब वाणी कहलाते हैं और ऐसी कोई वाणी नहीं जिस में सूक्ष्मरूप से ॐकाररूप परम अक्षर अन्तर्निहित न हो। सो यह ॐकार ही सब वाणियों में सर्वश्रेष्ठ है, अतएव भगवान् कहते हैं वह ॐकार मैं ही हूँ अर्थात् वाणी में ॐकाररूप मेरी विभूति है।

यज्ञों के प्रकार अनेक हैं और उन में विधियों की भी वैसी ही भरमार है। इन यज्ञों का अनुष्ठान करने में कर्ता को बड़े बड़े व्यापार करने पडते हैं—बहुत से यज्ञों में भेड़ों, बकरों, घोड़ों, भैंसों का वध करना पड़ता है, प्रचुर द्रव्य, अन्न, वस्त्र एकत्रित करना होता है, योग्य होता, अध्वर्यु, आचार्य आदि की आवश्यकता पड़ती है, और भी बहुत से विधान पालने होते हैं। और इन से लाभ होता है बिलकुल मामूली, केवल स्वर्गादि लोकों में एक नियत समय तक वास। यह छोटा फल भी तब प्राप्त होता है जब कि वे यज्ञ ठीक ठीक विधि से संपादित हो सकें, जैसा कि आजकल के ज़माने में प्रायः असंभव ही है। इसी लिए शास्त्रकारों ने जप-रूप यज्ञ को अधिक महत्त्व दिया है। जपयज्ञ कहते हैं भगवान् के नाम को श्रद्धायुत चित्त से दिन रात स्मरण करते रहने, दुहराते रहने को। इस यज्ञ में किसी का वध नहीं करना पड़ता, कोई सामग्री नहीं जुटानी पड़ती, बड़े बड़े विद्वान् नहीं ढूँढने पड़ते हैं। और इस सुगम आच-रणीय यज्ञ के पूर्ण होते ही जो फललाभ होता है वह तीन लोक चौदह भुवन सब में मिलने-वाले फलों से महान् बड़ा फल होता है। वह है भगवान् के स्वरूप का साक्षात् दर्शन और तदनन्तर उन भगवान् में ही एकाकार हो जाना। इसी लिए सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ को ही भगवान् ने अपनी विभूति बतलाई और उसे अपना ही स्वरूप माना है।

स्थावर के माने होते हैं अचल होना, स्थिर रहना, स्पन्दन, कम्पन, गमन आदि व्यापारों से रहित होना। संसार में जितने पर्वत हैं, सब की स्थावर संज्ञा है, क्योंकि वे सर्वदा एक स्थान पर खड़े रहते हैं, कहीं जाते आते नहीं, न कभी हिलते डुलते हैं। यह संसारप्रसिद्ध बात है कि हिमालय नामक पर्वत संसार के सब पर्वतों से ऊँचा और अगम्य है। इसी लिए हिमालय को पर्वतराज कहते हैं। महाकवि कालिदास ने भी अपने कुमारसंभव नाम के महाकाव्य में हिमालय का वर्णन करते हुए उसे *नगाधिराज* कहा है। *यथा*—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।'

अर्थात् उत्तर दिशा में हिमालय नाम का, पर्वतों का अधिराज (बादशाह) एक पर्वत है। वह देवताओं की आत्मा है। देवतात्मा कहने का कारण यह है कि संसार के इतिहास में प्रसिद्ध बड़े बड़े ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व उसी पर्वत पर तपस्या कर भगवत्साक्षात्कार करने में समर्थ हुए। इसी लिए उस की पवित्रता और महत्ता अतुलनीय है और इसी से भगवान् को भी कहना पड़ा कि स्थावरों में हिमालय हूँ मैं, अर्थात् पर्वतों में हिमालय मेरी विभूतिवाला है। अस्तु;

भगवान् अपने और और विभूतिमय स्वरूपों का परिचय देते हुए आगे के श्लोक में अर्जुन से कह रहे हैं कि मैं—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, संसार की समस्त वनस्पतियों में पवित्र और पूज्य मैं पीपल का वृक्ष हूँ, देवताओं में जिन लोगों ने मेरे लिए कठिन तपस्याएँ करके देवर्षि की उपाधि पाई है उन सब में प्रधान देवर्षि मैं महामुनि नारद हूँ; देवताओं में गन्धर्व नाम की जो एक विशेष देवजाति है, उन गन्धर्वों में मैं सर्वप्रधान गन्धर्व चित्ररथ हूँ और जिन्हें जगत् की तथा परलोक संबन्धी सब प्रकार की सिद्धियाँ, ऊँचे ऊँचे ज्ञान, अक्षय ऐश्वर्य, प्रभुत्व तथा और बड़े बड़े गुणगण प्राप्त हैं उन सिद्धसंज्ञक महात्माओं में सर्वोपरि सिद्धिप्राप्त मैं कपिल मुनि हूँ।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, संसार में एक से एक बड़े भूधराकार वृक्ष मौजूद हैं। उन में बहुत से ऐसे हैं जिन के फूल और फल की उपमा दिव्य गन्ध और अमृतरस से दी जाती है, पर भगवान् उन सुन्दर सुमन और सुफलयुक्त वृक्षों को अपना स्वरूप घोषित न करके बिना फूल और नाममात्र के फलवाले वृक्ष को अपनी विभूतियों में परिगणित कर रहे हैं। क्यों? इस लिए कि शास्त्रों में पीपल के वृक्ष की बड़ी बड़ाई है। शास्त्रकारों का कथन है कि पीपल के एक एक पत्ते पर हजार हजार देवताओं का वास अनादि काल से रहता चला आया है, पीपल की जड़ में ब्रह्मा रहते हैं, पीपल के बीच में विष्णु भगवान् का वास है और पीपल के अग्रभाग (अन्तिम छोर = फुनुई) में शंकर भगवान् का स्थान है। हमारे सनातनधर्म की तो यहाँ तक प्रथा है कि कोई भूलकर भी पीपल का एक तिनका तक तोड़ने का साहस नहीं कर सकता; यदि तोड़े, तो हजारों ब्रह्महत्याओं का उस को पाप लगता है। इसी लिए हिंदू लोग देवता की तरह पीपल

के वृक्ष की पूजा करते हैं—स्नानादि गन्धानुलेपन सब कुछ समर्पण करते हैं और नित्य उस को प्रणाम करते हुए मन्त्र पढ़ते हैं कि—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय ह्यश्वत्थाय नमो नमः॥

मूल से ब्रह्मस्वरूपी, मध्य से विष्णुस्वरूपी और अग्रभाग से शिवस्वरूपी अश्वत्थ (पीपल) के लिए बार बार नमस्कार है। फिर ऐसा सर्वोत्तम वनस्पति यदि वृक्षों में सब के राजा की उपाधि प्राप्त करे, तो इस में कोई आश्चर्य नहीं है। इसी लिए भगवान् ने पीपल को अपना स्वरूप और वृक्षरूप विभूतियों में सर्वप्रधान विभूति बतलाई है।

देवलोक में रहनेवाले भगवद्भक्तों को देवर्षि कहा जाता है। देवर्षि त्रिकालज्ञ, मन्त्रद्रष्टा और सर्वदा सत्यवादी होते हैं। इन की सर्वत्र अप्रतिहत गति होती है और ये लोग स्वभाव से ही अघटित घटनाओं को संघटित करने की शक्ति रखते हैं, किंतु भगवान् के भक्त होने के कारण ये लोग अहंकार के वशीभूत होकर कभी निजी इच्छा से कुछ नहीं करते, सब कुछ भगवान् की ही इच्छा के अनुसार होने देते हैं। उन देवर्षियों में नारद मुनि सब से श्रेष्ठ गिने गये हैं, क्योंकि देवर्षियों में उन के जैसा भगवान् का अनन्य भक्त कोई नहीं है और इसी लिए भगवान् ने भी देवर्षियों में नारद को ही अपना स्वरूप बतलाया है।

गन्धर्व भी देवलोकवासी एक विशेष प्रकार के देवता गिने जाते हैं। इन का खास काम है देवेन्द्र की सभा में नाचना, गाना, तरह तरह के बाजे बजाना, लीला, नाटक, प्रहसन आदि मनोरञ्जक खेल खेलकर देवताओं का मनबहलाव करना। गन्धर्वों की जाति अत्यन्त सुन्दर होती है। देवलोक में इन की तरह का रूपवाला कोई नहीं होता। चित्ररथ नाम के गन्धर्व सब गन्धर्वों के राजा हैं। वे अन्य गन्धर्वों की अपेक्षा गायन, वादन, नर्तन और नाटकाभिनय आदि सब कलाओं में सब से बढ़ चढ़कर हैं। इसी से गन्धर्वरूपा भगवद्विभूति में चित्ररथ को ही भगवान् ने अपनी विभूति स्वीकार की और उन के स्वरूप को अपना ही स्वरूप बतलाया है।

सिद्ध लोग मर्त्यलोक में भी रहते हैं और स्वर्गादि उपरिष्ठ लोक में भी उन का निवास है। सिद्धों में प्रधान सिद्ध कपिल मुनि की गणना भगवान् के चौबीस अवतारों में की गई है। इन्हीं कपिल मुनि का बनाया हुआ सांख्यशास्त्र है जिस में प्रकृति और पुरुष के निरूपण द्वारा भगवान् की अद्वितीय शक्ति परा प्रकृति की महिमा का वर्णनविस्तार है। ये सब सिद्धों के गुरु, अतएव अद्वितीय सिद्ध माने जाते हैं। इन के पिता का कर्दम मुनि और माता का देवहूति नाम है। पुराणों में लिखा है कि अपनी माता को ज्ञानोपदेश देने के लिए ही इन्होंने अवतार धारण किया था। सिद्धों में इन की समकक्षता ग्रहण करनेवाला अन्य कोई

सिद्ध नहीं है, इसी लिए भगवान् ने सिद्धों में अपना विभूतिप्रधान स्वरूप कपिल मुनि को माना है। अस्तु;

यहाँ तक विशेषतः देवलोकनिवासी देवरूप विभूतियों का वर्णन सुनाकर अब आगे के श्लोकों में देवताओं से संबन्ध रखनेवाली विशेष विशेष विभूतियों के साथ साथ अन्य लौकिक अलौकिक विभूतियों का भी परिचय अर्जुन को देते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन,—

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोड़ों में अमृतोत्पन्न उच्चैःश्रवा, बड़े बड़े हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में मनुष्येश्वर मुझे जान ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, अमृत प्राप्त करने की सत्कामना से देवताओं और असुरों ने जब समुद्र को मथा उस समय अमृत के साथ साथ समुद्र में से जो उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा निकला वही घोड़ों में प्रधान घोड़ा तूँ मुझे समझ। इसी प्रकार मुख्य मुख्य हाथियों में सर्वश्रेष्ठ ऐरावत हाथी जो खास देवेन्द्र की सवारी में रहता है, वही तूँ मुझ को मान और सर्वसाधारण मनुष्यों में तूँ मुझे मनुष्यों का राजा जान ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, उच्चैःश्रवा घोड़ा और ऐरावत हाथी दोनों की गणना समुद्र से निकले हुए चौदह रत्नों में है। लक्ष्मी, चन्द्रमा, विष, अमृत, धन्वन्तरि वैद्य आदि चौदह रत्नों में उच्चैःश्रवा घोड़ा और ऐरावत हाथी भी शामिल थे, इन दोनों को मिलाकर ही चौदह रत्नों की गिनती पूरी होती है। यह घोड़ा और हाथी दोनों इन्द्र की सवारी के काम में आते हैं। संसार में इन के मुकाबिले का न तो कोई घोड़ा है, न हाथी ही। बड़े बड़े घोड़ों और हाथियों की दुनिया में ये ही दोनों सब से श्रेष्ठ और अद्वितीय गुण, बल, शक्ति, सामर्थ्य-संपन्न घोड़ा हाथी हैं। इसी लिए भगवान् ने इन्हीं दोनों को उन की जातियों में प्रधान गिनते हुए साक्षात् अपना स्वरूप और अपनी तद्विषयक विभूति का केन्द्र कहा है।

मनुष्यों में राजाओं को भगवान् अपनी विभूति अथवा स्वरूप कहते हैं। इसी लिए हमारे यहाँ यह मानने की परंपरा भी चली आ रही है कि राजाओं में खास परमात्मा का अंश रहता है, उन के दर्शन करने चाहिएँ, श्रद्धापूर्वक उन्हें भेंट चढ़ानी चाहिए, उन का खास लिहाज करना चाहिए और उन की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। पहले इन बातों को बहुत विशेष महत्त्व प्राप्त था, पर अब इन भावों में क्रमशः शिथिलता आने लगी है। ऐसा क्यों? पहले क्यों लोग राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे और अब

से बड़ा भी मानना चाहते ? इस का कारण स्पष्ट है और वह यही कि पहले के राजा लोग आस्तिक होते थे, अपने को ईश्वर का भेजा हुआ प्रजासेवक समझते थे, प्रजा का सुख दुःख, हानि लाभ अपना सुख दुःख और हानि लाभ मानते थे, प्रजा के आराम का ख्याल रखते थे, प्रजा के आमोद प्रमोद को सब सुव्यवस्था करने के बाद समय मिलने पर अपने आमोद प्रमोद पर ध्यान देते थे। अब ऐसे राजा नहीं रह गये हैं। अब प्रजा मरे या जिये, इस का उन्हें रत्ती भर ख्याल नहीं रहता। अब वे प्रजा की हड्डी तक चूसकर उस में से सब तत्त्व निकाल लेना ही शायद अपना धर्म और सब संसार की ओर से आँखें मूँदकर एकमात्र विलासवासना को तृप्त करना ही अपना कर्म समझते हैं। पहले के राजाओं से जो प्रजाजन मिलने जाते थे उन का सब दुःख दूर हो जाता था, दरिद्रता से मुक्ति मिलती थी—अनेक गाँव गिराँव जागीर में मिलते थे, लेकिन अब के राजाओं से मिलने की इच्छा करने पर सिर की पगड़ी तक बिक जाया करती है। राजा की डाली की अलग व्यवस्था करनी पड़ती है, चपरासी, दरबान, अर्दली के घूस का अलग इंतजाम करना होता है।

इस श्लोक में पहले के ही राजाओं की बात कही गई है जो प्रजा का पालन करके अपनी शोभा और प्रतिष्ठा समझते थे, जिन के दर्बार में ईश्वर के दर्बार की भाँति दया, दण्ड, प्रेम का समुचित और न्याययुक्त रीति से बर्ताव किया जाता था। वैसे ही राजाओं को वस्तुतः राजा संज्ञा होती है इन्हीं को ध्यान में रखकर भगवान् ने अर्जुन से कहा भी है कि मुझे मनुष्यों में राजा समझ। अस्तु;

अब आगे सुनो कि भगवान् कैसी विभूति का परिचय दे रहे हैं। वे कहते हैं—

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं युद्धसामग्रियों में वज्र हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ, पैदा करनेवाला कामदेव हूँ और साँपों में वासुकि हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, युद्धसंग्राम में विपक्षी के ऊपर प्रहार करने के काम में आनेवाले जितने प्रकार के अस्त्र शस्त्र, हरबा हथियार हो सकते हैं उन सब में श्रेष्ठतम हथियार वज्र होता है, वह मेरा ही स्वरूप है; दूध देनेवाली गायों में सर्वपूज्य गाय कामधेनु है, क्योंकि और गायें केवल दूध देती हैं और कामधेनु सब कामनाएँ पूर्ण करती है, वह मेरी ही विभूति है, धर्मयुक्त रीति से संतान उत्पन्न करनेवाला कन्दर्प अर्थात् कामदेव हूँ मैं और सर्पों के मध्य में उन का राजा वासुकि नामवाला मैं सर्प हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, यद्यपि भौतिक विज्ञान की उन्नति ने आज हमारे सामने बहुत से ऐसे नये नये अस्त्र शस्त्र उपस्थित कर दिये हैं और नित्य करती जा रही है जिन की मार से मिनट भर में हजारों योद्धा रुण्ड मुण्ड होकर धराशायी हो जाते हैं, फिर भी आज तक कोई भी आविष्कारकर्ता ऐसे शस्त्र का आविष्कार नहीं कर सका जो देवता के राजा इन्द्र के हथियार वज्र की समता कर सके। भौतिक विज्ञान की सब से उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए बड़े बड़े साइंस के विद्वान् अपने जीवन भर के अनुभव और अभ्यास की सहायता से आज कितना भी भयंकर प्रहार करनेवाला घोरदर्शन हथियार क्यों न उत्पन्न कर दें, पर कल (दूसरे ही दिन) उन का प्रतिद्वन्द्वी दूसरा आविष्कारक उन के हथियार की मार को विफल कर देनेवाला नया यन्त्र अथवा प्रबल शस्त्र आदि अवश्य उत्पन्न कर देता है, उस के प्रतिरोध के सामने उत्कृष्ट बल सामर्थ्यपूर्ण पूर्व आविष्कर्ता का प्रयत्न विफल होता दिखाई देने लगता है। परंतु वज्र की गति शक्ति अप्रतिहत है। जिस दिन इस सृष्टि के अन्दर वज्र का आविष्कार हुआ उस दिन से लेकर आज तक उस के प्रहार को कोई रोक नहीं सका। इतना ही नहीं, बल्कि यों कहिए कि आज तक उस की भयंकरता में कोई रत्ती भर भी कमी नहीं कर सका. वज्र जब जहाँ चलाया गया तब तहाँ वह अपना काम करके ही रहा। वह अमोघ और अव्यर्थ शक्ति से आज भी वैसा ही संपन्न है जैसा अपने निर्माण के आरम्भकाल में था। यह तो हुई वज्र की भयंकरता और अबाधित हननशीलता की बात। इस के साथ साथ वज्र में एक अपूर्व गुण और है। वह है उस की उत्तमता, पवित्रता और सर्ववन्द्यता। वज्र का निर्माण चिरतपस्वी श्री दधीचि ऋषि की तपस्तेज-पूत एवं जाज्वल्यमान अस्थियों से हुआ है। उस में भगवान् के अनन्य भक्त, सर्वस्वत्यागी, परोपकारपरायण, सर्वतः श्रेष्ठ दधीचि ऋषि के जीवनपर्यन्त की उग्रतर तपस्या से प्रकाशमान और पवित्र हुई हड्डियों का पूज्य तत्त्व भरा हुआ है। उस को देखकर सारा संसार नतमस्तक हो जाता है, उस के प्रकाश के संमुख सारे विश्व की आँखों में चकाचौंध मच जाता है।

उपर्युक्त कथन का प्रत्यक्ष अनुभव देवताओं और योगियों ने किया है। दैत्यों, असुरों, राक्षसों को उस की दाहिका और प्राणहारिका शक्ति का कुछ अनुभव अवश्य हुआ होगा। 'कुछ' इस लिए कि इन्द्र के द्वारा वज्र का प्रयोग होने के साथ ही तो उन दैत्यादिकों का काम ही तमाम हो जाता था, फिर वे उस की शक्ति का ठीक ठीक अनुभव भला कब कर सकते? हम लोग अनुमान का सहारा लेकर उस वज्र के अद्वितीय बल और ओज का काल्पनिक अनुभव थोड़ा बहुत अलबत्ता कर सकते हैं। वर्षाकाल में बादलों के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न होनेवाले प्रखर प्रकाश को हम सभी ने देखा है और उस प्रकाश के तिरोहित होने के बाद एक विचित्र प्रकार का गम्भीर घोर भी सुना है। इस प्रकाश और घोष को बिजली का चमकना और बादल का गरजना कहते हैं। बिजली की चमक और बादल की गरज का अनुभव बच्चे

से लेकर बड़े बूढ़े सब लोगों को है। कौन है ऐसा बलवान् जो उस चमक को आँखें खुली रखकर पल भर भी निहार सके। अधिकतर यह बिलकुल साधारण ढंग से चमका करती है, पर वह साधारण चमक भी किसी की आँख नहीं सहन कर पाती। हाँ, इस साधारण चमक के बाद होनेवाले साधारण घोष (आवाज) को अलबत्ता बहुत लोग बड़े भाव से सुनते हैं। लेकिन कभी कभी ये बादल एकदम असाधारण रूप से आपस में टकरा जाते हैं। उस समय की चमक भी असाधारण होती है, ऐसी कि चमक के गायब होने पर भी मिनटों आँख खोलने का साहस नहीं होता। इस असाधारण चमक के बाद जो घोष अर्थात् गरज पैदा होती है वह तो और भी असाधारण होती है। उस को सुनकर लड़के चीत्कार कर उठते हैं, सयानों का कलेजा हिल जाता है, बुड्ढे थर थर काँपने और राम राम, शिव शिव कहने लगते हैं तथा औरतें आँख कान बंद कर लेती हैं—कहते हैं कि उस शब्द की भयानक दमक से कितनी ही गर्भवती स्त्रियों का गर्भ गिर जाया करता है।

यह अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब कि बादलों का संबन्ध छोड़कर वह चमकनेवाली बिजली पृथिवी पर गिरने लगती है। इस मेघव्यापार को हिंदी में बिजली गिरना और संस्कृत में वज्रपात कहा जाता है। तात्पर्य यह कि बादलों से पैदा होकर नीचे गिरनेवाली बिजली भी एक प्रकार का वज्र ही है। अब अनुमान करो कि यह 'एक प्रकार का' अर्थात् असली नहीं, नकली वज्र जब इतना भयानक आतङ्क उत्पन्न करनेवाला है तब फिर वह पूर्ण प्रकार का असली वज्र कितना बड़ा सामर्थ्यवाला होगा। इसी लिए कहा गया है कि प्रहार करनेवाले शस्त्रमात्र में सर्वश्रेष्ठ शस्त्र वज्र है और वह साक्षात् भगवान् का स्वरूप तथा उन्हीं की विभूति है।

यों तो गौएँ सभी पूज्य हैं, सभी सेव्य हैं, 'गोब्राह्मणहिताय च' के अनुसार भगवान् की उन पर विशेष कृपा रहती ही है, फिर उन गौओं में भी जो दूध देनेवाली, भौतिक धन की वर्षा करनेवाली हो उस की पूजनीयता का सर्वथा औचित्य तो स्वयं सिद्ध है, किंतु जो गौ दूध देने के साथ ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि सभी पुरुषार्थों का लाभ करा देने की शक्ति रखनेवाली हो वह तो सचमुच भगवान् जैसी ही है। अतः धेनुओं में अपने को कामधेनु कहकर भगवान् ठीक ही अपनी गो संबन्धी विभूति का परिचय दे रहे हैं।

कामवासना से कोई जीव मुक्त नहीं है। सृष्टिपरंपरा का यह प्रधान साधन ही है। और जीवमात्र में भगवान् ही आत्मारूप से विराज रहे हैं, इस लिए कोई कह सकता था कि कामवासना के अधिष्ठाता देवता कामदेव सब तरह से भगवान् के ही रूप हैं। किंतु यह कोई न करे, इसी लिए भगवान् ने अपने को प्रजा उत्पन्न करनेवाला कामदेव कहा। और प्रजा उसी को कहा जाता है जो धर्मविरुद्ध रीति से न उत्पन्न हुई हो, वर्णसंकर न हो। वर्णसंकर

प्रजा धर्म का नाश करनेवाली होती है और भगवान् का काम है धर्म की स्थापना करना। फिर कामवासनामात्र की भगवद्विभूति में गणना कैसे की जा सकती है? नहीं की जा सकती। इसी लिए भगवान् पहले (सातवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में) भी कह आये हैं कि—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

हे अर्जुन, मैं जीवों में धर्मसंमत कामदेव हूँ; और यहाँ भी कह रहे हैं कि मैं प्रजा—वंश-परंपरा को अक्षुण्ण रखनेवाली संतति—उत्पन्न करनेवाला कामदेव हूँ।

वासुकि नाम के सर्प भगवान् के अनन्य भक्त भी हैं और संसार के समस्त सर्पों में रूप गुण से विशिष्ट होने के कारण सब सर्पों के राजा भी कहे जाते हैं। इसी लिए भगवान् ने सर्पों में इन्हीं को अपना स्वरूप कहा है। अस्तु;

भगवान् के अन्य रूपों का वर्णन सुनो कि वे अब अर्जुन से क्या कह रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि—

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

नागों में मैं अनन्त और जलजीवों में वरुण हूँ। पितरों में मैं अर्यमा और नियमन करनेवालों में यम हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, नागों की विभिन्न जातियों में सर्वश्रेष्ठ शेषनाग मेरा ही स्वरूप है। जल में रहनेवाले प्राणियों में जो देवजातियाँ हैं उन में सब के राजा वरुण देवता मेरी ही विभूति हैं अथवा मेरे ही स्वरूप हैं। पितरों के राजा अर्यमा कहे जाते हैं, वे भी मेरी ही विभूति और स्वरूप हैं। तमाम जीवों पर शासन करनेवाले यम हैं उन का स्वरूप भी मेरी ही विभूति है।

क० प्र०—प्यारे पाठको, ऊपर के श्लोक में भगवान् ने वासुकि सर्प को सर्पों का राजा बतलाकर उन्हें अपनी विभूति बतलाई और इस श्लोक में अनन्त अर्थात् शेषनाग को नागों का राजा बतलाकर उन्हें अपना स्वरूप एवं विभूति सिद्ध कर रहे हैं। परंतु संदेह यह उठ सकता है कि लोक में तो सर्प और नाग प्रायः पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रचलित हैं, फिर गीता में दोनों को विभिन्न रूप जो दिया गया है इस का क्या अभिप्राय है? इस संदेह का निराकरण यों करना पड़ेगा कि जैसे मनुष्य सभी हैं, पर उन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि बहुत से भेद भी होते ही हैं और उन ब्राह्मण क्षत्रियादिकों में भी गुण कर्मानुसार अमुक ब्राह्मण सब ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, अमुक क्षत्रिय सब क्षत्रियों में श्रेष्ठ, इत्यादि कहने और मानने की प्रथा भी है ही, इसी तरह सर्प और नाग आदि हैं सर्प की ही जातियाँ, किंतु उन में कोई

और कोई कनिष्ठ माना गया है। और इसी के अनुसार सर्पों के राजा वासुकि को भगवान् ने अपना रूप माना तथा नागों के राजा शेषनाग को अपना ही स्वरूप कहा। शेषनाग की गणना भगवान् के अवतारों में की गई है। इस लिए उन का श्रेष्ठत्व तो कहना ही क्या है?

वरुण का नाम चार दिक्पालों में आता है तथा वे जल के जीव जन्तुओं के राजा होने के साथ साथ जलीय देवताओं के भी राजा हैं। इस के अतिरिक्त भगवान् में उन की भक्ति भी अपूर्व रहती है। इन्हीं कारणों से जलचरों में इन्हें सर्वप्रधानता प्राप्त है और इसी लिए जलचरों में उन को भगवान् ने अपना ही रूप माना।

अर्यमा की गणना प्रधान प्रधान सप्त पितरों में भी प्रधान के रूप में की जाती है, इन्हें सब पितरों का राजा कहा गया है। अतएव पितरों में इन्हीं को भगवान् ने अपनी विभूति और अपना स्वरूप बतलाया।

यमराज की शासनप्रणाली को कौन नहीं जानता? अपने शासन के नियमों में वे न तो कभी कमजोरी आने देते हैं, न किसी प्रकार का पक्षपात आदि होने देते हैं। उन के दर्बार के नियम कानून सब के लिए समान रूप में व्यवहृत होते हैं। कोई देवता हो या मनुष्य, असुर राक्षस हो या पशु पक्षी, जो कोई भी अपना आचरण ठीक नहीं रखेगा उसे वे अवश्य दण्ड देंगे, कोशिश पैरवी, घूस हाली आदि का उन के यहाँ बिलकुल समावेश नहीं रहता। केवल कर्म की उत्तमता ही एकमात्र उपाय है जिस से प्रभावित होकर वे किसी के प्रति ऋजु और कोमल हो सकते हैं। इन्हें भी भगवान् की कृपा से दिक्पाल का पद प्राप्त है, परंतु ये अपनी दिशा में रहनेवालों के भी अपराधों को कभी क्षमा नहीं करते, उन के शासन में न तो कोई उन का अपना होता है, न पराया; वे पक्षपातरहित होकर सर्वदा शासन और दण्डविधान करते हैं। वे भगवान् के भक्त भी उत्तम श्रेणी के हैं—वे ज्ञानी भक्त हैं और 'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' के भगवद्वाक्यानुसार भगवान् की आत्मा ही हैं। इसी लिए भगवान् ने शासन करनेवालों में इन्हीं को सर्वश्रेष्ठ पद दिया और अपना ही स्वरूप तथा अपनी ही विभूति घोषित किया है। अस्तु;

अब आगे की बातें सुनो। भगवान् कहते हैं कि—

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

दैत्यों में मैं प्रह्लाद और गिनती करनेवालों में काल हूँ, पशुओं में मैं सिंह और पक्षियों में विनता का पुत्र (गरुड) हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, कश्यप ऋषि की जेठी स्त्री दिति के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले दैत्यों में सर्वश्रेष्ठ दैत्य प्रह्लाद हूँ मैं और संसार भर की वस्तुओं—प्रह,

उपग्रह, नक्षत्र, आकाश, वन, पर्वत, नदी, समुद्र आदि और उन सब की गति विधियों—की परिगणना करनेवाले गणितज्ञों में मैं काल अर्थात् समय हूँ। पशुओं में मैं सब पशुओं का प्रकृत राजा मृगेन्द्र अर्थात् सिंह हूँ। चिड़ियों में सब से बड़ी चिड़िया मैं गरुड़ हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, आप लोग दैत्यराज हिरण्यकश्यप और उस के पुत्र प्रह्लाद की कथा ऊपर सुन चुके हो। आप को बतलाया जा चुका है कि प्रह्लाद एक दैत्य अर्थात् राक्षस के पुत्र होते हुए भी किस कोटि के भगवद्भक्त थे। उन की निष्काम भक्ति से प्रसन्न होकर नृसिंहावतार धारण करनेवाले भगवान् का कल्याणमय हाथ किस प्रकार उन की रक्षा करता है, यह बात भी आप को मालूम है। इन सभी बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि आज तक जितने भक्त अभक्त दैत्य दानव उत्पन्न हुए उन में प्रह्लाद के दर्जे का कोई नहीं हुआ। प्रह्लाद की भगवद्भक्ति, उन की सुशीलता, सौम्यता, सर्वभूतों के प्रति स्वाभाविक दयालुता आदि उत्तमोत्तम गुणों के कारण ही भगवान् उन्हें अपना स्वरूप बतला रहे हैं।

काल अर्थात् समय से सयाना संसार में कोई नहीं है। सृष्टि के आदि काल से लेकर अब तक के समय की संख्या कितनी हुई, इस बात को स्वयं समय जितना ठीक ठीक बतला सकता है उतनी सच्ची गिनती अन्य कोई भविष्यज्ञ अथवा भूतज्ञ नहीं बतला सकता। ज्योतिषी लोग इस संबन्ध में जो कुछ भी कहते सुनते हैं वह कुछ अपनी विद्वत्ता के बल पर नहीं, बल्कि उन समयदेव की कृपा के ही बल पर। इसी लिए भगवान् ने बतलाया कि मैं गिनती करनेवालों में किसी विशेष सिद्धान्त का अनुयायी ज्योतिषी नहीं, प्रत्युत साक्षात् समय ही हूँ।

जंगल का राजा सिंह (अथवा शेर) प्रसिद्ध ही है। पशुओं की प्राकृतिक बस्ती जंगल ही है। और ऐसा कोई पशु आज तक किसी जंगल में उत्पन्न नहीं हुआ जो अपने बल पराक्रम से सिंह व्याघ्र को परास्त कर सका हो, पशुयोनिमात्र में सब से बड़ा बली सिंह ही होता है, इस में सन्देह नहीं। इसी लिए भगवान् ने कहा कि पशुओं में सिंह मेरी विभूति और मेरा ही स्वरूप है।

गरुड़जी का पराक्रम सर्वविदित है। उन्होंने जन्म लेते ही अपनी माता से भोजन माँगा, तो उन की माता विनता ने अपने को उन के पेट भर भोजन जुटाने में असमर्थ पाकर कह दिया कि जाकर संसार में विचरण करो और यथायोग्य आहार प्राप्त करो। यह आज्ञा पाकर गरुड़जी ने जो विप्लव खड़ा कर दिया उस की विस्तृत कथा महाभारत के आदिपर्व में लिखी हुई है। उन के आतङ्क से इन्द्रादि देवता भी भय मानने लगे। देवताओं ने सम्मिलित रूप से कई बार उन्हें हराने का प्रयत्न किया, पर गरुड़ के अदृष्टपूर्व पराक्रम के सामने

लोगों की एक न चली। अन्त में देवताओं की इज्जत बचाने के लिए स्वयं भगवान् विष्णु को गरुड़ के मुकाबले में आना पड़ा, किन्तु उन्हें भी मालूम हो गया कि गरुड़ का बल अपार होने के साथ साथ अद्भुतपूर्व भी है। भगवान् विष्णु और गरुड़ का द्वन्द्व युद्ध हजारों वर्ष होता रह गया, पर दोनों में किसी की भी शक्ति कम न हुई, कोई भी हार मानता हुआ नहीं दिखाई पड़ा। अन्त में माया की प्रेरणा से गरुड़जी एकाएक भगवान् के ऊपर प्रसन्न हो उठे। भगवान् की शक्ति और उन का युद्धकौशल देखकर गरुड़जी का हृदय उन पर मुग्ध हो गया, वे मन ही मन भगवान् के गुणों की प्रशंसा करने लगे और भगवान् से वर माँगने के लिए कहा।

फिर क्या था। भगवान् ने कहा कि यदि ऐसी बात है, तो मैं यही वर चाहता हूँ कि तुम मेरी सवारी बनो। गरुड़जी ने भगवान् की बात स्वीकार कर ली, तो भगवान् ने भी उन के प्रति संतुष्ट होकर अपनी भक्ति का वर दिया। उसी समय से गरुड़जी भगवान् के वाहन और अनन्य भक्त बन गये। इन बातों से स्पष्ट है कि पक्षियों में सब से बड़े गरुड़जी ही हैं। इसी लिए भगवान् ने कहा कि पक्षियों में मैं गरुड़ हूँ। अस्तु;

इतना परिचय देने के बाद भगवान् ने फिर कहा कि—

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवित्रकर्ताओं में मैं पवन हूँ, शस्त्र धारण करनेवालों में राम हूँ, मछलियों में मगरमच्छ हूँ और नदियों में गङ्गा हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, अशुचि और अपवित्र वस्तुओं को पुनः पवित्र करने के लिए प्रायः मिट्टी, जल, अग्नि और वायु से काम लिया जाता है। इन में मैं सब से उत्तम वायु हूँ। शस्त्र धारण करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ शस्त्रधारी राम मैं हूँ। मछलियों की जितनी जातियाँ होती हैं उन में सब से बड़ी मगरजाति की मछली कही जाती है, अतः वह मेरा ही स्वरूप है। नदियों में सब से पूज्य और पावन भागीरथी गङ्गा हैं, अतः नदियों में वे ही मेरी विभूति हैं।

भगवद्विभूतियाँ

ભગવદ્ વિભૂતિઓ

बड़ा वेगवाला है, इस लिए उस के पहुँचने और पवित्र करने में कुछ भी देरी नहीं लगती। इन्हीं कारणों से वह पवित्र करनेवाले पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसी लिए भगवान् ने पवित्रकर वस्तुओं में अपने को वायु कहा है।

राम तीन हैं—परशुराम, दाशरथी राम और बलराम। ये तीनों ही लोकोत्तर बली और शस्त्रधारी कहे गये हैं। बालब्रह्मचारी परशुराम की वीरता जगत् प्रसिद्ध बात है। उन्होंने अपने शस्त्रों के बल से ही बड़े बड़े मदान्ध वीर क्षत्रिय राजाओं को युद्ध में हरा डाला और उन का राज्यैश्वर्य आदि छीन लिया था। ऐसा उन्होंने एक ही बार नहीं, बल्कि एकीस बार किया था। वे बार बार क्षत्रिय राजाओं का नाश कर राज्य छीनते और ब्राह्मणों को दान दे देते थे। इस कार्य में उन्होंने ब्रह्मबल का सहारा लिया हो, ऐसी बात भी नहीं थी; वे शस्त्रबल से ही सर्वदा विजयी होते रहे। इसी लिए अनेक विद्वान् गीता के इस श्लोक का अर्थ करते समय यही कहते हैं कि भगवान् ने शस्त्रधारियों में अपने को परशुराम ही घोषित किया है। किंतु गीता के सब से बड़े भाष्यकार जगद्गुरु श्री आद्य शंकराचार्य ने इस श्लोक के भाष्य में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'शस्त्राणां धारयितणां दाशरथी रामः अहम्' अर्थात् शस्त्रों को धारण करनेवालों में मैं—भगवान्—दशरथ का पुत्र श्री रामचन्द्र हूँ। मैं भी इसी अर्थ को ठीक मानता हूँ। यद्यपि यह ठीक है कि परशुरामजी और बलरामजी भी अपने अपने समय के अद्वितीय शस्त्रधारी थे, उन उन के समय में कोई भी उन का समकक्ष नहीं था, और उन्हें भी शास्त्रकारों ने भगवान् के अवतारों में गिना है, इस लिए वे श्रीरामचन्द्रजी से किसी प्रकार प्रतिष्ठा में भी कम नहीं थे, फिर भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को ही यहाँ शस्त्रधारी राम मानने का कारण यह है कि वे भगवान् के विशेष अंशों से उत्पन्न अवतार थे, जितना कि परशुरामजी या बलरामजी नहीं कहे जा सकते। श्रीमद्भागवत में लिखा भी है कि—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः॥

इस कथन से सिद्ध है कि भगवान् के हजारों अवतार एक तरफ और अकेले दाशरथी श्री राम भगवान् एक तरफ। तात्पर्य यह कि दशरथजी के पुत्ररूप में अवतरित श्री राम ही शस्त्रधारियों में सर्वश्रेष्ठ राम हैं, इस में संदेह नहीं। इसी लिए भगवान् ने कहा कि शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ।

मछलियों में मगरमच्छ की श्रेष्ठता का कहना ही क्या है? बड़ी बड़ी हजारों मछलियों के समूह में वह अकेला ही जहाँ पहुँचा कि सब की सब मछलियाँ जान ले लेकर भाग निकलती हैं। एक ही झपट्टे में सैकड़ों मछलियों को निगल जाना उस के लिए साधारण बात है। उस का आकार प्रकार, गति विधि, बल पराक्रम सब कुछ अन्यान्य मछलियों की अपेक्षा

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, ऊपर बीसवें श्लोक में भगवान् कह आये हैं कि मैं ही सब जीवों के अन्तःकरण में रहनेवाला 'आत्मा' और सब जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, लय हूँ और यहाँ फिर कह रहे हैं मैं ही सब सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हूँ। भगवान् की इन बातों से यह मत समझना कि एक ही बात को बार बार दुहराकर भगवान् ने गीता को बढ़ा डाला है। नहीं, भगवान् एक बार जो कुछ कह देते हैं उसे फिर कभी नहीं दुहराते। वहाँ पर भगवान् ने केवल चेतन जीवों के विषय में कहा था कि मैं उन का आदि, मध्य और अन्त हूँ और यहाँ चेतन अचेतन समग्र जगत् को लेकर कह रहे हैं कि मैं उस की उत्पत्ति, स्थिति और लय हूँ। भगवान् की वहाँ की शक्ति सीमित थी और यहाँ की असीम है, अर्थात् इस शक्ति के द्वारा भगवान् ने एक ही वाक्य में समस्त लोकों और भुवनों का अपने को सब तरह का कारण कह डाला है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विद्याएँ अनन्त हैं और सब में प्रधान ब्रह्मविद्या है। इसी लिए वह भगवान् की विभूति और भगवत्स्वरूपा है। परंतु इस का ममक क्या है? कैसे जाना जाय कि अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या ही सब विद्याओं की साम्राज्ञी है? इस का समाधान यही है कि मनुष्यमात्र सर्वदा सुख की खोज किया करते हैं, कभी कोई सुख प्राप्ति से विमुख नहीं देखा जाता, पर उन में सुख उसी को प्राप्त होते देखा जाता है जिसे कुछ आत्मबोध हो जाता है। जो सब संसारी विषयों का मोह छोड़कर अपनी आत्मा को—अपने को पहचान ने लगता है, एकमात्र वही प्रसन्नचित्त दिखलाई पड़ता है, केवल उसी का चेहरा नैसर्गिक हृदयोल्लास और वास्तविक सुख की प्राप्ति से संतुष्ट होकर निरन्तर मुस्कराता और जगमगाता रहता है और यह आत्मबोध अर्थात् आत्मा की पहचान होती है उसी अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) से। संसार में करोड़ों विद्याओं को मनुष्य परंपरा से जानता आया है, करोड़ों विद्याओं की पुस्तकें मनुष्यों के पास वर्तमान हैं और करोड़ों विद्याएँ सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक के समय के बीच में उत्पन्न होकर अदृश्य हो गईं जिन का आज किसी को नाम भी नहीं मालूम है, परंतु इन सभी असंख्य विद्याओं की शक्ति वहाँ जाकर क्षीण हो जाती है जब मनुष्य परम पुरुषार्थ का–मोक्ष का–परिचय प्राप्त करना चाहने लगता है। संसार की समस्त विद्याएँ मनुष्यों को तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति तो करा देती हैं, पर चौथा पुरुषार्थ जिसे सब पुरुषार्थों का राजा परम पुरुषार्थ कहा जाता है उस मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ को प्राप्त कराने में वे सब विद्याएँ अलग अलग अथवा सामूहिक संमिलित शक्ति से भी सर्वथा असमर्थ रह जाती हैं, उन विद्याओं की शक्ति के बाहर की बात है मोक्ष को प्राप्त कराना। यह शक्ति केवल ब्रह्मविद्या में ही है। ब्रह्मविद्या के द्वारा ही मनुष्य को आत्मा का बोध होता है और आत्मा का बोध होने पर ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ का लाभ होता है। इस से सिद्ध

बहुत बड़ा चढ़ा होता है। इसी से तो सभी जलदेवियों ने मगरमच्छ को ही अपनी सवारी बनाई है और इसी लिए भगवान् ने भी कहा है कि मछलियों में मैं मगरमच्छ हूँ।

नदियों में जाह्नवी अर्थात् महर्षि जह्नु की पुत्री, महात्मा भगीरथ द्वारा लाई हुई और श्री शंकरजी के मस्तक पर विराजनेवाली सुरसरि गङ्गा का माहात्म्य भला कौन नहीं जानता। भारतीयों की तो बात ही क्या कहनी है, अनेक पश्चिमी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि भागीरथी गङ्गा का जल जल नहीं, प्रत्युत अमृत है। गङ्गाजल में ऐसा अद्भुत तत्त्व भरा हुआ है कि उस के सेवन से बड़े बड़े असाध्य रोग निर्मूल हो जाते हैं। और हमारे यहाँ के ऋषियों मुनियों की राय तो पूछनी ही नहीं है। हमारे यहाँ ऐसा कोई शास्त्र, पुराण, इतिहास नहीं जिस में भगवती भागीरथी गङ्गा के वर्णन में अध्याय के अध्याय और सर्ग के सर्ग न लिख डाले गये हों। श्री गङ्गाजी साक्षात् विष्णु भगवान् के चरणकमल से उत्पन्न हुई हैं, इस से तो उन की पावनता और पवित्रता सर्वोत्कृष्ट है ही, साथ ही एक बात यह भी है कि एक बार भगवान् विष्णु अपने आप द्रवित होकर बहने लगे और श्री ब्रह्माजी के कमण्डलु में भरकर गङ्गाजी का रूप धारण कर लिया। इन्हीं कारणों से नदियों में सर्वश्रेष्ठ भी गङ्गाजी ही हैं और इसी लिए भगवान् ने कहा है कि मैं नदियों में गङ्गा नदी हूँ। अस्तु;

अब भगवान् का अग्रिम विभूतिपरिचय सुनिए। वे अर्जुन से कहते हैं कि—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

हे अर्जुन, सर्गों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्मविद्या और विवाद करनेवालों में मैं वाद हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, सृष्टिगत समस्त पदार्थों की स्वभावतः तीन क्रियाएँ होती हैं—१ उत्पत्ति, २ स्थिति और ३ लय। सृष्टि की इन तीनों क्रियाओं का हेतु मैं ही हूँ—मुझ से इस जड चेतन और चर अचर सहित संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है, मुझ में उस की स्थिति रहती है और मुझ में ही उस का अन्त अर्थात् लय भी होता है। संसार में विद्याओं की संख्या अनन्त है, पर इस में संदेह नहीं कि सब में प्रधान अध्यात्मविद्या अर्थात् मोक्ष दिलानेवाली ब्रह्मविद्या ही है। इस लिए विद्याओं में प्रधान विद्या ब्रह्मविद्या मैं हूँ। शङ्कासमाधानमूलक वादविवाद में जिस वचन से शङ्काकार का समाधान अथवा विचारणीय विषय का निर्णय होता है उसी को प्रधानता दी जाती है और 'वाद' कहा जाता है, सो वह मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, ऊपर बीसवें श्लोक में भगवान् कह आये हैं कि मैं ही सब जीवों के अन्तःकरण में रहनेवाला 'आत्मा' और सब जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, लय हूँ और यहाँ फिर कह रहे हैं मैं ही सब सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हूँ। भगवान् की इन बातों से यह मत समझना कि एक ही बात को बार बार दुहराकर भगवान् ने गीता को बढ़ा डाला है। नहीं, भगवान् एक बार जो कुछ कह देते हैं उसे फिर कभी नहीं दुहराते। वहाँ पर भगवान् ने केवल चेतन जीवों के विषय में कहा था कि मैं उन का आदि, मध्य और अन्त हूँ और यहाँ चेतन अचेतन समग्र जगत् को लेकर कह रहे हैं कि मैं उस की उत्पत्ति, स्थिति और लय हूँ। भगवान् की वहाँ की उक्ति सीमित थी और यहाँ की असीम है, अर्थात् इस उक्ति के द्वारा भगवान् ने एक ही वाक्य में समस्त लोकों और भुवनों का अपने को सब तरह का कारण कह डाला है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विद्याएँ अनन्त हैं और सब में प्रधान ब्रह्मविद्या है। इसी लिए वह भगवान् की विभूति और भगवत्स्वरूपा है। परंतु इस का गमक क्या है? कैसे माना जाए कि अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या ही सब विद्याओं की सम्राज्ञी है? इस का समाधान यही है कि मनुष्यमात्र सर्वदा सुख की खोज किया करते हैं, कभी कोई सुख प्राप्ति से विमुख नहीं देखा जाता, पर उन में सुख उसी को प्राप्त होते देखा जाता है जिसे कुछ आत्मबोध हो जाता है। जो सब संसारी विषयों का मोह छोड़कर अपनी आत्मा को—अपने को पहचान ने लगता है, एकमात्र वही प्रसन्नचित्त दिखलाई पड़ता है, केवल उसी का चेहरा नैसर्गिक हृदयोल्लास और वास्तविक सुख की प्राप्ति से संतुष्ट होकर निरन्तर मुस्कराता और जगमगाता रहता है और यह आत्मबोध अर्थात् आत्मा की पहचान होती है उसी अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) से। संसार में करोड़ों विद्याओं को मनुष्य परंपरा से जानता आया है, करोड़ों विद्याओं की पुस्तकें मनुष्यों के पास वर्तमान् हैं और करोड़ों विद्याएँ सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक के समय के बीच में उत्पन्न होकर अदृश्य हो गईं जिन का आज किसी को नाम भी नहीं मालूम है, परंतु इन सभी असंख्य विद्याओं की शक्ति वहाँ जाकर क्षीण हो जाती है जब मनुष्य परम पुरुषार्थ का—मोक्ष का—परिचय प्राप्त करना चाहने लगता है। संसार की समस्त विद्याएँ मनुष्यों को तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति तो करा देती हैं, पर चौथा पुरुषार्थ जिसे सब पुरुषार्थों का राजा परम पुरुषार्थ कहा जाता है उस मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ को प्राप्त कराने में वे सब विद्याएँ अलग अलग अथवा सामूहिक संमिलित शक्ति से भी सर्वथा असमर्थ रह जाती हैं, उन विद्याओं की शक्ति के बाहर की बात है मोक्ष को प्राप्त कराना। यह शक्ति केवल ब्रह्मविद्या में ही है। ब्रह्मविद्या के द्वारा ही मनुष्य को आत्मा का बोध होता है और आत्मा का बोध होने पर ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ का लाभ होता है। इस से सिद्ध

हुआ कि अध्यात्मविद्या ही सब विद्याओं में श्रेष्ठ विद्या है। इसी लिए भगवान् ने कहा कि विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या हूँ।

प्रवाद अथवा विवाद तीन प्रकार के होते हैं—१ वाद, २ जल्प और ३ वितण्डा। कुछ लोग विवाद को भी एक भिन्न प्रकार का वाद मानकर इस में चार भेद मानने के पक्षपाती हैं, किंतु यह ठीक मत नहीं है, क्योंकि विवाद और प्रवाद तो वास्तव में उसी पारस्परिक बातचीत का नाम है जो किसी विषय अथवा शास्त्र को लेकर उस का ऊहापोह और छानबीन करने के लिए दो आदमी या अधिक से अधिक लोग आपस में बातचीत—शास्त्रार्थ—करें। जो लोग विवाद को एक अलग प्रकार मानते हैं वे दूसरों की न सुनकर अपनी ही अपनी अगड़ंबगड़ बातों का हाँकना विवाद का अर्थ करते हैं, पर यह तो जल्प और वितण्डा के ही अन्तर्गत विषय है। इस लिए विवाद या प्रवाद तीन ही प्रकार का माना गया और उन्हीं की परिभाषा नीचे दी जाती है—

१—वाद—प्रष्टा (पूछनेवाले) के प्रश्न को सुनकर उस का ठीक ठीक, पक्षपातरहित, शुद्ध चित्त से जो समाधान किया जाय और जिस से तात्त्विक वस्तुनिर्णय होकर प्रश्नकर्ता का संदेह दूर हो वह वाद कहलाता है।

२—जल्प—प्रश्न का यथार्थ निर्णय करने अथवा न करने से कुछ मतलब न रखकर केवल अहंकारवश अपनी राय अथवा मत को दूसरों के ऊपर लादने और उचित अनुचित पर ध्यान न देकर हर तरह से दूसरों का पक्ष काट कूट डालना तथा अपने पक्ष का ही सर्वथा समर्थन और स्थापन करना जल्प कहा जाता है।

३—वितण्डा—प्रश्न और शास्त्रार्थ का जहाँ किसी तरह अवसर भी न हो, न किसी के मन में शास्त्रार्थ और वाद विवाद सुनने सुनाने की इच्छा ही हो वहाँ भी झगड़े के रूप का शास्त्रार्थ करने के लिए पिल पड़ना और संसार भर के संमान्य अथवा साधारण मतों एवं वादों का खण्डन करते हुए निरन्तर बकते जाना, पर अपनी ओर से कोई मतस्थापन भी न करना वितण्डा कहलाता है।

इन तीनों प्रकार के विवादों में स्पृहणीय तथा प्रशंसनीय विवाद पहला 'वाद' है, इस में किसी को अधिक समझाने की जरूरत नहीं। उसी को भगवान् अपनी विभूति और अपना स्वरूप बतला रहे हैं कि विवाद करनेवालों में मैं वाद हूँ। अस्तु।

आगे चलिए और ध्यान दीजिए कि वे अब अर्जुन से क्या कहते हैं। भगवान् का अग्रिम कथन यह है कि—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षरों में मैं अकार हूँ, समासों के समूह में द्वन्द्व (नाम का समास) हूँ। मैं ही अविनाशी काल हूँ और सब ओर मुखवाला विधाता हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, अक्षरों में आदि अक्षर अकार हूँ मैं, जो सर्वव्यापक मुझ परमात्मा की ही तरह सब अक्षरों में सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। व्याकरण-शास्त्र के सब से अधिक उपयोगी प्रकरण समास नाम के प्रकरण माने जाते हैं जिन की संख्या किसी के मत में चार और किसी के मत में छः है। इन चार या छः समासों में भी सब से सुन्दर और श्रेष्ठ द्वन्द्व नाम का समास है, क्योंकि और और समासों में एक पक्ष प्रधान और एक पक्ष अप्रधान हो जाता है, किंतु द्वन्द्व समास में दोनों पक्ष प्रधान रहते हैं। इस लिए समासों में सर्वप्रधान द्वन्द्व समास हूँ मैं। ऊपर एक काल को मैं अपनी विभूति बतला चुका हूँ। वह प्रकृति के कार्यों की परिगणना करनेवाले समय का भावबोधन करानेवाला मेरा कालात्मक परिचय था जो अनित्य होने के कारण महाप्रलय के समय नहीं रहता। किंतु मेरा एक साक्षात् स्वरूप भी काल है जो मैं परमात्मा ही हूँ। यह काल कभी नष्ट नहीं होता, अपितु सब को नष्ट करके स्वयं सर्वदा अक्षय भाव को प्राप्त रहता है। मैं ही समस्त संसार का आधार और पालन पोषण करनेवाला सर्वतोमुख विधाता हूँ। मैं अपने इसी स्वरूप से सब जगत् के कर्मफल का विधान करता हूँ, अतएव मेरे इस विश्वतो-मुख रूप को विधाता नाम प्राप्त है।

क० प्र०—प्यारे प्रभुप्रेमी सज्जनो, श्रुति में लिखा है कि जगत् में वाणी शब्द से जिस पदार्थ का बोध होता है वह वाणीमात्र अकारस्वरूप है। अकार से शून्य कोई वाणी कभी रह ही नहीं सकती। इसी लिए अकार भी ॐकार की तरह सब वर्णों में सर्व-श्रेष्ठ माना गया है और इसी से अक्षरों में अकार को ही भगवान् ने अपनी साक्षात् विभूति और स्वरूप बतलाया है। समासों की संख्या ऊपर (गीतागौरव में) कही जा चुकी है। जिन के मत में छः समास होते हैं वे उन का नामकरण यों करते हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ कर्मधारय, ४ द्विगु, ५ बहुव्रीहि, ६ द्वन्द्व। और जिन के मत में समास चार होते हैं वे उन को इस प्रकार गिनाते हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ बहुव्रीहि, ४ द्वन्द्व। इन के मत में कर्मधारय और द्विगु नाम के दो समास तत्पुरुष समास के अन्तर्गत माने जाते हैं। अस्तु; जो कुछ हो। इस में सभी एकमत हैं कि द्वन्द्व समास ही सर्वगुणसंपन्न श्रेष्ठतर समास है। वह किसी पद को हजम नहीं करता, सब पदों और शब्दों को प्रकट रखकर, सब के गुण गाता हुआ, सब को एक में जोड़ देता है। इसी लिए भगवान् ने अपने को द्वन्द्व समास कहा

है। अक्षय काल के विषय में सब कुछ गीतागौरव में कह दिया गया है, अब विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। विश्वतोमुख धाता का साधारण अर्थ है चार मुखवाला ब्रह्मा और असाधारण अर्थ है सर्वव्याप्त परमात्मा। इन दोनों अर्थों से इस श्लोक की संगति बैठ जाती है, पर चतुर्मुख ब्रह्मा की अपेक्षा सर्वतोमुखी, सर्वत्र समवस्थित, सर्वव्यापक परमात्मा अर्थ करना अधिक माहात्म्य को प्रकट करता है। यही अर्थ शंकराचार्यजी आदि प्राचीन महापुरुषों को भी मान्य है, अत: यही अर्थ मानना अधिक समीचीन है। अस्तु,

अब देखिए कि भगवान् अपने किन स्वरूपों का परिचय दे रहे हैं। वे कहते हैं कि—

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सब का हरण करनेवाली मृत्यु मैं हूँ और आगे होनेवालों की उत्पत्ति का कारण भी हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ मैं।

गी० गौ०—हे अर्जुन, संपूर्ण जगत् को प्राणरहित बनाकर अन्य लोकों का पथिक बनानेवाली मृत्यु मेरी ही विभूति है और मरे हुए लोगों को भविष्य में पुनः उत्पन्न करने में मैं ही मूलकारण भी हूँ अर्थात जन्म मृत्यु दोनों ही मेरी विभूतियाँ हैं और आवश्यकतानुसार मैं ही उन्हें संसार में बर्तता हूँ। स्त्रियों में गुण अवगुण सभी रहते हैं। उन में गुणों के रूप में तूँ मेरी विभूतियों का दर्शन कर। वे गुण हैं यश, शोभा और लक्ष्मी, अमृतमय मनोमुग्धकारिणी वाणी, अत्यन्त प्रबल स्मरण-शक्ति, तीक्ष्ण बुद्धि, अनुपमेय धीरता और असाधारण क्षमाशीलता।

क० म०—प्यारे मित्रो, ऊपर कहा गया है कि अमृत और मृत्यु भगवान् ही हैं। इसी का विशेष स्पष्टीकरण है यह 'मृत्यु सर्वहर' और 'भविष्यताम् उद्भवः'। इस के संबन्ध में अनेक स्थलों पर बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब अधिक प्रामाणिक दृष्टान्त देना अनावश्यक है, क्योंकि जगत् जानता है कि भगवान् ही कर्मानुसार सब को संसार में उत्पन्न करते हैं और कर्मफल भोगाने के लिए मृत्यु के जरिये दूसरे लोकों में भेज देते हैं।

स्त्रियों की निन्दा स्तुति के प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदासजी ने पहले उन के अवगुणों का उल्लेख किया और कहा है कि स्त्रियाँ 'अवगुण आठ सदा उर रहहीं', किंतु भगवान् स्त्रियों के सद्गुणों की ही चर्चा कर रहे हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उन के सात सद्गुणों को स्वयं अपनी विभूति कह रहे हैं। वे गुण हैं १ कीर्ति=नेकनामी—इस की रक्षा स्त्रियाँ ही करती

हैं, यदि वे इस की पर्वाह छोड़ दें, तो पुरुषों की इज्जत आबरू को पाताल में भी ठिकाना न मिले। २ श्री=शोभा—लक्ष्मी और धन संपत्ति। ३ वाक्=मधुर वाणी—मीठी मीठी, दिल को लुभानेवाली बोली। ४ स्मृति=स्मरणशक्ति—स्त्रियों की यादहाश्त पुरुषों की अपेक्षा हजारों गुनी ज्यादा होती है। ५ मेधा=बुद्धि—स्त्रियों की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण होती है, यदि इन में से आज की कुशिक्षा और अशिक्षा का दुष्प्रभाव निकल जाय, तो इन की दूरदर्शिता के सामने पुरुषों को बार बार मस्तक झुकाना पड़े। ६ धृति=धैर्य—स्त्रियों में धीरता रखने का असाधारण गुण है, वे बड़ी बड़ी विपत्तियों को हँस खेलकर पार कर जाती हैं। जिन संकटों में पुरुष विक्षिप्त तक हो जाते हैं, धैर्य खोकर दर दर की ठोकरें खाने लगते हैं उन संकटों में स्त्रियाँ ही उन का हाथ पकड़कर उन्हें साहस प्रदान करती हैं। यद्यपि आज की दुनिया ने अपना रंग बहुत कुछ बदल डाला है जिस से भगवान् की कही हुई बातों का प्रत्यक्षतः प्रमाणित होना महान् कठिन समस्या हो रही है, फिर भी ऐसे उदाहरण हमें आये दिन मिलते ही रहते हैं कि कितने ही घरों को आसन्न सर्वनाश के मुख से बात की बात में स्त्रियों ने अपनी धीरता और कष्टसहिष्णुता के बल पर उबार लिया। ७ क्षमा=सहनशीलता=तितिक्षा—किसी के अपराध को, दण्ड देने की और बदला चुकाने की शक्ति रखते हुए भी माफ कर देना। यह गुण स्त्रियों में अत्यन्त आवश्यक है। यह गुण रहे, तो कभी किसी कुटुम्ब में कलह होने ही न पाये। पर आज का तो जमाना ही उलटा प्रसिद्ध हो चुका है। फिर भी पुरुषों से ज्यादा ही स्त्रियों में यह गुण अब भी पाया जाता है।

यह लौकिक दृष्टि से अर्थ किया गया। परंतु शास्त्रीय दृष्टि से इस का अर्थ होता है कि भगवान् इन सात स्त्रियों को ही तमाम स्त्रियों में अपनी विभूति बतला रहे हैं। ये सातों स्त्रियाँ तत्तद्गुणों की अधिष्ठातृ देवियाँ हैं। इन में कीर्ति, मेधा और धृति, ये तीन स्त्रियाँ धर्म की पत्नी मानी गई हैं। स्मृति अङ्गिरा ऋषि की पत्नी का नाम है, क्षमा को पुलह ऋषि की स्त्री कहा है, श्री अर्थात् लक्ष्मीजी भगवान् नारायण की पत्नी प्रसिद्ध ही हैं और वाणी अर्थात् सरस्वतीजी ब्रह्माजी की कन्या हैं, यह कौन नहीं जानता। इस प्रकार इस का तात्पर्य यह हुआ कि संसार भर की स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठतमा ये सात स्त्रियाँ साक्षात् भगवत्स्वरूपा और भगवान् की ही विभूतियाँ हैं जिन के आंशिक लेशमात्र के धारण से जगत् में व्यवहार करनेवाली स्त्रियाँ सर्वपूज्यता को प्राप्त हो जाती हैं। अस्तु;

अब आगे सुनो। भगवान् कह रहे हैं कि—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

सामों में मैं बृहत् साम हूँ तथा छन्दों में गायत्री हूँ। मासों में मैं मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, लयदारी के साथ गाकर भगवत्स्तवन करने योग्य जितने सामवेदीय मन्त्र हैं उन में मैं बृहत् (अर्थात् सब से बड़ा) नामवाला सामवेद हूँ। वेदों की छन्दों में बँधी हुई सुष्ठु ऋचाओं में मैं सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त गायत्री नामक ऋचा हूँ। महीनों में सब से सुन्दर समवस्थित अगहन नाम का महीना हूँ मैं और छहों ऋतुओं में सब का राजा मैं वसन्त ऋतु हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, यों तो सामवेद के सभी मन्त्र भगवान् की स्तुतियों से भरे हुए हैं, पर उन में बृहत्साम नाम का जो प्रकरण है उस की बात निराली ही है। उस में इन्द्र के रूप में भगवान् की महिमा गाई गई है। उस के स्वरों और लयों में इतनी मधुरता भरी है कि श्रोता मन्त्रमुग्ध की भाँति अथवा चित्रलिखित की तरह हो जाता है। सामवेद का वह प्रकरण सब प्रकरणों का राजा माना गया है। इसी लिए भगवान् ने सामों में अपने को बृहत्साम कहा है। छन्दों में गायत्री छन्द का माहात्म्य सर्वविदित है। प्राचीन ऋषियों महर्षियों के ग्रन्थों से लेकर अर्वाचीन मुनियों और कवियों तक के ग्रन्थों में गायत्री छन्द की विस्तृत महिमा का वर्णन मिलता है। वेद, वेदान्त, इतिहास, पुराण, काव्य, धर्मशास्त्र आदि कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं जिस ने गायत्री छन्द का माहात्म्यवर्णन कर अपने को कृतकृत्य न बनाया हो।

प्राचीन काल में आर्यों का संवत्सर अगहन महीने से ही प्रारम्भ होता था। इस लिए आज जैसे चैत को हम लोग बड़ा सुन्दर और सब महीनों का राजा महीना मानते हैं वैसे ही उस समय अगहन माना जाता था। दूसरी बात यह कि इस महीने में गर्मी के ताप का नाम नहीं रहता और जाड़ा भी मीठा मीठा पड़ता है। इस से सब प्राणी इस महीने में सुखी रहते हैं। अमीर गरीब किसी के लिए यह दुःखदायी नहीं प्रतीत होता। तीसरी बात यह भी है कि अगहन में ही अच्छे अच्छे धान तैयार होते हैं। चौथी बात यह कि इस महीने में किये गये व्रत, उपवास, दान, पुण्य, जप, तप को शास्त्रों ने अनन्त फल देनेवाला कहा है। इन्हीं कारणों से भगवान् ने महीनों में अगहन को ही अपना साक्षात् स्वरूप बतलाया है। इसी लिए संकल्प पढ़ने के समय पुरोहित लोग इस मास को 'पुरुषोत्तम' मास के नाम से आदर और श्रद्धापूर्वक उद्धृत करते हैं।

ऋतुओं में वसन्त ऋतु का नाम लेते ही मनुष्यमात्र के मन में विचित्र प्रकार के भावों का स्फुरण हो उठता है। बुड्ढे जवानी के उल्लास का अनुभव करने लगते हैं, जवान आकाशगामी देवता, गन्धर्व, सिद्ध आदि को अपना समकक्ष गिनते हुए आकाश में उड़ने की सी आन-

न्दानुभूति करने लगते हैं, बालक फूलों और तितलियों को भी अपनी सुन्दरता, मनोविनोदप्रियता और सरल स्निग्ध चञ्चलता के आगे बात बात में मात करने का गर्व करने लगते हैं। लोक में कहावत ही प्रसिद्ध हो गई है कि वसन्त में मुर्दों में भी जान आ जाती है। इस ऋतु में प्रकृति अपने जीर्ण शीर्ण, आतप, वर्षा शिशिर से तप्त, त्रस्त, तनुताप्राप्त (दबे सिकुड़े) कलेवर को दूर फेंककर नूतन, कोमल, प्रफुल्लित, रंग विरंगा, आकर्षक बाना धारण करती है। उस का यह उद्योग परम पुरुष को लुभाने और अपने वश में करने के लिए ही होता है। फिर निर्लेप पुरुष अपने निसंग स्वभाव के कारण यदि उस का नहीं हो पाता, तो क्या वह इतना अकृतज्ञ है कि उस नवयौवना प्रकृति को अपना भी न बनाये ? नहीं, ऐसा करना उस के लिए असंभव है। तभी तो भगवान् अपने परम मित्र के आगे विशुद्ध अन्तःकरण से स्वीकार करते हैं कि मैं ऋतुओं में ऋतुराज कुसुमाकर हूँ अर्थात् वासन्ती प्रकृति मेरी विभूति है। अस्तु;

अब आगे पढ़िए और अन्य भागवती विभूतियों का अवलोकन कीजिए। भगवान् कह रहे हैं कि—

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छलनामवीणों में मैं द्यूत हूँ, तेजस्वियों में तेज हूँ, जय हूँ, निश्चय हूँ, सत्त्वशीलों में सत्त्व हूँ ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, छल, कपट, धूर्तता आदि करनेवालों में मैं सब से बड़ा छल का विषय जूआ हूँ। संसार के बड़े बड़े तेजस्वियों अर्थात् अपने प्रभाव से सर्वसाधारण को प्रभावित करनेवालों में मैं ही उन का तेज अथवा प्रभाव हूँ, विजययात्रा द्वारा बड़े बड़े देशों, बड़े बड़े विद्वानों, बड़े बड़े पहलवानों को परास्त करनेवाले राजाओं, विद्वानों, पहलवानों आदि को उन की विजयशीलता के पुरस्कारस्वरूप जो उन्हें विजय की प्राप्ति होती है वह (जीत) मेरी ही विभूति है अथवा यों कहो कि उन की विजय का यदि कोई मूर्तरूप हो सकता है, तो वह मेरा ही रूप है। इसी प्रकार किसी निश्चय पर दृढ रहनेवालों का जो निश्चयात्मक स्वरूप है वह मेरा ही रूप है और बड़े बड़े सत्त्वधारी, सात्त्विक गुणापन्न, सत्पुरुषों में रहनेवाला सत्त्व गुण भी मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, इस श्लोक का प्रथम चरण साधारण बुद्धिवालों के लिए बहुत ही भ्रमोत्पादक (चक्कर में डालनेवाला) है। सत् शास्त्रों की शिक्षा और सच्चे सन्मार्गदर्शक उपदेशों के श्रवण से जिन की बुद्धि परिमार्जित नहीं हो गई है, जो लोग किसी वाक्य को सुनकर उस का शब्दगत अर्थमात्र हृदयंगम कर उसी के अनुसार संसार में बर्तने के अभ्यासी हैं,

ऐसे लोग भगवान् के मुँह से ही उन का कपटपूर्ण जूआ होना सुनकर चटपट यही धारणा कर सकते हैं कि अनेक शास्त्र और शास्त्री व्यर्थ ही जूआ की निन्दा करते हैं, झूठ मूठ ही जूआ खेलना पाप बतलाते हैं। जूआ तो साक्षात् भगवान् की विभूति और उन्हीं का स्वरूप है, फिर उस का उपयोग करने में, उसी रूप में भगवान् का ध्यान करने में किसी प्रकार का पाप भला क्यों लग सकता है? यदि शास्त्रों और शास्त्रियों का, साधु महात्माओं और उन के उपदेशों प्रवचनों का कुछ भी प्रभाव श्रीकृष्ण पर पड़ा होता और वे जूए पासे को हानिकर, पापमयी, निन्दनीय वस्तु समझते, तो न तो वे 'द्यूतं छलयतामस्मि' की घोषणा करते, न जुआड़ी युधिष्ठिर का जूआ में खोया हुआ राज्य वापस दिलाने में किसी प्रकार की सहायता करते। परंतु उन्होंने दोनों ही किया, इस लिए जूआ खेलने में—पासा फेंककर दगा-बाजी के साथ दूसरों के धन का अपहरण करने में कोई दोष नहीं लग सकता। ठीक है, मैं मानता हूँ कि ऐसा उत्पथ ग्रहण करने का सिद्धान्त रखनेवालों की युक्ति और तर्कप्रणाली उचित ढर्रे पर चलाई गई है। परंतु मैं उन का ध्यान थोड़ा बहुत इस श्लोक के अन्य वाक्यों पर दिला देना चाहता हूँ। भगवान् ने छलियों में जूआ को अपना स्वरूप कहने के बाद अपने को तेजस्वियों का तेज, जीतनेवालों की जीत, दृढ निश्चयियों का निश्चय और सात्त्विकों का सत्त्व बतलाया है। क्या भगवान् के इन स्वरूपों पर तुम ने विचार किया है? यह सोचने का कष्ट उठाया है कि द्यूतस्वरूप होने के साथ ही भगवान् ने क्यों तेज, जय, निश्चय और सत्त्व की चर्चा की है? नहीं, तो अब से ध्यान दो और देखो कि इस में क्या भाव है। भगवान् के ऐसे कथन का यही अभिप्राय है कि जूआ खेलने की प्रवृत्ति रखने के साथ साथ अगर तुम में धर्मराज युधिष्ठिर की तरह तेज-प्रभाव है, संसारविजय की शक्ति है, निश्चयात्मिका धारणा है और सब के ऊपर सत्त्व गुण का समावेश है तब तो तुम्हें जूआ खेलते हुए भी भगवान् की सहायता पाने की आशा रखनी चाहिए, और नहीं, तो अपने को घोर छली, अतएव महापापी समझकर उस का अनिष्टकर परिणाम भोगने को सदा तैयार रखना चाहिए। क्या तुम में ये सब गुण हैं? युधिष्ठिर की तरह जूआ खेलते हुए भी तुम छल कपट से रहित हो? कोई भी कपटी जुआड़ी तेजस्विता धारण कर सकता है? दिग्विजय की बात जाने दो। मैं पूछता हूँ कि क्या कपटरहित होकर कोई जूआ में भी जीतने की आशा रखनेवाला आज मिल सकता है? क्या जूआ खेलते हुए पुलिस के हाथों गिरफ्तार होने की संभावना देखकर आज कोई जूआ खेलने के निश्चय पर दृढ रह सकता है? आज का जुआड़ी क्या युधिष्ठिर की भाँति सात्त्विक वृत्तिवाला बना रह सकता है? अवश्यमेव सब प्रश्नों का उत्तर आज के संसार से नकारात्मक ही मिलेगा। फिर किस साहस पर तुम जूआ खेलना निर्दोष कह सकते हो? किसी तरह नहीं कह सकोगे।

और अगर कोई यही माने कि 'द्यूतं छलयतामस्मि' इस वाक्य का श्लोक के अन्य भगवद्रूपों से कोई संबन्ध नहीं है, अपि तु यह वाक्य भगवान् के एक स्वतन्त्र (द्यूतमय) रूप का पृथक् ही परिचय करानेवाला है, तो भी इस का यह अर्थ नहीं है कि जूआ खेलना निर्दोष है; जूआ हर हालत में बुरी वस्तु है। कपटपूर्ण जूए की जीत में सब संसार का राज्य पा लेने पर भी अन्त में दुर्योधन की जो दशा हुई वह किसे नहीं मालूम है ? आज की दुनिया में भी इस तरह लोभ द्वारा मिले हुए धन वैभव से उत्पन्न दुष्परिणाम का प्रत्यक्ष प्रमाण आये दिन बराबर मिलता ही रहता है। तब भगवान् ने ऐसी बुरी चीज को अपना विभूतिमय रूप क्यों कहा ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि संसार में भला या बुरा ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं जो भगवान् के विराट् रूप में सर्वदा से समाया हुआ न हो, गंदी से गंदी और अच्छी से अच्छी सभी चीजें भगवन्मय हैं। इसी लिए भगवान् ने अपने परिचयप्रकरण में जड़ चेतन, उत्तम मध्यम, पशु पक्षी, असुर राक्षस, कोमल कठोर, अमृत विष आदि सभी तरह के पदार्थों और सत्त्वादि गुणों को अपना स्वरूप बतलाया और रजस्तमःप्रधान छलपूर्ण कार्यों में जूए को सर्वप्रधानता देकर उसे भी अपनी विभूतियों में परिगणित कर दिया। इस लिए सर्वसत्त्विप्रूप्य आज के विडम्बनामय वातावरण में रहनेवालों को भूलकर भी जूआ खेलना शास्त्रसंमत कार्य नहीं मानना चाहिए। परंतु जो लोग इतना समझाने बुझाने पर भी अपना हठ नहीं छोड़ते और जूआ खेलना आदि दुष्कर्म करके अपने को भगवत्स्वरूपोपासक ही मानना चाहते हैं उन को भरी सभा में उसी प्रकार लज्जित होना पड़ता है जैसे एक छोटे से युद्ध में छोटी सी जमींदारी जीतने के बाद अपने युद्ध और जीत को महाभारत का रूप देने तथा स्वयं धर्मराज की उपाधि धारण करने की इच्छा होने पर एक राजा को लज्जित होना पड़ा था। सुनो, यह एक छोटा सा, किंतु बड़ा ही सारगर्भ दृष्टान्त है।

बारह गावों का ताल्लुकेदार एक राजा था। बारहों गावों की आबादी काफी घनी थी और उन गावों में प्रायः क्षत्रिय और अहीरों की ही बहुलता थी। ब्राह्मण आदि कोमल ऋजु प्रकृतिवाली जातियाँ उन में बहुत कम, नहीं के बराबर, सिर्फ काम चलाने भर के लिए आधार थीं। वह राजा अपनी बाल्यावस्था में घटनाक्रम से कुछ सैनिकशिक्षा पा चुका था। पूर्वसंस्कारों के कारण प्रारम्भ से ही उस में सेनानायक, फौजदार, कैप्टन वगैरह बनकर नाम कमाने की प्रबल लालसा थी, पर दैवगति से असमय में ही पिता का देहान्त हो जाने से उस की अभिलाषाओं पर पानी फिर गया, उसे सब मनसूबों को मनसूबकर अपनी जमींदारी सँभालने के प्रपञ्च में पड़ जाना पड़ा। पिता की मृत्यु होते ही वह फौजी कवायद आदि की शिक्षा छोड़कर अपने घर चला आया। बहुत दिनों तक पूरी दिलचस्पी के साथ वह अपनी प्रजा की देख भाल करता रहा। इस से वह प्रजा के प्रेम का पात्र बन गया, विशेषतः क्षत्रिय

और अहीर जिन की उस के राज्य में बहुतायत थी, उस के लिए जान तक देने को तैयार रहते, उस के इशारों पर खून की नदी बहा देने की बातें कहा करते।

उस राजा की जमींदारी की जहाँ सीमा थी वहाँ एक छोटी सी पहाड़ी नदी बहा करती थी और उस के उस पार से ही एक दूसरे जमींदार की जमींदारी शुरू हो जाती थी। नदी पहाड़ी होने के कारण कभी कभी अपनी तटभूमि को इधर उधर कर दिया करती थी—किसी बरसात में इस पार अधिक किनारा छोड़ देती और किसी बरसात में उस पार। इस की वजह से उस पार के छोटे जमींदार और इस पार के राजा साहब में सीमा संबन्धी झगड़ा हर साल की साधारण बात हो गई थी।

उस पार का जमींदार जगह, जमीन, उपज, आबादी के खयाल से यद्यपि बहुत कमज़ोर था, पर उस के पास पूर्व पुरुषों का कमाया हुआ रुपया पैसा काफी था। इस लिए वह राजा के सामने अपने को न तो कमजोर समझता और न किसी बात में दबकर रहना चाहता। इस प्रकार धीरे धीरे दोनों में मनमोटाव बढ़ता जा रहा था, तथापि वह जमींदार किसी बात की पर्वाह नहीं करता था।

इधर राजा के चापलूस हर घड़ी अपने राजा को इस बात के लिए उसकाया करते कि वह आप की बराबरी का नहीं है, तो क्या हुआ, है तो आप का शत्रु ही। और नीतिकारों का कथन है कि शत्रु को छोटा समझकर उपेक्षा और लापर्वाही करना पीछे बड़ा दुःखदायी हो जाता है। इस लिए आप उसे एक दिन मार पीटकर ठिकाने क्यों नहीं लगा देते कि रहे बाँस, न बाजे बँसुरी। आप के शुभचिन्तकों और खिदमतगारों की कमी भी नहीं है कि आप को कुछ ज्यादा सोचना विचारना पड़े, इत्यादि। इस प्रकार नित्यप्रति भड़कानेवाली बातें सुनते सुनते राजा के मन में भी यह बात बैठ गई कि जब मेरे इतने अनुगामी अनुचर हैं, तो क्यों नहीं एक छोटी सी सेना तैयार करके उस के ऊपर चढ़ाई कर दूँ? आखिर वह सैनिक-शिक्षा जो हजारों रुपये खर्चकर प्राप्त की गई थी, किस काम आयेगी? यह विचार आते ही वह क्षत्रियों और अहीरों को धीरे धीरे अपना वेतनभुक्त नौकर बनाने लगा। महीने दो महीने में उस के इन नये नौकरों की संख्या लग भग बीस पचीस हजार हो गई। तब वह उन्हें फौजी ढंग से कवायद आदि सिखाने लगा, बहुत से देशी हथियार तीर कमान, बर्छी भाला, तलवार भुजाली वगैरह भी इकट्ठे कर लिये और उन के चलाने की शिक्षा भी देने लगा। उस के सैनिकों में लगन थी, केवल नौकरी के लिए उन्होंने राजा का साथ नहीं दिया था। फल यह हुआ कि कुछ ही समय में उस की सेना अपनी शक्ति भर युद्ध करने के लिए अच्छी तरह तैयार हो गई और एक दिन शुभ मुहूर्त देखकर रातो रात दुश्मन पर धावा कर बैठी।

उस पार का जमींदार इस प्रकार कान में तेल डालकर सोया पड़ा था कि राजा के सैन्यसंग्रह के संबन्ध में उसे आज तक बिल्कुल ही खबर नहीं लगी थी। एकाएक अँधेरा रहते ही जब उस के घर को घेरकर हजारों सिपाही भाला ताने हुए उस के सिर पर आ धमके तब वह भकचकाकर आँखें फाड़ फाड़कर सब का मुँह देखने लगा। सिपाहियों ने बिना लड़े भिड़े उसे गिरफ्तार कर लिया और हाथ पैर में हथकड़ी बेड़ी पहनाकर अपने राजा के सामने लाकर खड़ा कर दिया। शत्रु को विवश देखकर राजा की बाँछें खिल गईं। वह मूँछों पर ताव देता हुआ सिपाहियों से बोला—इस के घर का सब माल असबाब लूटकर अपने कब्जे में कर लो, घर के सब प्राणियों को ले चलकर कैदखाने में ठूँस दो और चारों ओर से मिट्टी का तेल छिड़ककर घर में आग लगा दो।

उस जमींदार ने पहले सोचा था कि ऐसे नीच राजा के आगे जो रात को छिपकर धावा करता और अपनी काली करतूतों के आगे डकैतों से भी बाजी मार ले जाता हो, मैं दया की भिक्षा माँगने के लिए मुँह नहीं खोलूँगा। भले ही वह मेरी बोटी बोटी काट डाले, पर मैं उस के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाऊँगा। लेकिन उस ने राजा के मुँह से सैनिकों के प्रति जब उपर्युक्त आज्ञा सुनी, तो उस के होश पैतरा हो गये, उस का निश्चय डिग गया। अपने परिवार और बाप दादे के जमाने के घर की दुर्दशा की कल्पना से वह चित्त को स्थिर नहीं रख सका। आखिर उस ने प्रार्थना की कि मुझे जो चाहे दण्ड दीजिए, पर मेरा सर्वनाश मत कीजिए, मेरे बाल बच्चों पर दया दिखलाइए, इत्यादि।

राजा ने कहा—यह तभी हो सकता है जब कि तुम एक शर्तनामा लिखकर यह स्वीकार करो कि आज से तुम और तुम्हारे खानदान के लोग मेरी रैयत हुए तथा जिस जमींदारी से तुम जमींदार बने फिरते हो उस के लिए साल में एक मुश्त पचास हजार रुपये नकद लगान दिया करोगे।

जमींदार ने बहुत प्रार्थना की कि इतना जुल्म न किया जाय, कुछ रियायत होनी चाहिए, पर उस की एक न सुनी गई। अन्त में हार मानकर उसे राजा की इच्छा के अनुसार ही सब कुछ लिखना पड़ा।

इस प्रकार सफल विजययात्रा से लौटकर राजा अपने को संसार में अभूतपूर्व और अद्वितीय पराक्रमी राजा ही नहीं, बल्कि सम्राट् समझने लगा। उस के मुसाहिब उसे और अधिक बढ़ावा देने लगे। इस का फल यह हुआ कि वह अब साक्षात् धर्मराज युधिष्ठिर बनकर डकैतों की भाँति जीते हुए युद्ध को महाभारत के युद्ध से समता देने लगा। अब उस के मन में एक नई लालसा उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा कि व्यास के लिखे महाभारत की तरह मेरे युद्ध को लेकर एक ग्रन्थ तैयार होना चाहिए जिस से मेरी कीर्ति कभी कम न होने पाये। मुसाहिबों

से राय मशविरा करने के बाद निश्चय हुआ कि काशी से कुछ चुने हुए विद्वान् बुलाकर उन्हें ग्रन्थ लिखने का काम सौंप दिया जाय। रुपये के लालच में पण्डित लोग सब तरह का ग्रन्थ-निर्माण और व्यवस्थाप्रदान कर सकते हैं।

आज्ञा की देर थी। बात की बात में अनेक विद्वान् आ पहुँचे। राजा ने उन्हें हुकुम दिया कि मेरे नाम एक नया महाभारत बनाना होगा जो व्यासरचित महाभारत से किसी तरह कम न हो। पण्डितों को युद्धयात्रा से लेकर विजयप्राप्ति तक का सब हाल बतला दिया गया। आज्ञा सुनकर पण्डित लोग बड़ी चिन्ता में पड़ गये। न 'हाँ' करते बनता, न 'ना' करते। यदि हाँ कर दें, तो लिखें क्या और किस तरह ? क्योंकि वह महाभारत धर्म का युद्ध था, साक्षात् श्री कृष्ण भगवान् उस के सञ्चालक थे। यह युद्ध घोर अधर्म से भरा हुआ है, न कोई युधिष्ठिर बनाने लायक है, न अर्जुन या भीम। और श्री कृष्ण की तो चर्चा ही कौन करे। और यदि ना कर दें, तो ऐसे अत्याचारी घमंडी राजा के यहाँ से जान को सही सलामत बचाकर अपने घर कैसे लौटें।

इसी सोच विचार में कई दिन बीत गये। एक दिन राजा ने पण्डितों से पूछा—कहिए, मेरे नाम के महाभारत की तैयारी में अब कितनी देर है ?

पण्डित लोग उत्तर क्या दें, यही सोचते रह गये।

राजा ने कहा—मालूम होता है, अभी नहीं बना। अच्छा, मैं और अवकाश (मोहलत) दे रहा हूँ, परंतु ध्यान रहे कि उस पुराने महाभारत से यह महाभारत बढ़ चढ़कर लिखा जाय।

आखिर फिर एक सप्ताह बीत गया, पर पण्डितों ने अभी तक सेवा में ग्रन्थ उपस्थित नहीं किया। राजा ने उन्हें दर्बार में हाजिर होने की आज्ञा दी। पण्डित लोग हाजिर किये गये। राजा ने फिर वही प्रश्न किया—ग्रन्थ में कितना विलम्ब है ? उत्तर के स्थान पर पुनः आकाशदर्शन।

राजा ने चिढ़कर कहा—क्यों जी, तुम लोग तो पण्डित हो, ग्रन्थरचना ही तुम्हारा मुख्य काम है। मैं कुछ बेगारी भी तो नहीं कराना चाहता ? फिर तुम लोग लिखते क्यों नहीं हो ? अच्छा, आज मैं माफ करता हूँ और फिर सात दिन का समय देता हूँ। यदि इतने दिनों में ग्रन्थ पूरा पूरा नहीं लिखा गया, तो फिर भगवान् भी तुम लोगों को मेरी कोपाग्नि से नहीं बचा सकते।

पण्डितों में एक कूटनीतिज्ञ भी थे। अब तक वे तरह देते आते थे। सोचते थे कि कदाचित् हम लोगों की चुप्पी देखकर राजा मूर्ख जानकर हमें छुट्टी दे देगा, पर आज की कठोर आज्ञा सुनकर उन का सोचना हवा हो गया। तब उन्होंने युक्ति से काम लेने का निश्चय किया

और कहा—श्रीमन् ! यद्यपि अभी हम लोगों ने लेखनी नहीं उठाई है, किंतु मन में सोच विचारकर सब कथानक (प्लाट) तैयार कर लिया है। यदि एक अड़चन न पड़ गई होती, तो अब तक कभी का लिखना प्रारम्भ हो गया होता और सो ही एक दिन में ग्रन्थ पूरा हो जाता।

राजा ने कहा—वह क्या अड़चन है और कैसे दूर होगी ?

पण्डितजी ने कहा—एक पात्र के सम्बन्ध की अड़चन है। वह आप से पूछकर ही दूर हो सकती है।

राजा ने कहा—तब अब तक आप लोगों ने पूछा क्यों नहीं ? मैं कहीं चला तो गया नहीं था ?

पण्डितजी ने कहा—जी,''''''वह''''''वह कुछ ऐसी बात है जिस के पूछने में हम लोगों को संकोच हो रहा था और अब भी साहस नहीं हो रहा है।

राजा ने कहा—वाह, ग्रन्थ के संबन्ध में जब तक आप लोगों को मेरी सब बातें नहीं मालूम हो जायँगी तब तक आप लोग उसे पूरा कैसे कर सकेंगे ? फिर ऐसी आवश्यक बात, चाहे वह कितनी ही गुप्त क्यों न हो, उसे पूछने में सकोच करने से कैसे काम चल सकेगा ! आप निर्भय होकर अपनी अड़चन दूर कर लें। संकुचित होने की कोई जरूरत नहीं।

पण्डितजी ने कहा—वाह, राजा को ऐसी ही बुद्धिमानी शोभा देती है। अच्छा श्रीमन्, अब कृपाकर यह बतला दें कि महाभारत के पाँच युद्धनायकों (पाण्डवों) की एक द्रौपदी ही नायिका थीं और वे ही उस ग्रन्थ की सर्वोपरि मुख्य पात्रा थीं। इस लिए इस महाभारत में भी वैसी ही प्रधान पात्रा की आवश्यकता पड़ेगी ही। तो उस के स्थान पर क्या आप की श्रीमतीजी का नामोल्लेख किया जा सकता है ? यदि हाँ, तो उन के कितने पति हैं और उन पतियों के नाम क्या क्या हैं ? बस, इतनी बात बतला दीजिए, तो सात दिन के भीतर ही ग्रन्थ पूरा कर दिया जायगा।

राजा ने लज्जा के मारे सिर नीचा करके कहा—नहीं, नहीं ! रहने दीजिए, रहने दीजिए !! मुझे ऐसे महाभारत की कोई जरूरत नहीं है। मन्त्रीजी, आप इन पण्डितों को यथेष्ट दक्षिणा देकर विदा कर दीजियेगा। मैं एक जरूरी काम से महल में जा रहा हूँ।

मन्त्री भी मसखरा आदमी था। उस ने कहा—हुजूर, इन लोगों को विदा करके क्या दूसरे पण्डित बुलाने होंगे ?

राजा ने जाते जाते बिगड़कर कहा—क्या बक बक करते हो। मैं ने कह दिया न कि मुझे अब ग्रन्थ लिखवाना ही नहीं है।

इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि भगवान् की बराबरी भगवान् होकर ही की जा सकती है। भगवान् के कुछ चुने हुए वाक्यों का भ्रमपूर्ण अर्थ लगाकर यदि कोई उन के

समान बर्ताव करने का साहस करेगा और कहेगा कि मैं भगवान् के कथनानुसार आचरण कर रहा हूँ, तो वह केवल अवहेलना, लोकनिन्दा और लज्जा का ही पात्र बनेगा जिस से हानि के सिवा लाभ हो नहीं सकता। इस लिए जूआ को भगवान् का रूप मानकर जुआड़ी बनने की कल्पना भी मन में नहीं लानी चाहिए। जूआ का रूप धारण करके भी लोकपूज्य होना भगवान् की ही शक्ति का कार्य है; दूसरा कोई उस से संयुक्त होकर पाप का ही भागी होगा। इसी प्रकार तेजस्विता, विजयशीलता, निश्चयात्मकता और सात्त्विकता आदि भी साक्षात् भगवान् के ही रूप हैं। जिन पुरुषों में ये गुण हों उन्हें भगवान् का विशेष कृपापात्र समझना चाहिए। पर यह भी ध्यान रहे कि इन गुणों को धारण करनेवालों को कभी अभिमान नहीं करना चाहिए, अन्यथा उलटा ही फल मिलेगा। अलबत्ता यह आवश्यक है कि इन गुणों का समावेश होने पर अपने ऊपर भगवान् की दयादृष्टि का अनुभव करते हुए सर्वदा उन का कृतज्ञ रहना चाहिए और बार बार प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभो, मुझे ऐसी शक्ति दो जिस से अधिकाधिक इन गुणों का संग्रह कर आप का अनुग्रह प्राप्त कर सकूँ। अस्तु;

ध्यान देकर सुनो कि अब भगवान् अर्जुन को किस रूप में अपना परिचय दे रहे हैं। वे कहते हैं कि—

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णि के वंशजों में मैं वासुदेव, पाण्डु के पुत्रों में धनंजय, मुनियों में महामुनि व्यास और कवियों में उशना कवि हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, वृष्णिवंशी क्षत्रियों में मैं वसुदेव का पुत्र भगवान् वासुदेव हूँ। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि पाँच पाण्डवों में सर्वगुणसंपन्न साक्षात् नर का अवतार धनंजय अर्थात् तूँ जो अर्जुन है वही हूँ मैं। मुनियों में सर्वश्रेष्ठ मुनि वेदव्यास हूँ और कवियों अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वज्ञों में उशना कवि—दैत्यगुरु कवि शुक्राचार्य भी मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अब तक भगवान् ने अपनी विभिन्न विभूतियों के संबन्ध में अर्जुन से कहा। अब वे यह बतला रहे हैं कि इन विभूतिमय सत्ताओं द्वारा जिन परब्रह्म परमात्मा के व्यापक स्वरूपों का वर्णन मैं ने किया है वे मुझ वासुदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। परब्रह्म ही इस समय वसुदेव के पुत्ररूप में अवतरित होकर अर्जुन के सखा हुए समरक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) में अपना परिचय दे रहे हैं, इस में किसी तरह का संदेह न रह जाय, यही जताने के लिए भगवान् ने कहा कि यदुवंशियों में वासुदेव भी कृष्ण परमात्मा हूँ।

जिन निराकार अव्यक्त, अगोचर परमात्मा की विभूतियां हाथी, घोड़े, नदी, पर्वत, सर्प, असुर, दैत्य, देवता, ऋषि, महर्षि, देवर्षि आदि बतलाये गये हैं वे ही अर्जुन के सामने अपनी साकारता सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि मैं ही वसुदेव का पुत्र हूँ।

भगवान् पाँच पाण्डवों में अर्जुन को अपना रूप बतला रहे हैं। यद्यपि धर्मराज युधिष्ठिर ही पाण्डवों में सब से ज्येष्ठ, भगवान् के परम भक्त और उच्च कोटि के धर्मात्मा भी हैं, फिर भी अर्जुन को ही पाण्डवों में सर्वश्रेष्ठता का पद मिला हुआ है। इस का कारण भी प्रत्यक्ष ही है। अर्जुन भगवान् के परम सुहृद् हैं, यह बात भगवान् स्वयं स्वीकार कर चुके हैं—

'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।'
'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।'
'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' इत्यादि।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भगवान् अर्जुन को पाण्डवों में सब से श्रेष्ठ मानते थे। अर्जुन भगवान् के अनेक अवतारों के सखा थे। नर नारायण अवतार के समय अर्जुन नररूप में अवतरित हुए थे। इसी लिए भगवान् ने पाण्डवों में अपने को श्रेष्ठतम अर्जुन कहा।

वेदव्यासजी का नाम ही महामुनि है। वे मुनियों में सब से बड़े मुनि माने गये हैं। भगवान् के चौबीस अवतारों में उन की गणना भी है। उन्होंने ही वेदों का संकलन किया है। 'मनन करनेवाले को मुनि कहते हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के सब से बड़े मननशील वेदव्यास ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि सब वेदों का अतिशय मनन करने से ही महाभारत सरीखा बृहद्ग्रन्थ निर्मित हुआ, अठारह पुराणों की रचना हुई, और भी अनेकानेक शास्त्र बने; और यह सब किया वेदव्यासजी ने। वेदव्यासजी की सर्वज्ञता और दिव्यदृष्टि के बारे में सब को मालूम ही है। उन्होंने ही संजय को दिव्यदृष्टि दी थी, धृतराष्ट्र को युद्ध का भावी फल पहले ही बतला दिया था। तभी तो वे महामुनि कहे जाते हैं और इसी लिए भगवान् ने भी कहा है कि मैं मुनियों में व्यास मुनि हूँ।

शुक्राचार्यजी कवियों में सब से बड़े कवि माने गये हैं, उन का एक नाम ही कवि है। अमरकोश में उन के नामों की गिनती करते हुए लिखा गया है—

'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः।'

शुक्राचार्य भृगु महर्षि के पुत्र हैं, उन के समान सकलशास्त्रपरिज्ञाता दूसरा कोई नहीं है, वे अनेक गुप्त विद्याओं के जाननेवाले अद्वितीय विद्वान् हैं। भगवान् महर्षि भृगु को पहले अपना स्वरूप बतला चुके हैं। फिर उन के सर्वगुणयुक्त विद्वान् पुत्र की कवित्वशक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए उन्हें अपना ही स्वरूप कहना ठीक ही है। अस्तु;

और सुनो कि भगवान् क्या क्या कहकर अपना अग्रिम स्वरूप बतला रहे हैं।

वे कहते हैं—

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दमन करनेवालों का दण्ड हूँ मैं, विजय की इच्छा रखनेवालों की निति हूँ, गुह्यों में मौन हूँ और ज्ञानियों का ज्ञान भी मैं ही हूँ।

गो० गी०—हे अर्जुन, जिन लोगों को दुष्टों का दमन करने का काम मिला हुआ है उन में जो दमन करने की, दण्ड देने की शक्ति है वह मेरी ही विभूति है। देशविजय की इच्छा से युद्धादि करनेवालों की राजनीति अथवा न्यायाधिकार मेरी ही शक्ति है। गुप्त रखने योग्य बातों में मौन (चुप रहना) मेरा ही स्वरूप है और ज्ञानियों की ज्ञानमात्रा मैं ही हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, संसार में कुछ ऐसे भी जड़बुद्धि जीव होते हैं जिन के साथ शम का व्यवहार करने से काम नहीं चलता। उन दुष्टों को सीधा करने के लिए दण्ड देना ही पड़ता है। इन दुष्टों को यदि भय दिखलाकर, बलपूर्वक नीचे दबाकर न रखा जाय, तो संसार में विश्रृङ्खला फैलने लगती है। ऐसे मौके पर प्रभावशाली व्यक्ति, राजा महाराजा आदि, जो दण्ड की व्यवस्था करते हैं वह दण्डव्यवस्था भगवान् की ही शक्ति है। किंतु मूर्खजन उसे अपनी ताकत समझकर अपने लिए अध पतन का बीज बोते हैं। जो बुद्धिमान् हैं वे ऐसा नहीं करते। वे सर्वदा यही खयाल रखते हैं कि भगवान् ने दया करके मुझे शासन का कार्य सौंपा है, इस लिए न्यायपूर्वक, उचित रीति से मुझे इस कर्तव्य का पालन करना चाहिए और भगवान् से मनाते रहना चाहिए कि दण्ड का कहीं दुरुपयोग न होने पाये अर्थात् निरपराध को दण्ड न मिल जाय। ऐसा सोचकर शासनकार्य चलानेवाले की शक्ति कभी घटने नहीं पाती, प्रत्युत दिन दिन बढ़ती ही जाती है। ऐसी ही दण्डनीति को भगवान् ने अपनी विभूति कहा है।

इसी प्रकार विजय की कामना रखनेवालों को भी साम, दाम, दण्ड आदि नीतियों से काम लेना पड़ता है। भगवान् राम को जब रावणविजय की इच्छा हुई और समुद्र उस पार लङ्का में जाने के लिए वे समुद्र से रास्ता देने की प्रार्थना करने लगे, तो मूर्ख समुद्र ने उन की बात अनसुनी कर दी। तीन दिन रामजी बैठकर प्रतीक्षा करते रह गये कि अब समुद्र रास्ता देता है, अब देता है। अन्त में जब उन्होंने देखा कि इस तरह काम नहीं चलेगा तब नीति का सहारा लिया और समुद्र को सुखा डालने का भय दिखलाया। समुद्र को जब अपने अस्तित्व में संदेह हुआ तब उस ने प्रकट हो हाथ जोड़कर कहा—प्रभो, क्षमा करें। मैं अब रास्ता देने में आना कानी नहीं करूँगा, इत्यादि। इसी प्रसंग को लेकर तुलसीदासजी ने लिखा है कि—

'विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, बिनु भय होय न प्रीति॥'

यही राजनीति है और ऐसी आवश्यक नीति को ही भगवान् ने अपनी विभूति स्वीकार किया है।

नीति का एक अर्थ न्याय भी होता है। प्राचीन भाष्यकारों (श्री शंकराचार्य प्रभृति) ने यहाँ नीति का न्याय ही अर्थ लिया है। तदनुसार यह अभिप्राय समझना चाहिए कि जहाँ सच्चा न्यायकारी शासन होता है वहाँ भगवान् अपने स्वरूप से विराजमान रहते हैं। अनीति अर्थात् अन्याय का बर्ताव करनेवाला राजा कभी चिरस्थायी शासन नहीं कर सकता। रावण कंसादि इस के प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। इस अर्थ के अनुसार भी उपर्युक्त राम और समुद्र का उदाहरण सच्चे न्याय का उदाहरण है। विजय प्राप्त करना आवश्यक था, क्योंकि वह कार्य देवताओं का कष्ट दूर करने के लिए ही भगवान् राम ने अपने हाथ में लिया था। उन्होंने प्रार्थना से काम लेना चाहकर यथोचित न्याय का पालन किया। इसी से उन को विजय भी मिली ही।

मौन रहना ही गुप्त बातों की रक्षा का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बक बक करते रहनेवाले को कोई भी बात गुप्त नहीं रह सकती, कभी न कभी अवश्य प्रकट हो जाती है। और अगर आदमी कभी बोलेगा ही नहीं, तो अनायास ही उस के सब भाव छिपे रह जा सकते हैं। इसी लिए भगवान् ने मौन को ही गोप्यों में अपना स्वरूप कहा।

ज्ञानवानों का ज्ञान तो ब्रह्मविषयक प्रसिद्ध ही है। ज्ञानी लोग भगवान् का तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके ही ज्ञानी कहलाने के योग्य बनते हैं। भगवान् के ज्ञान से बढ़कर और किसी भी विषय का ज्ञान संसार में है ही नहीं। इस लिए इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है कि ज्ञानियों में भगवान् ही ज्ञानस्वरूप होकर विराजते रहते हैं। अस्तु;

भगवान् संक्षेप में अपनी विभूतियों का परिचय देकर अब सूत्ररूप में अपनी सर्वव्यापक विभूति का ज्ञान कराते हुए अर्जुन से कह रहे हैं कि—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन, सब प्राणियों की उत्पत्ति का जो कुछ भी मूल कारण है वह मैं ही हूँ। ऐसा कोई चर अचर जीव नहीं है जो मेरे विना हो।

गी० गौ०—हे अर्जुन, सृष्टि में चर अथवा अचर जो कोई भी जीव हैं वे सब मुझ से ही उत्पन्न हुए हैं, मैं समस्त प्राणियों के उत्पन्न होने में प्रधान कारण

हूँ। ऐसा कोई जीव संसार में है ही नहीं जो मुझ से पृथक् रहकर जन्म धारण कर सके और ब्रह्माण्ड भर में कहीं भी अपनी सत्ता स्थिर रख सके।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, भगवान् ने अपना परिचय अपनी समझ के अनुसार बिलकुल संक्षेप में दिया है। बात ठीक है। परंतु जो बात भगवान् की समझ में संक्षिप्त है वह क्या सर्वसाधारण के लिए भी वैसी ही हो सकती है? आह, यदि ऐसा होता तब तो किसी के भी भवसागर पार कर लेने में कोई कठिनाई ही नहीं रह जाती। भगवान् की कही हुई ये मुख्य मुख्य बातें भी पूर्ण रूप से हृदय में धारण करने लेनेवाले लोग संसार में कितने हैं? बहुत ही कम, नहीं के बराबर। इस बात को भगवान् भी जानते हैं, उन से संसार की असमर्थता छिपी नहीं है। उन्हें भली भाँति ज्ञात है कि मेरे इन विभूतिमय रूपों का वर्णन सुनकर लोग किस तरह इन का उपयोग करेंगे और किस रूप में मेरा ध्यान भजन करेंगे। इसी लिए तो उन्होंने पहले ही कह दिया है कि हजारों में कोई ही एक आध मुझे जानना चाहते हैं और उन में चाहनेवालों में भी कोई ही भाग्यशाली ठीक ठीक मुझे जान पाता है (अ० ७, श्लो० ३)।

यही कारण है कि अपनी विभूतियों का संक्षेप करके परिचय देने के बाद उन्होंने उस में से भी सारांश बतलाना आवश्यक समझा और सूत्ररूप में कह दिया कि हे अर्जुन, तू यही समझ ले कि मुझ से रिक्त कुछ है ही नहीं, मैं ही समस्त ब्रह्माण्डगत प्राणियों का आदि-कारण अर्थात् अनादि पिता हूँ। राई से लेकर पर्वत तक और आकाशादि ऊर्ध्वोर्ध्व लोकों से लेकर पातालादि अधोऽधोलोकपर्यंत समग्र पदार्थों में मेरी ही विभूति देखा कर। इस के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है जिस से तू मेरी समग्र विभूतियों का पृथक् पृथक् परिचय और ज्ञान प्राप्त कर सके।

इस पर अर्जुन ने पूछा—प्रभो, ऐसा क्यों कहते हैं? क्या अब संक्षेपतः मुख्य मुख्य विभूतियों का परिचय देने में भी आप का जी ऊब रहा है अथवा अब तक जितना कह चुके उतनी ही विभूतियाँ हैं ही?

भगवान् ने कहा—नहीं नहीं अर्जुन! ऐसी बात नहीं है। मैं कभी किसी बात से उद्विग्न होना तो जानता ही नहीं हूँ और न मेरी विभूतियों का वर्णन ही समाप्त हो गया। फिर भी मैं सारांश बतलाकर अब परिचय देना जो बंद कर रहा हूँ उस का कारण यही है कि—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह विभूतियों का विस्तार तो मैं ने केवल दिग्दर्शन के रूप में कहा है।

गी० गौ०—हे शत्रुओं को ताप पहुँचानेवाले अर्जुन, मेरी दिव्यगुणयुक्त विभूतियों के विस्तार की कहीं सीमा नहीं है। मेरी विभूतियाँ अनन्त और असीम हैं। और यह यदि कहे, कि तब फिर जो कुछ भी विस्तृत वर्णन अब तक मैं ने सुनाया है उस की ही क्या आवश्यकता थी? पहले ही सारमात्र ही क्यों नहीं कह दिया, तो इस का कारण यही है कि सब नहीं, तो कम में कम आंशिक रूप में मैं ने अपने विभिन्न रूपों का तुझे दिग्दर्शन करा देना चाहा है। इस लिए तू न तो यह समझ कि मेरी विभूतियाँ इतनी हैं ही और न यही विचार कर कि सब का पूर्ण परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, जिस प्रकार कोई मनुष्य लाखों जन्मों के सतत प्रयत्न द्वारा भी आकाश में दिखलाई पड़नेवाले नक्षत्रों की गिनती नहीं कर सकता, किसी के शरीर के रोमकूपों की संख्या नहीं बतला सकता और न पृथिवी आदि के परमाणुओं की इयत्ता बतला सकता है वैसे ही भगवान् की विभूतियों की परिगणना भी सर्वथा असम्भव कार्य है। भगवान् की साधारण लौकिक विभूतियाँ तो असीम हैं ही, उन की दिव्य अर्थात् खास खास, चुनी हुई, सर्वोत्कृष्ट, देवलोक सम्बन्धी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस में आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। कारण जब कि भगवान् के लीलास्थल अनेकानेक ब्रह्माण्डों का ही देवताओं और ऋषियों मुनियों ने पता लगाते लगाते थककर उन की संख्या अनन्त मान ली और अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली, तो यह तो स्वाभाविक ही है कि भगवान् की विभूतियाँ गिनने के मान की न हों। एक एक ब्रह्माण्ड में ही न जाने कितनी कितनी भगवद्विभूतियों का समावेश है, ऐसी दशा में अनन्त ब्रह्माण्डों की अनन्त विभूतियों का पारावार न मिले, तो क्या आश्चर्य करने की बात हो सकती है? नहीं, इस में आश्चर्य करना व्यर्थ है, आश्चर्य करने और भौचक्का होकर चुपचाप खड़े रहने से कोई लाभ नहीं। इस लिए उत्तमता और औचित्य इसी में है कि अनन्त विभूतिमान् भगवान् को अनन्त महिमामय मानकर उन में अपनी श्रद्धा और विश्वास को भी अनन्त के रूप में स्थापित कर दे तथा अपने आप को अनन्य भगवद्भक्त बनाने की चेष्टा करते हुए सब प्रकार से सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर प्रभु के चरणों में लीन किये रहे।

अर्जुन जैसे पूर्ण अधिकारी और सर्वाधिक कृपापात्र को स्वयं भगवान् ही जब विस्तार के साथ अपने स्वरूपों का ज्ञान नहीं करा सके और स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लिया कि मैं अपनी विभूतियों और स्वरूपों का तुझे दिग्दर्शनमात्र करा सका हूँ, पूरा पूरा उन का वर्णन कर सकना असम्भव है, तब फिर हम मनुष्यों के लिए तो उनके स्वरूपों और विभूतियों का जानना भी साधारण काम नहीं है जितना कि उन्होंने अर्जुन को बतलाया है। भगवान् के बतलाये हुए इस विभूतियोग को बड़े बड़े ज्ञानी महात्मा भी ठीक तरह से नहीं जान सके हैं, अतएव वे

उन को केवल ध्यान में रखने की यथासाध्य चेष्टा करके ही भगवान् के भक्त बने रहते हैं और हृदय में अटल विश्वास रखते कि यदि इतना भी हो सका, तो दयालु भगवान् कभी न कभी हमें अपना सान्निध्य प्रदान करेंगे ही। भगवान् भी यथायोग्य उन की आशा सफल करते ही रहते हैं। अतः तुम भी भगवान् की मुख्य मुख्य विभूतियों में से जिस किसी भी विभूति को जितने अंशों में हृदयंगम कर सको उतने को भी यदि अपनी भक्ति का आधार और आश्रय बनाये रख सकोगे, तो निश्चय मानो कि तुम्हारे भवसागर पार करने में कोई संदेह नहीं रह जायगा। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे परंतप अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह जो कुछ विभूतिविस्तार मैंने तुझे सुनाया है वह तो मेरी अनन्त विभूतियों में से मुख्य मुख्य का ही केवल दिग्दर्शनमात्र है, तब अर्जुन ने कहा—हे भगवन्, यह तो मेरे लिए बड़ी ही असमर्थता का द्योतक परिचय हुआ, क्योंकि जब यह निश्चय है कि जितना विभूतिवर्णन आप ने किया है उस के अतिरिक्त भी आप की लौकिक और दिव्य विभूतियाँ अवशिष्ट हैं, तो यह भी निश्चित ही है कि आवश्यकतानुसार उन विभूतियों में से भी कोई न कोई विभूति जब तब संसार की भलाई के लिए यहाँ अवश्य प्रकट हो जाती होगी। ऐसी दशा में मैं यदि उस विभूति को पहचानना और उसे आप का स्वरूप समझना चाहूँ, तो किस प्रकार पहचानूँगा और उस में आप का ध्यान करूँगा?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, इस के लिए तूँ चिन्ता मत कर। मैं तुझे एक ऐसा सरल सुगम उपाय बतलाये देता हूँ जिस के द्वारा तूँ जहाँ कहीं भी मेरा विभूतिमय स्वरूप देखेगा, तुरंत पहचान लेगा कि हाँ, यह भी कृष्ण परमात्मा का ही स्वरूप है। सुन—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ ४१॥

जो जो वैभवसंपन्न, श्रीयुक्त अथवा प्रभावशाली पदार्थ है उस उस को तूँ मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, संसार में जहाँ कहीं, जो कोई भी विभव और ऐश्वर्य से परिपूर्ण, अकथनीय मनोहर शोभा से युक्त और अपने शक्ति सामर्थ्य से अनायास ही प्रभावित कर देनेवाली अतिशय शक्तिमती वस्तु तुझे दिखाई देती है (अथवा भविष्य में कभी दिखलाई दे), ऐसी ऐसी प्रत्येक वस्तु को देखकर तूँ यही समझ कर कि यह वस्तु साक्षात् परमात्मा के ही तेजस्वी अंश से उत्पन्न हुई है अर्थात् यह भगवान् की ही भू विति है।

क० म०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, यह श्लोक प्रत्यक्ष रूप से यद्यपि यही भाव प्रकट कर रहा है कि भगवान् अपनी व्यापकता का परिचय दे रहे हैं—कोई भी स्पृहणीय वस्तु मेरी शक्ति से खाली नहीं है, यही बतला रहे हैं, परंतु इस श्लोक में अप्रत्यक्ष रूप से जो एक महान् गूढ़ भाव भरा हुआ है उस पर तुम्हें विशेष ध्यान देना चाहिए। वह गुप्त गूढ़ भाव क्या है, जानते हो ? वह है अहंकारत्याग का, मिथ्या अभिमान से मुक्त होने का जबरदस्त उपदेश।

संसार में जो धनी हो जाता है, जिसे राज पाट रहता है, किसी प्रकार के सुख का जिसे अभाव नहीं रहता जो सुन्दरता के कारण दर्शनीय हो उठता है, जिस के बल पौरुष के आगे लोग सिर झुकाने लगते हैं वह गर्व के मारे जमीन पर पैर नहीं रखता, किसी से सीधे मुहँ बात नहीं करना चाहता, दरिद्र, दुखी, कमजोर, कुरूप को देखकर उस पर हँसता है, घृणा करता है और उस की ओर दृष्टि डालने में अपनी हीनता समझता है। वह सोचता है कि मैं ने अपने उद्योग और पुरुषार्थ से धन, वैभव, ऐश्वर्य एकत्रित किया है, मैं ने पूर्वजन्म में बड़े बड़े कष्ट सहकर भी अपनी तपस्या को खण्डित नहीं होने दिया था, इसी लिए इस जन्म में मुझे सुन्दरता मिली हुई है, मैं अपने परिश्रम और प्रयत्न से विद्या, बुद्धि, बल, सामर्थ्य का संग्रह करके लोगों पर प्रभाव डालने के योग्य हुआ हूँ। मेरे इन गुणों में किसी दूसरे का कुछ भी एहसान नहीं है। भगवान् ने कुछ अपनी ओर से दया करके यह सब सुख संपत्ति, ऐश्वर्य प्रभुत्व नहीं प्रदान किया है। यदि मैं अपने गुणों से इन वस्तुओं को प्राप्त करने का अधिकारी न हुआ होता, तो भगवान् क्या वैसे ही ऐसी कृपा दिखलाते ? वे सभी पर ऐसी दयालुता क्यों नहीं प्रकट करते ? इसी लिए तो कि सब लोगों ने मेरे जैसे अध्यवसाय द्वारा वैसी योग्यता का संपादन नहीं किया है ? फिर यह सब मेरा निजी पुरुषार्थ नहीं, तो और क्या है ?

इन विनाशकारी भावनाओं को दूर करने के लिए ही भगवान् ने कहा है कि संसार का समस्त धन, वैभव, रूप, गुण, शक्ति, सामर्थ्य, प्रभाव, पराक्रम मेरे ही तेज से है, मेरा ही है। मैं ही उस के सब प्रकार के उपयोग का अधिकार रखता हूँ। इस लिए उसे भूलकर भी अपनी शक्ति से उपार्जित मत समझो, मेरा कृतज्ञ बनो, मेरी कृपा से प्राप्त समझो; क्योंकि ऐसा न समझने से अगर कहीं मैं उस में से अपनापन निकाल लूँ, तो तुम कहीं के न रह जाओगे। यह सब वैभव, शोभा और प्रभाव तभी तक है जब तक मैं ने अपने तेज का अंश उस उस में निहित कर रखा है। मेरे तेज का अंश मेरे कहने में है। उसे मैं जब जहाँ चाहूँ वहाँ हटा बढ़ा सकता हूँ। इस लिए ऐसा मत करो कि मेरी अकृपा का असत्य अनुभव करना पड़े। ('असत्य अनुभव' इस लिए कि वहाँ वहाँ से भगवत्तेजोंऽश तो हटे बढ़ेगा तुम्हारी अकृतज्ञता के कारण, फिर भगवान् को अकृपा करने का दोष देना असत्य नहीं, तो और क्या है ?)

अभिप्राय यह कि संसार का समस्त विभूतिमान्, शोभावान् और प्रभाववान् पदार्थ भगवान् के तेजोमय अंश से है, इस लिए उसे आप अपना नहीं, अपितु भगवान् और भगवान् का समझो। देखो, आग में तपाया हुआ लोहा बिल्कुल आग जैसा ही रूप धारण कर लेता है। परंतु उस का यह रूप कितनी देर के लिए है? जब तक आग का प्रभाव है उस पर उतनी ही देर के लिए। आग का प्रभाव हटते ही वह फिर काले का काला लोहा ही रह जाता है। अब अगर मान लो कि लोहा आग से लालिमा पाने के बाद उस लालिमा को अपना गुण समझे और आग को कुछ गिने ही नहीं, तो उस को यह समझ कितनी देर उसे मर्योन्मित्त किये रह सकती है? स्पष्ट है कि जब तक अग्नि और लोहखण्ड का परस्पर संमिलन, एकात्मकता का भाव है तभी तक। अग्नि से अलग होने पर लोहे की अग्निस्वरूपता और दाहकता घड़ी आध घड़ी भी नहीं टिकी रह सकती। इसी तरह वैभवयुक्त, शोभायुक्त और शक्तियुक्त पदार्थों में तभी तक वैभव, शोभा, शक्ति का योग है जब तक भगवान् इन पदार्थों के साथ अपने तैजस अंश का स्वेच्छा से सहयोग रखे हुए हैं।

यह सहयोग दो प्रकार का होता है—एक चिरस्थायी और दूसरा आवेशिक अर्थात् अल्पस्थायी। हीरा, सोना, मणि, माणिक्य आदि की चमक दमक, नमक का खारापन, अग्नि की दाहकता, जल की शीतलता इत्यादि इत्यादि भगवान् की उन में चिरस्थायी विभूतियाँ हैं। लोहे में दाहकता अथवा जल में उष्णता, शान्त और गम्भीर प्रकृति के महापुरुषों में क्रुद्धता, दुर्जनों में सुशीलता गम्भीरता आदि आदि आवेशिक अर्थात् थोड़ी देर ठहरनेवाली विभूतियाँ हैं। आवेश का अर्थ है किसी अन्य रूप गुणवाली वस्तु में अन्य प्रकार के रूप गुण का समावेश हो जाना—घुस पड़ना। लोहा स्पर्श में ठंडा और रूप में काला है। आग के गुणों से प्रभावित होकर, अग्नि के अंशों के घुस पड़ने पर वह गरम और लाल हो जाता है। जल के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि अग्नि के शुभ्र रूप की भाँति उस का भी शुभ्र रूप है। इस लिए वह अग्निसंयोग से केवल गरम होकर रह जाता है। किसी दुर्बल असमर्थ पर अत्याचार बलात्कार आदि होते देखकर शान्त गम्भीर पुरुषों को भी जोश आ जाता है। सत महात्माओं के अतिशय संपर्क से दुर्जनों में भी सुशीलता आ जाती है। बाद में उन उन के प्रभावों से पृथक् होने पर आवेश का अभाव हो जाता है, सब अपनी अपनी प्रकृति में आ जाते हैं। अस्तु;

ये बातें ऐसी हैं जिन का विवेचन करने लगा जाय, तो जीवन भले ही समाप्त हो जाय, पर इन का अन्त नहीं मिल सकता। इस लिए यही उत्तम होगा कि सब प्रकार के प्रपञ्चों में पड़ना छोड़कर एकमात्र भगवद्वाक्य पर ही पूर्ण विश्वास कर लो और सब तरह से इन्हीं के होकर इन को ही सर्वत्र देखो और इसी में आनन्द प्राप्त करो। अस्तु;

इसी लिए भगवान् भी अर्जुन से यह कहकर कि संसार में जो भी वैभवसम्पन्न, श्रीयुक्त अथवा प्रभावशाली पदार्थ है उस उस को तूँ मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न समझ, अब आगे के श्लोक में उसे उपदेश दे रहे हैं कि—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा हे अर्जुन, तुझे इतना अधिक जानकर क्या करना है? मैं इस अखिल जगत् को एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ।

गी० गौ०—हे अर्जुन, यों बतलाने के लिए तो तेरे पूछने पर, मैं ने बहुत बतलाया अथवा फिर पूछ, तो और भी बहुत बतला सकता हूँ, परन्तु यह सब बहुत ज्यादा विस्तार जानकर तेरा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा,सो मैं नहीं समझ रहा हूँ। इस लिए थोड़े में तूँ यही समझ ले कि मैं इस निखिल ब्रह्माण्डजगत् को अपने एक अंशमात्र से व्याप्त कर अथवा यों कह कि विशेष रूप से धारण करके बैठा हुआ हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, भगवान् की महिमा, उन की शक्ति, उन का तेज, प्रभाव, बल, पराक्रम कितना महान् है इस का अंदाज लगाना भी मनुष्य की शक्ति के बाहर है, क्योंकि उन के एक ही अंश की शक्ति से जब यह अनन्त ब्रह्माण्डोंवाली सृष्टि धारित है, तो उन के सपूर्ण अंशों की क्या महिमा है, यह वे ही जान सकते हैं। एक ब्रह्माण्ड के एक छोटे से कोने में पड़े हुए भारतवर्ष की ही तमाम बातों का जानना जब साधारण हँसी खेल का विषय नहीं है, ऐसी हालत में सारे संसार की बातों के जानने की साहसपूर्ण इच्छा करना तो अलग रहे, उस के सम्बन्ध में थोड़ा सा विचार करने पर भी दिमाग चकराने लगता है। आज तक ऐसा कोई जीव न तो उत्पन्न हुआ और न भविष्य में ही उत्पन्न होने की संभावना है जो यह दावा कर सके कि मैं ने अनन्त ब्रह्माण्डों को देख और जान लिया। आठवें अध्याय के छठें श्लोक के कथाप्रसंग में भरत की कथा कही जा चुकी है। उस कथा में दिखलाया गया है कि तपस्या से वरदान प्राप्त कर समस्त ब्रह्माण्ड देखने की इच्छा करने पर भी ब्रह्माण्डों का अन्त नहीं मिला, उलटे हुआ यह कि उसे अपना शरीर ही उद्वेगकर प्रतीत होने लगा और उस ने अपनी इच्छा से हार मानकर प्राण छोड़ दिया। फिर उन ब्रह्माण्डों के परे रहनेवाले भगवान् की ओर उन के शक्ति सामर्थ्य को जानना तो बड़ा ही दुरूह कार्य है, बिना भगवान् की कृपा के यह कार्य किसी से सम्पन्न नहीं हो सकता।

भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए कृपापात्र बनना, कृपा पाने का अधिकारी होना सर्वप्रथम आवश्यक है। और यह मानी हुई बात है कि अर्जुन पूर्ण कृपापात्र था, भगवान् के

संबन्ध में अधिक से अधिक ज्ञान करने का पूर्ण अधिकारी था। भगवान् के लिए ऐसी गोप्य कोई बात नहीं थी जिसे वे अर्जुन के समक्ष प्रकट न कर दें। उन्होंने सर्वदा उस की प्रार्थना का उचित आदर किया, उस की सभी इच्छाओं को पूरा किया। परंतु इस विषय में अर्जुन को भी अधूरा ही ज्ञान कराके उन्होंने उसे संतुष्ट होने का उपदेश दिया। 'अथवा' कहने का अभिप्राय ही यह है कि इस अध्याय भर में जो विभूतियोग मैं ने बतला दिया है उस को पूर्णतः हृदयंगम करके भी तूँ मेरा पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, इस लिए बहुत जानने के फेर में मत पड़। सो जब कि अर्जुन के लिए भी अन्त में यही उपाय अवलम्बनीय ठहराया गया कि एक भगवान् को ही विश्वासपूर्ण हृदय से सब विश्व में व्याप्त देख, तब फिर दूसरा कोई यदि दुःसाहस करे और कहे कि मुझे सूत्ररूप में नहीं, प्रत्युत व्याख्यान के द्वारा विस्तृत रूप में भगवान् का ज्ञान कराओ, तो यह दुःसाहस उस की अल्पबुद्धिता का ही परिचायक हो सकता है, इस से किसी तरह का लाभ नहीं हो सकता; ऐसा कहने से तुम्हें यह जानकर कि यह बड़ा भगवत्प्रेमी है, कोई तुम्हारा यश नहीं गायेगा, बल्कि मोदूँ और बुद्धू कहकर हँसी जहाँ तक उड़ाये। कारण यही उपर्युक्त अर्जुन के प्रति भगवद्वचन है अर्थात् जिस परम प्रभु के एक ही अंश से यह चरम आश्चर्यों का खजाना अनन्त जगत् व्याप्त हो रहा है उस प्रभु के सब अंशों का ज्ञान प्राप्त करनेवाला कोई हो नहीं सकता, यह निश्चित बात है। इस लिए जो भक्ति का पाखण्ड रचकर भगवान् के कथन पर भी अनास्था करके उन को पूर्ण अंश में जानने का उपक्रम करेगा उस के लिए जगत् के हँसी मजाक का पात्र होना स्वाभाविक ही है। अतः अपने को अर्जुन से भी बढ़कर मानने के व्यर्थ प्रपञ्च में कोई न फँसे, तभी उस की भलाई है और उस प्रपञ्च से बचने का यही उपाय है कि भगवान् के कथन में दृढ़ विश्वास रखकर निरन्तर उन का उसी रूप में ध्यान करे। वह ध्यान का रूप वही है जो उन्होंने अध्याय समाप्त करते हुए इस प्रकार कहा है कि—

अथवा हे अर्जुन, तुझे इतना अधिक जानकर क्या करना है? थोड़े में तूँ यही जान ले कि मैं इस संपूर्ण जगत् को अपने एक अंशमात्र से व्याप्त करके स्थित हूँ।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास जगद्गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराजकथित श्रीमद्भगवद्गीतागौरव का विभूतियोग नामक दशम अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—आप ने मुझ पर कृपा करने के लिए अध्यात्म संज्ञा-वाला जो परम गुप्त वचन कहा उस से मेरा यह मोह चला गया।

गी० गौ०—दशम अध्याय में भगवान् ने प्रसन्न होकर अर्जुन को अपने विभूतियोग का, विश्वव्यापक सर्वसत्तात्मक स्वरूप का परिचय कराया और उस स्वरूप की असीमता का ध्यान करके जब उन के मन में यह ख्याल आया कि मेरे स्वरूप का विस्तृत ज्ञान न होने से कदाचित् अर्जुन ठीक ठीक संतोष न धारण कर सके, तो अन्त में उन्होंने स्वयं ही यह भी कह दिया कि इस प्रकार बहुत विस्तार सहित मेरा परिचय सुनने की कोई उतनी आवश्यकता नहीं है, इस लिए तू इतना ही समझ ले कि मैं अपने एक ही अंश से सारे संसार को धारण किये बैठा हूँ। यह सूत्ररूप, किंतु महान् विस्तार को प्रकाश में लानेवाला परिचय सुनकर अर्जुन को पूरा संतोष हो गया। वह समझ गया कि अज्ञेय भगवान् को जानने के लिए इस से सुन्दर सहज उपाय दूसरा कोई हो नहीं सकता। ऐसा संतोष होते ही उस को भगवान् की व्यापकता का आभास मिलने लगा, हृदय में ज्ञान के प्रकाश का प्रादुर्भाव होने लगा जिस से उस का अज्ञानजनित मोहान्धकार नष्ट हो गया और आनन्द-विह्वल होकर वह भगवान् से कह उठा कि हे प्रभो, आप ने मुझ को अनुगृहीत करने के लिए जो रहस्यमय अध्यात्म नाम की बात कही उस के द्वारा मेरे हृदय के मोहान्धकार का बिल्कुल नाश हो गया।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अर्जुन को सांसारिक मोह ने घेर लिया था। वह युद्धभूमि में आकर, अविवेक के जाल में फँस गया। दायादों से मिले हुए दुःख, कष्ट, प्रतारणा आदि की बातों को भूलकर पिता, नाना, मामा, चाचा, भाई, भतीजा, नाती, पोता के

मायाजाल में जकड़ गया और सोचने लगा कि इन नातेदार दुश्मनों को मारने से तो अपनी ही हानि होगी। भगवान् को उस का यह सोचना असमय में मल्लार गाने की तरह बड़ा ही उपहासास्पद जान पड़ा। उन्होंने उसे आत्मा की अमरता का पाठ पढ़ाकर यह समझाना चाहा कि ये नाते रिश्ते प्रकट करनेवाले स्वरूप तो केवल पानी के बुलबुले हैं, इन का न कभी अस्तित्व था, न कभी रहनेवाला है; रहनेवाली तो बस, एक आत्मा है जो स्वयं मैं परम पुरुषोत्तम भगवान् हूँ। इस लिए हे अर्जुन, तू अपना क्षत्रियोचित युद्धकर्म कर और ध्यान में मुझे रखे रह। इस तरह तू कर्तव्यपालन करने से पुण्य का ही भागी होगा, पाप का तुझे लेश भी नहीं लगेगा। परंतु अर्जुन का अविवेक उस को ऐसा समझने ही नहीं देना चाहता था। इसी लिए भगवान् को अनेक प्रकार से उसे दृष्टि भर में अपना (भगवान् का) स्वरूप देखने का उपाय बतलाना पड़ा जो बड़ी बड़ी शङ्काओं के बाद किसी तरह अर्जुन के अन्तःकरण में प्रवेश कर सका।

अस्तु; उसी उपाय से उस ने भगवान् को सब जगह व्यापक देखने का प्रयत्न किया और भगवान् की कृपा से उस को इस कार्य में सफलता मिली। फिर तो क्या पूछना है, उस का सब मोहजाल छिन्न भिन्न हो गया। यहाँ तक कि वह अपने भावों को जब्त नहीं कर सका और प्रसन्न होकर कृतज्ञता प्रकट करने लगा कि—

हे भगवन्, आप ने बड़ी कृपा की, आप ने मेरी हितकामना से प्रेरित होकर अतिशय छिपा हुआ आध्यात्मिक ज्ञान दिया। आप के इस ज्ञानोपदेश ने मेरा अज्ञान नष्ट कर दिया। मैं अब आप की कृपा से विवेकजन्य प्रकाश का पूर्ण लाभ लेने लग गया हूँ।

भगवान् ने कहा—यही ज्ञान का प्रकाश तो मैं प्रारम्भ से ही तुझे दे रहा था, पर न जाने क्यों तेरा मोह अब तक दूर नहीं हो पाता था। बड़े हर्ष की बात है कि वह अब दूर हुआ। परंतु क्या तू मुझे बतला सकता है कि अब ऐसी कौन सी बात तुझे मालूम हो गई जिस से तू मोह नष्ट होने का अनुभव कर रहा है?

अर्जुन ने कहा—हाँ हाँ; बतला क्यों नहीं सकूँगा? सुनिए। अब यह दूर हुआ है इसी लिए—

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥

क्योंकि हे कमलपत्रनयन, आप से विस्तारपूर्वक मैं ने प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय सुने तथा अव्यय माहात्म्य भी (सुना)।

गी० गौ०—हे कमल की पँखुड़ियों के सदृश नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण, मेरे मोह-नाश का कारण यही है कि आप (के अनुग्रह) से अब मैं ने जीवों के उत्पन्न होने और विनाश को पहुँचने का हाल खूब विस्तार के साथ सुन लिया है, साथ ही अब आप के अविनाशी माहात्म्य का विस्तृत वर्णन भी मेरे कर्णगोचर हो गया है ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, मोह का कारण है अविवेक । अविवेक कहलाता है सत्य असत्य का अज्ञान । ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, यह ज्ञान ही विवेक कहलाता है । अर्जुन को यही ज्ञान नहीं मालूम था । वह ब्रह्म को जानता था या नहीं, यह दूसरी बात है, पर यह निश्चित है कि वह जगत् को मिथ्या नहीं समझता था । बन्धु बान्धव, कुटुम्ब परिवार ही जगज्जाल हैं । अर्जुन उन्हीं को सत्य मानता था । भगवान् ने बार बार अनेकानेक दृष्टान्त दिखलाकर उसे समझा दिया कि तू भ्रम में है । जो सत्य है उस की तरफ तो ध्यान भी नहीं देता और झूठ को ही सच समझ बैठा है । पुराने वस्त्र के परिवर्तन की तरह आत्मा पुराने शरीरों का त्याग करती है और नये शरीर धारण करती है । यह आत्मा मेरी विभूति है, अजर है, अमर है, अच्छेद्य है, अदाह्य है, अच्छेद्य है, अशोष्य है । इस पर अर्जुन ने अनेक शङ्काएँ उपस्थित कीं जिन के उत्तर में गीता के दस अध्याय समाप्त हो गये । दसवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को साफ साफ बतला दिया कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, आकाश, काल, इन्द्र, यम, कुबेर आदि सब मेरे ही स्वरूप हैं, मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं । मैं नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वत्र समवस्थित ईश्वर ही एकमात्र सत्य हूँ और सब मिथ्या है । इस लिए तू सब मिथ्या प्रपञ्चों को छोड़कर सर्वत्र मुझे ही देखा कर ।

इन्हीं बातों को जानने से अर्जुन का मोह दूर हुआ । इस लिए उन्हीं बातों का उल्लेख करके वह कह रहा है कि जीवों की उत्पत्ति और प्रलय को तथा आप की अक्षय महिमा को मैं ने आप से सुन लिया, इसी से मेरा मोह नष्ट हो गया । हे प्रभो, आप ने बड़ी कृपा की कि इस प्रकार मेरे हृदय में प्रकाश भर दिया ।

भगवान् ने कहा—भला किसी तरह तू रास्ते पर आया, इस की मुझे बड़ी प्रसन्नता है । अब चलकर युद्ध कर और विजयी बन ।

अर्जुन ने कहा—नहीं प्रभो, अभी मैं युद्ध नहीं करूँगा, क्योंकि अब मेरे मन में आप के उस व्यापक रूप को देखने की प्रबल आकाङ्क्षा उत्पन्न हो गई है जिस का आप ने अभी (गत अध्याय में) मुझे परिचय दिया है ।

भगवान् ने कहा—क्यों, वह रूप क्यों देखना चाहता है ? क्या तुझे यह संदेह है कि मैं ने जो कहा है वह सत्य है या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—नहीं नहीं, भगवन् ! मुझे इस में जरा भी संदेह नहीं है, क्योंकि—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर, आप ने अपने को जैसा कहा है, यह ऐसा ही है। हे पुरुषोत्तम, मैं (तो बस,) आप के ईश्वरीय रूप को देखने की इच्छा-मात्र करता हूँ।

गी० गौ०—हे ईश्वरों के भी ईश्वर, मुझे आप के वचनों में अविश्वास नहीं है। मैं आप को ठीक वैसा ही समझता हूँ जैसा कि आप ने अपना वर्णन किया है। तथापि हे सब पुरुषों में उत्तम पुरुष, मैं जो आप को देखने की इच्छा कर रहा हूँ वह केवल इसी लिए कि मुझे आप का विभूतिमय ईश्वरीय रूप देखने का सौभाग्य मिल जाय।

क० म०—प्यारे भाइयो, यह साधारण सी बात है कि जिस से कोई काम निकालना रहता है उस के प्रति यदि किसी तरह का अविश्वास भी रहे, तो भी वह उस के सामने नहीं प्रकट किया जाता, क्योंकि वह काम होना उस के वश की बात है। वह यदि नाराज हो जायगा, तो अपनी शक्ति भर उस काम को पूरा न होने देने का ही प्रयत्न करेगा और अगर वह प्रसन्न रहेगा, तो खुशी से अपनी हानि उठाकर भी काम पूरा करवा देगा। यह इतनी स्थूल—एक दम स्पष्ट—बात है कि अपढ़ गँवार भी इस को रोज के व्यवहार में काम में लाते रहते हैं। मन ही मन तुम जानते रहते हो कि अमुक व्यक्ति बड़े क्षुद्र स्वभाव का आदमी है, उस के सामने विनीत होकर बोलना तो क्या, सीधा सादा व्यवहार करना भी अपने लिए लज्जा का विषय है। फिर भी जब कभी दैवयोग से कोई ऐसी अड़चन आ पड़ती है कि जब तक उस क्षुद्र मनुष्य की सहायता न मिले तब तक उस अड़चन का दूर होना असंभव हो, तो ऐसी दशा में तुम्हें विवश होकर केवल उस की विनती ही नहीं करनी पड़ती, बल्कि उस के पैर के तलुए भी चाटने पड़ जाते हैं। संसार की यही तो वक्रता (टेढ़ाई) है। संसार में बर्तते हुए ऐसी विषम अवस्था कदाचित् ही किसी भाग्यवान् के संमुख न उपस्थित होती हो, अन्यथा प्रायः सभी को ऐसे चक्करों में पड़ना ही पड़ता है।

यह एक आवश्यकीय दृष्टान्तमात्र दिखलाया गया है। अर्जुन के साथ इस दृष्टान्त का कुछ भी मेल नहीं है, तो भी यह इसी लिए दिखलाया गया कि जब नीच को भी लोग चापलूसी करते हैं तब कोई यह न कहे कि अर्जुन चापलूस था, इस लिए बहुत लोगों की प्रशंसा नहीं प्राप्त कर सकता। अर्जुन को चापलूस कहना पहले तो बन ही सकता, क्योंकि वह

चापलूसी न करके बिलकुल सची बात कह रहा है। उसे अब भगवान् के सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास हो गया है। वह यह कहकर कि 'आप ने जो कहा वह वैसा ही है' भगवान् की चापलूसी नहीं कर रहा है, बल्कि अपने हृदय की सची भावना प्रकट कर रहा है, इस भगवद्-कथन में पूर्ण विश्वास दिखलाकर अपनी उत्सुकता जता रहा है कि हे भगवन्, आप का जो रूप इतना महान् और सर्वसाधारण को आश्चर्य में डालनेवाला है, उसे देखने के लिए मैं बहुत ही लालायित हो रहा हूँ। और अगर कोई यह संदेह करे कि जब उस को भगवान् के उस रूप में दृढ़ विश्वास था और वह भगवान् की सचाई की परीक्षा लेने के विचार से उन का रूप नहीं देखना चाहता था, प्रत्युत अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए ही ऐसा चाहता था, तो 'ईश्वर के ईश्वर' और 'सब पुरुषों में उत्तम पुरुष' आदि बड़े बड़े विशेषणयुक्त संबोधनपद क्यों कह रहा है? भगवान् तो उस के मित्र ही थे। क्या सीधे सीधे यह कहने से कि मुझे अपना विभूतिमय ऐश्वर्यपूर्ण रूप दिखला दीजिए, भगवान् उसे वह रूप न दिखला देते? अवश्य दिखला देते। फिर भी इन संबोधनों के प्रयोग की निरर्थकता नहीं है। ये शब्द मतलब से प्रयुक्त हुए हैं। वह मतलब यही है कि अर्जुन इन के द्वारा भगवान् को जतला रहा है कि आप ही मेरी अभिलाषा पूरी करने में समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं; आप ही दया करके मुझे अपना रूप दिखलायें तभी मैं उसे देख सकता हूँ, अन्यथा नहीं। अस्तु;

इन्हीं भावनाओं को मन में रखकर अर्जुन ने कहा कि हे परमेश्वर, आप ने अपने रूप को जैसा कहा है, यह ठीक ऐसा ही है। तथापि हे पुरुषोत्तम, मैं आप के उस ईश्वरीय रूप को देखने की अभिलाषा करता हूँ।

परंतु इसी समय अर्जुन को स्मरण हो आया कि भगवान् ने तो अपने को देवताओं और बड़े बड़े ऋषियों मुनियों के लिए भी अज्ञेय, अगोचर, अगम्य, अकथनीय बतलाया है, फिर मैं एक साधारण मनुष्य होकर ऐसी बड़ी लालसा किस भरोसे पर प्रकट कर रहा हूँ? क्या मुझ में भगवान् का वह सर्वव्यापक रूप देखने की योग्यता है? ऐसे विचारों का उदय होते ही उस ने फिर नये ढंग से प्रार्थना की कि—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो, आप यदि ऐसा मानते हों कि मेरे द्वारा वह (रूप) देखा जा सकता है, तब हे योगेश्वर, अपना अव्यय स्वरूप मुझ को दिखलाइए।

गी० गौ०—हे नाथ, मैं नहीं जानता कि आप के उस रूप का दर्शन करने का अधिकारी मैं हूँ या नहीं। इस लिए हे स्वामिन्, यदि आप समझते हों कि

मुझ में आप के उस स्वरूप को देखने की शक्ति है, तो हे योगियों के ईश्वर, आप कृपा करके मुझ को अपने उस अविनाशी रूप का दर्शन कराइए।

क॰ प्र॰—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, इसी को विनम्रता कहते हैं। अपनी योग्यता का अपने आप दम भरनेवालों से संसार भरा पड़ा है। जिस विद्यार्थी को देखो वह यही कहते सुना जाता है कि वाह, गुरुजी अमुक बात बतलायेंगे कैसे नहीं ? जब कि मैं उन का शिष्य हूँ और वे मेरे गुरु हैं, तो उन का तो कर्तव्य ही यह है कि मैं उन से जो कुछ भी प्रश्न करूँ उस का वे अवश्य उत्तर दें, मेरा संदेह दूर करें। नहीं, तो वे गुरु किस बात के हैं ? जिस किसी भी पुत्र की बात सुनो वह यही दावा दिखलाया करता है कि वाह, पिताजी मेरी कोई भी माँग कैसे नहीं पूरी करेंगे ? पुत्र की बात न रखने पर पिता होने का कर्तव्य वे किस तरह पूरा करेंगे ? मैं उन का पुत्र हूँ और वे मेरे पिता हैं, तो इस का अर्थ ही यह है कि मैं जिन जिन चीजों की फर्माइश करूँ उन उन को वे जैसे हो वैसे जुटा दिया करें। जिस मित्र को देखो वह अपने मित्र की ओर से अपने प्रति यही भाव पोषित करता हुआ देखाई देता है कि वाह, वह अपनी कोई भी बात मुझ से छिपाकर कैसे रख सकता है ? मैं अपना कुछ भी गुप्त नहीं रखता तब फिर वही क्यों गुप्त रखेगा, इत्यादि। यह कोई नहीं देखता कि मैं शिष्य का धर्म निबाहता हूँ या नहीं, मैं पुत्र का ठीक ठीक कर्तव्यपालन करता हूँ या यों ही पिता से पुत्रवत्सलता की आशा रखता हूँ, मैं अपने मित्र के समान ही गम्भीर, बुद्धिमान्, दूरदर्शी, कर्तव्यपरायण हूँ भी कि खाली मित्रता के नियमों का उस से पालन ही कराना चाहता हूँ ? यदि दुनिया में सब लोग अपनी योग्यता, अपना धर्म, अपना कर्तव्य उचित रूप से देखनेवाले हो जायँ, तो कहीं भी कोई उलाहना न सुनाई पड़े। पर यहाँ तो सब को अपने पर इतना गर्व रहता है कि कोई अपने में किसी तरह की कमी का अनुमान भी नहीं करना चाहता। संसार को अर्जुन के इस वचन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अर्जुन कुछ ऐसा वैसा, साधारण श्रेणी का मनुष्य नहीं था। संसार जानता है कि वह नर का अवतार, भगवान् का मित्र, प्रिय संबन्धी, लोकोत्तर वीर, अद्वितीय धीर, गम्भीर, विश्वविजयी, महारथी योद्धा तथा और भी न जाने किन किन प्रशंसनीय गुणों से युक्त था। एक ही मनुष्य में इतने गुणों का समावेश रहना मामूली बात नहीं है। आज की दुनिया में ऐसा व्यक्ति जन्म भर ढूँढ़ने पर भी मिलना असंभव है। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी वह अपने प्रिय सखा श्री कृष्ण को सब विषयों में अपनी अपेक्षा अतिशय महान् मानता था। इसी लिए उसने बराबरी का व्यवहार करनेवाले और नाते में छोटे (साला होने के कारण) भी कृष्ण को भी कभी अपना समकक्ष न समझा, बल्कि उन्हें सर्वदा सर्वलोकपूज्य गुरु ही मानता रहा और प्रत्येक बात में उन की श्रेष्ठता स्वीकार कर उन की आज्ञा का पालन करना ही अपना धर्म समझता रहा।

क्या अर्जुन में मनुष्योचित दुर्गुणों का रह सकना असंभव था ? क्या अर्जुन अपने समृद्धि सौभाग्य पर गर्व करने का ढंग नहीं जान सकता था ? क्या वह भगवान् से हठ करके नहीं कह सकता था कि मुझ को आप अपना वह ईश्वरीय रूप दिखलाइए ही ? वह भी अपने माता पिता का दुलारा लड़का था, उस में भी सारे संसार की तरह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार के संयोग से ही हाड़, माँस, रक्त, चमड़ा आदि का अस्तित्व हो सका था, इस लिए वह भी गर्वीला और हठी स्वभाव का होकर भगवान् से सब तरह की जिद कर सकता था। लेकिन नहीं। वह जानता था कि एक छोटा सा बच्चा तक तो ज़बरदस्ती करने पर अपने अधिकार की, अपने हाथ की, अपने व्यवहार की कोई वस्तु छोड़ना ही नहीं चाहता, फिर कोई पूर्ण शक्तिमान् ख़ज़ाना भला कैसे किसी की जबरदस्ती बरदाश्त कर सकता है ? अर्जुन को मालूम था कि हानिकर पदार्थ का भी बलपूर्वक किसी से त्याग नहीं कराया जा सकता और लाभ की चीज का भी युक्ति द्वारा किसी के अधिकार से बाहर कर देना सब तरह से संभव है— जैसे जिद्दी लड़के ने हठ करके वालते माता पिता का कहना मानकर ज्यादा दही खाना नहीं छोड़ा और युक्ति द्वारा समझाने पर एक अपरिचित साधु का कहना मानकर छोड़ दिया।

एक जमींदार था। उस के पास उपजाऊ भूमि के अलावे गोचर भूमि भी बहुत काफी थी। इस लिए उस ने हजारों गायें भैंसें भी पाल रखी थीं। उस के यहाँ दूध, दही, घी, खोये की नदियाँ बहती रहतीं। उस के एक ही लड़का था। उस की माता उसे दूध मलाई बहुत खिलाया करती थी, पर एक तो गरिष्ठ और सर्दी खाँसी पैदा करनेवाली होने की वजह से और दूसरे घी निकालने के काम में आने से वह अपने लड़के को दही कभी नहीं खाने देती थी। एक दिन किसी कारण से दूध फट गया। लड़के के लिए दूध मलाई नहीं मिल सकी। लड़का जनम का दुलारा था। दूध मलाई के लिए उस ने आसमान सिर पर उठा लिया, रो चिल्लाकर घर में एक तूफान सा खड़ा कर दिया। लाचार होकर माँ को उसे थोड़ा सा दही और उस की मलाई देकर चुप कराना पड़ा। लड़के को वह खटमिट्ठी दही मलाई बहुत अच्छी लगी। उस ने उसी दिन से निश्चय कर लिया कि अब मैं दही और दही की मलाई छोड़कर दूध और दूध की मलाई कभी हाथ से भी नहीं छुऊँगा, उन का पीना खाना तो बड़ी दूर की बात है। माता को भी विवश होकर लड़के का हठ रखना ही पड़ा। इस प्रकार लड़के को दही मलाई खाने का अभ्यास ही पड़ गया। परंतु था वह बहुत कमजोर प्रकृति का। दही उस के लिए बहुत नुकसान पहुँचानेवाली वस्तु सिद्ध हुई। उसे बराबर सर्दी जुकाम, ज्वर बुखार की शिकायत रहने लगी। धीरे धीरे जहाँ तहाँ गाँठों में दर्द भी होना प्रारम्भ हो गया, लड़कपन में ही बुड्ढों की तरह उसे गँठिया का रोग पकड़ लिया। अब

माता पिता की आँखें खुलीं कि इस दुलार ने तो सहार का रास्ता देख लिया। वे दही को उस से छिपाकर रखने लगे, माँगने पर मारने पीटने की धमकी देने लगे, पर इस का फल भी उलटा ही हुआ। लड़का चुरा चुराकर और ज्यादा दही खाने लगा, घर में घात न लगने पर बाजार का सड़ा गला दही उदरस्थ करने लगा। नौबत यहाँ तक आ गई कि फेफड़ों में कीड़े पड गये—फेफड़ा सड़ने लगा। वैद्य, डाक्टर, हकीम आदि ने साफ साफ कह दिया कि अगर इस की दही खाने की आदत नहीं छूटेगी, तो बहुत दिन जीना इस के लिए असंभव है। माता पिता के दुःख का ठिकाना नहीं रह गया। वे बहुत बहुत कोशिश करके हार गये, पर उस की आदत छूटने की जगह बढ़ती ही जाती थी। पास पडोस के लोग भी डरा धमका, समझा बुझाकर थक गये, पर वह किसी तरह भी नहीं माना, नहीं माना।

लड़के के दुरभ्यास और उस से उत्पन्न दुर्निवार रोग के कारण पिता माता दिन रात शोकाकुल रहने लगे। भगवान् को मनाने के अतिरिक्त उन के पास अपने पुत्र के जीवन का कोई दूसरा आश्वासन नहीं था। वे मन ही मन खून के आँसू पीते हुए भगवान् का नाम ले लेकर मनाया करते कि हे प्रभो, क्यों नहीं कृपा करके कोई ऐसा देवदूत भेजते हो कि इस हठीले का वह हठ छुड़ा दे? हम लोगों ने तो जानकर कभी भी ऐसा कोई कर्म नहीं किया जिस से तुम्हारी अकृपा का हमें भागी बनना पड़े। फिर तुम क्यों नहीं हमारा कष्ट दूर करते हो?

मालूम होता है, उन की प्रार्थना में अवश्य ही एकनिष्ठता का योग हो गया था। दो चार दिनों के अंदर ही उस गाँव में एक रमता योगी आ गया। गाँवों की साधारण प्रथा के अनुसार उस महात्मा को जमींदार के दरवाजे पर ही धुनी लगाने की जगह मिल सकी। गरीबों के द्वार पर एक दो बैल बाँध रखने के लिए तो प्रशस्त भूमि रहती ही नहीं, महात्मा की धुनि रमाने और पचीस पचास भक्तजन के साथ बैठकर भगवान् की कथा वार्ता करने का ठिकाना भला कहाँ से लगता? इसी से गाँववालों ने जमींदार की सहन पर ले जाकर महात्मा का आसन लगवाया। जमींदार पहले चाहे जैसी प्रकृति का रहा हो, पर आजकल तो वह पूरा भक्त बन चुका था। उस ने बड़ी श्रद्धा से महात्मा का आगत स्वागत किया। महात्माजी सूक्ष्मदर्शी होने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके थे। जमींदार का मानसिक दुःख तो प्रत्यक्ष होकर दिन रात उस के चेहरे पर प्रतिबिम्बित होता रहता। महात्मा ने उसे देखते ही उस के चित्त की विकलता ताड़ ली तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

उन्होंने बड़े प्रेम से पूछा—भक्तजी, तुम्हें किस बात का कष्ट है, कौन से दुःख को पाल-कर तुम भीतर ही भीतर गले जा रहे हो?

जमींदार की आँखों में आँसू भरभरा आये। उस ने बड़े कष्ट से अपनी विपत्ति का हाल बतलाया।

महात्मा ने कहा—अजी, बस इतने ही के लिए तुम इस तरह विक्षिप्त हो रहे हो ? यह कौन सा बड़ा भारी रोग है ? तुम अब बिल्कुल चिन्ता न करो। मैं बहुत जल्द तुम्हारे लड़के की आदत छुड़ा दूँगा।

जमींदार ने आनन्दविभोर होकर महात्मा के चरण पकड़ लिये। उसे महात्मा के रूप में अपने सामने प्रत्यक्ष ईश्वर का रूप दिखलाई पड़ने लगा। वह समझ गया कि भगवान् ने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर ही इन महात्मा के रूप में अपना दूत भेजकर मेरे कष्टनिवारण का उपाय रचा है। लेकिन अब उसे यह जानने की बड़ी इच्छा हुई कि ये किस उपाय से उस जिद्दी की आदत छुड़ायेंगे।

उस ने कहा—भगवन्, वह लड़का क्या आप का कहना मान जायगा ? जिस बात को सारा गाँव नहीं छुड़ा सका वह अकेले आप किस उपाय से छुड़ायेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

महात्मा ने कहा—मैं अकेले नहीं छुड़ाऊँगा। यहाँ आने में मुझे भगवान् की प्रेरणा का स्पष्ट अनुभव हो रहा है, अत उन की प्रेरणा ही मेरी युक्ति में भी अवश्य ही सहायता पहुँचायेगी, इस में तुम बिल्कुल सदेह मत करो। हाँ, जो जो मैं कहूँ उस उस का पालन समय पर करते रहना तुम्हारा धर्म है।

जमींदार ने कहा—महात्मन्, यह भी भला कहने की बात है ? आप आज्ञा करें कि मुझे क्या क्या करना होगा ?

महात्मा ने कहा—आज से लड़के को बार बार दही खाने के लिए प्रेरित करना, उसे मेरे पास पहुँचा जाना और मेरी कुटिया में दस पद्रह मटकों में दही भरकर रख जाना, ये ही तीन काम तुम्हें करने होंगे, बाकी सब मैं ठीक कर लूँगा।

जमींदार ने मन में सोचा—अरे, यह तो गजब की आज्ञाएँ दे रहे हैं। जिस बात को रोकना है उसी को और नजदीक बुलाने का यह उपक्रम क्या अर्थ रखता है, सो भगवान् ही जाने या स्वय ये महात्माजी जाने। लेकिन मुझे क्या इन की आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए ? इस से क्या मेरी भलाई हो सकेगी ? किंतु वह तो यों भी नहीं हो रही है, फिर इन का हुक्म मानकर भी क्यों न देख लूँ कि क्या गुल खिलता है ?

प्रकट में बोला—जैसी आज्ञा महाराज ! जा रहा हूँ, अभी सब व्यवस्था किये देता हूँ।

महात्मा ने कहा—हाँ, जाओ, जल्दी सब ठीक कर दो। किसी तरह का सशय मत रखो। भगवान् चाहेंगे, तो दो दिन से अधिक समय नहीं लगने पायेगा और तुम्हारे लड़के का अभ्यास ज्ञान होने पर मोह की तरह अदृश्य हो जायगा।

जमींदार ने घर में जाकर लड़के से कहा—बेटा, अब तुम्हें कोई नहीं मना करेगा। आज से तुम जितनी इच्छा हो उतना दही खाया करो और घर में पेट भर दही न मिले, तो दर्वाजे पर जो महात्माजी टिके हैं उन के पास चले जाया करो। उन के यहाँ ढेर का ढेर दही रखा हुआ है।

लड़के को अपने पिता की बात पर विश्वास नहीं हुआ। उस ने समझा कि ये मुझे रोगी देखकर व्यङ्ग्य कर रहे हैं। मैं ऐसे व्यङ्ग्यों से माननेवाला नहीं। पर ये यह क्या कह रहे हैं कि घर में न मिले, तो महात्मा के यहाँ दही का गल्ला लगा रखा है? क्या सचमुच ऐसी बात है? चलकर देखूँ तो सही।

लड़के ने महात्मा की कुटी में प्रवेश करते ही देखा कि पिता की बात में जरा भी झुठाई नहीं थी। तब क्या अब मुझे दही खाने से सचमुच ही कोई नहीं रोकेगा? वाह, यह तो बड़ी अच्छी बात हुई!

वह इसी प्रकार की बातें सोच सोचकर खुश हो रहा था कि महात्मा ने पुकारकर पूछा—क्या देख रहे हो भैया? आओ न, कुछ देर मेरे पास बैठो!

लड़का चुपचाप महात्मा के पास जाकर बैठ गया। दही देख देखकर उस की जीभ से इतना पानी छूट रहा था कि शायद उसी के कारण वह कुछ बोल नहीं सका।

महात्मा ने कहा—क्यों बचा, तुम तो जमींदार के लड़के हो न; फिर इतने दुबले क्यों हो रहे हो?

लड़के ने कहा—बाबाजी, क्या कहूँ? मुझे मालूम होता है कि संसार में दही से बढ़कर कोई अच्छी चीज है ही नहीं और मेरे माँ बाप उसे सब से खराब चीज समझकर किसी तरह मुझे खाने ही नहीं देना चाहते, बराबर मुझ को तंग करते रहते हैं। घर में इतनी गाय भैसें भरी हुई हैं, पर मेरे डर से वे बीस बीस तालों के अंदर दही छिपा रखते हैं। आप के यहाँ तो देख रहा हूँ, तमाम दही ही दही है। क्या आप को यह नुकसान नहीं पहुँचाता?

महात्मा ने कहा—तुम्हारे माता पिता को किसी ने भ्रम में डाल दिया होगा। अन्यथा दही तो कोई बुरी वस्तु नहीं है। मैं तो तू जितना चाहे उतना दही मुझे खिलाऊँ। कितना खा सकता है, बोल तो?

लड़के ने लालच से लजाते लजाते कहा—जो······मैं······मैं तो कम से कम दो सेर दही खा सकता हूँ।

महात्मा ने कहा—बस, इतना ही? अरे, नहीं दस सेर, तो कम से कम पाँच सेर तो खाया कर। मालूम होता है कि तुझे दही के लाभ नहीं मालूम हैं। नहीं, तो तू दो सेर दही खाकर संतोष नहीं धारण करता। मुझे देख, कितना दही भर रखा है मैं ने?

१—माता का पुत्र को दही खिलाना, २—अधिक दही खाने का दुष्परिणाम, ३—महात्मा की युक्ति से आरोग्यलाभ।

૧ માતાનું પુત્રને દહીં ખવરાવવુ. ૨ વધારે દહીં ખાવાનું દુષ્પરિણામ. ૩ મહાત્માની યુક્તિથી આરોગ્યતા પ્રાપ્તિ

लड़के को बड़ा कौतूहल हुआ कि कहाँ तो सब लोग दही को हानि करनेवाला बतलाते हैं और कहाँ ये उस से लाभ होना कह रहे हैं ?

उस ने पूछा—महाराज, कृपा कर मुझे भी उस के लाभों की बात बतला देंगे ?

महात्मा ने कहा—जरूर, जरूर। बतलाना न होता, तो मैं चर्चा ही क्यों करता ? सुन—यों तो दही में अनगिनती गुण भरे हुए हैं, पर तीन गुण तो उस में बड़े ही मार्के के हैं। लेकिन यह याद रख कि ये तीनों गुण ज्यादा दही खाने से ही पैदा हो सकते हैं, थोड़े दही से नहीं।

लड़के ने पूछा—वे कौन से तीन गुण हैं महाराज ?

महात्मा ने कहा—ज्यादा दही खानेवाले के घर चोरी नहीं होती—एक; ज्यादा दही खानेवाले को कभी कुत्ता नहीं काटता—दो, ज्यादा दही खानेवाला कभी पानी में नहीं डूबता—तीन। कह, कैसे फायदे के ये तीनों गुण हैं ?

लड़के ने कहा—जरूर बहुत फायदे के हैं। मैं तो समझता हूँ कि दुनिया को अगर ये बातें मालूम हो जायँ, तो वह आप को ईश्वर की तरह मानने लगे, क्योंकि इन तीनों प्रकार की विपत्तियों से रक्षा पाने का इतना सहज उपाय आज तक किसी ने नहीं बतलाया है। लेकिन यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि दही से और इन तीनों विपत्तियों से कौन सा ऐसा संबन्ध है जिस से दही खानेवाला इन में नहीं फँसने पाता है ?

महात्मा ने कहा—बिल्कुल निकट का संबन्ध है। दही खाते खाते जब, गौ के विकार दूध की तरह, उस का विकार उत्पन्न होता है तब शरीर में बड़ी जबरदस्त दमा की बीमारी आ घुसती है। यहाँ तक कि उस को सेकेंड भर भी दम मारने की फुरसत नहीं मिलती। वह दिन का दिन और रात की रात जागता ही रह जाता और 'ठों ठों खों खों' करता रहता है। इसी से उस के यहाँ चोरों की दाल नहीं गलने पाती, न चोरी होती है। इस के बाद ही यह दशा उत्पन्न होती है कि दुर्बलता के कारण दही खानेवाले से अपने आप उठा बैठा नहीं जाता, उसे लाठी के सहारे उठना बैठना और कहीं आना जाना पड़ता है। और यह मानी हुई बात है कि जिस के हाथ में लाठी रहती है उस के नजदीक कुत्ता फटक नहीं सकता, लाठी के डर से दूर ही भगा रहता है। इस प्रकार कुत्तों से उस की रक्षा हो जाती है। यह अवस्था कुछ दिन बनी रह जाने पर तपेदिक के लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं, दही खानेवाला बुखार का सतत शिकार रहने लगता है। उस समय उसे नहाने धोने का न तो साहस रहता है, न कोई आवश्यकता। इस लिए वह किसी जलाशय के समीप जाता आता भी नहीं। इस तरह पानी में डूबने का भय नहीं रह जाता। यदि इन तीनों लाभों से तुझे लाभान्वित होने का शौक हो, तो खुशी से भी भर दही खाया कर और अगर इन में किसी तरह का भय मालूम होता हो, तो बिल्कुल ही दही खाना छोड़ दे। हाँ, दसवें पंद्रहवें दिन छटाँक आधा

क्योंकि खा लेने से ये गुण नहीं उत्पन्न होते, यह निःसंदिग्ध बात है। मैं ने सब भेद बतला दिया, अब तुझे जो अच्छा लगे वह कर धर।

जमींदार का लड़का हठी था, ज़िद्दी था, जो मना किया जाय वही करने का टेको था, पर मूर्ख, मतिहीन, विचारशून्य नहीं था। उस में इतनी बुद्धि का अभाव नहीं था कि वह हानि और लाभ का मर्म न समझ सके। महात्मा की बातें सुनकर वह एकदम घबडा उठा। उसे ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मैं मृत्युरूपी अथाह गड्ढे के बिल्कुल करारे पर खड़ा हूँ। एक कदम, नहीं नहीं, आधे का आधा कदम भी यदि आगे बढ़ा, तो मेरे जीवन का अन्त ही रखा हुआ है। आह, मुझे नहीं मालूम था कि माता पिता, बन्धु मित्र, अड़ोसी पड़ोसी मुझे क्यों दही खाने से रोकते मना करते हैं। आज तक मैं यही जानता था कि दही खा लेने से उन को घी का घाटा होता होगा, तभी वे मुझे दही नहीं खाने देना चाहते। कैसे ना समझ हैं वे लोग कि उन से इतना भी नहीं समझाते बना? ईश्वर को धन्यवाद है कि उस ने साधु बाबा को भेजकर मेरी जिंदगी बचा ली।

वह न जाने कब तक इसी तरह सोचता रह जाता यदि महात्मा उस से यह न पूछते कि अच्छा तो बतला कि मैं तुझे कितना दही दूँ?

महात्मा का प्रश्न सुनकर वह लड़का काँप उठा और हाथ जोड़कर कहने लगा—नहीं नहीं महाराज! अब मुझे क्षमा कीजिए। आज तक जो हुआ वही बहुत है। मेरा ख्याल था कि माता पिता के तंग करते रहने से जो एक प्रकार की चिन्ता ने मेरे हृदय में घर कर लिया है उसी के कारण मैं दिन पर दिन शक्तिहीन और कमजोर होता जा रहा हूँ। यदि मुझे दही के ये दुर्लभ लाभ पहले मालूम हो गये होते, तो आज मेरी यह दशा न हुई होती। अब मैं कान पकडता और शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि दही की ओर आँख उठाकर देखूँगा भी नहीं, उस को खाना और हाथ से छूना तो बड़ी भारी बात है।

महात्मा ने हँसकर कहा—अच्छा, तो मैं भी आशीर्वाद देता हूँ कि ईश्वर तुझ को अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने की शक्ति दे, अपनी जीभ पर तूँ सफल नियन्त्रण कर सके और चिरायु हो।

इतना कहकर महात्माजी ने जमींदार को बुलाया और उसे भी उस की भूल समझाकर बतला दिया कि किसी से छोटा बड़ा कोई भी काम कराना हो, तो डाँट डपट और मार पीट से मत काम लो, बल्कि प्रेम सहित उसे समझाकर, प्रार्थना के द्वारा वश में करके काम लो। अब तुम्हारा लड़का दही का दर्शन भी नहीं करना चाहता है, और पहले दही के साथ गुड़ चीटे का सा संबन्ध रखना चाहता था। यह सिर्फ युक्ति का ही प्रभाव है। तुम्हारा सब दही रखा हुआ है। उसे ले जाकर घी निकालो चाहे गाँव के गरीबों को बाँट दो।

इतने में लड़का बोल उठा—नहीं पिताजी, चाचाजी की आखिरी बात पर आप ध्यान भी मत दीजिएगा। गाँव के गरीब बिचारों की जान मुफ्त की नहीं है कि इन्हें बिना अपराध के दही खिलाकर फाँसी दी जाय। आप दही से घी ही निकालिएगा, यही मेरी प्रार्थना है।

लड़के की बात सुनकर चाचाजी और उस के पिता दोनों व्यक्ति आपस में ताककर मुस्कुराने लगे।

निष्कर्ष यह निकला कि जबरदस्ती, हठ, जिद या उद्दण्डता से संसार में कहीं भी निर्वाह नहीं हो सकता, कमजोर भी ताकतवर की मार सह लेता है, पर जबरदस्ती करने पर उस के मन का अनुसरण कदापि नहीं करता। फिर कमजोर के हठ करने पर कोई ताकतवर तो कहाँ से उस का कहना मानेगा। भगवान् की भी तो यही आज्ञा है कि—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ (३।२६)

इस श्लोक का भाव यही है कि जो कोई अज्ञानवश किसी लत में पड़ गया हो, उसे मनुष्य बलप्रयोग से उस की लत छुड़ाने का प्रयत्न न करे, अपि तु स्वयं भी उसी में मिल जाय और उसी की तरह काम करता हुआ धीरे धीरे उसे अपने अनुकूल राह पकड़ा दे। भगवान् ने यह उपदेश अर्जुन को दिया था और उस ने उन की बात गाँठ में बाँध ली, इतना ही नहीं, बल्कि अपनी ओर से इस में कुछ परिष्कार भी कर डाला अर्थात् उस ने उन की बात का एक अर्थ यह भी लगा लिया कि छोटे बड़े हर एक से युक्ति द्वारा अपना काम निकालना चाहिए। वह भगवान् की बातों से यह भली भाँति समझ चुका था कि इन का स्वभाव है कि ये अपना असली रूप देवता, ऋषि, सिद्ध, मुनि किसी को नहीं दिखलाते। परंतु मुझे तो इन का वही रूप देखना है।

इसी लिए उस ने प्रार्थना की कि हे प्रभो, आप मालिक हैं, सब तरह से स्वतन्त्र हैं, आप योगियों के ईश्वर हैं, योगशक्ति से अपने रूप की हजारों लाखों प्रतिमाएँ प्रकट कर सकते हैं। इस लिए यदि आप अपना रूप मुझे दिखलाना उचित समझते हों और आप की समझ से मुझ में वह रूप देखने की शक्ति हो, तो अपना वह सर्वसमर्थ ईश्वरीय रूप अवश्य दिखलाइए।

योगेश्वर भगवान् से अर्जुन का मनोभाव छिपा नहीं था। वे तो अपने भक्त योगियों को इतनी शक्ति दे देते हैं कि वे योगी लोग भी योग द्वारा सारे ब्रह्माण्ड की बातें अपनी पर्णकुटियों में बैठे बैठे ही जान लिया करते हैं, तब भगवान् को तो यों ही सब बातें अहर्निशि मालूम होती रहती होंगी। इसी लिए तो अर्जुन की प्रार्थना सुनने के बाद मन्दमुस्कान के साथ—

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्री भगवान् बोले—हे पार्थ, मेरे अनेक प्रकार के, अनेक वर्णों और आकृतियोंवाले सैकड़ों हजारों दिव्य रूपों को अब देख।

गो० गौ०—श्री भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, तेरी प्रार्थनायुक्त वाणी से मैं तेरे ऊपर संतुष्ट हो रहा हूँ। अब तूँ मेरे सैकड़ों और हजारों अर्थात् असंख्य रूपों को देख। मेरे इन रूपों के ढंग, रंग, बनावट और आकार भी अनेक प्रकार के हैं। मेरे ये रूप इस लोक में देखने की वस्तु नहीं हैं, ये रूप अलौकिक हैं, अलौकिक शक्ति सामर्थ्य से युक्त हैं; फिर भी मैं तुझे इन रूपों के दर्शन करा रहा हूँ। तूँ ध्यान देकर देख।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् अब अर्जुन के ऊपर पूर्ण कृपालु हो गये हैं, इस का यह अभिप्राय नहीं है कि वे अब तक कम कृपालु थे। नहीं, वे तो सर्वदा ही अपने भक्तों पर अपनी कृपा रखनेवाले हैं, फिर अर्जुन तो भक्तों में भी विशेष भक्त था। उस के ऊपर तो उन की सदा से कृपादृष्टि थी ही। तथापि वे 'अब' शब्द का जो प्रयोग कर रहे हैं उस का यही अर्थ है कि अर्जुन ने अपनी सर्वसमर्पणता के द्वारा अब ऐसी योग्यता प्राप्त कर ली है जैसी आज के पहले नहीं प्राप्त की थी। यह योग्यता उसे परंपरा से मिली है। परंपरा के माने यहाँ कुलपरंपरा मत लगा लेना। इस के अर्थ ज्ञानपरंपरा से संबद्ध हैं। अर्जुन की अपूर्व भक्ति देखकर भगवान् ने उसे इस अध्याय के पहले अपने गुह्य ज्ञान विज्ञान का उपदेश दिया। उसी ज्ञान से अब उस में दिव्यरूप देखने की योग्यता आई है और इच्छा उत्पन्न हुई है।

दूसरा भाव यह भी है कि भगवान् ने जब उसे सर्वदा से गुप्त अपना ईश्वरीय ज्ञान विज्ञान बतला दिया, जो आज तक अर्जुन के अतिरिक्त और किसी से नहीं बतलाया था, तब फिर अपना ईश्वरीय रूप ही उसे क्यों नहीं दिखलाते। रूप उतना गोपनीय नहीं होता जितना गोपनीय कोई विशेष प्रकार की बात हो सकती है। रूप बाहर की वस्तु है, ज्ञान विज्ञान भीतरी। यह भीतरी रहस्यमय वस्तु अर्जुन के प्रति भगवान् ने प्रकट कर दी, उस को अनादि काल से छिपा ज्ञान विज्ञान बतला दिया, ऐसी दशा में अपना छिपा हुआ स्वरूप दिखलाना कोई बड़ी भारी बात नहीं। इसी लिए भगवान् ने कहा कि जब तूँ इतनी बड़ी बड़ी बातें सुन चुका है, तो अब यह रूप भी देख ले, इसे मैं क्यों छिपा रखूँगा?

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् जब अपना रूप दिखलाने के लिए तैयार होकर अर्जुन को वचन भी दे चुके, तो उन्हें यह कहने की क्या ज़रूरत थी कि मेरे सैकड़ों हजारों रूपों को देख और यह भी क्यों कहा कि मेरे रूप अलौकिक हैं, अनेक प्रकार के हैं, हरे, काले, नीले, पीले, लाल, सफेद अथवा बहुरंगे रंगोंवाले हैं, उन की बनावट भी अनेक प्रकार की है? इन बातों को तो भगवान् के न कहने पर भी अर्जुन स्वयं ही देखकर जान सकता था? इस के भी दो कारण हैं। एक तो यह कि अर्जुन ही पहले पहल ऐसा भक्त मिला था जिस को भगवान् का वह दिव्य स्वरूप देखने की इच्छा हुई। इस लिए भगवान् को उस की भक्ति देखकर इतनी प्रसन्नता हुई कि वे अपना रूप दिखलाने के पहले ही उस को अपने रूप से संबन्ध रखनेवाली सब बातें कहकर बतला देने के लिए विवश हो गये होंगे। दूसरी बात यह हो सकती है कि अर्जुन भगवान् का वह कभी का न देखा हुआ चित्र विचित्र अद्भुत रूप देखकर कहीं धोखे में न पड़ जाय कि मैं कोई जादू, तमाशा या आसुरी माया आदि की लीला तो नहीं देख रहा हूँ? इसी लिए भगवान् ने उस को पहले सावधान कर देना अच्छा समझा और साफ साफ बतला दिया कि मेरा ईश्वरीय स्वरूप अमुक अमुक प्रकार का दिखलाई देगा जिसे देखकर तुझे कोई बे सिर पैर की कल्पना नहीं करनी चाहिए। अस्तु;

इन्हीं अभिप्रायों को लेकर भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, अब तू मेरे अनेक प्रकार के, अनेक रंगों और आकृतियोंवाले सैकड़ों हजारों अलौकिक रूपों को देख।

इस पर अर्जुन ने कहा—हे भगवन्, कृपा कर कुछ और विस्तार के साथ बतला सकते हैं कि आप के उन असंख्य रूपों में मुझे क्या क्या दिखलाई पड़ेगा?

भगवान् ने उत्तर दिया—अर्जुन, ऐसी कौन सी बात है जो मैं तुझे नहीं बतला सकूँ? इस लिए मेरे रूपों में—

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत, आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, अश्विनीकुमारों को, वायुओं को देख और बहुत से पहले के न देखे हुए आश्चर्यों को देख।

गी० गौ०—हे अर्जुन, आज तू मुझ में बारहों अदितिपुत्रों को, आठों वसुओं को, ग्यारहों रुद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को और उनचासों वायुओं को देख और साथ साथ और भी बहुत से ऐसे आश्चर्योत्पादक रूपों को जिन्हें आज के पहले तू ने कभी नहीं देखा है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, भगवान् अब अर्जुन को अपने विराट् रूप की झलिया बतला रहे हैं। भगवान् दसवें अध्याय में अपने विभूतिमय रूपों का परिचय देने के प्रसंग में अर्जुन से बतला चुके हैं कि आदित्यों में विष्णुरूप से, रुद्रों में शंकररूप से, वसुओं में पावकरूप से, मरुतों में मरीचिरूप से, मेरा प्रधान विभूति का दर्शन करना चाहिए। इन के अतिरिक्त और भी बहुत से मुख्य मुख्य रूपों से अपने को जानने का उपाय उन्होंने बतला दिया है। परंतु अर्जुन ऐसा न समझे कि भगवान् ने मुख्यतः जिन देवताओं का उल्लेख किया है उतने ही रूप उन के हैं, अन्य रूपों में ईश्वरीयता नहीं है, इसी लिए यहाँ भगवान् को पुनः बतलाना पड़ा कि विभूतिवर्णन के प्रसंग में तो मैं ने छाँट छाँटकर मुख्य मुख्य रूप गिनाये थे, पर इस विश्वरूप में तुझे वे सब के सब इकट्ठे दिखलाई पड़ेंगे। 'आदित्यान्' 'वसून्' 'रुद्रान्' इत्यादि बहुवचनान्त पदों के प्रयोग का यही अभिप्राय है। संभव था कि इस प्रकार स्पष्ट विभाजन के साथ यदि अर्जुन को भगवान् ये सब बातें न बतला देते, तो वह एक ही जगह नाना प्रकार के देवताओं तथा और और चित्र विचित्र आकृति के, अचंभे में डालनेवाले पदार्थों को देखकर भयभीत हो जाता और आँखें मीच लेता जिस से भगवान् का विश्वरूप दिखलाना निष्प्रयोजक रह जाता। यह सोचकर भी भगवान् ने उसे पहले ही सावधान कर दिया कि मेरे रूप में अनगिनती देवताओं के साथ ही और भी बहुत सी अचरज की चीजों को तूँ देख और उन को भी मेरा ही रूप समझ। इन रूपों को तूँ ने पहले कभी नहीं देखा होगा, इस लिए उन्हें देखकर तेरे मन में आश्चर्य होना स्वाभाविक है, किंतु फिर भी भय करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे रंगबिरंगी सभी चीजें मुझ परम कल्याणमय परमात्मा की ही आकृतियाँ हैं।

यह सब सुनकर अर्जुन ने पूछा—हे प्रभो, आप तो बड़ी विचित्र बात सुना रहे हैं। क्या ये सभी रूप मैं यहाँ युद्धभूमि में बैठा बैठा ही देखूँ? यदि हाँ, तो कहाँ देखूँ? आकाश में या इस पृथिवी पर ही?

भगवान् ने कहा—न पृथिवी में न आकाश में, बल्कि—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश, मेरे इस शरीर में (ही) आज एकत्र स्थित चर अचर के सहित समस्त संसार तथा और भी जो कुछ देखने की इच्छा रखता है, (वह सब कुछ) देख।

गी० गौ०—हे अतिनिद्र अर्जुन, मेरे अनन्त रूपों को प्रत्यक्ष देखने के लिए पृथिवी या आकाश की ओर नहीं, प्रत्युत मेरी ओर देख। आज तुझे मैं अपने इस शरीर में ही एक ही जगह वर्तमान सारा चराचर जगत् दिखला रहा हूँ। इस लिए तू सारा ब्रह्माण्ड तथा उस के अतिरिक्त भी जो कुछ देखने की तेरी अभिलाषा हो वह सब भी आज यहीं देख ले।

क० प०—प्यारे भाइयो, हम मनुष्यों के लिए तो वास्तव में यह महान् आश्चर्यजनक बात है कि दोनों सेनाओं के बीच में एक ही जगह कोई किस तरह सारा संसार दिखला सकता है। जिस संसार को पूरा पूरा देखना किसी सहस्रायु (हजार वर्ष जीनेवाले) के लिए भी नितान्त असंभव है उसी संसार को एक ही जगह बैठकर कुछ मिनटों में ही कोई देख भी किस प्रकार सकता है? यह भी एक जटिल समस्या है। कोई कह सकता है कि कितने ही यात्री तो हर साल संसार-भ्रमण कर आते हैं; योरप के इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, रुमानिया आदि देश; अमेरिका के युनाइटेडस्टेटस्, कनाडा, केलिफोर्निया, ग्लासगो, वाशिंगटन आदि देश; अफ्रीका के नेटाल, अबीसीनिया, काहिरा, मिश्र मारिसस आदि देश; एशिया के जापान, चीन, श्याम, वर्मा, मलाया, भारत, नेपाल, तिब्बत, अफगानिस्तान, काबुल आदि देश, एवं आस्ट्रेलिया के भी अनेक देश जो देखना चाहे वह हवाई जहाज से क्या साल भर के भीतर ही नहीं देख ले सकता है? और संसार को आधुनिक काल में इतना ही व्यापक माना जाता है। इस लिए भगवान् ने भी अर्जुन को मन्त्र तन्त्र के बल से सब देशों के दृश्य दिखला दिये हों, तो कुछ आश्चर्य नहीं करना चाहिए। लेकिन मैं कहता हूँ कि ऐसा कहना अपने आप को धोखा देना है। इस से तो यही कह देना अच्छा होता कि लड़कों को तमाशा दिखानेवाली आतशी शीशे की संदूक ही भगवान् ने अर्जुन को दिखला दी होगी। तमाशा दिखलानेवाले एक पैसा लेकर लड़कों को एक डब्बानुमा दकनदार सुराख में आँख लगाने के लिए कहकर हाथ से हैंडिल घुमाने लगते हैं और मुँह से कहते जाते हैं कि 'देखो भाई, देखो, काशी की नगरी देखो, गङ्गा की धारा देखो, पंडों का फेरा देखो, बंगाली धोबिन देखो, गुजराती नाइन देखो, अफ्रीकन जंगल देखो, वीरों का दंगल देखो, विलायती होटल देखो, तिनमँजिली मोटर देखो' इत्यादि। लड़के भी कान से उस की बात सुनते और आँखों से तसवीरों का दनादन बदलना देखते रहते हैं। उन्हें उस समय सब सच ही मालूम होता है। इसी तरह अर्जुन को भी भगवान् ने तमाशा दिखा दिया होगा। परंतु क्या ऐसी बात किसी के हृदय में बैठ सकती है, कोई ऐसी बातों पर विश्वास कर सकता है? नहीं और हजार बार नहीं। भगवान् मदारी होते, तो युद्ध के मैदान में तमाशे की संदूक लेकर नहीं खड़े रहते, जान बचाकर कहीं कोन में छिपे बैठे होते। युद्धक्षेत्र में इस प्रकार स्थिर भाव से बातें कहना और सुनना कुछ कौतुक रखता है। परब्रह्म परमात्मा

और नरावतार अर्जुन में ही वह ताकत थी कि उस विकट स्थल पर भी वे लोग निर्द्वन्द्व भाव से दर्शन की जटिल गुत्थियाँ सुलझाने में लगे रहे। इस लिए मानना पड़ता है कि नारायण और नर की बातें सिर्फ़ तमाशे के रूप में नहीं, बल्कि गम्भीरतापूर्ण वास्तविक घटनाओं के रूप में संघटित हो रही थीं। अर्थात् भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ दिखलाया वह ठीक ठीक वैसा ही था जैसा कि भगवान् ने कहा है। वह न तो हवाई जहाज से आधुनिक संसार का भ्रमण था और न संदूक के भीतर का तमाशा। वहाँ की प्रत्येक बात ठोस हो रही थी, पोल का कहीं नाम भी नहीं था। हवाई जहाज से संसार भर घूमकर भी कोई संसार की सब बातों को अपनी आँखों से देख नहीं लेता और न ऐसा समझने की बालसुलभ बुद्धिमानी ही करता है। वह जानता रहता है कि इस प्रकार मैं कुछ चलते फिरते दृश्यमात्र देख रहा हूँ। तमाशा दिखानेवाला और देखनेवाले सयाने लड़के भी उस खेल का सब रहस्य जानते रहते हैं। उन दोनों में से कोई भी उस खेल को सची घटना संघटित होना नहीं मानता। परंतु भगवान् और अर्जुन तो सचमुच ही वास्तविक घटना घटा और देख रहे थे। अस्तु;

भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, आज मेरे इस शरीर में एक स्थान पर स्थित संपूर्ण चराचर जगत् तथा और जो देखना चाहता है वह सब देख, तो अर्जुन ने कहा—हे भगवन्, आप मुझ से देखने के लिए कहते तो हैं, पर मुझे दिखलाई तो कुछ पड़ता ही नहीं है, मैं देखूँ किस तरह ? मैं तो केवल आप (श्री कृष्ण) को अपने सामने उपस्थित देख रहा हूँ. आदित्य, वसु, रुद्र आदि तो कोई भी नहीं दिखलाई देते ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, जान पड़ता है कि तू मेरे इन रूपों को भी भौतिक रूप समझ रहा है और इन्हीं चमड़े की आँखों से इन्हें देखना चाहता है,—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

किंतु मुझे अपने इसी नेत्र से नहीं देख सकता। (मैं) तुझे दिव्य नेत्र दे रहा हूँ; मेरे ईश्वरीय योग को देख।

गी० गी०—हे अर्जुन, मेरा वह अलौकिक रूप इन चर्मचक्षुओं (चमड़े की आँखों) से देखना असंभव है, तू अपनी इन्हीं आँखों से मेरे दिव्य स्वरूप के दर्शन नहीं कर सकता। इस लिए अब मैं तुझ को वैसी ही अलौकिक अर्थात् दैवी शक्ति से परिपूर्ण आँखें दे रहा हूँ, उन की सहायता से तू मुझ परमेश्वर के योगसामर्थ्य से संपन्न विराट् स्वरूप के दर्शन कर।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, प्रकृति के तीन गुणों से रचित संसार की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब भी उन्हीं तीनों गुणों से युक्त हैं। आँख, कान, नाक, मुँह आदि पृथक् पृथक् अङ्ग अथवा सब के समूह से पूर्ण सारा शरीर सभी कुछ त्रिगुणमय है। इस लिए इन आँखों से हम उन्हीं वस्तुओं को देख सकते हैं जो त्रिगुणात्मक हों, इन कानों से हम वही विषय सुनकर ठीक ठीक धारण कर सकते हैं जो तीन गुणों से संबन्ध रखता हो, नाक से हम उसी की गन्ध ले सकते हैं जो तीन गुणों के प्रभाव से युक्त हो, मुँह से हम वे ही बातें कर सकते हैं जो सत्त्व, रज, तमोमय हों अथवा सारे शरीर से हम वे ही कार्य कर सकते हैं जो इन गुणों से भिन्न न हों। परंतु भगवान् त्रिगुणातीत हैं, सत्त्व, रज, तम के प्रभाव से परे हैं। उन को देखने, सुनने, जानने अथवा पहुने के लिए सब से पहले गुणातीत के लक्षणों से युक्त होना आवश्यक है। अर्जुन सब तरह से योग्य होने पर भी अभी गुणातीत नहीं हुआ था। कोई भी पार्थिव शरीर को धारण करनेवाला गुणातीत नहीं हो सकता जब तक कि भगवान् अपनी दयादृष्टि से दिव्य तेजोदृष्टि करके स्वयं किसी को गुणातीत न बना दें। इसी लिए भगवान् के यह कहने पर भी कि मेरे शरीर में सारा ब्रह्माण्ड और उस के अलावे भी जो कुछ देखना चाहता। है यह सब देख, अर्जुन को कुछ दिखलाई नहीं पड़ा और उसे कहना पड़ा कि आप की आज्ञा पाकर भी मैं आप के कथनानुसार आप का अलौकिक, ईश्वरीय योग की शक्ति से पूर्ण रूप देखने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ।

इस के उत्तर में भगवान् को भी उस की कमज़ोरी बतलानी पड़ी। उन्होंने कहा—तू इन आँखों से परमात्मा का योगैश्वर्य नहीं देख सकता।

अर्जुन ने कहा—प्रभो, तब आप ने मुझे आशान्वित क्यों बनाया, अपना यह रूप देखने के लिए क्यों कहा? इतनी आशा बँधाकर अब निराश न करें भगवन्!

भगवान् ने कहा—अच्छा अर्जुन, यदि तुझे इतनी प्रबल आकाङ्क्षा हो गई है यह रूप देखने की, तो मैं भी तुझे निराश नहीं करना चाहता। ले, अब तुझे मैं वैसी ही आँखें दे रहा हूँ जैसा मेरा यह स्वरूप है। इस से तू अवश्य सब कुछ देखने में समर्थ हो जायगा।

सज्जनो, देखी हो, तो अर्जुन जैसा। अर्जुन यदि भगवान् की यह बात सुनकर संतोष कर लेता कि इन त्रिगुणात्मिका आँखों से ईश्वरीय रूप नहीं देखा जा सकता, इस लिए मेरा कोई वश नहीं है, मुझे अपनी इच्छा दबा लेनी चाहिए; और फिर भगवान् से निराश न करने की प्रार्थना न करता, तो उस का संतोष धारण करना भी वैसा ही होता जैसा एक सिद्ध महात्मा को पाकर भी उन से अपना मृतपुत्र जिलाने की प्रार्थना करने पर केवल उन के युक्तिपूर्ण उत्तर पर निर्भर रह जाने से एक बुढ़िया को संतोष करना पड़ा था। महात्माजी पूरे सिद्ध थे, अपने तपोबल से वे कितने ही मुर्दों को जिला चुके थे, परंतु बुढ़िया की इच्छा की दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए जो उन्होंने युक्ति की बातें कीं उसी से बुढ़िया ने नैराश्यपूर्ण संतोष

ग्रहण कर लिया। इस से न तो उस का पुत्र जीवित हुआ और न उसे महात्मा की सिद्धता का प्रत्यक्ष परिचय ही प्राप्त हुआ। वह कथा इस प्रकार है—

ऋषीकेश के निकट एक पहाड़ी गाँव में एक बुढ़िया रहती थी। उस के सुख दु:ख की खोज खबर लेनेवाला उस का वृद्ध पति उसी समय मर गया जब बहुत पूजा पाठ, जप तप, मनौती भखौती के बाद ईश्वर की कृपा से अन्तिम अवस्था में किसी तरह एक पुत्र प्राप्त हुआ। अपने पति की मृत्यु पर बुढ़िया को इतना शोक हुआ, इतनी शून्यता मालूम पड़ने लगी कि जीवन भर के सत्कर्मानुष्ठान के फलस्वरूप मिला हुआ नवजात शिशु भी उस की स्मृति से विलीन हो गया। बुढ़िया को सारा संसार सूना जान पड़ा, वह इस सूनेपन के कष्ट को सहने में अपने को असमर्थ जानकर अपने पति के साथ ही संसार छोड़कर जाने की तैयारी करने लगी—लोगों ने जब उस के पति को चिता पर लिटाकर चिता में आग लगाई उसी समय वह भी दौड़ती हुई श्मशान पर पहुँच गई और उसी चिता में जल मरने की कोशिश करने लगी। गाँववालों ने बड़ी कठिनाई से उसे रोका और किसी तरह समझाया कि भगवान् की यदि यह इच्छा होती कि तू अपने पति के साथ सती हो सके, तो वे इस अन्तिम अवस्था के किनारे पहुँचने पर तुझ को एक पुत्र की माँ क्यों बनाते? भगवान् ने कल ही तुझे पुत्रवती बनाया है, इस से मालूम होता है कि वे तुझ को सती नहीं होने देना चाहते हैं। इस लिए तू अगर भगवान् की इच्छा के विरुद्ध सती हो जायगी और माता के न रहने से वह सुकुमार बच्चा न जी सकेगा, तो निश्चय समझ कि सती होने का पुण्यफल मिलना तो अलग रहे, उलटे तुझ को पुत्रहत्या के पाप का भागी होना पड़ेगा। इस लिए यह सब घबड़ाहट छोड़कर घर लौट जा और भगवान् की इच्छा में किसी का वश नहीं है, ऐसा समझकर पुत्रपालनरूप अपने मातृत्व के परम कर्तव्य का पालन कर।

ख़ैर, किसी तरह बुढ़िया ने लोगों का कहना मान लिया। वह घर लौट आई और पुत्र को पति का अन्तिम आशीर्वाद समझकर तन मन से उस का लालन पालन करने लगी। धीरे धीरे एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीन, चार, पाँच, छ और इसी क्रम से बीतते बीतते पंद्रह वर्ष बीत गये। बुढ़िया भी क्रमशः पति का वियोगजन्य दुःख भूल गई। लड़का बड़ा प्रतिभावान् था। उसे देख देखकर बुढ़िया को पूरी आशा होती थी कि यह मेरी खूब सेवा करेगा। अभी मैं पैंसठ वर्ष की हूँ, अपने पैरों चल लेती हूँ, अपने हाथों भोजन पका लेती हूँ, और अभी चार छ वर्ष इसी तरह सब काम कर लूँगी। इस के बाद बहू आ जायगी तब वह सब काम करेगी। बेटा रुपये कमाकर लायेगा, बहू गृहस्थी सँभालेगी और मेरी सेवा करेगी।

ये सब बातें उस के लिए अभी तक इसी लिए भविष्य की कल्पनाएँ बनी हुई थीं कि उस का लड़का बीस वर्ष का होने के पहले विवाह करना स्वीकार ही नहीं करता था। वह

कहता था कि अब तो अन्तिम परीक्षा पास करने में केवल तीन वर्ष की देर है। प्रिंसिपल साहब ने यह आशीर्वाद और वचन दे ही रखा है कि तुम प्रथम श्रेणी (फर्स्ट डिवीजन) में पास होगे और तुरत इसी कालेज में नौकरी पा जाओगे। इस लिए उस समय विवाह करके बहू का खर्च सँभालना भी आसान हो जायगा। अभी यदि विवाह करूँगा और खर्च वर्च की चिन्ता में पड जाऊँगा तो प्रिंसिपल साहब का आशीर्वाद फलित होने में सदेह खड़ा हो सकता है और तब नौकरी भी शायद ही लगे।

बुढ़िया ने पुत्र का कहना अस्वीकार नहीं किया। उस ने उन्हीं आनेवाले काल्पनिक सुखमय दिनों की आशा में बँधी रहकर सुख से ही और चार वर्ष बिता दिये। उस का पुत्र प्रान्त भर में सर्वप्रथम पास हुआ और पचास रुपये की मासिक वृत्ति क साथ ट्रेनिंग कालेज की शिक्षा ग्रहण करने लगा। इस तरह बीसवाँ वर्ष आने में अब केवल दो चार महीनों की कमी रह गई। बुढ़िया अब जोरों के साथ विवाह की तैयारी में लग गई थी। वह विवाह सम्बन्धी सब सामान पहले से ही जुगा जुटाकर घर में इकट्ठा करने लगी। पचास रुपयों में तीस रुपये हर महीने उस के हाथ पर आ जाते थे, बीस रुपयों से ही उस का पुत्र अपना सब खर्च चला लेता था। इस से बुढ़िया का कलेजा बाँसों ऊँचा होकर उसे विवाह की तैयारी में लगाये हुए था।

भगवान् की गति कोई नहीं जानता। अगर जान जाय, तो भविष्य की कोई भी तैयारी कोई पहले से नहीं कर सकता। शहर में प्लेग का प्रकोप फैल गया। दनादन सब स्कूल, कालेज, मदरसे, पाठशालाएँ बद होने लगी। केवल कचहरी और ट्रेनिंग कालेज अभी तक ज्यों के त्यों चल रहे थे। वे दोनों शहर के बाहर बहुत दूर शुद्ध वातावरण में स्थित थे। इसी लिए उस तरफ प्लेग के प्रचण्ड पैर अभी नहीं जम सके थे। पर म्युनिसिपल बोर्ड और पुलिसकर्मचारियों के लाख सचेट रहने पर भी लोगों का चुपके चुपके आवागमन तो उन प्रान्तों में भी लगा ही हुआ था। अतएव सब का प्रयत्न विफल कर वहाँ भी प्लेग के कीटाणु फैल गये और उन का पहला शिकार वही बुढ़िया का होनहार, आशास्तम्भ, कुलदीपक पुत्र हुआ। एक ही दिन की बीमारी में वह संसार का सब प्रपञ्च छोड़कर जहाँ से आया था वहीं चला गया। मरणकाल में बुढ़िया को यह कुछ सान्त्वना भी नहीं दे सका।

समाचार पाकर बुढ़िया ने वज्रपात होने का सा अनुभव तो किया, पर उस के अभागे प्राण तब भी उस के शरीर से अलग नहीं हुए। शायद वे वज्र से भी कठोर थे। तभी तो फूल से भी कोमल पुत्ररूपलता के आधार को छिन्न भिन्न होते देखकर भी जहाँ के तहाँ पड़े रह गये। हाँ, बुढ़िया अपने मृतपुत्र का शव गोद में लेकर अजस्र विलाप कर करके उन प्राणों को अतिशय शिथिल और निर्जीव बना डालना चाहती थी, पर जो वज्रपात को भी सह ले सकते हैं उन के लिए शक्तिहीन बुढ़िया का विलाप भला क्या असर रख सकता था?

मरना चाहकर भी बुढ़िया मर नहीं सकी, इस लिए दिन रात की रुलाई भी उस का साथ छोड़ नहीं सकी।

बुढ़िया के रोने पर पेड़ पहाड़ के भी हृदय पसीज उठे, पर यमराज का नहीं पसीजा। गाँववाले उस के दुःख से कम दुखी नहीं थे, किंतु उन का वश ही क्या था? हाँ, ईश्वर से वे अवश्य दिन रात मनाते रह गये कि किसी तरह उस दुःखिनी का दुःख दूर करो। उन से जहाँ तक बन पड़ा, वे उस को समझा बुझाकर शान्त करने की चेष्टा करते रहे कि शरीर धरने का यही धर्म है। कोई किसी का पुत्र नहीं, कोई किसी की माता नहीं, सब कुछ ईश्वर को समझो, उन्हीं का भजन करके किसी तरह संतोष रखो, इत्यादि। लेकिन वैसे लायक पुत्र का शोक दूर होना क्या हँसी खेल है? बुढ़िया का शोक किसी तरह कम नहीं हुआ बल्कि बढ़ता ही गया।

एक दिन और एक रात बीत जाने के बाद दूसरे दिन दैवगति से पता लगा कि हृषीकेश में एक बड़े भारी महात्मा आये हैं। उन की शक्ति अपार है। उन की इच्छामात्र से संभव असंभव और असंभव संभव हो जाता है। उन्होंने कितने ही दीन दुखियों का दुःख दूर किया है—पति, पुत्र, पिता आदि कितने ही प्रकार के मुर्दों को जिलाकर उन्होंने कितनी ही पत्नियों, माताओं और अनाथ पुत्रियों का शोक छुड़ा दिया है। गाँववाले बुढ़िया की समवेदना में तो लगे ही हुए थे, उन्हें ज्यों ही उस महात्मा का पता लगा त्यों ही वे उस बुढ़िया को भी उस के पुत्र की लाश के साथ महात्माजी के पास ले गये। लोगों से सुनकर बुढ़िया को फिर से अपने पुत्र के जी उठने की आशा हो गई थी। वह जाते ही महात्माजी के पैरों पर गिर पड़ी और रो रोकर अपनी इच्छा प्रकट की कि यही मेरी बुढ़ौती का एकमात्र सहारा था, इस के बिना मेरा जीना भी व्यर्थ ही है, इस लिए आप कृपा करें और मेरे पुत्र को जिला दें।

महात्माजी ने सोचा कि यह बुढ़िया अगर बहुत जीयेगी, तो दो, चार या छः वर्ष और जीयेगी। इतने ही दिनों के स्वार्थपूर्ण सुख के लिए यह अपने परलोक गत पुत्र को फिर संसार के दुःखों में घसीट लाना चाहती है। गाँववालों और इस के कहने से भी मालूम होता है कि इस का पुत्र सज्जन, सदाचारी, धार्मिक प्रकृति का और पूर्वजन्म का सुसंस्कारी प्राणी था। ऐसे मनुष्य को अवश्य ही उत्तम गति मिली होगी और इस में भी संदेह नहीं कि वह किसी कारण से तपोभ्रष्ट होकर कुछ ही दिनों के लिए संसार में अपना कर्म पूरा करने आया था। इस लिए परमेश्वर की इच्छा से ही उस का मरण हुआ है और निष्कलङ्क अवस्था में ही मरने से उस को अच्छी गति मिली है, ये दोनों बातें कभी मिथ्या हो नहीं सकतीं। ऐसी परिस्थिति में तो संसारी स्वार्थसिद्धि के लिए ईश्वरेच्छा में बाधा डालना अच्छा नहीं मालूम होता। इस लिए पहले यथासंभव यही उपाय करना चाहिए कि यह बुढ़िया पुत्रशोक का त्याग कर दे

और ईश्वरपरायणा होकर अब बचे हुए जीवन को सुधार लो। हाँ, यदि यह किसी तरह न समझ सकोगी, तो अन्त में जीवोपकार की दृष्टि से, आवश्यकता होने पर शव को जिलाने का प्रयत्न किया जायगा।

इस प्रकार पूर्वापर का मन ही मन विचार करने के बाद महात्माजी ने कहा—माता, तुम तो संसार का बहुत सुख दुःख देख चुकी हो, इस लिए तुम्हें अधिक समझाने की जरूरत नहीं। तुम्हीं कहो, ऐसा कौन है जिस के ऊपर इस तरह की विपत्ति न आती हो? फिर तुम्हें अब यहाँ रहना ही कितना है कि अपने पुत्र की छूटी हुई संसारयन्त्रणा को पुनः उस के मत्थे मढ़ना चाहती हो?

बुढ़िया ने कहा—महाराज, आप सच कहते हैं, मैं ने बहुत सुख दुःख देखा है। लेकिन दोनों को केवल देखा ही देखा है, भोगा नहीं है। जन्म भर दुःखों के ही फेर में पड़ी रह गई। अब यही आशा बँधी हुई थी कि जो सुख कभी नहीं पा सकी वह अन्त समय में अपने पुत्र के भरोसे पा सकूँगी। सो वह भी भगवान् को नहीं भाया, उन्होंने उसे आधी उम्र भी नहीं जीने दिया। संसार में सब के ऊपर विपद् आती है, लेकिन ऐसी नहीं कि कभी सुख देखने को भी न मिले। इस लिए आप से मैं बार बार यही भीख माँगती हूँ कि मेरे दुलारे को जिला दीजिए, आप को बड़ा पुण्य होगा। इसी साल मैं उस का विवाह करनेवाली थी। सब तैयारी हो चुकी थी, खाली उस की नौकरी लगने की देर थी। इस लिए इन बातों को सोच सोचकर और भी कलेजा फटा जाता है। इतना कहकर बुढ़िया फिर जोर जोर से रोने लगी।

महात्माजी समझ गये कि यह पुत्रप्रेम के लिए उतनी व्याकुल नहीं है जितना अपनी गृहस्थी सभाँलने के लिए। इस लिए उन्होंने कहा—यह सब तो तुम ठीक कहती हो, परंतु जब सब संसार इसी प्रपञ्च में पड़ा हुआ है तब फिर यही कैसे कहा जा सकता है कि तुम्हारा लड़का ही अगर जी उठे, तो उसी तरह के दुःखों में नहीं पड़ने पायगा; अवश्य ही उस के ऊपर भी ये ही संकट घहराने लगेंगे। इस से तो अच्छा यही है कि जिस प्रकार आज तक आनन्द करता हुआ वह चला बसा उसी प्रकार उसे चला जाने दिया जाय।

बुढ़िया ने कहा—नहीं प्रभो, ऐसा मत कहिए। संसार में बहुत से घर ऐसे हो सकते हैं जिन के ऊपर इस तरह के संकट नहीं आते। तब फिर मैं भी क्यों न सोचूँ कि मेरा बचा सब दिन सुखी ही रहेगा?

महात्माजी ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सभी के ऊपर सुख दुःख पड़ना अनिवार्य है। ऐसा कोई कुटुम्ब हो नहीं सकता जिसे पुत्रजन्मोत्सव का सुख और पुत्र-वियोग का दुःख, दोनों तरह के प्रपञ्च न देखने पड़ें। इस लिए जो चला गया उस को सुख से

अपना मार्ग पकड़े रहने दो, उलटा लौटाकर दुःख में मत डालो। रहीं तुम, तो तुम्हारे लिए भगवान् का नाम लेना ही काफी है। भगवान् को भजती हुई तुम सुख से अपना रास्ता पूरा करो, जाने दो इन झगड़ों को। संसार बड़ा ही दुःखमय है। यहाँ से जो चला जाय वही अच्छा। यहाँ रहने में हानि के सिवा कोई लाभ नहीं है।

बुढ़िया ने कहा—महाराज, आप जो कहें, वह सब ठीक ही है। लेकिन मैं तो जिसे देखती हूँ, अपने सामने सब को सुखी ही पाती हूँ। दुखी बस, अकेली मैं ही हूँ। इस लिए कृपा करके मेरा दुःख दूर कर दें जिस में अपने को भी सुखी देख सकूँ।

महात्माजी ने देखा कि वृद्धा सब कुछ जानकर भी मोहवश नहीं जान पाती है, बार बार संसारसुख की सत्यता सिद्ध करना चाहती है। इस लिए इस को प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिखलाकर समझा देना चाहिए कि सारा संसार दुःख भोगता हुआ भी सुखी होने का ढोंग रचे हुए हैं। उन्होंने कहा—अच्छा, यदि तेरी यही इच्छा है कि परम सुख की राह पर गया हुआ तेरा लड़का फिर दुःखों से भरे संसारसागर की लहरों में आ पड़े, तो जा, किसी दूकान से एक मुट्ठी पीली सरसों ले आ। लेकिन देख, सरसों ऐसी दूकान की होनी चाहिए जिस दूकानदार के घर का कोई प्राणी कभी मरा न हो। जिस दूकानदार के यहाँ से मौत अपनी खुराक ले गई होगी उस के यहाँ की सरसों से काम नहीं चल सकता, क्योंकि उस पर मृत्यु की छाया पड़ गई होगी।

बुढ़िया ने कहा—अच्छा देवता, ऐसा ही करती हूँ।

वह उठकर बाजार में चली गई और हर एक दूकान पर जाकर जाँच करने लगी कि उस के घर का कोई प्राणी कभी मरा है या नहीं। सबेरे से लेकर शाम तक वह इस दूकान से उस दूकान घूमती रह गई, पर ऐसा कोई भी दूकानदार नहीं मिला जिस का कोई पारिवारिक मृत्यु का ग्रास न बन चुका हो—किसी का पिता मर चुका था और किसी की माता। इसी प्रकार किसी का भाई, किसी की बहिन, किसी का पुत्र, किसी की स्त्री, किसी का कोई, किसी का कोई और किसी किसी के तो अनेकों नाती, पुत्र, पुत्री, पत्नी, भाई, भौजाई, बहिन, बहनोई आदि मर चुके थे। बुढ़िया चलते चलते थक गई, लेकिन जैसी दूकान को उसे तलाश थी वैसी दूकान नहीं मिली। और नहीं तो दिन भर लोगों की विपत्कथा सुनते सुनते उस का मन भी वैसा होने लगा। वह निराश होकर महात्माजी के पास लौट आई और सब हाल कह सुनाया।

महात्माजी ने कहा—जाने दो, अच्छा ही हुआ सरसों नहीं मिली; क्योंकि यदि मिल जाती और तेरा लड़का जी जाता, तो निश्चय था कि उस को भी इन्हीं झगड़ों में फँसना पड़ता, उस के भी लड़के बच्चे हो होकर मरते और बिचारे को दुखी बनाते। और यहाँ तुझे तुम्हारा

मिलना चाहिए वहाँ वह तुझे अपयश देता, कोसता, गालियाँ सुनाता कि मेरी स्वार्थिनी माँ ने अपने सुख के लिए मेरा अक्षय सुख खो दिया, मेरे छूटे हुए संसारसंकट को पुनः वापस बुला दिया। इस लिए तूँ अब मेरा कहना मानकर बीती बातों को भूल जा और घर गृहस्थी के पचड़े को छोड़कर यहाँ माता गङ्गा की शरण में पड़ी पड़ी भगवान् का भजन कर।

बुढ़िया को महात्माजी की बातों से संतोष हो गया। संसार के बड़े बड़े दुखियों को देखकर उसे महात्मा की सभी बातें विश्वसनीय मालूम पड़ने लगीं। उस ने अपने पुत्र को पुनः जीवित कराने का विचार छोड़ दिया और महात्मा के कथनानुसार ऋषीकेश में ही रहकर भगवान् के भजन में चित्त लगा दिया।

यदि सरसों न मिलने पर भी वह अपनी इच्छा का त्याग न करती और महात्माजी से प्रार्थना करती कि आप समर्थ पुरुष हैं, सरसों की जगह दूसरी वस्तु से काम ले लीजिए और मेरा पुत्र जिला दीजिए, तो महात्मा को भी उस की बात माननी ही पड़ती, उन्हें तपोबल खर्च करके अवश्य उस के लड़के को जीवित करना पड़ता। परन्तु उस वृद्धा बिचारी को इतनी दृढ़ इच्छा करने नहीं आई और संतोष करके पुत्रवियोग का शोक ही कम करना पड़ा।

इसी तरह यदि अर्जुन भी भगवान् की यह बात सुनकर संतोष कर जाता कि इन चर्म-चक्षुओं से विभूतिमय व्यापक ब्रह्म को देखना असंभव है, और अपनी भगवद्दर्शनेच्छा पर दृढ़ रहकर पुनः उन से प्रार्थना न करता कि हे प्रभो, पहले आशा देकर अब निराश न करें, तो उस बुढ़िया की भाँति उस को भी संतोष ही धारण करना पड़ता। परंतु नहीं। अर्जुन न तो वृद्ध था, न शिथिलनिश्चयी। वह वीर युवक था और अपने निश्चय पर दृढ़ रहने का स्वभाव रखता था।

इसी लिए भगवान् को भी उस की प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी और कहना पड़ा कि मैं तुझ को दिव्य नेत्र दे रहा हूँ, उस से मेरा ईश्वरीय योग देख। अस्तु,

धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर देने में संजय ने अर्जुन के विषाद को प्राप्त होने के वर्णन से लेकर यहाँ तक का हाल पूरा पूरा सुना दिया। भगवान् कृष्ण के परम उपदेशों की बातें धृतराष्ट्र ध्यान से सुनता रहा, परन्तु जब उस को संजय के कहने से यह मालूम हुआ कि श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देने का आश्वासन दिया, तो धृतराष्ट्र को एकाएक विश्वास नहीं हुआ कि अर्जुन की इतनी सौभाग्यवृद्धि हो सकती है। इस लिए उस ने संजय से पूछा कि हे संजय, सच कह, क्या श्री कृष्ण ने वस्तुतः अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर उसे अपना विश्वव्यापक सुदुर्दर्श रूप दिखलाया?

संजय ने कहा—हाँ महाराज, भगवान् ने जैसा कहा वैसा ही किया। भगवान् भी क्या कभी झूठ कहनेवाले हैं?

धृतराष्ट्र ने कहा—अच्छा, विस्तार से कह कि इस के बाद कैसे कैसे क्या क्या हुआ ?

इस का उत्तर देते हुए संजय ने कहा कि अच्छा, महाराज, ध्यान से सुनिए। मैं सब यथावत् वैसा ही कहूँगा जैसा कि वहाँ पर (कुरुक्षेत्र में) हुआ है। इस पर धृतराष्ट्र ने कहा कि कह। तब—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला—हे राजन्, ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर हरि ने पृथा के पुत्र को (अपना) परम ईश्वरीय रूप दिखलाया।

गी० गौ०—हे राजन् धृतराष्ट्र, दिव्य नेत्र देकर अपना विश्वरूप देखने की आज्ञा देने के बाद सर्वसमर्थ और योगियों के ईश्वर भगवान् श्री कृष्ण ने पृथापुत्र अर्जुन को अपना सर्वश्रेष्ठ विश्वरूप प्रत्यक्ष करके दिखला दिया।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, ध्यान दो और देखो कि संजय क्या कह रहा है। संजय पाण्डवों के पक्ष का व्यक्ति नहीं है। वह कौरवों का अपना आदमी है। इस से भी बढ़कर ध्यान देने की बात यह है कि इस समय वह न तो कहीं एकान्त में बैठा है और न किसी पाण्डवपक्षीय व्यक्ति से बातें कर रहा है, प्रत्युत वह कौरवों के सर्वप्रधान व्यक्ति धृतराष्ट्र के सामने वर्तमान है और उन्हीं से बातें कर रहा है। ऐसी स्थिति में रहकर कोई भी अपने मालिक के शत्रुपक्ष के किसी व्यक्ति की बड़ाई करने का साहस करे, यह असंभव बात है। आजकल तो ऐसी हालत में यदि किसी को बात करनी पड़े, तो इच्छा रखते हुए भी वह उस तरह का व्यवहार नहीं कर सकता, जहाँ तक होगा वहाँ तक शत्रुपक्ष की हानि या निन्दा की ही बातें करेगा, ताकि मालिक की भृकुटी न तन जाय, मालिक नाराज न हो जाय। कारण, आजकल ऐसा मालिक मिल नहीं सकता जो अपने ही आदमी को अपने मुँह पर शत्रु की बड़ाई करने दे। परंतु वहाँ मालिक और नौकर दोनों प्राचीन काल के व्यक्ति बैठे थे। मालिक को इच्छा थी सच सच बातें जानने की और नौकर भी मालिक के पक्ष की झूठी बड़ाई करके उसे धोखे में नहीं रखना चाहता था। उसे यह भय होता कि शत्रु की बड़ाई करने से मेरी नौकरी चली जायगी, रोजी और रोटी मारी जायगी, तो कदाचित् वह वैसा करता भी, पर संजय को इस का कुछ भी भय नहीं था। वह परमात्मा का भक्त था। उसे अपनी बुद्धि का नहीं, बल्कि परमात्मा के बल का भरोसा था। वह जानता था कि

यदि मैं झूठ बोलूँगा, भगवान् की वास्तविक बातों को छिपाकर उन की हीनता प्रमाणित करनेवाली नमक मिर्च लिपटी अनर्गल बातें कहूँगा, तो उसी दशा में मुझे भयोत्पादक परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा, विपत्ति के गर्त में गिरना होगा। और यदि ऐसा न करके सब सच सच कहूँगा, तो भगवान् मेरे पक्षपाती रहेंगे, मुझे भयमुक्त किये रहेंगे।

इसी लिए धृतराष्ट्र का कुछ भी भय न करके उस ने साफ़ साफ़ शब्दों में भगवान् को महान्, योगेश्वर और हरि अर्थात् साक्षात् नारायण सिद्ध करते हुए कहा कि हे राजन्, अपना विश्वरूप दिखाने के योग्य अलौकिक नेत्र उन्होंने अर्जुन को देने के लिए कहा और दिया भी तथा उस के बाद अपना वह परमेश्वरीय विराट् रूप उस को दिखला भी दिया।

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा—अच्छा, संजय, दिव्य नेत्र तो वेदव्यासजी ने मुझे भी दिया है, इस लिए तूँ ने भी तो श्री कृष्ण का वह रूप देखा होगा?

संजय ने कहा—हाँ राजन्, मैं ने भी अनेक जन्मों के पुण्यस्वरूप दिखलाई पड़नेवाले उस रूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त किया।

धृतराष्ट्र ने कहा—अच्छा, तो कुछ हुलिया बतलाे कि कैसा था वह रूप?

संजय ने कहा—कुछ क्यों, पूरा पूरा सुनिए राजन्! भगवान् ने जो रूप दिखलाया तथा अर्जुन ने जो रूप देखा उस में—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अनेक मुख और नेत्र थे, अनेक आश्चर्यकारी दृश्य थे, अनेक अलौकिक आभूषण थे, अनेक अलौकिक आयुध उठे हुए थे, अलौकिक माला और वस्त्र धारित थे, अलौकिक गन्ध के लेप लगे थे, सब आश्चर्यों से परिपूर्ण अनन्त देव थे और चारों ओर ‍ ‍ ‍ ‍ थे।

गी० गौ०—हे राजन्, भगवान् ने अर्जुन को जो रूप दिखलाया उस में कितने मुँह थे तथा कितनी आँखें थीं इस की तो गणना ही नहीं की जा सकती, अनेक अथवा अनन्त कहकर ही संतोष करना पड़ता है। उस रूप में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले न जाने कितने दृश्य थे। वह रूप स्वर्गीय गहनों से लदा हुआ था जैसे गहने किसी ने इस पृथिवी पर आज देखे भी न होंगे। उस रूप के जितने

हाथ थे सब में तने हुए अलौकिक अस्त्र शस्त्र विद्यमान थे। उस के गले में स्वर्गीय मालाएँ थीं और शरीर में वैसे ही दिव्य वस्त्र धारण किये गये थे। संपूर्ण देह उत्तमोत्तम स्वर्गीय सुगन्धों से पुती हुई सी मालूम हो रही थी। हे राजन्, मैं कहाँ तक गिनाऊँ? आप यही समझ लीजिए कि वह विश्वरूप अनन्त था, उस में चारों ओर मुख ही मुख थे, ऐसी कोई दिशा नहीं जिधर उस रूप के मुख न रहे हों। उस रूप में सब आश्चर्य ही आश्चर्य भरा हुआ था। अर्जुन ने उन्हीं अनन्त देव के दर्शन किये।

क० प्र०— प्रिय परम प्रभुप्रेमी सज्जनो, संजय सचमुच ही बडा बड़भागी था। भगवान् ने खासकर अर्जुन के ऊपर कृपा करके वह रूप दिखलाया; और वह भी कब? जब कि अर्जुन ने बार बार प्रार्थनाएँ कीं, नाक रगड़ी, भक्ति की उत्कृष्टता दिखलाई तब। परंतु संजय को यह सब कुछ भी नहीं करना पड़ा था। वह तो धृतराष्ट्र का एक प्रकार से गुप्तचर बना हुआ युद्धस्थल की सब बातें देखा करता था। उसी सिलसिले में उस के भाग्य का ऐसा जबरदस्त पर्दा खुला कि वह धन्य हो गया। उस विचित्र रूप को देखकर वह अपना अपनापा तक भूल गया। उस में यह शक्ति भी नहीं रह गई कि वह उस रूप का पूरा पूरा वर्णन धृतराष्ट्र को सुना सके। वह रूप ऐसा था ही कि उसे जो कोई भी देखता वही आपे में नहीं रह जाता। वह रूप वर्णनातीत था। व्यासजी भी अपनी सारी कवित्वशक्ति खर्च डालते तो भी उस का यथातथ्य वर्णन करने में असमर्थ रह जाते। तात्पर्य यह कि वह रूप केवल दर्शनीय था, वर्णनीय नहीं; केवल स्मरणीय था, कथनीय नहीं। परंतु धृतराष्ट्र ने तो पूछ दिया कि हे संजय, उस विश्वरूप की हुलिया बतला, उस का वर्णन कर कि उस में क्या क्या विशेषताएँ थीं? धृतराष्ट्र ठहरे मालिक, राजा, प्रभु, और संजय ठहरा नौकर, प्रजा, दास। मालिक के प्रश्न का उत्तर देना ही चाहिए, चुप रह जाने से काम नहीं चल सकता। किंतु उत्तर दे भी, तो क्या दे? कुछ कहते तो बनता ही नहीं था। उधर कुछ न कुछ कहना भी जरूरी ही था। ऐसी विषम परिस्थिति में सिवा इस के कोई दूसरा उपाय नहीं था कि उस विश्वरूप को अनन्त, असंख्य, अद्भुत, आश्चर्यमय, अवर्णनीय कहकर किसी तरह मालिक के सामने अपना बचाव किया जाय।

इसी लिए चतुर संजय ने धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए यही कहा कि हे राजन्, भगवान् नारायण ने कृपा करके अर्जुन को अपना जो पारमेश्वर रूप दिखलाया वह अर्जुन को बड़ा अद्भुत दिखलाई पड़ा। अर्जुन ने देखा कि उस रूप के मुखों की गणना नहीं की जा सकती, न आँखों की कोई संख्या निर्धारित हो सकती है। उस रूप की विचित्रता देखकर उस ने उसे अनुपमेय माना और हृदय में सोचा कि अनेक प्रकार की विचित्रताओं का खजाना

यह दृश्य है। अर्जुन को इस रूप के अङ्गों में सुशोभित होनेवाले आभूषणों का भी थाह नहीं लगा; क्योंकि एक तो अनगिनत मुख आदि होने से आभूषण भी गिनने मान के नहीं थे, दूसरे उन आभूषणों की चमक दमक के आगे आँखें स्थिर ही नहीं हो सकती थीं, फिर वह गिने तो कैसे गिने ? इस रूप ने उद्यत (मानों प्रहार करने के लिए, उठे हुए) हथियार भी इतने धर रखे थे कि इन की भी गिनती नहीं हो सकती थी। ये गहने और हथियार वैसे नहीं थे जैसे इस लोक में देखे जाते हैं, वे सब देवताओं के लोक के थे। इस लिए उन गहनों या हथियारों के नाम भी नहीं बतलाये जा सकते हैं। उस रूप के गलों में जो मालाएँ थीं तथा कटिप्रदेश में जो वस्त्र थे वे सब भी देवलोकी ही थे। अतः इन की भी कोई उपमा नहीं दी जा सकती कि मालाएँ किन फूलों की मालाओं की तरह थीं अथवा वस्त्र किन वस्त्रों की भाँति के थे। उस रूप के शरीर भर में जो अनुलेपन (सुगन्धित चन्दन आदि) लगे थे उन की गन्ध भी इस लोक के सुगन्धद्रव्यों से भिन्न अर्थात् अलौकिक थी। तात्पर्य यह कि संपूर्ण दिशाओं में मुखवाले वे अनन्त देव सब प्रकार से अर्जुन को आश्चर्यमय ही दिखलाई दिये।

यह वर्णन सुनकर धृतराष्ट्र ने भी सोच लिया कि जब अर्जुन जैसे दैवी गुणों से संपन्न पुरुष को ही वह रूप इतना विस्मयकारक दिखलाई पड़ा, तो संजय बिचारा तो कहाँ से कुछ अधिक विस्तृत रूपरेखा बतला सकता है ? इस लिए उन्होंने इतने ही पर संतोष करके पूछा कि अच्छा संजय, यह तो बतला कि उस रूप की कान्ति कृष्ण की भाँति साँवले रंग की थी या अर्जुन जैसी गोरी थी ?

संजय ने कहा—राजन्, वह न साँवला था, न गोरा; प्रत्युत—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में यदि एक साथ ही हजार सूर्यों का प्रकाश फैल जाय, तो वह उस महात्मा के प्रकाश के समान हो सकता है।

गी० गौ०—हे राजन्, जिस प्रकार वह रूप अकथनीय था उसी प्रकार उस की कान्ति भी वर्णन के परे थी। हाँ, कुछ कुछ अनुमान की सहायता से उस का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है कि यदि एक ही बार हजार सूर्य अपना अपना पूर्ण प्रकाश लेकर आकाश में उदित हो जायँ, तो उन का वह संमिलित प्रकाश जैसा उत्कट और व्यापक हो सकता है वैसी ही व्यापक कान्ति उस विराट् रूपधारी महात्मा की कही जा सकती है।

क० म०—प्यारे मित्रो, जानते हो न कि एक ही सूर्य का पूर्ण प्रकाश कैसा होता है? रात को असंख्य तारे उगते हैं, देखने में करीब करीब सूर्य की ही बराबरी के चन्द्रमा उगते हैं, अरबों वोल्ट पावर की बिजुली की बत्तियाँ जलाई जाती हैं, करोड़ों मन मिट्टी के तेल से लालटेनें और ढेबरियाँ जलाई जाती हैं तथा और भी न जाने कितनी घी, कडुआ तेल, कारबाइड आदि की बत्तियाँ जलाई जाती हैं, लेकिन इतने पर भी अन्धकार के साम्राज्य को कुछ ठेस लगती हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह के प्रकाश जलाने पर भी अन्धकार में होनेवाले काम भी होते ही रहते हैं और अन्धकार में जीविका का उपार्जन करनेवाले जीव अपनी जीविका चलाते ही रहते हैं। इन सब प्रकाशों की शक्ति अपने ही अपने दायरे में समाप्त हो जाती है। परंतु प्रातःकाल होने पर, एक ही सूर्यनारायण के उदय होने पर संसार भर के व्योम को व्यर्थ प्रमाणित करनेवाला अन्धकार स्वयं व्यर्थ प्रमाणित होकर ऐसा मुँह छिपाता है कि सूर्य के साम्राज्य भर में ढूँढ़ डालने से भी उस का पता नहीं लगता। यह एक सूर्य के प्रकाश की बात हुई। इतना भी प्रकाश यदि किसी के चेहरे से प्रस्फुटित होता, तो वह लोकोत्तर प्रभावान् कहा जाता। परंतु भगवान् के उस विश्वरूप से जो प्रकाश फैल रहा था वह संजय और अर्जुन के देखने में एक सूर्य की कौन कहे, सौ दो सौ या पाँच सौ सात सौ सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक विस्तृत अर्थात् पूरे एक हजार सूर्यों के प्रकाश के समान था। तात्पर्य यह कि उस विश्वरूप की कान्ति भी वर्णनातीत ही थी। अस्तु;

इसी लिए संजय ने कहा कि हे राजन् धृतराष्ट्र, अगर एक हजार सूर्य एक साथ आकाश में उगें, तो उस समय जैसा प्रकाश होगा उसी के समान उस महात्मा की कान्ति थी।

इस पर धृतराष्ट्र ने पूछा—हे संजय, जब कि वह रूप इतना विशाल, ऐसा अकथनीय था, तो अर्जुन के लिए वह दर्शनीय कैसे हुआ अर्थात् उतने विराट् रूप को अर्जुन ने देखा किस भाँति?

संजय ने कहा—राजन्, उसे देखने की क्रिया भी उस विराट् जैसी ही विचित्र थी। बात ऐसी हुई कि श्री कृष्णजी ने एक ही जगह संपूर्ण चराचर जगत् को देखने के लिए कहने के बाद जब अर्जुन को दिव्य आँखें दीं, तो—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

उस समय अर्जुन ने अनेक प्रकारों में विभक्त संपूर्ण संसार को वहाँ देवताओं के देवता (श्री कृष्ण) के शरीर में एकत्रित देखा।

गी० गो०—हे राजन्, भगवान् ने अपने पूर्वकथनानुसार अपना विश्वरूप एक ही जगह पाण्डव को दिखा दिया। यह नाना प्रकार से नानारूपों में बँटा हुआ

सारा संसार भगवान् की कृपा से अर्जुन को उस समय इकट्ठा हुआ ही दिखलाई पड़ा। उस रूप को देखने के लिए अर्जुन को इधर उधर आँखें दौड़ाने का प्रयास नहीं करना पड़ा, अपि तु भगवान् ने यह सारा संसार अपने शरीर में एकत्रित कर लिया था और अर्जुन ने वहीं पर सब कुछ देख लिया।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, संसार का नाना प्रकारों में विभक्त होना तो सभी जानते हैं, सब को मालूम है कि संसार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, जंगल, नदी, नाला, समुद्र, झील, फूल, फल, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, गन्धर्व, किन्नर, ऋषि, मुनि, सिद्ध, साध्य आदि आदि के रूप में अलग अलग बँटा हुआ है, यही संसार का नाना प्रकारों में विभक्त होना है। परंतु इन नाना प्रकारों को अगर कोई देखना चाहे, तो निश्चय ही उस को नाना प्रकार के प्रयत्न भी करने पड़ेंगे। बड़ी बड़ी विपत्तियाँ, मुसीबतें, तकलीफें झेलने पर संसार का एक एक प्रकार देखा जाता है। जंगल, पहाड़, समुद्र आदि की दुर्गमता सब को मालूम है। इन में से एक को भी पूरा देखने में अनेक मनुष्यजन्मों का पर्यवसान हो सकता है। फिर सब का सब देखना तो कैसे संभव हो सकता है? हाँ, यदि कोई कल्पनाशक्ति से काम ले और अपनी कल्पनाओं को सत्य ही मानने का हठ करे, तो मन में सोच सोचकर कह सकता है कि मैं ने संसार की सब जड़ जङ्गम वस्तुओं को एक ही स्थान पर देख लिया। परंतु उस का यह कहना भी असत्य ही होगा, क्योंकि बिना देखी सुनी वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती और ऐसा कोई है नहीं जिस ने संसार की सब वस्तुओं को देख या सुन लिया हो। फिर वैसी कल्पना किस तरह होगी? नहीं ही होगी। इस लिए निश्चय हुआ कि कल्पना द्वारा भी सारा संसार देखना संभव नहीं है। परंतु अर्जुन ने वही संपूर्ण जगत् प्रत्यक्ष रूप से एक ही जगह देख लिया। यह कैसे संभव हुआ? उत्तर है—केवल भगवान् की कृपा से। भगवान् की कृपा के आगे कुछ भी असंभव नहीं रहता, सब कुछ संभव हो जाता है। अस्तु।

इसी अभिप्राय से संजय ने कहा कि हे राजन्, उस समय अर्जुन ने अनेक प्रकारों में विभक्त संपूर्ण जगत् को वहाँ देवदेव के शरीर में एक ही स्थान पर स्थित देखा।

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा—अच्छा संजय, यह तो बता कि वैसा आश्चर्यकारी दृश्य देखकर अर्जुन की क्या दशा हुई और उस के बाद उस ने किया क्या?

इस के उत्तर में संजय ने कहा कि—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उस के बाद विस्मय से अभिभूत, प्रफुल्लित रोमावलीवाला यह धनंजय देव को सिर से प्रणाम कर के हाथ जोड़कर बोला।

गी० गौ०—हे राजन्, भगवान् के शरीर में एक ही जगह सब संसार को देखने के बाद अर्जुन आश्चर्य से ऐसा प्रभावित हुआ, उस के हृदय में ऐसा आवेश आया कि उस के शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। तब उस ने सिर झुकाकर भगवान् को नमस्कार किया और हाथ जोड़कर कहना आरम्भ किया।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् का वह विश्वरूप देखकर अर्जुन को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उस के शरीर के रोयें खड़े हो गये। बहुत से विद्वान् इस का यह भाव निकालते हैं कि वह अद्भुत रूप देखकर अर्जुन घबड़ा गया और भय के मारे उस के रोयें उठ गये, पर यह भाव ठीक नहीं है। अर्जुन ने भगवान् की कृपा और शक्ति से स्वर्ग, मर्त्य और पाताल के बड़े बड़े आश्चर्यकारी और भयंकर दृश्य देखे थे। वह वीर क्षत्रिय था, कायर या डरपोक नहीं था। पाताल में जाकर वहाँ के निवासियों को परास्त कर चुका था। पाताल के भयंकर दृश्यों का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। फिर वह भगवान् का रूप देखकर घबड़ायेगा क्यों और क्यों भयभीत होगा? कोई पूछ सकता है कि यदि वह घबड़ाया नहीं, न भयभीत हुआ, तो क्यों उसे आश्चर्यचकित तथा रोमाञ्चित होना पड़ा और क्यों उस ने तुरंत सिर झुकाकर हाथ जोड़ दिये? इस का उत्तर यह है कि इस समय उस के संमुख भगवान् का जो रूप विद्यमान था वैसा रूप इस के पहले उस ने कभी नहीं देखा था। इस लिए अदृष्टपूर्व वस्तु को देखकर विस्मयाविष्ट अर्थात् आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही है। और शरीर के रोंगटे जो खड़े हो गये उस का कारण भी भय नहीं, बल्कि हर्ष है। अर्जुन भगवान् को अपने प्रति इतनी महती कृपा करते देखकर हर्ष से, प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो गया। उसी हर्षातिरेक का परिणाम था उस का रोमाञ्चित होना। अधिक हर्ष होने पर रोम खड़े हो ही जाते हैं। इस लिए प्रभावित होकर उस ने भगवान् के सामने सिर भी झुका दिया और दोनों हाथ भी जोड़ दिये। यदि ऐसी बात न होती और वस्तुतः वह घबड़ाया हो होता, तो उस दशा में उस के मुँह से तुरंत बोली नहीं निकल सकती थी। परंतु संजय स्पष्ट कह रहा है कि 'धनंजयः अभाषत' अर्थात् अर्जुन बोला। घबड़ाने की हालत में कई क्षण तो इस योग्य होने में लग जाते हैं कि ठीक ठीक कुछ सोचा जा सके। फिर उस के बाद उस समय का सोचना भी स्थिर नहीं होता, अनेक प्रकार की बातें एक ही साथ मन में उठने और विलीन होने लगती हैं। अर्जुन को यह सब कुछ भी नहीं हुआ, वह उसी समय हाथ जोड़कर कहने लगा, उसे सोचने विचारने की जरूरत नहीं पड़ी। अस्तु,

संजय ने जब कहा कि हे राजन् धृतराष्ट्र, उस के बाद विस्मयाविष्ट और प्रफुल्ल रोमावलीवाला वह अर्जुन परमात्मा को सिर से प्रणाम कर हाथ जोड़कर बोला, तब धृतराष्ट्र ने पूछा कि हे संजय, अब यह बतला कि अर्जुन ने क्या कहा?

संजय ने कहा—राजन्, अर्जुन ने भगवान् के विराट् रूप में जो कुछ देखा उसी का वर्णन करना प्रारम्भ किया। वे सब बातें मैं आप को अर्जुन के ही शब्दों में सुनाता हूँ। ध्यान से सुनिए—

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुन ने कहा—हे देव, आप के शरीर में सब देवताओं को, प्राणियों के अनेक समूहों को, कमलासन पर बैठे हुए सब के स्वामी ब्रह्मा को और सब ऋषियों को तथा देवलोकी सर्पों को (मैं) देख रहा हूँ।

गी० गौ०—हे राजन् धृतराष्ट्र, भगवान् को प्रणाम कर तथा हाथ जोड़कर अर्जुन ने यों कहना प्रारम्भ किया कि हे परमात्मन्, मैं इस समय आप के शरीर में समस्त देवताओं का दर्शन पा रहा हूँ, जीवों के विविध प्रकार के समूहों को देख रहा हूँ, विष्णु भगवान् की नाभि से उत्पन्न कमल के पुष्प को आसन बनाकर बैठे हुए, प्रजा का शासन करनेवाले चतुर्मुख ब्रह्मा का अवलोकन कर रहा हूँ, वसिष्ठ, अत्रि, जमदग्नि आदि सब ऋषिवर्यों को देख रहा हूँ और संसारपूज्य देवलोकवासी समस्त सर्पों को भी वहीं वर्तमान देखता हूँ।

प्र० प्र०—प्रिय परम प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् की देह में अर्जुन ने सब देवताओं को देखा। वह यह नहीं बताता कि किन किन देवताओं को देख रहा हूँ। देवताओं के नामों का उल्लेख करना उस की शक्ति से परे था। इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, शंकर आदि आदि कुछ देवताओं के लक्षण और नाम अर्जुन को अवश्य मालूम थे। इस लिए भगवान् की देह में यदि उतने ही देवता होते, तो वह उन का नामोल्लेख अवश्य करता, पर अनन्त देवताओं के न तो उस को नाम, धाम, रूप, लक्षण ही मालूम थे, न उन की गणना करना संभव था। इसी से अर्जुन ने समूह का ही कथन किया अर्थात् एक साथ ही सब को मिलाकर कह दिया कि हे प्रभो, मैं आप के शरीर में समस्त देवताओं को देख रहा हूँ। यहाँ

यह संदेह किसी को नहीं करना चाहिए कि अर्जुन ने यह कैसे जाना कि भगवान् के शरीर में जितने देवता दिखाई देते हैं उतने ही देवता संसार में हैं ही अर्थात् उन देवताओं को देखकर उस ने 'सब' शब्द का प्रयोग किस आधार पर किया ? संभव है, जितने देवताओं को उस ने देखा उन के अतिरिक्त भी कुछ देवता रह गये हों, जो भगवान् के विश्वरूप दिखलाने के समय किसी कारण से वहाँ उपस्थित न हो सके हों ? नहीं; ऐसा संदेह करना निराधार है और अर्जुन का उक्त कथन साधार है। वह आधार साधारण भी नहीं है जो किसी की युक्ति से कट सके। वह स्वयं भगवान् का कथित आधार है अर्थात् भगवान् ने (छठें श्लोक में) अर्जुन से पहले ही कह दिया है कि तूँ मेरे शरीर में सब आदित्यों, सब रुद्रों, सब वसुओं, सब मरुतों, दोनों अश्विनीकुमारों तथा और भी न देखी सुनी आश्चर्यकारिणी वस्तुओं को देख। सो उसी के आधार पर अर्जुन ने समझ लिया कि इस समय जितने देवताओं को मैं देख रहा हूँ वे ही संसार भर के सब देवता हैं। इसी लिए उस ने दृढ़ता के साथ 'सब' शब्द का प्रयोग किया।

इसी प्रकार उस ने सब जीवों को भी जाना, क्योंकि भगवान् उस से कह चुके थे कि मेरे शरीर में संपूर्ण जगत् को एक ही जगह देख। इस के अलावे आज तक की ज़िंदगी में अर्जुन ने जितने प्रकार के जीव देखे थे वे सब तो उसे वहाँ दिखाई दिये ही, और भी बहुत से अज्ञात जीव जन्तु उस ने वहाँ देखा—अमीर, गरीब, रोगी, निरोगी, मोटे, ताजे, दुबले पतले, सुरूप, कुरूप सब प्रकार के मनुष्य, गौ, हाथी, भैंस, गधा, घोड़ा, बाघ, सिंह, सियार, बकरी, भेंड़, चूहा, बिल्ली, हिरन, भालू, बंदर आदि तरह तरह के पशु और सुग्गा, मैना, लाल, बुल बुल, बत्तक, बकुला, कौआ, चील्ह, गिद्ध इत्यादि पक्षी वगैरह वगैरह जितने प्रकार के जीव जन्तु उस ने संसार में देखे या न देखे थे वे सब उसे वहाँ दिखलाई पड़े।

हाँ, ब्रह्मा को वह ठीक ठीक पहचान गया, क्योंकि उन की हुलिया उसे अच्छी तरह मालूम थी। वह जानता था कि ब्रह्माजी विष्णु भगवान् की नाभि से निकले हुए कमलदण्ड के ऊपर जो फूल खिला रहता है उसी पर बैठे रहते हैं। उन के चार मुँह हैं जो उत्तर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम दिशाओं की ओर रहा करते हैं। वे इस सृष्टि के पितामह हैं अर्थात् सृष्टि भर में सब से वृद्ध हैं, अतः उन की दाढ़ी और सिर के बाल पककर एकदम सफेद हो गये हैं, इत्यादि। इन सब लक्षणों से युक्त आकृति ज्यों ही उस ने भगवान् के विराट् रूप में देखी त्यों ही समझ लिया कि ये ब्रह्माजी ही हैं। अतएव उन का स्पष्टतः नामोल्लेख भी कर दिया कि हे भगवन्, मैं आप के शरीर में कमल के आसन पर बैठे हुए प्रजापालक ब्रह्माजी को देख रहा हूँ।

अर्जुन को बहुत से ऋषियों का परिचय प्राप्त था, बहुतों के रूप, गुण, नाम, धाम सुन चुका था और बहुत से ऐसे भी थे जिन को उस ने न देखा था, न उन के बारे में कुछ सुना ही

था। इसी लिए इस विषय में भी उस ने भगवान् के कथन पर विश्वास किया और 'सब' शब्द के विशेषण सहित बतलाया कि मैं आप के शरीर में व्यास, पराशर, भृगु, अत्रि, जमदग्नि, दुर्वासा आदि आदि सभी ऋषियों को देख रहा हूँ।

सर्पों को देखकर उस ने उन्हें दिव्य अर्थात् अलौकिक विशेषण दिया। इस का कारण यही है कि पृथिवी पर जिस तरह के साँप अर्जुन के देखने में आये थे उन से भिन्न प्रकार के साँप भगवान् के शरीर में उसे दिखलाई दिये, और चूँकि विभूतिवर्णनप्रसंग में भगवान् ने वासुकि आदि देवजातीय सर्पों को अपनी विभूति बतलाई थी, इस लिए अर्जुन समझ गया कि इस समय प्रभु के विश्वरूप में जिन सर्पों को मैं देख रहा हूँ वे पार्थिव नहीं, बल्कि दिव्य सर्प ही हैं। इसी से उस ने कहा कि मैं आप के शरीर में देवलोकी सर्पों को भी देख रहा हूँ। अस्तु;

अर्जुन ने जब कहा कि हे देव, हे परमात्मन्, मैं आप की देह में सब देवों को, सब जीव जन्तुओं के समूहों को, कमल के आसन पर विराजमान् प्रजापति ब्रह्मा को, संपूर्ण ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ, तो इस पर भगवान् ने पूछा कि हे अर्जुन, इन्हीं सब को तूँ देख रहा है अथवा मुझ को भी कहीं वर्तमान पाता है?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, मैं ने तो कहा न कि आप के शरीर में ही इन सब को देख रहा हूँ। फिर ऐसा प्रश्न आप क्यों कर रहे हैं?

भगवान् ने कहा—इस लिए कि तूँ ने मेरा कुछ वर्णन नहीं किया। केवल मेरे शरीर का नाम लेकर वहाँ के अन्य दृश्यों की बातें कहने लगा। कमलासनस्थित प्रजापति ब्रह्मा के वर्णन की भाँति मेरे रूप के संबन्ध में कुछ नहीं बतलाया कि इस समय वह तुझे कैसा दिखलाई पड़ रहा है?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, उस का वर्णन करना मेरे सामर्थ्य की बात नहीं है, क्योंकि—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, आप को अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्रवाला, सब ओर से अनन्त रूपवाला देख रहा हूँ। आप का न अन्त देखता हूँ, न मध्य और न आदि।

गी० गौ०—हे समस्त संसार के ईश्वर, हे विश्वव्यापी रूप धारण करनेवाले भगवन्, मैं आप को अगणित बाहोंवाला, अगणित पेटोंवाला, अगणित मुखोंवाला और अगणित नेत्रोंवाला, सब तरफ से असीम ही तो देख रहा हूँ। मैं न तो आप के अन्त को देखता हूँ, न मध्य को देखता हूँ, और न आदि को ही देखता हूँ। तात्पर्य यह कि ऐसी दशा में मैं आप के सीमारहित रूप का कुछ वर्णन भी किस प्रकार करूँ?

क० प्र०—उदार मित्र, जो असीम है उस का वर्णन करना तो मानों एक प्रकार से उस की सीमा निर्धारित करने की व्यर्थ चेष्टामात्र है। असीम को तो कोई तभी देख सकता है जब असीम आँखें हों। यद्यपि कोई कह सकता है कि अर्जुन का दिव्य नेत्र देकर भगवान् ने उस की दर्शनशक्ति को असीम ही बनाया था; परंतु यह बात भी माननी ही पड़ेगी कि भगवान् का *वह असीम रूप भी दिव्य ही था। इस लिए असीम दिव्य रूपों को देखने के लिए* दिव्य आँखें भी असीम ही होनी चाहिएँ। और अर्जुन को मिली थीं केवल दो दिव्य आँखें। अतएव उन आँखों का उस ने इतना ही बहुत उपयोग किया कि उन से असीम की असीमता का ज्ञान कर लिया। अन्यथा उसे पूरा अन्धकार ही टटोलते रह जाना पड़ता जैसा कि दिव्य नेत्र मिलने के पहले उस ने स्वयं स्वीकार भी किया था और तभी उस को दिव्य दृष्टि दी गई थी। उन दिव्य नेत्रों का ही यह प्रभाव है कि वह भगवान् की अनन्तता को साफ साफ देख रहा है और कहता है कि मैं आप की बाहों को गिनकर नहीं बतला सकता, आप के पेट कितने हैं, इस का अंदाज लगाना भी कठिन है, आप के मुहों की गणना करने में ये दिव्य नेत्र भी असफल मनोरथ ही रह जाते हैं, फिर आँखें तो वैसे ही बहुत छोटी होती हैं, सो बाँह, पेट और मुँह जैसे बड़े अङ्गों की संख्या का जब मैं पार नहीं पाता, तो इन सब की अपेक्षा अतिशय लघु आकार की आँखों का गिन सकना तो और असंभव है। इसी लिए कहना पड़ता है कि आप ने सब तरफ अनन्त रूप धारण कर रखे हैं, अतः मैं आप का अन्त, मध्य, आदि वगैरह *कुछ भी नहीं देख पाता हूँ।*

प्रभो, आप अनन्त बाहों से कहीं द्रौपदी की लाज बचाते रहते हैं, कहीं गज को ग्राह के फंदे से छुड़ाते रहते हैं, कहीं अजामिल और गणिका को यमदूतों से मुक्ति दिलाते रहते हैं, कहीं हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यप, रावण, कंस के अत्याचार से पृथिवी का उद्धार करते रहते हैं। इसी प्रकार अपने अनन्त पेटों में संसार भर के भक्तों का दिया हुआ नैवेद्य रखते रहते हैं और मुँह और आँखों की अनन्तता इन्हीं सब कार्यों में सहायता पहुँचाती रहती है। अस्तु;

इसी अभिप्राय से अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो, हे विश्वेश्वर, विश्वरूप, मैं आप को अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र से युक्त, सब ओर से अनन्तरूपी देख रहा हूँ। आप के अन्त, मध्य, आदि किसी भी विषय को मैं नहीं देख रहा हूँ।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन, जान पड़ता है कि तू मेरा विराट् रूप देखकर इतने आश्चर्य में पड़ गया है कि स्थिरबुद्धि होकर ठीक ठीक गिनकर मेरे अङ्गों और रूपों को नहीं बतला पाता है। इसी लिए सब को अनेक और अनन्त कहकर अलग हो जाना चाहता है।

अर्जुन ने कहा—नहीं प्रभो, एक दम ऐसी ही बात नहीं है। यद्यपि मैं आश्चर्यचकित अवश्य हूँ, पर ऐसा नहीं कि मेरी बुद्धि ही चञ्चल हो गई हो।

भगवान् ने कहा—ऐसी बात है, तब फिर दिव्य दृष्टि पाकर भी ठीक ठीक सब देखता क्यों नहीं ?

अर्जुन ने कहा—दिव्य दृष्टि से ही देखकर तो यह सब बतलाया है और उसी से—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

आप को किरीटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, सब ओर से कान्तिमान्, तेज के समूह, प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान प्रभापूर्ण, अपरिमित और चारों ओर से दुर्निरीक्ष्य देखता हूँ।

गी० गौ०—हे भगवन्, मैं आप को देख रहा हूँ कि आप ने किरीट नाम का शिरोभूषण धारण कर रखा है, हाथ में गदा और चक्र लिये हुए हैं। सब ओर से आप प्रकाश फैला रहे हैं, मानों तेजों के समूह लगे हुए हों। आप की कान्ति दमकती हुई अग्नि और सूर्य से भी बढ़कर है। आप अप्रमेय हैं अर्थात् बुद्धि अथवा मन आदि के द्वारा आप के रूप को हृदयंगम नहीं किया जा सकता। हे प्रभो, अधिक क्या कहूँ ? मैं आप को सब ओर से कठिनाई से दिखाई देनेवाला देख रहा हूँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन अपने इस कथन से ऐसा भाव प्रकट करना चाहता है कि मानों वह आश्चर्य में पड़कर ठीक ठीक संख्या बतलाने में असमर्थ नहीं है, बल्कि भगवान् का यह रूप ही ऐसा दुर्निरीक्ष्य (मुश्किल से दिखाई देनेवाला) है कि उस का कोई बस नहीं चल रहा है। वह कहता है कि मैं आप के उन आभूषणों को देख रहा हूँ जो आप हमेशा अपने सिर पर लगाया करते हैं, भगवान् कृष्ण के सिर पर किरीट मुकुट, कानों में कुण्डल सर्वदा रहता था। वह सब अर्जुन देख रहा है। वह यह भी देखता है कि भगवान् के हाथ

में गदा भी वही है जो सदा उन के पास देखी जा चुकी है और चक्र भी वही सुदर्शन चक्र है जिस से राजसूय यज्ञ के अवसर पर शिशुपाल का सिर उड़ाया गया था। इन सब की चर्चा करके वह अपनी तल्लीनता जना रहा है और कहता है कि मैं बिल्कुल घबड़ाया नहीं हूँ। फिर भी ठीक ठीक गिनती न हो सकने का कारण यही है कि भगवान् के तेज के सामने उस की दिव्य आँखें भी नहीं ठहर पाती थीं। चारों ओर से प्रकाशमान तेज की ढेरियों जैसा कहकर भी उस ने सोचा कि मैं भगवान् के तेज का पूरा वर्णन नहीं कर सका। इसी लिए कहा कि अत्यन्त प्रज्वलित अग्निशिखा और पूर्ण प्रकाशित सूर्य को छोड़कर कोई तीव्रप्रकाशमान पदार्थ तो मैं ने देखा ही नहीं है जिस से आप की उपमा दूँ; और इन का प्रकाश आप के प्रकाश की किसी तरह बराबरी नहीं कर सकता, इस लिए मैं कहूँ, तो क्या कहूँ? तथापि इतना तो कहना ही पड़ता है कि आप सब तरह से अपरिमित और अप्रमेय हैं तथा किसी भी प्रकार से ठीक ठीक दिखाई देनेवाले नहीं है। आप नेत्र, मन, बुद्धि सब से परे हैं। आप की शक्ति अनन्त है, महिमा अपार है और रूप गुण आदि सभी कुछ वर्णनातीत हैं। अस्तु;

इन्हीं भावों को भगवान् के प्रति व्यक्त करते हुए अर्जुन ने कहा कि हे भगवन्, मैं आप को किरीटवाला, गदावाला, चक्रवाला, सब तरफ से जाज्वल्यमान, तेज के समूहोंवाला, अग्नि और सूर्य की भाँति प्रकाशवाला एवं सब तरह से कठिनाई से दिखाई देनेवाला देख रहा हूँ।

यह सुनकर भगवान् ने कहा—अच्छा, यह तो बता अर्जुन, कि मुझे इस प्रकार का दुर्निरीक्ष्य देखकर मेरे विषय में तू कैसे भावों का पोषण कर रहा है?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, जहाँ तक मेरी विचारशक्ति काम देती है वहाँ तक—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

मेरा (यह) मत है कि आप ज्ञातव्य परम अक्षर हैं, आप इस संसार के परम आधार हैं, आप शाश्वत धर्म के अविनाशी रक्षक हैं, आप सनातन पुरुष हैं।

गी० गौ०—हे भगवन्, मुझ में यह शक्ति कहाँ कि आप के संबन्ध में अपनी ओर से कुछ मन्तव्य प्रकट करूँ। मुझे तो उतना ही मालूम है जितना आप ने कृपाकर स्वयं बतला दिया है। इस लिए आप के ही कथनानुसार मैं जहाँ तक

आप को समझ सका हूँ वहाँ तक मेरा यह मत है कि आप ही संसार के जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत् के सर्वश्रेष्ठ आश्रयस्थान हैं, आप ही सत्य सनातनधर्म के आदि अन्तहीन, सर्वकालीन, अविनाशी, रक्षा करनेवाले हैं और आप ही सर्वकालातीत, नित्य, एकरूप, सनातन परम पुरुष, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, परमात्मा क्या है? यह साधारण प्रश्न नहीं है। जब से यह सृष्टि है तभी से कितने ही महापुरुष निरन्तर इसी प्रश्न को हल करने में लगते चले आये हैं। उन महापुरुषों के आन्तरिक प्रयास के मूर्तिमान् रूप आज भारतवर्ष में और सारे संसार में दर्शनों के नाम से प्रसिद्धि पा रहे हैं। इन दर्शनों का एकमात्र यही लक्ष्य है कि परमात्मा क्या है, इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर निर्धारित हो जाय, पर जब कि उन निर्धारकों की ही संख्या अनेक है और सब ने अपने अपने दृष्टिकोण से प्रश्न का उत्तर दिया है, तो ठीक ठीक एक ही निर्धारण किस तरह हो सकता है? नहीं हो सकता। इसी लिए कहना पड़ता है कि यह प्रश्न असाधारण है। *बिना परमात्मा की कृपा के कोई भी उन को नहीं जान सकता।* और यह जब निश्चय हो गया, तो यह भी निश्चित हो है कि जितना वे स्वयं जना दें उतना ही उन्हें जाना जा सकता है, उस से अधिक बिलकुल नहीं। बल्कि उतना भी कब? जब कि उतने को हृदय में धारण कर लेने की अदम्य श्रद्धा हो, अनुपम *विश्वास हो और हो निरन्तर के अभ्यास द्वारा मिली हुई अद्वितीय ग्राहकता शक्ति;* जैसी कि अर्जुन में थी।

पहले अर्जुन भी श्री कृष्ण को केवल देवकीनन्दन, वसुदेवतनय, सुभद्रासहोदर और इसी तरह के जागतिक एवं मानवीय संबन्धों का आधारभूत एक विशिष्ट व्यक्तिमात्र समझता *था और उन के कुछ विशेष महत्वपूर्ण कार्यकलापों को देखकर उन में ईश्वर के कुछ विशेष* अंशों का अस्तित्व मानता था। बाद में जैसे जैसे श्री कृष्ण के साथ उस की घनिष्ठता बढ़ती गई, श्री कृष्ण के साथ उस का अधिकाधिक संनिधान होता गया वैसे वैसे उन्हें जानने का सुयोग प्राप्त होता गया और तत्संबन्धी अभ्यास बढ़ता गया। फिर भी रहस्यभेद हो गया हो, ऐसी बात नहीं थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि क्रमशः अभ्यास में दृढ़ता आती गई, रहस्यभेद करने की उत्कट इच्छा जागृत होती गई और अन्त में जान सकने की प्रबल योग्यता प्राप्त हो गई। भगवान् को अपना निजी ज्ञान देने के लिए योग्य पात्र मिल गया। उन्होंने अपना रहस्य खोलना प्रारम्भ कर दिया और अर्जुन भी यथाशक्ति उस से प्रकाश ग्रहण करने लगा। अन्त में उस के सामने पूरी तरह से भगवान् का भेद खुल गया और वह पूर्ण प्रकाश में आ गया।

भगवान् के जितने कृपापात्र हुए हैं सब को इसी क्रम से उन्होंने अपना प्रकाश दिया है। कौशल्या दशरथ, देवकी वसुदेव, यशोदा नन्द इत्यादि को कुछ देर के लिए भगवान् की कृपा प्राप्त हुई तभी उन लोगों ने थोड़ा बहुत उन्हें पहचाना, अन्यथा वे लोग भी भ्रम में ही रहकर अपना अपना जीवन समाप्तप्राय कर चुके थे। काकभुशुण्डि और अक्रूर भी पहले कम भ्रान्त नहीं थे। औरों की तो बात ही क्या, दुर्वासा ऋषि जो जन्म के प्रभुभक्त और परम तपस्वी थे, उन को भी भगवान् के विषय में कई बार भारी भ्रम में पड़ जाना पड़ा था।

कौशल्याजी को भगवान् ने जन्म लेते ही अपना पुरुषोत्तम रूप दिखला दिया था। कौशल्याजी अपने पुत्र की महिमा जान चुकी थीं। परंतु बाद में सांसारिक माया ने उन्हें घेर लिया और वे उन बातों को बिलकुल भूल गईं। उन्होंने भगवान् राम को घर की बाहरी दालान में पालने पर सुला दिया था और स्वयं रसोईघर के काम सँभालने में लगी हुई थीं। तब तक देखती क्या हैं कि राम उन का आँचल पकड़कर वहीं बालसुलभ किलकारियाँ भर रहे हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। दौड़ी हुई पालने के पास पहुँचीं, देखा कि वहाँ (पालने में) भी राम आनन्द से खेल रहे हैं। फिर दौड़कर रसोईघर में गईं, देखा कि वहाँ भी वही पहले का दृश्य वर्तमान है। वे चक्कर में पड़ गईं—

'यहाँ वहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन विसेषा॥'

और सोचने लगीं कि यह क्या लीला है? मैं भ्रम में पड़ी हूँ या सचमुच यहाँ वहाँ दोनों जगह एक ही रूप के दो बालक हैं? भगवान् को माता के ऊपर दया आ गई। उन्होंने अपना असली रूप दिखाकर उन का भ्रम दूर किया।

यशोदाजी को तो अनेक बार छक जाना पड़ा था। श्री कृष्ण ने मिट्टी खा ली, लड़कों से यह शिकायत सुनकर उन्होंने भगवान् को मारने की धमकी दी।

भगवान् ने कहा—लड़के झूठ बोलते हैं। जीभ तो स्वयं मिट्टी की बनी हुई है। मैं मिट्टी क्यों खाऊँगा?

यशोदा ने कहा—मुँह खोलकर दिखला, बहुत बातें मत बना। लड़के झूठ क्यों कहेंगे? और किसी को तो नहीं कहते।

भगवान् ने कहा—माँ, मेरा कहना मान ले। मैं सच कहता हूँ, मिट्टी की जीभ और मिट्टी के मुँह में ऊपर से और मिट्टी डालकर कौन सा लाभ उठा सकता था कि मैं मिट्टी खाता?

यशोदा ने कहा—मैं यों नहीं मानूँगी। तू अपना मुँह खोलकर दिखलाता क्यों नहीं?

भगवान् ने कहा—जैसी तेरी इच्छा, मुझे क्या? मैं ने तो असली बात बतला दी।

भगवान् ने मुँह खोला और यशोदा का मतिभ्रम दूर हो गया। उन का भगवान् में पुत्रभाव का अज्ञान फिर पल भर भी नहीं टिका रह सका। भगवान् के मुख में वन, पर्वत,

नद, नदी, सागर, सरिता आदि के सहित सकल ब्रह्माण्ड देखकर यशोदा का अज्ञान भग्न हो गया। वे भगवान् की स्तुतियाँ पढ़ने लगीं।

अक्रूरजी भगवान् को रथ पर बैठाकर मथुरा लिये जा रहे थे। रास्ते में यमुनाजी पड़ीं। अक्रूरजी ने वहाँ संध्यावन्दन से निवृत्त हो लेना चाहा। उन्होंने भगवान् को रथ पर रहने के लिए कहकर यमुनाजी में स्नान करने के लिए प्रवेश किया। ज्यों ही गोता लगाया और अञ्जलि भर यमुनाजल लेकर भगवान् के निमित्त अर्घ्य छोड़ा कि सामने प्रत्यक्ष होकर भगवान् ने वह अर्घ्य ग्रहण कर लिया। अक्रूरजी भ्रम में पड़ गये। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि रथ पर से उतरकर भी कृष्ण जल में कब चले आये और नारायण को दिया हुआ उन्होंने अर्घ्य क्यों ग्रहण कर लिया। परंतु उन के भक्तहृदय को ठेस न लगे, यह विचार-कर भगवान् ने रहस्यज्ञान करा दिया और अक्रूरजी का भ्रम दूर हुआ।

दुर्वासाजी यशोदा के घर भिक्षा के लिए आये। उन्होंने सुना, यशोदा को बड़ा सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ है जिसे देखने के लिए बहुत बहुत दूर के लोग आते हैं। उन्होंने यशोदा से कहा कि मुझ को अपने पुत्र के दर्शन करा दो। यशोदा ने कृष्ण को बुलाकर दिखला दिया।

दुर्वासा ऋषि को भी वह बालक अद्वितीय सुन्दर दिखाई दिया। उन्होंने उस के रूप की बहुत प्रशंसा की और मन में भगवत्सृष्टि की महिमा का अनुभव करने लगे। उन्हें भिक्षा की बात भूल गई। वे जाने को तैयार हो गये।

यशोदा ने कहा—बिना भिक्षा किये कैसे जायँगे? इतनी कृपा तो करनी ही पड़ेगी।

दुर्वासा ने कहा—यशोदे! तुम्हारे सर्वसुन्दर पुत्र को देखकर भूख तो न जाने कहाँ चली गई। भिक्षा क्या करूँ?

यशोदा ने कहा—लेकिन आप के ऐसे ही चले जाने से तो मेरा गृहस्थधर्म बिगड़ जायगा न?

दुर्वासा ने कहा—अच्छा; तब तो भिक्षा करनी ही पड़ेगी। लाओ, क्या देती हो?

यशोदा ने सब तरह की सामग्री उपस्थित करके कहा कि कोई शिष्य तो आप के साथ है नहीं, इस लिए भोजन बनाने का कष्ट भी आप को ही उठाना पड़ेगा।

दुर्वासा ने कहा—शिष्य की क्या आवश्यकता है? स्वयं दासास्तपस्विन। अपना काम हम लोग अपने ही हाथ से कर लेने का अभ्यास रखते हैं।

भोजन बनाने में दो घंटों से कम न लगे होंगे, क्योंकि यशोदा ने अनेक प्रकार के पक-वानों का सामान लाकर रख दिया था। उन सब को तैयार करने में अधिक समय लगना स्वाभाविक ही था। केवल खिचड़ी पकाने की इच्छा रखते हुए भी यशोदा का भक्तिपूर्ण

आग्रह दुर्वासाजी नहीं टाल सके। जब सब व्यञ्जनों सहित षड्रस भोजन तैयार हो गया, तो यशोदाजी वहाँ से उठकर घर में चली गईं। दुर्वासाजी ने थाली परसकर सामने रखी और आँखें मूँदकर भगवान् को नैवेद्य अर्पण किया। कृष्णजी ने दुर्वासा की भक्ति पहचान ली और भक्तिपूर्वक अर्पित नैवेद्य साक्षात् स्वरूप से ग्रहण कर लिया। दुर्वासाजी ने आँखें खोलीं, तो देखा कि दो घंटों की सब मेहनत बर्बाद हो गई, परसी हुई थाली अहीर के लड़के ने जूठी कर दी। उन्होंने यशोदा को बुलाकर कृष्ण की करतूत दिखलाई और कहा कि अब मुझे जाने दो। तुम ने सीधा देकर गृहस्थधर्म का पालन कर लिया। मेरे भाग्य से लड़के ने चौका अपवित्र कर दिया, तो तुम्हारा कोई दोष नहीं। अब मैं जाता हूँ।

यशोदा को कृष्ण पर बड़ा क्रोध आया, पर अपने लड़कों की खुराफात सभी को सहनी पड़ती है। उन्होंने दुर्वासा से प्रार्थना की कि एक बार का अपराध क्षमा करें और पुनः भोजन बना लें। बहुत अनुनय विनय के बाद किसी प्रकार ऋषि ने अनुरोध स्वीकार किया। पुनः भोजनसामग्री आई, दो घंटे के परिश्रम के बाद भोजन तैयार हुआ, थाली परसी गई और आँखें मूंदकर भगवदर्पण का मन्त्र उच्चारण होने लगा—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर॥

अर्थात् हे गोविन्द (श्री कृष्ण परमात्मन्), आप की वस्तु आप को ही समर्पित कर रहा हूँ। हे परमेश्वर, मेरे ऊपर प्रसन्न हों और सत्य, शिव, सुन्दर मुखारविन्द होकर नैवेद्य ग्रहण करें। यह विनीत वचन सुनकर भक्तप्रिय माधव भला माता की डाँट डपट कब तक ध्यान में रख सकते थे? उन्होंने भक्त की प्रार्थना स्वीकार करना माता की धमकी मानने से अधिक आवश्यक देखा। आकर फिर नैवेद्य ग्रहण करने लगे। इतने में महर्षि ने आँखें खोलीं और देखा कि फिर वही उत्पात हो गया है। अब क्या करें बिचारे। भूख से यों ही परेशान हो रहे थे। मन ही मन जल भुनकर बड़े कष्ट और परिश्रम से दुबारा भोजन तैयार किया था, पर आशा थी कि पेट भर भोजन करने पर सब कष्ट भूल जायगा, सो इस अहीर के बदचट छोकरे ने फिर सब मेहनत बर्बाद कर दी। कोई ब्राह्मणपुत्र यदि थाली जुठारता, तो कम से कम अन्य पात्रों का अवशिष्ट भोजन तो पवित्र बना रहता? वही खाकर क्षुधा शान्त की जाती, पर अहीर के स्पर्श से तो सब चौका ही भ्रष्ट हो गया। क्रोध से दुर्वासा का मुखमण्डल अग्नि की तरह प्रदीप्त हो उठा। उन्होंने झपटकर कृष्ण का हाथ पकड़ लिया और डपटकर पूछा—क्यों रे दुष्ट लड़के। यह कौन सा कर्म तू ने सीख रखा है? क्या तेरे माँ बाप तुझे खाने को नहीं देते कि तूँ अतिथियों के चौके में चोरी से पहुँचकर गप्का मारने (जल्दी जल्दी ग्रास निगलने) लगता है? बता तो, तेरी यह दुष्टता किस प्रकार दूर होगी?

महर्षि दुर्वासा का यशोदा के घर भ्रममोचन

મહર્ષિ દુર્વાસાનું યશોદાને ઘેર ભ્રમમોચન.

भगवान् ने वह हँसी हँसकर कहा—हाँ हूँ, किसी प्रकार नहीं। मैं अपने स्वभाव की प्राणों से बढ़कर रक्षा करता हूँ। उस को कोई किसी भी यत्न से नहीं छुड़ा सकता।

दुर्वासा ने कहा—तो क्या इसी प्रकार बिना कहे सुने अभ्यागतों को कष्ट दिया करोगे? ऐसी बात है, तो यशोदा पहले ही क्यों नहीं संतोष कर लेती कि मेरे भाग्य में अतिथिसत्कार नहीं बदा है; अतिथियों को भोजन बनाने के परिश्रम में क्यों फँसाती है?

भगवान् ने कहा—बिना कहे सुने कैसा जी, और मेरी माता का नाम क्यों ले रहे हो? उस ने क्या तुम से कहा था कि थाली परसकर गोविन्द को बुलाना? तुम ने अपनी इच्छा से मेरा आह्वान किया, इस लिए मैं ने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार की। अत्यन्त प्रेम के साथ बुलाने पर मैं बिना आये रह नहीं सकता और बिना बुलाये कहीं झाँक नहीं सकता, वहाँ जाना तो बड़ी दूर की बात है। यही मेरा स्वभाव है। इस स्वभाव को मैं कभी नहीं छोड़ सकता।

दुर्वासा ने सहमकर पूछा—तो क्या तुम सचमुच ही गोविन्द भगवान् हो?

भगवान् ने कहा—यह जानना और समझना तुम्हारा काम है; मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता।

दुर्वासा ऋषि ने ध्यानयोग द्वारा देखा और रहस्य का भेद खुला कि वे प्रसन्न होकर नाचने से लगे। फिर तो उन्होंने घंटों भगवान् की स्तुति की, हजार हजार मुहों से यशोदा के भाग्य को सराहा और अपने को भी धन्य धन्य कहा। उन की भूख प्यास न जाने कहाँ चली गई। बहुत देर तक वे निर्निमेष नेत्रों से भगवान् के मुखारविन्द का सुधारस पान करते रह गये। इतने में यशोदा ने एक बड़े (लगभग छ सात सेर के) बरतन में औटा गाढ़ा दूध लाकर दुर्वासा ऋषि के सामने रख दिया और कहा—स्वामीजी, आज मेरे यहाँ आकर आप को बड़ा दुखी होना पड़ा। क्या करूँ? इस शरारती लड़के से मैं तो हैरान हो गई हूँ। अब संध्या हो आई, सूर्यास्त होने में देर नहीं है। फिर से भोजन बनाने का समय नहीं रह गया है। इस लिए अपराध को क्षमा करके यह थोड़ा सा दूध स्वीकार करें।

दुर्वासा ने कहा—यशोदे, यदि इसी तरह प्रति दिन मुझे दुखी होने का अवसर मिला करे, तो मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि अपने जैसा संसार में किसी को सुखी न समझूँ। संध्या हो जाने से ही अब मैं दूध ही ग्रहण करूँगा। नहीं, तो वह भोजन तो अब इतना पवित्र हो गया है कि उतना पवित्र भोजन पाने का सौभाग्य कदाचित् ही किसी को प्राप्त हुआ हो। इस के बाद दूध का बरतन उठाकर उन्होंने सब दूध एक ही साँस में गले के नीचे उतार लिया और निर्भ्रान्त चित्त से प्रस्थान किया।

कहने का तात्पर्य यह कि जब तक भगवान् दया करके अपने आप को जना नहीं देते तब तक देव, दानव, ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व सभी भ्रम में पड़े रहते हैं। जब उन की कृपा

हो जाती है और भ्रम का नामोनिशान नहीं रह जाता तब सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दिखलाई पड़ने लगते हैं। यही बात अर्जुन के लिए भी संघटित हुई। भगवान् की कृपा से उस का भ्रम अब दूर हो गया है, अतः वह सर्वत्र भगवान् को ही देख रहा है और हाथ जोड़कर कह रहा है कि—

प्रभो, आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर हैं, आप ही इस संसार के श्रेष्ठतम आधार हैं, आप ही शाश्वत धर्म के अव्यय रक्षा करनेवाले हैं और आप ही पुरातन और सनातन पुरुषोत्तम हैं, यही मेरा मत है।

यह सुनकर भगवान् ने कहा—अर्जुन, तू ने मेरी महिमा और व्यापकता का जैसा सुन्दर और यथार्थ वर्णन किया उस से तेरी नैसर्गिक कवित्वशक्ति का अच्छा परिचय मिल रहा है। इस लिए मैं अपने इस विश्वरूप का कुछ और वर्णन तेरे शब्दों में सुनकर देखना चाहता हूँ कि प्रस्तुतप्रशंसा तू कहाँ तक कर सकता है ?

इस के उत्तर में अर्जुन कहने लगा कि—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१६॥

आप को (मैं) आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त वीर्यवान्' अनन्त बाहोंवाला, सूर्य और चन्द्रमारूपी नेत्रोंवाला, जाज्वल्यमान अग्नि की भाँति मुखवाला, अपने तेज से इस विश्व को तपाता हुआ देख रहा हूँ।

गी० गौ०—हे भगवन्, मैं आप का आदि, मध्य अथवा अन्त कुछ भी नहीं देख रहा हूँ, मैं आप के जिस रूप का दर्शन कर रहा हूँ वह इतना विस्तृत है कि मुझे उस का आरम्भ, बीच का हिस्सा और उस की समाप्ति कहीं नहीं दीख पड़ती। मैं देखता हूँ केवल इतना ही कि आप अनन्त बलवाले हैं, अनन्त बाहें हैं आप के, आँखें दोनों साक्षात् सूर्य और चन्द्रमा हैं, मुख अग्नि की ज्वाला (लपटों) की तरह देदीप्यमान है और आप अपने तीखे तेज से सारे संसार को तपा रहे हैं।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् कभी उत्पन्न नहीं होते और कहीं एक ही स्थान पर टिके नहीं रहते तथा कभी विनाश को नहीं पहुँचते, यही तो उन का आदि, मध्य और अन्त से रहित होना है। भगवान् के एक जरा से संकेतमात्र से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति

और समाप्ति (अर्थात् प्रलय), ये तीनों क्रियाएँ संघटित हो जाती हैं। इस लिए उन के पूर्ण संकेत या इच्छाशक्ति से तो न मालूम क्या क्या हो सकता है। हम लोग उन की शक्ति का कुछ अंदाज भी नहीं लगा सकते। इसी लिए अर्जुन ने भी उन्हें अनन्तवीर्यवान् अर्थात् दृढ़ पराक्रमवाला बतलाया। इस के अतिरिक्त और कुछ कहकर भगवान् के बल का वर्णन करने के लिए अर्जुन के पास शब्द ही नहीं थे। भगवान् के मुख कितने हैं, इसी का पता अर्जुन को नहीं लग सका था; फिर एक मुख के साथ दो दो के हिसाब से रहनेवाली (सर्वसाधारण के लिए। भगवान् की तो चार भुजाएँ प्रसिद्ध हैं।) बाहों की गणना तो वह किस तरह कर सकता था ? इसी लिए बाहों को भी अनन्त बतलाकर ही उस को संतोष करना पड़ा। हाँ, सूर्य और चन्द्रमा को भगवान् अपना स्वरूप कह चुके थे। इस लिए भगवान् की तीक्ष्ण असंख्य आँखों को सूर्य और चन्द्रमा के समान कहने में उसे कोई बुराई नहीं जान पड़ी। उस ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि आप की आँखें, मानों सूर्य और चन्द्रमा हैं। अग्नि के तेज को भी भगवान् अपना ही तेज बतला चुके थे। इस लिए उन के प्रकाशमान् मुख को अग्नि जैसा तेज पूर्ण कहना अर्जुन को उचित ही मालूम हुआ और तभी उस ने कहा भी कि आप का मुख-कमल मानों प्रज्वलित अग्नि है। और जिस का इतना तेजस्वी अर्थात् प्रकाश फैलानेवाला चमकीला स्वरूप हो उस के द्वारा संसार भर को ताप की अनुभूति करनी पड़े, तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसी लिए अर्जुन ने कहा कि आप अपने तेज से संसार को तपा-जला-रहे हैं। अस्तु;

वह और भी अनेक प्रकार से भगवान् का वर्णन करने के लिए तैयारी कर रहा था, किंतु बीच में ही रोककर भगवान् ने पूछा कि हे अर्जुन, मैं तो जितना बड़ा या छोटा हूँ वह पूर्ण रूप से तेरे सामने प्रकट हूँ। ऐसी दशा में तो तुझे ठीक ठीक ही मेरा वर्णन करना चाहिए, पर तू मुझे आदि, अन्त, मध्य से रहित और सभी बातों में अनन्त अनन्त कह रहा है। इस का क्या कारण है ? क्या तू मेरा पूर्णस्वरूप नहीं देख रहा है ?

अर्जुन ने कहा—देख क्यों नहीं रहा हूँ भगवन् ? पर मुझे इस स्वरूप का आदि, मध्य, अन्त वस्तुतः नहीं दिखलाई पड़ रहा है,—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

क्योंकि आप ने अकेले ही स्वर्ग और पृथिवी के इस अन्तर को तथा सम्पूर्ण दिशाओं को व्याप्त कर रखा है। हे महात्मन्, आप का यह अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक अतिशय व्यथित हो रहे हैं।

गी० गौ०—हे भगवन्, ऊपर के स्वर्गलोक और नीचे की पृथिवी अर्थात् मर्त्यलोक के बीच में जितना आकाश है वह तथा दसों दिशाएँ अकेले आप के ही इस विराट् रूप से भर गई हैं, परिपूर्ण हो रही हैं। और हे महापुरुष, आप का यह महाविकट विचित्र विशाल रूप देखकर स्वर्ग, मर्त्य, पाताल आदि तीनों लोक अत्यन्त व्याकुलता को प्राप्त हो रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में मैं एक तुच्छ जीव यदि आप के आदि, मध्य, अन्त को नहीं देख पाता हूँ और सब तरह से आप को अनन्त मान रहा हूँ, तो क्या यह आश्चर्य की बात है? मैं तो समझता हूँ कि यही मेरे लिए स्वाभाविक है।

कृ० प्र०—प्यारे मित्रो, अर्जुन के कहने पर ध्यान देने से हम लोगों के अन्तःकरण के भीतर भगवान् के विराट् रूप का जो कुछ थोड़ा बहुत चित्र अङ्कित हो जाता है उस की ओर अधिक देर तक देखने का साहस नहीं हो पाता। उस रूप को सोचते ही सारा शरीर गिनगिना उठता है। तुम्हीं विचार करके देखो न कि जिस के सिरों की गिनती न हो सके, जिस की बाहों की लंबाई का पता तक न चले, जिस की आँखों को देखकर सूर्य और चन्द्रमा को देखने का भ्रम होता हो, जिस के मुखमण्डल से लपलपाती हुई आग की लपटें निकल रही हों, जिस का शरीर संपूर्ण आकाशमण्डल को छेककर खड़ा हो और जिस के शरीर से कोई दिशा खाली न हो, वह कुल मिला जुला आकार कैसा विकराल और कितना भयावना होगा? अर्जुन जैसा जगद्विजयी वीर ही एक ऐसा व्यक्ति था जो उस स्वरूप को प्रत्यक्ष देखकर भी बेहोश नहीं हुआ, न चित्तवृत्ति में किसी तरह की चञ्चलता आने दी। दूसरा कोई होता, तो या तो भय के मारे मर ही मिटता अथवा पागल हो जाता, अपनी दशा में—प्रकृत अवस्था में कोई नहीं रह सकता।

भगवान् को अपने रूप के सभी गुण मालूम थे। शायद इसी लिए उन्होंने उसे दैवी-शक्तियों में छिपा रखा था और केवल अर्जुन को ही दैवीशक्तिसंपन्न आँखें देकर उस को वह रूप देख सकने के योग्य बनाया। उन्होंने यदि ऐसा न किया होता, सर्वसाधारण के लिए अपना वह रूप सुखपूर्वक दर्शनीय बना दिया होता, तो सारी कौरव और पाण्डवसेना मर जाती या पागल होकर लड़ने के अयोग्य हो जाती। और इस के बदले में संसार यही कहता कि पाण्डवों को धर्मयुद्ध करने का साहस नहीं हुआ, इसी से कृष्ण ने माया करके सब को बेकाम कर दिया।

परंतु भगवान् को तो संसार को धर्म की भीत दिखलानी थी, अपने प्रिय सखा अर्जुन की वीर-प्रतिष्ठा जगत् में स्थापित करनी थी। अतएव उन्होंने अपना वह रूप सर्वसाधारण के देखने योग्य नहीं प्रकट किया।

कोई कह सकता है कि यदि वह विराट् रूप सर्वसाधारण को नहीं दिखलाई पड़ता था, तो अर्जुन ने यह कैसे कहा कि आप के इस विचित्र विकराल रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं? इस का उत्तर यह है कि अर्जुन ने तीनों लोकों का उल्लेख करके जिन का व्याकुल होना बतलाया है वे हमारी तुम्हारी भाँति साधारण जीव नहीं थे, बल्कि वे उस उच्च भूमिका को पहुँचे हुए ज्ञानी महात्मा जन थे जिन्हें ज्ञानदृष्टि अथवा दिव्य दृष्टि स्वयं उन की भक्ति और तपस्या के परिणामस्वरूप प्राप्त हो चुकी थी। इस का प्रमाण भगवान् द्वारा अर्जुन को दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होना ही है। ऐसा न होता, तो अर्जुन को भी दिव्य दृष्टि देने की कोई आवश्यकता न पड़ती, वह पहले ही, भगवान् के 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' कहते ही उन को देखने लग गया होता। अस्तु;

अर्जुन ने जब कहा कि हे प्रभो, आप ने अकेले ही स्वर्ग और पृथिवी के बीच के इस आकाशमण्डल को और दसों दिशाओं को व्याप्त कर रखा है। हे महात्मन्, आप का यह उग्र रूप देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं, तो भगवान् ने पूछा कि हे अर्जुन, तू यह बात किस आधार पर कह रहा है कि मेरा अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक व्यथा पा रहे हैं।

अर्जुन ने उत्तर दिया कि हे प्रभो, ऐसा मैं इसी आधार पर कह रहा हूँ—

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

क्योंकि ये देवताओं के समुदाय आप में प्रविष्ट हो रहे हैं, (उन में से) कुछ डर के मारे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षियों और सिद्धों के समुदाय 'स्वस्ति' कहकर बहुत सी स्तुतियों से आप का स्तवन कर रहे हैं।

गी० गौ०—हे भगवन्, ये सब दल के दल देवता लोग भय से जल्दी जल्दी चलकर आप के विश्वरूप में समाते जाते हैं और बहुतों को तो इतना डर हो गया है कि उन से जल्दी जल्दी चला ही नहीं जा रहा है, इस लिए वे जहाँ हैं वहीं से दोनों हाथ जोड़कर आप के रूप गुण का वर्णन करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं। इन के

अतिरिक्त जो ऋषि, महर्षि और सिद्ध आदि के जत्थे हैं वे बार बार 'कल्याण हो, कल्याण हो,' ऐसा कह रहे हैं और बहुत बहुत तरह की स्तुतियाँ पढ़ पढ़कर आप का स्तवन कर रहे हैं।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन वस्तुतः बड़ा ही दृढचेता और साहसी मनुष्य था। वह देख रहा था कि भगवान् के विश्वव्यापक विराट् रूप में समूह के समूह देवता लोग घुसे चले जा रहे हैं, कोई कोई भाग भागकर अपने को उस में जाने से बचाना चाहते हैं, पर उस रूप के अप्रतिहत आकर्षण के सामने से जब भागने में असमर्थ हो रहे हैं, तो अनेक प्रकार से भगवान् की प्रार्थनाएँ करके अपनी रक्षा कराना चाहते हैं, बड़े बड़े महर्षियों और सिद्धादिकों का भी चित्त ठिकाने नहीं रह गया है, वे स्वस्ति स्वस्ति अर्थात् कुशल हो, कल्याण हो, अमङ्गल दूर हो, इत्यादि वचन कह कहकर भलाई की कामना कर रहे हैं, इतने से भी काम चलने की आशा न देखकर ढेर की ढेर स्तुतियों का पाठ कर रहे हैं और चाहते हैं भगवान् किसी तरह प्रसन्न होकर इस विकटदर्शन रूप से मुक्ति दें। यह सब देखता हुआ भी अर्जुन स्वयं विचलित नहीं होता, और नहीं तो ऊपर से उन की दशाओं का भगवान् के आगे वर्णन सुना रहा है। क्या यह मामूली बात है? जहाँ महर्षि और सिद्धगण संसार का अनिष्ट होने की संभावना देख-कर विचलित हो जायँ और कल्याण की पुकार मचाने लगें वहाँ अर्जुन का अपने प्रति सर्वथा उदासीन रहना और दूसरे घबड़ाये हुओं की दशा बतलाना सचमुच बड़े जीवट का काम है। भगवान् को अर्जुन की इस स्थिर चित्तवृत्ति का हाल अवश्य मालूम था। इसी लिए उन्होंने ठीक ठीक पात्र चुनकर यह सब विचित्रता दिखलाने का साहस किया। कारण, भगवान् यह तो जानते ही रहे होंगे कि मेरे विराट् रूप में अर्जुन क्या क्या देखेगा। उन्हें देवताओं और महर्षियों तथा सिद्धों की दशा का ज्ञान अर्जुनकृत विराट् रूप के वर्णन से हुआ हो, यह किसी तरह मानने की बात ही नहीं है। यदि ऐसा होता, तो वे अर्जुन को वह रूप देख सकने की शक्ति देकर भी उस के मुँह से तीनों लोकों के घबड़ाने की बात सुनते ही उस को दी हुई शक्ति तुरंत वापस ले लेते, क्योंकि उस दशा में उन्हें यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रव्यथित (अत्यन्त व्याकुल) देखकर कहीं अर्जुन की भी वही दशा न हो जाय और तब मेरा सब कर्तव्योपदेश देना भी व्यर्थ न चला जाय। परंतु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं सोचा, न उस की दिव्य दृष्टि छीनी, बल्कि किया यह कि उस से अपने विराट् रूप का और विस्तृत विवरण सुनना चाहा। इन बातों से मानना पड़ता है कि भगवान् को अर्जुन की साहसिकता और दृढता का पूरा ज्ञान था और अर्जुन ने भी अब तक उन की जानकारी का वैसा ही दृढ प्रमाण दिया—जैसा कि उस के निर्भीक चित्त से, स्थिर वाक्यों में वर्णन किये गये उपर्युक्त वचन से साफ साफ परिलक्षित ही हो रहा है। पर

अर्जुन की यह दृढ़ता अन्त तक नहीं रह जायगी, क्योंकि इस को दृढ़ देखकर भगवान् क्रमशः अपने रूप को अधिकाधिक विकराल बनाते जायेंगे और अन्त में फल यह होगा कि बिचारा अर्जुन भी धैर्य छोड़कर देवताओं की तरह प्रार्थना करने लगेगा कि प्रभो, धैर्य छूट रहा है, शान्ति दूर भाग रही है, धैर्य दो, शान्ति दो, इत्यादि। ये सब बातें अभी आगे के श्लोकों में आयेंगी ही, अतः यहाँ इन की चर्चा अनावश्यक है। यह तो प्रसंगानुसार थोड़ा संदर्भमात्र मिला दिया है। अस्तु;

देवताओं, महर्षियों और सिद्धों की दशा का वर्णन करके अर्जुन पुनः कह रहा है कि—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्ध आदि के जो समूह हैं, सभी विस्मित होकर आप को देख रहे हैं।

गी० गौ०—हे भगवन्, ग्यारहों रुद्र, बारहों आदित्य, आठों वसु, समस्त साध्यगण, दसों विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, उनचासो वायुदेव, अगणित पितृगण, गन्धर्वजाति के लोग, यक्षजाति के लोग, राक्षस, दैत्य, दानवादि असुरगण और समस्त सिद्ध इत्यादि के जो समूह आप के शरीर में दिखलाई देते हैं वे सब के सब अपलक दृष्टि से आप को ही देख रहे हैं और सब के सब आप को देखकर विस्मयविमुग्ध हो रहे हैं, घबड़ाये हुए से हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अर्जुन देख रहा है कि संसार में ऐसा कोई नहीं है जो भगवान् का यह विचित्र रूप देखकर आश्चर्यचकित और किंकर्तव्यविमूढ़ न हो रहा हो। वह सुन चुका था कि रुद्र देवताओं का कितना बड़ा प्रभाव है, आदित्य देवता कैसे तेजस्वी होते हैं, वसुओं की क्या महिमा है, साध्यगण कितने पूज्य माने जाते हैं, विश्वेदेवों को कितना संमान प्राप्त है, अश्विनीकुमारों की कैसी प्रतिष्ठा है, मरुद्गण कैसे शक्तिशाली हैं, पितरों का कैसा माहात्म्य है, गन्धर्वों का कैसा आदर होता है, यक्षों को किस प्रकार माना जाता है, असुरों से कितना भयभीत होना पड़ता है और सिद्धों को कहाँ तक अनुकूल बनाये रखने की चेष्टा की जाती है। इन सभी प्रकार के देव दानवादिकों को संसार जिस प्रकार पूजा, भक्ति, संमान,

प्रतिष्ठा समर्पित करता है, यह अर्जुन को भली भाँति मालूम था। इन देवताओं या असुरों की शक्ति के वर्णन में हजारों लाखों ग्रन्थ रच डाले गये हैं जिन्हें पढ़ पढ़कर भक्तों का हृदय अपने आप उन के प्रभाव से प्रभावित होता और पूजा भक्ति से उन को प्रसन्न रखकर अपनी रक्षा कराना तथा तरह तरह के ऐहिक आमुस्मिक फल प्राप्त करना चाहता है। ये सभी बातें सारा संसार जानता है और अर्जुन भी अच्छी तरह जानता था। अर्जुन ने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि ब्रह्माण्ड में कोई ऐसी शक्ति भी हो सकती है जो उन सब प्रकार के शक्ति सामर्थ्य से संपन्न देवों अथवा दानवों को प्रभावित कर सके, विस्मय में डाले, घबराहट में पसीने अथवा किंकर्तव्यविमूढ करे। परंतु आज उस ने यही अकल्पित बात अपनी आँखों से देख ली। उस ने देखा कि उग्रता की साक्षात् मूर्ति ग्यारहों रुद्र तेजस्विता के साक्षात् स्वरूप, अपनी रुद्रता भूल गये हैं बारहों आदित्य अपना तेज खो चुके हैं और इसी प्रकार सभी पूज्यवर्ग अपना अपना पूज्यत्व विस्मृत कर बैठे हैं। भगवान् के विराट् रूप में उन के सभी गुण समुद्र में गिरकर विलीनहो जानेवाली वर्षा की बूँद की तरह विलीन हो गये हैं, सब की शक्ति, सब का सामर्थ्य, सब का प्रभाव, माहात्म्य भगवान् की विश्वव्यापी शक्ति में, सामर्थ्य में, प्रभाव में माहात्म्य में तिरोहित हो गया है। वे लोग अपनी अपनी महिमाओं के खो जाने से चुपचाप खड़े, भौचक्के होकर भगवान् का मुँह ताक रहे हैं, किसी से कुछ करते धरते या कहते सुनते नहीं बन पड रहा है।

विश्ववन्द्य देवतादिकों की ऐसी विचित्र दशा देखकर अब अर्जुन के मन में धीरे धीरे घबड़ाहट घुसने लगी। फिर तो भगवान् का वह आश्चर्योत्पादक विराट् रूप अर्जुन की दृष्टि में भी महाभयंकर और व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला दिखाई देने लगा। वह अब अपने को संयमित रखने में असमर्थ हो गया। अतएव उसे भी भगवान् के सामने अपनी कमजोरी प्रकट करते हुए कहना पड़ा कि—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो, बहुत से मुँहों और नेत्रोंवाले, बहुत सी बाहों, जाँघों और पैरोंवाले, बहुत से पेटोंवाले, बहुत से विकराल दाढ़ोंवाले आप के विराट् रूप को देखकर मैं तथा सब लोक व्यथित हो रहे हैं।

गी० गौ०—हे भगवन्, अब तक तो मैं दूसरों को ही घबड़ाया हुआ देख रहा था, पर अब मैं भी सब लोकों की तरह व्याकुल हो गया हूँ। आप का यह रूप ऐसा महान् और विकट आकारवाला है कि इसे देखकर कोई धैर्य धारण ही नहीं कर सकता। आप के स्वरूप के ये असंख्य मुख, असंख्य आँखें, असंख्य बाहें, असंख्य जाँघें, असंख्य पैर, असंख्य पेट, असंख्य दाढ़, सभी तो विकराल ही हैं; फिर इन्हें देखकर मैं और समग्र लोक कैसे व्याकुल न हों? तात्पर्य यह कि आप की भयानक आकृति देखकर सभी व्यग्र हो उठे हैं और मैं भी स्थिर नहीं रह गया हूँ।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् का रूप देखकर देवताओं सहित सारे लोक पहले ही व्यग्र हो गये थे, पर अर्जुन नहीं हुआ था। बाद में उस ने जब सब की घबड़ाहट के ऊपर ध्यान दे देकर भगवान् से उन की दशा का वर्णन करना आरम्भ किया, तो वह स्वयं भी बिना घबड़ाये नहीं रह सका, तब अर्जुन को भी भगवान् के सुन्दर दाँत विकराल दाढ़ों के रूप में दिखाई देने लगे। काल के दाढ़ों को संसार में विकराल कहने की प्राचीन प्रथा है। काल के दाढ़ों में जो पड़ जाता है वह बच नहीं पाता। काल के दाढ़ मानों चलती चक्की की तरह हैं जिस में पड़ा हुआ कोई भी जौ, गेहूँ, चना, मटर बिना पिसे नहीं रह सकता। अर्जुन को इस समय भगवान् भी मानों कालरूप ही प्रतीत हो रहे हैं, वह समझ रहा है कि इन भयंकर दाढ़ों के बीच फँसकर कोई भी बाहर नहीं निकल सकता। इसी लिए देव दानव, यक्ष गन्धर्व, सिद्ध साध्य, विश्वेदेव पितर, नर नाग इत्यादि सभी व्यग्र हो गये हैं और अब तक स्थिर रहनेवाला मैं भी अब उन के प्रभाव से अछूता नहीं रह गया।

यहाँ प्रश्न उठता है तब फिर क्या कबीरदास का ही कहना ठीक है? क्या कोई भी भगवान् के विकट आकार में बिना समाये और बिना पिसे नहीं रह सकता। कबीरदास ने कहा है कि—

> 'चलती चक्की देखकर दिया है कबिरा रोय।
> दो पाटों के बीच में साबिक बचा न कोय॥'

क्या यह उक्ति सर्वथा सच है? क्या इस उक्ति में किसी तरह उलट फेर नहीं हो सकता? चलती चक्की में पड़ा हुआ क्या कोई भी दाना साबिक दस्तूर नहीं रह सकता? यदि हाँ; तब तो कहना पड़ेगा कि भगवान् के दाढ़ों से भी किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसी दशा में भगवान् की भगवत्ता ही क्या रह जायेगी? तब तो भगवान् और महाकाल दोनों ही एक स्वरूप हो जायेंगे; भगवान् की सौम्यता और महाकाल की विकरालता में फर्क ही क्या रह जायगा? इस लिए मानना पड़ेगा कि नहीं, सभी नहीं पिस जायेंगे, सब को नहीं कुचल जाना पड़ेगा। यहाँ भी कुछ लोग अक्षुण्ण रह सकते हैं। भगवान् की सौम्यता और महा-

काल की विकरालता, दोनों एक नहीं, दो स्वरूप हैं। यद्यपि हैं दोनों ही एक ही विश्वदेव के दो रूप, पर वे दो तो हैं ही, एक कभी नहीं हो सकते। भगवान् ही भक्तों के लिए, अपना आश्रय ग्रहण करनेवाले आश्रितों के लिए सौम्य स्वरूपवाले सच्चिदानन्द भगवान् हैं और वे ही अभक्तों के लिए, अपने आश्रय की उपेक्षा करनेवाले अनाश्रितों के लिए दंष्ट्राकराल महाकाल हैं। देखो, चलती चक्की में भी बहुत से दाने बिना कुटे पिसे अक्षुण्ण रह ही जाते हैं। वे दाने क्यों बच जाते हैं? क्योंकि वे चक्की से विरोध करके बाहर नहीं भागना चाहते, बल्कि चक्की के केन्द्र को (जिस में चक्की बँधी रहती है उस खूँटे को) वे अपना परम आश्रय मानकर उसी से चिपक जाते हैं। इसी प्रकार भगवान् को कालरूप समझकर जो उन से दूर होना चाहेगा वह तो पिस जायगा और जो उन्हीं को अपना आधार मान लेगा, उन्हीं की भक्ति में सराबोर हो जायगा, उन्हीं से लिपटा रहेगा वह अक्षुण्ण भाव से वहीं आनन्द करता रहेगा। भगवान् ही हिरण्यकशिपु के लिए, रावण के लिए, जरासंध के लिए महाकाल थे और वे ही प्रह्लाद के लिए, विभीषण के लिए, बन्दी राजाओं के लिए उन के आराध्य भगवान् थे।

अर्जुन अब तक उन के आश्रय में अपने को वर्तमान देख रहा था, इसी से सब लोकों के व्यथित होने पर भी वह व्यथित नहीं हुआ था, पर सब की दशा का वर्णन करते करते, मालूम होता है, वह उस वर्तमानता को भूल सा गया, अतएव अब उस को भी उन के रूप को देखकर घबड़ा जाना पड़ा। अस्तु;

इसी लिए अर्जुन ने कहा कि हे महाबाहो, बहुत से मुहों और नेत्रोंवाले, बहुत सी बाहों, जाँघो और पैरोंवाले, बहुत से पेटोंवाले और बहुत से विकराल दाढ़ोंवाले आप के महान् अर्थात् विराट् रूप को देखकर मैं और सब लोक व्यथित हो रहे हैं।

यह सुनकर भगवान् ने कहा—यह क्या कह रहा है अर्जुन? तूँ तो व्यग्र होनेवाला व्यक्ति नहीं है। इस लिए सब लोग व्याकुल हों, तो हों, पर तुझे तो धैर्य और शान्ति धारण करना चाहिए; तूँ क्यों घबड़ा रहा है?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, आप की कृपा रहते हुए सचमुच ही मुझे व्यथा का अनुभव नहीं करना चाहिए, तथापि मुझे भी इस लिए व्यथित होना पड़ रहा है—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

क्योंकि हे विष्णो, आकाश को छूनेवाले, कान्तिमान् अनेक वर्णवाले, फैलाये मुखवाले, प्रकाशपूर्ण विशाल नेत्रवाले आप को देखकर व्याकुल अन्तरात्मावाला मैं न धैर्य पा रहा हूँ और न शान्ति।

गी० गौ० —हे परमात्मन्, मैं चाहकर भी व्यग्रता को दूर नहीं कर पाता हूँ, क्योंकि हे विष्णो, आप का आकाश को छूनेवाला, दिग्दिगन्तव्यापी, चमकीला और चित्र विचित्र रंग का, विस्तारित मुखवाला, चमचमाती हुई बड़ी बड़ी आँखोंवाला विराट् स्वरूप देखकर मेरा अन्तःकरण एकदम व्याकुल हो गया है, घबड़ा उठा है। इसी लिए मैं न तो धीरज धारण कर पाता हूँ और न शान्ति ही पा रहा हूँ।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, कभी किसी को भयंकरताओं का वर्णन करना होता है, तो वह *काला पहाड़, अँधेरी गुफा, आग का कुण्ड, छुरे जैसे दाँत, सूप जैसे नाखून, झाड़ी जैसे* बाल इत्यादि वस्तुओं के नाम गिनाता है। बहुत से सयाने और सभी छोटे बड़े लड़के एक ही स्थान पर ऐसी चीजों के नाम सुनकर एक विचित्र प्रकार की आकृति की कल्पना कर लेते और वस्तुतः डर जाते हैं। यह डर भय निश्चय ही काल्पनिक होता है, फिर यदि कहीं सचमुच कोई उस तरह की कोई भयानक वस्तु देख ले, तब तो कुछ पूछना ही नहीं। कितनी ही बार ऐसी बातें सुनने में आ ही चुकी हैं कि अमुक ने स्वप्न में एक काला दैत्य देखा और पागल हो गया, अमुक ने राह चलते समय मैदान में दूर पर खड़ा एक काला पेड़ देखा और उसे भूत समझकर ऐसा घबड़ाया कि अन्त में मर ही गया। इन बातों पर ध्यान देते हुए मानना पड़ता है कि लंबी चौड़ी, बहुत बड़े आकार की काली कलूटी अथवा आग के समान चमकीली चीज देखकर मनुष्य का भयभीत हो जाना स्वाभाविक है। इस लिए यह भी स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भगवान् का वह विराट् रूप देखकर अर्जुन यदि घबड़ा गया, उस का धैर्य जाता रहा, शान्ति दूर भाग गई, तो यह कुछ अनहोनी बात नहीं है। यह ठीक है कि अर्जुन असाधारण वीर था, उस ने स्वर्ग, मर्त्य पातालादि के बड़े बड़े सुन्दर और भयानक दृश्य देखे थे, अतः साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उस में अधिक साहस, अधिक बल, अधिक धीरता और अधिक शान्ति रहनी चाहिए; परंतु यह भी उतना ही ठीक है कि अर्जुन में ये सब गुण जिस मात्रा में थे उस से कई लाख गुना भयोत्पादक विराट् रूप उस के सामने वर्तमान था। काला पहाड़ और अँधेरी गुफा आदि की उस विराट् के सामने चर्चा भी नहीं की जा सकती। कोई पहाड़ कितना भी बड़ा होगा, तो वह आकाश नहीं छू सकता, न उस के विस्तार से दसों दिशाएँ भर सकती हैं। लेकिन अर्जुन अपने संमुख जो रूप देख रहा था उस की लंबाई ने पृथिवी और स्वर्ग के बीच का संपूर्ण आकाशमण्डल छेंक लिया था, उस

चौड़ाई ने दसों दिशाओं को व्याप्त कर रखा था, उस का रंग एक ही वर्ण का—काला या गोरा नहीं था, बल्कि दुनिया में जितने रंग हैं सभी उस रूप की गढ़न में काम आ गये थे और वे भी उदासीन होकर नहीं छिपे पुते थे, बल्कि सब अलग अलग अपनी चमक दिखा रहे थे; उस के मुँह का विस्तार संसार भर की गुफाओं और कन्दराओं को मात कर रहा था, उस रूप की आँखें आग उगलनेवाली और सूर्य चन्द्र के समान विशाल थीं (संसार जानता है कि सूर्य चन्द्र इस पृथिवी से कितने गुने बड़े हैं)। गर्ज यह कि वह विराट् रूप ऐसा था ही कि अर्जुन जैसे असाधारण वीर को भी उस ने अन्त में विचलित कर दिया, स्थिर नहीं रहने दिया। हाँ, यदि रुद्रों और आदित्यों को व्याकुल होते अर्जुन ने न देखा होता, तो कदाचित् संभव है कि वह इतनी जल्दी न घबड़ाता, पर जहाँ उतने बड़े बड़े शक्तिशाली देवता घबड़ा गये वहाँ अर्जुन बिचारा कब तक धीर बना रह सकता था। इस लिए उस का व्यग्र, अधीर और अशान्त होना बिल्कुल स्वाभाविक है, इस में संदेह नहीं। अस्तु;

इसी लिए अर्जुन ने कहा कि हे विष्णो, आकाश को छूनेवाले, कान्तिमान् अनेक वर्णवाले, फैलाये मुखवाले, प्रकाशपूर्ण विशाल नेत्रवाले आप को देखकर व्याकुल अन्तरात्मावाला मैं न धैर्य पा रहा हूँ और न शान्ति।

यह सुनकर भगवान् ने पूछा—अर्जुन, क्या वस्तुतः मेरे विराट् रूप को देखकर ही तुझे धैर्य और शान्ति नहीं मिल रही है, अथवा अन्य देवों की व्यग्रता तेरी अधीरता और अशान्ति का कारण है ?

अर्जुन ने कहा—नहीं प्रभो, दूसरों को व्यग्र देखकर मैं उन की व्यग्रता दूर करने की ही चेष्टा करता, न कि स्वयं व्यग्र हो जाता। वास्तव में आप का आश्चर्यजनक विश्वरूप ही मेरी अधीरता और अशान्ति का कारण है, क्योंकि मुझे निश्चित रूप से अनुभव हो रहा है कि मैं—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

प्रलयकाल की अग्नि के समान भयंकर दाढ़ोंवाले आप के मुखों को देखकर ही दिशाओं को नहीं जान रहा हूँ और न शान्ति पा रहा हूँ। (इस लिए) हे देवेश, हे जगन्निवास, (आप अब) प्रसन्न हों।

गी० गौ०—हे प्रभो, प्रलय का समय उपस्थित होने पर विश्व ब्रह्माण्ड को भस्मसात् करने के लिए जैसी विकराल अग्निशिखाएँ धधक उठती हैं, वैसी ही अग्निज्वालाओं की भाँति आप के भयंकर दाढ़वाले मुखों को देखकर ही मैं अधीर और अशान्त हो उठा हूँ, आप की यह विकट मूर्ति देखकर मुझे दिग्भ्रम हो गया है—कुछ मालूम नहीं पड़ रहा है कि किस ओर कौन दिशा है और इसी कारण से मेरी शान्ति नष्ट हो गई है, आनन्द नहीं पा रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि आप का जो स्वरूप संसार को सुख शान्ति प्रदान करनेवाला है वही इस समय अपनी भयंकरता के कारण मेरे लिए अशान्ति और असुख देनेवाला हो रहा है। इस लिए हे देवताओं के प्रभो, हे जगत् के आधार, मैं प्रार्थना करता हूँ कि अब आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जायँ जिस से मेरी व्यग्रता दूर हो।

कृ० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन के विकल होने में भगवान् का विकराल आकार ही कारण था, इस में संदेह नहीं। आग उगलनेवाले बड़े बड़े दाँतों और जबड़ों से युक्त असंख्य मुखों को देखकर ही अर्जुन की शान्ति नष्ट हो गई, चित्त घबड़ा गया और यहाँ तक बुरी हालत हो गई कि उस को दिशाओं का भी ज्ञान नहीं रह गया। बिचारे ने सोचा था कि भगवान् का, देवताओं के लिए भी, ईश्वरीय योग से परिपूर्ण महान्, विश्वव्यापक रूप देखकर मैं संसार में सब से बड़ा भाग्यशाली हो जाऊँगा, देवता, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व आदि बड़े बड़े भक्त मेरे सौभाग्य पर ईर्ष्या करेंगे कि जो रूप हम लोगों ने जन्म जन्मान्तर की भक्ति के बल पर नहीं देखा, अर्जुन ने वही रूप एक ही जन्म के आत्मसमर्पण के प्रभाव से देख लिया। उस बिचारे को यह क्या मालूम था कि वह विश्वव्यापक रूप इतना भय उत्पन्न करनेवाला होगा कि बीच मैदान में खड़े खड़े ही मुझे दिशाओं का ज्ञान तक नहीं रहने देगा। यदि उसे उस रूप की इस विकरालता का पहले से कुछ भी पता रहता, तो संभवतः उस ने उस को देखने के लिए इतनी उत्कट अभिलाषा नहीं प्रकट की होती। परंतु अब तो जो होना था वह हो चुका था। अब तो उस के वश में यह बात भी नहीं रह गई थी कि वह स्वतः अपनी इच्छा से आँखें बंद कर ले और उस विकट महाकाय विराट् को न देखे। कारण, उस की आँखें भी तो अब उस की आँखें नहीं रह गई थीं। अब वे भी दिव्य, परमपुरुष, परमात्मा की दी हुई दिव्य आँखें बन चुकी थीं। अब तो सिवा इस के कोई उपाय भी नहीं था कि भगवान् से प्रार्थना करके उन के विकराल रूप को प्रसन्नतापूर्ण रूप बनाने के लिए कहा जाय। अस्तु;

इसी लिए अर्जुन ने अपनी सच्ची सच्ची दशा बतलाते हुए कहा कि हे प्रभो, आप के विकराल डाढ़ों से युक्त, प्रलयकालीन अग्नि के समान जाज्वल्यमान मुखों को देखकर ही मैं

दिशाओं का ज्ञान भूल गया हूँ और शान्ति से हाथ धोकर निरानन्द हो चुका हूँ। इस लिए हे देवेश, हे जगन्निवास, मेरे ऊपर प्रसन्न हों आप।

यह सुनकर भगवान् ने कहा—हे अर्जुन, मैं प्रसन्न कब नहीं था कि तू मुझ से अब प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना कर रहा है?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, आप सर्वदा के प्रसन्न रहनेवाले भले ही हों, पर इस समय तो मैं आप का जो भयानक रूप और उस का कर्म देख रहा हूँ वह मेरी समझ में प्रसन्नता का प्रतीक किसी तरह नहीं कहा जा सकता।

भगवान् ने पूछा—क्यों, यह वर्तमान रूप मेरी अप्रसन्नता किस प्रकार प्रकट कर रहा है और इस के द्वारा ऐसा कौन सा भयकर कर्म हो रहा है जिस को तू प्रसन्नताविरोधी समझ रहा है?

अर्जुन ने कहा—भगवन्, इस समय आप के स्वरूप द्वारा बड़े ही भयानक कर्म का संपादन हो रहा है, क्योंकि—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

भूपतियों के समूहों के साथ ही धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा सूत का पुत्र भी हमारी ओर के मुख्य योद्धाओं के साथ जल्दी जल्दी आप के विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं और कोई कोई आप के दाँतों के बीच में फँसकर सिरों से कुचकाये हुए दिखलाई पड़ रहे हैं।

गी० गी०—हे भगवन्, बड़ा ही भयंकर दृश्य है। देखने का साहस नहीं हो रहा है, पर देखने के लिए विवश हूँ, इस लिए मुँह से भी उस का वर्णन करता

ही पड़ रहा है। बात यह है कि दुर्योधनादि कौरवों की सहायता के लिए जितने राजा आये हुए हैं उन सब के साथ साथ ये सब के सब कौरव आप के विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में घुसते चले जा रहे हैं। सो इन की तो कुछ गणना ही नहीं है, क्योंकि जगद्विख्यात वीर पितामह भीष्म, गुरुवर्य द्रोणाचार्य, सूत का लड़का वीर कर्ण और हमारे दल के प्रधान प्रधान योद्धा लोग भी उन के साथ साथ आप के विकटाकार मुखों में प्रवेश करते चले जा रहे हैं। और इस से भी भयोत्पादक दृश्य यह है कि कितने ही योद्धाओं के सिर आप के दाँतों में फँसकर चकनाचूर हो गये हैं और वे अत्यन्त उद्वेगकर रूप में बाहर ही अँटके हुए दिखलाई पड़ रहे हैं।

क॰ प्र॰—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, ऊपर दो श्लोकों में अर्जुन ने जिस दृश्य का वर्णन किया है उस की भयानकता प्रकट करने लिए के अलग से शब्दयोजना करना व्यर्थ है, क्योंकि अर्जुन ने जितना कह दिया है उतना ही कम नहीं है। श्मशान की नीरवता को अधिक से अधिक व्यापक बनानेवाले घने अंधकार के बीच 'तड़ तड़' 'फट फट' 'चट चट' आदि अनेक तरह के शब्द पैदा करती हुई यदि एक साथ ही पचीस पचास चिताएँ जल रही हों और उन में जलनेवाले मुर्दों की अँतड़ियों को खींच खींचकर भूत बैताल नाना प्रकार के नृत्य करने में संलग्न हों, तो ऐसा बीभत्स दृश्य देखने पर भी मन में कदाचित् उस तरह की बेचैनी का पता नहीं लगेगा जैसी बेचैनी इन दोनों श्लोकों में वर्णित दृश्य की कल्पनामात्र से मन में उत्पन्न हो जाती है। देखो—

भगवान् के मुखों की संख्या करना असंभव है, प्रत्येक मुख में महा महाभयंकर, विकराल, लंबे लंबे दाँत बाहर से ही दिखलाई पड़ रहे हैं, सभी मुख कल्पनातीत अग्निकुण्ड के बराबर विस्तार करके फैले हुए हैं और उन में से लपालप अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर, अलग, बगल, चारों ओर फैल रही हैं। कैसा रोमाञ्चकारी वर्णन है यह!

मनुष्य देखता है कि चूल्हे में आग जल रही है, लड़के की माँ तवे पर की रोटियाँ उलटने पलटने में तल्लीन है, रसोई घर के दरवाजे पर छोटा सा—साल दो साल का—लड़का चुपचाप कुछ गुनगुना सा रहा है, एकाएक उस को इच्छा जोर मारती है और वह अपनी माँ के पास जाने के लिए लपक पड़ता है। इस दृश्य को देखते ही मनुष्य 'हाँ हाँ' करके चिल्ला उठता है और दौड़कर बालक को पकड़ लेता है। यह चिल्लाना और दौड़ पड़ना केवल अनिष्ट की कल्पना पर निर्भर है। जो माँ दरवाजे पर लड़के को बैठाकर रसोई घर में रोटी पका रही है वह इतनी असावधानी कदापि नहीं कर सकती उस का लड़का उसी के पास से होकर चूल्हे की आग में हाथ डाल दे और माँ देखती ही रह जाय। निश्चित बात है कि वह उस को आग के समीप जाने के बहुत पहले ही अपनी गोद में उठा लेगी, परंतु अनिष्ट की

कल्पना में अग्रमुखी मनुष्य लड़के का चलना देखते ही भयातुर होकर दौड़ पड़ता है, और यही स्वाभाविक होता है ।

यह बहुत ही मामूली, बिल्कुल नहीं के बराबर अनिष्ट और उस की कल्पना से डरने का दृष्टान्त है। अब विचार करो कि अर्जुन के सामने जो दृश्य उपस्थित था वह कैसा भयोत्पादक था। बिचारा आग के अगणित कुण्डों (भगवान् के विकराल मुखों) में प्रत्यक्ष रूप से स्वजन परिजन का इसादन प्रविष्ट होना अपनी आँखों से देख रहा था। दोनों पक्ष के वीर रणबाँकुरे सैनिक और पितामह, गुरु, भाई आदि अपने आप खिचे हुए उन अग्निकुण्डों में चले जा रहे थे, और इतने वेग से कि उन को पकड़कर रोक रखना भी असंभव था। बिचारों के सिर चकनाचूर हो गये थे, दाँतों की सघनता ने उन्हें भीतर भी नहीं जाने दिया था कि अर्जुन के सामने से वह करुणोत्पादक दृश्य कुछ देर के लिए भी तो तिरोहित होता! ऐसा भयानक दृश्य देख वह बिचारा दिशाओं को भूल गया, अधीर और अशान्त बन बैठा तथा सुख की कल्पना से अत्यन्त दूर जा पड़ा, तो क्या आश्चर्य है? मानना पड़ता है, अन्तर्हृदय से स्वीकार करना पड़ता है कि वस्तुतः वहाँ भी अर्जुन की स्वाभाविक वीरता और साहसिकता ने उस का साथ नहीं छोड़ा था, अन्यथा विस्मयमात्र होकर ही नहीं रह जाता, बल्कि कुछ दूसरी ही कठिन समस्या उपस्थित हो गई होती। अस्तु;

वीर अर्जुन का ही यह काम था इतना दर्दनाक दृश्य देखकर वह विक्षिप्त या बेहोश नहीं हुआ और पूरे होश में रहकर भगवान् से कह रहा है कि हे प्रभो, भूपतियों के समूहों के साथ ही ये सब धृतराष्ट्र के पुत्र और पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य तथा सूतपुत्र कर्ण भी हमारी ओर के मुख्य मुख्य योद्धाओं के साथ जल्दी जल्दी आप के विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं और कोई कोई आप के दाँतों के बीच में फँसकर सिरों से कुचलाये हुए दिखलाई दे रहे हैं।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन, ये सब लोग शीघ्रता के साथ मेरे मुखों में ही क्यों जा रहे हैं, भागकर दूर क्यों नहीं चले जाते अथवा तू ही क्यों नहीं मना कर देता कि इस प्रकार वे अपने प्राणों की बलि न दें?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, क्या उन बिचारों का वश चल रहा है कि वे भागकर दूर निकल जायँ अथवा क्या मुझ में ही इतना शक्ति है कि मैं उन को मना करके रोक सकूँगा?

भगवान् ने कहा—क्यों, उन का वश क्यों नहीं चल रहा है और तेरी शक्ति क्यों खोय गई है?

अर्जुन ने कहा—भगवन्, उन की और मेरी दोनों की असमर्थता का कारण उन के जाने की तीव्र गति ही है, क्योंकि—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

जैसे नदियों के बहुत से जलप्रवाह समुद्र के ही अभिमुख दौड़ते जाते हैं वैसे ही ये मनुष्यलोक के वीर आप के चारों ओर से ज्वलन्त मुखों में प्रविष्ट होते जा रहे हैं।

गी० गौ०—हे भगवन्, जिस प्रकार संसार भर की नदियों का जल अपने संपूर्ण प्रवाह को स्वतः समुद्र की ओर दौड़ाता चला जाता है उसी प्रकार पृथिवी पर के ये सारे वीर चारों ओर से जलते हुए आप के असंख्य मुखों में अपने आप दौड़ दौड़कर घुसते चले जा रहे हैं। तात्पर्य यह कि जिस तरह नदियों के प्रवाहों को समुद्र को तरफ जाने से रोक सकना असंभव है उसी तरह इन वीरों को आप के ज्वलन्त मुखों में प्रवेश करने से रोकना असंभव है।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, समुद्र किसी नदी के पास प्रेमपत्र भेजकर अपने यहाँ आने के लिए निमन्त्रण नहीं देता। नदियों को समुद्र की पत्नी कहा जाता है और समुद्र नदियों का पति है। इस सम्बन्ध को देखते हुए यदि समुद्र संदेश भेजकर नदियों को अपने घर बुलाने का आग्रह करता, तो भी कुछ अनुचित नहीं कहा जाता, पर वह ऐसा कोई बुलावा आदि फिर भी क्यों नहीं देता? इसी लिए कि वह सगरहित स्वभाववाला है ही। समुद्र को संबन्ध असंबन्ध की कुछ चिन्ता ही नहीं रहती। नदियों को मन हो, आयें, मन हो, मत आयें; समुद्र इन बातों को सोचता भी नहीं है। फिर भी नदियाँ वहाँ गये बिना नहीं मानतीं, बिना बुलावा के ही सब की सब नदियाँ पूरे वेग से उसी समुद्र के पास दौड़ती चली जाती हैं। वे ऐसा क्यों करती हैं? जहाँ उन की पूछ नहीं, आदर नहीं, मान संमान नहीं वहाँ वे क्यों जाती हैं? क्या उन्हें तुलसीदासजी की यह उक्ति मालूम नहीं है कि—

'आवत ही हरषे नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसे मेह॥'

क्योंकि उन के आने और सब तरह से एक में मिल जाने की उत्कट इच्छा देखकर भी तो समुद्र जरा भी हर्षित नहीं होता, प्रिय आगमन जानकर प्रफुल्लित नहीं होता, न आगे बढ़कर अगवानी ही करता है। लेकिन तब भी नदियाँ और कहीं न जाकर बराबर वहीं, समुद्र—

में ही क्यों जाती रहती है? इस का उत्तर केवल एक है और वह यही कि नदियों का यही स्वभाव है। नदियों को समुद्र में जाने के मार्ग के अतिरिक्त और कोई मार्ग मालूम ही नहीं है। इसी लिए समुद्र का भी यही स्वभाव है पड गया है कि जो कोई भी नदी उस के पास आती रहती है उस को बिना हर्ष विषाद के वह अपने में मिलाता जाता है। नदियों को भी इतने में ही संतोष रहता है कि मैं यहाँ आने पर उलटी भगा नहीं दी गई, यही बहुत है। इस प्रकार समुद्र का स्वभाव पड गया नदियों को अपने में मिला लेने का और नदियों का स्वभाव हो गया समुद्र में जाकर उस के साथ एकाकार हो जाने का। और स्वभाव ही सब से प्रबल वह शक्ति है जिस का निराकरण किसी के हाथ की बात नहीं। कोई लाख प्रयत्न करके भी न तो समुद्र को मना कर सकता है कि तुम नदियों को अपने भीतर घुसने मत दो और न नदियों को रोक सकता है कि तुम सब समुद्र के पास जाओ मत। दोनों ही अनादि काल से अपने स्वभाव के वश होकर उसी प्रणाली पर बर्तें रहे हैं।

इसी प्रकार संसार के जीवों का स्वभाव हो गया है भगवान् के कालानलसन्निभ प्रज्वलित मुखों में प्रवेश करने का और भगवान् का काम हो गया है कालरूपी भयानक मुखों में सब को घुस जाने देने का। इन दोनों बातों को कोई बंद नहीं कर सकता। जीवमात्र जान में या अनजाने उसी चिर परिचित कालमार्ग पर चलते चले जाते हैं और काल भी सब को हड़पता हुआ भी बिना हर्ष विषाद का चुपचाप पड़ा रहता है। अस्तु,

इसी लिए अर्जुन को भी उन जानेवालों के स्वभाव को ही कारण बतलाते हुए यही कहना पडा कि हे प्रभो, जैसे नदियों के बहुत से जलप्रवाह समुद्र के ही अभिमुख होके चले जाते हैं उसी प्रकार मनुष्यलोक के ये वीर लोग आप के सर्वत प्रज्वलित मुखों में ही घुसते चले आ रहे हैं।

यह दृष्टान्त सुनकर भगवान् ने कहा—अर्जुन, समुद्र भी जलमय है और नदियाँ भी। इस लिए उन दोनों का आपस में एक हो जाने की प्रकृति सर्वथा उचित ही है, परंतु अग्निमय मुखों में पार्थिव शरीरमय जीवों के स्वत प्रविष्ट होने में तो कुछ सामञ्जस्य नहीं दिखाई देता, यह तो पूर्णत. अस्वाभाविक बात तूँ कह रहा है?

अर्जुन ने कहा—नहीं प्रभो, मैं अस्वाभाविक बात नहीं कह रहा हूँ। यद्यपि उपर्युक्त दृष्टान्त कुछ बेमेल सा अवश्य हो गया मालूम होता है, तथापि मैं ने कहा है सब सत्य ही।

भगवान् ने कहा—यदि सत्य कहा है, तो उस सत्यता को प्रमाणित करनेवाला कोई इतर दृष्टान्त तूँ नहीं दे सकता था कि भिन्नस्वरूपी दृष्टान्त दे डाला?

अर्जुन ने कहा—दे सकता था प्रभो, तथापि उस दृष्टान्त एक बार एक विषय में आप के श्रीमुख से सुन चुका था, इसी लिए वह पहले स्मरण आ गया और मैं ने कह डाला।

परंतु यदि आप पूर्णतः सामञ्जस्य दिखलानेवाला दृष्टान्त मुझ से कहलाना चाहते हैं, तो वह यही है कि—

> यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
> विशन्ति नाशायसमृद्धवेगाः ।
> तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
> स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में (अपने) नाश के लिए अत्यन्त वेग से पतङ्ग प्रविष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार लोक भी (अपने) नाश के लिए आप के मुखों में बड़े वेग से प्रविष्ट हो रहे हैं ।

गी० गौ०—हे भगवन् , फतिंगों का अग्नि के साथ कुछ भी साम्य नहीं है, फिर भी वे केवल नष्ट हो जाने के लिए ही अत्यन्त तेजी के साथ दौड़कर दहकती हुई आग में कूद पड़ते हैं। ऐसा वे अपने स्वभाव के वशवर्ती होकर ही करते हैं। सो जिस प्रकार फतिंगों का यही स्वभाव हो गया है उसी प्रकार मनुष्यलोक के इन वीरों का भी स्वभाव ही हो गया है कि ये नष्ट होने मात्र के लिए ही अत्यन्त वेग से आप के प्रज्वलित मुखों में घुसते चले जा रहे हैं।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, अग्नि और पतङ्ग का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध दृष्टान्त है। संसार में प्रेमियों की संख्या असंख्य है और सभी प्रेमी अपने को पतङ्ग या पर्वाना कहने में अपने जीवन की पर्याप्त सफलता मानते हैं। उर्दूसाहित्य तो समा और पर्वाना (प्रकाश और पतङ्ग) के ज्वलन्त दृष्टान्त से काफी से ज्यादा भर गया है। राह में चलते हुए तुम ने भी सैकड़ों बार ऐसी ऐसी गजलें सुनी होंगी जिन का संपूर्ण कवित्वरस एकमात्र समा और पर्वाना पर ही निर्भर करता है। परंतु वे गजलें जिस भाव से ओतप्रोत रहती हैं उस भाव का यहाँ (गीता में) के दृष्टान्त से अणुमात्र भी संबन्ध नहीं है। प्रेमी अपनी प्रेमिका की रूपरश्मि (सुन्दरता के प्रकाश) का पतङ्ग होता है सही, पर वह अपने हृदय में उस रूपरश्मि पर जल मरने में एक प्रकार की सफलता का भाव तो पोषित किये ही रहता है, वह उस सौन्दर्य पर जलता है यही समझकर कि मैं उस को इसी प्रकार अपना बना सकूँगा या इसी प्रकार उस का बन सकूँगा। यदि यह आशा उस के मन में न रहे, तो शायद ही वह उस रूप की आग में जलने का साहस करे। यह सच है कि बहुधा उन की आशाएँ निराशाओं में ही समाप्त होती हैं, पर इस से यहाँ कोई मतलब नहीं, मतलब है केवल इतने से कि आशा रहती है अवश्य।

परंतु भगवान् के मुखों को अग्नि में जिन का जलना अर्जुन देख रहा है वे उस अग्नि से प्रेम रखने के कारण थोडे ही पतङ्ग बनकर उस में जा जाकर जल रहे हैं ? नहीं, वे तो केवल जल रहे हैं, बस। तात्पर्य यह कि वे विवश होकर, अपने स्वभाव में जकड़े रहने के कारण जल रहे हैं, प्रेम से नहीं। यदि प्रेम होता, भगवान् के रूप पर मुग्ध होकर उन में जल मरने की प्रवृत्ति रहती तब तो फिर क्या कहना था ? तब तो सब का जीवन ही सार्थक हो जाता। किंतु इस लिए यहाँ, इस दृष्टान्त की उपयोगिता पर किसी को संदेह नहीं करना चाहिए अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिए कि पतङ्ग तो अग्नि के रूप से आकृष्ट होकर ही उस में गिरकर प्राण देते हैं और नरलोकवीर लोग तो यों ही विवश होकर उन के विकराल मुखों में घुस रहे हैं, ऐसी दशा में पहले दृष्टान्त की तरह यह दृष्टान्त भी पूर्ण सामञ्जस्य नहीं स्थापित करता ? नहीं, यह दृष्टान्त पूरा पूरा घटाकर अर्जुन ने उपस्थित किया है। हाँ, इस को समझने में थोड़ा ढंग बदलना पड़ेगा। वह इस तरह कि एक पतङ्ग जब आग में जलभुनकर समाप्त हो जाता है, तो उस के पीछे दूसरा पतङ्ग उस का जलना अच्छी तरह देखता रहता है; फिर भी वह पीछे नहीं लौटता और पहले की ही तरह स्वयं भी जाकर जल मरता है। इसी क्रम से लाखों करोड़ों पतङ्ग आ आकर आग में गिरते और मरते जाते हैं। देखकर भी वे क्यों पीछे नहीं लौटते ? क्या उन्हें आग का स्वभाव नहीं ज्ञात रहता ? नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, वे एक को, दो को अथवा चार छ को मरते देखकर भले ही अग्नि के गुण से अपरिचित रह जाते, पर जहाँ लाखों करोड़ों को अग्नि में गिरने के बाद लौटते नहीं देखेंगे वहाँ अवश्य ज्ञान हो जायगा कि अग्नि क्या कर रही है, किस प्रकार हमारे साथियों को समाप्त किये डालती है ? तब भी वे पीछे क्यों नहीं लौट जाते ? आगे जाकर समाप्त क्यों होते जाते हैं ? इसी लिए कि उन का यही स्वभाव है। वे उत्पन्न ही हुए हैं अग्नि में गिरकर भस्म हो जाने के लिए। इसी प्रकार जीवमात्र कालानिलसन्निभ भगवद् मुखों में अपना अन्त कर देने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। वे उस कर्म में विवश हैं, पीछे हटना उन से हो ही नहीं सकता।

बस, इसी विचार से अर्जुन ने यह दृष्टान्त उपस्थित किया जो सर्वथा उपर्युक्त और सामञ्जस्यपूर्ण है। इस दृष्टान्त में किसी तरह की अपूर्णता का लेश भी नहीं है। अस्तु;

अर्जुन ने भगवान् से यह कहकर कि जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में अपने नाश के लिए अत्यन्त वेग से पतङ्ग प्रविष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार लोक भी अपने नाश के लिए अत्यन्त वेग से आप के मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं, अब वह आगे के श्लोक में यह कहने जा रहा है कि भगवान् अपने मुखों में प्रवेश करनेवाले उभय पक्षीय सेनाओं के वीरों और समस्त लोगों के साथ क्या व्यवहार कर रहे हैं अर्थात् भगवान् के मुखों में जानेवालों की क्या गति हो रही है। अर्जुन कहता है कि—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

हे विष्णो, (आप अपने) जाज्वल्यमान मुखों से सब ओर से समग्र लोकों को ग्रास करते हुए चाट रहे हैं। आप की उग्र प्रभाएँ (अपने) तेजों से समग्र जगत् को व्याप्त करके संतप्त कर रही हैं।

गी० गौ०—हे भगवन् कृष्ण, आप के मुखों में जो लोग प्रविष्ट हो रहे हैं उन सब को आप अपने ज्वालामय मुखों से चारों ओर से निगलते जाते हैं और दनादन ओंठ चाट रहे हैं। साथ ही साथ आप के शरीर की दमकती हुई उत्कट प्रभाएँ अर्थात् कान्तिमती छबियाँ अपने तीखेपन से संपूर्ण संसार को सब तरफ से भरकर उस को अत्यन्त तपा रही हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, इस श्लोक का भाव महाभयानकता प्रकट करनेवाला है। सच पूछो, तो यही दृश्य देखकर अर्जुन भय से अत्यन्त व्याकुल हो गया होगा। सारा संसार वेग के साथ आ आकर यदि विराट् देव के अग्निकुण्डरूपी असंख्य मुखों में समाता ही चला जाता और वह समा जाना मात्र ही अर्जुन को दिखाई देता, यह न मालूम होता कि समाने के बाद क्या हो रहा है, तो कदाचित् वह इतना भयोद्विग्न न होता। भगवान् उस को उपदेश देकर बतला ही चुके थे कि जन्म होना और मर जाना, यही सृष्टि की परंपरा है। सो सब को उन जलते मुखों में आ आकर गायब होते देखकर वह सोच लेता कि सृष्टि अपनी परंपरा निभा रही है, और कुछ नहीं। परंतु उस ने देखा कि जो लोग इन मुखों में घुस रहे हैं उन को भगवान् अपने अनन्त मुखों से गले के नीचे उतारते जा रहे हैं—ग्रास बनाते जा रहे हैं और फिर भी उन कालदेव की भूख नहीं मिट रही है, पेट खाली ही पड़ा रह जाता है, तो वे चटाचट जीभ से ओंठ चाट रहे हैं कि और भी ग्रास मिले; अपने मुखों से ऐसी तेज ज्वाला उगल रहे हैं कि उस के ताप से संतप्त होकर सारा संसार शिथिल हो होकर विवशता के साथ उन के मुखों में खिंचा चला आ रहा है।

यह संहारकारी दृश्य देखकर ही उस का कलेजा दहल गया। वह सोचने लगा कि अरे रे रे, यह तो बड़ी विकट लीला है, ऐसा कठोर दृश्य तो कहीं सुना भी नहीं था, देखने की कौन कहे ? जब कि भीष्म पितामह जैसे बालब्रह्मचारी मृत्युंजय वीर और द्रोणाचार्य जैसे

बड़े बड़े वीरों के गुरु भी अपने को इस विनाशमुख में जाने से नहीं रोक पाते हैं, तो दूसरों की क्या शक्ति है कि इस विनाशलीला से किसी की रक्षा होगी। जो कालदेव सब संसार को गटागट निगलते रहकर भी नहीं अघा रहे हैं, बल्कि हजार गुनी अधिक भूख से व्याकुल जैसे होकर बार बार लपालप जीभ चला रहे हैं उन की भूख कब शान्त होगी, यह कौन कह सकता है? इस तरह तो मालूम होता है कि विश्वब्रह्माण्ड भर के समाप्त हो जाने पर भी इन की तृप्ति नहीं हो सकेगी। आह, तब तो अपना भी जीवन अब गया ही हुआ समझना चाहिए। यह तो बड़ी कठिन बला मालूम हो रही है। मैं ने प्रार्थनाएँ करके यह कौन सा दृश्य उपस्थित कर लिया और अब इस विनाश से रक्षा किस तरह हो? न मैं ने विनती की होती, न इस प्रकार इन विश्वरूपी देव के ज्वालामय तेज से संसार को संताप पहुँचता। अवश्य ही अब विश्वभर में महान् अनर्थ उत्पन्न होकर सृष्टिमात्र का सुख, शान्ति, कल्याण, मङ्गल नष्ट हो जायगा; क्योंकि जिस शीघ्रता से यह संहारलीला जारी है और उतने पर भी जिस ढंग की अतृप्ति के लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं, इन सब बातों को देखते हुए कुछ अनुमान करना भी महान् कठिन हो रहा है कि क्षण भर बाद हमारी—सारे संसार की—क्या दशा होगी।

परंतु यह महा महा रौद्र दृश्य मेरी प्रार्थना से भगवान् ने ही उपस्थित किया है। इस लिए मुझे पुनः प्रार्थना करके भगवान् को ही प्रसन्न करना और पूछना चाहिए कि अब आगे वे क्या करनेवाले हैं। इस प्रकार मन ही मन में निश्चय करके अर्जुन ने प्रार्थना की कि—

> आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
> नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
> विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
> न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे सर्वश्रेष्ठ देव, उग्र रूपवाले आप कौन हैं? मुझ को बतलाइए। आप को नमस्कार करता हूँ; प्रसन्न हों। (मैं) आप आदि पुरुष को जानने की इच्छा करता हूँ, क्योंकि आप की प्रवृत्ति को बिल्कुल नहीं जानता हूँ।

गी० गौ०—हे भगवन्, इस विकट आकार को धारण करनेवाले आप कौन हैं? हे देवाधिदेव, आप को मैं प्रणाम करता हूँ, आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे अपना परिचय दें। हे आदि पुरुष, मैं आप को जानने की अभिलाषा करता हूँ, क्योंकि अभी तक मैं यह समझ नहीं सका हूँ कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, अर्जुन ने भगवान् का ईश्वरीय योग देखने के लिए उन से प्रार्थना की थी। वह यह नहीं जानता था कि उन का ईश्वरीय योग ऐसा विकराल होगा। वह तो यही समझता था कि जैसे सर्वाङ्गसुन्दर श्री कृष्ण मेरे सखा हैं, मित्र हैं, हितैषी हैं, वैसी ही सुन्दर उन की ईश्वरीय योगवाली मूर्ति होगी जिस का दर्शन कर मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा। पर जब भगवान् ने उस की प्रार्थना स्वीकृत कर उस को अपना ईश्वरीय रूप दिखलाया और अर्जुन ने उस रूप में सारे संसार को भस्म होते देखा, तो उस का होश गायब हो गया। वह यह भी भूल गया कि मेरे सामने मेरे सर्वस्व भगवान् कृष्ण ही अपने विश्वव्यापक रूप में वर्तमान हैं। इस में अर्जुन का कुछ दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि भगवान् उस से कई बार कह चुके थे कि मैं ही इस संपूर्ण सृष्टि की रचना, पालन और संहार करनेवाला सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हूँ, तथापि उस बिचारे की कल्पना में यह बात बिलकुल नहीं आई थी कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का संहारकारी आकार इतना भयंकर होगा। वह तो यही समझता था कि भगवान् इसी सर्वसुन्दर रूप से सृष्टि को उत्पन्न करते होंगे, उस की रक्षा में संलग्न रहते होंगे और अन्त में उसी रूप में विराजमान रहकर अपनी सृष्टि को अपने में ही लीन कर लेते होंगे। वह यदि यह अनुमान कर सका होता कि सृष्टि रचने के समय भगवान् एक दयापूर्ण रूप से अपना कार्य संपादित करते होंगे, सृष्टि का पालन करने के समय दूसरा वात्सल्यपूर्ण आकार ग्रहण करते होंगे और सृष्टि का प्रलय करने के समय तीसरा महा भयावह कोपपूर्ण कालरूप धारण करते होंगे, तो वह भगवान् के विराट् रूप द्वारा तीनों लोकों को व्यथित और नरलोकवीरों को विनाश के लिए उन के मुखों में जाते देखकर भी यह नहीं भूलता कि मैं अपने आश्रय परमात्मा का ही प्रलयंकर रूप देख रहा हूँ। पर वास्तव में अर्जुन को उस विषय का पहले से कुछ भी भान नहीं था। इसी लिए वह विकराल मुखोंवाले देव को देखकर घबड़ा गया और पहले की प्रार्थना आदि से प्रसन्न होकर दिव्य नेत्र प्रदान करनेवाले तथा अपना सर्वशक्तिमान् विश्वव्यापक ईश्वरीय रूप दिखलानेवाले भगवान् को ही नहीं पहचान सका कि मैं अपने प्रिय बन्धु और समर्थ गुरु श्री कृष्ण के ही सामने खड़ा होकर उन्हीं का प्रलयकारी रूप देख रहा हूँ। अस्तु;

इसी भ्रान्ति को दूर करने की इच्छा से अर्जुन ने कहा कि हे देववर, मुझे बतलाए कि उग्ररूप धारण करनेवाले आप कौन हैं? मैं आप को प्रणाम करता हूँ, आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों। मैं आप को पहचानने की इच्छा करता हूँ, क्योंकि आप आदिपुरुष की प्रवृत्ति को मैं समझ नहीं रहा हूँ।

इस प्रकार अर्जुन की व्याकुलता भरी प्रार्थना सुनने के अनन्तर—

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

श्री भगवान् बोले—लोकों का क्षय करनेवाला मैं बढ़ा हुआ काल हूँ, लोकों के संहार के लिए यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। सेनाओं में जो योद्धा लोग खड़े हैं वे सब तेरे विना भी नहीं रहेंगे।

गी० गौ०—श्री कृष्ण भगवान् ने कहा—हे अर्जुन, मुझ को तूँ जानना चाहता है, तो जान ले कि मैं संसार को नष्ट करने के लिए विस्तार को पहुँचा हुआ महाकाल हूँ और यहाँ इसी लिए उपस्थित हुआ हूँ कि सब लोकों का संहार कर डालूँ। हे अर्जुन, भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि जो बड़े बड़े वीर महारथी योद्धा लोग इन सेनाओं में खड़े दिखलाई दे रहे हैं वे सब के सब तेरे न मारने पर भी जीवित नहीं रह सकेंगे, क्योंकि मैं जिस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ उसे अवश्य पूरा करूँगा अर्थात् तूँ लड़ या न लड़, मैं सब का संहार कर डालूँगा।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, यह एक खास नियम है कि जिस समय कोई अत्यन्त व्याकुल हो गया हो, आगा पीछा न सूझता हो, चित्तवृत्तियाँ चञ्चल हो उठी हों उस को तुम थोड़ी मीठी मीठी बातें सुनाकर पुचकारकर यदि एक रास्ता पकड़ा दो और यह बतला दो कि इसी मार्ग पर चले जाओ, तो वह बिना मीन मेष किये तुम्हारी बात मान लेगा। कारण, जिस समय अपनी बुद्धि काम नहीं देती उस समय दूसरे की बुद्धि का सहारा लेना ही जीवमात्र की प्रकृति है। ऐसा न करे, तो उस का काम हो नहीं चल सकता। घबड़ाहट की हालत में सभी को परमुखापेक्षी होना पड़ता है। उस समय वह मार्ग दिखानेवाला जो कोई भी उलटा या सीधा मार्ग पकड़ा देता है उसी पर घबड़ाये हुए मनुष्य को चलना पड़ता है। उस में यह विचार करने की शक्ति तो रहती नहीं कि मुझे जो मार्ग ग्रहण कराया गया है वह अच्छा है या बुरा। इस लिए वह इतना ही बहुत मानता है कि जहाँ मैं कोई मार्ग ही नहीं देख पाता था वहाँ एक मार्ग तो मिल गया, बस। यह मार्ग कहाँ ले जायेगा—उन्नति के शिखर पर पहुँचायेगा अथवा अवनति के गड्ढे में डालेगा—यह जानने की शक्ति ही जब नहीं है, तो दूसरा उपाय ही क्या है?

अर्जुन भयंकर दृश्यों को देखकर हद से बाहर घबड़ा गया था। उस के संमुख कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं था जिस से वह अपनी घबड़ाहट बतलाकर अपने लिए शान्ति का उपाय पूछे। थे केवल विराट् भगवान्; और उन्हीं का विकट आकार देखकर वह घबड़ाया हुआ था। ऐसी परिस्थिति में वह यदि जानता भी होता कि ये कालस्वरूपी महापुरुष मुझे अपनी ही प्रकृति के अनुसार संहार के मार्ग में लगायेंगे, तो भी वह उन्हीं से अपने लिए सहारा लेने को बाध्य था। फिर वहाँ तो उस को यह ज्ञान भी नहीं था कि ये विराट् देव क्या करना चाहते हैं, क्योंकि उस की दशा ही इतनी अस्थिर हो गई थी कि वह कुछ समझ नहीं सकता था। इस लिए हर हालत में उन्हीं देव को प्रसन्न करके उन के बतलाये मार्ग पर चलने के सिवा कोई चारा ही नहीं था जिस का अर्जुन अपने लिए उपयोग करता।

अर्जुन युद्ध के अन्तिम परिणाम को सोचकर मोह में पड़ गया था। भगवान् को उस अवश्यंभावी युद्ध का निश्चित विनाशकारी परिणाम संपूर्ण रीति से अर्जुन के ही हाथों पूरा कराना था। वे अर्जुन को किसी तरह छोड़ नहीं सकते थे। नाना प्रकार से समझाकर उस को आवश्यक कर्तव्य पर आरूढ कराना भगवान् के लिए आवश्यक हो गया था। उन्होंने सब संभव उपायों से अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करने का उद्योग किया। इतने में घटना-क्रम से विश्वव्यापक ईश्वरीय विभूतियों के वर्णन का प्रसंग आ गया। अर्जुन की इच्छा हुई कि उन विभूतियों का प्रत्यक्ष दर्शन करूँ। उस ने इस के लिए भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् को यह अच्छा अवसर मिल गया। उन्होंने सब विभूतियों को दिखलाने बाद अपनी संहार-कारिणी विभूति महाकाल की मूर्ति को व्यापक रूप में अर्जुन के सामने प्रकट कर दिया। अर्जुन वह दृश्य देखकर भय से व्याकुल हो गया और महाकालरूपी भगवान् से पूछा कि यह कौन सी विभूति है, यह कैसा ईश्वरीय योग है, यह कैसी उग्ररूपता है?

भगवान् ने कहा—विनाशोन्मुख संसार को नष्ट करनेवाली विभूति है यह; लोकक्षय का आवश्यक कर्म पूरा करनेवाला ईश्वरीय योग है यह; तूँ चाहे कुछ भी कर, किंतु सब का अभाव उपस्थित करनेवाली यह उग्ररूपता है।

अब क्या करे अर्जुन। उस की अपनी बुद्धि किसी निश्चित विचार के योग्य रह नहीं गई थी और जिन की बुद्धि का वह सहारा लेना चाहता था वे उस को उसी मार्ग की ओर संकेत बतला रहे थे जिस से वह दूर रहना चाहता था। परंतु इस समय तो अर्जुन में इस संकेत का अर्थ समझने का भी सामर्थ्य नहीं था।

इस लिए उस ने उन्हीं देव से पूछा कि जब मेरे बिना भी कोई रहनेवाला नहीं है, तो मैं अब क्या करूँ?

भगवान् ने कहा—जो मैं कहूँ वही कर तू अर्थात् प्रत्येक दशा में जब सब का विनाश निश्चित है, कोई बचनेवाला है ही नहीं, तब तू व्यर्थ के मोह में मत पड़।

अर्जुन ने कहा—किंतु अब मेरे मोह में पड़ने या न पड़ने से होना ही क्या है? सब का मरना ही निश्चित है, तब फिर मोह करना और न करना, मेरे लिए दोनों बातें एक समान हैं।

भगवान् ने कहा—नहीं अर्जुन, ऐसी बात नहीं है। मोह में पड़ने से तू कायर कहा जायगा, अपयश का भागी होगा, कर्तव्यविमुख होने का दोष लगेगा तुझे। क्या ये बातें अच्छी हैं?

अर्जुन ने कहा—कदाचित् नहीं अच्छी हैं। परन्तु आप की आज्ञा क्या है, वह तो सुनूँ।

भगवान् ने कहा—कदाचित् नहीं, प्रत्युत निश्चित रूप से ये अधम बातें हैं। तभी तो मैं कहना चाहता हूँ अथवा कह रहा हूँ कि—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इस लिए हे सव्यसाचिन्, तूँ उठ, यशोलाभ कर, शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य को भोग। ये (वीर शत्रु) मेरे द्वारा ही पहले ही मार डाले गये हैं। तूँ निमित्तमात्र हो जा।

गी० गौ०—हे बायें हाथ से भी बाण चलाने का अभ्यास रखनेवाले अर्जुन, चूँकि संसार का नाश करने में लगा हुआ मैं काल हूँ और तेरे न मारने पर भी कोई सैनिक जीवित नहीं बचेगा, इस लिए तूँ अपने सगे संबन्धियों के मारे जाने का मोह छोड़कर युद्ध करने के लिए उठकर खड़ा हो जा और वीरतापूर्वक युद्ध करके यश की प्राप्ति कर तथा शत्रुओं को पराजित करके अच्छी तरह से बढ़े हुए राज्य के धन वैभव का सुखभोग कर। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि की वीरता का मन में ख्याल लाकर 'जीतूँगा या नहीं जीतूँगा' इस द्विविधा से त्रस्त मत हो, क्योंकि इन वीर शत्रुओं को तो पहले ही मैं ने ही मार डाला है। इस [illegible] को तो केवल निमित्तमात्र बन जाना है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, जैसा कि पूर्व श्लोक के कथाप्रसंग में कहा जा चुका है कि घबड़ाये हुए मनुष्य को थोड़ा पुचकारकर सहज में ही अपने अनुकूल बनाया जा सकता है; यह बात इस श्लोक के भाव को मनन करने पर बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। बत्तीसवें श्लोक में भगवान् ने अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर में भूमिका बाँधने के तौर पर अपना परिचय दिया कि मैं महाकाल हूँ और लोकों का संहार करने के लिए इतना व्यापक हुआ हूँ। तूँ चाहे कुछ कर या न कर, समस्त सैनिकों का मरना निश्चित है। इस कथन से यह परिणाम निकला कि अर्जुन और अधिक प्रमाद में आ गया। परंतु उस के बाद वह यह सोचकर निश्चिन्त होने लगा कि जब इन कालदेव ने सब के संहार का घोर कर्म अपने सिर पर ले लिया है, तो मुझ को लड़ने से छुट्टी मिल गई। अर्जुन ने यह अपना विचार भगवान् से कह भी दिया। तब भगवान् ने कहा कि इस प्रकार की छुट्टी मनाने से तेरी कीर्ति नष्ट हो जायगी, और यह तुझे पहले ही बतलाया जा चुका है कि संमानित पुरुष के लिए कीर्तिनाश मरण से भी बढ़कर भयंकर दुःख देनेवाला होता है। यथा—

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। (गी० २।३४)

इस लिए उठ और युद्ध करके कीर्ति प्राप्त कर। इस से तुझे विशाल चक्रवर्तित्व का राज्य भी मिलेगा और दुनिया में तेरा यश भी फैलेगा।

इस पर अर्जुन ने कहा कि आप ने तो सब को मार ही डाला है, फिर मरे हुओं को मैं क्या मारूँ ?

भगवान् ने कहा—मैं ने मार डाला है, इस का यह अर्थ मत समझ कि मैं ने सब लोगों को चेतनारहित कर दिया है, बल्कि इस का यह अभिप्राय है कि मैं ने (अर्थात् काल ने) इन लोगों की शक्ति क्षीण कर दी है। वे तुझ से युद्ध तो करेंगे ही, पर मेरे मारने का यही अर्थ है कि इन के बाणादि शस्त्र तेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे। इन्हें तूँ थोड़े ही प्रयास से ज़मीन पर गिरा दे, बस। इस के अतिरिक्त तुझ को और कुछ नहीं करना है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो, इतना जब आप कर चुके हैं कि ऐसे ऐसे जगद्विख्यात वीर शक्तिहीन हो गये हैं, तब फिर इन को ज़मीन पर गिरा देने में ही क्या रखा हुआ है कि उस के लिए मुझ को खड़ा करना चाहते हैं ?

भगवान् ने कहा—इसी में तो मनुष्ययोनि और क्षत्रियकुल में जन्म लेने की सार्थकता है। मनुष्य या कोई भी जीव क्या कभी किसी को मारनेवाला हो सकता है ? अरे, मारनेवाला तो सब का काल मैं हूँ जो प्रत्यक्ष होकर तेरे संमुख उपस्थित हूँ। किंतु यश अपयश के लिए जीवों को निमित्त बनना ही पड़ता है, क्योंकि मैं (काल = समय = अवधि) किसी का निमित्त नहीं होता, मेरा यह स्वभाव ही नहीं है कि निमित्तता ग्रहण करूं। सो तूँ उठ और निमित्त बनकर मेरे द्वारा मारे हुओं को मारकर यश का लाभ कर।

सज्जनो, जिस को थोड़ा भी ज्ञान होगा वह यह कभी नहीं कह सकता कि अमुक कार्य मैं ने अपने पराक्रम से, अपने बाहुबल से पूरा किया है। प्रत्येक कार्य को समय ही पूरा करता है। जमीन में बीज डालना किसी वृक्ष को उत्पन्न करने का निमित्त बनना है। यही इतना मनुष्य के वश की बात है। मनुष्य यदि चाहे कि जमीन में बीज डालने के बाद मैं ही अपनी इच्छा के अनुसार देर से या जल्दी से उस में अङ्कुर पैदा कर दूँ, पेड़ उगा दूँ, तो यह उस के सामर्थ्य के बाहर है। अङ्कुर तो तभी उगेगा जब उस के उगने का समय आ जायगा। इसी प्रकार जब उस में फूल लगने का समय होगा तब फूल लगेगा और फल लगने का समय होगा तब फल लगेगा। और कहाँ तक कहा जाय, उस प्रत्यक्षीभूत फल का रस भी मनुष्य अपनी इच्छा से खट्टा या मीठा नहीं बना सकता, वह कार्य भी काल अर्थात् समय ही करता है। समय आने पर जो काम होनेवाला है उस को कोई रोक नहीं सकता और बिना समय आये कोई काम हो नहीं सकता, यह सिद्धान्त बात है। *लेकिन मिथ्याभिमानी मनुष्य लाखों* बार देखकर, सुनकर, पढ़कर, लिखकर भी इस *सिद्धान्त को भूल जाता है और बात बात में* अपनी ही डींग हाँकता है। *बाग मैं ने लगाया, फल को कच्चा न तोड़कर उसे मैं ने पकाया* और उस को भी सड़ने न देकर *उस में से मीठा रस मैं ने ही निकाला, यही अभिमान सभी* करते हैं। *यह कोई नहीं सोचता* कि ये समस्त कार्यकलाप केवल निमित्तता की पूर्तिमात्र करानेवाले हैं, साक्षात् कार्य के उत्पादक नहीं हैं।

परंतु कोई माने या न माने, होता है सब कुछ काल के करने से। मोटर पर चढ़कर तुम प्रतिदिन टहलने जाते हो। कितनी ही बार ऐसा अवसर आ जाता है कि भयंकर दुर्घटना होते होते तुम सौभाग्य से बच जाते हो। यह सौभाग्य ही सुन्दर समय अथवा सुकाल कहलाता है। लेकिन तुम जब मित्रमण्डल में जाकर बैठते हो, तो समय को धन्यवाद देना भूलकर अपनी बहादुरी का विस्तृत वर्णन कर डालते हो कि मैं ने यों स्टेरिंग घुमाकर पहिया काट दी और खतरे से बच गया, मैं ने यों ब्रेक कर दिया और गाड़ी रुक गई, वर्ना वह अंधा बुड्ढा मोटर के नीचे आ ही चुका था। यही बहादुरी बघारना अगर उस हालत में भी कायम रह जाता जब कि खतरा हो जाता है, अंधा बुड्ढा दबकर मर जाता है, तो किसी हद तक कोई स्वीकार भी कर सकता कि हाँ, तुम में ही सब शक्ति है; पर उस समय तो तुम सिर पर हाथ रखकर भाग्य को, संयोग को, ईश्वर को, दैव को, असमय को, दुष्काल को दोष देने लगते हो कि मैं क्या करूँ ? मैं ने तो अपने भरसक बहुत कोशिश की, स्टेरिंग घुमाई, ब्रेक किया, तेल बंद कर दिया, जहाँ तक उपाय मालूम थे, सब का प्रयोग किया, पर उस अंधे के मरने का समय ही, काल ही आ गया था, तो मैं क्या करूँ ? उस की मौत इसी विधि से—मुझ को और मोटर को ही निमित्त बनाकर लिखी हुई थी, तो मैं भला किस तरह बचा सकता उसे ?

ठीक है। इसी लिए बड़े लोगों ने कहा है कि मनुष्य असली बात समझता है कब? जब कि सामर्थ्य भर प्रयत्न करके भी विपत्ति से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाता है तब। संकट पड़ने पर, व्यग्र होने पर, अपनी बुद्धि की असमर्थता का ज्ञान होने पर ही काल की, दैव की, नियति की शक्ति स्वीकार की जाती है। अर्जुन भी बड़ा भारी विद्वान् बन रहा था। बड़े बड़े शास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा करके युद्ध से दूर रहना चाहता था। चाचा, मामा, नाना, भाई, भतीजा, नाती आदि को मार कुलस्त्रियों को विधवा बनाकर, समाज में वर्णसंकरता फैलाकर उस को विजयी होना अभीष्ट नहीं जँच रहा था, वह समझता था कि इन बुराइयों की जिम्मेदारी मेरे ही सिर आयेगी। इसी लिए भगवान् ने उस को ऐसा भयंकर रूप दिखलाया कि उस की बुद्धि बेकार हो गई, वह घबड़ाकर अपने आप को महासंकट में देखने लगा। जिन को वह मारकर जीना नहीं चाहता था, भगवान् की महिमा से उस ने देखा कि वे तो स्वयं मौत के जबरदस्त चंगुल में पड़े हुए हैं। अब क्या करे वह?

इस प्रकार भगवान् को मौका मिल गया कि वे अर्जुन के मनरूपी घोड़े की बागडोर को अपने कब्जे में करें और उस की कर्तृत्व बुद्धि को नष्ट करें। उन्होंने स्पष्ट बतला दिया कि तू *किसी को मारने या जीने देने में समर्थ नहीं है, वे सब कार्य मुझ कालदेव के हैं।* इस लिए तू अपना जातीय कर्तव्य कर्म (क्षत्रिय होकर युद्ध) करने के लिए उठ और काल की प्रेरणा से स्वयं मरे हुओं को मारने में निमित्त भर बनकर सहज सुलभ यश ले तथा सब तरह फूले फले राज्य को शत्रुओं से छीनकर राजकीय सुख भोग।

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—भगवन्, क्या यह भी उचित होगा कि मैं अपने ही *पितामह और गुरु को मारने में निमित्त कारण बनूँ?* क्या ऐसा करने पर भी संसार मुझ को अपकीर्ति के बदले कीर्ति ही देगा?

भगवान् ने कहा—हाँ अर्जुन, संसार से तुझ को कीर्ति की ही प्राप्ति होगी, इस का मैं तुझ को पूर्ण विश्वास दिला रहा हूँ। इस लिए—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

तू मेरे द्वारा मारे हुए द्रोण और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य वीर योद्धाओं को भी मार; भयभीत मत हो। रण में (तू अपने) शत्रुओं को जीतनेवाला है, युद्ध कर।

गी० गौ०—हे अर्जुन, पहले ही जिन को मैं ने ही मारडाला है उन को मारने में केवल निमित्तमात्र बनने से तुझ को अकीर्ति कदापि नहीं मिलेगी। द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा और और भी जितने शूर वीर योद्धा हैं उन सब को भी मैं ने अर्थात् काल ने (यानी इन उन की नियति ने) पहले ही मार दिया है। इस लिए निर्भय होकर तूँ इन सब को मार, जरा भी मत घबड़ा। तूँ समरक्षेत्र में अपने वैरियों को अवश्य जीतेगा, इस लिए पूरे उत्साह के साथ युद्ध कर।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अर्जुन ने केवल गुरुवध और पितामहवध की बात कहकर पूछा कि इन को मारने पर क्या संसार मुझ को सज्जन कहेगा ? परंतु भगवान् ने उस के प्रश्न के दो अर्थ लगाये। एक यह कि अर्जुन अपने पूज्यों की हत्या से भयभीत हो रहा है और दूसरा यह कि वह उन की अद्वितीय वीरता की बात सोचकर अपने को कुछ कमजोर मानकर हारने के भय से युद्ध नहीं करना चाहता है। इसी लिए उन्होंने द्रोण भीष्म का नाम लेने के बाद जयद्रथ, कर्ण और अन्य वीर सैनिकों का भी उल्लेख करके अर्जुन के मन से यह भय दूर करने का प्रयत्न किया और बतलाया कि तूँ सब को जीत लेगा। कोई पूछ सकता है कि इस में प्रमाण क्या है कि अर्जुन ने वैसा ही सोचा होगा अर्थात् भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण आदि की अपेक्षा अपने को अल्प बली समझा होगा ? इस का प्रमाण है उन वीरों की जगत्प्रसिद्ध दुर्जेयता अथवा प्रत्यक्ष महाभारत ग्रन्थ।

द्रोणाचार्य पाण्डवों और कौरवों के गुरु थे। उन से ही अर्जुन आदि ने युद्धविद्या सीखी थी। वे ब्राह्मण थे, ब्रह्मनिष्ठ थे। व्यासजी ने स्पष्ट लिखा है कि द्रोणाचार्य के हाथ में जब तक अस्त्र रहेगा तब तक तीन लोक चौदह भुवन में ऐसा कोई माई का लाल नहीं है जो उन को परास्त कर सके। अर्जुन को भी यह बात मालूम थी। इस लिए उस बात को सोच-कर यदि वह उन से लड़ने में डरता हो, तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इसी लिए तो भगवान् के समझाने से जब अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो गया और दोनों ओर के सैनिक भिड़ गये तथा द्रोणाचार्य को जीतने की बारी आई, तो भगवान् को ऐसा उपाय रचना पड़ा कि द्रोणाचार्य अपने हाथों का अस्त्र शस्त्र फेंक दें। अन्त में जब यह उपाय सफल हुआ तभी धृष्टद्युम्न ने उन का सिर काटा। महाभारत, द्रोणपर्व देखकर यह कथा विस्तार सहित जानी जा सकती है।

तक मृत्यु को उन की परछाईं छूने का भी साहस नहीं हो सकता था। अर्जुन यदि उन के बल की बात सोचकर अपने द्वारा उन को जीत सकना असंभव माने, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

जयद्रथ भी असाधारण वीर था, तपस्याओं द्वारा अजेयता का वरदान पा चुका था, साथ साथ धूर्त और कूटनीतिज्ञ भी था। और सब से बड़ी बात यह थी कि जयद्रथ ने एक बड़ा विचित्र गुप्त वरदान प्राप्त कर लिया था। वह यह कि जिस के हाथ से मेरा (जयद्रथ का) सिर कटकर पृथिवी पर गिरे उस (सिर काटनेवाले) का सिर अपने आप फटकर सौ टुकड़े हो जाय। अर्जुन को यह गुप्त बात मालूम थी। इस लिए उस ने यदि सोचा हो कि इस दुष्ट वीर का सिर कदाचित् मेरे ही हाथों कटा, तो मेरा कुशल नहीं हो सकता, तो यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

कर्ण की तो बात ही क्या कहनी है? उस के विषय में तो संसार भर का यही विश्वास था कि *कौरवसेना में यदि कोई ऐसा वीर है जो जगद्विजयी अर्जुन का मुकाबला कर सके, तो वह* सिर्फ कर्ण ही है। और अर्जुन भी हृदय से इस बात को स्वीकार करता था कि मैं कर्ण से अधिक बलवान् नहीं हूँ। इस के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि कर्ण के पास प्राकृतिक (पैदाइशी) कवच और कुण्डल था जिन दोनों का यही प्रधान गुण था कि जिस के पास वे रहें वह किसी से नहीं हार सकेगा। इस लिए कर्ण की दुर्जेयता का प्रभाव मानना अर्जुन के लिए और भी आवश्यक था। और यदि यह कथा यहाँ कोई उपस्थित करे कि वह कवच और कुण्डल तो इन्द्र ने कर्ण से भिक्षा में माँगकर अपने हाथ में कर लिया था, तो इस के साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कर्ण को कवच कुण्डल के बदले में इन्द्र को अपना अमोघ अस्त्र देना पड़ा था जो अब तक कर्ण के पास सुरक्षित था। इस लिए इन सभी बातों को *सोचकर अर्जुन का अपने को निश्चित रूप से विजय पानेवाला मानना कभी संभावित नहीं कहा* जा सकता। अतः भगवान् ने ठीक ही किया कि अर्जुन के प्रश्न को दो तरह से सोचा और यह कहकर उस को उत्साहित किया कि—

हे अर्जुन, मेरे मारे हुए द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और और दूसरे वीर सैनिकों को भी तूँ मार, भयभीत मत हो; तूँ समर में अपने वैरियों को जीतनेवाला है, इस लिए युद्ध कर।

यहाँ पर यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि गीता का सम्पूर्ण उपदेश समाप्त होने के बाद अर्जुन का मोह नष्ट हो गया (जैसा कि अठारहवें अध्याय में आप देखेंगे ही) और तब उस ने भगवान् के इस कथन का अक्षरशः पालन किया। भीष्म को मारने के लिए शिखण्डी को सामने करना पड़ा। द्रोणाचार्य को मारने के लिए अश्वत्थामा के मरने की खबर उड़ानी

पड़ी। जयद्रथ को मारने के लिए सूर्य को अस्त करना पड़ा। कर्ण को मारने के लिए घटोत्कच का बलिदान करना पड़ा। ये सब उपाय स्वयं भगवान् के बतलाने से उपयोग में लाये गये। इतना ही नहीं, बल्कि जयद्रथ को मारनेवाला उपाय (अर्थात् सूर्य को अस्त करना) तो पूरा पूरा भगवान् को अपने हाथों—अपनी माया को खास तौर से प्रेरित कर—पूरा करना पड़ा। महाभारत में यह कथा बहुत विस्तार के साथ लिखी गई है। किन्तु यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि युद्ध प्रारम्भ होने के बाद निरन्तर कई दिनों तक अपने ही पक्ष की हानि होती देखकर दुर्योधन घबड़ा गया। उस ने उस समय के सेनापति गुरु द्रोण को इस हानि के लिए दोषी ठहराया और अनेक प्रकार के कटुवचन सुनाकर उन के सामने सिद्ध कराना चाहा कि आप भीतर भीतर पाण्डवों पर प्रेम रखते हैं और उन से मिले हुए हैं, अन्यथा यह असंभव है कि आप के सेनापतित्व में बराबर हमारी हार होती रहे। गुरु को उस की बातों से बड़ी गहरी चोट लगी। वे सेनापतित्व को छोड़ देने के लिए तैयार हो गये। आखिर में हुआ यह कि दुर्योधन आदि के पुनः अनुनय विनय करने पर द्रोणाचार्य ने कौरवों को संतुष्ट करने के लिए प्रतिज्ञा की कि आज मैं अपनी सेना का ऐसा व्यूह बनाऊँगा जिस में पाण्डवपक्ष का कोई न कोई वीर अवश्य मारा जायगा।

उस दिन अर्जुन दूसरी ओर युद्ध करने चला गया था। संशप्तकों की टुकड़ी ने बड़ा उत्पात मचा रखा था। उन को ठिकाने लगाना अत्यन्त आवश्यक था। वहाँ अर्जुन को जाना पड़ा था। द्रोणाचार्य ने इस अवसर से लाभ उठाया। इन्होंने अपनी सेना को चक्रव्यूह के रूप में संगठित किया जिस को तोड़ने का उपाय केवल अर्जुन ही जानता था, उस के अलावे और किसी को वह विद्या द्रोण ने सिखाई ही नहीं थी।

युधिष्ठिरादि पाण्डवों ने कौरवों की ओर चक्रव्यूहरचना की बात सुनी, तो उन की चिन्ता की सीमा न रही। अपने चचाओं को चिन्तातुर देखकर सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न अर्जुन का वीर पुत्र अभिमन्यु सामने आया और कहा कि आप लोग चिन्तित न हों, मैं इस व्यूह का भेदन करूँगा।

युधिष्ठिर ने आश्चर्य के साथ पूछा—तू सोलह वर्ष का सुकुमार बालक उस कठिन व्यूह को भला कैसे तोड़ेगा ? उसे तोड़ना तो केवल तेरा पिता अर्जुन ही जानता है, और वह आज यहाँ है नहीं।

पड़ी। जयद्रथ को मारने के लिए सूर्य को अस्त करना पड़ा। कर्ण को मारने के लिए घटोत्कच का बलिदान करना पड़ा। ये सब उपाय स्वयं भगवान् के बतलाने से उपयोग में लाये गये। इतना ही नहीं; बल्कि जयद्रथ को मारनेवाला उपाय (अर्थात् सूर्य को अस्त करना) तो पूरा पूरा भगवान् को अपने हाथों—अपनी माया को खास तौर से प्रेरित कर—पूरा करना पड़ा। महाभारत में यह कथा बहुत विस्तार के साथ लिखी गई है। किन्तु यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि युद्ध प्रारम्भ होने के बाद निरन्तर कई दिनों तक अपने ही पक्ष की हानि होती देखकर दुर्योधन घबड़ा गया। उस ने उस समय के सेनापति गुरु द्रोण को इस हानि के लिए दोषी ठहराया और अनेक प्रकार के कटुवचन सुनाकर उन के सामने सिद्ध कराना चाहा कि आप भीतर भीतर पाण्डवों पर प्रेम रखते हैं और उन से मिले हुए हैं, अन्यथा यह असम्भव है कि आप के सेनापतित्व में बराबर हमारी हार होती रहे। गुरु को उस की बातों से बड़ी गहरी चोट लगी। वे सेनापतित्व को छोड़ देने के लिए तैयार हो गये। आखिर में हुआ यह कि दुर्योधन आदि के पुनः अनुनय विनय करने पर द्रोणाचार्य ने कौरवों को संतुष्ट करने के लिए प्रतिज्ञा की कि आज मैं अपनी सेना का ऐसा व्यूह बनाऊँगा जिस में पाण्डवपक्ष का कोई न कोई वीर अवश्य मारा जायगा।

उस दिन अर्जुन दूसरी ओर युद्ध करने चला गया था। संशप्तकों की टुकड़ी ने बड़ा उत्पात मचा रखा था। उन को ठिकाने लगाना अत्यन्त आवश्यक था। वहीं अर्जुन को जाना पड़ा था। द्रोणाचार्य ने इस अवसर से लाभ उठाया। उन्होंने अपनी सेना को चक्रव्यूह के रूप में संगठित किया जिस को तोड़ने का उपाय केवल अर्जुन ही जानता था, उस के अलावे और किसी को वह विद्या द्रोण ने सिखाई ही नहीं थी।

युधिष्ठिरादि पाण्डवों ने कौरवों की ओर चक्रव्यूहरचना की बात सुनी, तो उन की चिन्ता की सीमा न रही। अपने चचाओं को चिन्तातुर देखकर सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न अर्जुन का वीर पुत्र अभिमन्यु सामने आया और कहा कि आप लोग चिन्तित न हों, मैं इस व्यूह का भेदन करूँगा।

युधिष्ठिर ने आश्चर्य के साथ पूछा—तूँ सोलह वर्ष का सुकुमार बालक उस कठिन व्यूह को भला कैसे तोड़ेगा? उसे तोड़ना तो केवल तेरा पिता अर्जुन ही जानता है, और वह आज यहाँ है नहीं।

अभिमन्यु ने कहा—मैं बालक हूँ, तो क्या हुआ? आप मुझे चक्रव्यूह तोड़ने की आज्ञा दें; फिर देखें कि मैं किस प्रकार कौरवों के छक्के छुड़ा देता हूँ। पिताजी मेरी गर्भिणी माता का जी बहलाने के लिए एक बार चक्रव्यूह की रचना और उस के तोड़ने की विधि आदि उन्हें सुना रहे थे। मैं गर्भ में बैठा बैठा सब बातें सुन रहा था। दुःख इतना ही है कि पूरी

चक्रव्यूह में अभिमन्यु

ચક્રવ્યૂહમાં અભિમન્યુ.

कथा सुनने के पहले ही माताजी को निद्रा आ गई। इस लिए मैं केवल तोड़ने की विधि भर जान सका, तोड़कर बाहर निकलने का उपाय मुझे नहीं मालूम है। फिर भी मैं अपनी वीरता से सब को परास्त कर बाहर निकल आऊँगा। आप मुझे जाने की आज्ञा दें।

युधिष्ठिर आज्ञा देने में हिचक रहे थे। तब तक भीम आदि ने कहा—आप अभिमन्यु को जाने दें। हम लोग इस के पीछे रहकर पूरी सहायता करेंगे, कुछ चिन्ता की बात नहीं है।

अन्त में ऐसा ही हुआ; दूसरा उपाय ही क्या था। पर दुष्ट जयद्रथ ने शंकरजी से मिले हुए वरदान के प्रताप से भीम आदि को हराकर पीछे लौटा दिया, बिचारे अभिमन्यु को अकेला ही उस व्यूह में घुसना पड़ा। पर उसे इस की चिन्ता नहीं थी। उस ने अकेले ही दुर्योधन, जयद्रथ, कर्ण आदि सात महारथियों को युद्ध में व्याकुल कर दिया। अभिमन्यु की वीरता, युद्धकुशलता, शीघ्रता, तीक्ष्णता और सर्वतोमुखी गति देखकर सातों महारथियों को अपने अपने जीवन से निराशा हो गई, उन्हें निश्चय हो गया कि अभिमन्यु और अर्जुन में केवल अवस्था (उम्र) का चाहे जितना अन्तर हो, पर और बातों में बिल्कुल विभेद नहीं है, बल्कि अर्जुन से यह बढ़कर है। इस लिए निश्चित बात है कि इस के हाथों में जब तक अस्त्र शस्त्र रहेंगे तब तक इस को हरा सकना तो अलग रहे, हम लोगों का जीवित रह सकना ही असंभव दिखाई देता है। ऐसा सोचकर उन पापियों ने छल कपट का जाल बिछाना निश्चित किया और अभिमन्यु से कहा कि बेटा, हम लोग तुम्हारी बहादुरी से बहुत प्रसन्न हो रहे हैं, अतः अब नहीं चाहते कि तुम्हारे पक्ष के साथ युद्ध जारी रखकर तुम जैसे प्यारे पुत्र के साथ लड़ाई करें। अब हम लोगों ने निश्चय किया है कि युद्ध बंद कर दें और आपस में सुलह कर लें। इस लिए शस्त्रास्त्र चलाना रोककर, शस्त्रों को दूर फेंककर आओ, हमारे गले मिलो।

भोला बालक अभिमन्यु धोखे में आ गया। दुष्टों का विश्वास कर उस ने अपने हथियार जमीन पर डाल दिये और चचाओं के गले मिलने को तैयार हो गया। फिर तो उन अत्याचारियों ने इस निरस्त्र बालक को चारों ओर से घेरकर बीच में कर लिया और सातों ने मिलकर उस अकेले को शस्त्रों से काटकूटकर धराशायी कर दिया। इस प्रकार उस दिन द्रोणाचार्य के देखते देखते उन की प्रतिज्ञा पूरी की गई।

परंतु संसप्तकों को मारकर जब अर्जुन लौटा और यह हाल सुना, तो उस ने भी प्रतिज्ञा की कि भीम आदि को सहायता के लिए न पहुँचने देनेवाले जयद्रथ को कल सूर्यास्त के पहले मैं अवश्य मार डालूँगा और यदि न मार सका, तो स्वयं चिता लगाकर भस्म हो जाऊँगा। यह प्रतिज्ञा सुनकर जयद्रथ को निश्चय हो गया कि अर्जुन के हाथों से अपने प्राणों की रक्षा कर सकना मेरे लिए असंभव है। इस लिए उस ने अपने आप को सेना के इतने

पीछे रखा जहाँ तक सूर्यास्त तक अर्जुन किसी तरह न पहुँच सके। बात भी ऐसी ही थी। जितनी सेना के पीछे वह छिपा हुआ था उतनी कुल सेना का सूर्यास्त के पहले ही संहार करना और जयद्रथ के निकट पहुँच जाना अर्जुन जैसे वीर के लिए भी असंभव हो गया। भगवान् ने समझ लिया कि अब केवल वीरता से काम नहीं चलेगा, किंतु चतुरता से भी काम लेना पड़ेगा। तदनुसार उन्होंने अपनी माया को बुलाकर कहा कि अभी सूर्य के अस्त होने में कुछ देर है, पर तू इन के ऊपर इस चतुराई से अपनी महिमा का पर्दा डाल कि दुनिया के देखने में वे अभी अस्त हो जायँ। माया ने वैसा ही किया। सूर्य अस्त हो गये। जयद्रथ नहीं मरा। अर्जुन की पहली प्रतिज्ञा नहीं पूरी हुई। इस लिए वह दूसरी प्रतिज्ञा पूरी करने को तैयार हो गया। चिता लगाई गई। अर्जुन उस पर जा बैठा। भगवान् ने बतलाया था कि क्षत्रिय को अपने अस्त्र सहित चिता में जलना चाहिए, अतः गाण्डीव और बाण अर्जुन के हाथ में मौजूद थे। जयद्रथ प्रसन्न होकर अर्जुन के भस्म होने का तमाशा देखने के लिए और उस का उपहास करने के लिए सामने आकर खड़ा हो गया। इतने में भगवान् की आज्ञा से माया ने अपना आवरण हटा लिया। सूर्य बाहर निकल आये।

भगवान् ने कहा—अर्जुन, देखता क्या है? प्रतिज्ञा पूरी कर! सूर्य अस्त नहीं हुए थे, बादलों में छिप गये थे; दिन अभी काफी बाकी है।

अर्जुन प्रसन्न हो गया और भगवान् का इशारा पाकर ऐसा बाण मारा कि जयद्रथ का सिर कटकर आकाश में उड़ गया तथा समन्तपञ्चक तीर्थ पर संध्या करने बैठे हुए उस के पिता वृद्धक्षत्र की गोद में जा गिरा। वे बिचारे घबड़ाकर उठ खड़े हुए, तो पृथिवी पर गिरा और उन के सिर के सौ टुकड़े हो गये। अस्तु,

धृतराष्ट्र ने संजय से श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को इस प्रकार उत्साहित करनेवाली उपर्युक्त (श्लोकोक्त) बात सुनी, तो उन की विचित्र दशा हो गई, उन्होंने समझ लिया कि इतना प्रबल प्रोत्साहन पाकर तो एक साधारण सैनिक भी अपने शत्रुओं को भुट्टे की भाँति काटने की आशा से युद्ध करने के लिए तैयार हो जायगा, फिर गाण्डीवधारी अर्जुन ने तो इतनी दृढ़ वाणी सुनकर मेरी सेना में प्रलय का ही दृश्य खड़ा कर दिया होगा। ऐसे विचारों के कारण अत्यन्त व्याकुल होकर उन्होंने संजय से पूछा—क्यों संजय, उस के बाद तो अर्जुन ने कौरवों की सेना में ऐसा संहार उपस्थित कर दिया होगा जिस का वर्णन करने का तुझ को साहस भी नहीं हो रहा होगा?

संजय ने कहा—नहीं राजन्, अर्जुन ने फिर भी युद्ध करने का कोई उपक्रम नहीं किया।

धृतराष्ट्र ने कहा—अच्छा, ऐसी उत्साहवर्द्धक बात सुनकर भी वह तुरंत बाणवर्षा नहीं करने लगा? तब कृष्ण की बात सुनकर उस ने किया क्या?

इस का उत्तर देने के लिए—

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय बोला—केशव का यह वचन सुनकर किरीटधारी (अर्जुन) ने अञ्जलि बाँधकर, काँपते हुए, प्रणाम करके, नमन करके, भयभीत होकर गद्गद कण्ठ से कृष्ण के प्रति फिर कहा ही ।

गी० गौ०—संजय ने कहा कि हे राजन् धृतराष्ट्र, केशव की उपर्युक्त वाणी सुनकर भी किरीट मुकुटधारी अर्जुन ने चटपट लड़ाई नहीं छेड़ दी, किंतु उन की बातों से वह और अधिक डर गया, उस का सारा शरीर भय से काँपने लगा, भगवान् को नमस्कार करने के लिए उस ने दोनों हाथ जोड़े, तो उस के हाथ भी काँप रहे थे, फिर भी उस ने सिर झुकाकर श्री कृष्ण को प्रणाम किया और रुँधे हुए गले से कहना प्रारम्भ किया ही ।

क० प०—प्यारे मित्रो, भगवान् ने कहा तो अर्जुन को तुरंत युद्ध में संलग्न होने के लिए, पर अर्जुन के सामने जो विकराल विराट् रूप वर्तमान था उस का ख्याल वह छोड़ नहीं पाता था, बल्कि भगवान् की यह बात सुनकर कि 'मैं महाकाल हूँ, सब का संहार करने के लिए तैयार हूँ, भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण आदि के साथ साथ सभी वीर सैनिकों को मार चुका हूँ, तू मरों को मारनेवाला निमित्त कारण बन', अर्जुन थर्रा उठा, उस की घिग्घी बँध गई, मुँह से आवाज निकलना दुस्तर हो गया । उस की समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ । आखिर बड़ी कठिनाई से उस ने अपने काँपते हुए हाथों की अँजुली जोड़ी, सिर झुकाया और बार बार प्रणाम किया ।

इन बातों को सुनकर आप लोग यह मत समझो कि अर्जुन बड़ा डरपोक आदमी था । कारण, कोई भी मनुष्य उस दशा में (जिस में अर्जुन आ पड़ा था) वही करेगा जो अर्जुन ने किया । हजारों आदमी के मध्य में लंबी लंबी बातें हाँकनेवाले बड़े बड़े गर्वीले मनुष्य जब कभी किसी अड़सेट में पड़ जाते हैं, तो उन को सब भरी बक्की भूल जाती है । उस समय मन ही मन भगवान् को मनाने और जिस की जात से अड़सेट खड़ा हुआ हो उस की प्रार्थना करने के अलावे उन को कोई उपाय नहीं सूझता । इस बात का बहुत लोगों को प्रत्यक्ष अनुभव भी हो

चुका होगा, और नहीं प्रत्यक्ष, तो स्वप्न में तो प्रायः सभी को कभी न कभी ऐसी दशा का अनुभव करना पड़ा होगा। अर्जुन भी मनुष्य ही था। मनुष्य के आवश्यक गुण दोष उस में भी थे ही। फिर उस के सामने का दृश्य भी ऐसा भयानक था जिस का पूरा पूरा चित्र अङ्कित करने में भयानक, घोर, उग्र, विकराल, रौद्र आदि आदि शब्द भी असमर्थ रह जाते हैं। परंतु कोषों में भयंकरता का भाव प्रत्यक्ष कराने के लिए दूसरे शब्द हैं ही नहीं, इसी से इन्हीं शब्दों में उस रूप का खाका खींचने का सब को प्रयत्न करना पड़ा है— वेदव्यास, संजय, अर्जुन अथवा इन सब लोगों के बाद के वक्तागण ने इन्हीं शब्दों को दुहराया है। तात्पर्य यह कि अर्जुन असाधारण भय उत्पन्न करनेवाला स्वरूप देख रहा था और सब तरह से डर जाने के लिए विवश हो गया था। अतएव यह असंभव था कि वह अपनी वीरता से काम लेकर उस भय से मुक्त होने का प्रयत्न करे। और यह तो निश्चित ही है कि जब तक वह भयमुक्त न होता तब तक युद्ध नहीं कर सकता था। इसी लिए उस को भी सारी दुनिया की तरह संकटकाल में भगवान् को स्मरण करना पड़ा और इन्हीं के आगे सिर नवाकर प्रार्थना करनी पड़ी जिस से प्रसन्न होकर वे भयमुक्त करें। अर्जुन तो क्या, साक्षात् ब्रह्मा, रुद्र, अश्विनीकुमार, यम, वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि बड़े बड़े देवता भी उस समय प्रार्थना करने में ही तल्लीन हो रहे थे। इस लिए अर्जुन के लिए भी प्रार्थना करने के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं था, इस में संदेह नहीं। अस्तु;

संजय ने जब कहा कि हे राजन्, भगवान् केशव का कथन सुनकर अर्जुन ने हाथ जोड़कर, नम्र होकर, काँपते हुए, भयपूर्वक गद्गद कण्ठ से प्रणाम करके फिर से श्री कृष्ण के प्रति कहना ही आरम्भ किया, तो धृतराष्ट्र ने कहा कि हे संजय, अर्जुन की कही हुई बातों का विस्तार से वर्णन कर, क्योंकि उस समय उस ने अवश्य ही अपने हृदय की बातें कहीं होंगी।

संजय ने कहा—हाँ, राजन्, ऐसा तो हुआ ही। अच्छा, अब सुनिए कि उस ने क्या कहा।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुन बोला—हे हृषीकेश, आप के कीर्तन से जगत् प्रसन्न हो रहा और अनुराग को पहुँच रहा है, राक्षस भयभीत होकर दिशाओं में भाग रहे हैं और सिद्धों के सब समूह नमस्कार कर रहे हैं, यह उचित ही है।

गो० गौ०—संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन्, उस के बाद अर्जुन ने भगवान् से कहा कि हे जितेन्द्रिय कृष्ण, आप का यह रूप देखकर देवता, ऋषि, सिद्ध, साध्य इत्यादि जो आप के नाम, रूप, गुण और महिमा आदि का बारंबार कीर्तन कर रहे हैं उस से सारा संसार हर्षित और प्रसन्न हो रहा है तथा आप में उस का अधिकाधिक अनुराग बढ़ रहा है, राक्षसों के दल पर आप की महिमा का विचित्र प्रभाव पड़ रहा है, वे सब भय के मारे व्याकुल होकर दसों दिशाओं में इधर उधर भाग रहे हैं और सिद्धों के जो अनेक समुदाय हैं वे आप के प्रभाव में पड़कर बार बार आप को नमस्कार कर रहे हैं, और मैं समझता हूँ कि यह सब ठीक ही हो रहा है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन अब नम्र होकर भगवान् के माहात्म्य का वर्णन करने के रूप में उस बात के लिए भूमिका बाँध रहा है जो उस को आगे चलकर भगवान् से निवेदन करना है। है तो वह घबड़ाया हुआ, भय से उस का सारा शरीर काँप रहा है, मुँह से सीधे बात नहीं निकल रही है, पर यह नहीं कह रहा है कि अपना यह रूप अब मत दिखलाइए और कृपा करके दी हुई दिव्य दृष्टि वापस ले लीजिए। ऐसा कहे भी किस तरह? कहने का साहस हो तब न? पहले तो स्वयं बार बार हाथ जोड़कर, विनती करके, भक्ति जताकर कहा कि मुझ को व्यापक रूप दिखलाइए और अब चटपट कह दे कि इस को अदृश्य कीजिए, मुझ से नहीं देखा जाता, तो भगवान् क्या उस को फटकार नहीं देंगे कि मैं भी कोई मदारी हूँ क्या कि तुझे तेरी इच्छा के अनुसार कभी यह तमाशा और कभी वह खेल दिखलाया करूँ? तू ने जिस विचार से एक बार यह रूप देखने की अभिलाषा की उसी विचार पर अब दृढ रह और देख मेरा विश्वव्यापक रूप; मैं अब तेरे कहने से यह रूप नहीं बदल सकता, इत्यादि। सो भगवान् ऐसा न कह दें, इसी लिए अर्जुन पुनः भगवान् की स्तुति कर रहा है और इस उपाय में लगा है कि इन की कोपपूर्ण कालरूप मुद्रा में कुछ सरलता आ जाय, तो मैं प्रार्थना करूँ कि अब यह रूप मत दिखलाइए। विचार करो कि ऐसी परिस्थिति में यदि तुम्हें पड़ना पड़े जिस से अलग होने की तुम्हें हार्दिक इच्छा हो रही हो, तो उस समय तुम कौन उपाय करोगे? सीधी सी बात है कि जिस के करने से तुम्हारी परिस्थिति तुम्हारे मन के प्रतिकूल हो गई होगी उसी की प्रार्थना करोगे, उस के चरणों पर सिर रगड़ोगे, अपने आँसुओं से उस के पैर धोओगे और कहोगे कि मेरी परिस्थिति को मेरे अनुकूल बनाइए। अच्छा, अब यह सोचकर

देखो कि जो परिस्थिति तुम को उद्विग्न कर रही हो, जिस से निकल भागना तुम्हारा प्रधान लक्ष्य हो उस परिस्थिति को उपस्थित करनेवाले से तुम किस ढंग से कहोगे कि यह परिस्थिति दूर कीजिए। क्या सीधे सीधे उस की निन्दा करोगे कि यह परिस्थिति बड़ी बुरी है, इस का न रहना ही अच्छा है, इस से आप की कीर्ति में बट्टा लग रहा है, आप की निर्दयता सिद्ध हो रही है, इत्यादि ? नहीं ऐसा कभी नहीं कह सकते तुम। ऐसा कहने में तुम्हें अवश्य यह भय होगा कि अपने कार्य की, अपनी शक्ति खर्च करके उत्पन्न की गई परिस्थिति की बुराई सुनकर वह कार्यकर्ता, परिस्थिति का संयोजक कहीं अप्रसन्न न हो जाय, क्योंकि यह एक साधारण नियम है कि जिस वस्तु का जो मालिक होता है वह अपनी वस्तु को किसी भी हालत में दूसरे के मुँह से बड़ाई ही दिलाने की इच्छा रखता है। मालिक को यह जिद रहती है कि मेरे अधिकार में रहनेवाली कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं है, चाहे वह वस्तु सचमुच ही बुरी और अनुपयोगी क्यों न हो। यदि ऐसी जिद न रहती, तो वह उस वस्तु को अपने पास रहने ही नहीं देता। फिर वह वस्तु या परिस्थिति यदि वास्तव में अच्छी और अधिकांशतः उपयोगी हो तथा तुम्हारे कहने से ही तुम्हारे सामने उपस्थित की गई हो, तब तो फिर कहना ही क्या है ? उस दशा में तो एक प्रकार के बदले हजारों प्रकार से तुम्हें उस की प्रशंसा करके ही उस से मुक्ति पाने का उपाय सोचना पड़ेगा, और वह उपाय यही होगा कि तुम अपने को उस परिस्थित या वस्तु के अयोग्य, उस को सँभालने में कमजोर, उस की देखभाल में असमर्थ बताकर उस से दूर होना चाहोगे, परिस्थिति और वस्तु की निन्दा कभी नहीं कर सकोगे।

अर्जुन भी इसी साधारण नीति से काम ले रहा है। वह अपने गुरु, पितामह, चचा, भाई आदि को कालरूप भगवान् के मुख में विलीन होते, उन के दाँतों में फँसकर चत विचत होते और सारे संसार को संतप्त होते देखकर भी अब उस बात की चर्चा नहीं कर रहा है। अब वह उस प्रकार की बातों को छोड़कर चुन चुनकर वैसी ही बातें अपने मुँह से निकाल रहा है जिन से उस विराट् रूप का अतिशय प्रभाव और माहात्म्य प्रकट हो। वह पहले कह चुका था कि आप के रूप को देखकर कोई कोई देवता हाथ जोड़ रहे हैं, कोई घबड़ाकर आप के मुँह में ही चले जाते हैं, कोई भय से भागना चाहते हैं, पर भाग नहीं जाता, सिद्ध और महर्षि भय के मारे 'कुशल हो, कुशल हो' की आवाज लगा रहे हैं; परंतु अब वह इस तरह की बातें न कहकर दूसरे ही ढंग से प्रार्थना करता हुआ कह रहा है कि—

हे हृषीकेश, आप के गुणानुकीर्तन से जगत् हर्ष को प्राप्त हो रहा है, आप में भक्ति अनुरक्ति कर रहा है, राक्षस लोग भयभीत होकर दिग्दिगन्त में पलायन कर रहे हैं और सब सिद्ध लोग नमस्कार कर रहे हैं, और यह सब उचित ही हो रहा है।

अर्जुन की बात सुनकर भगवान् मुस्कराये कि वाह, इस ने अब अच्छी चतुराई की बातें शुरू कीं। भगवान् को मालूम हो गया कि अर्जुन किस उद्देश्य ऐसी बातें कर रहा है। इस लिए उन्होंने उस से पूछा कि क्यों अर्जुन, मेरे इस भीम भयानक रूप के कीर्तन से लोग क्यों प्रसन्न हो रहे हैं और सिद्ध लोग नमस्कार क्यों कर रहे हैं ?

अर्जुन ने उत्तर दिया कि—

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवेश, ब्रह्मा के भी आदि कारण और सब से बड़े (आप) के लिए वे नमस्कार क्यों न करें ? हे जगन्निवास, सत्, असत् और उन से भी पर जो अक्षर है वह आप ही हैं।

गी० गौ०—हे प्रभो, हे महात्माजी, हे अन्तरहित, हे सर्वदेवेश्वर, जो ब्रह्माण्ड में सब से श्रेष्ठ हैं, जो ब्रह्मा को भी उत्पन्न करनेवाले आदि पुरुष हैं उन सर्वात्मा आप के लिए ये सिद्धादि नमस्कार न करें, तो करें क्या ? क्या उन के वश की बात है नमस्कार करना या न करना ? वे लोग तो सब तरह से ऐसा ही करने के लिए विवश हैं, क्योंकि हे जगत् के आधार, आप ही तो वह परम अक्षर परब्रह्म हैं जो सत्, असत् और उन दोनों से भी परे रहनेवाले हैं।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, सत् का अर्थ है नित्य = आत्मा और असत् का अर्थ है अनित्य = सृष्टिप्रपञ्च। अर्जुन भगवान् को इन दोनों—आत्मा और विश्वब्रह्माण्ड—से परे अर्थात् अतीत कह रहा है। देखो, अर्जुन कितना चतुर और कैसा बड़ा नीतिज्ञ है कि पहले तो वह पहचान भी नहीं रहा था कि ये विराट् पुरुष कौन हैं, उन से ही पूछकर जानना चाहा कि वे अपने को बतला दें। ऊपर एकतीसवें श्लोक में स्पष्ट रूप से उस ने यही कहा कि मैं आप को जानने की इच्छा कर रहा हूँ कि ऐसा उग्र रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं ? और अब *जब उस के प्रश्न का यह कहकर भगवान् ने उत्तर दे दिया कि मैं सब का संहार करनेवाला काल* हूँ, तो वह उन को सब कुछ समझने लगा। भगवान् ने अपने को संहारकारिणी शक्ति महाकाल कहने के साथ साथ यदि अपनी उत्पत्तिकारिणी अथवा स्थितिकारिणी शक्ति की संकेत-रूप से भी थोड़ी चर्चा की होती, तो एक बात थी; परंतु उन्होंने तो उस ओर इशारा भी नहीं

किया, केवल केवल इतना ही बताया कि मैं सब का संहारक काल हूँ और इसी काम को पूरा करने के लिए इस समय तत्पर हूँ। इस परिचय में क्या कहीं भी ऐसा भाव है जिस से उन महाकाल को ब्रह्मा को पैदा करनेवाला आदि कारण और ब्रह्माण्ड भर में सब से बड़ा समझा जाय? निश्चय ही भगवान् द्वारा दिये गये परिचय में इस तरह का कोई सूत्र नहीं है। तब अर्जुन जो इस तरह की प्रशंसा कर रहा है उस का कारण क्या है? यह कैसे समझ गया कि ये संहार के लिए प्रवृत्त महाकाल ही आत्मा और जगत् से परे रहनेवाले परब्रह्म हैं?

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि हम जिस की बड़ाई करने बैठें उस के उन्हीं गुणों की चर्चा करें जो वस्तुतः उस में विद्यमान हों। प्रशंसा, प्रार्थना, स्तुति, विनय करने के समय केवल इतना ही देखा जाता है कि जहाँ तक हो सके, अच्छी से अच्छी बातें कही जायँ, ताकि सुननेवाला सब तरह से हमारे अनुकूल हो जाय। अर्थात् उस समय झूठी सची सब तरह की प्रशंसनीय बातें कही जा सकती हैं। ठीक है। आज की दुनिया में ऐसे ही लोगों की चल रही है। प्रशंसा करनेवाले और प्रशंसा सुननेवाले, दोनों ही इसी योग्य हो गये हैं। प्रशंसा करनेवालों को आजकल विश्वास रहता है कि हम चाहे जहाँ तक बढ़ा चढ़ाकर कह डालें, हमारा मुँह तो कोई बंद करेगा नहीं, क्योंकि सचा गुण आज के संसार में किसी में है ही नहीं, इस लिए झूठी प्रशंसा सुनने का ही सब को अभ्यास हो गया है। और प्रशंसा सुननेवालों की भी यही दशा है। वे भी यही सोचते हैं कि जिस दुनिया में चारों ओर निन्दक ही भरे हुए हैं, अच्छा काम करने पर भी जहाँ बुराई ही ढूँढ़ने की प्रवृत्ति पोषित हो रही है वहाँ यदि सौभाग्य से एक दो प्रशंसक मिल जाते हैं, तो क्या बुराई है अगर वे कुछ बढ़ाकर ही हम पे तारीफ का उल्लेख कर रहे हैं, करने दो खूब तारीफ, हमारा इस में जाता ही क्या है?

परन्तु क्या अर्जुन और भगवान् भी आजकल की ही दुनिया के प्रशंसक और प्रशंसनीय थे? *नहीं; वे आज से कई हजार वर्ष पहले के लोग थे जब कलियुग ने संसार में पदार्पण* भी नहीं किया था, जब सत्य ही विजय का एकमात्र साधन समझा जाता था। अच्छा, तब अर्जुन ने कालात्मक परिचय देनेवाले विराट् देव को आदि पुरुष, जगदाधार, अक्षरब्रह्म आदि कैसे कहा? क्या वह जानता था कि वे ही सब कुछ हैं? उत्तर है कि हाँ, जानता था अर्जुन इस बात को। इस का प्रमाण चाहते हो, तो ऊपर के उन प्रकरणों को देखो जहाँ भगवान् ने परा अपरा प्रकृति का वर्णन किया है, जहाँ उन्होंने अपने को सम्पूर्ण जगत् का प्रभव, प्रलय और स्थान बतलाया है, जहाँ अक्षर और ब्रह्म का विवेचन करते हुए अर्जुन को उन का रहस्य समझाया है, जहाँ अपनी अव्यक्तता का परिचय दिया है, जहाँ अपनी अनादि अनन्त विभूतियों का सविस्तर विस्तार कहा है (देखो, अ० ७, ८, ९, १०)। तुम पूछ सकते हो कि यदि अर्जुन को यह सब मालूम था अर्थात् वह भगवान् को अब जैसा बतला रहा है वैसा उन्हें पहले

से ही जानता था, तो उस ने यह क्यों कहा कि उग्र रूपवाले आप कौन हैं, यह बतलाइए? इस का उत्तर यही है कि उस समय के विकराल दंष्ट्रावाले असीम रूप को देखकर अर्जुन में जो अधीरता और अशान्ति आ गई थी उन दोनों के प्राथमिक आविर्भाव में वह ऊपर की बातों को भूल गया और घबड़ाकर भगवान् से पूछ बैठा कि आप कौन हैं, सो बतलाइए, क्योंकि मैं आप को जान नहीं पाता हूँ, किंतु जानना चाहता हूँ। फिर भगवान् ने ज्यों ही कहा कि 'इह लोकान् समाहर्तुं मत्तः अहं कालः अस्मि' अर्थात् इस समय लोकों का संहार करने में लगा हुआ मैं काल हूँ त्यों ही अर्जुन को 'प्रभवः प्रलयः स्थानम्' यानी 'उत्पत्ति, स्थिति, विनाश' वाली कुछ बातें याद आ गईं, उस ने समझ लिया कि भगवान् 'इस समय' प्रलयंकर रूप में हैं, सर्वदा ऐसे नहीं रहेंगे; और तब वह हाथ जोड़कर उन के गुणों की प्रशंसा और स्तुति करने लगा। अस्तु;

इसी लिए अर्जुन ने कहा कि हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवेश, ब्रह्मा के भी आदि कारण और सब से बड़े आप के लिए वे सिद्धादि नमस्कार किस तरह न करें? क्योंकि हे जगदाश्रय, सत्, असत् और उन से भी परे जो अक्षर है वह आप ही हैं।

और अब सब कुछ जब स्मरण हो गया, तो वह सब कुछ कहकर भगवान् की स्तुति कर डालने के लिए पुनः कहता ही जा रहा है कि—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदि देव, पुराण पुरुष हैं, आप इस संसार के परम निधान, ज्ञाता, ज्ञेय और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप, संसार आप से (ही) व्याप्त है।

गी० गौ०—हे भगवन्, आप ही आदि देव अर्थात् सर्वप्रथम देवता हैं, आप ही सब से प्राचीन पुरुषोत्तम भगवान् हैं, आप ही इस विश्वब्रह्माण्ड भर के सब से बड़े निधान अर्थात् उत्तम आश्रय हैं, आप ही संसार को जाननेवाले हैं, आप ही संसार द्वारा जानने के योग्य हैं और आप ही सब के लिए सर्वोत्तम गति हैं। हे सीमारहित रूप धारण करनेवाले देव, आप से ही यह संपूर्ण विश्व व्याप्त है अथवा आप ने ही सारे संसार को विस्तार दिया है।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, बिना प्रमाण के प्रतीति नहीं होती और जब प्रमाण मिल जाता है तब प्रतीति का ऐसा सोता फूट निकलता है जो कभी बंद नहीं होता। जैसे-तुम्हारे यहाँ कोई पाहुन आया। तुम ने उसे कभी देखा नहीं है। वह शायद उसी समय कहीं प्रवास में चला गया था जब तुम्हारे परिवार के साथ उस का संबन्ध हुआ था। तुम उस समय बहुत छोटे चार छ वर्ष के बच्चे थे। बीसों वर्ष उस पाहुने ने प्रवास में लगा दिये। इधर तुम सयाने होकर अपने घर के मालिक हुए। तुम्हारे पिता माता अपना अपना समय पूरा कर अपने पुराने धाम को चले गये। अब तुम्हारे घर में ऐसा कोई नहीं है जो उस पाहुने को पहचाने। ऐसी परिस्थिति में पाहुन आया और अपने को तुम्हारा संबन्धी बतलाया। तुम बड़े फेर में पड़ गये कि मैं ने तो कभी इस को देखा नहीं है, कैसे जानूँ कि यह सचमुच मेरा पाहुन है या धोखा देकर मुझ को ठगने के लिए ही पाहुन बन रहा है? उधर संकोच-वश तुम उस को कुछ कह भी नहीं पाते हो, सोचते हो कि यदि मैं ने इसे लौटा दिया, न पहचानने के कारण दुत्कार दिया और बाद में कहीं वास्तव में यह मेरा निकट संबन्धी सिद्ध हुआ, तो बड़ा बुरा होगा, मेरी और इस की, दोनों की बड़ी बेइज्जती होगी। इस प्रकार तर्क वितर्क में पड़कर तुम स्वतः कुछ निश्चय करने में असमर्थ होकर मन ही मन बेचैन हो रहे हो और न तो अपने पाहुन का यथोचित सत्कार करते हो, न यही कह सकते हो कि तुम चले जाओ यहाँ से, मैं तुम को नहीं जानता कि तुम किस तरह के मेरे पाहुन हो। अपनी इस विषम अवस्था से तुम्हें बेतरह घबड़ा जाना पड़ता है। और पाहुन की यह दशा है कि वह तुम्हारी घबड़ाहट को तुम्हारी चेष्टा से पहचान लेता है, तो भी कुछ बतलाता नहीं है, न इस में अपनी मानहानि समझकर स्वयं चला ही जाता है। कारण, वह तुम्हारा इतना घनिष्ठ संबन्धी है कि उस को इस में किसी तरह की मानहानि मालूम ही नहीं पड़ती; अलबत्ता वह यही चाहता है कि प्रकरण और प्रसंग आये, तो तुम्हारा संशय दूर कर दे, पर वह स्वयं प्रसंग भी नहीं लाना चाहता। वह सोचता है कि तुम खुद पूछो, तो वह कुछ कहे और अपना परिचय दे। साथ ही वह ढीठ भी इतना अधिक है कि तुम से बिना पूछे ही तुम्हारे घर में भीतर बाहर सर्वत्र आने जाने लगता है, चाहे जहाँ से कोई भी वस्तु उठाता और रख देता है, सब तरह से मनमाना व्यवहार करने लगता है। आखिर तुम्हें अपना संकोच दूर करके उस से पूछना पड़ता है कि भाई, तुम कौन हो, किस तरह के पाहुन हो, किस लिए मेरे यहाँ आये हो? मैं तुम्हारे बर्तावों से बड़े फेर में पड़ गया हूँ, कुछ समझ नहीं रहा हूँ और समझना चाहता हूँ। इस लिए क्षमा करो और अपना परिचय दो।

इस पूछने को वह बुरा नहीं मानता, बल्कि इसे तुम्हारी [illegible] समझता है और खुश होकर अपना असली परिचय दे देता है। वह आरम्भ से [illegible] को कुछ बातें

तो नहीं कहता, पर कोई ऐसी बात कह देता है जिस से तुम को पूरा ज्ञान हो जाता है कि यह कौन है। फिर तो तुम को अपने पिता माता से सुनी हुई बहुत सी पुरानी बातें याद आ जाती हैं कि कब मेरा कौन सा नातेदार, किस काम से, कहाँ चला गया था, वहाँ जाकर उस ने क्या क्या किया और कितने दिन बाद वहाँ से अपना समाचार भेजा, इत्यादि। अब तुम्हारा भ्रम दूर हो जाता है और तुम्हें मालूम हो जाता है कि ये पाहुन तो मेरे ही नहीं, बल्कि सारी बिरादरी के पूज्य हैं, क्योंकि संबन्ध में ये सब से श्रेष्ठ हैं, इन की बराबरी का तो गाँव भर में कोई नहीं है। इन बातों के स्मरण होते ही तुम पाहुन के पैरों पर गिर पड़ते हो और बहुत बहुत सी पुरानी और नई बातें कह कहकर उन से क्षमा माँगने लगते हो, बल्कि यहाँ तक कह डालते हो कि यह घर भी आप का ही है, और मैं तो आप का दास ही हूँ, अब आप यहाँ से कहीं नहीं जाने पायेंगे, मैं और सारे गाँव के लोग आप को सिर आँखों पर रक्खेंगे, आप अब सुख से यहीं रहिए और हम लोगों को अपना सेवक जानकर हमें उन्नति का मार्ग दिखलाइए, क्योंकि आप ने बहुत प्रवास किया है, बहुत बहुत देशों का भ्रमण करके अथाह कष्ट और अनुभव प्राप्त किया है। इस लिए यहाँ रहकर अपने अनुभव से हमारा अज्ञान और हमारी सेवा से अपना प्रवासजनित कष्ट दूर कीजिए। अधिक कहना अनावश्यक है। गर्ज़ यह कि तुम को जब प्रमाण मिल जाता है और पूरी प्रतीति हो जाती है, तो तुम्हारे मन में अनन्त प्रेम उमड़ पड़ता है जिसे तुम हृदय में छिपाकर रखने में असमर्थ हो जाते हो और चाहते हो कि अपने हार्दिक प्रेम की दरिया को इस कदर बाहर बहा दूँ जिस में सारा संसार गोते लगाकर अपना जन्म सफल कर ले, क्योंकि तुम्हें अब अपने पाहुन के प्रति ऐसी श्रद्धा हो गई रहती है कि तुम उस को सारे संसार भर में सब से बड़ा, प्रेमपात्र और ज्ञान की खान समझने लगते हो।

यह एक साधारण पूज्य पाहुन की उपमा दी गई है। यदि वह पाहुन पाहुन न होकर सचमुच भगवान् ही हो और तुम को अर्जुन की ही तरह इस बात का विश्वास हो जाय, तब तो कुछ कहना भी कठिन है कि तुम में कहाँ तक श्रद्धा, विश्वास, पूजा और भक्ति का भाव आ जायगा। अस्तु;

ऐसी ही कुछ दशा अर्जुन की भी समझ लो। अर्जुन भी अब अच्छी तरह अपने पूज्य को पहचान गया है और इसी लिए यह कहकर अपने हार्दिक भावों को प्रकट कर रहा है कि—

हे भगवन्, आप आदि देव और पुरातन पुरुष हैं, आप इस विश्व के परम निधान, ज्ञाता, ज्ञेय और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप, यह सारा जगत् आप से ही फैला है और आप ही इस में सर्वत्र व्याप्त हैं।

और इतना कहने पर भी जब अर्जुन को संतोष नहीं मालूम होता, तो वह फिर कह रहा है कि—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशाङ्क, प्रजापति और प्रपितामह हैं। आप के लिए नमस्कार हो, हजार तरह से नमस्कार हो ; आप के लिए फिर नमस्कार हो और फिर भी नमस्कार हो।

गी० गौ०—हे प्रभो, आप ही पवनदेव हैं, आप ही दण्डधर यमराज, पावक अग्नि, जलदेवेश्वर वरुण, नक्षत्रेश चन्द्रमा, प्रजाओं के मालिक–पितामह ब्रह्मा और उन के भी पिता होने के कारण संसार भर के परदादा हैं। इस लिए आप को प्रणाम है, हजार बार हजार प्रकार से प्रणाम है और फिर आप को प्रणाम है, फिर भी प्रणाम है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, अर्जुन के हृदय में भय और भक्ति से अब भगवान् के प्रति श्रद्धा और विश्वास, आदर और संमान, पूज्यत्व और गुरुत्व आदि का वह उत्तर भाव भर गया है जिस को वाणी द्वारा व्यक्त करने के लिए उस को ढूँढने पर शब्द ही नहीं मिल रहे हैं। और मन की यह दशा है कि वह बिना व्यक्त किये, बिना कहे मानता ही नहीं, संतोष ही नहीं करना चाहता। तब वह करे तो क्या करे ? इस परिस्थिति में वह कोई उपाय न पाकर भगवान् के दिये हुए (दशमाध्यायोक्त विभूतिमय) परिचयों का ही आश्रय लेता है और उन्हीं के शब्दों में उन का वर्णन करके हजार हजार बार प्रणाम करता हुआ यथासंभव अपने हार्दिक भावों को प्रकट करना चाहता है। भगवान् ने विभूतिवर्णन के प्रसंग में कहा था कि पवित्र करने-वालों में मैं पवन हूँ, सो अर्जुन अब उसी बात को स्मरण कर कह रहा है कि आप ही वायु हैं। भगवान् ने कहा था कि शासन करनेवालों में मैं यम हूँ, अतः अर्जुन भी कहता है कि आप ही यमराज हैं। इसी प्रकार भगवान् ने अपने को जलदेवताओं में वरुण, नक्षत्रों में चन्द्रमा, सब के कर्मफलों का विधान करनेवाला ब्रह्मा और ब्रह्माओं को भी उत्पन्न करनेवाला अनादि पुरुष कहा था। इस के साथ साथ अर्जुन को यह बात भी मालूम ही थी कि परमात्मा ही विष्णुरूप से जगत् की रक्षा करते हैं और विष्णु की नाभि से निकले हुए कमलपुष्प से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं,

इस बात को विराट् देव के शरीर में उस ने प्रत्यक्ष देखा भी था और 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्' कहकर स्पष्टतः बतला भी चुका था। इस लिए अर्जुन को सब तरह से निश्चय हो गया था कि ये विराट्देव ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतः तदनुसार ही उस ने हाथ जोड़कर विनतीपूर्वक स्तवन किया—आप ही वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा हैं और उन ब्रह्मा के भी पिता होने से आप ही सब के प्रपितामह अर्थात् परदादा हैं। और जो इतना सब कुछ है उस को प्रणाम कितनी बार किया जाय? एक दो अथवा दस बीस बार प्रणाम करने से भी तो काम नहीं चल सकता, क्योंकि एक एक रूप के लिए यदि हिसाब लगाकर अलग अलग प्रणाम किया जाय, तो उन रूपों का तो कुछ अन्त ही नहीं है। इस लिए अर्जुन को कहना पड़ा कि आप को हजार हजार बार, हजार हजार ढंग से प्रणाम है और फिर फिर प्रणाम है, प्रणाम है अर्थात् अनन्त और असंख्य प्रणाम है।

इतने में अर्जुन को ख्याल आया कि भगवान् की अनन्तता भी तो एक प्रकार से ही नहीं, बल्कि अनन्त प्रकार से है, क्योंकि इन को जिधर देखता हूँ उधर ही अनन्त रूप हो होकर दसों दिशाओं को इन्होंने व्याप्त कर रखा है, तब फिर एक ही ओर से अनन्त प्रणाम करने से किस तरह काम चल सकता है? नहीं चल सकता। इसी लिए वह पुनः कह रहा है कि—

> नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
> नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
> अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
> सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे सर्व, आप के लिए सामने से और पीठ की ओर से नमस्कार हो, आप के लिए सभी ओर से नमस्कार हो। हे अनन्तवीर्य, आप असीम पराक्रमवाले हैं, सब को व्याप्त कर रहे हैं, इस लिए सब आप ही हैं।

गी० गौ०—हे सर्वरूपी भगवन्, मैं आप को संमुख से नमस्कार करता हूँ, पीठ की तरफ से नमस्कार करता हूँ और चारों ओर से ही नमस्कार करता हूँ। हे अन्तरहित सामर्थ्यवान् प्रभो, आप के पराक्रम का कोई थाह नहीं पा सकता, अतः आप अमित पराक्रमी पुरुष हैं। यह सारा संसार आप में ही समाप्त होता है और आप ही संपूर्ण संसार में व्याप रहे हैं, इस लिए संसार में जो कुछ हैं, सब आप ही हैं, आप के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन को अब कुछ भी जानना बाकी नहीं रह गया। वह अब आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर, नीचे, सर्वत्र भगवान् को देख रहा है। यही तो ज्ञान की पराकाष्ठा है, योगी, ज्ञानी, संत, महात्मा यही तो कहते हैं कि जगत् विष्णुमय है, राई, पर्वत, तिल, ताड कोई भी जगह भगवान् से खाली नहीं है। संतों की वाणी और महात्माओं का उपदेश सर्वदा, सब काल में, सब देश में, सब लोगों को सुनने को मिलता रहता है, आबालवृद्धवनिता कोई भी ऐसा नहीं है जिस ने सैकड़ों बार यह न सुना हो कि भगवान् सब जगह हैं, किंतु सुनने के अलावे क्या कोई उस श्रवणगत बात को व्यवहार का रूप भी देता है, कोई यह मानकर अपना जगद्व्यवहार पूरा करता है कि भगवान्मय जगत् के साथ हम व्यवहार कर रहे हैं, अतः सँभल सँभलकर अपना बर्ताव करना चाहिए? नहीं, किसी से ऐसा करते नहीं बनता। सब लोग अपने अपने में ही भूले रहते हैं, सब लोग अपना अपना अलग अलग भगवान् मानते और पूजते हैं, यह कोई नहीं सोचता कि हमारे और संसार भर के भगवान् एक हैं और सब के लिए सब जगह विराजमान रहते हैं। इसी लिए तो कोई कहता है कि भगवान् ऊपर रहते हैं, कोई कहता है, पूर्वदिशा में रहते हैं, कोई कहता है, उत्तर दिशा में उन का वास है और कोई दक्षिण में मानता है, तो कोई पश्चिम में। पश्चिम दिशा के भगवान् मुसलमानों के भगवान् के नाम से प्रसिद्ध ही हैं। इसी तरह अनेक सम्प्रदाय के अनेक भगवान् अनेकानेक दिशाओं में माने गये हैं। कौन कहेगा कि ये सब अज्ञान की बातें हैं? अगर कहना हो, तो मन में भले ही कह ले, मुँह से कहने पर सिर के काले बाल बिना लाल हुए नहीं रह सकते। परन्तु और कोई कहे या न कहे, अर्जुन तो साफ साफ कह रहा है कि हे प्रभो, आप ही सब तरफ दिखाई दे रहे हैं, अतएव आप को सभी तरफ से नमस्कार हैं।

अच्छा, सब लोग ऐसा क्यों नहीं कहते और अर्जुन क्यों कह रहा है? सभी लोग तो इन बातों को बार बार सुन चुके हैं और तब भी वैसा नहीं कहते, पर अर्जुन ने तो एक ही दो बार सुना और वैसा ही कहने लगा, ऐसा क्यों? केवल इसी लिए कि अर्जुन ने हृदय से उन बातों में और उन बातों के आधार भगवान् में प्रेम किया और सब लोग अपने ही प्रेम में भूले रह जाते हैं। जिस का जिस दिशा के भगवान् से अपना मतलब सधता दिखाई देता है वह उसी दिशा में प्रेम करने लगता है। और अर्जुन को सब दिशा में सब का मतलब सधता दिखाई पड़ा, इस लिए वह सर्वत्र प्रेमदृष्टि से भगवान् को देखने और प्रेम करने लगा। अर्जुन के बाद भी ऐसे बहुत से महात्मा हो गये हैं जिन्होंने अर्जुन के समान ही सब में प्रेमभाव रखा और सर्वत्र भगवान् के व्यापक रूप का दर्शन किया। गोसाईं तुलसी दासजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने अपना अनुभव सब के लिए व्यक्त करते हुए साफ साफ कहा है कि—

हरिव्यापक सर्वत्र समाना ॐ प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥'

मेरे कहने का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि जो लोग सर्वत्र भगवान् को न मानकर अपने अपने मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में ही सीमित मानते हैं वे गलती करते हैं। नहीं, ऐसा कहने से तो परमार्थ सिद्ध होने के बदले महा अनर्थ ही सिद्ध होगा। इस लिए मेरा यही कहना है कि तुम यदि मन्दिर के पुजारी हो, तो मस्जिद या गिरजाघर की पूजा भले ही मत करो, पर यह अवश्य स्वीकार करो कि वहाँ वहाँ भी भगवान् अवश्य हैं, क्योंकि वे सर्वत्र समान भाव से रहनेवाले हैं। हाँ, इतना तुम्हें और ध्यान रखना चाहिए कि मन्दिर, मस्जिद आदि में ही अभिन्न भाव रखकर पूर्ण संतोष न हो जाय, बल्कि इन के द्वारा तुम्हें अपने हृदय को और अधिक विकसित करते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। मन्दिर आदि इस उत्कृष्ट सर्वमयत्व की भावना तक पहुँचने के लिए प्रथम सोपान हैं, न कि उच्चतर अधिष्ठान। यह ध्यान यदि क्रमशः दृढ़तर होता जायगा, तो किसी न किसी समय तुम भी अर्जुन के समान सर्वत्र सर्वेश्वर सर्वरूप भगवान् का दर्शन करने लगोगे और उस समय केवल मुँह से नहीं, बल्कि संपूर्ण अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग से—अपने हृदय की समस्त भावना से अर्जुन के ही शब्दों में कह सकोगे कि—

हे सर्व, आप के लिए सामने से और पीठ की ओर से नमस्कार हो, आप के लिए सभी ओर से नमस्कार हो। हे अनन्तवीर्य, आप असीम पराक्रमवाले हैं, आप समस्त विश्व को व्याप्त कर रहे हैं, इस लिए आप ही सब कुछ हैं। अस्तु;

इस प्रकार अनेक और अनन्त रूप में भगवान् का वर्णन और उन को बार बार नमस्कार करने पर अर्जुन से भगवान् ने कहा—अर्जुन, आज तो तूँ बड़ा भारी भावुक हो गया है। मालूम होता है कि आज का पूरा दिन तूँ बार बार, हजार बार, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे और चारों ओर से प्रणाम करने में ही बिता देगा ?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, इतने पर भी तो जान पड़ता है कि मैं अपना नमस्कार उस हद्द तक नहीं पहुँच सकता जहाँ तक कि आप का विस्तार है, क्योंकि मैं ठहरा एक सीमित बल, बुद्धि, आयु, वित्त, और शक्ति सामर्थ्यवाला मामूली मनुष्य और आप ठहरे सभी प्रकार से अनन्त और असीम। ऐसी दशा में मेरे इतने प्रणामों की भी भला क्या गिनती हो सकती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, क्या तूँ यह बात भूल गया है कि मैं तुझे अपना परम सखा और अन्तरङ्ग मित्र मानता हूँ ? फिर बराबरी का बर्ताव छोड़कर इतनी दीनता क्यों प्रकट कर रहा है ?

अर्जुन ने कहा—हाँ, भगवन्, आप ने मुझे बड़ा अधिक आदर दे डाला है और मैं इतना बड़ा मूर्ख निकला कि उस आदर में ही भूला रह गया, कभी आप की वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नहीं किया। परंतु आशा है कि आप मेरी अज्ञता के लिए मुझ को अपना जानकर अवश्य क्षमा करेंगे।

भगवान् ने कहा—इस में अज्ञता क्या है? मैं ने तुझ को अपना मित्र जाना और तूँ ने मुझ को अपना, यही तो लोकव्यवहार है।

अर्जुन ने कहा—ठीक है, आप के लिए यह लोकव्यवहार है, पर मेरे लिए तो यही सब अपराधों का कारण हुआ। इस लिए—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे अच्युत, आप की इस महिमा को न जानने के कारण मैं ने प्रमाद से अथवा प्रेम से भी (अपना) 'सखा' ऐसा मानकर हठात् हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, यह जो कहा तथा घूमने फिरने, सोने बैठने और भोजन करने में परिहास के लिए अकेले अथवा दूसरे (सखाओं) के सामने भी जो (आप) असत्कृत हुए हैं उस समस्त (अपराध) को मैं आप अप्रमेय से क्षमा कराता हूँ।

आप का यह रूप देखकर, आप की अमित और असीम महिमा जानकर मुझ को अपने उन कर्तव्यों पर बड़ा परिताप हो रहा है। इसलिए आज मैं अप्रमेय आप से अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के प्रमाण से परे रहनेवाले विराट् रूप आप परमेश्वर से उन सभी ज्ञात अज्ञात अपराधों के लिए क्षमा माँगता हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने गुण अवगुण पर सर्वदा ध्यान नहीं देता, संसार के प्रवाह में पड़कर बेहोश की तरह बहता चला जाता है। उस दशा में उस से कहीं गलती होती है, कहीं सही होती है, कहीं न्याय होता है, कहीं अन्याय होता है और कहीं कुछ न होकर बिलकुल शून्यावस्था आ जाती है। इस शून्यावस्था के आने के अनेक प्रकार के कारण होते हैं, पर विशेषतः यह अवस्था तब आती है जब अकस्मात् कोई अनहोनी और आश्चर्यजनक घटना घट जाती है। इस दशा के उत्पन्न होने पर पहले तो मनुष्य एकबारगी घबड़ा उठता है, कुछ समझ नहीं पाता कि मैं कहाँ से कहाँ चला आया और यथा करते करते क्या कर डाला। फिर धीरे धीरे उस को प्रत्यक्ष (सामने की वर्तमान) और परोक्ष (पीछे की बीती हुई) बातें याद आने लगती हैं। यह दशा भी बहुत कुछ घबड़ाहट की ही रहती है, किंतु अन्तर इतना रहता है कि कुछ न समझ पड़नेवाली शून्यता नहीं रह जाती। इस लिए इस परिस्थिति में, घबड़ाया हुआ रहते हुए भी, मनुष्य को इस बात की कुछ कुछ खुशी मालूम होने लगती है कि अच्छा हुआ जो इस तरह आज मुझे अपनी भूल मालूम हो गई, और तब वह उसी समय अपनी भूल के लिए पछताने और माफी माँगने लगता है।

अर्जुन भी आज इसी अवस्था में पहुँच गया है। वह अपनी समझ में आज तक भगवान् को केवल अपना मित्र समझता था। उन के साथ खेलता कूदता था, सोता बैठता था, खाता पीता था और हँसता बोलता था—बिलकुल साधारण रीति से जैसा कि बराबर के दो मित्र आपस में किया करते हैं। उस ने भगवान् के सामने कभी संयम और आदरपूर्ण सम्माननीय का सा व्यवहार नहीं किया जैसा कि कोई पुत्र पिता के सामने, शिष्य गुरु के सामने, प्रजा राजा के सामने या भक्त भगवान् के सामने करता है। वह अपने मित्र कृष्ण के साथ बिलकुल वैसा ही व्यवहार करता था जैसा लड़कों की किताबों का सोहन अपने मित्र मोहन के साथ करता है अथवा यों कहो कि जैसा सर्वसाधारण दोस्त अपने दोस्त के साथ किया करते हैं। सोहन या कोई भी दोस्त अपने दूसरे दोस्त से एक गिलास पानी माँगकर पी लेता है, पेड़ पर से पके आम तोड़ लाने के लिए कह देता है, नहाने के समय अपनी देह में तेल की मालिश भी करा लिया करता है और कभी कभी अपनी बदली हुई धोती भी फिंचवा लेता है। अर्जुन ने भगवान् से इस तरह के कौन कौन से काम कराये थे सो तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, पर एक काम तो इस समय के कुछ ही देर पहले भगवान् से करने के लिए वह कह चुका था

और अभी तक वह काम भगवान् को करना ही पड़ रहा था। जानते हो, वह कौन सा काम है ? वह है अर्जुन के रथ को हाँकनेवाला सारथी अर्थात् कोचवान बनना। भगवान् से युद्ध में अर्जुन ने यही सहायता माँगी कि आप मेरा रथ हाँकें। इस से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वह भगवान् के साथ कैसा साधारण व्यवहार करता था। और बोलने चालने में तो वह स्वयं स्वीकार कर रहा है कि मैं ने आप के साथ परिहास किया, ठिठाई की। प्रेम से बुलाने के समय 'सखा' कहकर बुलाया और दिल्लगी में चिढ़ाने के लिए 'हे कृष्ण' (ओ काले,) और 'हे यादव', (अर्थात् जेलखाना में रहनेवाले वसुदेव के लड़के) कहा।

घटनाक्रम ने पलटा खाया और अर्जुन के निर्बाध बहते संसार में भगवान् का व्यापक रूप प्रत्यक्ष हो गया। अब तक वह कभी प्रेम में आदर संमानरूप सही और न्याय्य तथा कभी हँसी मजाक में उत्पन्न हुए चोम मनमोदावरूप गलत और अन्याय्य व्यवहारों के प्रवाह में बेहोश बहता चला आया था। आज विशेष घटना घटी जिस ने अर्जुन को पहले शून्यावस्था में पहुँचाया, वह भौचक्का होकर, आँखें फाड़कर, घबड़ाकर भगवान् को देखता रह गया। फिर धीरे धीरे दशा बदलने लगी और उसे पूर्वकृत अपमान, असत्कार, हँसी मजाक, रुठौअल, मनौअल आदि की बातें याद आने लगीं। तब उस ने उसी घबड़ाहट में हाथजोड़कर प्रार्थनाएँ की, बार बार पैरों पड़ा, सिर झुकाया और अब स्पष्टतः अपने अपराधों का उल्लेख करके माफी माँग रहा है।

कोई संदेह कर सकता है भगवान् ने तो अपने जन्मकाल से ही ऐसी अनेक लीलायें दिखलाई थीं जिन से उन की असाधारणता, अलौकिकता, भगवत्ता प्रकट हो गई थी। यथा—

पालने में पड़े पड़े उन्होंने कंस के भेजे शकटासुर दैत्य को अपने पैरों का धक्का देकर मार गिराया। वह राक्षस भगवान् को मारने के विचार से आकर उन के पालने के ऊपर बँधे हुए बैलगाड़ी के चक्के में अपने को छिपाकर बैठ गया था। भगवान् ने अपने नन्हें पैरों को थोड़ा बढ़ा दिया, ताकि पालने में सोये रहने पर भी पैर उस चक्के तक पहुँच जायँ। फिर ज्यों ही उस राक्षस ने भगवान् को ऐसा करते देखा त्यों ही चाहा कि उन के पैर पकड़कर ही अपना काम कर डालें, किंतु भगवान् ने उस को ऐसा दबाया कि उस का ही काम तमाम हो गया।

बाद में पूतना राक्षसी ने उन को प्यार करने और गाँव की अन्य स्त्रियों की तरह गोद में लेकर दूध पिलाने के विचार से जैसे ही उन के मुँह में अपना स्तन लगाया वैसे ही उन्होंने दूध पीने के बहाने उस के जहरभरे स्तन को ऐसा चूसा कि उस का जीवन ही पी डाला, वह तुरंत गिरकर मुक्त हो गई।

फिर तृणावर्त आँधी बनकर आया और भगवान् को हलका बालक जानकर अपने बवंडर में उड़ा ले जाना चाहा, किंतु भगवान् ने उस का गला भी धर दबाया और वह चेंचें करके प्राणरहित हो गया।

ये सब लीलाएँ बरही बीतने (अर्थात् भगवान् के जन्म को बारह दिन होने) के पहले ही हो गईं। इस के बाद नन्द यशोदा ने सोचा कि गोकुल में बड़े उत्पात हो रहे हैं, चलो, वृन्दावन चलें और सब बाल गोपाल को लेकर वहीं चले गये। परंतु कंस को कहाँ चैन कि वह पीछा छोड़े। उस ने वहाँ भी अपने वीर दैत्यों को भेजना प्रारम्भ कर दिया। उस के भेजे हुए दैत्य वीरता के साथ साथ मायिकता में भी बड़े निपुण होते थे। वे ऐसा ऐसा रूप धारण करके भगवान् को धोखा देने और मारने आते कि किसी को उन के आने का पता भी नहीं लग सकता था। परंतु किसी को पता न लगना एक बात है और भगवान् को न लगना दूसरी अथवा तीसरी, चौथी और बहुत दूर की बात है। अन्तर्यामी भगवान् से किसी की माया या छल प्रपञ्च त्रिकाल में भी नहीं छिपे रह सकते, क्योंकि वे तो स्वयं मायापति ही हैं।

भगवान् ग्वाल बाल को लेकर स्वयं गोपाल बने हुए नन्दराज की तमाम गौओं को वृन्दावन में यमुना के तट पर चरा रहे थे। ग्वाल बाल ने कहा—कन्हैया, गौएँ हरी हरी घासों को ग्रास बनाने में ध्यान दे चुकी हैं। इस समय वे कहीं बहक नहीं सकतीं। चलो, हम लोग कोई खेल खेलें।

कौतुकी भगवान् को इनकार क्यों होता ? उन्होंने कहा—ठीक सोच रहे हो, चलो, ऐसा ही किया जाय।

सब ग्वालों को साथ लेकर भगवान् लुकाछिपी खेलने लगे। गौओं की ओर किसी का ध्यान नहीं रह गया। इसी बीच में कंस एक असुर को इन की खबर लेने के लिए भेज चुका था। उस असुर ने इस अवसर को बड़ा सुन्दर समझा। सोचा कि इस समय साँड़ या बछड़े का रूप धारण कर उछलता कूदता यदि उन ग्वालों के बीच में जा पहुँगा, तो वे सब यही समझेंगे कि चरनेवाली गौओं के झुंड में कोई जंगली जानवर—शेर, बबर, चीता, भेड़िया वगैरह—आ गया है, इसी लिए यह भागकर इधर चला आया है। और तब वे कृष्ण को पीछे पीछे आने के लिए कहते हुए जोरों से गौओं की ओर दौड़ जायँगे। बस, उसी समय मैं कृष्ण को अकेला पाकर उन के पेट में अपनी पैनी (नुकीली) सींगे घुसेड़ दूँगा।

वत्सासुर ने ऐसी ही किया। वह एक बलवान् साँड़ का भेष धारण कर बहुत तेज दौड़ता हुआ वहीं जा पहुँचा जहाँ श्री कृष्ण और ग्वाल बाल लुका छिपी खेल रहे थे। उस की आकृति से प्रत्यक्ष व्याकुलता टपक रही थी। उस को देखकर ग्वालों ने वही सोचा जो उस दैत्य ने पहले ही अनुमान कर लिया था। इस लिए वे सब के सब खेलना छोड़कर अपनी गौओं की तरफ दौड़ चले और श्री कृष्ण को पुकारकर कहते गये कि कन्हैया, जल्दी आओ, हम लोग गौओं के पास जा रहे हैं, मालूम होता है कि वहाँ बाघ आया है।

ग्वालों की पुकार सुनकर कन्हैया ने मन में हँसकर कहा—जाओ, तुम लोग वहाँ बाघ सिंह ढूँढ़ो, मैं तो यहीं आज साँड़ या वत्सासुर का शिकार खेलूँगा।

यह सोचने और मन में कहने में जितनी देरी लगी होगी उस के भी पहले ही वत्सासुर मुँह को नीचे झुकाकर और सींगों का भगवान् के पेट पर निशाना साधकर वेग से भगवान् की ओर चल पड़ा।

भगवान् तो सब समझ ही चुके थे और इस के लिए तैयार ही बैठे थे। उन्होंने कहा—अरे मूर्ख, तुझे स्वयं अपने प्राण सस्ते हुए हैं, तो मैं क्या करूँ।

अब उस दैत्य के तीक्ष्ण शृङ्ग (सींग) और भगवान् के पेट के बीच बित्ते भर का भी फासला नहीं रह गया था। दैत्य प्रसन्नता के साथ सोच रहा था कि आज मेरी माया कारगर हो गई, मुझ को नहीं पहचाना इन लोगों ने। परंतु इसी समय उस को ऐसा मालूम हुआ कि मेरे सिर पर लाखों मन का बोझा आ गया है। उस ने सिर उठाकर देखना चाहा कि बात क्या है, पर बार बार बल लगाने पर भी उस का सिर ऊपर नहीं उठा। भगवान् ने उस की दोनों सींगों को दोनों हाथों से पकड़ लिया था और खेल खेलने की तरह उन्हें नीचे पर दबाया था। इस प्रकार कुछ देर खिलवाड़ में बिताकर फिर उन्होंने ऐसा झटका दिया कि वह चारों खाने चित्त होकर गिर पड़ा और तत्काल उस के प्राण पखेरू उड़ गये।

मरने के बाद उस का असली राक्षस रूप प्रकट हो गया। तब तक ग्वाल बाल भी उधर से लौटकर आ गये और यहाँ यह तमाशा देखा, तो दंग होकर रह गये।

इस के बाद अघासुर अजगर साँप के वेष में आया और बात की बात में मारा गया, बकासुर आया और उस की भी वही गति हुई। अन्त में कंस ने एक नया जाल बिछाया। उस ने मित्रता का भाव बनाते हुए अक्रूर द्वारा श्री कृष्ण को अपने घर बुलवाया, किंतु शर्त यह थी कि हमारे दर्बार के मल्लों को परास्त कर दो तब मुझ से भेंट होगी। साथ ही दस हजार हाथियों के बराबर बल रखनेवाले कुवलयापीड हाथी को भी मार डालो। भगवान् ने सब शर्तें पूरी कीं और अन्त में कंस को भी मारकर पृथिवी का बोझा हलका किया। अस्तु;

इन कथाओं को स्मरण दिलाने का अभिप्राय यह है कि इन कामों से श्री कृष्णजी की अलौकिक शक्तियों की प्रसिद्धि सारे संसार में हो चुकी थी। तब क्या अर्जुन को ये बातें नहीं ज्ञात रही होंगी उस ने आज तक उन की महिमा नहीं जानी थी और मामूली मित्र के अतिरिक्त उन्हें और कुछ नहीं समझा था ?

इस का उत्तर यह है कि अर्जुन भगवान् की इन वीरताओं को जानता तो अवश्य था, किंतु उस की दृष्टि में ये सब कार्य कुछ ऐसे बड़े नहीं थे जिन्हें वह ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के लिए असाध्य समझे। कारण यह कि अर्जुन स्वयं एक अद्वितीय योद्धा था। वह

वत्सासुर वध

वत्सासुर वध.

ने विराट्राज की गौओं को चुराकर ले जानेवाले कौरवों को गन्धर्वों के हाथ से बलपूर्वक छुड़ाया था। एक बार पाताल में जाकर अर्जुन ने अनेक अतिबलशाली दानवों को परास्त और उर्वशी का उद्धार किया था। इसी तरह और भी अनेक बार अलौकिक पराक्रम सिद्ध करनेवाले कार्य उस ने किये थे और सारे संसार को अपने बाहुबल से जीतकर युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ कराना तो सर्वप्रसिद्ध ही है। अपने इन कामों को देखते हुए वह कंसादि राक्षसों का वध करनेवाले कृष्ण को अद्वितीय और अलौकिक कहाँ तक समझता, यह सोचने की बात है। गर्ज यह कि भगवान् के आज तक के कार्यों को वह उसी दृष्टि से देखता था जिस से अपने कामों को वह स्वभावतः देख सकता था। इसी लिए वह अब तक भगवान् को अपनी बराबरी का मित्र समझता आ रहा था। परन्तु आज उस को विराट् रूप का दर्शन क्या मिला, मानों उस की आँखों पर से युग युगान्तर का पड़ा हुआ पर्दा उतर गया। और तब उस के सामने इस के अतिरिक्त अपनी भूल सुधारने का और कोई साधन नहीं था कि अपने अपराधों का उल्लेख करके वह भगवान् से क्षमा माँगे। अस्तु,

इसी लिए अर्जुन ने कहा कि हे अच्युत, आप की इस महिमा को न जानने के कारण मैं ने प्रमाद से अथवा प्रेम से भी आप को अपना सखा मानकर जो हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, ऐसा कहा और घूमने फिरने, सोने बैठने, खाने पीने में जो परिहास के लिए अकेले में अथवा सब के सामने आप को अपमानित किया उन समस्त अपराधों के लिए आप अप्रमेय परमेश्वर से आज मैं क्षमा माँगता हूँ।

अर्जुन की इस क्षमायाचना पर मन ही मन मुस्कराते हुए भगवान् ने पूछा—अर्जुन, मैं नहीं जानता था कि मेरा इतना घनिष्ठ मित्र और सज्जनता की साक्षात् प्रतिमा होकर भी तूँ इतने बड़े बड़े अपराध करता रहता है। तूँ तो सचमुच ही बड़ा भारी अपराधी मालूम हो रहा है। और आश्चर्य है कि ऐसे ऐसे अपराध करके भी तूँ क्षमा माँगने का साहस कर रहा है। क्या कोई भी मित्र अपने मित्र द्वारा किये गये इतने अपमानों और अपराधों को क्षमा कर सकता है कि तूँ मुझ से ऐसी आशा कर रहा है?

अर्जुन ने डरते डरते कहा—प्रभो, अपराध तो मेरे सचमुच ही अक्षम्य हैं और सम्भवतः दूसरा कोई इन को क्षमा भी नहीं कर सकता, अवश्य ही बदला चुकाने की इच्छा करेगा; परन्तु आप से मुझे यह आशा नहीं है कि आप बदला लेने की इच्छा करेंगे, बल्कि मेरा तो अभी भी यही दृढ़ विश्वास है कि आप अवश्य क्षमा करेंगे। कारण यह कि—

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर लोक के पिता और सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। हे अप्रतिम प्रभाववाले, तीनों लोकों में आप के समान भी दूसरा (कोई) नहीं है, फिर (आप से) अधिक तो कोई कहाँ से होगा ?

गी० गौ०—हे भगवन्, आप इस संपूर्ण स्थावर जङ्गम जगत् के पिता हैं और आप ही इस विश्व भर के सब से बड़े गुरु हैं। ब्रह्माण्ड भर में आप का प्रभाव सर्वोपरि है। स्वर्ग, पृथिवी और पातालादि, तीनों लोकों में ऐसा कोई नहीं है जो थोड़ी बहुत आप की बराबरी भी तो कर सके, फिर संसार में कोई आप से बढ़कर हो सकता है, ऐसा तो सोचना भी मूर्खता ही होगी। तात्पर्य यह कि और कोई जो काम कठिनता से भी नहीं कर सकता वह आप के लिए बिल्कुल अकिंचित्कर है अर्थात् दूसरा कोई मेरे अपराधों को भले ही क्षमा न करे, पर आप अवश्य कर सकते हैं।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, अर्जुन अब यह सिद्ध करना चाहता है कि जैसे बाप या माँ अपने लड़कों की और आचार्य गुरु आदि अपने शिष्यों की भूल चूक माफ कर देते हैं वैसे ही आप को भी मेरे अपराध क्षमा करने चाहिएँ। अर्जुन ही नहीं, बल्कि बड़े बड़े महात्मा भी अपने कसूर माफ कराने के लिए भगवान् से यही कहकर प्रार्थना करते हैं कि आप मेरे पिता हैं, मैं आप का शरणागत वत्स (पुत्र) हूँ, इस लिए मेरे दोषों पर ध्यान मत दीजिए और पुत्रवत्सल पिता की तरह मुझ दास के ऊपर दया करके क्षमा कीजिए, अपनी शरण में रखिए। तुलसीदासजी ने भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि लड़कों के अनुचित कामों पर ध्यान न देकर पिता, माता अथवा गुरु आदि उन के साथ द्वेष नहीं करते, प्रत्युत प्यार ही करते हैं। हाँ, प्यार ही प्यार में उस के अनुचित काम की निन्दा करके आगे के लिए उस को समझा दें और अच्छा रास्ता पकड़ा दें, यह तो उन का अपना ही कर्तव्य है, इस में तो कुछ कहना ही नहीं है। और केवल पिता माता या गुरु आचार्य के ही लिए नहीं, बल्कि साधु सज्जन कहलानेवाले मनुष्यमात्र के लिए यही सिद्धान्त स्थिर किया है तुलसीदासजी ने। देखो, रामायण में वे क्या कहते हैं ?—

'कौसिक कहा छमिअ अपराधू। बाल दोष गुन गनहिं न साधू॥'
'जो बालक कछु अनुचित करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं॥'

ये दोनों वचन महर्षि विश्वामित्र और मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम भगवान् के मुखों से कहलाये गये हैं। इस से इन की महत्ता और अधिक बढ़ गई है। निष्कर्ष यह निकला कि क्षमा करना, दोषों—अपराधों पर ध्यान न देना पिता, माता, गुरु और साधु सन्त का ही काम है। इसी लिए जब परशुरामजी के क्रोध करने पर—गुरु का धनुष तोड़नेवाले को कुठार से काट डालने की धमकी देने पर लक्ष्मणजी ने कुछ टेढ़ी मेढ़ी अनुचित बातें कह दीं जिस के फलस्वरूप परशुरामजी का क्रोध और ज्यादा भड़क उठा, तब विश्वामित्रजी ने उन को यही कहकर समझाया कि भगवन्, आप साधु पुरुष हैं, आप को लड़के की बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि बालक को भला यह ज्ञान कहाँ है कि किस के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, किंतु आप साधु हैं, सज्जन हैं, भला बुरा जानते हैं। इस लिए अनजान के ऊपर जाननेवाले को क्रोध नहीं करना चाहिए। बालक के गुण दोष की आलोचना करना सयानों के लिए हास्यास्पद ही है, लाभदायक नहीं।

रामजी भी यही कहते हैं कि बालक यदि कोई अनुचित और चपलतापूर्ण कार्य भी कर देते हैं, तो माता, पिता और गुरुजन उस पर प्रसन्न ही होते हैं, मन में मुदित होते हैं कि बालक भोंदापन तो नहीं दिखला रहा है ? यदि चञ्चल है और चञ्चलतावश कुछ अनुचित कार्य कर दिया, तो प्रेमपूर्वक समझा देने से गम्भीरता और औचित्य का मार्ग भी ग्रहण कर सकता है। हाँ, यदि भोंदा होता, तो आगे के लिए कोई आशा नहीं की जा सकती थी, और उस हालत में क्रोध करना या उस की बुद्धि पर खेद प्रकट करना सब कुछ उचित हो सकता था। अस्तु,

यही नीति अर्जुन ने भी ग्रहण की और कहा कि हे प्रभो, हे अमित प्रभाववान् परमेश्वर, आप इस चर अचर जगत् के पिता हैं और संसार के सब से बड़े गुरु हैं। आप की बराबरी का न तो कोई पृथिवी पर है, न स्वर्गलोक में और न पाताल में ही; फिर आप से कोई किसी भी अंश में बड़ा अथवा अधिक शक्तिशाली होगा, इस की तो कभी संभावना ही नहीं की जा सकती।

यह सुनकर भगवान् ने कहा—अर्जुन, मैं मानता हूँ कि मैं ही सब का पिता और गुरु हूँ तथा मेरे समान कहीं कोई नहीं है, परंतु मेरे सब कुछ होने से और तेरे अपराधों से क्या संबन्ध है ?

अर्जुन ने कहा—प्रभो, क्या आप को भी बतलाना पड़ेगा कि यह कहकर मैं क्या चाहता हूँ; आप तो सब कुछ जानते ही हैं। पर आप पूछते हैं, तो आप की आज्ञा मानकर अपनी इच्छा को प्रकट कर देना मेरा धर्म है। मैं ने आप को सब जगत् का पिता और सर्वश्रेष्ठ गुरु कहा और आप ने मेरी बात को अपने श्रीमुख से स्वीकृति दी।—

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

इस लिए मैं काया को पूर्णतः झुकाकर, प्रणाम करके स्तवनीय आप परमेश्वर को प्रसन्न करना चाहता हूँ। हे देव, पुत्र का पिता की तरह, मित्र का मित्र की तरह, प्रिया का प्रिय की तरह (आप मेरा अपराध) सहन करने योग्य हैं।

गी० गौ०—हे प्रभो, आप सारे संसार के पिता और गुरु हैं, इस लिए मैं अपने संपूर्ण शरीर को आप के चरणकमलों में अच्छी तरह डालकर कोटिशः प्रणाम करता हूँ और जगत् भर के लिए स्तुति करने के योग्य आप परम प्रभु की प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ पर प्रसन्न हों। हे भगवन्, हे विश्वरूप देव, मैं चाहता हूँ कि पुत्र का अपराध जिस प्रकार पिता क्षमा कर देता है, मित्र का अपराध जिस तरह मित्र सह लेता है और प्यारी का अपराध जिस तरह प्रियतम ध्यान देने की वस्तु नहीं समझता, मेरा अपराध भी उसी तरह आप को सह लेना और मुझ को क्षमा कर देना उचित है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, यह श्लोक भक्तियोगमिश्रित कर्मयोग का इतना दृढ़ उदाहरण उपस्थित करता है जिस की कहीं उपमा मिलनी कठिन है। पुत्र यदि पिता में श्रद्धा नहीं रखेगा, हृदय से पिता की सेवा करना अपना धर्म और कर्म स्वीकार नहीं करेगा, तो उस के अपराधों की संख्या का तो कुछ पूछना ही नहीं है, लेकिन तब भी न तो वह अपने को अपराधी समझेगा और न उन के लिए क्षमा माँगने की उसे आवश्यकता प्रतीत होगी। और यदि कभी दैवयोग से कोई ऐसी गर्ज अटक गई जो बिना पिता की अनुकूलता प्राप्त किये पूरी नहीं हो सकती, तो उस समय क्या होगा? पिता से खिंचे खिंचे रहकर तो उन को अप्रसन्न कर चुके हैं; अब पुत्र महाशय क्या करें? हारकर स्वीकार करना पड़ता है कि पिता श्रद्धा के पात्र हैं, अवहेलना के योग्य नहीं। इस लिए आज तक जो अनुचित व्यवहार उन के साथ किया उस के लिए क्षमा माँगनी और प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। पुत्र के मन में यह विश्वास तो सर्वदा रहता ही है कि मैं चाहे जितनी भी बुराइयाँ करूँ, पर यह कभी हो नहीं सकता कि क्षमायाचना करने पर पिताजी क्षमा न कर दें। इसी विश्वास के आधार पर

नालायक से नालायक पुत्र भी आवश्यकता पड़ने पर पिता से क्षमा माँगता है और पुत्रवत्सल पिता उस के अपराधों को लड़कपन की चञ्चलता समझकर उस को क्षमा कर ही देता है। पिता का हृदय ऐसा होता ही है कि वह आजन्म अपने पुत्र के प्रति क्रोध का भाव रख नहीं सकता।

इसी प्रकार मित्र और प्रिय पत्नी आदि कोई भी अपराधी जब अपने अभिन्न मित्र और पूज्य पति के प्रति अपने को निवेदित करके भूल चूक, जान अनजान में हुए अपराधों के लिए क्षमाप्रार्थी होते हैं, तो मित्र और पति भी उन के पूर्वापराधों पर ध्यान नहीं देते और अपना जानकर अवश्य क्षमा कर देते हैं। यदि इस प्रकार की क्षमाभावना के लिए कोई पूज्य, मित्र, प्रिय आदि अपने हृदयों में स्थान न देते होते, तो आज दिन संसार में सर्वत्र द्वेष, कलह, वैमनस्य, अशान्ति आदि का ही साम्राज्य फैला रहता, कोई भी कुटुम्ब ऐसा न दिखाई पड़ता जहाँ आपस में एक दूसरे से सीधे मुँह बातें करता, हँसी के फुहारे छोड़ता अथवा रोग, व्याधि, कष्ट, संकट में कोई किसी की सेवा शुश्रूषा करता। जब कि मनुष्य का शरीर धारण करने पर कोई निर्दोष रह नहीं सकता, तो पुत्र, मित्र, स्त्री आदि सभी प्रिय जनों से भूले चूके, हास परिहास में, प्रेम मान में अपराध हो जाना अवश्यंभावी है। फिर उन अपराधों को यदि क्षमा करने की प्रथा न चली होती, तो सुख शान्ति का दर्शन ही असंभव हो जाता। इसी लिए प्राचीन काल से ही इस तरह के अपराध भी होते आ रहे हैं और अपराधियों की क्षमाप्रार्थना पर क्षमादान भी चलता आ रहा है।

इस अपराध और क्षमापरंपरा के अंदर भक्तिभाव और कर्तव्यपालन का मधुर स्रोत अबाध गति से बहता रहता है। अपराधी जब समझ लेता है कि मैं जैसे कार्य, जैसी बातें, जैसा हास विलास अपने पूज्य, श्रद्धेय, संमान्य के प्रति अब तक करता आया हूँ वह उचित नहीं रहा है; मुझे तो अपने पूज्य की पूजा करनी चाहिए, अपने श्रद्धेय में श्रद्धा रखनी चाहिए, अपने संमान्य का आदर सत्कार करना चाहिए, तभी वह अपने को अपराधी और क्षमा की भिक्षा माँगने के योग्य समझता है और तभी वह भक्तियुक्त चित्त से क्षमा माँगकर वास्तविक रूप से अपने कर्तव्य कर्म का पालन कर पाता है। ऐसी ही दशा में उस को क्षमा की प्राप्ति भी होती है। पूज्य, श्रद्धेय, संमान्य को जब पूर्ण निश्चय हो जाता है कि मेरा पुत्र, मित्र, कलत्र वस्तुतः अब अपने अनुचित कर्मों के लिए पश्चात्ताप कर रहा है, अब से वह वैसे कर्म नहीं करेगा, तभी वह क्षमा प्रदान करता है।

यह बात वास्तविक अपराधी और उस के पूज्य आदि के बीच में संघटित होती है। फिर यदि अपने को अपराधी समझनेवाले ने केवल भक्ति की प्रबलता से अपने प्रति अपराध-कर्तृत्व की कल्पना कर ली हो, वास्तव में उस ने अपने पिता, गुरु, मित्र आदि किसी के प्रति

कभी अनुचित व्यवहार किया भी न हो, सर्वदा उस की भक्ति में ही सराबोर रहता आया हो, तब तो उस की क्षमायाचना की उत्कृष्टता और महत्ता को कहना ही क्या है। उस दशा में तो पूज्यवर्ग अपने प्रियपात्र की नम्रता देखकर फूला नहीं समा सकता, उस समय तो उस के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जायगी जो अपने प्रियजन के लिए अदेय कहला सके, उस समय तो वह अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, भक्त, उपासक के ऊपर इतना प्रसन्न हो जायगा कि उस की प्रसन्नता एक भावगम्य वस्तु न रहकर सचमुच ही मूर्तरूप धारण कर लेगी।

अर्जुन इसी कोटि का अपराधी है। अर्जुन अपने हृदय में चिरन्तन काल से भगवान् की भक्ति धारण करता आ रहा है, उस ने भगवान् को अपना स्नेही मित्र और प्रिय श्यालक (साला) मानते हुए भी उन को अपना उपदेष्टा गुरु और पूज्य पथप्रदर्शक ही माना है। अर्जुन के मन में भगवान् के लिए यदि ऐसे भावों का पोषण न होता आया होता, अर्जुन ने यदि श्री कृष्ण को भक्तिप्राप्य भगवान् और आत्मसमर्पणैकलभ्य (केवल आत्मसमर्पण द्वारा ही प्राप्त होने योग्य) गुरु मानने का अभ्यास न किया होता, तो दोनों सेनाओं के बीच में आकर सद्यः भविष्य में होनेवाली महासंहारकारिणी युद्धकल्पना से घबड़ाकर एकाएक उस ने यह कदापि न कहा होता कि मेरी प्रकृति में जड़ता आ गई है, कर्तव्य अकर्तव्य, धर्म अधर्म को पहचान करने में मेरी बुद्धि कुण्ठित हो रही है, इस लिए आप से शान्ति का उपाय पूछता हूँ, मैं आप की शरण में आया हुआ आप का शिष्य हूँ, आप मेरे लिए निश्चित श्रेयस्कर—कल्याणकारी—मार्ग का उपदेश दें, मुझ को समुचित उपाय सुझानेवाली बुद्धि प्रदान करें। यथा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

—गी० २।७

अर्जुन के इस पूर्वकथन से ज्ञात होता है कि वह शरारती लड़के या मगरूर चेले की तरह नालायकी करनेवाला कभी नहीं था, वह पिता, गुरु, शास्त्र आदि के वचनों में अश्रद्धा करनेवाला अथवा उन की सेवा, शुश्रूषा, आदर, संमान में ढिलाई लानेवाला कभी नहीं रहा। वह सदा का भक्त और सेवक ही रहा है। इस लिए उस ने कभी भूल से भी भगवान् की सेवा में त्रुटि या उन के मान संमान में उपेक्षा की हो, ऐसा संभव नहीं मालूम होता। प्रश्न होता है कि तब उस ने अपने को क्षम्य और भगवान् को अपराध क्षमा करने के योग्य क्यों कहा? जब अपराध होने की संभावना ही नहीं है, तब फिर उस के लिए क्षमा माँगने का क्या अर्थ है? अर्जुन का ऐसा करना और कहना तो व्यर्थ का प्रपञ्च ही मालूम होता है? उत्तर है कि उस के क्षमा माँगने का भी अर्थ है ही, उस का कुछ भी करना और कहना व्यर्थ नहीं है। कारण, भगवान् को अब के पहले अर्जुन ने जितने अंशों में समर्थ समझा था,

भगवान् के जितने सामर्थ्य को उस ने प्रत्यक्ष रूप से या अनुमान से जाना था उतने ही अंश तक वह उन की भक्ति करता आया था, उतने ही सामर्थ्य की उस ने उपासना की थी। और आज अर्जुन को भगवान् की असीम शक्ति, अनन्त रूप, अप्रमेय सामर्थ्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया है। अर्जुन ने आज देख लिया है कि अब तक मैं ने इन को जितना समझा था वह से तो ये बहुत विशाल हैं जिस की कोई हद ही नहीं है। ऐसा ज्ञान होते ही उस को आज तक की अवधि में की हुई भक्ति, उपासना, श्रद्धा, विश्वास, पूजा, अर्चा, सेवा, शुश्रूषा सभी थोड़ी जान पड़ने लगी, सभी में उस को ऐसा दिखाई देने लगा, मानों मैं ने वस्तुतः कुछ न करके सब बातों में भगवान् की मर्यादा का, उन के रूप, गुण, शक्ति, सामर्थ्य का उपहास और अपमान ही किया है। परंतु इस के साथ ही साथ वह यह भी जानता था कि यह सब मैं ने जान बूझकर नहीं किया है, बल्कि अनजान में, प्रमाद और प्रेमान्धता से किया है। जानने भर में तो मैं ने सब तरह से बड़ा ही समझा और सर्वदा इसी प्रकार का व्यवहार किया है जिस से इन के सम्मान में बट्टा न लग सके। इस लिए उस को यह भी विश्वास था कि मेरे इन प्रामादिक और प्रेमोत्थित अपराधों को ये अवश्य क्षमा कर देंगे, और करना ही चाहिए। अस्तु।

इसी अभिप्राय से अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो, आप सब के पिता और परम पूज्य श्रेष्ठतम गुरु हैं, इस लिए मैं अपने शरीर को आप के चरणों पर झुकाकर, साष्टाङ्ग प्रणाम करके सब के द्वारा स्तुति करने योग्य आप परमेश्वर को प्रसन्न करना चाहता हूँ। हे देव, जैसे पिता पुत्र का, मित्र मित्र का, प्रियतम प्रियतमा के अपराध क्षमा कर देता है उसी प्रकार आप मेरे अपराधों को सहन करने अर्थात् क्षमा देने के योग्य हैं।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन, तूँ इतना व्याकुल क्यों हो रहा है? तूँ ने प्रार्थना की और मैं ने अपना विराट् रूप दिखलाया, इस में मेरी उदारता क्या है कि तूँ प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना कर रहा है? मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि तूँ क्यों इस प्रकार व्यग्र होकर बार बार क्षमा माँगता है और मुझ से अब क्या कराना चाहता है?

अर्जुन ने कहा—भगवन्, यह आप की असीम कृपा है कि आप ने मेरी प्रार्थना स्वीकार की और मुझ को विराट् रूप का दर्शन कराया, परंतु हे प्रभो, मैं यह—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

पहले न देखा हुआ (रूप) देखकर हर्षित हुआ हूँ, फिर भी भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथा को प्राप्त हो गया है । (इस लिए) हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्नता प्रकट करें; हे देव, उस रूप को ही मुझ को दिखलायें।

गी० गौ०—हे भगवन्, आज के पहले कभी भी न देखे हुए आप के इस विराट् विश्वरूप को पहले पहल देखकर मुझ को अपार हर्ष हुआ है, किंतु हे जगदाधार, इस रूप की विकरालता और अनन्तता को देखने से मेरे मन में इतना भय घुस गया है कि वह बिल्कुल व्याकुल हो गया है, व्यग्रता के कारण मन का धैर्य गायब हो गया है। इस लिए हे देवाधिदेव, परमेश्वर, मैं अब यह प्रार्थना करता हूँ कि मुझ पर प्रसन्न होकर आप फिर से मुझ को वही पहलेवाला नित्य सुन्दर रूप दिखलाने की कृपा करें। तात्पर्य यह कि मुझ ससीम में अब अधिक देर तक यह असीम रूप देखने की शक्ति नहीं रह गई है । इस लिए इस रूप को अन्तर्हित करके (अपने में छिपाकर) आप वही पहले के कृष्ण हो जायँ।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन के बार बार साष्टाङ्ग प्रणाम करने और प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करने पर भगवान् ने उस से व्याकुलता का कारण और अपनी प्रसन्नता का उस का मनोभिलषित रूप पूछा। बात ठीक ही थी, क्योंकि भगवान् ने कुछ अपने मन से तो वह विराट् रूप दिखलाया नहीं था और न वे अर्जुन के ऊपर रुष्ट ही थे। ऐसी हालत में जब तक अर्जुन स्वयं न बतला दे कि वह क्यों घबड़ाकर प्रणामों की झड़ी लगा रहा है और किस प्रकार की भगवान् की प्रसन्नता चाहता है तब तक भगवान् भला किस उपाय से उस की व्याकुलता दूर करते तथा क्या करके अपनी प्रसन्नता प्रकट करते ? परंतु अर्जुन के लिए यह स्वाभाविक प्रश्न ही बड़ा जटिल हो गया। कारण, वह यह कैसे कहे कि अब अपने प्रलयकर रूप का दर्शन मत दीजिए, यही रूप मेरी व्याकुलता का कारण है; क्योंकि उस रूप को तो स्वयं उसी ने प्रकट कराया था, अब कैसे अपनी बात बदले ? परंतु था वह काफी होशियार, इस में संदेह नहीं। उस को तुरंत युक्ति सूझ गई कि क्या कहकर उस रूप की प्रशंसा की रक्षा भी करूँ और उस के भयानक दर्शन से छुटकारा भी पा जाऊँ ? उस ने अपनी घबड़ाहट के कारण को स्पष्टतः प्रकट नहीं किया, थोड़ा घुमाकर कारण बतलाया। कहा कि मैं केवल घबड़ाया ही होऊँ, ऐसी बात नहीं है, मैं प्रसन्न भी हूँ। आप ने मुझ पर कृपा करके यह अद्भुत रूप दिखलाया जिस को देखने का सौभाग्य आज तक किसी को नहीं मिला था। औरों की तो बात ही क्या, आप का इतना निकट संबन्धी और घनिष्ठ मित्र होकर स्वयं मैं ने भी इस रूप को आज के पहले नहीं देखा था। सो इस अपूर्व रूप को देखकर तो मुझे इतना हर्ष हो रहा है जिस का ठिकाना

नहीं, लेकिन डर से हृदय भी घबड़ा गया है। सच ही है, जिस चीज को कभी न देखा हो उस को पहले पहल देखने पर उत्सुकतापूर्ण एक विचित्र प्रकार का आनन्द और हर्ष होता ही है। चिड़ियाखानों और अजायबघरों में रहनेवाले खूँखार शेरों और भयानक साँपों को छोटे छोटे बच्चे तक बड़े चाव से देखते हैं, उन को खुशी भी होती ही है कि हम ने आज विचित्र जीव देखा। परंतु क्या केवल खुशी ही होती है ? किसी प्रकार का भय नहीं होता ? अवश्य होता है। शेर पिंजड़े में बंद रहता है, उस के बाहर निकलने और चोट करने की बिलकुल संभावना तक नहीं रहती, पर जहाँ उस शेर ने अँगड़ाई लेकर जरा मुँह बाया कि कितने ही बच्चे सयाने उस के कठघरे से दूर जा खड़े होते हैं। और अगर शेर कहीं एक बार कस के गुर्रा देता है, तब तो मैं ने देखा है, कोई कोई घबड़ाकर, डर के मारे खुद भी चिल्ला देते हैं और कोई कोई विक्षिप्त होकर गिर भी पड़ते हैं। इसी तरह पुस्तकों में घनघोर जंगलों और आकाशचुम्बी पर्वतों की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन पढ़ पढ़कर लोगों के मन में उन्हें देखने की बड़ी उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है, सभी पढ़नेवाले चाहते हैं कि किसी तरह उन सुन्दर दृश्यों का प्रत्यक्ष आनन्द लूटें। परंतु सब को इतना अवकाश, धन, सुभीता कहाँ कि अपनी उत्सुकता को चरितार्थ करें। हाँ, कोई कोई भाग्यवान् अवश्य अपनी इच्छा को फलवती करने के लिए वन पर्वत का भ्रमण करने निकल पड़ते हैं। ईश्वर की कृपा से मैं ने भी अनेक जंगलों और पहाड़ों को देखा है। साथ ही प्रकृतिपर्यवेक्षक मनचले यात्रियों को भी वन में भ्रमण करते पाया है। वन में बहुत से यात्री देखे देखे गये जो पहले तो पर्वत की ऊँचाई, उस के दरों में बहनेवाले बड़े बड़े नाले, तंग खाइयाँ आदि देखकर वाह वाह कर उठे और कहने लगे कि वस्तुतः प्रकृति सुन्दरी ने अपने रहने के निजी स्थान को सुन्दरता देने में जरा भी मितव्ययिता नहीं की है, खूब शाहखर्ची दिखलाई है, पर कुछ ही देर में उन में से कितनों के पैर काँपने लगते थे, सिर चकराने लगता था और आँखें बंद करके उन्हें बैठ जाने के लिए बाध्य होना पड़ता था।

इन उदाहरणों को अब मैं याद करता हूँ, तो मुझे अर्जुन को इस श्लोक में *वर्णित दशा* का बहुत कुछ प्रत्यक्ष की तरह भान होने लगता है। भयंकर से भयंकर वस्तु पहले उत्सुकता-पूर्ण आनन्द का ही संचार अपने द्रष्टा में करती है। देखनेवाला यदि पहले से जानता भी रहता है कि अमुक वस्तु को देखने पर अमुक को मूर्च्छा आ गई थी, घबड़ाहट से सन्निपात हो गया था, तो भी वह उसी वस्तु के सामने पड़ जाने पर कम से कम एक बार उस को आँख भर देख लेने के लिए लालायित हो उठता है, आगे आनेवाली उद्विग्नता को स्मरण करता हुआ भी वह अपनी आँखों को उस भयोत्पादक दृश्य के देखने से रोक नहीं पाता, क्योंकि इस में भी उसे एक प्रकार के आनन्द का आभास मिलता है। फिर जिस वस्तु को कभी देखा नहीं, न सुना ही है, वह चाहे कितनी भी भयानक क्यों न हो, पहले पहल उस को देखने पर हर्ष

मालूम होना, कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है और बाद में जी भर देख लेने पर उस के भावी भयंकर परिणाम को स्मरण कर भयाकुल हो जाना तो स्वाभाविक ही है।

अर्जुन ने आनन्द के साथ पहले का न देखा हुआ भयानक विराट् रूप चारों ओर से निगाह गड़ा गड़ाकर देखा, परन्तु बाद में उस को जब संसार का संहार होना दिखलाई पड़ने लगा, तो वह व्याकुल हो गया। तब भगवान् से प्रार्थना की कि प्रभो, मुझ को क्षमा कीजिए, मैं ने आप को नहीं जाना था कि आप ऐसे हैं। इसी लिए बहुत तरह के अपराध किया और अन्त में जिद करके आप का व्यापक रूप देखना चाहा। आप ने कृपा की और मुझ को अपना व्यापक रूप दिखलाया। मैं इस को देखकर एक नवीन वस्तु देखने से उत्पन्न होनेवाले आनन्द का पूर्ण अनुभव कर रहा हूँ, किंतु इस रूप से भयंकर विनाश की जो परंपरा जारी हो गई है, इस रूप के बड़े बड़े अग्निकुण्डसदृश मुख और भयंकर दंष्ट्रा (दाढ़) जो जगत्संहार में शीघ्रता दिखला रहे हैं वह सब देखकर मेरा चित्त ठिकाने नहीं रह गया है; शान्ति, धैर्य, सुख आदि मेरे लिए दुर्लभ हो गये हैं। इस लिए हे सर्वदेवेश्वर, हे विश्वाधार, अब आप प्रसन्न हो जाइए और कृपाकर वही पहलेवाला रूप मुझ को दिखलाइए; आप का यह रूप देखने की शक्ति अब मुझ में नहीं रह गई है। इस लिए अब मुझ को क्षमा कीजिए।

यह प्रार्थना सुनकर भगवान् ने कहा—'वही रूप' कहकर तू मेरे किस रूप की बात कह रहा है ? मैं तुझे बतला चुका हूँ कि मेरा एक रूप नहीं है। तू यह भी जानता है कि मेरे अनन्त रूप हैं। यह भी तुझ से अविज्ञात नहीं कि मेरा कोई भी रूप नया नहीं होता, मेरे सब के सब रूप अनादि हैं। अतः साफ साफ बतला कि 'वही रूप दिखलाए' कहकर तू मेरे कौन से रूप को देखना चाहता है, अब मैं तेरे लिए कैसा रूप धारण करूँ ?

अर्जुन ने कहा—भगवन्, मैं अब किसी वे देखे सुने नये रूप को देखने की प्रार्थना नहीं कर सकता; आप का नया और अनन्त रूप देखकर मैं तृप्त हो चुका हूँ। अब तो मैं वही रूप देखना चाहता हूँ जो जन्मकाल से लेकर आज तक देखता आया हूँ अर्थात्—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

मैं आप को पूर्ववत् ही किरीट लगाये, हाथ में चक्र लिये, गदा धारण किये देखने की इच्छा करता हूँ। (इस लिए) हे सहस्रबाहो, हे विश्व-व्यापक मूर्तिधारिन्, (आप) उसी चतुर्भुज से (स्थित) हों।

गी० गौ०—हे प्रभो, अब मैं आप को पहले ही जैसा देखना चाहता हूँ, जैसा कि सिर पर किरीट मुकुट लगाकर, हाथों में गदा और चक्र लेकर सुन्दर स्वरूप में सर्वदा आप मेरे नेत्रों के संमुख रहा करते थे। इस लिए हे अनन्तबाहु धारण करनेवाले विश्वस्वरूपी देव, अब आप कृपा करें और उस पहलेवाले चार भुजाओं से युक्त वासुदेव के रूप में ही मेरे सामने प्रकट हो जायें।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, अर्जुन अब अपनी इच्छा की स्पष्ट व्याख्या करके बतला रहा है कि वह भगवान् को अब किस रूप में देखना चाहता है। पहले उस ने किरीटवाला, गदावाला और चक्रवाला कहा, पर ये सब बातें तो इस विश्वरूप में भी वर्तमान थीं। विराट् देव का वर्णन करते हुए उस ने प्रारम्भ में ही देखकर कहा था कि—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजो राशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥

मैं आप को किरीटवाला, गदावाला, चक्रवाला, तेज की ढेरी के रूप में, चारों ओर प्रकाश फैलाता हुआ, तपते हुए सूर्य और अग्नि के समान जगमगानेवाला, कठिनाई से दिखाई देनेवाला देख रहा हूँ। फिर अब भी जब उस ने वैसा ही वर्णन किया कि मैं आप को किरीटवाला, हाथों में गदा और चक्र धारण किये हुए पहले ही की तरह देखना चाहता हूँ, तो उस को मालूम हुआ कि ये सब चिह्न और लक्षण तो मेरे सामने वर्तमान विराट् देव के शरीर में भी मौजूद हैं। तब उस ने तुरंत ही फिर कहा कि ये सब चिह्न अब मैं आप के उस शरीर में देखना चाहता हूँ जो चार ही भुजाओंवाला प्रसिद्ध रूप है। इस विश्वव्यापक, असंख्य बाहुयुक्त रूप में इन चिह्नों को तो मैं देख ही रहा हूँ, इस लिए अब उसी पुराने चतुर्भुज रूप में ये सब अस्त्र शस्त्र धारण किये हुए आप प्रकट हों।

अर्जुन के इस कथन से सिद्ध होता है कि संसार भर को चाहे श्री कृष्ण भगवान् सर्वदा दो ही हाथोंवाले दिखलाई देते रहे हों, पर अर्जुन उन को सदा उसी रूप में देखता रहा जिस रूप में उन्होंने वसुदेव देवकी के संमुख कंस के कारागार में अवतार लिया था। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म से युक्त, अपने प्रकाश से घोर तमसाच्छन्न जेलखाने की कोठरी को प्रकाशित करते हुए दिव्य स्वरूप से उन्होंने जन्म लेकर वसुदेव देवकी को सान्त्वना दी थी कि अब मैं आप लोगों को कष्टमुक्त करने के लिए आ गया हूँ, अतः अब आप दुःख को त्यागकर प्रसन्न हो जायँ। उस के बाद देवकी के मातृहृदय ने इन्हें अपने पुत्र के रूप में उसी प्रकार देखना चाहा जैसा सर्वसाधारण संसारी देखा करते हैं। इस लिए देवकी ने प्रार्थना की कि हे प्रभो, यह रूप छोड़कर अब आप मेरे संसारी पुत्र के रूप में हो जाइए। भगवान् ने उन की प्रार्थना मानकर अलौकिकता को अपने में ही छिपा लिया और दो हाथों से युक्त नन्हें से शिशु बनना

स्वीकार किया। उन का वही रूप सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। गोप, गोपी, ग्वाल, बाल, सखा, साथी सब लोग भगवान् को दो ही हाथोंवाले देखते थे। परंतु इस में एक रहस्य था। वह यह कि जो लोग भगवान् को द्विभुज देखते थे उस में उन देखनेवालों की दृष्टि का अथवा मानसिक भावनाओं का दोष था अर्थात् वे देखनेवाले भगवान् को जगदीश्वर के रूप में न देखकर अपने भावानुसार सगे संबन्धी के रूप में ही देखते थे। इसी से उन को वह अलौकिक रूप भी लौकिक की ही तरह दिखलाई पड़ता था। जिन लोगों ने भगवान् को लौकिक व्यक्ति न समझकर अलौकिक पुरुषोत्तम समझने की बुद्धिमानी की उन्हें तो हमेशा भगवान् चतुर्भुज ही दिखलाई पड़े। इस बात का एक नहीं, अनेक प्रमाण मौजूद हैं।

१—वसुदेव के यहाँ से अर्थात् कंस के जेलखाने से जाने के बाद सब से पहले भगवान् का चतुर्भुज रूप यमलार्जुन (अर्जुन नामक दो शापग्रस्तवृक्षों) ने देखा था। यह गोकुल की कथा है। भगवान् के बार बार माखनचोरी करने से तंग आकर यशोदा ने उन को काठ की ओखल में बाँध दिया। भगवान् ओखल को घसीटते हुए इधर उधर दौड़ने लगे। यशोदा ने क्रोध से बिगड़कर अपने दर्वाज़े पर खड़े अर्जुन के उन दो वृक्षों के बीच में ओखल को फँसा दिया जो दोनों वृक्ष एक साथ ही उत्पन्न होने के कारण यमल (जोड़ुआँ) नाम से प्रसिद्ध थे। ये दोनों पहले कुबेर के पुत्र थे। इन में एक का नाम नलकूबर और दूसरे का मणिग्रीव था। कुबेर के धन वैभव का भला क्या पूछना ? वे समस्त सृष्टि के धनाध्यक्ष ही ठहरे और अपने पिता के धन को सभी पुत्र अपना समझते ही हैं। नलकुबेर और मणिग्रीव जब युवक हुए, तो धनाभिमान से प्रमत्त होकर नग्नरूप से विलासिता में कूद पड़े। अपनी विलासिता को चरितार्थ करने के लिए वे किसी भी उचित या अनुचित तरीके को काम में लाने में ज़रा भी न हिचकते। एक बार कुछ स्त्रियाँ नंगी होकर एक तालाब में स्नान कर रही थीं ; उन बिचारियों ने यथासंभव अपने को वृक्षों की ओट में काफी छिपा रखा था, पर आकाश गमन की शक्ति रखनेवाले कुबेर के दोनों पुत्रों ने उन्हें देख लिया। अब भला ये वहाँ से क्यों हटते ? इन की तो आदत ही पड़ चुकी थी कि जैसे हो वैसे परस्त्रियों के पीछे पड़े रहना, आँख लड़ाना, कुचेष्टा प्रकट करना। ये दोनों ध्यान लगाकर उन स्त्रियों का नहाना देखने लगे। इतने में नारदजी कहीं से घूमते घामते आ पहुँचे। उन्होंने इन की दुष्टता देखी, तो इन को सुधारने के लिए शाप दे दिया कि तुम दोनों वृक्ष हो जाओ। कुबेरपुत्र बड़े घबड़ाये, उन की सारी विलासिता की चेष्टाएँ धूल में मिल गईं, लगे हाथ जोड़ने, पैर पड़ने। नारदजी को दया आ गई। उन्होंने शाप का परिहार बतलाया कि भगवान् कृष्ण को ध्यान में रखकर गोकुल में यशोदा के दर्वाज़े पर वृक्ष की योनि में रहकर समय बिताओ। जब कृष्णावतार होगा, तो तुम मुक्त हो जाओगे।

भगवान् इन्हीं दोनों वृक्षों के बीच में ओखलसहित फँसा रखे गये थे, कुछ देर तो भगवान् ने कुछ नहीं किया, पर यशोदाजी ज्यों ही उन की आखों से ओझल हुईं त्यों ही भगवान् ने फिर ओखल को खींचना शुरू कर दिया। बीच में वृक्षों ने उन के इस काम में रुकावट डाली, तो इन्होंने उन को भी ओखल के साथ ही खींच लिया। दोनों वृक्ष कटे हुए केले के खंभे की तरह जमीन पर गिर पड़े और दोनों की जड़ों में से नलकूबर और मणिग्रीव अपने पूर्वरूप में प्रकट होकर भगवान् की स्तुति करने लगे। भगवान् के स्पर्श से उन का शापमोचन हो गया। बिचारे सुदीर्घ काल से भगवान् को स्मरण करते करते पूर्ण भक्त बन चुके थे, अतः भगवान् को उन्होंने चतुर्भुज रूप में ही देखा और उसी के अनुसार उन की स्तुति की।

२—इस के बाद वृन्दावन में उन का चतुर्भुज रूप देखा इन्द्र ने। यह गोवर्धनलीला के समय की बात है। इन्द्र को अपनी पूजा न मिलने से क्रोध हुआ था। इन्होंने प्रलयमेघ बरसाकर वृन्दावन को बहाना चाहा था, पर मेघ जब असफलमनोरथ होकर लौट गये और अपने सामर्थ्य की बरबादी का हाल इन्द्र से बतलाया, तो इन्द्र की आँखें खुलीं, भक्ति का स्रोत बह चला और वे भगवान् के चरणों पर आकर गिर पड़े। उस समय भी भगवान् ने चतुर्भुजरूप में ही दर्शन दिया।

३—फिर ब्रह्माजी को मोह हुआ। उन्होंने वृन्दावन की गौओं को, बछड़ों को और बाल बच्चों को अज्ञान से छिपा दिया। भगवान् ने अपनी महिमा दिखलाकर उन की भी आँखें खोलीं। ब्रह्माजी भक्ति गद्गद होकर भगवान् के चरणों पर गिरे और तब उन्हें भी चतुर्भुज रूप का दर्शन मिला।

४—बाद में नन्दजी आधी रात को यमुनास्नान करने गये। वरुण के चरों ने नियमानुसार उन्हें गिरफ्तार कर वरुणलोक पहुँचाया। वृन्दावन में नन्द के न लौटने पर हड़बड़ी मची। कृष्णजी पता लगाते हुए वरुणदेव के घर पहुँचे। महिमा जानकर वरुण ने बार बार क्षमा माँगी, पैरों पर मस्तक झुकाया और अन्त में चतुर्भुज भगवान् का दर्शन पाकर कृतार्थता ग्रहण की।

५—दशावतार की लीला दिखलाने के समय समस्त वृन्दावनवासियों को सभी अवतारों के चतुर्भुजरूपदर्शन का सौभाग्य मिला था।

६—अन्त में कंस को मारने के बाद जो देवता लोग भगवान् की स्तुति करने आये थे उन्हें भी भगवान् ने अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया था। इसी प्रकार और भी बहुत भक्तों को समय समय पर उन का यह रूप देखने को मिल जाया करता था। परन्तु अर्जुन तो अनन्य भक्त था। उस की बराबरी का तो कोई भक्त था ही नहीं। इस लिए वह समय समय पर नहीं, बल्कि सर्वदा ही भगवान् के चतुर्भुज रूप का ही दर्शन किया करता था।

समय समय पर जिन भक्तों को भगवान् ने अपने चतुर्भुजरूप का दर्शन कराया था उन में पाण्डवों की माता कुन्ती और पितामह भीष्म का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। इन लोगों को भगवान् के चतुर्भुजरूप का दर्शन महाभारतयुद्ध समाप्त होने के बाद मिला था जैसा कि निम्नलिखित कथा से आप लोगों को ज्ञात हो जायगा।

कुन्ती को चतुर्भुजी भगवान् का दर्शन मिलने की कथा इस प्रकार है कि महाभारत में अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य को जब धोखा देकर मार डाला गया, तो उस समाचार को पाकर अश्वत्थामा को बड़ा भयंकर क्रोध हुआ। अश्वत्थामा ने प्रतिज्ञा की कि जिस ने मुझ जीवित को ही मृत बतलाकर मेरे पिता को अस्त्रत्याग के लिए विवश किया और निरस्त्र पिता के ऊपर घात करके उन का सिर कटवाया उस के एक भी कुटुम्बी या वंशज को मैं जीवित नहीं रहने दूँगा और इस प्रकार पुत्रमरण की झूठी खबर सुनाकर हत्या करनेवालों को मैं प्रत्यक्ष ही शोकाकुल और प्राणविमुक्त होने के लिए बाध्य करूँगा।

क्रोध में आकर अश्वत्थामा ने पाण्डवों को मारने की प्रतिज्ञा तो कर ली, पर क्रोध जब कुछ कम हुआ, तो उस को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना साधारण काम नहीं जान पड़ा। इस का कारण भी स्पष्ट ही है। अश्वत्थामा को सोचना पड़ा कि जिन पाण्डवों ने अपनी वीरता से सभी संमुख होकर लड़नेवालों को पराजित कर दिया उन पाँच महारथी वीरों को मैं अकेला किस प्रकार मार सकूँगा? युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव को चाहे किसी तरह अपने पराक्रम से नीचा भी दिखा दूँ, यद्यपि यह काम भी उतना सरल नहीं है, क्योंकि ये तीनों भी साधारण योद्धामात्र नहीं हैं; पर भीम और अर्जुन को तो निश्चय ही मैं संमुख युद्ध में किसी तरह नहीं पा सकता हूँ। तब प्रतिज्ञा किस उपाय से पूरी हो? क्या मैं भी इन धोखेबाजों के साथ धोखेबाजी ही करूँ? अश्वत्थामा की अन्तःप्रवृत्तियों में द्वन्द्व मच गया।

उस की दुष्प्रवृत्ति (अविवेक) ने कहा—हाँ, इस में हर्ज ही क्या है?

विवेक ने कहा—लेकिन मैं क्षत्रिय तो हूँ नहीं कि राज्य पाने के लिए मुझे कुटिल या सरल सब तरह की नीति से काम लेना चाहिए। मैं तो ब्राह्मण हूँ, अतः मुझ को क्या अधर्म-पूर्ण कुटिलता का मार्ग ग्रहण करना चाहिए?

अविवेक ने कहा—ब्राह्मण जब के लिए हो, तब के लिए। इस समय तो तुम ने क्षत्रियों का ही धर्म अपनाया है, दुर्योधन की सैनिक सहायता स्वीकार की है। इस लिए इस समय तो तुम्हें 'जैसा को तैसा' वाली नीति ही अपनानी चाहिए। पाण्डवों ने झूठ बोलकर, धोखा देकर तुम्हारे पिता की हत्या की है। तुम भी उलटे सीधे किसी भी मार्ग से इस का बदला लेने के लिए स्वतन्त्र हो। इस में तुम्हारे ब्राह्मणत्व की कोई निन्दा नहीं कर सकता।

विवेक को कुछ युक्तिसंगत उत्तर नहीं मिला, वह बगलें झाँकने लगा।

अविवेक को मौका मिला, उस ने जोर देते हुए कहा—सच पूछो, तो इस समय इस प्रकार की अनवसर और अनुपयोगी बातें सोचने से तुम्हें कर्तव्यभ्रष्ट होने का पाप ही लगेगा। शत्रुओं ने तुम्हारे पिता की नृशंस रूप से हत्या की है, तुम ने उन से बदला लेने की प्रतिज्ञा की है, इस लिए इस समय सब तरह से तुम्हारा यही कर्तव्य है कि अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, अपने पिता के वध का बदला चुकाओ।

अश्वत्थामा ने कहा—ठीक है, नीचों, दुष्टों, शठों, गुरुहन्ता पापियों से श्रेष्ठता, सज्जनता, सभ्यता, धार्मिकता का व्यवहार करने की बात सोचनी भी इस समय कायरता ही गिनी जायगी। इन के साथ तो इन से भी बड़ा नीच बनकर बदला चुकाना पड़ेगा। उन पापियों ने खुले मैदान झूठ बोलकर मेरे पिता से शस्त्रत्याग कराया, मैं चुप रहकर रात को सोते समय उन के शरीरों से प्राणों का त्याग कराऊँगा। बस, यही एक उपाय है और यही है मेरा अन्तिम निश्चय।

सन्नाटी रात, घोर अन्धकार का साम्राज्य, कहीं पत्ता तक हिलने का शब्द नहीं, दिन भर के थके सैनिक और सेनापति अपने अपने शिविरों में घोर निद्रा में निमग्न थे। अश्वत्थामा काले वस्त्रों से अपने शरीर को छिपाकर इस प्रकार अपने शिविर से बाहर निकला, मानों वह भी काली रजनी का कहीं पीछे भूला हुआ कोई टुकड़ा हो जो अब दौड़कर उसी में मिल जाने के लिए लपका चला आ रहा हो। वह बिल्ली की तरह धीरे धीरे पैर रखता हुआ पाण्डवों के शिविर में जा पहुँचा और गौर से चारों ओर आँखें घुमा घुमाकर हिजगमाई करने लगा कि कहीं से कोई देख तो नहीं रहा है? जब उसे पूरा विश्वास हो गया कि कहीं कोई विघ्न डालनेवाला नहीं है, तो वह दर्वाजे पर पड़ा हुआ पर्दा उठाकर उस के भीतर घुस गया। भीतर जाते ही उस ने देखा कि आज पाण्डव लोग जैसे पहले से ही मरने की तैयारी करके सोये हैं। राजसी बिछौनों पर अलग अलग कोठरियों में रहनेवाले पाण्डव आज पृथिवी पर ही कम्बल दरी वगैरह बिछाकर एक ही जगह पाँचों सोये हुए हैं। यह दृश्य देखकर अश्वत्थामा ने सोचा—विधाता को भी यही स्वीकार मालूम होता है कि मेरे हाथों सुषुप्तावस्था में एक साथ ही इन का संहार हो। इन विचारों ने अश्वत्थामा का साहस कई गुना बढ़ा दिया। उस ने म्यान से तलवार निकाल दनादन पाँचों के सिर धड़ से अलग कर दिये। उस का क्रूर हृदय अपनी पैशाचिक कृति पर अपने आप प्रसन्न हो उठा। उस ने जोरों के साथ ठहाका लगाकर आसुरी भाव प्रकट करते हुए हँसना चाहा, पर तुरत उसे ख्याल आ गया कि अरे, यह तो शत्रु का शिविर है, यहाँ प्रसन्नता प्रकट करने का उलटा परिणाम मिलने लगेगा। इस लिए अब अपने शिविर में चलकर महाराज दुर्योधन के सामने ही आनन्द प्रकट करना

चाहिए जहाँ इस के लिए पारितोषिक मिलनेवाला है। फिर उस ने सोचा कि दुर्योधन कदाचित् मेरे कहने पर एकाएक विश्वास न करें तब क्या होगा? क्या उन से कह दूँगा कि आप गुप्तचर भेजकर शत्रुशिविर से समाचार मँगवा लें? परंतु तब भी तो वे कह सकते हैं कि पाण्डवों को तुम ने ही मारा है, इस का क्या प्रमाण है? तब? तब यही कि मैं इन पाँचों के सिर अपने साथ लेता चलूँ और ले चलकर दुर्योधन के सामने अपनी बहादुरी का प्रमाणसहित वर्णन सुनाऊँ। हाँ, बस यही ठीक उपाय है।

अश्वत्थामा ने पाँचों सिर उठा लिये और तेजी के साथ दौड़ता हुआ दुर्योधन के सामने जा खड़ा हुआ। दुर्योधन अपनी हार पर हार होने से बड़ा चिन्तित था। रात भर उस को नींद नहीं आई थी। उस ने कभी स्वप्न में नहीं सोचा था कि संसार की कोई भी शक्ति पितामह भीष्म या गुरु द्रोण का कुछ अनिष्ट कर सकेगी। किंतु वही अकल्पित घटना जब प्रत्यक्ष होकर संघटित हो गई, पितामह अर्जुन के बाणों से विद्ध हो, लड़ने में अशक्त होकर बाणशय्या पर पड़ गये और द्रोणाचार्य संसार से ही कूच कर गये, तो विचारे की नींद हराम होना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं थी। दुर्योधन ने सिर उठाकर देखा कि अश्वत्थामा सामने खड़ा होकर बड़े भयंकर रूप से हँस रहा है। उसे आश्चर्य हुआ और वह सोचने लगा कि अपने पिता की मृत्यु से यह ब्राह्मणपुत्र शोक के मारे पागल तो नहीं हो गया है? इस प्रकार सुनसान रात में हाथ में नंगी तलवार लिये यह मेरे पास किस विचार से आया है और क्यों हँस रहा है?

दुर्योधन की चिन्ता भङ्ग करते हुए अश्वत्थामा ने कहा—राजन्, अब आप निष्कण्टक राज्य करें, आप के बलवान् शत्रुओं को मारकर मैं ने आप के लिए पृथिवी को कण्टकरहित कर दिया। यह देखिए, ये पाँचों पाण्डवों के पाँच सिर हैं।

इतना कहकर उस ने गठरी खोली और दुर्योधन के पैरों के पास वे पाँचों सिर लुढ़का दिये।

दुर्योधन उन सिरों को देखकर प्रसन्न नहीं हुआ। उस ने घृणापूर्वक अश्वत्थामा का तिरस्कार किया और कहा—आह, अश्वत्थामा, तूँ ने यह क्या किया? अरे नीच, तेरी आँखें भी फूट गई हैं क्या कि द्रौपदी के पाँच पुत्रों के सिरों को पाण्डवों के सिर बतला रहा है। मैं नहीं जानता था कि तूँ इतना नीच है। अच्छा हुआ कि गुरुवर (द्रोण) पहले ही परलोक जा चुके हैं, क्योंकि यदि वे जीवित रहते और तुझे ऐसा दुष्कर्म करते देख लेते, तो अवश्य ही उन्हें पुत्र की दुष्कृति से उत्पन्न होनेवाली लोकलज्जा के भय से आत्मघात करना पड़ता। जा, दूर हो मेरे सामने से; अब कभी अपना पापी मुँह मुझे मत दिखाना।

अश्वत्थामा ने भी देखा कि जिन्हें मैं ने पञ्च पाण्डव समझा था वे पञ्च द्रौपदेय निकले। इस प्रकार अपनी आशा फलीभूत न होने से और दुर्योधन द्वारा तिरस्कृत होने से कुछ देर तक

तो वह नीच बिल्कुल खिसियाया सा खड़ा रहा, पर दुर्योधन ने जब पुनः बिगड़कर कहा कि जाता क्यों नहीं यहाँ से, तो वह यहाँ से चला गया। परंतु दुर्योधन की फटकार ने उसे और मूढ़ बना दिया। वह सोचने लगा कि इसी मूर्ख का पक्ष ग्रहण करने से मेरे पिता की यह दशा हुई, और इसी नीच की भलाई करने के लिए मैं ने ऐसा अनर्थ किया उस पर भी यह दुष्ट मुझ को ही अपने सामने से हटा रहा है। तब तो यही ठीक मालूम होता है कि अब पाण्डवों के पक्ष में मिल जाऊँ। पर पाण्डव क्या मुझ को अपनी ओर मिलने देंगे? उन से क्या मेरा यह दुष्कर्म छिपा रह गया होगा? अवश्य ही श्री कृष्ण ने योगबल से सब कुछ जान लिया होगा और उन के कहने से पाण्डव अब बदला लेने के लिए मुझ को ढूँढ रहे होंगे। ऐसी दशा में तो मुझे अब कहीं छिपने के लिए स्थान ढूँढना चाहिए। लेकिन कहाँ जाऊँ छिपने? कौरवों का तो अब भरोसा रह नहीं गया, और रहता भी, तो वे क्या कर सकते थे, उन्हें तो अपनी ही जान के लाले पड़ रहे हैं। अस्तु; अब जंगल और पहाड़ की कन्दराएँ ही मुझ को आश्रय दे सकती हैं। किंतु यह क्या? यह कैसी कायरता की बातें सोच रहा हूँ मैं? मैं ने पाण्डवों को मारने की प्रतिज्ञा की है। उसे पूरी किये बिना क्या मुझे कहीं छिपना उचित है? हाँ, छिपना ही ठीक होगा। पाण्डव अभी जोश में हैं। जब तक वे युद्ध समाप्त न कर लें तब तक छिपे रहना चाहिए। बाद में उन का जोश अपने आप जब ठंडा पड़ जाय, तो किसी दिन मौका पाकर घात कर देना चाहिए। इन्हीं विचारों में डूबता उतराता अश्वत्थामा बिना लक्ष्य का एक तरफ चला जा रहा था।

उधर पाण्डवों को सब हाल कृष्णजी ने बतला ही दिया था। वे दिन निकलते ही बड़े जोर शोर से युद्ध में संलग्न हो गये और असंख्य सैनिकों का संहार करते हुए अश्वत्थामा को ढूँढने लगे। दिन भर की लड़ाई के बाद युद्ध समाप्त हो गया। कौरव पूरी तरह से पराजित हो गये, सब बखेड़ा खतम हो गया, पर अश्वत्थामा का कहीं पता नहीं लगा। पाण्डवों ने सोचा—अच्छा, कब तक छिप सकेगा वह। आज नहीं, तो कल उसे ढूँढ ही निकाला जायगा।

उधर अश्वत्थामा की विचारधारा पुनः बदल गई। उस ने सुना कि पाण्डवों की वीरता के सामने कौरवों की एक न चली, एक एक करके सब कौरव और कौरवपक्षीय अन्य राजे महाराजे समाप्त कर डाले गये, तो वह फिर जोश में आ गया उस के ऊपर जन्म भर खाये हुए कौरवों के नमक का असर आ गया। वह अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित हो उलटे पैर युद्ध-स्थल में लौट आया और बड़े वेग से बाणों की वर्षा करने लगा। उस का यह आखिरी प्रयत्न था। वह प्राणपण से युद्ध कर रहा था। अतएव युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव आदि कोई भी उस के सामने नहीं टहर सके, सब को हार मान लेनी पड़ी। केवल अर्जुन और

अश्वत्थामा का युद्ध होने लगा। बहुत देर तक लड़ाई होती रही। दोनों में से एक की भी शक्ति कम नहीं हो रही थी, किंतु दृढ़प्रतिज्ञ अर्जुन ने अश्वत्थामा को मारने की पहले ही प्रतिज्ञा कर ली थी और उस का स्वभाव था कि अपनी प्रतिज्ञा को अधूरी नहीं छोड़ता था। सर्वदा भगवान् का भरोसा रखने के कारण भगवान् स्वयं उस की प्रतिज्ञापूर्ति में सहायता किया करते थे। तदनुसार अन्त में अश्वत्थामा को भी अर्जुन से परास्त होना पड़ा, हार माननी पड़ी। अर्जुन ने उस को जीवित ही गिरफ्तार कर लिया और हाथ पकड़कर द्रौपदी के सामने लाकर खड़ा कर दिया।

उन्होंने द्रौपदी से कहा—प्रिये, इसी नीच ने, इसी ब्राह्मणकुलकलङ्क ने तुम्हारे पाँच पुत्रों को सोते समय छिपकर मारा है। अब तुम्हारी इच्छा हो, अपने हाथों इस का वध करो, अथवा न इच्छा हो, तो कहो, मैं इस का सिर अलग करूँ।

स्त्रियाँ स्वभाव से ही दयालु होती हैं। द्रौपदी को उस नीच पर दया आ गई। उन्होंने कहा—*नाथ, यह ब्राह्मण का पुत्र है, इस नाते तो अवध्य है ही; साथ ही यह पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र होने के कारण तुम्हारा गुरुभाई भी है। इस लिए इस को छोड़ दो, जाने दो; इस को मारना उचित नहीं मालूम होता है।*

अर्जुन ने कहा—किंतु प्रिये, मैं प्रतिज्ञा कर चुका था इस को मारने की। उस (प्रतिज्ञा) की रक्षा कैसे होगी?

द्रौपदी ने कहा—अब तो कुछ भी हो, तुम इसे जीवित ही छोड़ दो, क्योंकि मैं नहीं चाहती कि जिस तरह अपने पुत्रों के लिए मुझ को शोक करना और रो रोकर दिन बिताना पड़ रहा है उसी तरह इस (*अश्वत्थामा*) *की माता को भी रोना पड़े*। नहीं नाथ, किसी स्त्री को पुत्रशोक में निमग्न करना किसी भी तरह उचित नहीं होगा। तुम इस को पराजित कर चुके हो। अश्वत्थामा नीचकर्मा है , तो क्या हुआ? उस की वीरता में संदेह नहीं है। और वीर के लिए पराजय भी मृत्यु से किसी तरह कम नहीं होती। इस प्रकार तुम्हारी प्रतिज्ञा भी पूरी हो चुकी है। जाने दो इसे, छोड़ दो।

द्रौपदी की दयालुता के आगे अर्जुन को अपनी कठोरता—कठोर प्रतिज्ञा—छोड़ देनी पड़ी। उन्होंने अश्वत्थामा का हाथ छोड़ दिया।

परंतु अश्वत्थामा साधारण नीच मनुष्य नहीं था। वह घोर नीच प्रकृति का कुलाङ्गार ब्राह्मण था। उस ने द्रौपदी की दया का उपकार नहीं माना, प्रत्युत और अधिक नृशंस बन गया। युद्ध समाप्त हो गया था। अब कोई किसी का वैरी नहीं रह गया था। विजितों का सर्वनाश हो चुका था। उस पक्ष के जीवित वृद्ध, बालक, रोगी, स्त्री आदि रो रोकर दुर्योधन की दुष्टता और जड़ता पर आँसू बहा रहे थे और अपने भाग्य को कोस रहे थे। विजयी

भी अपने कुटुम्बियों के लिए शोक में ही थे। पर अश्वत्थामा अब भी पाण्डवों के संहार की तैयारी कर रहा था। उस ने सब तरह से हारकर अब ब्रह्मबल का सहारा लिया। कई दिन परिश्रम—पूजा, पाठ, जप, तप—करके उस ने पहले अपने कुकृत्यों के कारण अस्तमान ब्रह्मत्व को जगाया। जब पूरा तेज वापस आ गया, तो मन्त्रों से अभिषिक्त ब्रह्मास्त्र का उस ने प्रयोग किया। यह प्रयोग महाभयङ्कर होता है। कोई नैष्ठिक ब्राह्मण ही उस से किसी तरह अपनी रक्षा कर सकता है या साक्षात् भगवान् ही जिस की रक्षा करें वह उस से बच सकता है, दूसरा कोई नहीं।

यों भगवान् सब तरह पाण्डवों की रक्षा तो कर ही रहे थे। इस लिए पाँचों पाण्डवों पर तो उस का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, पर भगवान् को यह नहीं मालूम था कि अधम अश्वत्थामा ने अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भस्थ बालक पर भी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया होगा। उन्होंने उस पतित को इतना बड़ा पतित नहीं समझा था। इस लिए भगवान् के चक्र ने पाण्डवों की रक्षा तो ब्रह्मास्त्र से कर ली, पर उत्तरा के गर्भ का बालक अरक्षित ही रह गया। और अश्वत्थामा ने प्रयोग किया था इस प्रकार कि पाण्डवों के वंश में जो कोई भी हो वही इस का लक्ष्य बने। इस का परिणाम यह हुआ कि पाण्डवों पर से असफल हुआ ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ में स्थित परीक्षित के ऊपर जा पहुँचा। उत्तरा बिचारी क्या जाने कि उदर में क्या हो रहा है। उसे केवल इतना मालूम हुआ कि जैसे किसी ने मेरे पेट में दावानल प्रज्वलित कर दिया हो। वह पीड़ा के मारे हाहाकार कर उठी और जोर जोर से चिल्लाती हुई पाण्डवसभा कि ओर दौड़ी जहाँ भगवान् बैठे हुए थे। वह चिल्ला चिल्लाकर भगवान् को ही पुकारती हुई कह रही थी कि—

'पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥'

'हे योगिराज, हे देवताओं के देवता, हे संसार के मालिक, मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। हे भगवन्, तुम्हारे सिवा मेरी रक्षा करनेवाला कोई नहीं दिखाई देता। सभी यहाँ अपनी अपनी मृत्यु से अपने ही लिए अशक्त हो रहे हैं, फिर मेरी रक्षा भला कहाँ से कर सकते हैं; मुझे तो केवल आप ही बचा सकते हैं।' भगवान् ने उत्तरा की पुकार सुनते ही सुदर्शन चक्र को आज्ञा दी कि उत्तरा के गर्भ में पहुँचकर उत्पात मचानेवाले ब्रह्मास्त्र को विफल करो। आज्ञा पाते ही सुदर्शन चक्र वहाँ जा पहुँचा। उस के ऊपर ब्रह्मास्त्र का कोई वश न चला। ब्रह्मास्त्र असमर्थ होकर लौट गया और परीक्षित बच गये।

बाद में भगवान् के कहने से कुन्ती आदि को अश्वत्थामा की नीचता मालूम हुई। कुन्ती अपने भतीजे कृष्ण की महिमा की वैसे तो हमेशा से कायल थीं, पर इस बार गर्भ में

पहुँचकर गर्भ की रक्षा करने पर तो वे एकदम उन के चरणों पर लोट गईं और हृदय में भगवान् की चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करके इस प्रकार उन की स्तुति करने लगीं—

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥
कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥
यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥
विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः॥
विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

आप मायातीत, परम पुरुष, समस्त सृष्टि के आदि, परमेश्वर हैं। आप प्राणिमात्र के भीतर और बाहर, सर्वत्र व्यापक रूप से रहनेवाले हैं; फिर भी आप दिखलाई नहीं देते। हे प्रभो, मैं आप को नमस्कार करती हूँ।

आप श्री कृष्ण के लिए, वसुदेव के पुत्र के लिए, माता देवकी को आनन्दित करनेवाले के लिए, गोपराज नन्द के सुकुमार बालक के लिए और श्री गोविन्द के लिए मैं नमस्कार करती हूँ, नमस्कार करती हूँ।

हे मनस्वी, हे जितेन्द्रिय, जिस तरह आप दुष्ट कंस के अत्याचार से पुत्रों के शोक में जलती हुई देवकी के दुःखों का अन्त करनेवाले हैं, हे प्रभो, वसी तरह पाँचों पुत्रों के साथ मेरी भी बार बार रक्षा करनेवाले हैं आप।

हे नारायण, आप का यश मैं कहाँ तक गाऊँ? आप ने दुर्योधन के दिये हुए हलाहल विष से हम लोगों की रक्षा की, लाक्षागृह के अग्निकाण्ड से जीवित रखा, भयानक आकारवाले पुरुषों (हिडिम्ब आदि राक्षसों) से त्राण दिया, दुष्ट कौरवों की सभा में लाज बचाई, वनवास की कठिनाइयों से पार पहुँचाया, युद्धों में जब जब बड़े बड़े महारथियों का सामना पड़ा तब तब उन के अस्त्र शस्त्रों का संकट हटाया और आज द्रोणाचार्य के पुत्र के चलाये हुए अस्त्र (ब्रह्मास्त्र) से उत्तरा का गर्भ सुरक्षित किया।

हे सब संसार के सर्वश्रेष्ठ गुरो, मैं प्रार्थना करती हूँ कि हम लोगों पर सब दिन ऐसी ही विपत्तियाँ आया करें जिस से इन विपत्तियों में आप का मोक्षदायक दर्शन सो मिलता रहे।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् परम प्रसन्न हुए। उन्होंने कुन्ती के हृदय को अपने अलौकिक प्रकाश से भर दिया जिस के बीच में कुन्ती ने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करनेवाले पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन किया और अपने जन्म को सफल माना।

अब भीष्म को चतुर्भुज भगवान् के दर्शन प्राप्त होने की कथा सुनो। यह संक्षेप में इस प्रकार है कि संग्राम के अवश्यंभावी फल के अनुसार जब अर्जुन के बाणप्रहारों से अत्यन्त घायल होकर पितामह भीष्म का शरीर खड़ा रह सकने के अयोग्य हो गया, तो वे पृथिवी पर गिर पड़े। जिस समय वे पृथिवी पर गिरे उस समय सूर्य की दक्षिणायन गति थी, और शास्त्रों में लिखा हुआ है कि दक्षिणायन सूर्य के समय मरकर परलोक जानेवालों को मुक्ति नहीं मिलती, पुनर्जन्म के दुःख में पड़ना पड़ता है। भगवान् ने भी गीता में कहा ही है कि—

'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥' (८।२५)

'धुआँ, रात्रिकाल, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन सूर्य के छ महीनों में मृत्यु को प्राप्त होनेवाला योगी चन्द्र लोक में (एक नियत अवधि तक के लिए) जाकर पुनः संसार में लौट आता है।'

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि भीष्म पितामह को ऐसा वरदान मिला हुआ था कि उन को जब स्वयं इच्छा हो तभी वे प्राणों का त्याग करें। और भीष्मजी को यह शास्त्रीय बात मालूम थी कि दक्षिणायन में मरने से मोक्ष नहीं मिलता। इस लिए शक्तिहीन होकर जमीन पर गिरने पर भी उन्होंने तब तक मरने की इच्छा नहीं की जब तक उत्तरायण के सूर्य न हो जायँ। वे जानते थे कि उत्तरायण में मरनेवाले योगियों को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। सब शास्त्रों में भीष्मजी पारंगत थे। *उन से कोई भी शास्त्रीय बात छिपी नहीं थी। इस लिए उन्होंने शास्त्रानुसार विश्वास रखकर यही उचित समझा कि जब दक्षिणायन के छ महीने बीत जायँ और उत्तरायण* के सूर्य हो जायँ तभी मैं प्राणत्याग करूँ जिस में पुनः जन्म मरण के पचड़े में न पड़ना पड़े। उत्तरायण का महत्त्व बतलाते हुए भगवान् ने अर्जुन से पहले ही कहा है कि—

'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥' (८।२४)

'अग्नि की ज्योति से प्रकाशित मार्ग, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छ महीने—इन में मरकर जानेवाले ब्रह्मवेत्ता योगी लोग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।' और यह सर्वविदित ही है कि ब्रह्मत्व को प्राप्त करनेवाले को जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। सो भीष्म पितामह भी यही चाहते थे कि मैं उत्तरायण में मरूँ, ताकि पुनः लौटना न पड़े। इसी लिए उन्होंने शरीर भर बाणों से बिंधा होने पर भी पीड़ा की पर्वाह न करके बाणों को ही अपने

लिए सुकोमल बिछौना समझा और बाणों पर ही टँगे हुए सोते रहे। इतना ही नहीं, बल्कि उन का सिर जब पीछे की ओर लटकने लगा—क्योंकि उन्होंने युद्ध में पीठ तो दिखाई नहीं थी, इस लिए पीठ की ओर से सिर में कोई बाण घुसा नहीं था और बाणों पर चित्त लेटने पर सिर का नीचे लटकना स्वाभाविक ही था—तब उन्होंने अर्जुन से एक तकिया माँगी। दुर्योधन वाहवाही लूटने के लिए पहले ही दौड़ पड़ा और एक मुलायम ऊँचा मसनद लाकर पितामह के सिर के नीचे लगाने लगा, किंतु उन्होंने घृणापूर्वक वह तकिया अस्वीकृत कर दी और फिर अर्जुन की ओर इशारा किया। अर्जुन ने पितामह का मनोभाव समझ लिया और गाण्डीव पर अनेक बाण चढ़ाकर सिर में पीछे की ओर मारा जिस से भीष्म का लटकता हुआ सिर तकिया पाकर ठाट से सोने के ढंग पर स्थिर हो गया। इस के बाद भीष्मजी ध्यानमग्न होकर भगवान् का स्मरण और मन ही मन उन का चतुर्भुज रूप देखने की अभिलाषा करने लगे। भगवान् से भक्त के विचार छिपे नहीं रहते। भगवान् तुरंत पितामह के पास पहुँच गये और उन के प्रशस्त नेत्रों में अपना चतुर्भुज रूप प्रकट करके उन के सामने खड़े हो गये।

भगवान् के अलौकिक रूप का दर्शन पाकर पितामह भीष्म की अन्तरात्मा प्रसन्न हो उठी। उन्होंने हाथ जोड़कर अनेक प्रकार से भगवान् की स्तुति करनी शुरू कर दी। उस स्तुति में से कुछ श्लोक अर्थ सहित यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥
युधितुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशित शरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु॥
मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय येषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥
तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥

अर्थ—मैं ने (भीष्म ने) अपने जीवन के अन्त तक बहुत बहुत प्रकार के प्रयत्नों द्वारा अपनी तृष्णारहित मति को यदुनाथ श्री कृष्ण परमात्मा में लगाये रखने की चेष्टा की है। कारण, सृष्टिप्रवाह को संचालित रखनेवाली अपनी माया को ये भगवान् अपने परम सुख में लीन रहकर भी कभी कभी लीलाबुद्धि से ही धारण कर लेते हैं।

मैं चाहता हूँ कि मेरा मन उन श्री कृष्ण भगवान् के प्रेम में मग्न रहे जो समरभूमि में घोड़ों के टापों से उठी हुई धूल से धूसर रंग के हो गये हैं, जिन के मुखारविन्द पर परिश्रम के कारण उत्पन्न हुए पसीने की बूँदें सुशोभित हो रही हैं, मेरे तीखे बाणों ने जिन के शरीर की चमड़ियों में घुस घुसकर उन्हें क्षत विक्षत कर डाला है तथा जिन का रक्षाकवच मेरे बाणों से टुकड़े टुकड़े हो गया है।

मैं उन सर्वश्रेष्ठ पुरुष श्री कृष्ण के चरणों में हार्दिक प्रेम प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने सेना में अपने स्वजनों को देखकर उन्हें मारने में दोष की कल्पना करके युद्ध से विमुख होनेवाले अर्जुन को आत्मविद्या का उपदेश देकर उस की दुर्बुद्धि अर्थात् अविद्या का नाश किया।

आज मेरे लिए कितने बड़े सौभाग्य का दिन उपस्थित है कि बड़े बड़े ऋषि, मुनि, राजा, महाराजा से भरे हुए राजसूय यज्ञ में सब से स्तुति और प्रशंसा प्राप्त करनेवाले तथा सर्वप्रथम पूजित होनेवाले ये कृष्ण भगवान् आज मेरी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से खड़े हैं।

अब अधिक मैं क्या कहूँ? अब तो बस, मैं उन्हीं अजन्मा परमात्मा में भेदबुद्धि के मोह से छुटकारा पाकर लवलीन होता हूँ जिन्होंने पृथक् पृथक् रचित अपने सृष्टिप्रपञ्च के जीवों में एकरूप होकर अपनी सत्ता स्थापित कर रखी है—जैसे सूर्य एक होते हुए भी पृथक् पृथक् उपाधि भेदों में अनेक रूप होकर विराजमान् प्रतीत होते हैं।

कहने का निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कृष्ण हैं तो सर्वदा चतुर्भुज ही, पर जो उन में स्थिर रूप से भगवद्भावना करता है उसी को वे अपना वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करनेवाला चतुर्भुजरूप दिखलाते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकते, जिन की समझ में श्रीकृष्ण भी एक मानव ही प्रतीत होते हैं, ऐसे लोगों को वे दो ही बाहोंवाले दिखाई देते हैं। भगवान् यह शर्तें नहीं लगाते कि तुम जन्म जन्मान्तर से भक्ति की धारा में बहते आओ तभी एक बार तुम्हें वे वैसा रूप दिखलायेंगे। वे तो केवल दृढ़तर भक्ति चाहते हैं—चाहे वैसी भक्ति जब और जैसे हो जाय। ज्यों ही उन्हें मालूम हुआ कि तुम्हारी भक्ति की परिपक्वता ने तुम्हें चतुर्भुज रूप के दर्शन के योग्य बना दिया है त्यों ही वे तुम्हारी कामना पूरी कर देंगे और तुम्हारे सामने अपने असली रूप से प्रकट हो जायेंगे।

अर्जुन इसी जन्म का और कुछ परिमित अवधि का ही भक्त नहीं था। वह नर का अवतार होने के कारण अवश्य ही अनादि काल का भक्त था। इस लिए उस को यदि निरन्तर भगवान् के चतुर्भुज रूप का दर्शन हुआ करता था, तो यह बिलकुल ही आश्चर्य की बात नहीं है। अस्तु;

उसी चिर अभ्यस्त रूप को देखने की इच्छा से वह प्रार्थनायुक्त वाणी में कह रहा है कि हे प्रभो, मैं आप को पहले की ही भाँति किरीट पहने, हाथों में चक्र और गदा लिये देखना

चाहता हूँ। इस लिए हे विश्वव्यापक मूर्तिवाले, हे असीम भुजाओंवाले, आप अब उस चतुर्भुज रूप में ही हो जायँ।

यह प्रार्थना सुनकर भगवान् ने कहा—हे अर्जुन, तूँ बार बार प्रार्थना करता और प्रसन्न होने के लिए कहता है। इस लिए मैं जानना चाहता हूँ कि तूँ मुझे अप्रसन्न समझ रहा है क्या?

अर्जुन ने कहा—भगवन्, मैं स्वयं कुछ समझूँ, यह शक्ति इस समय मुझ में कहाँ है? मैं तो अपने सम्मुख आप का रूप ही ऐसा विकराल देख रहा हूँ जो प्रत्यक्ष ही प्रलय में प्रवृत्त है और आप ने स्वयं स्वीकार भी यही किया है कि मैं लोकों का नाश करने में लगा हुआ काल हूँ। सो यही रूप देखकर मैं प्रार्थना करता हूँ कि अब आप प्रसन्न हो जायँ और अपना पहलेवाला चतुर्भुज रूप धारण कर लें।

अर्जुन के इस कथन का उत्तर देने के लिए—

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन, मैं ने प्रसन्नता से ही तुझ को अपने योग से यह परम तेजोमय, असीम, आद्य, विश्वरूप दिखलाया है जिस मेरे रूप को तेरे सिवा अन्य किसी ने पहले नहीं देखा।

गी० गौ०—भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मेरा यह रूप विकराल और क्रुद्ध-मुद्रा प्रदर्शित करनेवाला है, तो क्या हुआ? तूँ निश्चय मान कि मैं ने तेरे ऊपर प्रसन्न होकर ही तेजों से परिपूर्ण, विश्वव्यापक, अन्तरहित, किंतु सब लोकों का आदि कारण यह अपना विराट रूप अपने योग के सामर्थ्य से तुझ को दिखलाया है। मेरे इस रूप को तेरे अलावे और किसी ने भी पहले नहीं देखा था। तात्पर्य यह कि इस रूप में मुझ को देखकर तूँ मुझे अप्रसन्न मत समझ, अपितु इसे मेरा परम अनुग्रह मान कि आज पहले पहल तुझ को ही मैं ने यह अपना अनन्त सामर्थ्यवान् रूप दिखलाया है।

क० म०—प्यारे प्रभुप्रेमी सज्जनो, भगवान् अब अर्जुन की व्याकुलता दूर करने के उपाय कर रहे हैं। अर्जुन को अधीर, अशान्त, अस्थिरचित्त देखकर उन्होंने जान लिया कि

वह यद्यपि इस रूप को देखकर पहले पहल देखने के कारण प्रसन्न और हर्षित होना ही बतला रहा है, अपनी व्याकुलता और भय का कारण इस रूप के द्वारा होनेवाले संहार का देखना बतला रहा है, पर वास्तव में वह है दोनों ही प्रकार से उद्विग्न। तुम कह सकते हो कि तब तो अर्जुन पर मिथ्या भाषण का दोष लग जायगा, संसार उस को झूठ बोलनेवाला समझने लगेगा ? मैं कहता हूँ, नहीं। अर्जुन पर यह दोष लगानेवाला ही दोषी समझा जायगा। कारण, अर्जुन ने पहले ही कह दिया है कि मेरी दिशाएँ भ्रमित हो गई हैं, इतनी अधीरता बढ़ गई है कि दिशाओं का पता नहीं लग रहा है, सुख शान्ति नष्ट हो गई है, इत्यादि। अर्जुन की इस दशा से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय वह जो कुछ भी कहता होगा वे सब उस की उसी दशा से अभिभूत बातें होती होंगी। और यह मानी हुई बात है कि अधीर और अशान्त, आनन्दरहित और दिशाओं के ज्ञान से शून्य मनुष्य यह कभी नहीं समझ सकता कि मैं जो कुछ कहूँगा वह ठीक ठीक वैसा ही होगा जैसा उसे होना चाहिए। बेचैनी की हालत में मनुष्य इतना ही भर ठीक ठीक कह पाता है कि मैं बेचैन हूँ। क्यों बेचैन हूँ और कैसे यह बेचैनी दूर होगी, इन बातों के संबन्ध में पहले तो उस का कुछ कह सकना ही कठिन है, और किसी तरह यदि कुछ कहेगा भी, तो वह कथन केवल अनुमान के बल पर होगा। वह अपने कथन के बारे में इदमित्थं (यही ठीक है, ऐसा) नहीं कह सकता। अर्जुन ने भी यह नहीं कहा है कि मैं आप के रूप को देखकर अथवा आप के रूप के द्वारा होनेवाले घोर कार्यों को देखकर अधीर और अशान्त हूँ। उस ने केवल संकेतमात्र कर दिया है कि मैं पहले पहल एक अजीब रूप देखकर खुश भी हो रहा हूँ और डर के मारे उद्विग्न भी हूँ, थरथर काँप भी रहा हूँ। उस ने यह नहीं कहा कि आप क्रोध को दूर कीजिए, किंतु इतना ही कहा कि आप प्रसन्न हो जाइए। इन बातों से प्रत्यक्ष यही सिद्ध हो रहा है कि वह वस्तुस्थिति के बारे में कुछ निश्चित मन्तव्य नहीं प्रकट कर रहा है। इस लिए भगवान् ने यदि अनुमान से यह सोचा हो कि यह मेरे रूप को और उस रूप के कर्मों को, दोनों को ही देखकर घबड़ाया हुआ है, तो उन का यह सोचना किसी तरह अनुचित नहीं कहा जा सकता, न ऐसा सोचने से अर्जुन के ऊपर झूठ बोलने का दोष लग सकता है। भगवान् ने यह ठीक ही सोचा कि अर्जुन दोनों प्रकार से व्याकुल ही है और मुझ को क्रोधित ही समझ रहा है। और इसी लिए उन्होंने कहा भी कि मैं प्रसन्न होकर ही तुझ को यह रूप दिखला रहा हूँ, तू मेरे रूप के संहारक कर्मों को देखकर मुझ को क्रुद्ध मत समझ।

कोई पूछ सकता है कि संसार भर के वीरों को वे आयुरहित करते जा रहे थे, किसी को जीवित नहीं छोड़ना चाहते थे, सो क्या बिना क्रोध किये ही ? उत्तर है कि हाँ, बिना क्रोध के ही, प्रसन्न होकर ही वे वैसा कार्य कर रहे थे। कारण, उस समय उन्होंने महाकाल

का रूप धारण किया था। महाकालदेव किसी पर क्रोध नहीं करते। संहार करना उन का स्वाभाविक कर्म है। आग का गुण जैसे भस्म करना है वैसे ही। आग क्रोध करके लकडी को राख नहीं करती। लकडी का गुण है अग्नि के संयोग से जल मिटना और आग का गुण है लकड़ी को जला डालना। इस में क्रोध अक्रोध की कोई भावना ही नहीं है। इसी तरह काल भी अपने मुख्य गुण का प्रदर्शन कर रहे थे जो भगवान् की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर अर्जुन के लिए प्रत्यक्ष दृश्य हो गया था और उसी को देखने से उस बिचारे को व्यग्र हो जाना पड़ा। परंतु अब वह भ्रम में न रहे, भगवान् को अप्रसन्न और रुष्ट न समझे, इसी लिए भगवान् उस को अपनी कृपा की याद दिला देना चाहते हैं और कहते हैं कि—

हे अर्जुन, मैं ने प्रसन्न होकर अपनी योगशक्ति से तुझ को यह तेजोमय, असीम, आद्य, विश्वरूप दिखलाया है जिस को तेरे सिवा और किसी ने भी पहले नहीं देखा था।

इस पर अर्जुन ने पूछा—क्यों भगवन्? क्या यह रूप वेदों और मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि महर्षि, अपने ऐश्वर्य को आप के चरणों में लुटा देनेवाले दानवीर लोग, अपने शरीर को तप की अग्नि में जला डालनेवाले उग्र तपस्वी लोग तथा इसी प्रकार के अच्छे अच्छे यज्ञादि कर्मानुष्ठान करनेवाले सत्कर्मी लोग अपने अपने योगबल, दानबल, तपोबल आदि के द्वारा नहीं देख सकते? मैं ने इन कर्मों में से किसी का भी सम्यक् पालन नहीं किया है, तो भी यह रूप देख लिया, तो उन लोगों को तो, मैं समझता हूँ, अवश्य ही इस रूप का दर्शन मिलना चाहिए, क्योंकि उन लोगों के तो सभी काम परमार्थ के लिए होते हैं और उन का तो समस्त जीवन ही पवित्र हुआ करता है?

भगवान् ने कहा—उन लोगों का जीवन चाहे कितना ही श्रेष्ठ और परमार्थमय क्यों न हो, पर यह तूँ निश्चय समझ कि उन को मेरे इस रूप का दर्शन नहीं मिल सकता, क्योंकि—

> न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
> र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
> एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
> द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुप्रवीर, तुझ को छोड़कर मनुष्यलोक में दूसरे से इस प्रकार का रूपवाला मैं न वेदों और यज्ञों के अध्ययन से, न दानों से, न कर्मों से और न उग्र तपों से ही देखा जा सकता हूँ।

गी० गौ०—हे कुरुवंशियों में सब से अधिक वीर अर्जुन, आज मेरा जो रूप तूँ देख रहा है, ऐसा रूप तेरे सिवा दूसरा कोई न तो चारों वेदों को पढ़कर देख सकता है, न बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करके देख सकता है, न दोनों को महिमा प्राप्त कर तथा उत्तमोत्तम कर्मों और कठिनतर तपस्याओं का आचरण करके ही देख सकता है। इस पृथिवी पर केवल तूँ ही एक ऐसा व्यक्ति है जिस को ऐसे रूप में मैं दिखलाई पड़ा हूँ।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, बिना प्रभु की विशेष कृपा के उन के किसी भी रूप का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकना किसी भी देश, काल, पात्र में सम्भव नहीं है। भगवान् के हजारों लाखों अवतार इस पृथिवी पर हो चुके हैं। भगवान् के अवतार शरीर के नाते असंख्य मनुष्य, देवता, असुर, पशु, पक्षी उन के पिता माता तक कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं। फिर भी उन परम प्रभु के वास्तविक रूप, गुण, क्रियाकलाप, प्रभाव, माहात्म्य का ठीक ठीक ज्ञान होने के साथ साथ उन को जान सकने का, देख पाने का, प्रत्यक्ष अनुभव करने का सौभाग्य इने गिने लोगों को ही प्राप्त हुआ है, और वह भी तब, जब कि उन परमात्मा ने उन इने गिनों को अपना परम भक्त, परम प्रेमी, परम शरणागत जानकर अपनी महती अनुकम्पा से उन्हें अपने महामहिम स्वरूप का स्वयं दर्शन करा दिया है। जब तक उन्होंने स्वयं कृपा नहीं की तब तक उन के अत्यन्त निकट संपर्क में रहनेवालों को भी कभी उन का असली परिचय नहीं प्राप्त हो सका।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद प्रभृति चारों वेदों में भगवान् और भगवान् के आश्रित और असंख्य देवताओं का विस्तृत माहात्म्य गाया गया है। उन वेदों का पूरा पूरा अध्ययन करने से भगवान् और उन के अंशभूत देवताओं की शक्ति, प्रभाव, महिमा आदि की जानकारी भली भाँति हो सकती है। प्राचीन काल में बहुत से ऋषि मुनियों ने वेदाध्ययन के द्वारा उन बातों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त भी किया है। उस ज्ञान से सम्पन्न होने पर उन लोगों की आत्मा पवित्र हुई, बाह्याचरण शुद्ध हुआ, सृष्टि भर की बहुत सी बातें मालूम हो गईं और इन सब के प्रभाव से संसार की असारता हृदयंगम करके उन लोगों ने ऊँचे ऊँचे फलों की प्राप्ति करानेवाले उत्तमोत्तम लोकों में अधिकारपूर्वक गमन किया, परंतु परम फल भगवद्दर्शन और परम गति मोक्ष की प्राप्ति उन लोगों को भी नहीं हुई। उन लोगों ने ऊँचे ऊँचे लोकों में जाकर बड़े बड़े सुख चाहे जहाँ तक भोगे, पर उन सुखों की एक दिन अवधि पूरी हुई और उन्हें वहाँ से पुनः नीचे उतरना पड़ा, अपुनरावर्तनरूप परम सुख नहीं प्राप्त हुआ। इसी लिए भगवान् ने वेदों की परिमित महत्ता बतलाते हुए दूसरे ही अध्याय में अर्जुन से कह दिया था कि—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥' (२।४५)

हे अर्जुन, वेद सब सत्व, रज, तम के विषयों से भरे हुए हैं, अतः बन्धनमुक्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं। बन्धन तो तभी छूटता है जब पुरुष गुणातीत हो जाय। इस लिए तूँ वेदों के फेर में न पड़कर गुणातीत बन, द्वन्द्वरहित हो, नित्य सात्विकता ग्रहण कर, योगक्षेम की चिन्ता छोड़कर केवल आत्मरत हो जा। इसी लिए तो चारों वेदों का प्रणयन करनेवाले व्यास मुनि भी परम पद को न पहुँचकर केवल अमरत्व और चिरजीवित्व तक ही प्राप्त करके रह गये। इस लिए निश्चित हुआ कि वेदों के सम्यक् अध्ययन से भगवान् के साधारण रूप का भी साक्षात् होना संभव नहीं है, फिर उन के असाधारण विराट् रूप को तो वेदों का पठन मननशील व्यक्ति किस तरह साक्षात् कर सकता है? किसी तरह नहीं कर सकता।

यज्ञों की विधियों को यथोचित रीति से पढ़कर ठीक ठीक विधि विधान सहित यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले कम लोग नहीं हुए हैं। हमारे यहाँ के पुराण इतिहास बड़े बड़े याज्ञिकों की कथाओं से भरे पड़े हैं। पर कोई भी यज्ञकर्ता अपने यज्ञ के आराध्यदेव का दर्शन पाने और उन के लोक में एक नियत समय तक के लिए गमन करने से अधिक फल नहीं पा सका। सब से बड़े यज्ञकर्ता इन्द्र महाराज हैं। उन का नाम ही शतक्रतु है। सौ बार साङ्गोपाङ्ग अश्वमेध यज्ञ पूरा होने पर शतक्रतु नाम और इन्द्र का पद प्राप्त होता है, परंतु यह पद भी चिरस्थायी नहीं होता। जब तक उन सौ यज्ञों से संचित फल की समाप्ति नहीं हो जाती उतने ही समय तक शतक्रतु महाराज इन्द्र होकर इन्द्रपुरी का राज्य और देवताओं का आधिपत्य भोगते रहेंगे, संचित फल के भोग से उस की समाप्ति होते ही उन का इन्द्रत्व छीन लिया जायगा और उन के स्थान पर कोई दूसरा शतक्रतु अधिकार जमा लेगा। यही परंपरा चलती रहेगी। उन अत्यन्त परिश्रमसाध्य यज्ञों का यहीं तक फल है। भगवान् के साक्षात् दर्शन और भगवत् धाम की प्राप्ति के सदृश महान् फलों के सामने इस फल की कोई गणना नहीं।

दान करना बड़ा उत्तम कार्य कहा गया है। दान करनेवाला यदि दान से किसी प्रकार के प्रत्युपकार की इच्छा न रखे, केवल परोपकार बुद्धि से, एकमात्र दूसरों के सुख के निमित्त यदि दान करे, तो उस से लोक में यश बढ़ता है, आत्मा को प्रसन्नता प्राप्त होती है और स्वर्गादि लोकों में जाने का अधिकार मिलता है। परंतु यदि यह कोई चाहे कि मैं दानों के निरन्तर और अधिकाधिक आचरण से भगवान् का दर्शनलाभ कर लूँगा, तो यह कभी नहीं हो सकता। शास्त्रज्ञों को ज्ञात है कि महाराज शिवि कितने बड़े दानी थे। उन्होंने एक कबूतर के प्राण बचाने के लिए अपना संपूर्ण शरीर काट काटकर बाज (एक पक्षीविशेष) को अर्पित कर दिया। इस के फलस्वरूप उन का इतना यश फैला कि आज तक दानियों में सर्वप्रथम उन का नाम लिया जाता है, और सदेह स्वर्गगमन का उन को अधिकार भी प्राप्त हुआ, पर स्वर्ग में वे बिचारे कब तक रह सकेंगे? तभी तक तो, जब तक कि उन के दानों से

उत्पन्न संचित पुण्य की समाप्ति नहीं हो जाती ? बाद में तो वही पुनरावर्तन उन के लिए भी सुनिश्चित रखा हुआ है। यद्यपि कबूतर को बाज का शिकार होने से बचाने में महाराज शिबि का कोई निजी स्वार्थ नहीं था, केवल जीवरक्षा के हेतु से ही उन्होंने उस की रक्षा की; तथापि यदि कोई कहे कि जिस के प्रति उन्होंने अपने शरीर का अर्पण किया उस बाज की दृष्टि में तो वे एक प्रत्युपकारबुद्धिसंपन्न ही दिखाई दिये होंगे; क्योंकि बाज ने यही सोचकर तो उन के शरीर का दान ग्रहण किया कि इस के बदले में मुझे कबूतर के शरीर को भयमुक्त करना है ? इस लिए महाराज शिबि का शरीरदान निःस्वार्थ दान नहीं कहा जा सकता और इसी लिए उन को मोक्ष अथवा परमात्मदर्शन का महान् लाभ नहीं हुआ। यदि कोई वास्तविक रूप से निःस्वार्थ दान करे, तो उस को अवश्य भगवत्साक्षात्कार हो सकता है। लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में शिबि का दान निःस्वार्थ दान ही था। और दुराग्रह से यदि कोई इस बात को नहीं ही मानना चाहे, तो हमारे शास्त्रों में और भी अनेक निःस्वार्थ दानियों के उदाहरण वर्तमान हैं जिन से सिद्ध होता है कि इतर भक्ति के द्वारा प्रभु की कृपा प्राप्त किये बिना, केवल दान के माहात्म्य से, *भगवान् के दिव्य स्वरूप का दर्शन नहीं मिल सकता।* इन दानियों में दानवेन्द्र बलि महाराज की कथा सर्वविदित है। उन्होंने केवल इसी लिए अपना सर्वस्व—अपना मस्तक तक—दान कर दिया कि मेरे दान में अपूर्णता का दोष न आने पाये। बलि के गुरु शुक्राचार्य ने उन्हें सावधान कर दिया था कि जिसे तुम एक नाटा ब्राह्मण समझकर तीन पग पृथिवी दान देने जा रहे हो, वह केवल नाटा ब्राह्मण नहीं; प्रत्युत विश्वव्यापक वामन भगवान् हैं। देवताओं की संपत्ति देवताओं को वापस दिलाने के लिए ये तुम्हें धोखा देने आये हैं, सावधान हो जाओ, अपना सर्वस्व नष्ट मत करो।

बलि ने कहा—गुरुजी, आप चिन्ता न करें। मैं ने हाथ में जल, कुश, अक्षत ले लिया है, आप संकल्प उच्चारण करायें। मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि ये ब्राह्मण देवता जो कुछ माँगेंगे वही देकर इन्हें संतुष्ट करूँगा, क्योंकि याचक ब्राह्मण यदि दान पाकर भी असंतुष्ट होकर ही चला गया, तो ऐसा दान देना भी व्यर्थ ही है।

शुक्राचार्य ने कहा—राजन्, कहना नहीं मानते हो, तो पीछे पछताओगे और दान के अपूर्ण रहने से नरक तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा।

बलि ने कहा—आप कहते क्या हैं गुरुजी ? मैं ने कहा न कि मेरा तीनों लोकों का राज्य भी यदि कोई दान माँग ले, तो मुझे देने में संकोच नहीं हो सकता। फिर ऐसी बात जानते हुए भी आप पीछे पछताने की बात क्यों कहते हैं ? और ये ब्राह्मण देवता जब कि केवल तीन पग भूमिमात्र चाहते हैं, तो मेरा दान अपूर्ण क्यों रह जायगा कि मुझ को नरक में जाना पड़ेगा ?

शुक्राचार्य ने कहा—मान लेता हूँ कि सर्वस्व चला जाने पर भी तुम पछताओगे नहीं, पर नरक तो तुम को अवश्य ही भोगना पड़ेगा; क्योंकि ये वामन भगवान् दो ही पगों में तुम्हारा संपूर्ण त्रैलोक्य राज्य नाप लेंगे और तीसरा पग बाकी ही पड़ा रह जायगा। इस लिए तुम मेरा कहना मान लो, जान बूझकर धोखा मत खाओ।

बलि ने कहा—गुरुजी, आज तक तो आप ने दानी दधीचि और शिबि का उदाहरण याद दिला दिलाकर मुझ को दान करने का प्रोत्साहन ही दिया है, फिर आज क्या बात है कि मुझ को तीन पग पृथिवी का भी दान नहीं करने देना चाहते? आप कहते हैं कि ये विष्णु भगवान् हैं और छल करने आये हैं। यदि यही बात सच है, तब तो मैं और भी आग्रह के साथ इन्हें दान देना चाहता हूँ, क्योंकि ये मेरे डर से ही तो विष्णुरूप छोडकर ब्राह्मणवेष में यहाँ आये हैं! इस लिए आप व्यर्थ विलम्ब न करके शीघ्र संकल्प बोलिए।

शुक्राचार्य को क्रोध आ गया कि यह मेरा शिष्य होकर भी मेरे कथन की अवहेलना कर रहा है। उन्होंने बिगडकर कहा—दानवराज, तूँ मेरी बात नहीं मानता, तो मैं तुझ को शाप देता हूँ कि तेरा सब ऐश्वर्य, सब विभूति, सारी प्रभुता बहुत जल्द नष्ट हो जाय।

बलि ने कहा—आप गुरु हैं, आप का शाप मेरे सिर आँखों पर है। पर अब आप संकल्प बोलिए, व्यर्थ विलम्ब कर दान का महात्म्य मत घटाइए।

विवश होकर शुक्राचार्य को संकल्प का मन्त्र कहना ही पड़ा। बलि ने प्रतिज्ञानुसार तीन पग भूमि वामन भगवान् के नाम संकल्प कर दी। फिर तो वामन भगवान् वामन भगवान् नहीं रह गये। उन्होंने वही सर्वदेवमय विराट् रूप धारण किया और दो ही पगों में समस्त पृथिवी, आकाश, स्वर्ग आदि समस्त लोकों और लोकालोकों को नाप लिया। शुक्राचार्य के कथनानुसार उन के तृतीय पग की पूर्ति के लिए बलि के त्रिलोकव्यापी राज्य में सचमुच ही कहीं जगह नहीं रह गई। अब महाराज बलि घबड़ाये कि दान अपूर्ण रहकर मेरे लिए नरक का कारण न बने। उन्होंने तुरंत ही अपना सिर भगवान् के तीसरे पग के स्थापन के लिए उन के आगे रख दिया। भगवान् ने भी दया करके उसी को तीसरे पग के लिए भूमि समझा और बलि का प्रतिज्ञात दान पूर्ण करा दिया।

भगवान् को बलि के त्याग पर इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने बलि को दिये गये शुक्राचार्य के शाप को नष्ट करने के लिए बलि से कहा—महात्मन्, मैं तुम्हारे दान से संतुष्ट होकर तुम को वरदान देता हूँ कि सावर्णि मनु के नाम से जब मन्वन्तर बदलेगा, उस समय तुम को स्वर्ग का राज्य और इन्द्र का देवपूज्य पद प्राप्त होगा। और तब तक के लिए मैं तुम्हें सुतल का राजा बनाता हूँ। वहाँ जाकर तुम सब प्रकार के सुखों का भोग करते हुए पूर्ण आनन्द के साथ राज्य करो और मेरी भक्ति को धारण कर सावर्णि मन्वन्तर आने की प्रतीक्षा करो।

और कहाँ तक कहा जाय, भगवान् ने बलि की प्रार्थना स्वीकार कर उन के दर्वाजे की पहरे-दारी तक कबूल की।

इस से प्रमाणित हुआ कि दान की—निःस्वार्थ परोपकार की—महिमा साधारण वस्तु नहीं है। पर यह भी सिद्ध हुआ कि ऐसे दान से भी भगवान् का दर्शन तो दुर्लभ ही रहता है, क्योंकि तीन पग में तीनों लोक नाप लेने के लिए भगवान् ने बलि के संमुख ही विराट् रूप धारण किया, फिर भी इस रूप को प्रत्यक्ष करानेवाली विशेष कृपा न होने के कारण दानवीर बलि को वह रूप दिखलाई नहीं पड़ा।

क्रियाओं अर्थात् स्वधर्मानुकूल कर्तव्य कर्मों के परिपालन से भी चन्द्रलोक, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि उत्तम लोकों की प्राप्ति और इस लोक में प्रतिष्ठा, संमान, सत्ख्याति, सुयश, सुख, सुसमृद्धि आदि अच्छे अच्छे फल तो अवश्य प्राप्त होते हैं, पर इन के द्वारा विराट् देव का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता। महाराज हरिश्चन्द्र से बढ़कर सत्यरूप स्वधर्म और स्वकर्म का पालन करनेवाला कौन हो सकता है? वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, जमदग्नि आदि महर्षियों से बढ़कर कर्मकाण्डी, सत्क्रियाओं के परिपालन में सर्वदा तत्पर रहनेवाला कौन हुआ है? कोई नहीं। ये लोग अद्वितीय सत्यनिष्ठ, सत्क्रियावान्, सद्धर्मपरिपालक रहे हैं, पर इन्हें भी जब विराट् प्रभु के दर्शन और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई, तो दूसरा कौन सत्कर्मा है कि उस को भगवान् ने अपने इस रूप का प्रत्यक्ष अनुभव कराया हो? न कोई हुआ है, न होनेवाला है। भगवान् के इस रूप का दर्शन भगवान् के कथनानुसार वही कर सकता है जिस पर भगवान् की स्वयं कृपा हो जाय, जैसी अर्जुन पर हुई है।

उग्र तपस्वियों की भी अपने यहाँ कमी नहीं रही है। प्राचीन (सत्यादि) युगों से लेकर अर्वाचीन (द्वापरादि) युगों तक में, और कभी कभी इस निकृष्टकर्मा कलियुग में भी एक से एक बढ़कर कठिन तपस्या करनेवाले हो गये हैं। नास्तिक वातावरण से कलुषित तमोमय इस आधुनिक समय में भी जहाँ तहाँ एक आध तपस्वी का अस्तित्व है ही। हाँ, यह अलबत्ता कहा जा सकता है कि इस समय उग्र तपस्वी शायद मुश्किल से मिले। स्मरण रखना चाहिए कि जनशून्य जंगलों और अगम्य पर्वत की कन्दराओं में निराहार रहकर अथवा पत्र पुष्पादिमात्र भोजन करके शरीर को शुष्क, शक्तिहीन, असमर्थ बनानेवाले संसारत्यागी ही तपस्वी नहीं कहे जाते, बल्कि तपस्वी उस का नाम है जो कहीं भी रहकर तात्त्विक दृष्टि से इन्द्रियों और मन के ऊपर अपना प्रभुत्व रखे, इच्छाओं की अधीनता से मुक्त रहे और तपस्वियों के लिए बतलाये गये शास्त्रीय नियमों—विधिनिषेधों—का सावधानी के साथ पालन करे। तपस्वी बनने, तपस्या करने के लिए किसी प्रकार के देश या काल का बन्धन नहीं होता; प्रत्येक देश और सभी तरह के काल में कोई भी सरल या कठिन तपस्या के लिए प्रयत्न कर सकता और तपस्वी

बन सकता है। इस में जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि का भी कोई बन्धन नहीं है। योरप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि सभी द्वीपों में समय समय पर एक से एक तपस्वी महात्मा होते रहे हैं, आज भी हैं और आगे भी होते जायेंगे। फिर पवित्र जम्बुद्वीप (एशिया) और उस में भी परम पवित्र भारतवर्ष की तो बात ही क्या पूछनी है, यहाँ तो अनादि काल से आज तक इतने तपस्वी होते आये हैं कि यहाँ की भूमि तपोभूमि और यहाँ के वन अरण्य तपोवन के नाम से ही मशहूर हो गये हैं।

भारतीय तपस्वियों में सब से प्राचीन और सब से उग्र तपस्वी भगवान् शङ्कर कहे जाते हैं। ये एक एक बार ऐसी ऐसी कठिन और चिरतपस्याओं में संलग्न हुए हैं कि युग के युग और कल्प के कल्प बीत गये हैं, किंतु इन की तपस्या सर्वदा अखण्ड रूप से होती रही है। इन के बाद महर्षि कश्यप, कण्व, नारद, दुर्वासा, विश्वामित्र, प्रह्लाद, ध्रुव आदि तपस्वियों के नाम आते हैं। और जिस प्रकार आज की दुनिया में तपस्वियों को पाखण्डी कहकर उन का परिहास करनेवाले तथा अनेक प्रकार से उन की तपस्या को भ्रष्ट करने का उपाय रचते रहनेवाले पापी, दुरात्मा अथवा स्वार्थी जन दिखलाई दिया करते हैं उसी प्रकार प्राचीन समय में भी कभी स्वार्थवश और कभी केवल दुष्ट प्रकृति के ही अधीन होकर तपस्वी की तपस्या भङ्ग करनेवाले होते रहे हैं। इन तपोभङ्गकारियों में देवता और असुर दोनों के नाम आते हैं। देवता लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने और स्वार्थ नष्ट न होने देने के लिए तपस्वी की तपस्या खण्डित किया करते थे और असुर लोग अपने अत्याचारी स्वभाव के वश होकर तपस्वियों के ऊपर जोर जुल्म किया करते थे। जैसे—भगवान् शङ्कर भगवत्तपस्या में समाधिस्थ होकर देश दुनिया को भूल गये थे। तारकासुर अनेक वरदानों के प्रभाव से अजेय होकर तीनों लोकों को संत्रस्त करने लगा। देवताओं की शक्ति उस के सामने बेकार सिद्ध हुई। उन लोगों को पता लगा कि भगवान् शङ्कर यदि तपस्या करना छोड़कर संसारव्यवहार में प्रवृत्त हों और घोर उग्र तपस्या में लीन पार्वती देवी को पत्नीरूप में ग्रहण कर पुत्र उत्पन्न करें, तो उन का वह पुत्र ही तारकासुर को तार और हम लोगों को उबार सकता है। इस स्वार्थसिद्धि के लिए देवताओं ने निश्चय किया कि यदि कठिन से कठिन बलिदान भी देना पड़े, तो हमें पीछे नहीं हटना चाहिए। अन्त में हुआ भी ऐसा ही। कामदेव को समझा बुझाकर आत्मबलि देने के लिए तैयार किया गया। वे अपनी अप्सराओं का दल बल साज शङ्कर की तपस्या खण्डित करने गये और उन की कोपाग्नि में जलकर भस्म हुए, पर देवताओं ने इस क्षति की चिन्ता नहीं की। वे लोग सामूहिक रूप से प्रार्थना करते हुए शंकरजी के पास पहुँचे और उन के आगे अपना प्रस्ताव रख, हाथ जोड़कर खड़े हो गये। दयालु शंकर ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार की। पार्वती की तपस्या पूरी हो चुकी थी। उन के समीप जाकर उन्होंने शङ्कर को पतिरूप में प्राप्त करने का वरदान दिया

अर्थात् पत्नीरूप में उन्हें ग्रहण किया। अनन्तर स्वामी कार्तिकेय का जन्म हुआ और उन के द्वारा तारकासुर का वध होकर देवताओं का स्वार्थ सिद्ध हुआ।

यह सामूहिक स्वार्थ का उदाहरण है; देवता, मनुष्य, किन्नर, गन्धर्व आदि सब का स्वार्थ इस कार्य से सधा। पर बहुत बार ऐसा भी होता रहा जब अकेले इन्द्र महाराज को निजी स्वार्थ के लिए तपस्वियों की तपस्या खण्डित करने का यत्न करते रहना पड़ा है। इधर पृथिवी पर जब जब कोई दृढ़प्रतिज्ञ उग्र तपस्वी कठिन तपस्याओं में संलग्न हुआ है तब तब देवेन्द्र को यह भय व्यथित करने लगा है कि यह तपस्वी अपनी कठिन तपस्या से भगवान् को वश में कर वरदान में मेरा इन्द्रासन न माँग ले। तपस्वी विश्वामित्र घोर तप कर रहे थे। कई युग बीत गये, और कितनी ही बार ब्रह्मादि प्रसन्न होकर वरदान देने के लिए आकर वापस चले गये, पर विश्वामित्र तपोनिद्रा से जागकर वरदान लेने को तैयार न हुए। इन्द्र का भय बढ़ा। वे सोचने लगे कि अब की बार साक्षात् नारायण आयेंगे और विश्वामित्र को ऐन्द्र पद दे डालेंगे। फिर तो मैं कहीं का नहीं रह जाऊँगा। इस लिए जैसे हो वैसे इन की तपस्या तोड़नी ही पड़ेगी। कामदेव बुलाये गये। आज्ञा हुई कि रम्भा, उर्वशी, मेनका आदि सब अप्सराओं को ले जाओ, जरूरत पड़े, तो रति और शची तक से काम ले सकते हो, पर विश्वामित्र को तपोभूमिका से नीचे गिराये बिना कदापि मत छोड़ो। कामदेव गये और मेनका के हाव भाव से अपने उद्योग में सफल हो गये। विश्वामित्र के ऊपर मेनका की आँखों का जादू काम कर गया। उन्होंने तपस्या छोड़कर मेनका को गले लगाया। इन्द्र की मनो-कामना पूरी हुई। कामदेव लौट गये। परंतु मेनका नहीं लौटने पाई। उसे कुछ दिन के लिए विश्वामित्र के घर रह जाना पड़ा, क्योंकि उसे उन का गर्भ रह गया था। विश्वामित्र मेनका को पाकर बड़े प्रसन्न रहने लगे। उन का जप, तप, ध्यान, समाधि, यम, नियम, उप-वास, व्रत सब कुछ छूट गया। वे पूरी तरह गृहस्थी के जंजाल में फँस गये। बड़े प्रेम से मेनका के दोहदों (गर्भावस्था की इच्छाओं) को उस से पूछ पूछकर पूरा करते रहे। समय आया, मेनका को कन्या उत्पन्न हुई। विश्वामित्र बड़े खुश हुए, पर मेनका उसी क्षण अन्त-र्धान हो गई—पार्थिव बोझ उतर जाने से उसे फुर्सत मिली और वह तुरंत अप्सराओं के लोक में चली गई। अब जाकर विश्वामित्र की मोहनिद्रा टूटी। वे लगे सिर धुन धुनकर पछताने, पर अब तो केवल बात रह गई थी, समय तो बहुत पीछे छूट चुका था; अब पछताने और सिर धुनने से भला क्या हो सकता था। बिचारे खिन्न होकर, घर गृहस्थी छोड़कर फिर से तपस्या करने चले गये। लड़की अकेली पड़ी रह गई। वह संयोग से महर्षि कण्व के हाथ लगी। वे उसे अपने आश्रम में उठा ले गये और आश्रम की तपस्विनियों को उस के लालन पालन का भार सौंप दिया। वहाँ उस लड़की का नाम शकुन्तला रखा गया। शकुन्तला

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान प्रति दिन अपनी कलाओं का विस्तार करने लगी, बहुत जल्दी जल्दी बढ़ती हुई कुछ ही दिनों में विवाह के योग्य सयाना हो गई।

भारतवर्ष का एकच्छत्र राज्य उस समय धर्मात्मा राजा दुष्यन्त के शासन में फूल फल रहा था। राजा पूरी सावधानी के साथ अपने कर्तव्यों के पालन में लगे रहते थे। नागरिक, ग्रामीण और आरण्यक (जंगली) कोई भी प्रजा उन की दृष्टि से बाहर नहीं रहती थी, वे घूम घूमकर सब की खोज खबर लिया करते थे, सब के सुख दुःख की चिन्ता रखा करते थे। संक्षेप में यह कि दुष्यन्त के शासन में नगरनिवासी सेठ साहूकार, पण्डित विद्वान् , गाँवों में रहनेवाले खेतिहर किसान, मजूरे धतूरे और जंगलों में रहनेवाले ऋषि मुनि, योगी तपस्वी कोई भी किसी तरह की दुर्व्यवस्था का शिकार नहीं होता था, सब लोग सुख से रहकर अपने अपने धर्म कर्म का यथार्थ रीति से पालन करते रहते थे।

संयोग से एक दिन राजा दुष्यन्त शिकार खेलते और वनवासी साधु महात्माओं की खोज खबर लेते हुए महर्षि कण्व के आश्रम पर जा पहुँचे। कण्व ऋषि उस समय आश्रम पर नहीं थे। इस लिए आश्रम पर आनेवाले अतिथि अभ्यागतों के स्वागत सत्कार का भार आश्रमवासी शिष्यों और शकुन्तला के जिम्मे था। इन्हीं लोगों ने महाराज दुष्यन्त का स्वागत कर उन से आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। दुष्यन्त ने शकुन्तला का अलौकिक रूप देखकर अपने मन से पहले ही हाथ धो चुके थे और सोच रहे थे कि किसी तरह यहाँ दो चार दिन रहने का मौका मिल जाता, तो पता लगा लेता कि यह सुन्दरी किस कुल के नाम को धन्य बनानेवाली है। साथ ही उन्हें अपने मन की दशा देखकर कुछ कुछ विश्वास भी हो गया था कि यह अवश्य ही क्षत्रियकन्या है; क्योंकि यदि यह बात न होती, तो मुझ क्षत्रिय का मन इस प्रकार विह्वल न हो जाता। उन्होंने प्रार्थना स्वीकार कर ली। आश्रम में उन का यथोचित सत्कार हुआ। शकुन्तला का मन भी उस के अनजान में ही दुष्यन्त के हाथों में बँध चुका था। दोनों का गान्धर्व विवाह हो गया।

दो चार दिन दोनों बड़े आनन्द से रहे। इसी बीच राज्य से एक दूत दुष्यन्त को माता का कुछ आवश्यक संदेश लेकर आया। माता की आज्ञा टालकर अधिक समय तक आश्रम में रह सकना दुष्यन्त के लिए संभव नहीं था और कण्व मुनि के उपस्थित न रहने से उन की आज्ञा के बिना शकुन्तला को अपने राजमहल में ले जाना भी सर्वथा असंगत, अतएव असंभव था। बिचारे राजा ने बड़े कष्ट से वियोगदुःख सहने को तैयार होकर शकुन्तला को अपनी स्मृति के लिए नाम खोदी हुई अँगूठी दी और आँखें पोंछते हुए वहाँ से बिदाई ली।

दुष्यन्त के चले जाने से शकुन्तला बड़ी चिन्ता में पड़ गई थी। वह जहाँ बैठती, बैठी ही रह जाती, जो सोचने लगती, सोचती ही रह जाती। उस ने तन बदन की सुधि

भूलकर एक प्रकार से विक्षिप्तावस्था का आवाहन कर लिया था। प्रियंवदा अनुसूया आदि सखियाँ उसे बहुत धैर्य दिलातीं, पर उस की दशा में कुछ भी परिवर्तन नहीं हो रहा था। इसी बीच में उस आश्रम पर दुर्वासा ऋषि आ गये, किंतु दुष्यन्त के प्रेम बेसुध पड़ी हुई शकुन्तला को उन के पुकारने पर भी होश नहीं हुआ, न उस ने उन का स्वागत सत्कार करने का कोई उपक्रम किया। सहज क्रोधी दुर्वासा भला इतना अपमान किस तरह सह सकते थे? उन्होंने शकुन्तला को शाप दे दिया कि तूँ जिस की चिन्ता में मग्न होकर मेरा असत्कार कर रही है वह तुझे भूल जायगा। शकुन्तला को इस का भी पता नहीं लगा। वह अपनी चिन्ता में ही भूली रही, पर उस की सखियों ने दुर्वासा की बात सुनी, उन को बड़ा दुःख हुआ। वे दुर्वासा के पैरों पर गिरकर उन से शकुन्तला के अपराध के लिए क्षमा माँगने लगीं। अन्त में महर्षि पिघल गये और अपने शाप का उद्धार बतलाया कि यह अपने पति से पाई हुई कोई निशानी यदि उन को दिखलायेगी, तो मेरे शाप का प्रभाव उतर जायगा और वह इस को पहचान लेगा। सखियों ने इसी पर संतोष किया। सोचा कि राजा की दी हुई अँगूठी शकुन्तला के पास है ही, जब वह ससुराल जाने लगेगी, तो सब भेद उस से बतला दिया जायगा।

कुछ दिनों के बाद कण्व ऋषि आश्रम पर आ गये। उन्होंने शकुन्तला को देखते ही जान लिया कि यह गर्भवती है। फिर शिष्यों से सब हाल मालूम होने पर वे बड़े खुश हुए और कहा कि अब इस का आश्रम में रहना ठीक नहीं, अतः इसे ले जाकर राजा के घर पहुँचा आओ। शिष्यों के साथ शकुन्तला जाने लगी, तो उस को उन्होंने पातिव्रत संबन्धी बहुत से उपदेश दिये और प्रेम से मस्तक चूमकर बिदा किया। रास्ते में आश्रम के निकट बहनेवाली नदी पड़ी। शकुन्तला ने नदी के जल का स्पर्श कर नदी को प्रणाम किया और उस से बिदा माँगी। इसी समय उस की अँगुली से निकलकर दुष्यन्त की दी हुई अँगूठी पानी में गिर गई और शकुन्तला को मालूम भी न हो सका।

दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त को सब घटनाएँ बिल्कुल भूल चुकी थीं। शकुन्तला को वे बिल्कुल नहीं पहचान सके। कण्व के शिष्यों के मुँह से गर्भवती शकुन्तला को ग्रहण करने की बात सुनकर उन्होंने समझा कि ये सब कहीं का कलङ्क कहीं थोपना चाहते हैं। उन्होंने शकुन्तला को स्वीकार करने से साफ साफ इनकार कर दिया। शिष्यों को शाप संबन्धी कोई भी बात मालूम नहीं थी। राजा को उन सबों ने वञ्चक व्यभिचारी समझा, क्योंकि दुष्यन्त उन सबों के सामने ही आश्रम में गये और शकुन्तला के प्रेम में गिरफ्तार हुए थे। वे सब शकुन्तला को वहीं छोड़कर नाराजी के साथ चले गये कि अब हम से कुछ मतलब नहीं, हम ने गुरु के आज्ञानुसार अपना काम पूरा किया; अब तुम जानो और शकुन्तला जाने। उधर शकुन्तला ने देखा, तो अँगूठी भी नदारद। वह निराश होकर राजद्वार से बाहर चली और एक

तालाब के किनारे खड़ी होकर अपनी माता को स्मरण करती हुई रोने लगी। मेनका को अपनी पुत्री की दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। वह आकाश से उतरकर शकुन्तला के पास आई और उसे लेकर पुनः आकाश में चली गई।

शकुन्तला की अँगूठी एक मछली निगल गई थी। वह मछली एक मछुए के हाथ लगी। उस ने मछली का पेट चीरा और अँगूठी पाकर परम प्रसन्न हुआ। अँगूठी लेकर बाजार में बेचने गया। वहाँ सिपाहियों ने उस पर दुष्यन्त महाराज नाम देखकर मछुए को चोर समझा। वे उसे राजदर्बार में पकड़ ले गये। अँगूठी देखते ही राजा को सब बातें याद आ गईं। मछुए को बहुत सा इनाम इकराम देकर उन्होंने बिदा किया और स्वयं शकुन्तला के लिए बेचैन रहने लगे।

इन्द्र की किसी राक्षस से लड़ाई ठनी हुई थी। उन्होंने सहायता करने के लिए दुष्यन्त को निमन्त्रण भेजा। दुष्यन्त शकुन्तला के लिए उदास और व्यग्र तो रहते ही थे। सोचा— चलो, इसी बहाने मन बहला रहेगा। युद्ध में इन्द्र की यथायोग्य सहायता करके अपने राज्य को लौट रहे थे, तो रास्ते में एक बड़ा मनोहर पर्वत दिखलाई पड़ा। उस का आनन्द लेने के लिए वे वहीं उतर पड़े। तब तक देखते क्या हैं कि एक छोटा सा बालक सिंह के बच्चे के साथ निर्भीक भाव से खेल खेल रहा है। उस के प्रति वे कुछ विचार कर ही रहे थे कि इतने में शकुन्तला ने आकर उस बालक को गोद में उठा लिया। इस प्रकार दोनों प्रेमियों के विरह-दु:ख का अन्त हुआ। आगे चलकर यह बालक भरत नाम का चक्रवर्ती राजा हुआ और इसी के नाम पर इस देश का भारतवर्ष नाम पड़ा।

इस कथा में विश्वामित्र, कण्व और दुर्वासा, इन तीन तपस्वी ऋषियों के नाम आये हैं। ये मामूली तपस्वी नहीं थे, पर इन में से किसी को भी भगवान् का यह विराट् रूप देखने का सौभाग्य नहीं मिला था। यदि यह सौभाग्य मिला होता अर्थात् राई से पर्वत तक में उन लोगों ने प्रभु को प्रत्यक्ष रूप से सर्वव्यापक देखा होता, तो न तो विश्वामित्र की तपस्या भङ्ग होती, न दुर्वासा को शाप देने का अवसर मिला होता और न कण्व को इतने बखेड़ों में पड़ना पड़ा होता।

ध्रुव और प्रह्लाद आदि तपस्वी भी यद्यपि अपने अपने तप के प्रभाव से बड़े ऊँचे ऊँचे पद पर पहुँच गये, पर भगवान् का विराट् रूप देखना उन लोगों के लिए भी संभव नहीं हुआ। ध्रुव की अटल भक्ति और उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन को अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया तथा वरदान माँगने पर संसार में सब से ऊँचा स्थान दे दिया, पर यह रूप देखने की ध्रुव में न शक्ति थी, न उन्होंने यह रूप देखने की इच्छा की और न उन को यह रूप देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रह्लाद भी कठोर साधक थे। उन्होंने भगवान् के नाम पर बड़े बड़े

कष्ट उठाये, बड़ी कठिन कठिन यातनाएँ झेलीं, बहुत उग्र तप किया, पर उन्हें भी चतुर्भुज रूप का ही दर्शन मिला, विराट् रूप का नहीं। अस्तु;

इन उदाहरणों से प्रमाणित होता है कि अर्जुन के अतिरिक्त और किसी भी वैदिक, याज्ञिक, दानी, कर्मकाण्डी या उग्र तपस्वी आदिक भक्तवरों को कभी भगवान् का विराट् रूप देखना नसीब नहीं हुआ। पृथिवी पर अकेला अर्जुन ही ऐसा भक्त था जिस को भगवान् ने अपनी कृपा से अपना विराट् रूप दिखलाया। इस लिए भगवान् ने यह ठीक ही कहा कि—

हे अर्जुन, वेदों और यज्ञों के अध्ययनों से, दानों से, क्रियाओं से या उग्रतर तपस्याओं से भी इस मनुष्यलोक में तेरे सिवा दूसरा कोई मेरा इस प्रकार का रूप देखने में समर्थ नहीं हो सकता जैसा कि मैं आज तुझे दिखलाई दे रहा हूँ।

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे प्रभो, यह आप का असीम अनुग्रह है कि आप ने मुझ को अपना विश्वरूप मुझ को दिखलाया, पर हे कृष्ण, मैं तो इस रूप को देखकर अभी तक घबड़ाया हुआ और भयाकुल ही हूँ। हे नाथ, यद्यपि इस रूप को देखना मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है, तथापि आप अब इस विस्तृत रूप को समेटकर मुझ को अपना वह चतुर्भुज रूप ही दिखलाने की कृपा कीजिए।

इस के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

इस प्रकार के मेरे घोर रूप को देखकर तूँ व्यथित मत हो और विमूढ मत बन। तूँ भय छोड़कर, प्रसन्न होकर फिर मेरा यह वही रूप देख।

गी० गौ०—हे अर्जुन, मेरे विकराल, घोर, भयंकर इस रूप को देखकर तुझ को घबड़ाने की, अधीर और अशान्त होने की तथा अपनी बुद्धि भ्रम में डाले रखने की कोई आवश्यकता नहीं है, तूँ व्यर्थ ही भयभीत और विमूढ हो रहा है, तुझे ऐसा नहीं होना चाहिए। अब इस व्यर्थ के भय को छोड़ दे और मन को प्रसन्न तथा संतुष्ट कर ले और फिर तूँ देख कि अब मैं ने तेरे लिए यह वही पहले-वाला चतुर्भुजी रूप धारण कर लिया है।

क० प्र०—प्यारे मित्रो, अब विराट् रूप दिखलाने के सभी उद्देश्य पूरे हो गये। अर्जुन ने भगवान् की विश्वव्यापकता देखने की इच्छा प्रकट की थी, उस की पूर्ति हो गई और भगवान् उस को भली भाँति अपना तात्त्विक ज्ञान करा देना चाहते थे, वह भी पूर्ण हो गया। इस लिए अब अर्जुन की प्रार्थना मानकर उस के सामने से अपना विकराल, भीषण, आश्चर्य और भयकारक विश्वरूप तिरोहित कर लेने में भगवान् को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं थी। इसी लिए उन्होंने सतोष दिलाते हुए कहा कि हे अर्जुन, अब तूँ किसी व्यथा में मत रह और न दिशाओं को जानने में असमर्थ बना रह। मेरा यह घोर भीषण रूप देखकर इन दुःखों में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है। ले देख, अब मैं तुझे वही पुराना शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करनेवाला चतुर्भुज रूप दिखला रहा हूँ।

यहाँ कोई प्रश्न उठा सकता है कि जब भगवान् को अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार हो थी और वे अब चतुर्भुज रूप दिखलाने को तैयार हो हो गये थे, तो उन्हें अर्जुन से यह कहने की क्या जरूरत थी कि तूँ व्यथित और विमूढ मत हो, मेरा चतुर्भुज रूप देख? उस समय तो इतना ही कहना पर्याप्त था कि तूँ यह विराट् रूप नहीं देखना चाहता है, तो चतुर्भुज रूप ही ले देख? इस का समाधान यह है कि ऐसा कहकर भगवान् अर्जुन को उस की कमजोरी बतला देना चाहते थे। अर्जुन को जो रूप देखकर व्याकुलता, अशान्ति और भय हो गया था, वह रूप वास्तव में इन विषम अवस्थाओं को जन्म देने के लिए नहीं दिखलाया गया था। उस रूप को दिखलाने का खास प्रयोजन यही था कि उसे देखकर अर्जुन जगत् की वास्तविक परिस्थिति से परिचित हो जाय, वह जान जाय कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, यक्ष, गन्धर्व, नर, नारी, पशु, पक्षी, सुख, दुःख, जन्म, मरण आदि आदि जितने भी नाम, रूप और गुणात्मक पदार्थ सृष्टि में दिखलाई पडते हैं वे सब भगवान् के ही अंश और विभूति हैं, भगवान् के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। अर्जुन ने इन बातों को देखा और समझा, परन्तु साहसपूर्वक धैर्य धारण न कर सका। ससार भर की सभव असंभव वस्तुएँ एक ही जगह देखकर सन्त्रस्त और उद्विग्न हो गया जो भगवान् की दृष्टि में उचित नहीं था। इसी अनौचित्य को समझाने के लिए भगवान् को कहना पड़ा कि इस विराट् रूप को देखकर तुझे व्याकुल, विक्षिप्त, दिङ्मूढ और स्वभावशून्य (अपनी हालत से बेखबर) नहीं होना चाहिए। मैं ने बहुत खुश होकर अपने योग के बल से यह रूप तुझ को दिखलाया है। इस लिए इस को देखकर तो प्रसन्न और भयमुक्त ही होना चाहिए। तूँ जानता है कि युद्ध में मैं तेरे पक्ष की जीत का इच्छुक हूँ। इस हालत में मेरे असीम सामर्थ्य और बल को देखकर तुझे स्वभावतः यही सोचना चाहिए था इतनी विशाल शक्ति, महिमा और प्रभाव जिन का है वे ही सर्वेश्वरमय हरि जब मेरे ऊपर कृपालु हैं तब फिर तो मेरी विजय में कुछ सदेह ही नहीं

है। और ऐसा सोचकर तेरे रग रग में वीरभाव का स्पष्ट उद्रेक हो जाना चाहिए था। सो सो हुआ नहीं, उलटे तूँ ने अपना धैर्य खो दिया, दिशाओं का ज्ञान भुला दिया और बैठे बैठाये व्यर्थ ही अशान्ति का आवाहन कर लिया। अस्तु; जो किया वह अच्छा ही किया, किंतु अब इन बातों को छोड़ दे, व्यर्थ के वैक्लव्य और विमूढभाव में मत पड़ा रह। भय को छोड़कर अब प्रसन्न हो जा, क्योंकि तेरी दशा देखकर अब मैं इस घोर रूप को छोड़कर वही पहलेवाला चतुर्भुज रूप धारण कर रहा हूँ।

बस, इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करने के लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मेरा ऐसा घोर रूप देखकर तुझे न तो किसी प्रकार की व्यथा का अनुभव करना चाहिए और न मोहाभिभूत होना चाहिए। तूँ भय को छोड़कर प्रसन्न हो जा और मेरा यह पहलेवाला ही रूप देख।

संजय के मुख से भगवान् के विराट् रूप की अर्जुन द्वारा की हुई उपर्युक्त स्तुति और भगवान् द्वारा अर्जुन को दी हुई आश्वासनवाणी का सविस्तृत वर्णन सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा—क्यों संजय, क्या श्री कृष्ण ने सचमुच ही अपना वह अपार रूप उसी क्षण समेट लिया और अर्जुन को दिखलाने के लिए चार भुजाओंवाला रूप धारण कर लिया?

संजय ने कहा—हाँ राजन्, भगवान् ने अर्जुन पर कृपा करके उसी समय उस के इच्छानुकूल अपना रूप दिखलाया। आप को इस में संदेह क्यों हो रहा है?

धृतराष्ट्र ने कहा—संजय, संदेह क्यों न हो? तूँ उस विराट् देव का जैसा अद्भुत वर्णन कर गया उस पर विश्वासपूर्वक विचार करने से स्वभावतः यही प्रश्न उठता है कि जो इतना शक्तिमान् देवता होगा वह क्या अर्जुन जैसे एक मनुष्य के कहने से ही क्षण में एक रूप और दूसरे क्षण दूसरा रूप धारण कर लिया करेगा? उस देव को क्या अपने व्यक्तित्व की कुछ भी चिन्ता न होगी कि दूसरे के इशारों पर नाच नाचकर कभी कुछ और कभी कुछ दृश्य दिखलाया करेगा?

संजय ने कहा—राजन्, आप एक सर्वतः वृद्ध और अनुभवी पुरुष हैं। आप के मुख से अर्जुन के प्रति एक साधारण मनुष्य होने का विचार प्रकट होना शोभा नहीं देता। क्या इतनी बातें सुनकर भी अभी तक आप अर्जुन को किसी प्रकार असाधारण व्यक्तित्व रखनेवाला नहीं स्वीकार करना चाहते? आश्चर्य है आप के स्ववर्गपक्षपात को!

धृतराष्ट्र ने कहा—खैर, जाने दे इन बातों को। अब यही कह कि उस के बाद श्री कृष्ण ने अर्जुन को क्या दिखलाया और क्या सुनाया?

इस के उत्तर में 'हाँ, वही सुनिए' कहकर—

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय बोला—इस प्रकार उपर्युक्त कथन करके वासुदेव ने अर्जुन को फिर अपना रूप दिखलाया और (उन) महात्मा ने सुन्दर शरीरवाले होकर इस भयप्राप्त (अर्जुन) को पुनः आश्वासित किया ।

गी० गौ०—संजय ने कहा—हे राजन्, वसुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण ने ऊपर कही गई बातें उन संतोषकारक शब्दों में कहकर वसुदेव के घर उत्पन्न अपने उसी रूप का अर्जुन को प्रत्यक्ष दर्शन कराया और उस के बाद उन महात्मा ने उसी त्रिलोकसुन्दर रूप में स्थित होकर इस डरे हुए अर्जुन को बार बार आश्वासन दिया अर्थात् अनेक प्रकार से समझाया कि मेरा जो विकराल रूप देखकर तूँ घबड़ाया हुआ है वह रूप मैं ने हटा लिया; तूँ अब मेरा सुन्दर चतुर्भुज रूप देख और शान्ति ग्रहण कर, अशान्ति और अधीरता का त्याग करके स्थिर चित्तवाला हो जा।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, संजय की बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वह धृतराष्ट्र को यह बतलाते हुए कि वहाँ वसुदेव के पुत्र ने ही अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन कराया था और उन्हीं ने उस की प्रार्थना मानकर फिर अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया, साथ ही भगवान् के लिए 'महात्मा' यह सविशेषण शब्द प्रयुक्त कर रहा है। महात्मा का अर्थ है बहुत बड़ी आत्मावाला। और बहुत बड़ी आत्मा उसी की होती है जो विश्व भर में सर्वत्र वर्तमान रहे और सब को एक समान देखे। संजय ने ऐसा कहकर धृतराष्ट्र की उस शङ्का का निराकरण किया है जो उन्होंने यह कहकर उपस्थित की थी कि क्या अर्जुन के कहने से श्री कृष्ण ने तुरत अपना विराट् रूप समेटकर चतुर्भुज रूप दिखला दिया ?

जिस की आत्मा महान् होती है वह अपने में श्रद्धा रखनेवाले की किसी भी इच्छा को पूरी करने में विलम्ब नहीं करता। फिर अर्जुन जैसे परम श्रद्धालु अनन्य भक्त की किसी इच्छा को वे विराट् रूपधारी वासुदेव कृष्ण झटपट कैसे पूरी न करते ? महात्मा के लिए केवल श्रद्धा, विश्वास और ऊँचे दर्जे की (भरक) भक्ति अपेक्षित है। महात्मा पुरुष में

व्यक्त और अव्यक्त सभी तरह का सामर्थ्य रहना निर्विवाद बात है। इस लिए जहाँ उस की महान् आत्मा को यह मालूम हुआ कि अमुक भक्त मुझ से अमुक प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, त्यों ही वह उस भक्त की इच्छित सिद्धि को उस के सामने उपस्थित कर देता है। अर्जुन की प्रार्थनाओं ने पहले यह दर्शाया कि अर्जुन उन महात्मा श्री कृष्ण की सर्वव्यापकता देखने का इच्छुक है। महात्मा ने उस की वह इच्छा पूर्ण की। अर्जुन ब्रह्माण्ड भर में प्रत्यक्ष और स्थूल प्रत्यक्ष रूप से उन का विस्तार देखने लगा। भगवान् जितनी देर विश्वरूप धारण करके स्थित रहे उतनी देर के रूप का वर्णन करते हुए संजय ने एक बार भी उन के लिए वासुदेव शब्द का प्रयोग नहीं किया। उस ने प्रारम्भ में ही उन्हें महायोगेश्वर, हरि (११।९), सर्वाश्चर्यमय अनन्त देव (११।११) और महात्मा (११।१२) कहा; फिर दुबारा चर्चा आने पर केशव (११।३५) कहा और अब वासुदेव कहकर पुनः महात्मा कह रहा है। इन विशेष विशेष संबोधनशब्दों के प्रयोग से यह भाव निकलता है कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति अपने भिन्न भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न नामवाला हो जाया करता है, पर वास्तव में वह रहता है प्रारम्भ से अन्त तक एक ही व्यक्ति, उसी तरह भगवान् भी सारथिकर्म करने से लेकर विराट् रूप दिखलाने, उस के द्वारा घोर संहारक दृश्य उपस्थित करने और अब सौम्य शरीर धारण करने तक वही एक ही थे। एक लड़का ही पहले बचपन में केवल लड़का कहा जाता है, फिर सयाना होकर शरारतें करने लगता है, तो शरारती और बदमाश कहा जाता है, चोरी करता है, तो चोर कहा जाता है, फिर संतों के संग के प्रभाव में पड़कर यदि अच्छे कर्म करने लगता है, तो सज्जन कहा जाता है, पढ़ लिखकर पण्डित हो जाता है, तो विद्वान् कहलाता है, पढ़ाने लगता है, तो अध्यापक नाम से प्रसिद्ध होता है और पढ़ाना छोड़कर लेख लिखने और किसी पत्र की संपादकी करने लगता है, तो लेखक और संपादक कहलाने लगता है।

इसी प्रकार कोई विद्वान् और ज्ञानी महात्मा प्रसिद्ध होकर यदि पीछे मूर्खों और अज्ञानियों के कर्म करने लगे, तो वह विद्वान् और महात्मा नहीं रह जायगा, पहले के जानकार भी उस को मूर्ख और अज्ञानी ही कहेंगे। सुन्दर से सुन्दर पुरुष भी यदि होली का हौआ बनकर, मुँह में कालिख पोतकर, गले में मुण्डमाल पहनकर, गधे पर सवार होकर अपने ही घर में आये, तो उस को देखकर उस के घरवाले कदाचित् ही बिना भयभीत हुए रह जायँ, अन्यथा अधिक संभव यही है कि उस के लड़के बच्चे भी उस को अपना पिता न समझकर कोई भूत, प्रेत या पागल समझेंगे और उस से डरकर दूर भागेंगे। हाँ, जब वह अपना डरावना रूप बदल देगा, साबुन से कालिख धोकर भली भाँति स्नान कर लेगा और सर्वदा पहननेवाले कपड़े पहन लेगा, तो लड़के बच्चे उस को पहचानकर भयमुक्त हो जायँगे और उस को देखकर खुशी जाहिर करने लगेंगे।

भगवान् ने जब तक अपना साधारण वेष रखा तब तक उन का कुछ विशेष प्रकार का परिचय नहीं दिया गया। जब उन्होंने विराट् रूप का आविर्भाव करने के लिए अपने योग का सहारा लिया, तो संजय ने उन को महायोगेश्वर हरि कहा, जब इन्होंने विराट् रूप प्रकट कर दिया, तो सर्वैश्वर्यमय अनन्त देव के नाम से उन का परिचय देना आवश्यक हुआ, जब उन के शरीर में समस्त चराचर जीव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्रादि देवता दिखलाई पड़ने लगे, तो उन्हें महात्मा कहकर संबोधित करना पडा और अब जब कि इन्होंने फिर चिर प्रसिद्ध चतुर्भुज रूप धारण कर लिया, तो संजय को महात्मा वासुदेव के नाम से ही फिर उन के रूप का वर्णन करना पडा और सौम्यवपु अर्थात् वही हरि (विष्णु) रूप शरीरधारी विशेषण के साथ उन का स्मरण कराना आवश्यक हुआ।

वासुदेव और महात्मा कहकर संजय ने दूसरे रूप में—अप्रत्यक्ष भाव से—भीतर भीतर भगवान् के चरणों में अपनी भक्ति समर्पित की है। भगवान् को वासुदेव नाम से स्मरण करना बड़ा गूढ भाव रखता है। अजामिल की कथा आप को बतलाई जा चुकी है। आजन्म के पापी उस *अजामिल ने मरते समय अपने पुत्र के लिए नारायण* कहकर बुलाया और बदले में आ गये भगवान् विष्णु के दूत जिन्होंने यमराज के दूतों को मार भगाया और पापी अजामिल को पुण्यात्माओं के लिए गन्तव्य विष्णु के लोक में पहुँचाया। यमदूत बिचारे भकुआ बनकर अपना सा मुँह लिये यमराज के पास लौट गये और उलाहना देने लगे कि आप ने ऐसी जगह *हमें क्यों भेजा जहाँ इस प्रकार हमारा अपमान हुआ? इस के उत्तर में यमराज को* बतलाना पडा कि मेरे भेजने में भूल नहीं हुई है, बल्कि तुम लोगों ने परिस्थिति समझने में भूल की है। पर अब आगे ऐसी भूल तुम से न हो, इस के लिए संक्षेपतः मैं एक उपाय बतला देता हूँ। वह यह कि—

कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भव शरणमितीरयन्ति ये त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥

जो कोई भी तुम्हें भगवान् को हे कमलनयन, हे वासुदेव, हे विष्णो, (अथवा हे नारायण,) हे धरणीधर, हे अच्युत, हे शङ्ख चक्र धारण करनेवाले, हमारे लिए शरण बनो, गति दो, इत्यादि नामों से पुकारते हुए तथा प्रार्थना करते हुए मिलें उन्हें तुम पापी कदापि मत समझो, किंतु उन पुण्यात्माओं को दूर से ही छोड़कर भाग आया करो। और—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥

जिन की जीभ भगवान् श्री कृष्ण के गुणों और नामों की स्तुति में नहीं लगी रहती, जिन का मन भगवान् के चरणकमलों का स्मरण नहीं करता रहता, जिन का सिर भगवान् को

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ — गी० ११।५

नमस्कार करने के लिए कभी नीचे नहीं झुकता, ऐसे भगवन्निमित्त कर्म न करनेवाले पापियों को तुम लोग निर्भीक होकर पकड़ लाया करो।

तात्पर्य यह कि भगवान् के श्री कृष्ण और वासुदेव आदि नामों का उच्चारण करना अपने हृदय की भक्ति को प्रकट करने का परम उत्तम साधन है। संजय ने उसी भक्ति की अभिव्यक्ति की है भगवान् को वासुदेव और सौम्य शरीरधारी महात्मा कहकर। अस्तु;

संजय ने इस प्रकार आन्तरिक भक्ति प्रदर्शित करते हुए जब धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्, इस ढंग से उपर्युक्त बातें कहकर वासुदेव ने अर्जुन को फिर अपना रूप दिखलाया और उन महात्मा ने सुन्दर शरीर धारण करके इस डरे हुए अर्जुन को फिर आश्वासन दिया, तो यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—अच्छा संजय, अब अर्जुन की दशा का वर्णन कर कि श्री कृष्ण को सौम्यरूप में देखकर उस ने क्या किया और क्या कहा ?

संजय ने कहा—राजन्, अर्जुन की उस समय ऐसी दशा नहीं थी कि वह भगवान् को प्रणाम करने के अतिरिक्त और कोई काम कर सकता। इस लिए 'उस ने क्या किया' यह तो पूछना ही नहीं है। हाँ, उस ने उस के बाद कहा क्या, यह आप अर्जुन के ही शब्दों में सुन लें।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन, आप का यह सौम्य मानवीय रूप देखकर अब (मैं) सचेता हुआ, (अपने) स्वभाव को पहुँच गया हूँ।

गी० गौ०— संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन्, वासुदेव भगवान् को सुन्दर मनोहर चतुर्भुज रूप में देखने के बाद अर्जुन ने कहा—हे दुष्टजनों का मान मर्दन करनेवाले श्री कृष्ण, आप को इस शान्त, स्निग्ध और मनोमुग्धकर सुन्दर मनुष्य के स्वरूप में देखकर अब मेरा चित्त मोहरहित हो गया, मेरे चित्त की अधीरता और अशान्ति दूर हो गई, मन ठिकाने आ गया, भय चला गया। आप की कृपा से प्रसन्नचित्त होकर अब मैं अपनी प्रकृति में आ गया हूँ और अब दिशा आदि का ठीक ठीक ज्ञान होने लगा है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, मनुष्य जब स्वभावतः आनन्द मङ्गल मनाने में दत्तचित्त रहता है, जब उसे कहीं किसी ओर कोई विघ्न, बाधा, दुःख, संकट का आभास भी नहीं

आदि में जाने आने से बचकर रहना चाहते हैं, पर अधिक समय तक एकान्त में रहने से जब जी ऊबने लगता है, तो वे भी दौड़कर बच्चों के साथ छेड़खानी करके, बिना पूछे ही घरेलू कामों में टाँग अड़ाकर और सभा सुसाइटियों में वक्तृता देकर मन बहलाने के लिए बाध्य होते हैं।

तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने पुराने अभ्यास के विषयों से कुछ ही देर के लिए अलग रहकर सुख से समय बिता सकता है, अधिक देर हो जाने पर वह चिरपरिचित वस्तुओं में घुल मिल जाने के लिए स्वयं तड़फड़ाने लगता है और तभी सुख की साँस लेता है जब उस का अभ्यस्त विषय उस के दायरे में आ जाय।

अर्जुन का भगवान् कृष्ण के साथ जब शुरू शुरू में परिचय हुआ तभी से वह उन के गुणों से आकृष्ट हो उन की भक्ति करने लगा और उन का जगत्सुन्दर रूप देख देखकर प्रसन्न होता रहा। भगवान् के चतुर्भुज रूप के दर्शन का उसे खूब अभ्यास हो गया। तब वह एक बार उन को भली भाँति समझ लेने के लिए उत्सुक हो उठा, उस चिरपरिचित चतुर्भुज रूप में केन्द्रित प्रभाव को देखना न चाहकर उस रूप का विस्तृत शक्ति सामर्थ्य देखने की इच्छा करने लगा। उस की इच्छा पूरी करने के लिए भगवान् को उस के सामने से अपना चतुर्भुज रूप हटाकर विस्तृत रूप दिखलाना पड़ा। अर्जुन ने अच्छी तरह उस रूप को देखा। यद्यपि उस विस्तृत विराट् रूप के उत्कट तेज के आगे उस की आँखें बड़ी कठिनाई से टिक पाती थीं, उस रूप को चारों ओर से तेजोमय देखकर उस की आँखों में चकाचौंध मच जाता था, फिर भी जब तक उस की उत्सुकता शान्त नहीं हुई तब तक उस ने भर भर आँखों उस रूप को देखा। परन्तु उस रूप को देखने का अभ्यास तो था नहीं। हमेशा तो वह भगवान् को सुन्दर मानवीय रूप में देखने का अभ्यासी था। इस लिए कुछ ही देर में उस की मनोदशा बदल गई, वह चाहने लगा कि अब मेरे सामने वही चिरपरिचित रूप आये तभी ठीक है, यह रूप अब नहीं देखा जाता। इस के लिए उस ने बहुत प्रार्थना की, हाथ जोड़े, पैरों पर मस्तक रखा और अन्त में भगवान् ने उस की यह इच्छा भी पूरी की। भगवान् अपने व्यापक रूप का संवरण कर अर्जुन के सामने अपने पूर्व रूप में प्रकट हो गये। बस, फिर तो सहज में ही अर्जुन की दशा सुधर गई, उस का चित्त शान्त हो गया, मन में धीरता आ गई, आँखों का चकाचौंध जाता रहा, सब दिशाएँ ठीक ठीक अपनी अपनी जगह पर मालूम पड़ने लगीं, क्योंकि उस चतुर्भुज रूप को देखते ही अर्जुन समझ गया कि अब मैं अपने मित्र, गुरु, रक्षक वासुदेव श्री कृष्ण की छत्रच्छाया में आ गया हूँ, विश्वरूपी देव के कालानिलसंनिभ उत्क्रान्त नेत्रों के सामने नहीं हूँ।

भगवान् के चतुर्भुज रूप का वर्णन करते हुए ऊपर के श्लोकों में सञ्जय ने भी सौम्य विशेषण का प्रयोग किया था और इस श्लोक में अर्जुन भी वही विशेषण लगाकर उन के रूप

होता रहता है उस समय भी अगर कहीं से अकस्मात कोई उस का विशेष प्रिय बन्धु, सखा, सुहृद् आ जाता है, तो वह अपने को सौगुने आनन्द मङ्गल का उपभोगी मानने लगता है—*सुख संपत्ति की दशा में भी प्रिय आगमन से मनुष्य को अपार हर्ष की अनुभूति हो उठती है।* फिर यदि वह किसी संकट में रहे, किसी कारण से उस का मन अधीर, अशान्त, विक्षुब्ध एवं भयत्रस्त रहे और उस समय कोई अन्तरङ्ग सखा या मित्र अचानक उस के पास आ पहुँचे, तो उस समय की उस की सुखानुभूति का तो वर्णन भी नहीं किया जा सकता। मनुष्य स्वभाव से ही सुख के दिनों में स्वनिर्भर और दुःख के दिनों में परनिर्भर हुआ करता है, सुखकाल में मनुष्य को अपने सुखों से ही अवकाश नहीं मिलता कि वह उस समय दूसरों की बात सोचे विचारे और दुःख के समय मनुष्य हर तरह से यही इच्छा करता है कि किसी भी उपाय से मुझे ऐसा अवसर मिले जिस से इस उपस्थित दुःख के अतिरिक्त सुख की भी बातें सोचने, देखने, कहने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो। एक बच्चे से लेकर बड़े, बूढ़े तक इस मनुष्य-स्वभाव, मानवीय प्रकृति अथवा नैसर्गिक रचनावैचित्र्य के अनुकूल आचरण करते देखे जाते हैं। बच्चे का पेट जब तक भरा रहता है तब तक वह अपने खेल कूद में मस्त रहता है, वह नहीं चाहता कि उस समय उस के माता, पिता, भाई, बहिन आदि सयाने लोग कहीं से आकर उस के खेल में बाधा डालें, वह अकेले अथवा अपने समान वय के बालकों के साथ ही उस समय आनन्द मनाने में भूला रहता है, पर जब उस के खाने पीने का समय आ जाता है, भीतर से भूख की खुदबुदी मालूम पड़ने लगती है, तब वह हमजोली खिलाड़ियों और आनन्द-दायी खेलों को छोड़कर स्वयं उन्हीं माता पिता के पास दौड़कर चला जाता है जिन की उप-स्थिति से वह छिपकर रहना चाहता था, जिन की पहुँच से अपने को बाहर रखना चाहता था। सयाने लोग जिस समय साहित्य के मनन, अनुशीलन, समालोचन में लीन, कलाकौशल के दर्शन, *निरीक्षण, अन्वेषण में निमग्न,* अथवा *प्रकृति नटी की इधर उधर बिखरी हुई* तरह तरह की दृश्यावलियों के नाना भावों को समझने तथा समझकर उन को शृङ्खला मिलाने और किसी एक गूढ़ संकेत का आविष्कार कर जगत् को चमत्कृत करने में समुत्सुक रहते हैं उस समय तक उन्हें अपनी एकान्तप्रणयिनी, चिरप्रेमोपासिता सहचरी का संग भी अपने ध्येय के ख़याल में उद्वेगकर ही प्रतीत होता है। उस समय वे चारों ओर से एकाकी एकान्तसेवी बनकर रहना ही अधिक, पसंद करते हैं, पर जब साहित्य के मननादि से किसी प्रकार की अस्थिरता, कला-*कौशल के अन्वेषणादि से चञ्चलता और प्राकृतिक दृश्यों की शृङ्खला मिलाने से अपने ही चित्त* में अशृङ्खलता का अनुभव होने लगता है, उस समय वे इन सभी तरह के कामों को छोड़कर उसी के साथ रहने के लिए लालायित हो पड़ते हैं जिस से दूर रहने में ही अब तक उन्हें भलाई नज़र आती थी। वृद्ध लोग अक्सर लड़कों से, घरेलू काम धंधों से और सभा सुसाइटी

आदि में जाने आने से बचकर रहना चाहते हैं, पर अधिक समय तक एकान्त में रहने से जब जी ऊबने लगता है, तो वे भी दौड़कर बच्चों के साथ छेड़खानी करके, बिना पूछे ही घरेलू कामों में टाँग अड़ाकर और सभा सुसाइटियों में वक्तृता देकर मन बहलाने के लिए बाध्य होते हैं।

तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने पुराने अभ्यास के विषयों से कुछ ही देर के लिए अलग रहकर सुख से समय बिता सकता है, अधिक देर हो जाने पर वह चिरपरिचित वस्तुओं में घुल मिल जाने के लिए स्वयं तड़फड़ाने लगता है और तभी सुख की साँस लेता है जब उस का अभ्यस्त विषय उस के दायरे में आ जाय।

अर्जुन का भगवान् कृष्ण के साथ जब शुरू शुरू में परिचय हुआ तभी से वह उन के गुणों से आकृष्ट हो उन की भक्ति करने लगा और उन का जगत्सुन्दर रूप देख देखकर प्रसन्न होता रहा। भगवान् के चतुर्भुज रूप के दर्शन का उसे खूब अभ्यास हो गया। तब वह एक बार उन को भली भाँति समझ लेने के लिए उत्सुक हो उठा, उस चिरपरिचित चतुर्भुज रूप में केन्द्रित प्रभाव को देखना न चाहकर उस रूप का विस्तृत शक्ति सामर्थ्य देखने की इच्छा करने लगा। उस की इच्छा पूरी करने के लिए भगवान् को उस के सामने से अपना चतुर्भुज रूप हटाकर विस्तृत रूप दिखलाना पड़ा। अर्जुन ने अच्छी तरह उस रूप को देखा। यद्यपि उस विस्तृत विराट् रूप के उत्कट तेज के आगे उस की आँखें बड़ी कठिनाई से टिक पाती थीं, उस रूप को चारों ओर से तेजोमय देखकर उस की आँखों में चकाचौंध मच जाता था, फिर भी जब तक उस की उत्सुकता शान्त नहीं हुई तब तक उस ने भर भर आँखों उस रूप को देखा। परंतु उस रूप को देखने का अभ्यास तो था नहीं। हमेशा तो वह भगवान् को सुन्दर मानवीय रूप में देखने का अभ्यासी था। इस लिए कुछ ही देर में उस की मनोदशा बदल गई, वह चाहने लगा कि अब मेरे सामने वही चिरपरिचित रूप आये तभी ठीक है, यह रूप अब नहीं देखा जाता। इस के लिए उस ने बहुत प्रार्थना की, हाथ जोड़े, पैरों पर मस्तक रखा और अन्त में भगवान् ने उस की यह इच्छा भी पूरी की। भगवान् अपने व्यापक रूप का संवरण कर अर्जुन के सामने अपने पूर्व रूप में प्रकट हो गये। बस, फिर तो सहज में ही अर्जुन की दशा सुधर गई, उस का चित्त शान्त हो गया, मन में धीरता आ गई, आँखों का चकाचौंध जाता रहा, सब दिशाएँ ठीक ठीक अपनी अपनी जगह पर मालूम पड़ने लगीं, क्योंकि उस चतुर्भुज रूप को देखते ही अर्जुन समझ गया कि अब मैं अपने मित्र, गुरु, रक्षक वासुदेव श्री कृष्ण की छत्रच्छाया में आ गया हूँ, विश्वरूपी देव के कालानिलसंनिभ ज्वलन्त नेत्रों के सामने नहीं हूँ।

भगवान् के चतुर्भुज रूप का वर्णन करते हुए ऊपर के श्लोकों में संजय ने भी सौम्य विशेषण का प्रयोग किया था और इस श्लोक में अर्जुन भी वही विशेषण लगाकर उन के रूप

का वर्णन कर रहा है। सौम्य के अर्थ होते हैं प्रसन्न, शान्त, गम्भीर, सुन्दर, मधुर, मनोहर, स्निग्ध इत्यादि। भगवान् के चतुर्भुज रूप को देखनेवाले के ऊपर उस रूप के द्वारा इसी प्रकार के प्रभाव छा जाया करते हैं जिस के कारण देखनेवाले का मन अपने आप उन के चरणों का दास बन जाता है, उन की भक्ति में ओतप्रोत हो जाता है, उन के ध्यान में मग्न हो उठता है। इसी लिए शास्त्रों में भगवान् के जिस किसी भी साकार रूप का वर्णन आया है उस रूप का इन्हीं भावों में चित्रण किया गया है। साकार प्रभु की पूजा करनेवाले भक्तों के सम्मुख भगवान् की इसी प्रकार की प्रतिमा का प्रतिष्ठित होना इसी लिए आवश्यक बतलाया गया है जिस में भक्त का सांसारिक दुःखों सन्तापों से व्यग्र मन भगवान् की ऐसी सौम्य मूर्ति देखते ही एक अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव करने लगे। यदि यह बात न होती, तो 'जले विष्णु स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके' का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाले सनातन ग्रन्थ बार बार विष्णु की चतुर्भुजी सौम्य मूर्ति की ही भक्ति, उपासना, पूजा, वन्दना पर अधिक ज़ोर न देते। वे सब को यही उपदेश देते कि भगवान् निराकार और सर्वरूपाकार हैं, किसी भी रूप या बिना रूप और बिना नाम के भी उन की भक्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है, इस लिए आवश्यक है केवल भक्ति। उस भक्ति का अभ्यास करने के लिए चाहे अपने सामने हाथी, घोड़ा, भालू, शेर, बन्दर या पशु पक्षी की मूर्ति रखकर उसी में भगवान् की आराधना करो, चाहे राम, कृष्ण, नृसिंह, वराह, वामन, परशुराम आदि की मूर्ति रखो और चाहे कुछ न रखकर केवल भावना-निर्मित आकार में ध्यान लगाओ अथवा भावना से भी परे निराकार रूप में समाहितचेता बनो। किंतु नहीं। हमारे शास्त्रप्रणेता ऋषि महर्षि जानते थे कि मन की कैसी गति होती है, किस तरह के रूप रंग में वह प्रेम करने का स्वभाववाला है और कैसे रूप रंग से उस को अरुचि रहती है। इसी लिए व्यापक प्रभु का एक विभूतिमय रूप होते हुए भी शेर, भालू, हाथी, घोड़ा आदि की पूजा भक्ति का उन लोगों ने विधान नहीं किया और बार बार इसी बात पर ज़ोर दिया कि भक्तिपथ का पथिक बनना है, तो राम के सुन्दर स्वरूप को ध्यान में रखो, कृष्ण के मोहन रूप के प्रेमी बनो, विष्णु की सौम्य मूर्ति की पूजा करो, इत्यादि।

यद्यपि निराकार परमात्मा की उपासना के प्रचार के लिए भी बहुत से शास्त्रकारों और शास्त्रज्ञों का विशेष आग्रह देखा जाता है जो सब तरह विधेयात्मक ही है, पर वह प्रकार बड़ा कठिन है, सब लोग उस पर अचल धारणा नहीं कर सकते। उस की धारणा के लिए अत्यन्त मनोजयी होने की आवश्यकता है, बुद्धि में अनुपम निश्चलता अपेक्षित है और ये सब बातें साकार की उपासना द्वारा ही सीखी जा सकती हैं। इस प्रकार साकारोपासना को पहली सीढ़ी और निराकारोपासना को आखिरी सीढ़ी यदि कहा जाय, तो कुछ अनुचित न होगा। और यह तो सर्वदा ध्यान रखना ही होगा कि साकार के उपासक का उपास्य कोई सौम्य रूप

का वर्णन कर रहा है। सौम्य के अर्थ होते हैं प्रसन्न, शान्त, गम्भीर, सुन्दर, मधुर, मर्म स्निग्ध इत्यादि। भगवान् के चतुर्भुज रूप को देखनेवाले के ऊपर उस रूप के द्वारा प्रकार के प्रभाव डा जाया करते हैं जिस के कारण देखनेवाले का मन अपने आप उन के च का दास बन जाता है, उन की भक्ति में ओतप्रोत हो जाता है, उन के ध्यान में मग्न हो है। इसी लिए शास्त्रों में भगवान् के जिस किसी भी साकार रूप का वर्णन आया है उस का इन्हीं भावों में चित्रण किया गया है। साकार प्रभु की पूजा करनेवाले भक्तों के भगवान् की इसी प्रकार की प्रतिमा का प्रतिष्ठित होना इसी लिए आवश्यक बतलाया ग जिस में भक्त का सांसारिक दुःखों संतापों से व्यग्र मन भगवान् की ऐसी सौम्य मूर्ति देख एक अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव करने लगे। यदि यह बात न होती, तो 'जले स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके' का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाले सनातन ग्रन्थ बा विष्णु की चतुर्भुजी सौम्य मूर्ति की ही भक्ति, उपासना, पूजा, वन्दना पर अधिक ज़ोर न वे सब को यही उपदेश देते कि भगवान् निराकार और सर्वरूपाकार हैं, किसी भी रूप या रूप और बिना नाम के भी उन की भक्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है, इस लिए आवश्य केवल भक्ति। उस भक्ति का अभ्यास करने के लिए चाहे अपने सामने हाथी, घोड़ा, भालू बंदर या पशु पक्षी की मूर्ति रखकर उसी में भगवान् की आराधना करो, चाहे राम, नृसिंह, वराह, वामन, परशुराम आदि की मूर्ति रखो और चाहे कुछ न रखकर केवल भ निर्मित आकार में ध्यान लगाओ अथवा भावना से भी परे निराकार रूप में समाहितचेता किंतु नहीं। हमारे शास्त्रप्रणेता ऋषि महर्षि जानते थे कि मन की कैसी गति होती है, तरह के रूप रंग में वह प्रेम करने का स्वभाववाला है और कैसे रूप रंग से उस को रहती है। इसी लिए व्यापक प्रभु का एक विभूतिमय रूप होते हुए भी शेर, भालू, घोड़ा आदि की पूजा भक्ति का उन लोगों ने विधान नहीं किया और बार बार इसी बात ज़ोर दिया कि भक्तिपथ का पथिक बनना है, तो राम के सुन्दर स्वरूप को ध्यान में कृष्ण के मोहन रूप के प्रेमी बनो, विष्णु की सौम्य मूर्ति की पूजा करो, इत्यादि।

यद्यपि निराकार परमात्मा की उपासना के प्रचार के लिए भी बहुत से शास्त्रकारों शास्त्रों का विशेष आग्रह देखा जाता है जो सब तरह विधेयात्मक ही है, पर वह प्रकार कठिन है, सब लोग उस पर अचल धारणा नहीं कर सकते। उस की धारणा के लिए बार मनोजयी होने की आवश्यकता है, बुद्धि में अनुपम निश्चलता अपेक्षित है और ये सब साकार की उपासना द्वारा ही सीखी जा सकती हैं। इस प्रकार साकारोपासना को प सीढ़ी और निराकारोपासना को आखिरी सीढ़ी यदि कहा जाय, तो कुछ अनुचित न हो और यह तो सर्वदा ध्यान रखना ही होगा कि साकार के उपासक का उपास्य कोई सौम्य

ही होना चाहिए,क्योंकि वाराह नृसिंहादि देव साकार के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होते हुए भी जरा विकराल दर्शन (भयंकर दिखाई देनेवाले) हैं और वैसे रूप में प्रेम उत्पन्न होना मानवीय प्रकृति के लिए कुछ टेढ़ा पड़ता है। यह ठीक है कि भगवान् के उन रूपों की भक्ति करनेवाले भी संसार में हैं ही, पर यह भी असत्य नहीं है कि उन उपासकों की संख्या राम कृष्णादि के उपासकों की संख्या की तुलना में अपेक्षाकृत बहुत कम है। और इस का एकमात्र कारण, मैं समझता हूँ, उन उन का घोर-दर्शनत्व ही है जैसा कि कहा ही जा चुका है कि यह जरा मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध पड़ता है।

मनुष्य के स्वभाव का स्पष्ट प्रतीक देखने के लिए मनुष्य के बच्चों के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ेगा। बच्चे जिन वस्तुओं को देखकर साधारणतः डर जाते हैं उन्हीं वस्तुओं को देखकर सयानों के मन में भी भय का संचार होता है, पर सयाने चूँकि सयाने हैं, उन में अभ्यास के द्वारा एक प्रकार की दृढ़ता आ गई रहती है, इस लिए वे डरते हुए भी डरने के भाव को स्पष्ट नहीं होने देते, और कभी कभी तो उन की दृढ़ता उन्हें डरने भी नहीं देती। अस्तु; जो कुछ भी कारण हो, इतना तो मानना ही पड़ता है कि भयोत्पादक वस्तुओं का प्रभाव बच्चों पर जल्दी पड़ता है, इस लिए मनुष्य के वास्तविक स्वभाव का अंदाजा लगाने के लिए बच्चों की प्रकृति का आश्रय लेना पड़ेगा।

बच्चों के सामने यदि एक सुन्दर हँसमुँह मिट्टी का खिलौना रख दिया जाय, तो वे उसे उठाकर गोद में रख लेने के लिए छटपटाने लगते हैं और अगर उस सुन्दर खिलौने को हटाकर उस की जगह मिट्टी का ही एक खूँखार शेर रख दिया जाय, तो वे चिल्लाकर दूर जा खड़े होते हैं। इस से मालूम होता है कि मनुष्य स्वभावतः सुन्दरताप्रेमी है, भयंकरता का उपासक नहीं। इस विषय की एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है।

एक माता अपनी बच्ची को साथ लेकर भगवान् के मन्दिर में दर्शन करने गई। मन्दिर के फाटक पर दोनों ओर शोभा के लिए दो पत्थर के बड़े बड़े शेर बनाये हुए थे। उन शेरों के सामने पहुँचते ही बच्ची माता का हाथ छुड़ाकर चिल्लाती हुई पीछे भागने लगी। माता की समझ में नहीं आया कि यह ऐसा क्यों कर रही है। उस ने लपककर उसे जा पकड़ा और डरने का कारण पूछा, तो बच्ची ने कहा कि तुम तो मुझ को यह कहकर यहाँ ले आई थीं कि मन्दिर में बड़ी सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ देखने को मिलेंगी और मैं देखती हूँ कि सामने ही दो बाघ बैठे हुए हैं जिन्हें देखने से ऐसा मालूम होता है कि अभी पकड़कर चबा जायेंगे।

माता ने कहा—अरे पगली, ये शेर कुछ सचमुच के शेर थोड़े ही हैं कि तुझे खा जायेंगे? ये पत्थर के बने हुए हैं जो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकते। इन से डरना नहीं चाहिए।

बच्ची ने कहा—नहीं माँ, मुझे तो बड़ा डर मालूम हो रहा है, मैं अब इस फाटक के रास्ते मन्दिर में नहीं चलूँगी, कोई दूसरा रास्ता हो, तो ले चल।

बच्ची पत्थर का शेर, देखकर डर गई।

पर पत्थर के भगवान् से खुश हुई।

બાળકી પથ્થરના સિંહને જોઈ ડરી ગઈ

પરતુ પથ્થરના ભગવાન જોઈ ખુશી થઈ.

ही होना चाहिए,क्योंकि वाराह नृसिंहादि देव साकार के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होते हुए भी उग्र विकराल दर्शन (भयंकर दिखाई देनेवाले) हैं और वैसे रूप में प्रेम उत्पन्न होना मानवीय प्रकृति के लिए कुछ टेढ़ा पड़ता है। यह ठीक है कि भगवान् के उन रूपों की भक्ति करनेवाले भी संसार में हैं ही, पर यह भी असत्य नहीं है कि उन उपासकों की संख्या राम कृष्णादि के उपासकों की संख्या की तुलना में अपेक्षाकृत बहुत कम है। और इस का एकमात्र कारण, मैं समझता हूँ, उन उन का घोर-दर्शनत्व ही है जैसा कि कहा ही जा चुका है कि यह उग्रता मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध पड़ता है।

मनुष्य के स्वभाव का स्पष्ट प्रतीक देखने के लिए मनुष्य के बच्चों के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ेगा। बच्चे जिन वस्तुओं को देखकर साधारणतः डर जाते हैं उन्हीं वस्तुओं को देख-कर सयानों के मन में भी भय का संचार होता है, पर सयाने चूँकि सयाने हैं, उन में अभ्यास के द्वारा एक प्रकार की दृढ़ता आ गई रहती है, इस लिए वे डरते हुए भी डरने के भाव को स्पष्ट नहीं होने देते, और कभी कभी तो उन की दृढ़ता उन्हें डरने भी नहीं देती। अस्तु; जो कुछ भी कारण हो, इतना तो मानना ही पड़ता है कि भयोत्पादक वस्तुओं का प्रभाव बच्चों पर जल्दी पड़ता है, इस लिए मनुष्य के वास्तविक स्वभाव का अंदाजा लगाने के लिए बच्चों की प्रकृति का आश्रय लेना पड़ेगा।

बच्चों के सामने यदि एक सुन्दर हँसमुँह मिट्टी का खिलौना रख दिया जाय, तो वे उसे उठाकर गोद में रख लेने के लिए छटपटाने लगते हैं और अगर उस सुन्दर खिलौने को हटाकर उस की जगह मिट्टी का ही एक खूँखार शेर रख दिया जाय, तो वे चिल्लाकर दूर जा खड़े होते हैं। इस से मालूम होता है कि मनुष्य स्वभावतः सुन्दरताप्रेमी है, भयंकरता का उपासक नहीं। इस विषय की एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है।

एक माता अपनी बच्ची को साथ लेकर भगवान् के मन्दिर में दर्शन करने गई। मन्दिर के फाटक पर दोनों ओर शोभा के लिए दो पत्थर के बड़े बड़े शेर बनाये हुए थे। उन शेरों के सामने पहुँचते ही बच्ची माता का हाथ छुड़ाकर चिल्लाती हुई पीछे भागने लगी। माता की समझ में नहीं आया कि यह ऐसा क्यों कर रही है। उस ने लपककर उसे जा पकड़ा और डरने का कारण पूछा, तो बच्ची ने कहा कि तुम तो मुझ को यह कहकर यहाँ ले आई थीं कि मन्दिर में बड़ी सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ देखने को मिलेंगी और मैं देखती हूँ कि सामने ही दो बाघ बैठे हुए हैं जिन्हें देखने से ऐसा मालूम होता है कि अभी पकड़कर चबा जायेंगे।

माता ने कहा—अरे पगली, ये शेर कुछ सचमुच के शेर थोड़े ही हैं कि तुझे खा जायेंगे? ये पत्थर के बने हुए हैं जो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकते। इन से डरना नहीं चाहिए।

बच्ची ने कहा—नहीं माँ, मुझे तो बड़ा डर मालूम हो रहा है, मैं अब इस फाटक के रास्ते मन्दिर में नहीं चलूँगी, कोई दूसरा रास्ता हो, तो ले चल।

माता ने कहा—बेटी, तूँ कैसी बेवकूफ है ? मैं तेरे साथ हूँ तब भी तूँ डरती है ? चल, भीतर मैं तुझे बड़ी अच्छी मूर्ति दिखलाऊँगी जिसे देखकर तूँ बहुत खुश होगी।

बहुत आश्वासन देने से बच्ची किसी तरह भीतर गई। वहाँ जाकर उस ने जो कुछ देखा उस से उस का चेहरा खुशी के मारे खिल उठा। उस मन्दिर में भगवान् नारायण और लक्ष्मीजी की मूर्ति स्थापित थी, उन के मुखमण्डल को देखने से ऐसा ज्ञात होता, मानों कितने सूर्यों का प्रकाश फैल रहा है ? अपनी माता को उस मूर्ति के आगे परिक्रमा और मस्तक झुका झुकाकर प्रणाम करते देखकर वह बच्ची भी मस्तक झुकाने और नाच नाचकर प्रसन्नता प्रकट करने लगी। अन्त में उस की माता जब पूजन कर चुकी, तो उस ने कहा—माँ, ये दोनों मूरतें कितनी अच्छी हैं ? मन होता है, दोनों का मुँह चूम लूँ, लेकिन न जाने क्यों तुम उन को छूने ही नहीं देती हो ? माँ, ये दोनों मूरतें भी मिट्टी की ही हैं न ?

माता ने कहा—नहीं, ये मूर्तियाँ भी पत्थर की ही हैं ?

बच्ची ने कहा—अरे, पत्थर की ? जिस के वे दोनों बाघ हैं ?

माता ने कहा—हाँ; उसी के, लेकिन फरक इतना ही है कि बाघ मामूली पत्थर के हैं और ये भगवान् तथा लक्ष्मी माता पोखराज नीलम आदि कीमती पत्थरों से बनाई गई हैं।

लड़की नीलम पोखराज तो भला क्या जानती, उस ने इतना ही समझा कि ये बड़ी कीमती मूर्तियाँ हैं और इन की पूजा की जाती है। इस लिए उस ने भी माता की झोलची में से फूल अक्षत आदि निकालकर भगवान् के चरणों पर चढ़ाया और घर लौटते समय रास्ते भर शेर की निन्दा तथा उन मूर्तियों की प्रशंसा करती रही। उस की बातों से यह स्पष्ट ही विदित हो रहा था कि हजार उद्योग करने पर भी वह शेरों की पूजा नहीं कर सकती, पर वे सौम्य मूर्तियाँ यदि उसे मिल जायँ, तो उन की वह दिन रात पूजा ही करती रहेगी।

तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुरूप वस्तु में ही प्रेम करता है और जिस में प्रेम करता है उसी को देखना, सुनना, पूजना चाहता है, क्योंकि उसी को देखने से उसे प्रसन्नता होती है, शान्ति मिलती है, उसी के गुणानुवाद सुनने से उसे आनन्द मालूम होता है, धैर्य के लिए सहारा सा मिल जाता है, उसी को पूजने से उसे संतोष होता है, भक्ति बढ़ती जाती है। इसी लिए सब सामर्थ्यों से परिपूर्ण, अतिशय महान् और निखिल ब्रह्माण्डवन्द्य विराट् रूप देखकर अर्जुन घबड़ा गया, शान्ति खो बैठा; भक्ति रखते हुए तद्‌भावभावित होकर प्रसन्न नहीं हो सका और जब उस के सदा के स्वभाव और अभ्यास के अनुकूल चतुर्भुज रूप उस के सामने प्रकट हो गया, तो वह प्रसन्न हो गया, उस का खोया धैर्य वापस आ गया उस की भूली हुई शान्ति उस के हृदय में पुनः स्थान पा गई और उस को साफ साफ क ह देना पड़ा कि—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम । देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ —गी० ११।५२

हाँ प्रभो, अब आप का यह शान्त सुन्दर मनुष्यरूप देखकर मैं स्वस्थ हुआ, मेरा जी ठिकाने आ गया—अब मैं अपनी ठीक ठीक स्थिति में पहुँच गया।

अर्जुन के इस कथन में 'मानुष रूप' कहकर भगवान् के चतुर्भुज रूप की प्रशंसा की गई है। इस लिए भगवान् ने सोचा कि अर्जुन इस रूप में मुझे देखकर कहीं ऐसा न समझ ले कि यह रूप मनुष्य के समान होने से कुछ विशेष महत्त्व का नहीं है, और तब कहीं वह फिर पहले की तरह केवल सखा और यादव ही न मानने लगे, क्योंकि ऐसा होने पर विराट् रूप दिखलाने का सब प्रयोजन ही अधूरा रह जायगा। इसी आशङ्का का निवारण करने के लिए—

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

श्री भगवान् बोले—मेरा जो रूप (तूँ) देख रहा है, यह अत्यन्त दुर्दर्श है। देवता लोग भी इस रूप के दर्शन की नित्य इच्छा किया करते हैं।

गी० गौ०—श्री भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, मुझ को सौम्य मनुष्य के रूप में देखकर तूँ यह मत समझ लेना कि यह रूप मनुष्याकार होने के कारण सब के देखने में आ सकता है, किंतु तूँ यह दृढ विश्वास रख कि इस समय जिस रूप में मैं तुझे दिखलाई पड़ रहा हूँ, मेरा यह रूप भी बड़ी कठिनाई से दिखाई देनेवाला है, इस रूप का दर्शन पाना भी साधारण बात नहीं है। मनुष्य की तो बात ही क्या है, बड़े बड़े देवता लोग भी मुझ को इस रूप में देखने की हरदम आशा और अभिलाषा किये बैठे रहते हैं।

क० प्र०—प्रिय प्रभुप्रेमी सज्जनो, विशाल महाकाल के रूप में देखने के बाद सुन्दर चतुर्भुज रूप में भगवान् को देखकर अर्जुन का मन प्रसन्न हो गया और वह आनन्दित होकर कह उठा कि हाँ भगवन्, यह मानवशरीर धारण करके आपने मेरी व्यथा हर ली, यह रूप देखकर मेरा चित्त शान्त हो गया। उस ने यह नहीं सोचा कि चार भुजाओं से युक्त, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए वैष्णवरूप को मानवरूप कहना कहाँ तक उचित हो रहा है। वह बिचारा पहले से घबड़ाया हुआ था, उस की चित्तवृत्ति ठिकाने नहीं थी। इसलिए अपने चिरपरिचित कृष्ण को देखकर ज्यों ही उस की मानसिक वृत्तियों में स्थिरता आने लगी त्यों ही वह भगवान् को मानुष तनधारी कह बैठा। उस का यह कहना बहुत अंशों में यथार्थ ही था। केवल चार भुजाओं को छोड़कर उस रूप में और सभी लक्षण मनुष्यों के

समान ही थे, पर मनुष्यों के समान होने से ही भगवान् को मनुष्यरूपी कह देना कहाँ तक न्यायसंगत है, यह जरा सोचने की बात है। अर्जुन यदि पहले से घबड़ाया हुआ न रहा होता, तो अपने योगसामर्थ्य से पहले विश्वरूप दिखानेवाले श्री कृष्ण को बाद में पुनः श्री कृष्ण-रूपी होने पर भी वह मानुष रूपधारी कहकर कदापि संबोधित न करता। भगवान् उस की इस दशा को भली भाँति समझ रहे थे, वे देख रहे थे कि अर्जुन अपने को प्रकृतिस्थ कहता तो है, पर वास्तव में वह अभी ठीक ठीक प्रकृतिस्थ नहीं हो सका है। इस लिए उन्हें यह आवश्यक जान पड़ा कि अपने इस रूप की महिमा भी आज इस को बतला देनी चाहिए—मेरे विराट् रूप के प्रभाव माहात्म्य से जिस भाँति यह परिचित हो चुका है वैसे ही इस को वासुदेव कृष्ण का भी ज्ञान करा देना चाहिए। इस से दो लाभ होंगे—एक तो यह कि अपने मित्र, और इस समय के सारथी, कृष्ण के चतुर्भुज रूप को भी अनुपमेय, अतिशय सामर्थ्यवान् और अलौकिक जानकर यह इस रूप का सदा दर्शन पाने के कारण अपने को परम सौभाग्यशाली समझ जायगा जिस से इस के प्रकृतिस्थ होने में भी शीघ्रता होगी और दूसरा यह कि ऐसा जान लेने पर मेरी आज्ञाओं का पालन करने के लिए इस में दृढ़ता आ जायगी। इसी अभि-प्राय से भगवान् ने अपने चतुर्भुज रूप के दर्शन की अतिशय कठिनाई बतलाते हुए कहा कि यह रूप तूँ सर्वदा देखता है, इस लिए इस को साधारण न समझ। यह रूप देख सकना देवताओं के लिए भी महान् दुर्लभ है, देवता भी दिन रात चाहते रहते हैं कि किस उपाय से इस रूप का दर्शन प्राप्त हो।

देवता स्वभावतः परमात्मप्रेमी होते हैं। देवताओं को भगवान् के संबन्ध में सोचने, विचारने, कहने सुनने के अलावे दूसरे संबन्ध की बातें स्वभाव से ही रुचिकर नहीं प्रतीत होतीं, इस लिए देवता लोग यदि उस रूप के दर्शन की नित्य आकाङ्क्षा करते रहते हैं, तो यह ठीक ही है, इस में न तो कुछ अतिशयोक्ति है, न आश्चर्य। किंतु वस्तुतः आश्चर्य तो इस बात में है कि भगवान् और भगवद्भक्तों से स्वभावतः विरोध रखनेवाले, अकारण जलते रहनेवाले राक्षस और असुर आदि भी उस चतुर्भुज रूप के लिए लालच किया करते हैं। राक्षसों का देवताओं के साथ अनादिकालीन वैर है, वे हर तरह से देवताओं और देवपूजकों को कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करते रहते हैं, अपने सामर्थ्य भर एक क्षण भी उन्हें चैन से नहीं रहने देना चाहते, पर उस चतुर्भुज रूप की अभिलाषा रखते हैं। यह बात जरा टेढ़ी सी मालूम होती है, पर है बिलकुल सच। किंतु इस सचाई को इस प्रकार मत समझो कि राक्षस भगवान् के रूप के दर्शन की इच्छा करते होंगे। नहीं; यह तो उन की प्रकृति के बिलकुल विपरीत आचरण हो जायगा। भगवान् के चतुर्भुज रूप का दर्शन पाने की इच्छा तो एकमात्र वे ही लोग कर सकते हैं जिन के हृदय में भगवान् की भक्ति उपासना के लिए स्थान रहता होगा, जिस का राक्षसों

के यहाँ मौलिक अभाव है। तब राक्षस चतुर्भुज रूप की अभिलाषा करते हैं, इस का अर्थ क्या है ? इस का अर्थ यह है कि राक्षसों को भी वह रूप इतना सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है कि वे अपने भयानक रूप को छोड़कर वैसा ही चतुर्भुजी रूप स्वयं धारण करना चाहते हैं। इस प्रकार वे अपने को ही भगवान् सिद्ध करना चाहते हैं और चाहते हैं कि ऐसा करके हम भगवान् के भक्तों को अपना भक्त बना लें तथा भीतर के रहस्यों को जानकर उन का नाश कर डालने में सरलता से समर्थ हो जायँ। राक्षसों की इस इच्छा का प्रमाण है पुराण-वर्णित मिथ्या वासुदेव की कथा। हरिवंश, श्रीमद्भागवत, पद्म आदि कई पुराणों में इस मिथ्या-वासुदेव की कथा का वर्णन मिलता है।

यह कथा इस प्रकार है कि भगवान् जब भूतलस्वर्ग—द्वारिकानगरी—बसाकर राज्य-सुख कर रहे थे, उस समय उन की विभूति, ऐश्वर्य और प्रभुता आदि को देखकर कंस, शिशु-पाल, जरासंध आदि के बचे खुचे वंशधर और हित मित्र आदि डाह के मारे दिन रात जला करते थे। उन के संरक्षक वीर राक्षसों को तो भगवान् ने पहले ही दूसरे लोकों में भेज दिया था, इस लिए उन में यह शक्ति या साहस तो था नहीं कि खुलकर भगवान् के साथ लड़ाई झगड़ा करें, पर मन में अपने संरक्षकों के नाश का प्रतिशोध लेने की भावना बड़ी गहरी थी। इस लिए वे हरदम यही विचारते रहते कि किस उपाय से भगवान् को नीचा दिखाया जाय। कोई युक्ति सूझती नहीं थी और इधर भगवान् का यश दिन दूना रात चौगुना फैलता जा रहा था। अन्त में राक्षसों के एक वर्तमान मुखिया ने एक उपाय निकाल ही लिया। उस ने सोचा कि यह वसुदेव का लड़का अपनी ताकत से जितना काम नहीं करता उस से अधिक काम इस के सुन्दर रूप के कारण सिद्ध हो जाया करते हैं, क्योंकि इस ने अपने आप को इतना सुन्दर और मनोहर बना रखा है कि जो भी इसे देखता है वही इस के रूप का कायल हो जाता है और बाद में झूठ मूठ के गुणों की कल्पना कर रूपवर्णन के साथ साथ इस का गुणगान भी करने लगता है। इस लिए मैं भी यदि अपनी आसुरी माया के द्वारा इसी के समान चार बाहों से युक्त सुन्दर रूपवाला बन जाऊँ और लोगों में प्रचार करके यह साबित कर दूँ कि असली वासुदेव कृष्ण मैं हूँ, इस लिए इस नकली कृष्ण को मार पीटकर तुम लोग द्वारिका के सिंहासन से भगा दो, तो संभवतः इस की सब इज्जत मटियामेट हो सकती है और तब आसानी से मैं अपने पूर्वपुरुषों के वैर का बदला लेने के साथ साथ द्वारिका का समृद्ध राज्य भी शीघ्र ही पा जाऊँ। लेकिन यह कृष्ण है बड़ा धूर्त। इस से छिपकर कोई काम करना हँसी खेल नहीं है। मुझ को अपने विचारों को बहुत गुप्त रूप से कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। नहीं, तो सब कल्पना ही कल्पना रह जायगी, हाथ कुछ नहीं लगेगा; बल्कि उलटे लेने के देने पड़ जायँ, तो आश्चर्य नहीं।

इस प्रकार मन में निश्चय करके उस राजा ने अपने एक विश्वासी मित्र से अपनी इच्छा प्रकट की। सुनकर वह भी बहुत खुश हुआ और बोला—मित्र, तुम्हारी युक्ति लाख रुपये की है, मैं इस का हृदय से समर्थन करता हूँ। परंतु अभी जल्दीबाजी करने की जरूरत नहीं है, धैर्य के साथ तुम्हें समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

उस ने कहा—अच्छा, पहले मैं अपने को चतुर्भुज वासुदेव बनाता हूँ। तुम मुझे इस रूप में देखकर बतलाओ कि कोई फरक तो नहीं मालूम होता? फिर सब तरह से ठीक हो लिया जायगा, तो समय की प्रतीक्षा भी कर ली जायगी। इतना कहकर उस ने मायिकता के सहारे अपने को भगवान् की तरह बनाना शुरू किया। कुछ ही देर में वह बिलकुल ही चतुर्भुजी विष्णु भगवान् अथवा वासुदेव कृष्ण की तरह का दिखलाई पड़ने लगा।

उसे देखकर उस के मित्र ने कहा—नमस्कार है मिथ्या वासुदेवजी! बधाई देता हूँ मैं आप की सफलता पर।

मिथ्या वासुदेव ने कहा—बधाई उस दिन देना जिस दिन कि मैं द्वारिकाधीश बनूँगा और तुम मेरे मन्त्री उद्धव। लेकिन तुम ने मुझे मिथ्या वासुदेव क्यों कहा? क्या वासुदेव का रूप बनाने में कुछ कसर रह गई है?

उस के मित्र ने कहा—नहीं, नहीं; कसर क्यों रह जायगी? पर क्या अभी से तुम असली वासुदेव हो गये कि तुम्हें मिथ्या वासुदेव शब्द खटने लगा?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—यह शब्द सुनने से मुझे भय हो रहा है कि दीवार के भी कान होते हैं; कहीं कोई सुन लेगा, तो आज से ही लोगों के मन में संदेह होने लगेगा कि कहीं कोई दूसरा वासुदेव भी है क्या जिस के कारण यह शब्द उत्पन्न हुआ?

मित्र ने कहा—अभी, अपने घर में इतना डरने से कहाँ तक काम चल सकता है! खैर, तुम कहते हो, तो अब मैं बहुत धीरे बोला करूँगा। अच्छा, रूप तो तुम्हारा सब तरह से ठीक ठीक उतर गया, इस लिए अब यह बताओ कि आगे के लिए क्या कार्यक्रम ठीक किया है तुम ने?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—यह बात पहले तुम्हें बतलानी होगी, क्योंकि तुम ने पहले ही मुझे समय की प्रतीक्षा करने के लिए कहा है जिस से जान पड़ता है कि तुम्हें कोई विशेष बात मालूम है। दूसरे, मैं कह चुका हूँ कि तुम्हीं मेरे मन्त्री होगे। इस लिए आज से ही उस पद के योग्य होने का तुम्हें प्रमाण भी देना शुरू कर देना चाहिए।

मित्र ने कहा—मुझे और कोई विशेष बात तो नहीं मालूम है; हाँ, इतना मैं ने अवश्य सुना है कि इधर लगातार कई वर्षों से अनेकानेक बड़े बड़े राजनैतिक मामलों में पड़ते रहने के कारण कृष्ण का मन राजकाज से घबड़ा उठा है। इस लिए वह विचार कर रहा है कि

आजकल जो शान्तियुग आ गया है इस का कुछ सदुपयोग कर लेना चाहिए अर्थात् राजकाज की झंझटों से कुछ दिन के लिए अलग होकर किसी एकान्त स्थान में चलना और शान्तिपूर्वक समय बिताने के लिए तपस्या करनी चाहिए। सो मैं ने सोचा कि जब वह तपस्या करने चला जाय, तब यदि तुम अपना कार्य प्रारम्भ करो, तो विघ्न पड़ने का भय नहीं रह जायगा।

मिथ्या वासुदेव ने कहा—अच्छा, यह तो बड़े पते की बात तुम ने कही। यह भी जानते हो कि वह कब तपस्या करने जायगा ?

मित्र ने कहा—नहीं, यह ठीक ठीक नहीं मालूम है, किंतु मैं समझता हूँ, जहाँ तक जल्दी हो जायगा।

मिथ्या वासुदेव ने कहा—अब यों समझने से काम नहीं चलेगा। जाओ और किसी उपाय से ठीक ठीक पता लगा लाओ कि वह किस दिन जायगा और कितने दिनों में लौटेगा।

द्वारिका के राजमहल में भगवान् का दर्बार लगा हुआ था। उद्धव, बलराम, सात्यकि, अक्रूर आदि सभासद अपने अपने स्थान पर अधिकार जमाये बैठे थे। भगवान् उन लोगों को समझा रहे थे कि राज्य के किस किस विभाग की किस किस उपाय से आप लोगों को रक्षा करनी होगी तथा जब तक मैं तपस्या करके लौट न आऊँ तब तक किस प्रकार की सावधानी रखनी पड़ेगी।

बलराम ने कुछ हँसते हुए कहा—तात, कारण क्या है कि इस बार की यात्रा के पहले आप हम लोगों को इतना समझा बुझा रहे हैं ? ऐसा तो और कभी नहीं करते थे। क्या इस के पहले की किसी यात्रा के समय आप की अनुपस्थिति में राज्यसंचालन में कोई त्रुटि हम लोगों से हो गई थी कि इस बार आप को राज्य के संबन्ध में इतनी चिन्ता हो रही है ?

भगवान् ने भी हँसकर ही उत्तर दिया—नहीं भैया, यह असंभव है कि आप लोग जैसे संचालकों की देख रेख में किसी प्रकार की दुर्व्यवस्था को प्रवेश करने का अवसर मिले। आप लोग सर्वदा सब प्रकार से इस बात का पर्याप्त प्रमाण दे चुके हैं कि कृष्ण का मन्त्रिमण्डल कृष्ण के सद्रूप ही है। मैं द्वारिका में रहा या द्वारिका के बाहर, प्रत्येक दशा में द्वारिकावासी मुझे अपने निकट ही समझते रहे हैं। यह आप लोगों की सुव्यवस्था का ही प्रताप है।

बलराम ने कहा—तब इस बार इतनी सतर्कता क्यों अपेक्षित हो रही है ? अब की यात्रा में आप राज्य के लिए इतने प्रबन्धों का प्रवचन क्यों कर रहे हैं ? क्या हम लोगों से अज्ञात कोई भयकर संकट आप की अनुपस्थिति में राज्य पर आनेवाला है ?

भगवान् ने कहा—हाँ, ऐसी ही बात है।

उद्धव ने कहा—कैसी बात है प्रभो ? संसार में इस समय कौन ऐसा मूर्ख है जो अपने आप हम लोगों की बाणाग्नि में भस्म होने के लिए द्वारिका पर आक्रमण (चढ़ाई) करने का साहस करनेवाला है ?

भगवान् ने कहा—इस बार द्वारिका के मैदानों पर नहीं, किंतु द्वारिकावासी प्रजाओं की प्रशस्त मानसभूमि—विस्तृत हृदयक्षेत्र—पर शत्रु का धावा होगा। आप लोग यह अच्छी तरह मानते हैं कि अभी तक उन्हीं असुरों का नाश हो सका है जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से विरोध का स्वर ऊँचा किया तथा ऐसों को जिन्होंने प्रकट सहायता पहुँचाई। इस लिए आप को यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि अब हमारा कोई शत्रु है ही नहीं। संसार में अभी बहुत से प्रच्छन्न शत्रु (छिपे दुश्मन) वर्तमान् हैं। ये अपने समर्थ सहयोगियों (कंसादिकों) के नाश से भयभीत अवश्य हैं, पर इन के मन में हम से बदला लेने की भावना निरन्तर प्रबल होती जा रही है।

सात्यकि ने कहा—तब वे हम से बदला लेने क्यों नहीं आते? प्रजा के ऊपर छिपे छिपे अत्याचार करने से इन सबों को क्या लाभ होगा?

भगवान् ने कहा—सुनिए। आप सेनापति हैं, अतः आप को विशेष रूप से मैं सावधान कर देना चाहता हूँ। वे प्रजा के ऊपर अत्याचार करने नहीं आ रहे हैं, अपितु प्रजा का मन बदलकर उन को अपने पक्ष में मिलाना चाहते हैं। इस लिए आप को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिस से कोई बाहरी आदमी द्वारिका में आकर किसी बात का प्रचार न कर सके।

बलराम आदि सब लोग एक साथ बोल उठे—भगवन्, साफ साफ समझाइए, बात क्या है? हम लोग कुछ समझ नहीं रहे हैं।

भगवान् ने कहा—शत्रु की सैनिक शक्ति ऐसी सुदृढ नहीं है कि वह इस समय हमारे साथ युद्ध करने आ सके। इस लिए उस ने आसुरी माया के बल से बदला लेने का निश्चय किया है। उसे यह ज्ञात हो गया है कि कृष्ण कुछ दिन के लिए तपस्या करने जा रहे हैं। मेरी अनुपस्थिति में वह मेरा ही रूप धारण कर द्वारिका में आना चाहता है और चाहता है कि द्वारिकावासियों के मन में ऐसा भाव भर दूँ कि वे मुझे ही असली वासुदेव समझने लगें तथा वास्तविक वासुदेव अर्थात् मुझ कृष्ण को नकली समझकर उस के डर से तपस्या के बहाने द्वारिका छोड़कर जंगल में भाग जानेवाला मान लें। वह चतुर्भुज वासुदेव का रूप धारण भी कर चुका है और इस कार्य में वह सफल भी खूब हुआ है।

सात्यकि ने कहा—अन्तर्यामिन्, इन बातों को जानते हुए भी क्या इस समय आप की तपोयात्रा स्थगित नहीं हो सकती?

भगवान् ने कहा—नहीं। और आप लोग सावधान रहेंगे, तो वह आप का कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा, न अपने मनोरथ में उस को सफलता ही मिलेगी। तब फिर मैं अपना निश्चय क्यों बदलूँ?

मिथ्या वासुदेव का मित्र सब बातों का पता लगाकर लौटा, तो इतना खुश दिखाई दे रहा था, मानों सचमुच ही उस का मित्र कृष्ण बनकर द्वारिका के सिंहासन पर बैठ गया है और वह

उद्यत बनकर उस का मन्त्रित्व कर रहा है। उस का प्रसन्न मुख देखकर मिथ्या वासुदेव को भी मन ही मन अपार हर्ष का अनुभव सा हुआ और ऐसा लगा कि अब मेरे द्वारिकाधीश होने में अधिक विलम्ब नहीं है। उस ने बड़े आदर के साथ पूछा—कहो मित्र, क्या खबर है ? कब जायगा वह राज्य छोड़कर साधु बनने ?

मित्र ने कहा—मित्र, तुम बड़े भाग्यवान् हो। आज ही तुम ने कार्यक्रम (प्रोग्राम) का सूत्रपात किया और परीक्षा कर केवल आत्मसंतोष के लिए वासुदेव का रूप धारण किया और उधर वह आज ही तप करने चला गया। इस से मुझे तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि अब यदि शीघ्रता और पूरी तत्परता से तुम अपना कार्य आरम्भ कर दो, तो द्वारिका की गद्दी पर अधिकार होने में कुछ भी देर न हो, और तब वह जन्म भर के लिए तपस्या ही करता रह जाय तथा मिथ्या वासुदेव ही जगत्पूज्य भगवान् वासुदेव हो जाय।

मिथ्या वासुदेव ने कहा—अच्छा, वह लौटेगा कब तक ? इस का पता लगा या नहीं ?

मित्र ने कहा—नहीं, इस का पता नहीं लगा, क्योंकि उस ने इस के बारे में अभी कुछ निश्चय नहीं किया है। शायद पूरा संतोष न होने तक वह तपस्या ही करता रहेगा। पर इन बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमें तो अब वही उपाय करना है जिस से वह कभी न लौट सके।

मिथ्या वासुदेव ने कहा—ठीक कहते हो। अब इसी दम हमें काम में लग जाना चाहिए, पर एक ही बात की कमी रह गई है जिस की पूर्ति होते ही काम पूरा होना भी प्रायः निश्चित ही समझो।

मित्र ने कहा—वह कौन सी बात है ? क्या मैं उस को पूरा कर सकता हूँ ?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—हृदय से मेरी सहायता करना चाहो, तो अवश्य कर सकते हो।

मित्र ने कुछ उदास स्वर में कहा—क्या मेरी हार्दिकता में अभी तुम्हें संदेह ही बना हुआ है ?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—नहीं, नहीं; संदेह की बात नहीं है, पर यह काम ऐसा है कि इस के करने में शायद तुम्हें अपना अपमान मालूम हो।

मित्र ने कहा—मित्र का अदना से अदना काम भी किसी मित्र के लिए अपमानजनक नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा ही हुआ, तो मित्र कहने कहलाने का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता है। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ और हर तरह के काम करके इस का प्रमाण देने के लिए भी सब तरह से तैयार हूँ। तुम बिना संकोच के हुक्म दो कि मुझे क्या करना पड़ेगा ?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—वाह मित्र ! मित्र हो, तो तुम्हारे ही जैसा हो। अच्छा सुनो, मैं चाहता हूँ कि हमें अपने काम में इतनी सफाई रखनी चाहिए कि किसी को जरा भी संदेह न होने पावे। इस का उपाय यही है कि हम प्रारम्भ से ही अपने काम को अर्थात् वासुदेव कृष्ण के रूप को सब तरह से परिपूर्ण साबित कर दें। तुम जानते हो कि वह वासुदेव खास खास समय पर गरुड पक्षी पर सवार होकर लोगों के सामने आता है; हमेशा चाहे वह पैदल चले चाहे घोड़ा, हाथी, रथ वगैरह किसी सवारी पर चढ़ा करे, पर खास खास मौकों पर तो गरुड ही उस की सवारी होता है। हम लोग इस समय जैसा काम करने जा रहे हैं वह साधारण काम नहीं कहा जा सकता। ऐसा काम यदि उसे करना होता, तो इस मौके पर वह गरुड पर ही सवार होकर आता, इस में बिलकुल संदेह नहीं है। इस लिए मुझे भी इस समय गरुड पर ही सवार होकर चलना चाहिए। इस से दो फायदे होंगे। एक तो यही कि इस रूप में मुझे देखते ही साधारण लोगों को विश्वास हो जायगा कि ये ही असली वासुदेव हैं, क्योंकि गरुड भी इन के पास मौजूद है और दूसरा यह कि गरुड की चाल बड़ी तेज होती है, उस के समान तेजी से हवा भी नहीं चल सकती, इस लिए इच्छा होते ही जहाँ चाहेंगे वहीं हम लोग पहुँच जाया करेंगे। सो मैं चाहता हूँ कि जैसे मैं ने असली वासुदेव का रूप बना लिया है वैसे ही तुम असली गरुड की तरह हो जाओ और मुझ को अपनी पीठ पर चढ़ाकर द्वारिका ले चलो।

मित्र ने कहा—कोई हर्ज नहीं, मैं अभी गरुड बन रहा हूँ।

द्वारिका के समुद्र तट पर बहुत से ब्राह्मण, विद्वान्, ब्रह्मचारी, साधु, महात्मा प्रातः काल की संध्या करने में ध्यान मग्न हो रहे थे। कोई संध्या प्रारम्भ करता हुआ 'अपवित्रः पवित्रो वा' मन्त्र पढ़कर मार्जन कर रहा था, कोई 'केशवाय नमः, नारायणाय नमः, माधवाय नमः' इत्यादि मन्त्रों से आचमन कर रहा था, कोई नाक दबाकर प्राणायाम कर रहा था, कोई अँजुली में जल भरकर सूर्यार्घ्य देने के लिए खड़ा था, कोई दोनों हाथ जोड़कर सूर्योपस्थान कर रहा था, कोई जपमाली में हाथ डाले गायत्री मन्त्र जप रहा था और कोई कोई केवल प्रभु का ध्यान ही कर रहे थे। इसी समय गरुड पर सवार वासुदेव भगवान् वहाँ पहुँच गये और संध्या वन्दनादि करनेवालों को संबोधित कर कहने लगे कि महात्माओ, विद्वानो और ब्रह्मचारी लोगों, आप की भक्तिभावना देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। मैं राजमहल में बैठा हुआ कुछ विचार कर रहा था। तब तक एकाएक ध्यान आया कि इधर बहुत दिनों से समुद्रतट पर नित्यकर्म करनेवालों का हाल नहीं मिल रहा है, चलकर देखना चाहिए कि समुद्र अपनी अगाधता के गर्व में आकर कूद फाँद तो नहीं मचा रहा है, आप लोगों को अपनी लहरों से कष्ट तो नहीं दे रहा है ? सो वह अपने स्थान पर ही स्थित है, यह देखकर मुझे संतोष हुआ। और किसी प्रकार का यदि कष्ट होता हो, तो आप लोग कहिए।

महात्मा आदि ने कहा—प्रभो, आप का इतना ध्यान हम लोगों पर होते हुए किस की शक्ति है कि हमें दुःख कष्ट दे। हम लोग सब प्रकार से निर्विघ्नता का आनन्द ले रहे हैं, कोई कष्ट नहीं है। पर श्रीमान् अनुचित न समझें, तो एक बात पूछने की इच्छा हो रही है ?

गरुडस्थित वासुदेव ने कहा—आप लोग इतना संकोच क्यों कर रहे हैं ? जो पूछना हो, सहर्ष पूछिए। आप लोगों के प्रश्नों का समाधान कर आप का हृदय निःशङ्क करना तो मेरा कार्य ही है।

उन लोगों ने कहा—कृपा है प्रभु की। हम यही पूछना चाहते थे कि कल दर्बार से जो विज्ञप्ति निकली थी उस में श्रीमान् के किसी तपोवन में जाने की बात कही गई थी; वह तपोयात्रा इस समय किसी कारणविशेष से रुक गई क्या ?

वासुदेव ने कहा—ठीक स्मरण कराया आप लोगों ने। यहाँ एक विचित्र घटना हो गई थी। बात यह है कि अभी चार पाँच रोज पहले मैं एक भक्त की पुकार पर हिमालय की ओर चला गया था। आप लोग तो जानते ही हैं कि असुर लोग किस प्रकार मेरे पीछे पड़े रहते हैं। सो मुझे अनुपस्थित जान, एक असुर मेरा रूप धारण कर तीन चार दिनों से वासुदेव बना द्वारिका का शासन करने लग गया था। मुझे हिमालय जाते समय शीघ्रता के कारण यह ध्यान ही नहीं आया कि अपनी यात्रा की बात किसी से कह देता। मैं किसी से बिना कहे ही हिमालय चला गया। इसी लिए वह असुर जब मेरे रूप में यहाँ आया, तो किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं हुआ और वह मेरे ही ढंग से सब काम धाम करने लगा। परंतु वह था बड़ा चतुर। किसी उपाय से कल उस ने जान लिया कि मैं हिमालय से लौट रहा हूँ। बस, उसी समय तपस्या करने का बहाना बतलाकर यहाँ से भाग निकला। पर मैं उसे छोड़ थोड़े ही सकता हूँ, आज कल में ही पता लगाकर इस दुष्टता के लिए उसे अवश्य दण्ड दूँगा। यद्यपि इस तरफ उस के आने की कोई संभावना नहीं है, फिर भी आप लोगों को यदि उस का कोई समाचार मिले, तो दर्बार में तुरंत सूचना दीजिएगा।

महात्मा आदि ने सिर झुकाकर आज्ञा स्वीकार करने का भाव प्रकट किया। बाद में वासुदेव को लेकर गरुड आकाश में जाकर अदृश्य हो गया।

मिथ्या वासुदेव ने गरुड से कहा—मित्र, अब धीरे धीरे चलो। यहाँ का काम तो हम लोगों ने बड़ी खूबी से पूरा किया। ये मूर्ख ब्राह्मण पुजारी सोलह आना विश्वास कर चुके हैं कि मैं ही वासुदेव हूँ और अन्त तक इन सबों को यही विश्वास रह जाय, यदि उद्धव और सात्यकि वगैरह भी अपने चंगुल में फँस जायँ।

मित्र ने कहा—पर वे सब बड़े चार्यों हैं। उन को फँसाना जरा मुश्किल पड़ेगा; क्यों ?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—'जरा मुश्किल' तो हम लोगों की खुराक ही है, उस की क्यों पर्वाह करते हो। अच्छा, चलो अब उस सघन बस्ती की ओर चलकर वहाँ के ग्रामीणों पर अपना प्रभाव डाला जाय।

मित्र ने कहा—बहुत अच्छा। और इस के बाद क्षण भर में ही वहाँ आकर जमीन पर बैठ गया। मिथ्या वासुदेव नकली गरुड़ पर से उतर पड़ा। इतने में बहुत से किसान पुरुष, स्त्री, बच्चे उस के समीप आकर, हाथ जोड़कर और सिर झुका झुकाकर प्रणाम करने लगे। उस ने सब को आशीर्वाद दिया और कहा—मैं तुम लोगों से एक बात पूछने आया हूँ, सच सच उत्तर देना।

किसानों ने कहा—भगवान् के साथ असत्य व्यवहार करने पर हमारा निस्तार हो सकता है क्या? आप से हम लोग कभी झूठ नहीं बोले, तो आज क्यों बोलेंगे?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—ऐसा ही मैं भी समझता हूँ। अच्छा, यह बताओ कि तुम लोग बलराम, उद्धव, सात्यकि आदि को द्वारिका का राजा समझते हो या मुझ वासुदेव को?

किसानों ने कहा—कोई भी प्रजा क्या मन्त्री, अमात्य, सेनापति वगैरह को राजा समझने की भूल कर सकती है? आप ऐसा आज क्यों पूछ रहे हैं?

मिथ्या वासुदेव ने कहा—जानते नहीं हो, बहुत मिठाई से कहर पैदा हो जाता है। मैं ने अपना जानकर उन लोगों का इतना आदर बढ़ा दिया कि वे लोग अपने को मेरा भी पूज्य समझने लगे। उन के मन में यह बैठ गया कि हमीं लोगों के बल से इन (वासुदेव) का बल और हमारे ही प्रभाव से इन का प्रभाव है। मैं ने उन का यह भाव बदलने के लिए समझाना चाहा, तो वे स्पष्ट विरोधी बन गये और कहने लगे कि अब हम दूसरे किसी तपस्वी को वासुदेव बनाकर द्वारिका की गद्दी पर बैठायेंगे तथा उसी की अध्यक्षता में सब प्रजाओं, सेनाओं, धन संपत्तियों को सौंपकर उस के तपोबल से अपनी रक्षा कराने में समर्थ होंगे। मैं जब सब तरह से समझाकर हार गया तब उन के साथ बोलना भी छोड़ दिया। सोचा कि मेरे चुप हो जाने से कदाचित् वे अपने आप सुमार्ग पर आ जायँ। पर अब देख रहा हूँ कि यह मेरा भ्रम था, क्योंकि मेरे मौन ग्रहण करने से वे लोग भी चुप होकर गुप्त रूप से अपना काम करने लगे। मुझे मालूम भी नहीं और उन लोगों ने चारों ओर समाचार फैला दिया कि कृष्ण अनिश्चित काल तक के लिए तपस्या करने चले गये। प्रजा तो सदा से उन की बात पर विश्वास करती ही आ रही है, उस ने इस बात पर भी विश्वास कर लिया। इधर रात को जब मैं सो गया, तो उन लोगों ने मेरे सोने के कमरे में ही मुझ को कैद कर दिया। पर मैं अपने योग के प्रभाव से वहाँ से बाहर निकल आया हूँ। यद्यपि मैं अपने योगबल से सब कुछ कर सकता हूँ, मुझे तुम लोगों से किसी प्रकार की सहायता नहीं लेनी है; फिर भी

इस लिए तुम्हारे मन का भाव जानना चाहता हूँ कि यदि तुम लोग सात्यकि आदि के अधिष्ठापित कृष्ण को ही अपना राजा मानना चाहते हो, तब तो मैं व्यर्थ प्रपञ्च में न पड़कर सचमुच ही कहीं तपस्या करने चला जाऊँ, क्योंकि प्रजा के ही लिए राजा की आवश्यकता होती है, वह तुम्हें मिल ही जायगा। और यदि मुझ को राजा समझते हो, तो मैं उद्योग करूँ और सात्यकि आदि को उन के कर्मों का उचित फल दूँ। बोलो, क्या उत्तर दे रहे हो?

किसानों ने कहा—भगवन्, हम लोग आप को केवल वासुदेव (अर्थात् वसुदेव के पुत्र-मात्र) मानते होते, तो भी आप को छोड़कर दूसरे को अपना राजा न मानते, क्योंकि आप से हम लोगों की जितनी भलाई होती है उतनी और कोई त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। पर यहाँ तो उस से भी बड़ी बात यह है कि हम लोग आप को अपना और सारे संसार का भगवान् समझते हैं। और राजा को कोई भले ही छोड़ दे, पर भगवान् को क्या कोई छोड़ सकता है? हम तो जब रहेंगे तब आप की ही प्रजा होकर रहेंगे और युद्ध हो, तो आप की ही सहायता करेंगे।

मिथ्या वासुदेव ने कहा—धन्य हो तुम लोग और तुम्हारी भक्ति। मुझे विशेष सहायता की आवश्यकता ही नहीं है। हाँ, यदि तुम्हें अपना कल्याण अभीष्ट है, तो सात्यकि की सेना में भरती होकर उस की सहायता मत करना, यही मेरी आज्ञा है। अच्छा, अब तुम लोग जा सकते हो। चलो गरुडदेव, अब हम लोग भी चलें यहाँ से।

मिथ्या वासुदेव इसी प्रकार घूम घूमकर चारों ओर अपना प्रभाव जमाने की कोशिश करता रहता। उस का चतुर्भुज रूप, आकाशगमनादि गुण और मधुर संभाषणादि कर्म धीरे धीरे लोगों को उस के अनुकूल बनाते जा रहे थे। चुपके चुपके अब सब तरफ सात्यकि आदि के संबन्ध में आलोचना प्रत्यालोचना होने लगी। कृष्णजी सब को समझा बुझाकर तपस्या करने गये थे और उन की आज्ञा के अनुसार ये लोग खूब सावधानी भी रख रहे थे, चारों ओर गुप्तचर भी नियुक्त कर दिये गये थे कि भगवान् श्री कृष्ण की सूरत शकल का कोई भी मनुष्य द्वारिकापुरी की सीमा के अन्दर पैर न धरने पाये, उन के रूप रंग का नकली भेष बनाकर एक असुर उत्पात मचाने आनेवाला है, वह जहाँ भी दिखाई पड़ जाय, उस को गिरफ्तार कर लिया जाय, अथवा तुरंत नगर के अधिकारियों को उस की सूचना दे दी जाय। परंतु वह राक्षस इतना चतुर था कि धीरे धीरे द्वारिका भर में उस ने भगवान् वासुदेव के नाम से अपना प्रचार कर डाला, फिर भी गुप्तचरों को उस के संबन्ध में बिल्कुल ही पता नहीं चला। सात्यकि आदि को भगवान् के कथन में किसी तरह का अविश्वास था नहीं, उन लोगों को निश्चय था कि भगवान् के कथनानुसार शीघ्र ही मिथ्या वासुदेव इसी पुरी में आकर भगवान् को झूठा वासुदेव सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा, और गुप्तचर प्रति दिन यही समाचार ला रहे हैं कि

जनता में आप लोगों (सात्यकि उद्धव आदि) के सबन्ध में तरह तरह की कानाफूसी होने के सिवा और कोई नई बात नहीं दिखाई देती। इस से तो यही अनुमान हो रहा है कि मिथ्या वासुदेव ने गुप्त रूप से अपना काम शुरू कर दिया है और हमारे गुप्तचरों की आँख में धूल झोंककर अपने काम में सफलता भी प्राप्त करता जा रहा है। अन्यथा हम लोगों के सबन्ध में जनता गुप चुप बातें क्यों करने लगती ? आज तक तो सभी हम लोगों पर विश्वास करते थे; फिर यदि मिथ्या वासुदेव ने हमारे संबन्ध में जनता को कुछ उलटा सीधा समझाया न होता, तो वे हमारे विरुद्ध बातें क्यों करते ? इस लिए अवश्य ही वह राक्षस भीतर भीतर सब को अपनी ओर मिलाकर उसी दिन प्रकट होने का विचार कर रहा है जिस दिन भगवान् तपस्या करके द्वारिका लौटेंगे। वह सोच रहा है कि जब समस्त नागरिक मुझ को ही ठीक ठीक वासुदेव समझने लग जायेंगे, तो श्री कृष्ण के आने पर प्रकट होकर जनता से उन का विरोध कराऊँगा और सर्वसंमत से सिद्ध करा दूँगा कि वे झूठ ही अपने को वसुदेव का पुत्र बतलाते हैं, वसुदेव का पुत्र वास्तव में मैं हूँ, इत्यादि। किंतु मेरा नाम यदि सात्यकि है, तो मैं प्रतिज्ञा सहित निश्चय कर रहा हूँ कि आज उस ढोंगी का, उस जालिये वासुदेव का अवश्य पता लगा लूँगा।

मन ही मन कार्यक्रम स्थिर करके बिना किसी से कुछ कहे सुने सात्यकि एक दिशा की ओर चले गये और एक अत्यन्त ऊँचे स्थान पर बैठकर पूरी सावधानी के साथ चारों ओर दृष्टि रखने लगे। इस समय वे इतने चौकन्ने थे कि उन के पास से दो चार मील की दूरी पर यदि कहीं एक पत्ता तक के खड़कने की आवाज होती, तो वे झट सुन लेते और चट उधर ही ध्यान लगाकर देखने लगते। क्रमशः कई घंटे बीत गये, पर कहीं कोई नई बात नहीं नजर आई; फिर भी वे निराश नहीं हुए। बल्कि उन के मन में यही भाव दृढ होता जा रहा था कि आज कोई न कोई नवीनता अवश्य दृष्टिगोचर होगी। आखिर कुछ घंटे और बीत गये। पूरा दोपहर हो गया। चारों ओर प्रखर धूप फैल रही थी और दोपहरी का सन्नाटा छाया हुआ था। ठीक इसी समय उन के कानों में एक विचित्र प्रकार की घरघराहट सुनाई पड़ी। वे आँख पसार पसारकर चारों ओर देखने लगे और जब इधर उधर की दिशाओं में उन्हें कहीं कुछ दिखलाई नहीं पड़ा, तो उन्होंने ऊपर आकाश की तरफ देखने के लिए सिर उठाया और साथ ही आश्चर्य के मारे छाती ठोंक ली। उन्होंने गरुड पर सवार मिथ्या वासुदेव को मध्य द्वारिका से थोड़ा हटकर उतरते देख लिया। वे वेग सहित किले की ओर दौड़ चले, पर वहाँ तक जाने की जरूरत नहीं पड़ी। उद्धव और बलदेवजी से रास्ते में ही भेंट हो गई। वे लोग इन्हीं को ढूँढने जा रहे थे। उन को देखते ही इन्होंने सब समाचार सुनाते हुए कहा कि आप लोग शीघ्रता से उस राक्षस के पास पहुँचकर उस को मारने का प्रयत्न कीजिए और यदि ऐसा

न कर सकें, तो बात चीत में उसे फँसा रखिए। तब तक मैं सेना को तैयार करके चारों ओर से नगर को घेर लेने की व्यवस्था कर कुछ सेना को साथ लिए अभी आ रहा हूँ। हाँ, इतना ध्यान आप लोग अवश्य रखिएगा कि वह आप में से किसी को भर सक पहचानने न पाये; नहीं, तो तुरत आकाश में उड़ जायगा और हम लोगों को जाल में आये हुए शिकार से हाथ धोना पड़ेगा। और अगर वह आप को पहचान ही ले, तो उस समय आप लोग उस मिथ्या वासुदेव के ऊपर आक्रमण न करके पहले उस गरुडरूपी राक्षस के ही वध का प्रयत्न कीजिएगा, क्योंकि मैं जहाँ तक समझता हूँ, वह मिथ्या वासुदेव की अपेक्षा न्यून बली होगा, अत उस को मारने में शीघ्र सफलता मिल जायगी और लाभ यह होगा कि वह पाखण्डी आकाशमार्ग से भागने की शक्ति से हाथ धो बैठेगा।

इतना कहकर सात्यकि सैनिकों के आवास (फौजी छावनी) की ओर चले गये और उद्धव बलराम वहाँ गये, जहाँ कि मिथ्या वासुदेव के उतरने का सात्यकि ने पता बतलाया था।

सात्यकि ने अपनी सेना को इतनी जल्दी सुसज्जित करके नगर के नाके नाके पर तैनात कर दिया, मानों सारी सेना पहले से ही युद्ध के लिए तैयारी किये बैठी हुई हो। उन्होंने नगरपरिधिरक्षक सैनिकों को समझा दिया था कि कोई शत्रु दिखलाई पड़े या मत दिखलाई पड़े, पर तुम लोग आकाश में अपने बाणों का ऐसा घना जाल बिछा दो कि सारी द्वारिका उस के भीतर छिप जाय, कहीं से सूर्य की एक किरण तक द्वारिका पर ताक झाँक न लगा सके। इस प्रकार आधी सेना को मोर्चेबंदी पर नियुक्त कर आधी सेना उन्होंने अपने साथ ली और मिथ्या वासुदेव से युद्ध करने दौड़ चले। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि मेरी युक्ति पूरी सफल हुई है—उद्धव या बलदेव ने गरुडरूप राक्षस को आते ही मार डाला है और वह अब अपने असली रूप में मरा पड़ा है, सीमाओं पर के सैनिकों ने आकाश में बाणों का सुदृढ जाल फैला दिया है, मिथ्या वासुदेव भयंकर युद्ध ठानकर उद्धव बलदेव को परेशान करने में लगा हुआ है, कभी कभी उन लोगों को शस्त्राघात से मूर्च्छित कर देता है और मायाबल से आकाश में उड़ जाना चाहता है, पर ऊपर बाणों का जाल देखकर पुन नीचे उतर आता है, इत्यादि।

ये सब दृश्य देखकर सात्यकि बड़े खुश हुए और अपने सैनिकों को ललकार ललकार-कर बढ़ावा देते हुए मिथ्या वासुदेव से संग्राम करने के लिए वेग सहित आगे बढ़ने लगे। उस समय तक की उन की योजनाएँ इस तरह सफल हो गई थीं कि उन्हें अब मिथ्या वासुदेव को मार डालने या परास्त कर देने में बिलकुल संदेह नहीं रह गया था। उन को अपने ऊपर पूर्ण विश्वास हो चुका था और वे यही सोच रहे थे कि अब लिया उस को, अब पछाड़ा मैं ने मिथ्या वासुदेव को। पर उन का यह विश्वास अधिक देर नहीं टिक सका। मिथ्या वासुदेव से समुख संग्राम में पूरी तरह जूझ जाने पर उन्हें मालूम हो गया कि इस मायावी से पार पाना

हँसी खेल नहीं है। इस ने तो बात की बात में हमारी आधी से अधिक सेना नष्ट कर दी और यदि इसी तरह कुछ देर और युद्ध होता रहा, तो कदाचित् एक सैनिक भी हमारी सहायता के लिए शेष न रह जाय। यह तो बड़ी भयंकर बला आ पहुँची। क्या करूँ? किस उपाय से काम लूँ? कुछ सुझाई नहीं देता। इस समय तो भगवान् ही यदि आ पहुँचें, तभी हमारी रक्षा हो सकती है, अन्यथा यह दुष्ट राक्षस अकेले ही हम सब लोगों को हराकर विजय का डंका बजा देगा और द्वारिका का राजा बन बैठेगा। नगरनिवासियों को सचेत होने और सहायता देने आने के लिए मैं ढिंढोरा फिरवाता आया था, पर अब तक एक नागरिक का भी दर्शन नहीं मिला। मालूम होता है कि इस पापी की माया में पड़कर सभी नागरिकों की बुद्धि मारी जा चुकी है। हे मेरे दैव, अब भगवान् वासुदेव को कौन मुँह दिखलाऊँगा मैं?

परंतु नहीं; इस समय मुझे इस प्रकार की दुर्बलता उत्पन्न करनेवाली बातें नहीं सोचनी चाहिएँ। जी जान से शत्रु पर हमला करना ही इस समय हमारा कर्तव्य है। हम अपने कर्तव्य पर जान देने को तैयार हो जायेंगे, तो भगवान् स्वयं हमारी सहायता के लिए दौड़े आयेंगे।

ऐसा सोचकर सात्यकि ने फिर अपने सैनिकों को शाबाशी देनी शुरू कर दी और सब लोग मिलकर पूरी शक्ति के साथ शत्रु पर बाणवर्षा करने लगे। युद्ध का दृश्य घोर भयंकर हो चला। चारों ओर मारो, काटो, पकड़ लो दुष्ट को, भागने न पावे, इत्यादि शब्दों के शोर सुनाई पड़ने लगे, पर दिखलाई कुछ नहीं पड़ता था। मिथ्या वासुदेव था अकेला ही, लेकिन अपनी माया के बल से वह अकेला ही असंख्य रूप में दिखलाई देता था। सात्यकि के सैनिकों को ऐसा मालूम हो रहा था कि हम एक एक पर अनेकानेक मिथ्या वासुदेवों के बाण बरस रहे हैं। सात्यकि का बढ़ावा सुन सुनकर सैनिक बिचारे हमला करने चलते तो थे बड़े वेग से, पर शत्रु की दुर्धर्षता के आगे उन का वेग तुरंत ही मन्द पड जाता था। आखिर में सात्यकि पुनः चिन्तित हो उठे। उन की चिन्ता का कारण भी था। उद्धव और बलराम अब तक कई बार आक्रमण करते और आक्रान्त होते दिखलाई पड़ चुके थे, पर थोड़ी देर से उन लोगों का कहीं पता नहीं लग रहा था। सात्यकि ने बहुत जोर लगाया और अनेक बार चेष्टा की कि शत्रु को स्थानपरिवर्तन पर विवश कर दिया जाय, ऐसा जबरदस्त हमला किया जाय कि वह हम लोगों की जगह पर आ जाय और हम लोग उस की जगह पर पहुँच जायँ, ताकि वहाँ यदि उद्धव और बलराम मूर्च्छितावस्था में पड़े हों, तो हम उन की सहायता कर सकें, पर उन की चेष्टा सफल नहीं हो सकी, शत्रु के तीखे बाणों ने इन के सैनिकों को साहसरहित बना दिया। तब वे निराश हो चले और फिर भगवान् की सहायता मिलने की कामना करने लगे। वे मन ही मन भगवान् की प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभो, अब तो आप को तपस्या

करते लगभग एक वर्ष के हो आया, क्या अभी द्वारिका लौटने का समय नहीं आया ? भगवन्, द्वारिकावासियों पर मिथ्या वासुदेव का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका है, कोई नागरिक सहायता को नहीं आ रहा है, इधर सुरक्षित सेना भी समाप्त हो चली है। इस समय आप द्वारिका में होते और भ्रान्त नागरिकों को समझा देते कि वस्तुतः वासुदेव कौन है, तो हम अवश्य इस मायावी को जीत लेते, पर किसी की सदिच्छा हमारी सहायता की ओर न होने से सब सामर्थ्य रखते हुए भी हम असमर्थ हो रहे हैं, हमारी रक्षा कीजिए और ऐसी शक्ति दीजिए कि हम आप के आने तक आप की प्यारी नगरी पर पराये का अधिकार न होने दें।

सात्यकि की प्रार्थना के उत्तर में आकाशवाणी हुई कि सेनापति, मिथ्या कभी सत्य पर विजय नहीं पा सकता। वह कुछ समय के लिए लोगों को भ्रम में भले ही डाल रखे, पर अन्त में विजय सत्य की ही होती है। देखो इधर, मैं आ गया तुम्हारी सहायता करने।

सात्यकि ने आश्चर्य, विस्मय और हर्ष सहित ऊपर सिर उठाया, तो ऊपर से गरुड़ पर चढ़े और सुदर्शन चक्र से बाणों के बादल को काटते हुए भगवान् को उतरते देखा जिस के साथ ही उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि मेरे शरीर में हजार गुना बल आ गया है। फिर तो उन्होंने शत्रु को ऐसा ललकारा और उस के ऊपर इतने वेग से आक्रमण किया कि मिथ्या वासुदेव बिचारा एक दम घबड़ाकर उन का मुँह देखने लगा। तब उन्होंने कहा—अरे मूर्ख, अब मेरा मुँह क्या ताकता है ? ऊपर देख।

मिथ्या वासुदेव ने विक्षिप्त की तरह भकुचकाकर ऊपर देखा। वहाँ साक्षात् भगवान् को देखते ही उस की जान सूखकर आधी सी हो गई। फिर भी उस ने अन्तिम बल लगाना नहीं छोड़ा, उछलकर ऊपर उड़ा और चाहा कि भगवान् को गरुड़ पर से ढकेल कर नीचे गिरा दूँ, किंतु उसी समय भगवान् की आज्ञा पाकर सुदर्शन चक्र ने उस राक्षस का सिर काटकर पृथिवी पर गिरा दिया। फिर न तो वह चार भुजाओंवाला रह गया, न उस का स्वरूप और आकार ही वासुदेव जैसा रह सका, वह बिलकुल अपने असुररूप में प्रकट होकर हाहाकार करता हुआ जमीन पर आ गिरा।

बाद में भगवान् भी नीचे उतर आये उन्होंने पहले उद्धव और बलदेव का स्पर्श कर उन्हें होश में लाकर बाद में सब हताहत सैनिकों का स्पर्श किया जिस से वे सब जी उठे और भले चंगे हो गये। अन्त में द्वारिकावासियों को जब अपनी भूल और अज्ञता मालूम हुई, तो वे बड़े लज्जित हुए, पर भगवान् ने सब को समझा बुझाकर प्रसन्न कर दिया और बतला दिया कि इस में तुम लोगों का कोई दोष नहीं, द्वारिकावासियों के प्रारब्धानुसार ही ये सब घटनाएँ संघटित हुई हैं।

इस कथा से प्रमाणित होता है कि भगवान् के साथ दुर्व्यवहार करते रहनेवाले असुर भी उन के चतुर्भुज रूप के माहात्म्य को किस हद तक स्वीकार करते हैं तथा उस रूप को

भक्ति से अपना न सकने पर छल कपट से स्वय ही वह रूप धारण कर अपनी इच्छा चरितार्थ करने का कहाँ तक प्रयत्न करते हैं। लेकिन जिस रूप का दर्शन भी बड़े बड़े देवता तक के लिए दुर्लभ है वह रूप क्या छल कपट से किसी को धारण करने दिया जा सकता है? वह तो एकमात्र भगवान् का ही रूप है और वे ही उस को धारण करने में सर्वदा समर्थ हैं। इसी लिए सच्चे वासुदेव ने मिथ्या वासुदेव का वध किया और अपने रूप की अद्वितीयता की रक्षा कर देवताओं के लिए भी उस का सुदुर्दर्शत्व स्थिर रखा। यदि ऐसा न होता, ऐन्द्रजालिक जादूगर, मायावी राक्षस और कारीगर कलाकार आदि सभी उस रूप को धारण कर लिया करते, तब तो सभी के लिए उस रूप का दर्शन सहज हो जाता और चतुर्भुज रूप की कुछ महिमा ही न रह जाती। पर उस रूप की महिमा हमेशा थी, सर्वदा है और सब दिन रहेगी। इसी लिए भगवान् ने मिथ्या वासुदेव का वध किया और इसी लिए इन्होंने उस का दर्शन पाना कठिन बतलाते हुए यहाँ अर्जुन से कहा भी कि—

हे अर्जुन, मेरा जो रूप तूँ देख रहा है, वह बड़ी कठिनाई से दिखाई पड़नेवाला है। मेरे इस रूप के दर्शन की इच्छा देवता लोग भी निरन्तर किया करते हैं।

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे भगवन्, देवता लोग तो कर्म आदि के परे रहते हैं, उन्हें तो स्वर्गीय भोग भोगने से ही फुर्सत नहीं मिलती। इस लिए वे निरन्तर इच्छा करके भी आप के इस चतुर्भुज रूप का दर्शन न पायें, तो कोई हर्जा नहीं, पर जो सत्कर्मी लोग वेदपाठ, उत्तम तपस्याएँ, बड़े बड़े दान और अच्छे अच्छे यज्ञ आदि करनेवाले हैं उन को तो आप को अपने इस रूप का दर्शन जरूर देना चाहिए और इस लिए उन्हें आप अवश्य दर्शन देते रहते होंगे?

भगवान् ने कहा—अर्जुन, तेरा यह अनुमान भ्रमपूर्ण है, क्योंकि—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

(तूँ ने) जिस प्रकार का मुझ को देखा है, इस प्रकार का मैं न वेदों से देखा जा सकता हूँ, न तप से, न दान से और न यज्ञ से।

गी० गौ०—हे अर्जुन, इस समय तूँ मुझे जिस तरह के सौम्य और चतुर्भुज रूप में देख रहा है, इस रूप में मुझ को न तो कोई ऋक्, यजु, साम, अथर्व आदि चारों वेदों के द्वारा देख सकता है, न बड़ी बड़ी कष्टसाध्य तपस्याओं के द्वारा देख सकता है, न उत्तम उत्तम विधिविहित दानों के माहात्म्य के द्वारा देख सकता है और न अधिक से अधिक व्ययसाध्य और श्रद्धापूर्ण यज्ञों के परिपालन द्वारा ही देख

सकता है। तात्पर्य यह कि केवल वेद, तप, दान, यज्ञादि के द्वारा मेरा दर्शन पाना नितान्त दुर्लभ है।

क० म०—प्यारे मित्रो, भगवान् ने अपने इस कथन द्वारा वैदिकों, तपस्वियों, दानियों और याज्ञिकों को एक प्रकार से यह चेतावनी दी है कि तुम लोग अपने अपने धार्मिक कर्मों को पाकर इस अभिमान में न भूल जाना कि हम ने वेदों को कण्ठाग्र कर रखा है, उन का मनन किया है, वे भगवान् की वाणी कहे जाते हैं, अतः हमें ही भगवान् के दिव्य रूप का दर्शनलाभ होगा, जिन लोगों ने वेद नहीं पढ़ा है उन को भगवान् की सौम्य झाँकी नहीं मिल सकती। हम ने बड़े बड़े तप तपे हैं, निराहार रहकर, पत्ते चबाकर अथवा केवल जल पीकर बहुत दिनों तक अपने शरीर को नाना भाँति के कष्ट सहाये हैं, इस लिए हमीं भगवान् के अलौकिक रूप का दर्शन पाने के अधिकारी हैं, दूसरों को यह अधिकार नहीं मिल सकता। हम ने अपना अक्षय खजाना ब्राह्मणों को दान दे डाला है, जो वस्तु हमें सब से अधिक प्रिय थी उस को दूसरों के सुख के लिए अपने स्वत्व से बाहर कर दिया है, इस लिए हमारे अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है जिस को भगवान् का आनन्ददायक रूप देखने को मिल सके। हम ने शास्त्रों में लिखे हुए, बहुत खर्च से संपन्न होनेवाले, उत्तमोत्तम फलों को हस्तामलकवत् कर देनेवाले बड़े बड़े यज्ञों का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान किया है, संसार भर के ऋत्विजों, यज्ञ करानेवाले आचार्यों, होताओं को भूरि भूरि दक्षिणा देकर संतुष्ट किया है, इस लिए हमें भगवान् अपने सुन्दर स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन देकर सब की दृष्टि में संमान्य बनायेंगे, और कोई मेरे जैसा सौभाग्यलाभ नहीं कर सकता। इस प्रकार की बातें सोचनेवाला चाहे वैदिक हो चाहे तापस, दानी अथवा बड़ा भारी यज्ञानुष्ठान करनेवाला कोई भी क्यों न हो, उस को यदि किसी जन्म के पुण्यस्वरूप भगवान् का दर्शन बदा भी होगा, तो भी उस का वह अधिकार छिन जायगा। कारण, भगवान् दम्भी को वह दर्जा नहीं देते जो उन्होंने अपने अनन्य भक्तों के लिए रिजर्व कर रखा है। तुम कहोगे कि वेद पढ़नेवाले, तपस्या करनेवाले, दान करनेवाले और यज्ञ होम करनेवाले दम्भी क्यों कहे जायेंगे? वे वेद पढ़ते हैं, तो यह क्या कोई पाखण्ड है, वे तप करते हैं तो क्या ढोंगी कहलाने के योग्य कर्म है, वे दान देकर दूसरों का उपकार करते हैं, तो यह क्या दिखावटी कार्य है? वे यदि यज्ञ किया करते हैं, तो यह क्या धर्मविरुद्ध आचरण है? क्या भगवान् ने वेद पढ़ने, तपस्वी बनने, दान देने और यज्ञ करने का कहीं निषेध किया है? उन्होंने तो अर्जुन को यही आदेश दिया है कि तू जो कुछ कर्म करता, अन्नादि खाता, हवन होमता, दान देता, तप तपता है वह सब मुझ को अर्पण कर। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९।२७)

इस कथन से तो यही सिद्ध हुआ कि वह सब कर्म करना वैधानिक ही है, अवैधानिक नहीं। फिर उन के लिए 'दम्भी' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? किंतु इस प्रकार का प्रश्न करने के पहले 'मदर्पणम्' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। भगवान् ने अर्जुन को वेदाध्ययन, तपस्तपन, यज्ञादिकरण और धनादि दान के लिए मना न करते हुए भी इतना अवश्य बतला दिया है कि इन कामों को तूँ फलेच्छारहित होकर केवल मुझ परमात्मा के निमित्त यदि कर सकता है, तो कोई हर्ज नहीं, प्रसन्नता से किया कर, क्योंकि ऐसा करके तूँ कर्मबन्धन से छूटकर संन्यासभाव को प्राप्त हुआ मुझ को ही प्राप्त होगा (९।२८)। परंतु यदि अपने इन पवित्र कर्मों में से स्वत्वाभिमान, फलप्राप्ति की आशा न हटा सका, तो ये सब कर्म बन्धन के ही कारण होंगे। वे कामनापूर्ति की इच्छा से कर्म करनेवाले अपनी कामनाओं को प्राप्त होते और भोग भोगने के बाद पुनः कामनाओं को फलवती बना पाने के लिए संसार में कर्म करने पर बाध्य होते रहेंगे। वेद, तप, दान, यज्ञ मुझ भगवान् के लिए होने पर मेरे यहाँ आने का मार्ग पकडाते हैं और अपनी अपनी महिमा से झटपट फल दिलानेवाले होकर स्वर्ग मर्त्य के ही चक्कर में कर्ता को घुमाते रहते हैं। यथा—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ (९।२०)

सो ऊपर जिन के लिए दम्भी विशेषण दिया गया है वे ये ही सकाम कर्म के अधर्म कर्ता हैं। उन का यह सोचना कि मैं वेदपाठी हूँ, इस लिए भगवान् का दर्शन पाने का मुझ को ही अधिकार है; मैं तपस्वी हूँ, अतः मेरे ही लिए भगवान् का दिव्य दर्शन रिजर्व है; मैं दानी हूँ, इस कारण से भगवान् का दिव्य स्वरूप देखना मेरे ही भाग्य में बदा है; मैं बहुत यज्ञ करनेवाला हूँ, इस वजह से मैं ही भगवान् का प्रेमपात्र हो सकता हूँ, सरासर गलत और कपोलकल्पना है, ढोंग है, दम्भ है और है सोलह आना मिथ्या अभिमान जिस का नीचे गिराने के सिवा कोई ऊँचा फल हो ही नहीं सकता। ऐसे ही वैदिक, तपस्वी, दानी और यज्ञकर्ताओं को लक्ष्य करके भगवान् को कहना पडा है कि—

हे अर्जुन, जिस रूप में तूँ ने मुझ को देखा है, इस प्रकार के रूप में मैं न तो वेदों द्वारा देखा जा सकता हूँ, न तप द्वारा, न दान द्वारा और न यज्ञानुष्ठान के ही द्वारा। अस्तु;

भगवान् का यह कथन सुनकर अर्जुन ने पूछा—हे भगवन्, यदि आप इन सब शास्त्रविहित कर्मों से नहीं देखे जा सकते, तो ऐसा कौन सा उपाय है जिस के पालन से सब लोगों के लिए आप का दर्शन सुलभ हो सकता है? क्या केवल ज्ञानी बनकर ही ज्ञान के द्वारा आप को इस रूप में देखा जा सकता है? पर ज्ञानी होना तो सब के लिए संभव नहीं है, क्योंकि यह तो बड़ा कठिन मार्ग है।

भगवान् ने कहा—यह कठिन मार्ग मेरा दर्शन सुलभ करा देता है, यही समझकर तूँ कह रहा है कि क्या केवल ज्ञानी बनकर ही आप को इस रूप में देखा जा सकता है ? यह तेरी भारी भूल है, क्योंकि मैं ने यह मुझ से कभी नहीं कहा कि केवल ज्ञानी ही मेरा दर्शन पा सकते हैं। इस लिए केवल ज्ञान से ही मुझे देखा जा सकता है, ऐसा तूँ कदापि मत सोच,—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

किंतु हे परंतप अर्जुन, इस प्रकार का मैं अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्व सहित जाना और देखा तथा प्रवेश किया जा सकता हूँ।

गी० गौ०—हे शत्रुओं को संतप्त करनेवाला अर्जुन, ज्ञानमार्ग कठिन है, सब लोग उस का अवलम्बन नहीं कर सकते, परंतु मेरा दर्शन सब को अभीष्ट हो सकता है। सो सब के लिए एक भक्तिमार्ग ही ऐसा सुगम मार्ग है जिस का अनन्य भाव से अवलम्ब लेकर सब कोई मुझे तात्त्विक रूप से जान सकते हैं, मेरा दर्शन पा सकते हैं और मुझ में प्रवेश कर सकते अर्थात् मेरे तादात्म्य को प्राप्त कर सकते हैं।

क० प्र०—प्यारे भाइयो, अर्जुन ने समझा था कि संसार में वेदों को बहुत आदर मिला हुआ है, क्योंकि वेद साक्षात् भगवान् के कहे हुए हैं। इस लिए वेदों के जानकार और वेदोक्त कर्मों के करनेवाले दानी, तपस्वी आदि को भगवान् के चतुर्भुज रूप का दर्शन जरूर मिलता होगा। परंतु भगवान् ने उस की इस समझ का तिरपनवें श्लोक में खण्डन कर दिया। तब अर्जुन ने सोचा कि भगवान् सातवें अध्याय में अपने चार प्रकार के भक्तों का नाम गिनाते हुए इन्हें सुकृती बता चुके हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ (७।१६)

और इन (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी आदि) चारों भक्तों में ज्ञानी भक्त को अपना विशेष प्रेमपात्र भी कह चुके हैं। इतना ही नहीं, बल्कि अन्य तीन की प्रशंसा करते हुए भी ज्ञानी को तो अपनी आत्मा के ही रूप में स्वीकार कर चुके हैं और कह चुके हैं कि ज्ञानी ही एक ऐसा भक्त है जो एकमात्र मुझ भगवान् को अपना सब कुछ समझता है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८)

इस लिए भगवान् जब वेदपाठ, तप, दान, यज्ञ आदि करनेवालों के लिए अपना दर्शन दुर्लभ ही बतला रहे हैं, तो हो न हो, ज्ञानी के ही लिए इन का दर्शन सुलभ मालूम होता है।

यही सोचकर इस ने उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित किया। पर भगवान् ने बतलाया कि यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि मेरे भक्तों में ज्ञानी को विशेष दर्जा मिलने पर भी यह बात नहीं है कि केवल ज्ञानी भक्त ही मेरा दर्शन पाये तथा औरों को मेरे दर्शन से विमुख रह जाना पड़े, प्रत्युत मैं अपने भक्तमात्र के लिए अपना दर्शन, अपना ज्ञान, अपना एकीभाव सुलभ बनाये रखता हूँ। हाँ, इतना अवश्य होना चाहिए कि भक्त चाहे जिस प्रकार का हो, पर उस को भक्ति में अनन्यता की भावना सुदृढ़ रूप से रहे। अनन्यता बिना मेरा दर्शन होना दुर्लभ है और अनन्यता होने पर मेरा दर्शन ही नहीं, बल्कि दर्शन के साथ साथ पूरा पूरा मेरा ज्ञान और मुझ में प्रवेश तक हो जाना उस के लिए कुछ कठिन नहीं रह जाता।

बस, इतना ही तो ज्ञानी को भी मिलता है। भगवान् को तत्त्व से जाननेवाला ही ज्ञानी कहा गया है और वह ज्ञानी ही भगवान् की आत्मा माना गया है, उसी को भगवान् की सर्वोत्तम गति मिलती है, वही भगवान् में मिलकर एकाकार हो जाता है, उन के साथ एकीभाव को प्राप्त कर लेता है। और वही दर्जा इस श्लोक में भगवान् अपने अनन्य भक्तमात्र के लिए घोषित कर रहे हैं। इस लिए यही ठीक हुआ कि भगवान् में अपनी समस्त भावनाओं को लगा देनेवाला भक्त ही भगवान् के चतुर्भुज रूप का दर्शन पा सकता है, भगवान् को पूर्णतः जान सकता है और अन्त में भगवान् में ही अपने आप को मिलाकर उन में ही समा जा सकता है। फिर इस के बाद तो कुछ बाकी ही नहीं रह जाता जिस की भक्त को प्राप्ति आवश्यक हो और भगवान् को उस का प्राप्त कराना।

अब प्रश्न रह जाता है कि भगवान् को अपनी भक्ति समर्पित करने के लिए किस रूप में उन को हृदय में धारण करे और किस प्रकार उन के संमुख अपनी भक्ति उपस्थित करे। इसी का समाधान है उन का विश्वव्यापक विराट् रूप। अर्थात् किसी भी रूप में तुम उन का ध्यान कर सकते हो, किसी की भी पूजा करके तुम अपने को उन का पूजक मान सकते हो। सभी वस्तु में जब भगवान् अपना स्वरूप प्रत्यक्ष करके दिखला चुके हैं, तो यह प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए कि किस रूप में और किस प्रकार हम अपनी भक्ति का अर्पण करें। अब तो केवल यही ध्यान रखना आवश्यक है कि सब कुछ भगवान् की ही विभूति है और सब का रूप उन्हीं का रूप है, उन के अतिरिक्त कहीं कुछ है ही नहीं। यही अनन्यता कहलाती है और इसी प्रकार के अनन्य भावापन्न भक्त के लिए भगवान् कह रहे हैं कि ऐसा अनन्य भक्त ही मुझ को देख सकता है, तत्त्व सहित जान सकता है और पूर्णतः मुझ में प्रविष्ट हो सकता है। इस लिए तुम चाहे गुरु की भक्ति करो चाहे आचार्य की, कृष्ण की भक्ति करो चाहे राम की, शिव की उपासना करो चाहे विष्णु की, पर समझो अपने उपास्य को यही परब्रह्म, परमात्मा, अद्वितीय, विश्वव्यापक, प्रभु। इस का अर्थ यह हुआ कि तुम गुरु के भक्त हो, तो अपने गुरु

को ही परमात्मा के रूप में देखो। यह मत समझो कि गुरु और परमात्मा में भेद है। आचार्य के उपासक हो, तो इन्हीं को भगवान् समझो, भगवान् में और इन में भेदबुद्धि रखकर यह मत सोचो कि अभी मैं आचार्य की पूजा कर रहा हूँ, यह पूरी हो जायगी, तो परमात्मा की पूजा करूँगा। इसी प्रकार राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिस किसी की भी भक्ति करो, अपनी संपूर्ण भक्ति उसी के चरणों में अर्पित कर दो, उसी के एकमात्र भक्त बने रहो, उसी को परमात्मा मानो, अन्य का ध्यान भी मन में न आने दो।

परंतु यह सब सचाई के साथ, हृदय की लगन से, एकनिष्ठ होकर, श्रद्धा सहित, विश्वास-पूर्वक, पूरी जानकारी के साथ होना चाहिए। ऐसा नहीं कि बिना जाने बूझे, विधि विधान का ज्ञान रखे बिना, केवल दिखावट के लिए या देखादेखी उत्सुक होकर करने लगो। कहावत प्रसिद्ध है कि घोड़े के पैर में नाल जड़ते देखकर मेंढक को भी नाल जड़वाने की इच्छा हुई और फलस्वरूप एक ही कील घुसते जान से हाथ धोना पड़ा। सो इस तरह की देखादेखी भक्ति मत करने लगना। नहीं, तो लेने के देने पड़ जायेंगे अथवा मिट्टी के देवता पूजने में ही पिघल-कर मिट्टी में मिल जायेंगे। शास्त्रों का निर्माण इसी लिए हुआ है और भगवान् ने बुद्धि भी इसी लिए दी है कि विधि निषेध का ज्ञान प्राप्त कर, बुद्धि से समझ बूझकर हर एक काम तुम कर सको। बिना जाने और बिना समझे भक्ति करने पर भगवान् का दर्शन, ज्ञान, धाम मिलने की जगह पागल की उपाधि और अपराधियों का घर (जेलखाना) तक मिलने के उदाहरण देखे सुने जा चुके हैं। सुनो, एक बड़ा मनोरञ्जक दृष्टान्त यह है—

सिद्धपुर का राजा प्रसिद्ध धर्मात्मा प्राणी था। राज्य की कुल आमदनी का दो तिहाई भाग यह साधुओं, ब्राह्मणों, गरीबों, दुखियों, अतिथियों और भिखारियों को खिला पिला दिया करता था। कोई ऐसा दिन न जाने पाता, जब उस के द्वार पर सौ पचास भूखों को अन्न-दान, पचीस पचास नग धड़ंगों को वस्त्रदान, बीस पचीस शरणागतों को द्रव्यदान और पंद्रह बीस ब्राह्मणों को भूमिदान न दिया जाता हो। फिर इन के अलावा भी बहुत तरह के अभ्या-गत पहुँचते ही रहते जिन्हें सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, रत्न, माणिक्य आदि से संतुष्ट कर यह राजा विदा किया करता था। इन विशेष अभ्यागतों में काशी, मथुरा, प्रयाग, हरिद्वार, रामेश्वर, द्वारिका आदि दूर दूर के प्रख्यात तीर्थों और नगरों के पण्डित, विद्वान्, ज्ञानी, महात्मा, भक्त, धनी आदि ही मुख्य रूप से रहा करते थे। पण्डित लोग शास्त्रों की आलोचना प्रत्यालोचना कर राजा को संतुष्ट करते और संतोषदायक बिदाई प्राप्त कर बिदा होते। विद्वान् लोग अपने लौकिक शास्त्रीय अनुभवों का व्याख्यान कर राजा की जानकारी बढ़ाते और इच्छित पुरस्कार देकर बिदा किये जाते। ज्ञानी लोग भगवान् को जान सकने के अनेकानेक उपायों का उपदेश कर, समादृत हो बिदा होते। महात्मा लोग दुनिया ।नरें नरें—

तिनके तिनके में भगवान् का अवलोकन करने के सरल सुगम तरीके बताते और सब तरह से आदर पाकर अपना सुखद आसन उठाते। भक्त लोग भगवत्पूजा की छोटी बड़ी सब प्रकार की विधियों और उन के द्वारा प्राप्त होनेवाली भगवत्कृपा संबन्धी अनेक प्रकार की कथाओं का प्रवचन कर यथेच्छ पूजा प्राप्त करते और अपना मार्ग धरते। भजनीक लोग भगवान् को गुणगाथाओं का सुमधुर गानकर राजा प्रजा सब के हृदयों को आनन्दोल्लास से भर देते और पर्याप्त अर्थलाभ कर हँसते हुए अपने घर जाते। मतलब यह कि उस धर्मात्मा राजा के दर्बार में इसी प्रकार की पावन वार्ताएँ होती रहतीं जिन से प्रजा सहित राजा के गौरव, यश विद्या, बुद्धि आदि की सर्वदा वृद्धि होती रहती।

कहते हैं कि राजा अपने शासन के प्रारम्भ में इस तरह के लोगों से कुछ विशेष प्रेम नहीं रखता था, बल्कि इन पण्डित, विद्वान्, भक्त, भजनानन्दी आदि को देखकर ही उसे चिढ़ मालूम होती और जहाँ तक उन की वह खिल्ली ही उड़ाया करता। इस राजा का पिता मशहूर ऐयाश आदमी था। उस के यहाँ कलकत्ता, लखनऊ, आगरा, दिल्ली, पटना, बनारस की मशहूर मशहूर तवायफों का दिन रात जमावड़ा लगा रहता, चौबीस घंटे शराब की नाली बहती और आठों पहर तबला, सारंगी, पाजेब आदि की ठनक, तान, झनकार रसिक अरसिक हर एक के कानों में गूँजती रहती। पिता और पिता के मित्रमण्डल का जैसा चाहिए वैसा ही प्रभाव इस राजा पर पड़ा करता था। इस लिए उन दिनों यह राजा यही सोचा करता कि जब मैं राजा होऊँगा, तो कलकत्ता लखनऊ की जगह पेरिस और लन्दन की सुन्दरियों को अपने दर्बार में बुलाकर नचाया करूँगा तथा तबला सारंगी के स्थान पर पियानो हार्मोनियम वगैरह से अपना महल गुञ्जरित रखूँगा।

पिता अपनी अवधि पूरी करके यहाँ से विदा हुए या अपने दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप उस के पहले ही परलोक सिधारे, यह बतलाना तो कठिन है, पर यह सत्य है कि उन की मृत्यु हुई थी बड़े भयानक रूप से। एक दिन शराब की मात्रा वे सिलसिले बढ़ गई और रुधिर का वमन करते करते उन्होंने इस अनित्य शरीर का त्याग किया। उसी दिन वर्तमान राजा ने अपनी पुरानी और नई बहुत तरह की अभिलाषाओं को हृदय में रखकर पिता की गद्दी पर साधिकार पदार्पण किया।

राजा साहब युवराज की दशा में मन ही मन जैसे मंसूबे बाँधते रहते थे उन्हीं के अनुरूप उन्होंने अपने मित्र भी एकत्र कर लिये थे। उन्हीं मित्रों को राजा होने पर उन्होंने अपना दर्बारी कायम किया। कोई मन्त्री बना और कोई सेनापति कोई कोषाध्यक्ष बना और कोई नगरपति। हकीम और पौयाम वगैरह तो पहले से ही बने बनाये रखे हुए थे, मन की मुरादें पूरी की जाने लगीं। नगरपति को पहले ही समझा दिया गया था कि अपने नगर के साथ साथ

अन्य नगरों की भी सुन्दरियों का पता लगाना और सब तरह के छल प्रपञ्च, कला कौशल से उन को दर्बार में हाजिर करते रहना तुम्हारा मुख्य काम होगा। जो उस ने राजा साहब पर अच्छी तरह विदित कर दिया कि मैं कहाँ तक आप का आज्ञापालक और अपने कार्य में निपुण तथा प्रवीण हूँ। राजा साहब भी अपनी बुद्धि की सराहना किये बिना न रहते। उन्हें इस बात का गर्व था कि मैं ने यथायोग्य व्यक्तियों को ही उन उन के कामों पर नियुक्त किया है।

जामे शराबे नाज के दौरे कभी ठंडे नहीं पड़ने पाते थे। मूर्ख प्रजा ने खुले दिल से कबूल किया कि या तो इन्द्र महाराज का ही अखाड़ा सुना था या यही अपने राजा साहब की महफिल देखी गई। पर ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था। एक वर्ष आनन्द से बीत गया। दूसरा वर्ष कुछ शिकस्ती के साथ प्रविष्ट हुआ। खजाने में एक पैसा भी नहीं रह गया था। खजाना मालगुजारी जो वसूल हुई वह दो महीने से अधिक का खर्च नहीं सँभाल सकी। पर यहाँ तो अभी दस महीनों का काम चलाना अत्यन्त आवश्यक था। सर्वसंमति से अर्थात् मित्रमण्डल से यह प्रस्ताव पास हुआ कि राज्य की विशेष व्यवस्था का बहाना बतलाकर नगर के सेठ साहूकारों से लेकर साधारण प्रजा तक में जो धनवान् मालूम हों उन के घरों की तलाशी ली जाय और जितना नकद माल हो, सब राजकोष में जमा कर लिया जाय। महाजन और प्रजाजन यदि कुछ आपत्ति करें, तो उन्हें समझा दिया जाय कि साल भर में दूने सूद सहित तुम्हारा धन वापस कर दिया जायगा।

अशक्तों पर सशक्तों के अत्याचार की बात नई नहीं थी। पढ़े लिखे इतिहास से और अनपढ़ सुन सुनाकर ऐसे अत्याचारों की कहानियाँ जान चुके थे। कोई वश नहीं था कि यह अत्याचार रोका जाय, न कोई उपाय था जिस से किसी की रक्षा हो सके। हाहाकार मचाना तो निर्बलों का काम ही है। उस पर यदि कोई शासक ध्यान दे, तो शासन क्या खाक पत्थर करेगा? किसी की एक नहीं सुनी गई और मनमानी धन वसूल कर लिया गया। पर 'दुर्बल के बल राम' की कहावत भी झूठ नहीं है। निरीह प्रजा पर यों तो दो तीन पुश्तों से अनाचार होता आ ही रहा था जिस की कोई गिनती भी नहीं थी, बस पर यह घोर अनर्थ भगवान् से नहीं देखा गया। ईश्वरेच्छा से राजा साहब के पेट में वायुगोला उत्पन्न हो गया। डाक्टर वैद्यों ने अधिक शराब पीना कारण बतलाया और लगे अपना अपना अनुभव आजमाने, पर मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की। राजा साहब का बिलखना, छटपटाना और हाथ पैर पटकना देखकर, कहते हैं, छत की धरनें और सिल्लियाँ (पत्थर की पटियाँ) भी आँसू बहाये बिना न रह सकीं, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है। वही प्रजा जो अत्याचारों से तंग आकर राजा का सत्यानाश मनाना ही अपना धर्म मान चुकी थी, उन का दुःख देखकर आँसुओं से अपने इष्ट देवों के पैर धोने लगी। राजा साहब के शत्रु मित्र सभी अपने अपने

देवताओं से यही प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभो, या तो इस का यह दुःख दूर करो, या इस के शरीर से प्राण निकालकर इसे सदा के लिए सांसारिक रोगों से छुटकारा दे दो, पर ऐसी घोर पीड़ा में किसी को विकल कर हमें उसे देखने पर बाध्य मत किये रहो।

भला इतने कण्ठों से निकली हुई एक ही अर्थ की पुकार पर भगवान् ध्यान कैसे न देते। उन्होंने हिमालय में रहनेवाले अपने एक योगी भक्त को राजा का रोग दूर करने की प्रेरणा दे ही दी। उन्होंने एक दिन एक पर्यटक से सुना कि आर्यावर्त का एक राजा जीते जी ही नरकयातना से बढ़कर कष्ट भोग रहा है। बस, सुनते ही उन की हृदयस्थ दया ने उन्हें उस राजा के पास पहुँचकर रोगनिवारण के लिए विवश कर दिया। महात्माजी बात की बात में सिद्धपुर जा पहुँचे और बिना किसी से कुछ पूछे जाँचे सीधे महल में घुसकर राजा के मुँह में एक जड़ी का रस निचोड़ दिया। डाक्टरों की पंगत बैठी बैठी 'हाँ हाँ; यह कौन है, क्या पिला रहा है?' इत्यादि चिल्लाती ही रह गई और जड़ी का रस राजा के गले से उतरकर पेट में चला गया।

चमत्कार इसी का नाम है। लोग विज्ञापनों में तो ऐसे चमत्कार की बातें बहुत पढ़ चुके थे कि हमारी दवा जादू का सा असर रखती है, मुँह में जाने की बात कौन कहे, नाक के पास पहुँचते ही अपनी गन्ध द्वारा रोग को जड़ से उखाड़ फेंकती है—जैसे हनुमान्जी ने धवलागिरि को जड़ से उखाड़ पल भर में लङ्का में फेंक दिया था; पर कभी उस प्रकार के विज्ञापनों की सत्यता का प्रमाण किसी को नहीं मिला था। आज महात्माजी की जड़ी का प्रभाव देखकर सब लोग सोचने लगे कि विज्ञापनों की बातें अपने लिए भले ही झूठी पड़ती रहें, पर यह सत्य है कि संसार में उस तरह की चमत्कारकारिणी दवाएँ वर्तमान अवश्य हैं।

क्षण भर पहले अपनी करुण वेदना से पहाड़ तक को हिला देनेवाले राजा साहब दूसरे ही क्षण हँसते हुए उठ बैठे और आश्चर्य के साथ चारों ओर ताकने लगे कि किस ने अमृत पिलाकर मुझ मुर्दे में जान फूँक दी है? डाक्टर लोग यह तमाशा देखकर पहले ही लज्जा के मारे चुपचाप खिसक गये थे; रह गये थे एक आध देशी वैद्य लोग। उन्होंने राजा के मन का अभिप्राय समझकर शत शत प्रशंसा करते हुए राजा को महात्मा का परिचय दिया और उन के चरणों पर गिरने के लिए इशारा भी किया। यह इशारा इस प्रकार से किया गया कि महात्माजी भी बिना देखे न रहें। कारण शायद यही था कि वैद्यजी लोग इस तरह की चापलूसियों से महात्माजी को अपने प्रति प्रसन्न बनाकर उन से उस जड़ी का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे।

राजा तो केवल जानना चाहता था कि किस ने मुझ पापी पर दया की सुधावर्षा की है, उसे वैद्यों का इशारा देखने का अवकाश कहाँ था? और इस के लिए उस इशारे की जरूरत

भी कुछ नहीं थी, क्योंकि वह तो तन, मन, धन सब तरह से अपने को उस प्राणदाता के पैरों पर निछावर कर चुका था। इस लिए ज्यों ही उसे मालूम हुआ कि इन महात्मा ने ही मेरे प्राणों की पीड़ा दूर की है त्यों ही वह आँख मूँदकर उन के पैरों पर जा गिरा और आँसू बहा बहाकर उन्हें गीला करने लगा।

महात्मा ने आदरभाव से उसे उठाकर पलँग पर बैठने की आज्ञा दी और कहा कि मेरे पैरों के स्पर्श में कोई माहात्म्य नहीं रखा हुआ है। पैर तो उस के धोने चाहिएँ जिस प्रभु ने ऐसी ऐसी जड़ियाँ उत्पन्न की हैं। मैं ने तो आप के राज्य के बासरे एक भक्त ब्राह्मण से, जो इन दिनों हिमालय और उत्तराखण्ड की तीर्थयात्रा को गया हुआ है, आप के दुःख की कहानी सुनी और प्रभु की आज्ञा मान आप के पास यह औषध पहुँचाने चल दिया। प्रभु की ही कृपा थी कि ऐसा भयानक कष्ट भोगते हुए भी आप मेरे आने तक जीवित रहे और मेरा जड़ी लेकर आना सुफल हो सका। इस लिए प्रार्थना, नमस्कार, विनय, धन्यवाद आदि जो कुछ भी मनोभाव और सद्भाव आप को प्रकट करना हो, सब उसी प्रभु के प्रति प्रकट करें; मैं तो उस प्रभु का बनाया हुआ एक निमित्तमात्र हूँ, अतः मुझ को इस कार्य में धन्यवाद या प्रणामादि ग्रहण करने का बिल्कुल अधिकार नहीं है।

महात्मा की बातें सुनकर राजा को महान् आश्चर्य हुआ। उस ने सोचा—एक ये डाक्टर और वैद्य लोग हैं जो केवल इनाम और पुरस्कार, फीस और पारिश्रमिक के लिए ही रोगी की जान के गाहक बने रहते हैं, रोगी रोग से छुटकारा पा रहा है या उन की दवा उस को यमराज के दर्वाजे की ओर ढकेले लिये जा रही है, इस की उन्हें रत्ती भर भी चिन्ता शायद ही होती हो; और एक ये महात्माजी हैं जिन की जड़ी ने प्रत्यक्ष ही जादू का सा असर दिखलाया है और जिस के बदले में मैं अपना सारा राज्य भी दे डालूँ, तो कुछ बड़ी बात नहीं कही जा सकती। सो ये राज्य धन आदि लेंगे, इस की तो अभी चर्चा भी नहीं की जा सकती, इन्हें मेरे प्रणाम और प्रार्थना के शब्द भी अपने लिए स्वीकार करना आपत्तिजनक हो रहा है। ऐसा मनुष्य तो मैं ने आज तक की जिंदगी में एक बार भी नहीं देखा। यहाँ तो जो मिला, सिर्फ स्वार्थसाधन में लगा हुआ, जो आया, केवल अपना मतलब लिये हुए, जो दिखलाई पड़ा, एकमात्र धन के लिए मुँह फैलाये हुए। कोई भी धन, संपत्ति, इनाम, इकराम की ओर से इस प्रकार उदासीन रहनेवाला मेरे देखने में नहीं आया था। और इसी लिए मैं कभी विश्वास भी नहीं करता था कि इस स्वार्थसाधक संसार में शास्त्रों के कथनानुसार दूसरों को दयामयता, निष्कपटता, निःस्वार्थता, निरभिमानिता आदि प्रशंसनीय गुणों का उपदेश देने के सिवा कोई स्वयं भी वैसा आचरण करनेवाला हो सकता है। मैं शास्त्रों को पाखण्डप्रचारक और उन का उपदेश देनेवालों को पाखण्डी के अलावे कुछ समझ ही नहीं पाता था, कभी कभी उस

तरह की बातें सुनने में भली लगने लगती थीं, तो उस को मैं अपने दिल की कमजोरी समझता था। आह; यदि पहले इन बातों पर जरा भी श्रद्धा या विश्वास कर सका होता, तो आज जिस बीमारी ने मुझे मृत्युशय्या पर डाल दिया था उस का सामना मुझे क्यों करना पड़ा होता? किंतु नहीं; महात्माजी ही ठीक कह रहे हैं—सब कुछ उस परम प्रभु की प्रेरणा से ही संघटित होता है। मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों तथा अपने पारिवारिक संस्कारों के अनुसार ही मुझे ये दिन देखने पड़े हैं और अब किसी जन्म के किसी अच्छे कर्म का प्रभाव उत्पन्न हुआ है कि परमात्मा की प्रेरणा से इन महापुरुष के दर्शन हुए हैं। अवश्य ही इन कामों में प्रभु का ही पूरा हाथ है। ऐसा न होता, तो जिन डाक्टरों ने अपने अनुभवों और गुणकारी दवाओं के जरिये संसार में इतना नाम पैदा कर लिया है कि बच्चा बच्चा उन का सुयश बखानते हैं, क्या वे मेरे इस रोग के लिए इस तरह सोलहों आना बेवकूफ साबित होते? नहीं पूरा पूरा, तो कम से कम रुपये में आना दो आना तो अवश्य ही उन की दवा का गुण दिखाई पड़ना चाहिए था? पर एक पाई भी कोई फायदा नहीं पहुँचा सका, इस का यही अर्थ है कि मेरे भाग्य में इन महात्मा के दर्शन लिखे हुए थे और इन के सत्संग तथा उपदेश से अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करने का समय आ गया था। इस लिए अब जैसे हो सके वैसे इन्हें कुछ दिन के लिए अवश्य अपने महल में अतिथि बना रखना और प्रार्थनाओं से प्रसन्न कर इन से अपने उद्धार के लिए शिक्षा दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

इस प्रकार सोच विचार करने के बाद राजा ने फिर महात्माजी के पैरों का आदरपूर्वक स्पर्श किया और अत्यन्त करुणा में सने हुए शब्दों द्वारा विनती की कि हे देव, हे गुरो, हे करुणानिधे, मैं बड़ा भारी पापी हूँ, मैं ने अपने जीवन में कभी कोई अच्छा कर्म नहीं किया, इस लिए मैं स्वप्न में भी ऐसा नहीं सोच सकता था कि मुझ पापपङ्कनिमग्न नारकी प्राणी को आप जैसे सद्गतिदायी महान् आत्मा का दर्शन मिल सकता है। पर आप महात्मा हैं, आप का कार्य ही दुरात्माओं को सदात्मा बनाना है, इसी लिए आप ने अपने मन से सहर्ष कष्ट उठाकर इस अग्निवर्षी ग्रीष्म ऋतु में हिमालय की शीतलता का नैसर्गिक सुख छोड़कर इस उष्ण देश में, जहाँ आजकल चौबीस घंटे लू चलती और जीवितों का रक्त सुखा सुखाकर उन्हें मुर्दों सा शिथिल बनाती रहती है, आने का अनुग्रह किया है। और इतने पर भी आप कहते हैं कि मेरा पैर धोने में क्या रखा है? पैर ईश्वर के पकड़ने चाहिएँ। परंतु मैं नहीं समझ पाता हूँ कि जिस पुरुष में आप की भाँति दया, निःस्पृहता, शान्ति, गम्भीरता और सब से बड़ी सर्वपावनता विद्यमान है उस में और परमात्मा में क्या अन्तर है? इस लिए मैं तो यही समझता हूँ कि परमात्मा की प्रेरणा से उन का कोई भक्त मुझ को दर्शन देने नहीं आया है, बल्कि मेरे कभी के छिपे हुए अच्छे कर्मों की प्रेरणा से साक्षात् मेरे परमात्मा ही मुझ को इस समय दर्शन देकर कृतार्थ कर रहे हैं।

महात्माजी ने कहा—नहीं राजन्, ऐसी बात न कहें जिस से उन विश्वात्मा की शान में बट्टा लगे, उन महेश्वर के माहात्म्य में न्यूनता आ जाय और उन सर्वनियन्ता के नेतृत्व में अनियन्त्रण का दुर्भाव घुस पड़े। मैं तो वैसा ही एक सामर्थ्यहीन मानव हूँ जैसे आप और संसार के सब मनुष्य हैं।

राजा ने कहा—भगवन्, आप अब कुछ भी कहें, पर एक बार जो आँखें आप ने खोल दी हैं वे अब फिर बंद होकर अपने चारों ओर अन्धकार की कालिमा की कल्पना भी नहीं करना चाहतीं। मुझे इस समय जिन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है और क्रमशः उन्नत होता जा रहा है उन को अपने ध्यान से बाहर करने में अब मैं असमर्थ हूँ। ये ही आँखें पहले संसार के मिथ्यात्व में सत्य को अक्षय रूप से निविष्ट देखती थीं और अब इन्हीं के देखने में सब मिथ्या और नकली मालूम हो रहा है, बुद्धि अपनी शक्ति भर संसार का चक्कर लगा आती है और अन्त में लौटकर यह मन्त्रणा दे रही है कि जिन महात्मा के 'दर्शन से अघ टल गये, पाया पुण्य प्रवेश' वे ही मेरे भगवान् हैं। न आप का दर्शन मिला होता, न मेरी अधोगति का मार्ग इस प्रकार क्रान्तिकारी रूप में एकाएक बंद हुआ होता। कितने ही विद्वान्, व्यास, उपदेशक तो आज तक सैकड़ों बार आ आकर धर्म का अर्थ समझा चुके थे, पुण्य की व्याख्या सुना गये थे, पाप से बचते रहने का उपदेश दे गये थे; पर उन की बातों ने मेरी प्रवृत्ति को क्यों नहीं बदला? और आप ने ईश्वर की कृपा मानने के लिए कहना छोड़कर दूसरी कौन सी गूढ़ बात कही? एक बात भी तो नहीं की; फिर भी मेरी सारी वासनामय प्रवृत्तियाँ अपने आप क्यों विलीन हो गईं? केवल इसी लिए कि आप का दर्शन ही सब पापों को भस्म कर डालनेवाला है। और यही विशेषता ईश्वर में भी होती है। तब मैं आप को यदि अपने परमेश्वर के रूप में देख रहा हूँ, तो क्या अनुचित कर रहा हूँ? इस लिए मैं संसार की दृष्टि में एक पराक्रमी और अहंकारी राजा होते हुए भी आप के आगे आँचल फैलाकर यही भिक्षा माँग रहा हूँ कि जिस प्रकार अनायास कृपा करके आप ने इस अधम को दर्शन और जीवनदान दिया उसी प्रकार अपनी सहज दया प्रकट करके मुझे यह सुयोग भी अवश्य दें कि मैं आप के चरणों में अपनी श्रद्धा का नैवेद्य अर्पण कर सकूँ।

महात्माजी ने कहा—राजन्, श्रद्धा तो हृदय की वस्तु है। वह तो स्वयं अपनी ही इच्छा से निवेदित हुआ करती है। उस के लिए तो आप स्वयं स्वतन्त्र हैं, उस में मुझ से किस बात की प्रार्थना करते हैं? मैं यदि कहूँ भी कि मुझ में ऐसा कोई गुण नहीं जिस का किसी प्रदेश में अस्तित्व हुआ करता है, तब भी क्या आप की हार्दिक श्रद्धा मेरी बात स्वीकार कर सकती है?

राजा ने कहा—प्रभो, मेरा यह अभिप्राय है कि श्रीचरण जब मुझ अधम को पवित्र करने की कृपा कर चुके हैं, तो अब यह कृपा भी मुझ पर अवश्य हो कि मेरे उद्धार में कोई

कभी न रह जाय। और इस का उपाय मेरी बुद्धि में यही आया है कि मैं श्रीमुख से दीक्षा लेकर आज से सुशिक्षा पाने का प्रयत्न करूँ। इस लिए श्रीमान् कुछ काल यहाँ रहकर इस नरककुण्ड राजप्रासाद को अपने चरणरज से स्वर्गरूप में परिवर्तित होने का अवश्य अवसर दें।

महात्माजी ने कहा—राजन्, आप की सत्प्रवृत्तियों का उदय देखकर मेरी आत्मा को जिस संतुष्टि का अनुभव हो रहा है उस को मैं शब्द द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। आप पूर्व जन्म के बहुत बड़े पुण्यात्मा प्राणी हैं, इस में सदेह नहीं। इस जन्म के विपरीत संसर्ग और अज्ञान में हुए पूर्व जन्म के किसी बुरे संस्कार के कारण आप की प्रवृत्ति आज तक असद् कर्मों की ओर हो रही थी, पर अब वह उस की ओर से पूर्ण विमुख हो चुकी है। इस लिए अब आप यदि अपने कुलगुरु से भी मन्त्रदीक्षा ले लें, तो भी सदाचार और सन्मार्गग्रहण द्वारा आप का उद्धार होने में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। मनुष्य की प्रवृत्ति ही उस के उत्थान और पतन का कारण है। प्रवृत्तिमार्ग में असद् उपायों का अवलम्ब लेकर प्रवृत्त रहनेवाला नीचे गिरता है और निवृत्तिमार्ग में सद् उपायों का अवलम्ब लेकर प्रवृत्त रहनेवाला ऊपर उठते उठते एक दम ऊपर जाकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। आप अब तक पहली श्रेणी के उदाहरण बने हुए थे, पर अब आप ने दूसरी श्रेणी में स्वतः पैर रख दिया है। इस लिए अपने उद्धार में अब आप स्वयं समर्थ हो जायेंगे, किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। और आज के बाद आप का जो आचरण होगा वही आप के महल और नगर को नरक से बदलकर स्वर्ग के रूप में खड़ा कर देगा। इस लिए मुझ को रोक रखने की तो, मैं समझता हूँ, अब आप को कोई आवश्यकता नहीं है। प्रभु का कार्य हो चुका, आप के दैहिक और मानसिक रोग दूर हो गये। इतने के ही लिए मुझे यहाँ आना पड़ा था। इन कार्यों के हो जाने पर यहाँ रहकर क्या होगा? अब मुझे अपने आश्रम पर जाने दीजिए।

राजा ने कहा—महात्मन्, मैं ने आप की अनुमति बिना ही दृढ संकल्प कर लिया कि आप से ही मन्त्रदीक्षा लूँगा, इस के लिए मुझे क्षमा करें और जैसे भगवान् भक्त की इच्छा पूरी करने के लिए प्रसिद्ध हैं वैसे ही आप भी मेरे संकल्प को पूर्णता प्रदान करें। आप कहते हैं कि मैं अब स्वयं अपना उद्धार और महल तथा नगर को स्वर्ग में परिणत कर लूँगा। मैं आप के इस कथन को आप का अमोघ आशीर्वाद समझ रहा हूँ, पर मुझ में सदा से दुर्व्यसन का जो अभ्यास पड़ चुका है उस पर जब मेरा ध्यान जाता है, तो न जाने क्यों मन में भय होने लगता है कि आप के चले जाने पर फिर कहीं मैं वैसा ही न हो जाऊँ। इस लिए कुछ दिन के लिए अवश्य मुझे सेवा करके अपनी वर्तमान प्रवृत्तियों को दृढ बना लेने का लाभ उठाने दें, मेरी प्रार्थना अस्वीकृत न करें।

राजा के यहाँ महात्माजी की सेवा
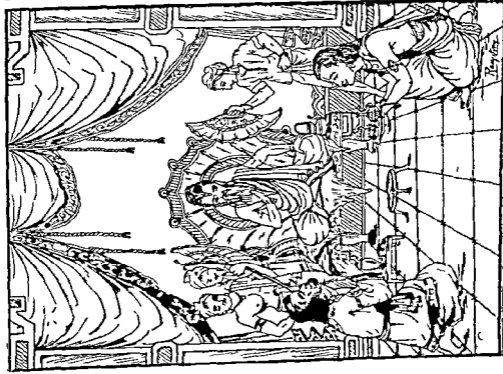
राजमित्र के यहाँ सेवा का उलटा फल

રાજાને ત્યાં મહાત્માજીની સેવા

રાજમિત્રને ત્યાં સેવાનું વિરૂદ્ધ ફળ.
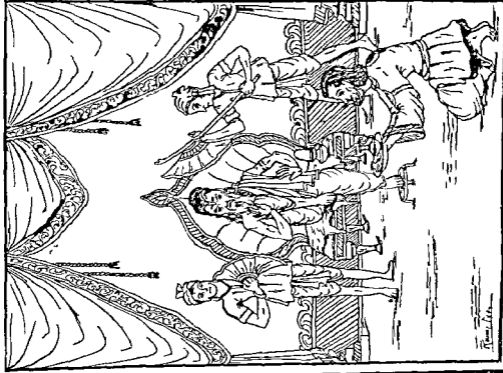
महात्माजी ने कहा—क्या करूँ राजन्, आप का आग्रहपूर्ण अनुरोध टालने का मुझे साहस नहीं हो रहा है। आप की भक्ति देखकर विवशतापूर्वक मुझे आप का आतिथ्य ग्रहण करना पड़ रहा है, पर मैं यह वचन आप से आज ही ले लेना चाहता हूँ कि अब जब मैं जाने का विचार करूँ, तो आप दुबारा मुझ को रोकने के लिए आग्रह मत कीजिएगा।

राजा ने कहा—नहीं गुरुवर, अब मैं कभी आग्रह नहीं करूँगा। आप की जब इच्छा हो तभी आप लोककल्याण के लिए प्रस्थान कर सकते हैं। आज तक जिस स्वार्थी संसार को शिक्षा के अनुसार बर्ताव किया वही क्या मेरी दुर्गतियों के लिए कम है कि मैं पुनः लोककल्याण में बाधक बनकर निजी स्वार्थ के लिए आप को अपने यहाँ रोक रखूँगा ?

महात्माजी ने कहा—अच्छा, अब मेरे लिए कोई एकान्त स्थान बतला दीजिए जहाँ मैं कुछ देर निश्चिन्त होकर भगवान् का ध्यान कर सकूँ। फिर दीक्षा के लिए आप ने जो रीति सोची हो उस के अनुसार सब तैयारी कर रखिए। यों तो यदि मान लिया जाय, तो आप की दीक्षा हो गई—मैं ने प्रभु के संबन्ध में कुछ कहा और आप ने हृदय में उस को धारण किया, यही मुख्य दीक्षा है। परंतु आप लौकिक व्यवहार के अनुसार दीक्षित होना चाहते हैं, इस लिए उन विधियों का पालन भी आवश्यक है जो आप के यहाँ की कुलप्रथा हो।

महात्माजी की स्वीकृति पाकर राजा बड़ा आनन्दित हुआ। उस ने अपने निजी नजरबाग में बने तालाब के किनारेवाले बँगले को उसी समय जल से धुलवाकर पवित्र करवाया, उस में चारों ओर खस की दोहरी टट्टियाँ लगवा दीं, खूब बड़ा बड़ा पंखा चालू करवा दिया, स्नान और पीने के लिए बरफ मिला पानी रखवा दिया, पलग, मसहरी, रेशमी चादर आदि सोने के समय के लिए और ऊनी गलीचे का आसन बिछा हुआ एक चन्दन की लकड़ी का तख्ता ध्यान पूजन के लिए अलग अलग कोठरियों में सुसज्जित करवा दी और उसी बँगले में महात्माजी को ले जाकर टिका दिया।

उस रमणीक और एकान्त स्थान को देखकर महात्माजी बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा—देखिए राजन्, इस बँगले में आप ने अनेक दिन और रातें आमोद प्रमोद में बिताई हैं और आज यही बँगला आमोद प्रमोद को समाप्त कर ईश्वरप्रार्थना के काम में लाया जा रहा है। अब आप सच बताइए कि इस बँगले में आप को आज जिस तरह की शान्ति और पवित्रता दृष्टिगोचर हो रही है वैसी क्या पहले के वातावरण में कभी देखने में आई थी ?

राजा ने कहा—नहीं गुरुजी, इस का हजारवाँ हिस्सा भी नहीं। आज तो यहाँ आकर मुझे ऐसा मालूम हो रहा है, मानों मैं पुराणों में वर्णित किसी शान्तिकुटीर में आ गया हूँ। यह सब आप की चरणधूलि का ही प्रताप है।

महात्माजी ने कहा—नहीं; आप भूल कर रहे हैं। यह सब आप की सद्भावना की महिमा है। आज तक आप अपने नौकरों की देख रेख में अपने लिए इस बँगले में विनोद-

विलास के उपकरण एकत्र करवाते रहे जो व्यवहार के समय आप को अधूरे लगते थे और अधिक से अधिक उपकरणों को जुटाने की नई प्रेरणा देकर आप को अशान्त बनाये रखते थे और आज आप ने अपनी देख रेख में मेरे लिए (जिसे अपने शब्दों में आप ईश्वर कह रहे हैं उस के लिए) यह सब तैयारी कर रहे हैं और चाहते हैं कि किसी तरह की कमी न रहने पाये। यह ईश्वरनिमित्तक भक्तिभावना ही यहाँ शान्ति की वर्षा और पवित्रता का प्रसार कर रही है। इसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं के संबन्ध में भावना को ही प्रधान मानिए। रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, हीरा, मोती, अन्न, वस्त्र, महल, मकान, बाग, बगीचा, हाथी, घोडा आदि आदि जितनी सुखोपभोग की सामग्रियाँ हैं वे जब तक किसी मनुष्य के निजी उपभोगमात्र के लिए संग्रहीत होती हैं तब तक उन में एक नई लालसा को उभाड़नी रहनेवाली अशान्ति की अप्रत्यक्ष धारा बहती रहती है और ये ही वस्तुएँ जब ईश्वर की और उन के भक्तों के तथा उन ईश्वर के ही लिए समझकर उपयोग में लाई जाने लगती हैं, तो उन में से अशान्ति की अप्रत्यक्ष धारा नष्ट होकर शान्ति की प्रत्यक्ष धारा प्रवाहित होने लगती है। इस लिए यह बँगला ही नहीं, बल्कि आप के राज्य की एक एक इंच जमीन, एक एक बूँद पानी और एक एक तिनके को हिलानेवाली हवा तक उस समय आप के चारों ओर अक्षय शान्ति का भाण्डार बिखेरने लगेगी जब आप जीवमात्र को ईश्वर का रूप मानकर उन जीवों की निःस्वार्थ भलाई के लिए अपने राज्य की राई रत्ती कुल संपत्ति अर्पित करके अपने शरीर को भी उन ईश्वर और तदंशभूत जीवों की सेवा में उत्सर्ग कर देंगे। अस्तु; अभी आप बीमारी से उठे हैं और कमजोर हैं, इस लिए जाइए, आराम कीजिए। अब तो मैं जब तक यहाँ हूँ, आप को बराबर इन सब तत्त्वों का ज्ञान कराता ही रहूँगा। एक दिन में इन रहस्यों को समझाकर न तो मैं समाप्त ही कर सकता हूँ और न आप सब सुनकर हृदयंगम ही कर सकते हैं। इस लिए आज इतनी ही बातों से संतोष कीजिए और जाकर आराम करते हुए इन्हीं का मनन करते रहिए।

राजा ने कहा—गुरो, आप के पास से हटने की इच्छा तो नहीं होती, पर आप की आज्ञा है, तो जा रहा हूँ। यहाँ मैं अपनी जगह पर अपने एक मित्र को छोड़े जाता हूँ। वह है तो बड़ा सीधा सादा आदमी, पर कोई भी बात कुछ समझाकर कहने पर ही उस की समझ में आती है। इस लिए जब किसी वस्तु की यहाँ आवश्यकता पड़े तब थोड़ा समझाकर उसी से कह दीजिएगा; वह तुरंत उपस्थित कर देगा।

महात्माजी ने कहा—मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। मेरी ओर से आप बिल्कुल बे फिक्र होकर जायें और आराम करें।

राजा ने कहा—फिर भी अपने मित्र को तो मैं यहाँ रख ही जाता हूँ। कौन जाने, कुछ काम आ ही जाय।

महात्माजी ने कहा—अच्छी बात है, रख जाइए।

इस के बाद महात्माजी को प्रणाम करके राजा अपने महल में चला आया। यहाँ पर उस ने देखा कि महात्माजी के लिए मैं जितने प्रकार के भोजन पदार्थ तैयार करने के लिए कहा गया था वे सब पदार्थ प्रस्तुत हो गये हैं, तो अपनी रानी को साथ करके उस ने वह सब सामान वहाँ भेजवा दिया और स्वयं महात्माजी की बातों को सोचता हुआ आराम से लेट गया।

महात्माजी के उपदेशों पर वह जितना ही विचार करता गया उतनी ही उस के आगे उन की सत्यता प्रत्यक्ष होती गई और अन्त में उस ने प्रण कर लिया कि आज से इस सिद्धपुर राज्य का सारा वैभव सिद्धों और सिद्धि के मार्ग पर चलनेवाले साधु, ब्राह्मण, पण्डित, विद्वान् और ज्ञानी, महात्माओं के लिए है। मैं इस काम को पूरा करानेवाला एक कर्मचारीमात्र हूँ जिसे ईश्वर ने राजा की उपाधि देकर इस काम पर नियुक्त कर दिया है।

राजा ने अपने जिस उद्देश्य को पूरा करने के लिए महात्माजी को अतिथि बनाया था वह उद्देश्य समयानुसार पूरा हो गया अर्थात् महात्माजी ने राजा की भक्ति देख उसे दीक्षा का अधिकारी मान लिया और अन्त में एक शुभ मुहूर्त देखकर विधिवत् दीक्षा भी दे दी। राजा की सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्होंने चलते समय उस को ईश्वर की अखण्ड भक्ति का आशीर्वाद दिया और सब को प्रसन्न करके वहाँ से प्रस्थान किया। इस प्रकार इस कथा का एक भाग पूरा हुआ। पर इसी बीच में विचित्र रूप में विपरीत परिणाम उपस्थित करनेवाली जो कथा उत्पन्न हो गई और जिस पर ही इस प्रसंग को दृष्टान्त का रूप दिया गया है वह यह है कि राजा ने महात्माजी के पास अपने जिस सीधे सादे मित्र को देखभाल के लिए नियुक्त कर दिया था वह अपने विलासी मित्र (राजा) को उन महात्मा के संसर्ग से इस प्रकार शुद्धता और सदाचारिता ग्रहण करते देख महात्माजी के गुणों से बहुत ही प्रभावित हुआ। वह एक विलासी राजा का मित्र होते हुए भी शायद अपनी सिधाई के कारण अपने मित्र की भाँति विलास में नहीं डूबा था, ईश्वर और धर्म की ओर थोड़ी बहुत सदा ही उस की प्रवृत्ति रहती आई थी। इस लिए महात्माजी के माहात्म्य और प्रभाव का उस के हृदय पर जितना असर पड़ा वह कुछ असंगत या अनहोनी घटना जैसा नहीं हुआ, बल्कि ठीक ही पड़ा। अब वह हरदम यही सोचने लगा कि ऐसे महात्मा की सेवा तो स्वतन्त्र रूप से की जाय तभी कुछ आनन्द मिल सकता है। यहाँ राजा के मित्र की हैसियत से जो सेवा करने का सौभाग्य मुझ को प्राप्त हो गया है वह मेरी, राजा की और महात्माजी की भी दृष्टियों में राजा की ओर से ही सेवा समझी जायगी, मेरी ओर से उसे कोई नहीं समझ सकता। इस लिए किसी उपाय से इन महात्माजी को एक बार अपने घर ले चलकर इसी ढंग से सेवा कर सकूँ, तभी मुझे संतोष होगा। पर इस का उपाय क्या है, महात्माजी ने बड़ी मुश्किल से तो इतने बड़े राजा की मेहमानदारी

कबूल की है, फिर मुझ जैसे साधारण आदमी के यहाँ मेहमान बनना तो ये शायद ही कबूल करें ? पर एक बार चलकर प्रार्थना करूँ और देखूँ कि मेरे यहाँ चलने में ये क्या अड़चन बताते हैं, तब उस अड़चन को दूर करने का उपाय करके इन्हें अपने यहाँ ले चलने की कोशिश करूँगा ।

इस तरह सोचकर वह भूल गया कि मैं बुलाने पर महात्माजी के पास जाने के लिए यहाँ तैनात हूँ और बिना बुलाये ही महात्माजी के पास जाकर बैठ गया ।

महात्माजी उस समय ईश्वर के ध्यान में लीन थे । उन्हें राजा के मित्र के आने की खबर नहीं हुई, न उन्होंने अपनी आँखें खोलीं । राजा का मित्र भी चुपचाप वहीं बैठ गया और प्रतीक्षा करने लगा कि देखूँ ये कितनी देर में मुझ पर दयादृष्टि डालते हैं । महात्माजी ने पूरे चार घंटे के बाद राजा के मित्र की तरफ ध्यान दिया और पूछा कि क्या कहना चाहते हो ?

राजा के मित्र ने बहुत दीनता जताते हुए प्रार्थना की कि श्रीमान् की सेवा करके सुखी होने की मुझे बड़ी लालसा लग गई है । इस लिए यहाँ से विदा होने पर मैं इन श्रीचरणों द्वारा अपनी कुटिया को पवित्र कराना चाहता हूँ ।

महात्माजी ने देखा कि यह तो भारी बखेड़ा गले पड़ा । आया था मैं एक दिन के लिए और लग गये यहाँ सात दिन । फिर यदि इस के यहाँ चलता हूँ, तो सात दिन और लग जायेंगे और असंभव नहीं कि इसी प्रकार परंपरा जारी हो जाय और मुझे हिमालय जाने का वर्षों अवसर न मिले । फिर तो सब क्रम ही उलट पुलट जायगा, और मुझे अपने उद्देश्य से बहुत दूर निकल जाना पड़ेगा । इस लिए चाहे जो हो, पर इस समय तो मुझे हिमालय ही चलना होगा । पर कहीं यह राजमित्र यह न समझ ले कि इस को राजा की अपेक्षा गरीब जानकर मैं इस के यहाँ नहीं चल रहा हूँ । यदि ऐसा हुआ, तब तो और बुरा होगा । तब ? हाँ, ठीक है । बस, यही एक उपाय है जिस से दोनों बातें नहीं बिगडने पायेंगी । इस प्रकार मन ही मन उपाय स्थिर करके उन्होंने कहा—आप की प्रार्थना स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर इस बार के लिए मैं आप को सलाह देता हूँ कि आप अपनी इच्छा को कुछ दिन और दबा रखें, क्योंकि मैं एक ही दिन के लिए इधर आकर आप के राजा को ही काफी समय दे चुका हूँ । इस लिए इस बार मुझे अपने आश्रम पर लौट जाने दीजिए । माघ मास में तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ लग रहा है । उस समय मैं पुनः इस प्रान्त में आऊँगा और तब सहर्ष आप का आतिथ्य ग्रहण करूँगा ।

राजा का मित्र सीधा सादा आदमी तो था ही । उसे तो जो समझा दिया जाय वही उस के लिए ठीक जँच जाता, चाहे कोई उलटी ही बात क्यों न समझा दे । फिर महात्माजी ने तो सचमुच सीधी बात ही समझाई थी । उस ने सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया कि अच्छा माघ में ही सही, पर उस समय अवश्य कृपा कीजिएगा ।

महात्माजी अपने आश्रम पर चले गये। राजा का मित्र माघ आने की प्रतीक्षा करने लगा। आखिर ज्यों त्यों करके माघ आया और एक एक दिन बीतते बीतते उस मास के चार ही दिन शेष रह गये, पर महात्माजी नहीं आये। बिचारा सीधा भक्त बहुत व्यग्र रहने लगा। उस ने बड़ी उमंग से उन के सत्कार की तैयारी कर रखी थी। सुनोगे कि उस ने किस प्रकार की तैयारी की थी? उस ने राजा को जिस तरह के सत्कार करते देखा था ठीक ठीक उसी तरह की तैयारी उस ने भी की थी, क्योंकि उस में भी स्वयं सोचने समझने की बुद्धि नहीं थी। वह जिस प्रकार राजा को देखा देखी महात्मा की सेवा के लिए तैयार हुआ था उसी प्रकार राजा के यहाँ देखी हुई पूजा की सामग्रियों को भी जुटा रखा था। उस ने यह एक बार भी नहीं सोचा कि वहाँ जब वे आये थे तब ज्येष्ठ मास था और यहाँ जब आनेवाले हैं तब माघ मास है। उसे तो बस, वही करना था जो राजा ने किया था, ताकि महात्माजी उसे राजा से किसी तरह कम न समझें। उस ने अच्छे रमणीक बगीचे में तालाब के ही किनारे बने हुए किसी अंग्रेज के बँगले को भाड़े पर ले लिया और उस में खस की टट्टियाँ, बड़े बड़े पंखे, बरफ मिला पानी, महीन ओढ़ना बिछौना वगैरह सब चीजों की व्यवस्था करके महात्माजी के आने की बाट देखता रहा।

ज्यों ज्यों माघ बीतता गया त्यों त्यों उस की बेचैनी भी बढ़ती गई और अन्त में जब चार ही रोज माघ के रह गये तब तो वह एक प्रकार विक्षिप्त सा ही हो उठा, कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर, कभी स्टेशन पर और फिर घर में तथा फिर बाहर। वह चाहता था कि कहीं महात्माजी को देख लूँ और उठा लाकर विधिवत् पूजन करना आरम्भ कर दूँ। वह फिर घबड़ाकर बाहर निकला कि सामने से एक महात्मा को आते देखकर रुक गया और उन्हें पहचानने की कोशिश करने लगा। सोचा—हाँ, वे ही तो हैं, दाढ़ी, मूँछ, शरीर का रंग और ऊँचाई सब कुछ तो उन्हीं की तरह है। अन्तर केवल इतना हो गया है कि उस समय ये मोटे और गोरे थे और आजकल जरा दुबले और साँवले हो गये हैं। वह दौड़कर उन के पैरों पर जा गिरा और कहने लगा कि मैं तो निराश हो चुका था, सोचता था, कि मुझ जैसे अभागों के भाग्य में इतने बड़े महात्मा की सेवा लिखी ही नहीं है। लेकिन आप का दर्शन पाकर सब अशान्ति मिट गई। धन्य हैं मेरे भाग्य!

महात्माजी ने कहा—अरे भाई, मैं वह महात्मा नहीं हूँ जिन की तुम बाट जोह रहे थे। वे चले तो थे तुम्हारे यहाँ अवश्य आने के लिए और आयेंगे भी अवश्य ही, पर बीच में कुछ महात्माओं का ऐसा जमावड़ा हो गया कि वहाँ से अभी दस पंद्रह दिन वे किसी तरह नहीं हट सकते। मैं उन का शिष्य हूँ और उन की सेवा में रहकर कुछ दिनों से साधना सीख रहा हूँ। उन्होंने जब देखा कि अपने वचन के अनुसार माघ में तुम्हारे यहाँ नहीं आ सकेंगे, तो मुझे

तुम्हारे पास संदेश देने के लिए भेजा जिस में तुम निराश न हो जाओ। इस लिए तुम धैर्य रखो और शान्ति के साथ उन के दर्शन की इच्छा को बलवती बनाते रहो। महात्माओं से फुर्सत मिलते ही वे अवश्य तुम्हारे पास आयेंगे।

राजा के मित्र ने सोचा कि वे ही महात्मा नहीं हैं, तो क्या हुआ, उन के शिष्य तो हैं! क्यों न तब तक इन्हीं की सेवा का पुण्य लूट लूँ? फिर वे आयेंगे, तो उन की भी सेवा करके राजा से दूने पुण्य का भागी बन जाऊँगा। ऐसा सोचकर उस ने कहा—अच्छा, महात्माजी जब आयें, तभी सही। पर आप आ गये हैं, तो इस समय आप ही मेरी सेवा और पूजा को सफल बनाइए।

महात्माजी अधूरे तो थे ही, आ गये लालच में और चले गये गुरु की जगह पुजवाने। राजा के मित्र ने पहले बरफ के जल से स्नान कराया, फिर खूब महीन धोती पहनने को और बिलकुल बारीक चादर ओढ़ने को देकर उन्हें पूजा के घर में ले जाकर बैठा दिया और कहा कि आप ध्यान भजन करें, तब तक मैं भोजनसामग्री लेकर आ रहा हूँ, और बाहर जाकर नौकरों को खस की टट्टी तर करने और पंखों की खूब हवा करने के लिए कहता गया। महात्माजी ने इस भय के मारे कुछ कहा भी नहीं कि कहीं मैं जाड़े से डरनेवाला न समझ लिया जाऊँ जो किसी भी साधु महात्मा के लिए निन्दा की बात है। आखिर जब वह भोजन की थाली लेकर लौटा, तो देखता क्या है कि महात्माजी ज्ञानमुद्रा में सिंहासन पर जैसे बैठे हैं उस से जरा भी इधर उधर होने का नाम नहीं लेना चाहते। उस ने बहुत बुलाया, बहुत आवाजें दीं कि भोजन उपस्थित है, पर कोई जवाब न मिला। तब उस ने उन्हें हिलाकर उठाना चाहा, पर शरीर छूते ही वह सन्न रह गया, उस ने देखा कि इन का तो शरीर ही निर्जीव हो गया है। अन्त में अपने भाग्य को कोसता हुआ महात्मा की लाश को छिपाने के इन्तजाम में आ लगा और मन में निश्चय किया कि अब किसी साधु बाबु के फेर में नहीं पड़ूँगा। पर बात छिपी नहीं रह सकी, पुलिस को पता लग गया और राजा के मित्र महाशय गिरफ्तार कर लिये गये। मुकदमा चला। बहुत कोशिश पैरवी और रुपया खर्च करने पर फाँसी की सजा न मिलकर दो वर्ष के लिए जेल की कड़ी सजा मिली। यह विधि जाने बिना देखा देखी भक्ति के उद्रेक में पड़ने का प्रत्यक्ष फल था।

इस से मानना पड़ता है कि केवल श्रद्धा और विश्वास का तूफान आना ही भक्ति में सफलता की कुंजी नहीं है, बल्कि श्रद्धा विश्वास के साथ भक्ति की विधियों से, समय से, देश से और पात्र से भी पूरा पूरा परिचय रखना चाहिए। यथायोग्य विधियों में गड़बड़ी होने से ही उस राजमित्र को पुण्य की जगह साधुहत्या जैसा महान् पातक का भागी होना पड़ा। इसे यदि समय और पात्र की शक्ति का ज्ञान होता, तो इतनी बड़ी भूल वह क्यों करता?

भगवत्प्राप्ति के अनेक प्रकार (गी० ११।५५)

ભગવત્પ્રાપ્તિના અનેક પ્રકાર. (ગી. ૧૧।૫૫)
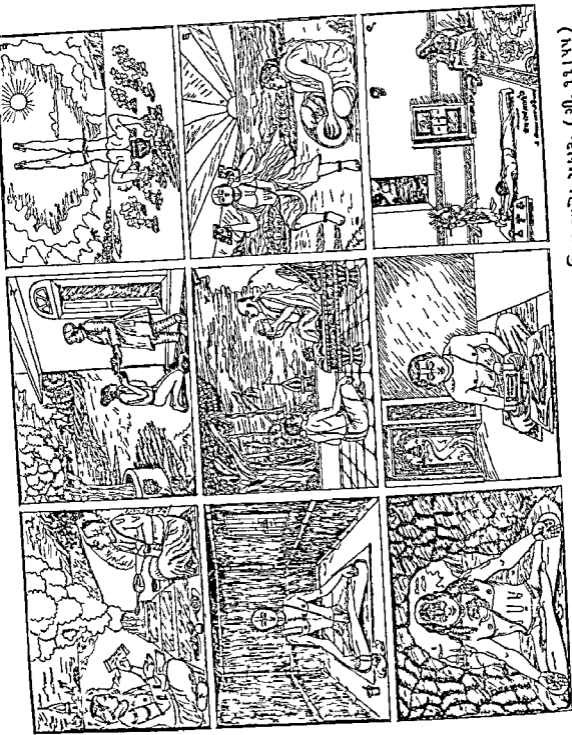
संभव है कि इन पहलेवाले महात्माओं पर उन के अभ्यास के कारण सर्पों का वैसा विनाशक प्रभाव न पड़ा होता, किंतु वह रामसिंह तो केवल अपनी उस इच्छा को पूरी करना चाहता था जो राजा को देखा देखी उस की बराबरी करने अथवा बड़ा भारी भक्त कहलाने के लिए उस के मन में जाग पड़ी थी। उस ने विधिनिषेध, समय असमय, पात्र अपात्र किसी विषय का विचार नहीं किया और भक्त कहलाने के स्थान पर भक्तघातक बनकर रह गया।

इस लिए भक्ति से भगवान् को जानने, देखने और पाने की इच्छा करने के पहले इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि किस अवस्था में, किस प्रकार की भक्ति, उपासना, पूजा, अर्चा आदि करने से भक्त के वास्तविक कर्तव्य का पालन होगा, इत्यादि। और यह जब ज्ञात हो जायगा तथा विधिवत् भक्ति में तुम तल्लीन हो जाओगे तब तो ऐसी कोई शक्ति नहीं जो भगवान् को जानने, देखने, पाने से तुम्हें विरत रखे। अस्तु;

इस प्रकार भगवत्प्राप्ति में अनन्य भक्ति को सब से श्रेष्ठ साधन बतलाते हुए भगवान् ने जब कहा कि हे अर्जुन, वेदों से, तप से, दान से और यज्ञ से मैं नहीं देखा जा सकता, किंतु इस प्रकार का रूपवाला मैं अनन्य भक्ति से ही तत्त्व सहित जाना, देखा और प्राप्त किया जा सकता हूँ, तब अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन्, ऐसा अनन्य भक्त बनने का उपाय क्या है, संसार में जो आप के भक्त हैं उन को पहचाना कैसे जा सकता है तथा आप में अनन्यभाव से भक्ति करनेवाले भक्त को सब से बड़ा लाभ क्या होता है?

भगवान् ने उत्तर दिया कि मुझ परमात्मा की अनन्यता प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले को सब से पहले अपनी इन्द्रियों और मन पर आधिपत्य स्थापित करना चाहिए, सर्वदा सावधान रहकर एकमात्र मेरा ही स्मरण करते रहना चाहिए, किसी भी प्रकार के द्वन्द्व में पड़ने से अपने को बचाये रखने की सदैव चेष्टा रखनी चाहिए। इस प्रकार बहुत सी बातें हैं जो अनन्य भक्त के लिए अवश्य आचरणीय हैं, परंतु यहाँ मैं उन का विस्तृत वर्णन नहीं करूँगा। विस्तार के साथ अग्रिम अध्याय में कहूँगा। यहाँ तेरे समस्त प्रश्नों का संक्षेप में, किंतु सब तत्त्व स्पष्ट कर देनेवाला सारभूत उत्तर यही है कि—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

जो मेरे लिए कर्म करता है, मुझ को परम गति जानता है, मेरा भक्त है, संगवाला नहीं है, सब जीवों में वैरभाव छोड़ चुका है, हे पाण्डव, वह मुझ को प्राप्त करता है।

गी० गौ०—हे अर्जुन, जिस पुरुष का प्रत्येक कर्म एकमात्र मुझ परमात्मा के ही निमित्त होता है, जिस की सारी भावनाएँ केवल मुझ को ही सब से बड़ी गति मानने में चरितार्थ होती हैं, जिस का मैं ही उपास्य हूँ, जिस ने हर तरह के सांसारिक मोह, ममत्व, विषय, विलास आदि की आसक्ति का परित्याग कर दिया है, जो किसी भी जीव से शत्रुभाव नहीं रखता, प्रत्युत जीवमात्र को अपनी आत्मा के समान ही मित्ररूप में देखनेवाला है, ऐसा ही पुरुष मेरा अनन्य भक्त कहलाने का अधिकार रखता है और वही अन्त में मेरे यहाँ पहुँचकर मुझ को अपनाता है।

क० प्र०—प्यारे प्रभु के प्रेमियो, भगवान् ने संक्षेप में उत्तर क्या दिया है, इस एक ही श्लोक में संपूर्ण गीताशास्त्र का सारतत्त्व—निचोड़ खींचकर अर्जुन के सामने रख दिया है। पीछे के अध्यायों में भगवान् जो कुछ कह आये हैं और आगे के अध्यायों में अभी जो कुछ कहेंगे उन समस्त उपदेशों में ब्रह्मार्पण की विधि और उस का माहात्म्य, भगवान् की शरणागति का प्रकार और उस से प्राप्त होनेवाला महान् फल, प्रभु की भक्ति करने के ढंग और उस से होनेवाले लाभ, आसक्ति को छोड़ने का उपाय और उस के छूट जाने पर मिलनेवाली संतुष्टि, जीवमात्र पर दयाभाव, समदृष्टि, सहानुभूति रखने का प्रयत्न और उस के द्वारा होनेवाले आनन्द तथा इन सब से भगवान् को पाने का निश्चित आश्वासन एवं भगवान् के मिल जाने पर अवश्य मिलनेवाली परम शान्ति इत्यादि के ही संबन्ध में पूरा पूरा वर्णन किया गया है और किया जायगा। सो ये सब बातें इस एक ही श्लोक में संक्षेपतः कह दी गई हैं।

'मत्कर्मकृत्' मुझ परमेश्वर के लिए कर्म करनेवाला। यह अनन्य भक्त का पहला लक्षण है। कर्म शब्द से खाना, पीना, सोना, जागना, चलना, बैठना, देना, लेना, किसी से प्रेम करना, किसी का प्रेमी बनना, इत्यादि सभी बातों का ग्रहण हो सकता है। इस के अनुसार इस वाक्य से यह उपदेश दिया गया कि तुम संसार में रहते हुए जो कुछ भी करते धरते हो वह समस्त कार्यकलाप अपनेपन की बुद्धि से रहित होकर करो, सब कुछ करते हुए यही समझा करो कि भगवान् ही सब करा रहे हैं और उन्हीं के सुख संतोष, प्रसन्नता आनन्द के लिए इस शरीर के हाथ, पाँव, नाक, मुँह, आँख, कान, अङ्ग प्रत्यङ्ग से सब कार्य हो रहे हैं, मैं न तो कुछ करनेवाला हूँ, न इन कामों के बनने बिगड़ने से मेरा कुछ बनना बिगड़ना है।

'मत्परमः' मुझ परमात्मा को ही परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ माननेवाला। सब से बड़ा जिस को माना जाता है उस की शक्ति के बाहर कोई बात नहीं समझी जाती। इस प्रकार इस वाक्य से यह भाव निकला कि तुम अपने लिए भगवान् का ही आश्रय ग्रहण करो, अपने मन में ऐसा दृढ विश्वास रखो कि मैं तो उन प्रभु के ही भरोसे पड़ा हुआ हूँ। मुझे न स्वर्ग चाहिए, न बैकुण्ठ। मुझे तो उन की ही मर्जी पर चलना है, इसलिए वे ही मेरी गति अर्थात्

मेरे लिए ठिकाना हैं, उन के अतिरिक्त मैं दूसरा ठिकाना जानता ही नहीं, मेरे लिए तो सब कुछ वे ही हैं।

'मद्भक्तः' मुझ ईश्वर का भक्त, केवल मेरी ही भक्ति को अपने हृदय में स्थान देनेवाला; छोटे, बड़े, स्थूल, सूक्ष्म नाना प्रकार के देवताओं की उपासना करनेवाला नहीं। इस वाक्य से यह समझाया गया कि जल्दी जल्दी फल देते रहनेवाले देवों या भूत प्रेतों की भक्ति करने में कुछ महत्त्व नहीं है, भक्ति एक परम प्रभु की ही करनी चाहिए, क्योंकि वे ही सर्वोत्तम गति हैं, उन्हीं की भक्ति में तल्लीन रहने से अनन्य भक्त कहे जाओगे। इस लिए अन्य की बात भी मत सोचो। उन्हीं को पूजा करो, उन्हीं का नाम जपो, उन्हीं के दर्शनों की इच्छा रखो, उन्हीं के ध्यान में डूबे रहो, उन के ध्यान में डूबकर इस तरह अपने को उन्हीं में मिला दो कि वहाँ से उतराने का कभी अवसर भी न आने पाये। मनुष्य स्वेच्छा से डूबने के बाद उतराने के लिए तभी इच्छा करता है जब कि डूबे रहने से उस को घबड़ाहट मालूम होने लगती है। इस लिए भगवद्भक्ति में डूबने के समय अपने को उसी रस का कीड़ा बना लो, ताकि उस में डूबे हुए कभी ऊबो ही नहीं। तात्पर्य यह कि प्रेम से आकृष्ट होकर भगवद्भक्तिरस में आप्लावन करो; किसी को दिखलाने के लिए और भक्ति के नाम पर पेट भरने के लिए नहीं।

'सङ्गवर्जितः' विषयों के प्रेम से रहित—स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, स्वजन, परिवार, द्रव्य, धन, सुख, विलास आदि जितने भी सांसारिक सुख में लिपटाये रहनेवाले विषय हैं उन सब के क्षणस्थायी स्नेहबन्धन से मुक्त।' इस वाक्य का यह भाव है कि रहो तो संसार में ही, पर जल में कमल की तरह। किसी में आसक्त मत हो जाओ, किसी विषय के प्रेम में ऐसे मत फँसो कि उस के बिना तुम रह ही न सको अथवा उस के बिना तुम्हारा काम ही न चले। यदि इस प्रकार के प्रेम में फँसने की इच्छा है, तो वह प्रेम केवल परमात्मा के साथ करो, उन्हीं के बिना अपने को अस्तित्वहीन समझो, उन्हीं के बिना अपना काम रुका हुआ देखो।

'निर्वैरः सर्वभूतेषु' सब जीवों में शत्रुतारहित अर्थात् चल, अचल, जड़, जङ्गम जितने प्रकार के जीव हैं, किसी से भी दुश्मनी का बर्ताव न करनेवाला, सब को परमात्मा का पुत्र समझकर सब के साथ एक समान प्रेम करनेवाला। इस वाक्य का अर्थ यह है कि किसी के हाथ से तुम्हारा कुछ बिगड़ भी जाय, तो उस से बदला लेने का अथवा उस को दण्ड देने का विचार करनेवाला अपने को मत समझो, बल्कि यह भाव रखो कि इस ने परमात्मा का काम बिगाड़ा है, इस लिए वे ही इस का दोष गुण देखें, मेरे लिए तो जैसा मैं वैसा ही यह, अर्थात् इस के द्वारा यह काम बिगड़ गया तो या मेरे द्वारा बिगड़ जाता तो, दोनों एक ही बात हुई। गर्ज यह कि जो काम इस से बिगड़ गया है वह बिगड़ जानेवाला था ही, इस लिए किसी का दोष नहीं, न किसी से वैर रखने और बदला लेने की जरूरत है।

इस प्रकार के कर्म, विचार, भाव, निष्ठा आदि जिस पुरुष के हो जायेंगे उस ६ भगवान् की प्राप्ति होने में कोई कसर नहीं रह जायगी। भगवान् ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा जो इन गुणों से युक्त है वह मुझ को ही प्राप्त करता है। इस लिए यदि होम करो औ करानेवाले को दक्षिणा दो, तो यही समझो कि भगवान् के लिए होम हुआ है और उन लिए दक्षिणा दी गई है। यदि भूखे प्यासे साधु, ब्राह्मण या किसी भी जीव को भोजन दो, तो यही धारणा रखो कि भगवान् के निमित्त ही यह कार्य हो रहा है। यदि तपस्या पञ्चाग्नि का सेवन करो अथवा पद्मासन, शीर्षासन, मयूरासन आदि योगासन साधो, तो भाव रखो कि आत्मशुद्धि द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के लिए ही यह किया जा रह लोगों में प्रतिष्ठा पाने और तेजस्वी महात्मा कहलाने के लिए नहीं। यदि माला लेकर करने बैठो, तो भगवान् का ही नाम जपो और अन्तःकरण से उन्हीं का ध्यान करते रहो।। वार्ता कहने या सुनने बैठो, तो भगवान् के ही गुणों, लीलाओं, अवतारों की कथा वार्ता ६ और सुनो जिस से शान्ति मिले, पवित्रता आये, भावना दृढ़तर बने, अश्लील और विषय फँसानेवाली बातें कभी न करो, ऐसी बातें दूसरा कोई कहता हो, तो उस को समझाकर म करो और यदि वह न माने, तो वहाँ से तुम्हीं उठ जाओ। यदि गाना गाने, बाजा बजाने कं नाचने कूदने की इच्छा है, तो भगवान् के गुणों का बखान करनेवाले गीत गाओ, भगवान् प्रेम पैदा करनेवाले स्वरों में बाजा बजाओ और इसी भाव का उद्रेक लानेवाले नाच कूद प्रवृति रखो। यदि समाधि लगानी है और भगवद्भक्ति का योग सीखना है, तो एकान्त स्थान में पवित्र आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करो, हृदयकमल में अक्षर ब्रह्म की प्रतिष्ठा करो और ब्रह्मरन्ध्रगत नेत्र में ध्यान द्वारा प्रभु को देखते हुए उन के योगसाधन में समाधिस्थ हो। यदि सौभाग्य से तुम किसी मन्दिर के पुजारी हो और लोगों को पूजा का प्रकार बतलाना तुम अपना काम समझते हो, तो बेगारी टालने की गर्ज से पूजा में प्रवृत्त और लोगों से पैसा ऐंठने के विचार से पूजाविधि बतलाने में दत्तचित्त मत बनो; प्रत्युत सच्ची भक्ति का पुट मिलाकर और मन्दिर के देवता को साक्षात् परमात्मा समझकर हृदय से उन के पुजारी बनो और इसी प्रकार सब लोग परमात्मा की पूजा भक्ति को अपना जरूरी काम समझें, जिस से सब का कल्याण हो, यह समझाने का सच्चा भाव रखकर लोगों को उपदेश दो। यदि तुम कुटुम्बी हो, कुटुम्ब के पालन पोषण का तुम्हारे सिर पर भार है, तो यह मत सोचो कि मुझे फुर्सत कहाँ है जो मन्दिर में जाकर भगवान् का दर्शन करूँ, और समय कब मिलता है कि उन का नाम जपने बैठूँ। भगवान् का दर्शन करने के लिए मन्दिर में जाने और उन का नाम जपने के लिए समय निकालने की उतनी

इस प्रकार की भगवद्भक्तिविमुख इच्छा को अपने हृदय से निकाल

इस प्रकार के कर्म, विचार, भाव, निष्ठा आदि जिस पुरुष के हो जायेंगे उस के लिए
भगवान् की प्राप्ति होने में कोई कसर नहीं रह जायगी। भगवान् ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है कि
जो इन गुणों से युक्त है वह मुझ को ही प्राप्त करता है। इस लिए यदि होम करो और होम
करानेवाले को दक्षिणा दो, तो यही समझो कि भगवान् के लिए होम हुआ है और उन्हीं के
लिए दक्षिणा दी गई है। यदि भूखे प्यासे साधु, ब्राह्मण या किसी भी जीव को भोजन पानी
दो, तो यही धारणा रखो कि भगवान् के निमित्त ही यह कार्य हो रहा है। यदि तपस्या करो,
पञ्चाग्नि का सेवन करो अथवा पद्मासन, शीर्षासन, मयूरासन आदि योगासन साधो, तो यही
भाव रखो कि आत्मशुद्धि द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के लिए ही यह किया जा रहा है,
लोगों में प्रतिष्ठा पाने और तेजस्वी महात्मा कहलाने के लिए नहीं। यदि माला लेकर जप
करने बैठो, तो भगवान् का ही नाम जपो और अन्तःकरण से उन्हीं का ध्यान करते रहो। कथा
वार्ता कहने या सुनने बैठो, तो भगवान् के ही गुणों, लीलाओं, अवतारों की कथा वार्ता कहो
और सुनो जिस से शान्ति मिले, पवित्रता आये, भावना उदात्त बने; अश्लील और विषयों में
फँसानेवाली बातें कभी न करो, ऐसी बातें दूसरा कोई कहता हो, तो उस को समझाकर मना
करो और यदि वह न माने, तो वहाँ से तुम्हीं उठ जाओ। यदि गाना गाने, बाजा बजाने और
नाचने कूदने की इच्छा है, तो भगवान् के गुणों का बखान करनेवाले गीत गाओ, भगवान् में
प्रेम पैदा करनेवाले स्वरों में बाजा बजाओ और इसी भाव का उद्रेक लानेवाले नाच कूद में
प्रवृत्ति रखो। यदि समाधि लगानी है और भगवद्भक्ति का योग सीखना है, तो एकान्त
स्थान में पवित्र आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करो, हृदयकमल में अक्षर ब्रह्म की प्रतिष्ठा
करो और ब्रह्माण्डगत नेत्र में ध्यान द्वारा प्रभु को देखते हुए उन के योगसाधन में समाधिस्थ
हो। यदि सौभाग्य से तुम किसी मन्दिर के पुजारी हो और लोगों को पूजा का प्रकार
बतलाना तुम अपना काम समझते हो, तो बेगारी टालने की गर्ज से पूजा में प्रवृत्त और
लोगों से पैसा ऐंठने के विचार से पूजाविधि बतलाने में दत्तचित्त मत बनो, प्रत्युत सच्ची भक्ति
का पुट मिलाकर और मन्दिर के देवता को साक्षात् परमात्मा समझकर हृदय से उन के पुजारी
बनो और इसी प्रकार सब लोग परमात्मा की पूजा भक्ति को अपना जरूरी काम समझें,
जिस से सब का कल्याण हो, यह समझाने का सच्चा भाव रखकर लोगों को उपदेश दो।
यदि तुम कुटुम्बी हो, कुटुम्ब के पालन पोषण का तुम्हारे सिर पर भार है, तो यह मत सोचो
कि मुझे फुर्सत नहीं है जो मन्दिर में जाकर भगवान् का दर्शन करूँ, और समय कब
मिलता है कि उन का नाम जपने बैठूँ। भगवान् का दर्शन करने के लिए मन्दिर में
जाने और उन का नाम जपने के लिए समय निकालने की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी
इस प्रकार की भगवद्भक्तिविमुख इच्छा को अपने हृदय से निकाल देने की है। और इस के

पुष्पांजलि

પુષ્પાંજલી.

बाद तुम घर में रहकर, घर भर का पालन पोषण करते हुए, अपने घर में ही भगवान् की प्रतिमा स्थापित कर उन्हीं का दर्शन कर सकते हो, उन्हीं की षोडशोपचार से पूजा कर सकते हो, उन्हीं के पैरों पर अपना मस्तक रगड़ सकते हो और चलते फिरते, सोते बैठते, खाते पीते तथा कोई भी काम करते कराते हुए सर्वदा मन ही मन उन का नाम भी जपते रह सकते हो। और इस में सन्देह नहीं कि इस प्रकार सब कुछ करते हुए भी उन की भक्ति में रमे रहने से ही तुम एक दिन अवश्यमेव उन्हीं को प्राप्त कर लोगे जिसके बाद और कुछ पाने की न तो तुम्हें कामना ही रहेगी, न वैसी कामना करने के लिए फिर कभी तुम को जन्म ही धारण करना पड़ेगा।

इस प्रकार की भक्ति करने के लिए किसी पर किसी तरह का बन्धन नहीं है। किसी भी देश में, किसी भी काल में, किसी भी पात्र द्वारा इस प्रकार की भक्ति की जा सकती है और भगवान् के कथनानुसार ही परम फल प्राप्त किया जा सकता है। ऊँच, नीच, उत्तम, मध्य, बालक, बालिका, पुरुष, स्त्री सब कोई उन की भक्ति करने का पूर्ण अधिकारी है, अत कोई भी विधिपूर्वक उन की पूजा कर सकता है अर्थात् प्रेम से जल चढ़ाकर स्नान करा सकता है, अक्षत, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य अर्पण कर सकता है और खुशी के साथ हर एक उन के नाम की माला जप सकता है, उन से प्रेम कर सकता है, अधिक कहाँ तक कहूँ, जीव-मात्र उन को हर तरह से अपना प्रेमी बना सकता है अथवा उन का प्रेमी बन सकता है। किसी के लिए कुछ रुकावट नहीं है। चाहिए केवल हार्दिक श्रद्धा, आत्मिक विश्वास, और अनन्य भक्ति का आन्तरिक भाव।

इसी बात को अर्जुन के व्याज से समस्त संसार को समझा देने के लिए भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन, जो मेरे ही लिए सब कर्म करता है, एकमात्र मेरा ही परायण है—मुझ को ही परम गति मानता है, मेरा ही भक्त है, सङ्ग से रहित है, सब जीवों में वैरभाव छोड़ चुका है वह मुझ को ही प्राप्त होता है।

ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास जगद्गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराजकथित श्रीमद्भगवद्गीतागौरव का विश्वरूपदर्शनयोग नामक एकादश अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

श्री गीतागौरवादि

पर

संत महात्माओं, विद्वानों, महापुरुषों और पत्र पत्रिकाओं द्वारा प्राप्त हुई संमतियों में से कुछ चुनी हुई संमतियाँ—
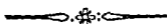
—महामहोपाध्याय भूतलचागीश श्रीयुत पण्डित गोपीनाथजी कविराज एम० ए०, भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस।

श्री मोक्षधाम काशी से प्रकाशित गीताधर्म पत्रिका के व्यवस्थापकजी ने श्री गीताव्यासजी महाराज विद्यानन्द स्वामिजी के गीता पर सार्वजनिक प्रवचन "गीता-गौरव" नाम से प्रकाशित किये हैं। इस लोकोपकारक साहित्यसेवा के लिए हिंदीभाषाभाषी जनता उन की ऋणी रहेगी।

आज तक इस महाग्रन्थ के केवल दो खण्ड छप चुके हैं और उन में सात ही अध्यायों का विषय अन्तर्भूत हुआ है।

गीता जैसे प्रासादिक ग्रन्थ के दार्शनिक रहस्य तथा पारिभाषिक शास्त्रार्थ सामान्य बुद्धि के अगोचर ही होते हैं। सर्वसाधारण को न तो इतना अवसर है, न नैसर्गिक प्रवृत्ति या मनीषा की कुशाग्रता ही रहती है कि उस के बल पर वे पारमार्थिक चर्चा हृदयंगम कर सकें। विशेषतः उन्हीं के लाभार्थ यह गीता का हृदय विवृत करने का स्वामीजी का प्रयत्न है।

इस अमूल्य ग्रन्थ का जितना अंश मैं ने देखा उस से मेरा दृढ विश्वास है कि विद्यानन्दजी का यह जीवनकार्य सफलीभूत हो गया है। अधिक क्या कहूँ, लोगों में गीतागौरव पढ़ने से जो इस विषय की जिज्ञासा तथा धार्मिक जीवन की ओर प्रवृत्ति और अभिरुचि वृद्धिगत होगी, वही महामण्डलेश्वरजी के इस निष्काम परिश्रम का पर्याप्त पारितोषिक है।

आगामी (८—१८) अध्यायों के प्रकाशन की बड़े ही औत्सुक्य से मैं मार्गप्रतीक्षा करता रहूँगा; क्योंकि उन की उपकारिता तथा उद्बोधकता के संबन्ध में मुझे संपूर्ण प्रत्याशा है।

—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य अद्वैतमतविद्यामार्तण्ड ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी श्री जयेन्द्रपुरीजी महाराज महामण्डलेश्वर ।

स्वस्ति शुभोदय श्री गोवर्द्धनभाईजी को स्वामी जयेन्द्रपुरी का हार्दिक प्रेमयुक्त शुभाशीर्वाद।

आप का प्रेषित गीतागौरवाङ्क (द्वितीय भाग) देखने को मिला। गत वर्ष प्रथम से तीन अध्यायों तक श्रीमद्भगवद्गीता पर स्वामी विद्यानन्दजी का प्रवचन प्रकाशित कर आप ने मुझे दिखाया था। उसे देखकर मैं जितना प्रभावित और उस के द्वारा होनेवाली जगत् की कल्याणवृद्धि की कल्पना से प्रसन्न हुआ था वह मैं ने उसी समय आप पर प्रकट कर दिया था और बड़ी उत्सुकता से आगे के अध्यायों पर प्रकाशित स्वामीजी की व्याख्या को देखने की प्रतीक्षा कर रहा था। तदनुसार ठीक समय पर आप का यह अङ्क प्राप्त भी हो गया।

इस में गत वर्ष की अपेक्षा आप ने आशातीत सर्वतोमुखी वृद्धि की है जिसे देखकर मुझे पूर्ण आशा हो रही है कि इस के द्वारा समस्त जगत् का वास्तविक और सच्चा उपकार अवश्य होगा। इस बार की भाषा, भावाभिव्यञ्जकता, कथाकथन-शैली आदि सभी विषय विशेष प्रशंसनीय हो गये हैं; साथ ही चित्रों की मनोहरता तो पाठकों के हृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। अब मैं आगामी भागों के प्रकाशन की भी ऐसी ही उत्तमताओं से परिपूर्णता की कामना करता हूँ।

सर्वसाधारण से मेरी हार्दिक अपील है कि इस ग्रन्थराज को अपने पास रख-कर सभी तरह की उन्नति में सफलता प्राप्त करें।

—ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्री परमानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर विद्यावारिधि

गीताधर्म इधर दो वर्षों से विशेषाङ्करूप में श्री गीताजी पर गीतागौरव नामक व्याख्या प्रकाशित कर रहा है जो अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस वर्ष के अङ्क में चतुर्थ से लेकर सप्तम अध्यायपर्यन्त प्रकाश में आया है। उसे मैं ने देखा और देखने से विदित हुआ कि यह अत्युत्तमा व्याख्या श्री स्वामी विद्यानन्दजी ने भक्तजनों के हितार्थ आविर्भूत की है।

—अ० सौ० नन्दगौरी कानुगा, एम० बी० एल०

गीताधर्म का विषय इस के नाम से ही प्रकट है। यह पुण्यक्षेत्र काशी से प्रकाशित होनेवाला उत्तम कोटि का धार्मिक मासिक पत्र है। इस के संस्थापक हैं विश्ववन्द्य श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताभ्यास जगद्-गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराज। आप भारतीय धार्मिक जनता के हृदयाकाश के पूर्ण चन्द्र हैं। भगवान् श्री कृष्ण की अमरवाणी (श्रीमद्-भगवद्गीता) का संपूर्ण भारत में सफल प्रचार करनेवालों में आप का सब से ऊँचा स्थान है। आप भारत के सभी तीर्थों, नगरों, अनेक ग्रामों, कसबों और वर्मा में भी भ्रमण कर गीता पर अनेक बार प्रवचन कर चुके हैं तथा अब भी करते ही रहते हैं। इतने पर भी संतोष न होने से आप ने गीताधर्म पत्र स्थापित किया जो ६ वर्षों से निरन्तर गीताप्रचार करता आ रहा है।

मैं गीताधर्म की ग्राहिका हूँ। इस के अङ्कों में निकलनेवाले धार्मिक लेखों को पढ़कर अपने को परम सौभाग्यशालिनी समझती हूँ। परंतु इधर दो वर्षों से इस पत्र का जो वार्षिक विशेषाङ्क निकल रहा है उस को पढ़कर तो ऐसा कोई साक्षर नहीं होगा जो अपने को परम भाग्यवान् न समझे। इन विशेषाङ्कों का नाम गीतागौरवाङ्क है। ये स्वामीश्री के अष्टादशाध्यायात्मक गीताप्रवचनों के अखण्ड संग्रह में से खण्डशः प्रतिवर्ष निकल रहे हैं। इन में स्वामीजी की निजी शैली में प्रभु की तरफ जाने का सच्चा एवं सुदृढ मार्ग समझाया गया है। इन अङ्कों से देश, जाति, धर्म, समाज की अवश्यमेव अभिवृद्धि होगी।

सब समाजों के प्रत्येक भाई बहन को ये अङ्क अवश्य पढ़ने चाहिएँ। मैं आशा करती हूँ, सभी भाई बहन हृदय से इन अङ्कों का स्वागत करेंगे और सब लोगों में अधिक से अधिक संख्या में इन का प्रचार होगा।

—रायसाहब हीरालाल वर्मा एम० बी० ई०, दीवान, सरगुजा स्टेट

गीतागौरव का दूसरा भाग पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। यह गीताधर्म पत्रिका के पञ्चम वर्ष का विशेषाङ्क है। इस की प्रशंसा में जितना लिखा जाय, थोड़ा है। गीता के गूढ दार्शनिक तत्त्वों का प्रकाश इस से सहज और हृदयस्पर्शी भाषा में नहीं हो सकता। छपाई सफाई और बाहरी सजावट बहुत ही आकर्षक है। और अन्तरङ्ग की विशेषता को देखते हुए तो मैं जरूर कहूँगा कि उस का ४) न्योछावर बहुत ही कम है।

गीतागौरव के दोनों भागों का अवलोकन करनेवाले पाठक उस का आगामी अंश प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। गीताधर्म के प्रबन्धकमण्डल को उचित है कि उस का अवशिष्ट भाग यावच्छक्य शीघ्र प्रकाशित करके सर्वसाधारण की आकाङ्क्षा पूर्ण करे।

इस पुस्तक में श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास *श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज के प्रवचनों का* अविकल संग्रह है। अखिल विश्व में गीता के अनुपम तत्त्वों का सफल प्रचार करने का जो उन्होंने इतना भार उठाया है और उस के लिए जितना वे परिश्रम कर रहे हैं, इस के निमित्त मैं उन के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

—जैकोर बहन, मालिक–दी० बी० बी० एस० रोलर फ्लावर मिल, अहमदाबाद

मैं करीब करीब प्रारम्भ से ही गीताधर्म पत्र की ग्राहिका हूँ और सच्चे हृदय से इस बात को स्वीकार करती हूँ कि भगवान् के भक्तों के हृदयों में भगवद्भावना को ओतप्रोत कर देनेवाला गीताविषयक ऐसा दूसरा कोई भी पत्र नहीं है। पर इस से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इस की जो विशेषता है वह है वार्षिक विशेषाङ्करूप में प्राप्त होनेवाला गीतागौरव नामक अनुपम ग्रन्थराज।

गीताधर्म कार्यालय ने अपनी संस्था के संस्थापक श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य *ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास जगद्गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी* महाराज के गीताप्रवचनों का संग्रह कर हिंदी गुजराती भाषाभाषी जनता के उपकार के लिए उस के खण्डशः प्रकाशन का जो भार उठाया है और उस भार को *पूर्णता देने के लिए वह जो परिश्रम कर रहा है उस के लिए वह उक्त दोनों साहित्यों* के प्रेमियों की प्रशंसा पाने का पूर्ण अधिकारी है। गीतागौरवाङ्क एक विशेषाङ्कमात्र ही नहीं है, वह एक अपूर्व और अद्वितीय साहित्य है और इस से दोनों भाषाओं के एक विशेष अङ्ग की महत्त्व के साथ पूर्ति हुई है, इस में जरा भी संदेह नहीं।

पुस्तक की भाषा बिलकुल सीधी, सादी, मुहाविरेदार, अत्यन्त सरल है। इस के द्वारा साधारण बुद्धि के मनुष्यों से लेकर बड़े बड़े ज्ञानी महापुरुषों तक को पर्याप्त लाभ मिल सकता है। अतः गीता के गहरे ज्ञान को अत्यन्त सुगम शैली में समझानेवाली यह पुस्तक समाज के हर एक भाई बहन को अवश्य पढ़नी चाहिए, यह मेरी हार्दिक सिफारिश है।

—श्री देवीनारायणजी, बी० ए०, एल-एल० बी०, वकील हाईकोर्ट
विद्यासागर (काशी), मुंशी (प्रयाग)

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य गीताव्यास लोकसंग्रही श्री ११०८ जगद्गुरु श्री महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दजी महाराज ने हिंदूधर्म तथा हिंदूसंस्कृति की जो सेवा की है उस को हिंदूजाति कदापि भूल नहीं सकती। प्राचीन समय से लेकर अब तक जिन महापुरुषों तथा आचार्यों ने हिंदूधर्म को अपनी तपस्या तथा उपदेशों से जीवित रखा है उन में श्री ११०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वरजी का बड़ा उज्ज्वल तथा उच्च स्थान है। गीता के उपदेशों, प्रवचनों, गीताधर्म के प्रकाशन तथा गीतागौरवाङ्क के दोनों भागों के संस्करणों द्वारा आप ने श्रीमद्भगवद्गीता को हिंदी तथा गुजराती बोलनेवाली जनता के हृदयों में मूर्तिमान् कर दिया है तथा भगवान् श्री कृष्ण की भक्ति का अमर बीज बो दिया है। पाश्चात्य शिक्षा की नास्तिकता के प्रबल प्रवाह को रोककर हिंदूसमाज को सन्मार्ग में चलाने का आप ने पूर्ण श्रेय प्राप्त किया है।

—सेठ रमणलाल लल्लूभाई

गीताधर्म के गीतागौरवाङ्क नाम से खण्डशः प्रकाशित होनेवाले विशेपाङ्क को देखकर ही मैं प्रफुल्लित हो गया। फिर पढ़ने बैठा और उस में इतना रम गया कि उस समय की अपनी हृष्ट मनोदशा का मैं वर्णन करने में भी असमर्थ हूँ। इस प्रकार यह अपनी बाहरी आकर्षकता, रंग बिरंगे चित्रों की परिपूर्णता और जमाने के अनुकूल बोधदायक कथाप्रसंगों की समृद्धता—इत्यादि सभी दृष्टियों से जनसमाज के लिए अवश्य संग्रहणीय एवं मननीय है।

यह विशेपाङ्क आकार में काफी मोटा और अत्यन्त सुन्दर चित्रों से सर्वतः सुन्दर कहे जाने के योग्य है। और इस के पृष्ठों पर अङ्कित विषय तो समाज के लिए जितना प्रिय, रुचिकर और मनोरञ्जक है उतना ही उपदेशप्रद और सर्वत्र लाभदायक भी है। यही कारण है कि यह छपकर प्रकाशित होते ही हाथों हाथ लूट लिया जाता है और तुरंत ही दूसरी तीसरी आवृत्तियों में छपने लगता है। इस लिए मैं जोर सहित राय देना चाहता हूँ कि प्रत्येक भाई बहन को यह पुस्तक खरीदकर अवश्य अपने पास रखना और उस का नित्य पाठ करना चाहिए।

गीतामाहात्म्य में गीतापाठ के जितने लाभ बतलाये गये हैं वे सब इस विशेपाङ्क को देखने और पढ़ने पर पाठक के सामने मूर्तिमान् से हो उठते हैं। इस लिए पठित बन्धुओं का यह कर्तव्य है कि इस ग्रन्थरूप अङ्क के सभी भागों को पढ़कर स्वयं तो

अमृतपान करें ही, साथ ही साथ अपने अपठित बन्धु बान्धवों को भी बाँचकर सुनायें जिस से उन्हें भी अमृतपान का सौभाग्य प्राप्त हो।

इस के सफल प्रकाशन के लिए मैं गीताधर्म कार्यालय के संचालकों को धन्यवाद देता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे इन लोगों को अधिकाधिक सफलता प्रदान करें। मुझे पूर्ण आशा और विश्वास है कि कार्यालय के स्तुत्य प्रयास से भारत और हिंदूधर्म की वास्तविक उन्नति और सच्ची रक्षा होगी।

—श्रीमान् बाबू भगवानदासजी गुप्त बी० ए०

आप के गीताधर्म का विशेषाङ्क (दूसरा भाग) मिला, देखकर चित्त प्रसन्न हुआ।

यों तो उस के सभी अङ्ग सुन्दर एवं रमणीय हैं, पर मेरे ऊपर उस के चित्रों का विशेष प्रभाव पड़ा है जिन के बनाने में बड़ी बुद्धिमानी तथा काल्पनिक शक्ति का व्यवहार किया गया है।

मैं अक्सर विचारा करता था कि यदि गीताजी का कोई अभिनय किया चाहे, तो कैसे करेगा? इस में तो विशेषकर उपदेश, तर्क, दर्शन ही भरे हैं।

यह कठिनाई आप का पुस्तकाकार विशेषाङ्क देखने से जाती रही। आप ने गीता के आख्यानों कथाओं इत्यादि को लेकर ऐसे चित्र बनाये हैं कि चित्त प्रसन्न हो जाता है, आप को इस के लिए बधाई देता हूँ। शुभ—

—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्री भागवतानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर

काव्य, सांख्य, योग, न्याय, वेद, वेदान्तादि तीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसा-भूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य, कनखल (हरिद्वार)

मैं ने 'गीतागौरव' को देखा। पुस्तक का नामकरण यथार्थ ही है। इस के लेखक हैं विश्वविख्यात श्रीयुक्त स्वामी विद्यानन्दजी मण्डलीश्वर गीताव्यास। उक्त स्वामीजी गीता के तलस्पर्शी—रहस्य के अनुभवी ज्ञाता हैं। आप ने गीता का प्रचार सारे भारतवर्ष में उपदेश द्वारा मौखिक रूप से कर डाला है, परंतु अब इस उत्तम व्याख्या द्वारा लैखिक प्रचार भी व्यापक रूप से हो गया, यह बड़ी ही प्रसन्नता की बात है।

इस 'गीतागौरव' में कठिन से भी कठिन विषयों को शास्त्रानुकूल रीति से अति सरल, सुबोध, परम रोचक, हृदयंगम शैली से समझाया गया है। यह सब

प्रकार से प्रशंसनीय है। जिज्ञासु जनता को इस से 'गीता' के गूढ भावों के समझने में पूर्ण सहायता मिलेगी। फलतः यह ग्रन्थ उपादेय है।

—नेक नामदार सर व्ही० टी० कृष्णमाचारी, दीवान, बड़ोदा राज्य

'गीताधर्म' पत्रिका अपने जीवन के नूतन वर्ष में पदार्पण करने के शुभ अवसर पर प्रकाशित 'गीतागौरव' नामक विशेषाङ्क को मेरे पास भेजने के कारण गीताधर्म के व्यवस्थापक मेरे हार्दिक कृतज्ञताभाजन हैं।

समस्त गुजरातप्रान्तीय जनता, और खास करके बड़ोदा राज्य के निवासी आबालवृद्धवनिता प्रजागण इस पत्रिका के संस्थापक गीताव्यास श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर के विषय में प्रगाढ आदर और श्रद्धा भक्ति का अपने हृदय में पोषण करते हैं। इस का कारण श्री स्वामीजी के अनेक प्रकार के लोकहितकर कार्यों का प्रधान केन्द्र करनाली का गीतामन्दिर है, जो बड़ोदा राज्य के ही अन्तर्गत है।

श्री स्वामीजी महाराज का अद्भुत गीताप्रवचन सुनने का अहोभाग्य मुझे बहुत बार प्राप्त हो चुका है। इस लिए मुझे इस बात का और भी आन्तरिक आनन्द है कि इस 'गीतागौरव' के प्रकाशन द्वारा उन की अमृतमयी वाणी अधिकाधिक नर और नारियों को कृतार्थ करने में सुसमर्थ होगी।

'गीतागौरव' नामक ग्रन्थराज के इस प्रथम भाग में गीता के प्रारम्भिक तीन अध्यायों का गूढ रहस्य अत्यन्त सरल, सुबोध और सुललित भाषा में विशद किया गया है, एवं उस का बहिरङ्ग और सचित्रीकरण भी सर्वथा आकर्षक है।

श्रीमान् एम० वी० नियोगीजी, नागपुर हाईकोर्ट के जज

गीताधर्म पत्रिका के चतुर्थ वर्षप्रवेशोपलक्ष्य में प्रकाशित गीता के संस्करण को पढ़कर मैं ने प्रगाढ सात्त्विक आनन्द का अनुभव किया।

इस की खास विशेषता यह है कि इस में अनुपमेय गीताग्रन्थ का व्याख्यान गीतास्वामी श्री विद्यानन्दजी के मुखविनिःसृत शब्दों में ही यथातथ दिया गया है।

सूक्ष्मनिरीक्षण, सहज भाषाशैली, प्रत्यक्ष दृष्टान्त तथा प्रभावशाली वाग्मिता—इतने गुणसमुच्चय से सहस्रशः श्रोताओं का मन ज्ञानालोक से आलोकित हो जाता है।

गीता की गूढ शिक्षा को सर्वसाधारण में प्रचारित करने के लिए शायद ही इतना परिश्रम किसी दूसरे व्यक्ति ने उठाया हो। गीतास्वामीजी की धारावाहिक वक्तृता में एक प्रकार का जादू सा भरा रहता है जो श्रोताओं के मनरूप लोहे को मानों चुंबक के समान आकृष्ट कर लेता है। स्वामीजी का वचनामृत संग्रह करने की उदात्त कल्पना पहले पहल नागपूर के नागरिकरत्न श्री हजारीलाल के गुणग्राही मन में समुदित हुई और यह गीतागौरव ग्रन्थ उसी का मूर्तस्वरूप है।

इस का बहिरङ्ग जैसा नयनमनोहर है वैसा ही उस का अन्तरङ्ग भी सहृदयों की हृत्तन्त्री को कम्पित करनेवाला है। इस के संपादकगण (इन में प्रकाशक और मुद्रक को भी अन्तर्भूत समझना चाहिए) मेरे तो अभिनन्दनार्ह हैं ही; अधिकं तु हिंदीभाषाभाषी गीताभ्यासीमात्र इन के विशेषतः ऋणी रहेंगे।

—बंबई का प्रसिद्ध पत्र 'मुंबई समाचार'

श्री काशी से प्रकाशित होनेवाले धार्मिक पत्र 'गीताधर्म' का पाँचवाँ वार्षिकाङ्क 'गीतागौरवाङ्क' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

इस में गीताश्लोकों के प्रसंगानुसार सादे और रंग बिरंगे हृदयग्राही चित्र और श्रीमत् प० प० ब्र० लो० गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु श्री महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दजी महाराज की गीतावर्णनशैली में ही उन का लोकोपकारक प्रवचन है।

स्वामीजी की कथा कैसी रोचक और उपदेशप्रद होती है यह बात जिन लोगों ने उन का प्रवचन सुना है उन्हें भली भाँति ज्ञात है। जिन्हें उन की कथा सुनने का सौभाग्य न मिला हो वे इस अङ्क को पढ़कर उस रस का सानन्द ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

गीता के ऊपर कितने व्याख्यान, भाष्य और टीकाएँ हो चुकी हैं, इस की संख्या करनी कठिन है। सभी में नये नये मार्गों का आश्रय लिया गया है, पर यह सभी स्वीकार करते हैं कि आशारहित होकर, निष्काम रूप से कर्म करना और प्रभु पर भरोसा रखना चाहिए। इस उत्तम कर्म का फल मिले बिना रह नहीं सकता।

स्वामीजी ने इन बातों को समझाने के साथ ही और भी बहुत से उत्तम उपदेश इस व्याख्यान में अपनी निराली शैली में दिये हैं।

यह अङ्क हिंदी और गुजराती—दो भाषाओं में अलग अलग प्रकाशित हुआ है, अतः दोनों भाषाभाषियों को इस से पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए, यही हमारी इच्छा है।

——जगत्प्रसिद्ध महाराष्ट्र पत्र 'केसरी'

[अखिल महाराष्ट्रीय जनता जिस को "एकमेवाद्वितीयम्" वृत्तपत्र ऐकमत्य से मानती हैं उस "केसरी" के संपादकमण्डल में ग्रन्थपरीक्षण के भारप्राप्त विद्वान् लेखक की "गीतागौरव" पर संमति २–२–४० के अङ्क से नीचे उद्धृत की जाती है।]

श्री मोक्षधाम काशी से "गीताधर्म" नामक हिंदी और गुजराती भाषाद्वयात्मक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाता है। इस में सिर्फ धार्मिक विषयों की ही चर्चा रहती है। प्रतिवर्ष जनवरी मास में इस का एक विशेषाङ्क निकला करता है। पिछले साल के विशेषाङ्क में गीता के प्रथम तीन अध्यायों का हिंदी और गुजराती भाषा में सविस्तर विवेचन प्रकाशित किया गया था। इस वर्ष के विशेषाङ्क में ४–७ आये हैं......जिस में गीतोक्त श्लोकों का पूर्वापर संदर्भप्रदर्शनपूर्वक उस के आधार पर उत्थित होनेवाली शङ्का प्रतिशङ्काओं का निरसन दिया गया है......।

इस विशेषाङ्क की पृष्ठसंख्या प्रायः ६०० है और इस में केवल ४–७ अर्थात् गीता के चार ही अध्यायों का समावेश हुआ है। गत वर्ष के विशेषाङ्क में तीन अध्याय थे और पृष्ठ ४५० थे। इस क्रम से समग्र १८ अध्याय समाप्त होने को तीन चार वर्ष लग सकते हैं और कुल पृष्ठसंख्या भी तीन चार हजार से ज्यादा ही हो सकती है। इस विस्तृत विवेचन के लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ जगद्गुरु श्री महामण्डलेश्वर गीताव्यास स्वामी विद्यानन्दजी महाराज हैं। इन की गीताप्रवचनधारा अखण्ड बहती रहती है। उसी का सारांश गीताधर्म के विशेषाङ्क में सुव्यवस्थित स्वरूप में ग्रथित किया रहता है। कथाप्रसंगात्मक भाग में उदाहरणार्थ अनेक पौराणिक कथा, आख्यायिका तथा आधुनिक लौकिक आचारों की तुलना दी गई है और उस के द्वारा धर्माचरण का उपदेश दिया गया है।......... करीब सौ चित्र हैं, बहुत ही सुन्दर, अतएव अवश्य संग्राह्य है। मुखपृष्ठ पर का चित्र एक नौका के दृश्यरूप में अङ्कित है जिस में बैठे हुए अर्जुन को कैवर्तकरूपी भगवान् श्री कृष्ण भवसागर के पार ले जा रहे हैं।..............

............फलतः यह गीतागौरवाङ्क अन्तर्बाह्य सर्वाङ्ग सुन्दर हो गया है।

गोरखपुर से प्रकाशित "कल्याण" तथा काशीक्षेत्र से प्रकाशित "गीताधर्म" द्वारा किया जानेवाला गीताप्रचारकार्य वस्तुतः प्रशंसनीय एवं औरों के लिए अनुकरणीय हो रहा है।

दोनों में एक खास बात यह है कि कल्याण का विशेषाङ्क जन्माष्टमी पर प्रकाशित होता है और गीताधर्म का गीताजयन्ती के दिन।.........